यूरोप का आधुनिक इतिहास

(१७८९ से १९४९ तक)

दूसरा भाग

(१९१४ से १९४९ तक)

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार, डी० लिट् (पेरिस)

(मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता)

प्रकाशक

सरस्वती-सदन

मसूरी

दूसरा संस्करण) दिसम्बर, १९५२ (मूल्य ९)

प्रकाशक

विश्वरंजन, सरस्वती-सदन, मसूरी

प्रथम संस्करण मार्च, १९५०

परिवर्धित दूसरा संस्करण दिसम्बर, १९५२

मुद्रक

श्यामसुन्दर श्रीवास्तव

नेशनल हेराल्ड प्रेस

लखनऊ

अपने प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय पिता

श्री आशाराम

और

अपनी पूजनीया स्वर्गीया माता

श्रीमती रामरक्खी देवी

की

पुण्य स्मृति में

निवेदन

स्वतन्त्र भारत के शासन-विधान में यह बात स्वीकृत कर ली गई है, कि हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है, और अधिक से अधिक पन्द्रह सालों में भारत की संघ-सरकार अपने प्रायः सभी कार्य हिन्दी में करने लगेगी। भारतीय संघ के अन्तर्गत अनेक राज्य हिन्दी को अपनी राजभाषा स्वीकार कर चुके हैं। अनेक विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम द्वारा दी जाने लगी है।

इस दशा में हिन्दी के लेखकों व प्रकाशकों पर विशेष उत्तरदायित्व आ गया है। अब यह आवश्यक हो गया है, कि इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, रसायन, भौतिक विज्ञान आदि सभी आधुनिक विषयों पर उच्च से उच्च ज्ञान हिन्दी में उपलब्ध हो। हिन्दी का साहित्य-भण्डार विविध वैज्ञानिक व आधुनिक विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों से इतना अधिक परिपूर्ण हो जाय, कि किसी को यह कहने का अवसर न रहे, कि साहित्य की कमी के कारण हिन्दी को उच्च शिक्षा की माध्यम बनाने व सरकारी कार्यों के लिये प्रयोग करने में रुकावट होती है। हमारा प्रयत्न यह है कि विविध विषयों पर उच्च कोटि की पुस्तकें हिन्दी में तैयार कराके उन्हें प्रकाशित करें। 'यूरोप का आधुनिक इतिहास' इसी मार्ग पर हमारा पहला कदम है। हमें इस बात की प्रसन्नता है, कि हिन्दी-संसार ने हमारी इस पुस्तक का समुचित आदर किया। इस इतिहास का पहला संस्करण हमने मार्च, १९५० में प्रकाशित किया था। इसका प्रथम भाग अठारह मास के स्वल्प काल में बिककर समाप्त हो गया था, और नवम्बर, १९५१ में उसका द्वितीय संशोधित व परिवर्धित संस्करण हमने प्रकाशित किया था।

अब हम इस इतिहास के दूसरे भाग के संशोधित व परिवर्धित संकरण को पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हैं। इसमें अनेक नये अध्यायों व प्रकरणों की वृद्धि की गई है, और उनसे पुस्तक के कलेवर में एक तिहाई के लगभग की वृद्धि हो गई है। इससे पुस्तक की उपयोगिता पहले की अपेक्षा बढ़ गई है। आशा है, पाठकों को इससे सन्तोष होगा।

सरस्वती-सदन, मसूरी

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

पहला भाग

दूसरा भाग

चित्र-सूची

पहला भाग

दूसरा भाग

प्रारम्भिक शब्द

'यूरोप का आधुनिक इतिहास' के प्रथम भाग के दूसरे संस्करण के समान द्वितीय भाग के दूसरे संस्करण में भी मैंने अनेक नये अध्यायों व प्रकरणों का समावेश किया है। मुझे आशा है, कि पाठकगण इस इतिहास के दूसरे संस्करण को अधिक उपयोगी पावेंगे।

अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने मेरी इस पुस्तक पर विशेष रूप से आलोचनाएँ प्रकाशित कीं। जहां उन्होंने इन पुस्तक की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की, वहां इसकी कुछ कमियों पर भी मेरा व पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। इतिहास के अनेक विद्वानों व देश के नेताओं ने भी इस पुस्तक पर अपनी अमूल्य सम्मति व आलोचना लिखने की कृपा की। मैं इन सब सज्जनों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। दूसरे संस्करण में पुस्तक का संशोधन करते हुए मैंने इन सब आलोचनाओं को दृष्टि में रखा है। यूरोप का इतिहास लिखते हुए हिन्दी के लेखकों के सम्मुख एक समस्या विविध शब्दों के उच्चारण के सम्बन्ध में उपस्थित होती है। फ्रेञ्च, इटालियन, जर्मन आदि भाषाओं के स्थान व व्यक्तियों के जो नाम हैं, अंग्रेजी में उनका उच्चारण भिन्न रूप से लिखा जाता है। सम्भवतः उचित यह है, कि स्थानों व व्यक्तियों के नामों को लिखते हुए हिन्दी में वे उच्चारण ही लिखे जायें, जो यूरोप के उन देशों में प्रयुक्त होते हैं, जिनके साथ उनका सम्बन्ध है। पर क्योंकि भारत में यूरोप का इतिहास प्रधानतया अंग्रेजी पुस्तकों द्वारा पढ़ा जाता है, अतः इस विषय में भ्रम भी उपस्थित हो सकता है। मैंने अपनी इस पुस्तक में फ्रांस की अन्यतम नगरी का उच्चारण 'त्रियानो' लिखा है। अंग्रेजी के अनेक पाठक इसका 'ट्रायनो' उच्चारण करते हैं। इतिहास के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् ने मेरी पुस्तक की आलोचना करते हुए लिख दिया, कि मैंने ट्रायनो की महत्त्वपूर्ण सन्धि का उल्लेख नहीं किया, और यह पुस्तक में एक भारी कमी रह गई है। आलोचक महोदय यह नहीं पहचान सके, कि 'त्रियानो की सन्धि' के नाम से मैंने जिस सन्धि का विवरण दिया है, वह वही है, जिसे वे 'ट्रायनो की सन्धि' कहते हैं। इसीलिये मुझे यह साहस नहीं हुआ, कि मैं नैपोलियन को नैपोलिओं लिख सकूं, यद्यपि फ्रेञ्च भाषा में इसका यही उच्चारण है, और नैपोलियन फ्रांस का ही सम्राट् था। तथापि मैंने इस बात का ध्यान रखा है, कि अनेक फ्रेञ्च, जर्मन आदि शब्दों का उच्चारण उन्हीं की भाषा का रखूं। आशा है, इससे विज्ञ पाठकों को विशेष असुविधा नहीं होगी।

संशोधन और परिवर्धन के कारण 'यूरोप का आधुनिक इतिहास' के इस दूसरे संस्करण का कलेवर पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया है। पर मुझे आशा है, कि अध्यापक, विद्यार्थी व पाठकगण इस पुस्तक को अब पहले की अपेक्षा अधिक

उपयोगी पायेंगे, क्योंकि इसमें ऐसी बहुत सी बातों का समावेश हो गया है, जो पहले संस्करण में छूट गई थीं या जिन पर बहुत संक्षेप से लिखा गया था।

मेरी इच्छा थी, कि मैं इस इतिहास को १९५२ तक ले आता। पर इससे पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जाता और साथ ही यह विचार भी मेरे सम्मुख रहा, कि विश्व-संग्राम (१९३९-४५) के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जो भारी उथल-पुथल अभी तक जारी है, उसके कारण यूरोप के अनेक देशों की राजनीतिक स्थिति अभी कोई निश्चित स्वरूप धारण नहीं कर सकी है। अतः मैंने इस इतिहास को १९४९ तक ही रखा है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि १९४९ तक के इतिहास को पढ़कर पाठकों के लिये वर्तमान राजनीतिक घटनाओं को समझ सकना बहुत सुगम हो जायगा और उन्हें पिछले तीन सालों के इतिवृत्त को इस इतिहास में न लिखना खटकेगा नहीं।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

(प्रथम संस्करण से)

संसार के आधुनिक इतिहास में यूरोप का महत्त्व बहुत अधिक है। सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान, कला-कौशल, व्यापार, व्यवसाय आदि सभी क्षेत्रों में यूरोप इस समय संसार का शिरोमणि है। संसार की शान्ति यूरोप की राजनीति पर आश्रित है। यूरोप में जो नई लहर शुरु होती है, यूरोप में जो घटना घटती है, उसका प्रभाव सारे संसार पर पड़ता है।

यूरोप का यह महत्त्व सदा से नहीं चला आ रहा। न ही यूरोप सदैव इतना उन्नत रहा है। आज से लगभग डेढ़ सदी पूर्व यूरोप की प्रायः वही दशा थी, जो भारत, चीन, ईरान आदि अन्य देशों की थी। सर्वत्र एकतन्त्र, स्वेच्छाचारी राजा राज्य करते थे। लोकतन्त्र शासन का कहीं नाम भी न था। कल-कारखानों का विकास नहीं हुआ था। कारीगर अपने घर पर बैठकर मोटे, भद्दे औजारों से कार्य करते थे। रेल, मोटर, हवाई जहाज, तार, रेडियो आदि का नाम भी कोई नहीं जानता था। यूरोप में जो यह असाधारण उन्नति हुई है, वह पिछली डेढ़ सदी की कृति है। यूरोप का यह डेढ़ सदी का इतिहास सचमुच बड़ा अद्भुत व आश्चर्य-जनक है। इस थोड़े-से काल में यूरोप उन्नति की दौड़ में किस प्रकार इतना आगे बढ़ गया, इसकी कहानी बड़ी मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है। इसी आश्चर्यजनक उन्नति की कहानी को सरल व स्पष्ट रूप से लिखने का प्रयत्न मैंने इस इतिहास में किया है।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

यूरोप का आधुनिक इतिहास

(दूसरा भाग)

उनतालीसवां अध्याय

महायुद्ध के कारण

१. आधारभूत कारण

२८ जून, १९१४ के दिन आस्ट्रिया-हंगरी के युवराज आर्कड्यूक फ्रांसिस फर्डिनन्ड और उसकी पत्नी सोफिया की बोस्निया के नगर सराजेवो में हत्या कर दी गई। इस घटना ने बारूदखाने में चिनगारी का कार्य किया, और छः सप्ताह बाद यूरोप में महायुद्ध का आरम्भ हो गया। धीरे-धीरे युद्ध का क्षेत्र अधिक व्यापक होता गया और कुछ समय बाद ही उसने विश्वव्यापी महायुद्ध का रूप धारण कर लिया। पर आस्ट्रिया-हंगरी के युवराज की हत्या इस महायुद्ध का तात्कालिक कारण थी। इसके कारणों को भलीभांति समझने के लिये यूरोप के आधुनिक इतिहास पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता होगी। यूरोप, अमेरिका और एशिया के जो इतने देश महायुद्ध में शामिल हो गये, उसके कारण बहुत गम्भीर और व्यापक थे।

नई और पुरानी प्रवृत्तियों में संघर्ष—फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने यूरोप की राजनीतिक संस्थाओं में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का प्रारम्भ किया था। राज्यक्रान्ति द्वारा राष्ट्रीयता और लोकसत्तावाद की जो नई प्रवृत्तियां उत्पन्न हुई थीं, वे निरन्तर अपनी सफलता के लिये संघर्ष कर रही थीं। पुराने जमाने को एकदम बदल सकना सम्भव नहीं था। राजाओं के एकाधिकार और निरंकुश शासन की जो संस्थायें यूरोप में सदियों से चली आ रही थीं, उन्हें एकदम उखाड़

सकना कठिन था। फ्रांस की राज्यक्रांति ने यूरोप में जो कार्य किया, वीएना की कांग्रेस (१८१४) द्वारा उसे मिटाने का प्रयत्न किया गया। पर १८३० में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियां फिर बलवती हो गईं। १८४८ के बाद यूरोप के प्रायः सभी राज्यों में लोकतन्त्रवाद पर आश्रित शासन-विधानों की स्थापना का प्रयत्न किया गया, और जनता ने अपने देश के शासन में महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त किये। इसी प्रकार इटली और जर्मनी के राष्ट्रीय संगठन के कारण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की भारी विजय हुई। उन्नीसवीं सदी में लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता की नई प्रवृत्तियां निरन्तर संघर्ष करती रहीं और धीरे-धीरे सफलता के मार्ग पर कदम बढ़ाती गईं। पर इस सब के बावजूद भी फ्रांस की राज्यक्रांति द्वारा प्रादुर्भूत ये नई प्रवृत्तियां उन्नीसवीं सदी में केवल आंशिक रूप से ही सफल हो सकी थीं। यूरोप के बहुसंख्यक देश अब तक भी ऐसे थे, जिनमें वंशक्रमानुगत राजा शासन में मनमानी कर सकते थे। जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, रूस, रूमानिया आदि विविध राज्यों के शासन बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भी अनेक अंशों में मध्यकाल के राजनीतिक सिद्धान्तों पर आश्रित थे। इसी तरह यूरोप के बहुत से राज्यों का निर्माण अभी तक भी राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार नहीं हो सका था। आस्ट्रिया-हंगरी के सुविशाल साम्राज्य में पोल, चेक, स्लाव आदि अनेक ऐसी जातियों का निवास था, जो अपने राष्ट्रीय स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना के लिए संघर्ष में तत्पर थीं। बालकन प्रायद्वीप के अनेक प्रदेशों पर टर्की का शासन राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा उत्पन्न हुई राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियां किसी घोर संघर्ष के बिना पुराने जमाने की संस्थाओं को परास्त नहीं कर सकती थीं। १९१४-१८ का महायुद्ध नई और पुरानी प्रवृत्तियों के संघर्ष का ही परिणाम था। उसके कारण नई प्रवृत्तियों की पुराने जमाने पर भारी विजय हुई। यही कारण है, कि इस महायुद्ध के बाद रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि विविध राज्यों से वंशक्रमानुगत राजाओं के शासन का अन्त हुआ और इनमें लोकतन्त्र रिपब्लिकन राज्यों की स्थापना हुई। इसी प्रकार राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की उपेक्षा करके बने हुए अनेक बड़े राज्यों का अन्त होकर उनके स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ। आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य की इतिश्री हो गई, और रूस, जर्मनी व आस्ट्रिया की अधीनता में विद्यमान विविध जातियों ने अपने पृथक् स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण किया। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, हंगरी आदि अनेक नये राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण विजय थी। इसी युद्ध के कारण

इटली, फ्रांस, रूमानिया, बल्गेरिया आदि राज्यों की सीमा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, और ये परिवर्तन राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुकूल थे ।

आर्थिक साम्राज्यवाद---अठारहवीं सदी के अंतिम भाग में यूरोप में व्यावसायिक क्रांति का सूत्रपात हुआ था। नये-नये वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक आविष्कारों के कारण मनुष्य ने प्रकृति पर विजय स्थापित करना शुरू कर दिया था। व्यावसायिक क्रान्ति के परिणामों पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। इससे यूरोप के राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर जो महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़े, उनमें से दो का यहां उल्लेख करना आवश्यक है--(१) मध्यकाल के सामाजिक श्रेणिभेद का अन्त, और (२) आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रारम्भ। व्यावसायिक क्रान्ति से पूर्व समाज प्रधानतया दो श्रेणियों में विभक्त था, कुलीन जमींदार श्रेणी और किसान लोग, जिनकी स्थिति अर्धदासों के समान होती थी। सब राजनीतिक शक्ति कुलीन जमींदारों के हाथों में थी, और किसान पददलित दशा में समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में व्यस्त रहते थे। राजनीति के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता था। पर व्यावसायिक क्रान्ति के कारण यूरोप में एक नई श्रेणी का विकास शुरू हुआ, जिसे 'मध्य श्रेणी' कहते हैं। कारखानों के मालिक, उनमें काम करने वाले इञ्जीनियर, मुनीम, मैनेजर आदि जहां कुलीन जमींदारों से भिन्न थे, वहां साथ ही किसानों के मुकाबले में बहुत ऊंची स्थिति रखते थे। मध्यश्रेणी के लोग राजनीतिक मामलों में दिलचस्पी लेते थे और देश के शासन का संचालन अपने लाभ के लिये करने का प्रयत्न करते थे। धनी होने के कारण मध्यश्रेणी के इन लोगों का राज्य में प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाता था। साथ ही नये स्थापित हुए बड़े-बड़े कारखानों में आर्थिक उत्पत्ति इतने अधिक परिमाण में होने लगी थी, कि उसका केवल अपने देश में खप सकना सम्भव नहीं था। कारखाने अपना काम तभी कर सकते थे, जब उनमें तैयार हुए माल के लिये अन्य देशों में बाजार सुरक्षित हों। पर बड़े कारखाने यूरोप के किसी एक राज्य के एकाधिकार में नहीं थे। इङ्गलैण्ड, फ्रांस आदि सर्वत्र व्यावसायिक क्रान्ति अपना प्रभाव उत्पन्न कर रही थी। और यूरोप के ये विविध राज्य अपने तैयार माल के लिये सुरक्षित बाजार स्थापित करने में तत्पर थे, जहां ये अपने माल को किसी अन्य राज्य की प्रतिस्पर्धा के भय से निश्चिन्त होकर बेच सकें। क्योंकि राज्य शक्ति धीरे-धीरे मध्यश्रेणी और पूंजीपतियों (व्यवसायपतियों और व्यापारियों) के हाथों में आती जाती थी, अतः प्रत्येक राज्य की सरकार की यह स्पष्ट व निश्चित नीति

होती थी, कि वह अपने देश के तैयार माल को खपाने के लिये दूसरे देशों में सुरक्षित बाजार प्राप्त करने का उद्योग करे। जिस देश में उसका अपना माल बिकता है, वहां और कोई राज्य अपना माल न बेच सके। इसके लिये उस देश पर किसी न किसी प्रकार का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना जरूरी था। व्यावसायिक क्रान्ति द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के कारण उन्नीसवीं सदी में यूरोप के अनेक उन्नत राज्य इसी ढंग से अपने लिये सुरक्षित बाजार प्राप्त करने के लिये उतावले हो रहे थे। सुरक्षित बाजार प्राप्त करने का उपाय यह था, कि या तो दूसरे देश को जीत कर अपने आधिपत्य में ले आया जाय, और या उसके साथ इस ढंग की सन्धियां की जावें, जिनसे वह पूरी तरह से अपना वशवर्ती बन जाय। दूसरे देश को अपने प्रभाव क्षेत्र में ले आने का नाम ही आर्थिक साम्राज्यवाद है। जब यूरोप के विविध राज्य एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों को इस ढंग से अपने प्रभाव क्षेत्र में ले आने के लिये प्रयत्नशील हों, तो यह स्वाभाविक था, कि उनमें परस्पर संघर्ष का भी सूत्रपात हो। गत यूरोपियन महायुद्ध (१९१४-१८) में विविध यूरोपियन राज्यों के आर्थिक हितों का भी एक दूसरे के साथ टकराना एक महत्त्वपूर्ण कारण था। यह आर्थिक साम्राज्यवाद का एक आवश्यक और स्वाभाविक परिणाम था।

२. सहायक कारण

नई और पुरानी प्रवृत्तियों में संघर्ष और आर्थिक साम्राज्यवाद के कारण इस समय यूरोप में अनेक ऐसी प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ, जो महायुद्ध के सूत्रपात में बहुत सहायक सिद्ध हुईं। इन पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालना महायुद्ध के कारणों को भलीभांति समझने में बहुत उपयोगी है।

राष्ट्रीयता—इसमें सन्देह नहीं, कि राष्ट्रीयता एक स्वाभाविक और उचित प्रवृत्ति है। जो लोग जाति, भाषा, धर्म, रीतिरिवाज, सभ्यता और ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से एक हों, उन्हें एक साथ मिलकर, एक राज्य के अंग बनकर रहना चाहिये और एक साथ मिलकर ही उन्हें अपनी विशेषताओं को विकसित करना चाहिये। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने जो अनेक नई प्रवृत्तियां उत्पन्न की थीं, राष्ट्रीयता उनमें एक थी। राष्ट्रीयता के आधार पर जिन नये राज्यों का यूरोप में निर्माण हुआ, वे निस्सन्देह अपनी जनता की उन्नति में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुए। परन्तु सब अच्छी बातों के समान राष्ट्रीयता की भावना भी

जब सीमा का उल्लंघन कर जाती है, तो वह मानव समाज के लिये एक अभिशाप बन जाती है। मर्यादा का अतिक्रमण करने से राष्ट्रीयता मनुष्य को यह सिखाती है, कि संसार में हम सबसे श्रेष्ठ हैं। हमारी सभ्यता, धर्म, भाषा विश्व में सबसे उत्कृष्ट है। सारी दुनिया हमारे लिये है, और अपने हितों का सम्पादन करने के लिये, अपनी स्वार्थ साधना के लिये अन्य सबके हितों को कुर्बान किया जा सकता है। हमें भगवान् ने यह मिशन सुपुर्द किया है, कि असभ्य व पिछड़े हुए लोगों को सभ्यता का पाठ पढ़ावें और संसार में व्यवस्था व शान्ति कायम रखें। इस प्रकार के भ्रमपूर्ण विचार उग्र राष्ट्रवादियों में सुगमता के साथ उत्पन्न हो जाते हैं। महायुद्ध से पूर्व यूरोप के अनेक शक्तिशाली राज्य इसी भ्रम के शिकार थे। उग्र राष्ट्रीयता का भूत ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, जर्मनी आदि यूरोपियन राज्यों के सिर पर सवार था। ये सब देश संसार के अधिक से अधिक भाग को अपनी अधीनता में ले आने के लिये प्रयत्नशील थे। केवल शक्तिशाली राज्य ही नहीं, अपितु यूरोप के साधारण राज्य भी इस रोग से ग्रसित थे। 'बृहत्तर बल्गेरिया', 'बृहत्तर ग्रीस' और 'बृहत्तर सर्बिया'—ये शब्द एक ऐसी महत्त्वाकांक्षा को सूचित करते हैं, जो उग्र राष्ट्रीयता के कारण उत्पन्न हुई थी। इसी प्रकार विशाल जर्मनी, विशाल फ्रांस आदि के स्वप्न इसी रोग से पीड़ित होने के कारण उत्पन्न हुए थे। हमें भी दुनिया में रहने के लिये जगह चाहिये, हमें भी अपने उत्कर्ष के लिये साम्राज्य की आवश्यकता है—यह विचार विकृत राष्ट्रीयता द्वारा उत्पन्न होता है। केवल यूरोप के ही देश नहीं, अपितु जापान सदृश एशियन देश भी इस युग में अपने राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिये अन्य देशों को अपने प्रभुत्व व प्रभाव में लाने के लिये तत्पर थे।

जहां एक तरफ यूरोप के अनेक राज्य मर्यादा का अतिक्रमण कर राष्ट्रीयता की भावना का दुरुपयोग कर रहे थे, वहां ऐसी भी जातियां (नेशनेलिटी) विद्यमान थीं, जिनकी समुचित राष्ट्रीय आकांक्षायें अभी पूर्ण नहीं हुई थीं। पोल, चेक और स्लाव लोग इनमें मुख्य थे। इनकी राष्ट्रीय आकांक्षायें यूरोप में अशान्ति की अग्नि को निरन्तर सुलगाये रखती थीं। साथ ही पुराने जमाने की विरासत में बीसवीं सदी के राज्यों ने कुछ ऐसी व्यवस्थायें भी प्राप्त की थीं, जो राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के विरुद्ध थीं। महायुद्ध के कारणों को भलीभांति समझने के लिये इनका निर्देश करना आवश्यक है—

(१) १८७१ में फ्रांस पर विजय प्राप्त करके जर्मनी ने आल्सेस और लारेन के प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। जर्मनी समझता

था कि ये प्रदेश उनके अपने अंग हैं, क्योंकि मध्यकाल में ये पवित्र रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत थे और इनके निवासियों का अच्छा बड़ा भाग नसल और भाषा की दृष्टि से जर्मन था। पर फ्रेन्च लोग समझते थे, कि राष्ट्रीय दृष्टि से इन प्रदेशों को फ्रांस में सम्मिलित होना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं, कि आल्सेस और लारेन की बहुसंख्यक जनता फ्रेन्च थी और वहां के निवासी अपने को फ्रेन्च राष्ट्र का अंग समझते थे। लारेन लोहे की खानों के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्त्व रखता है। फ्रेन्च पूंजीपतियों और राजनीतिक नेताओं का यह विचार था, कि इस समृद्ध प्रदेश का जर्मनी के हाथों में चले जाना उनके अपने लिये बहुत विघातक है।

(२) बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेश आस्ट्रिया-हंगरी के अन्तर्गत थे। पर नसल, भाषा और संस्कृति आदि की दृष्टि से इन्हें सर्विया के साथ होना चाहिये था। वस्तुतः ये प्रदेश सर्बियन राष्ट्र के अंग थे। इन पर आस्ट्रिया-हंगरी का आधिपत्य राष्ट्रीय दृष्टि से सर्वथा अनुचित था। स्वतंत्र सर्विया के देशभक्त इस यत्न में थे, कि बोस्निया और हर्जेगोविना को अपने देश के साथ मिलाकर एक शक्तिशाली सर्बियन राष्ट्र का निर्माण करें।

(३) इटालियन लोग समझते थे, कि अभी इटालियन राष्ट्र का संगठन पूर्णरूप से नहीं हुआ है, क्योंकि त्रेन्तिनो और त्रिएस्त के प्रदेशों पर अभी तक भी आस्ट्रिया-हंगरी के हाप्सबुर्ग सम्राटों का आधिपत्य था। इसमें सन्देह नहीं, कि इन प्रदेशों के बहुसंख्यक निवासी राष्ट्रीय दृष्टि से इटालियन थे और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार इन्हें इटली का अंग होना चाहिये था। एड्रियाटिक सागर पर किसका प्रभुत्व रहे, इस विषय पर भी इटली और आस्ट्रिया एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी थे।

(४) आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की पूर्णतया उपेक्षा करके हुआ था। आस्ट्रिया और हंगरी की स्थिति दो पृथक् राज्यों के समान थी, जो समान रूप से हाप्सबुर्ग वंश के राजाओं को अपना सम्राट् स्वीकार करते थे। पर उनके राज्य-क्षेत्र में अनेक ऐसी जातियों का निवास था, जो राष्ट्रीय दृष्टि से आस्ट्रियन व हंगेरियन लोगों से सर्वथा भिन्न थीं। वस्तुतः आस्ट्रियन और हंगेरियन लोग पोल, चेक, स्लोवाक, स्लाव, रूथेनियन, रुमानियन, इटालियन आदि विविध जातियों पर शासन कर रहे थे, जो कि उनके राज्य-क्षेत्र में निवास करती थीं। इन जातियों में अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता की आकांक्षा प्रबल रूप से विद्यमान थी। चेक और स्लोवाक जहां अपना

पृथक् स्वतन्त्र राज्य बनाने के लिये उत्सुक थे, वहां इटालियन, रूमानियन और स्लाव लोग अपने पड़ोस में विद्यमान अपने राष्ट्रीय राज्यों के साथ मिल जाने के लिये प्रयत्नशील थे। पोलैण्ड की समस्या और भी अधिक विकट थी। पोल जाति के लोग तीन भागों में बंटे हुए थे और जर्मनी, रूस व आस्ट्रिया-हंगरी की अधीनता में रहने के कारण राष्ट्रीय एकता व स्वतन्त्रता से वञ्चित थे। इन विविध जातियों की राष्ट्रीय आकांक्षायें केवल युद्ध द्वारा ही पूर्ण हो सकती थीं।

(५) बाल्कन प्रायद्वीप की समस्या और भी अधिक जटिल थी। उसके कुछ प्रदेशों पर अब तक भी टर्की का आधिपत्य था। टर्की के मुसलिम सुलतान का बहुसंख्यक ईसाई प्रजा पर निरंकुश शासन समय की प्रवृत्तियों के सर्वथा विपरीत था। मैसिडोनिया के निवासी जातीय दृष्टि से एक नहीं थे। ग्रीस, सर्बिया और बल्गेरिया—तीनों राज्य उसके अधिक से अधिक प्रदेश को अपनी अधीनता में ले आने के लिये प्रयत्नशील थे। बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्यों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा इस क्षेत्र में शान्ति स्थापित नहीं होने देती थी। रूस चाहता था कि इस प्रायद्वीप के विविध राज्यों को अपने प्रभाव में रखें, ताकि काला सागर को भूमध्यसागर से मिलाने वाला जलमार्ग उसके लिये सुरक्षित रहे। टर्की को कमजोर रखने में ही वह अपना हित समझता था। जर्मनी भी एशिया में अपने प्रभावक्षेत्र को विस्तृत करने के लिये बर्लिन-बगदाद मार्ग का स्वप्न देख रहा था, और आस्ट्रिया-हंगरी व टर्की के साथ मित्रता स्थापित कर इस क्षेत्र में रूस का प्रधान प्रतिस्पर्धी बना हुआ था। इङ्गलैड यद्यपि जर्मनी के उत्कर्ष से चिन्तित था, पर टर्की को निर्बल करने की रूसी नीति से सहमत नहीं था। बालकन प्रायद्वीय के क्षेत्र में विविध यूरोपियन राज्यों के हित एक दूसरे के साथ टकराते थे। इस क्षेत्र के अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष पर हम पहले विशद रूप से प्रकाश डाल चुके हैं।

राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति यह मांग करती थी, कि 'एक राष्ट्रीयता, एक राज्य' के सिद्धान्त के अनुसार यूरोप के राजनीतिक नक्शे का पुनःनिर्माण हो। महायुद्ध से पूर्व यूरोप का जो नक्शा था, वह अनेक अंशों में इस सिद्धान्त के प्रतिकूल था। समय की प्रवृत्ति प्रेरित कर रही थी, कि उसमें परिवर्तन आए। राष्ट्रीयता की भावना जहां अनेक जातियों को अपने पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण करने के लिये प्रेरणा दे रही थी, वहां ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस आदि सबल राज्यों को अपने साम्राज्य व प्रभावक्षेत्रों का विस्तार करने के लिये प्रेरित कर रही थी।

साम्राज्यवाद---उग्र राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद को जन्म देती है। साथ ही व्यावसायिक क्रान्ति के कारण उत्पन्न हुई आर्थिक आवश्यकतायें साम्राज्य विस्तार की प्रेरणा करती हैं। उन्नीसवीं सदी में ये दो बातें बड़ी तीव्रता के साथ यूरोप के विविध राज्यों को साम्राज्य निर्माण के लिये व्याकुल कर रही थीं। ग्रेट ब्रिटेन बड़ी तेजी के साथ संसार के पांचों महाद्वीपों में अपना पैर पसार रहा था। सारा उत्तरी एशिया रूस के आधिपत्य में आ गया था। फ्रांस अफ्रीका और पूर्वी एशिया में अपना साम्राज्य फैला रहा था। हालैण्ड, बेल्जियम, पोर्तुगाल और डेन्मार्क--सब के अपने-अपने साम्राज्य थे, जिसका क्षेत्रफल उनके अपने देश की अपेक्षा कई गुना था। बात यह है, कि व्यावसायिक क्रान्ति सब देशों में एक समय में शुरू नहीं हुई थी। व्यावसायिक और वैज्ञानिक दृष्टि से पश्चिमी यूरोप सबसे आगे था। इङ्गलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी व्यावसायिक उन्नति के अगुवा थे। पूर्वी यूरोप में व्यवसाय और विज्ञान की उन्नति बहुत देर में शुरू हुई। एशिया और अफ्रीका तो इस दौड़ में बहुत ही पीछे रह गये। परिणाम यह हुआ, कि उन्नति की दौड़ में पीछे रहे हुए इन देशों को अपना शिकार बनाने का सुवर्णिम अवसर पश्चिमी यूरोप के देशों को प्राप्त हो गया। उन्नीसवीं सदी में व्यावसायिक दृष्टि से उन्नत ये सब देश संसार के अन्य भागों को अपने प्रभुत्व में लाने के लिये बड़ी तेजी से प्रयत्न कर रहे थे। यह स्वाभाविक था कि उनमें परस्पर संघर्ष हो, विविध देशों पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिये उनमें प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो। साम्राज्यवाद की इस दौड़ में जर्मनी बहुत पीछे शामिल हुआ था। जब तक बिस्मार्क ने जर्मनी के विविध राज्यों को मिलाकर उनका एक राष्ट्रीय संगठन नहीं बना दिया, तब तक जर्मनी के लिये साम्राज्य-प्रसार का स्वप्न ले सकना सम्भव नहीं हुआ। १८९० के लगभग जब जर्मनी साम्राज्यवाद की दौड़ में शामिल हुआ, तो उसने देखा कि अन्य देश उसकी अपेक्षा बहुत आगे निकल चुके हैं। ब्रिटेन भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड तथा अन्य बहुत से द्वीपों पर कब्जा कर चुका है। व्यापार के सब महत्त्वपूर्ण मार्गों पर उसका अधिकार है। संसार के सब महत्त्वपूर्ण बाजार ब्रिटेन या अन्य यूरोपियन देशों के काबू में आ चुके हैं। प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीप, अफ्रीका के शेष बचे कुछ खण्ड और चीन के तटवर्ती कुछ प्रदेश ही इस समय जर्मनी को प्राप्त हो सके। पर जर्मनी इतने से कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। उग्र राष्ट्रीयता और व्यावसायिक उन्नति उसे प्रेरित कर रही थी, कि वह अपने लिये संसार में कोई स्थान बनाए। जर्मनी अपने आर्थिक और

राजनीतिक साम्राज्य के लिये छटपटा रहा था। यह स्वाभाविक था, कि साम्राज्य के क्षेत्र में ब्रिटेन और जर्मनी एक दूसरे को स्पर्धा और विद्वेष की दृष्टि से देखने लगें। पूर्वी दुनिया में जाने का स्वेज का मार्ग ब्रिटेन के कब्जे में था, जर्मनी ने यत्न किया कि बर्लिन-बगदाद रेलवे का निर्माण कर सीधा पर्शिया की खाड़ी पर पहुंचा जाय। जर्मनी का माल संसार के बाजारों में सर्वत्र नजर आने लगा। जर्मन माल के मुकाबले में ब्रिटिश माल का बिकना मुश्किल हो गया। ब्रिटिश लोग जर्मनी के व्यापारिक मुकाबले से तंग आकर साम्राज्यान्तर्गत रियायती कर की योजना तैयार करने में तत्पर हुए। साम्राज्य के विविध देश विदेशों के मुकाबले में साम्राज्यान्तर्गत देशों के माल पर कम कर लगायें, यह इस योजना का अभि-प्राय था। इससे भारत आदि देशों में जर्मन माल के मुकाबले में ब्रिटिश माल को सस्ते दामों पर बेचा जा सकता था। जर्मन लोग इस योजना को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे। साथ ही, जर्मनी जिस तेजी के साथ नौ सेना की तरक्की कर रहा था, ब्रिटेन उसे कभी सहन नहीं कर सकता था। जब तक जर्मनी का प्रयत्न स्थल सेना को बढ़ाकर यूरोप में सबसे अधिक शक्तिशाली बनना था, तब तक ब्रिटेन को उससे कोई विशेष चिन्ता नहीं थी। पर किसी अन्य देश की सामुद्रिक शक्ति ब्रिटेन को सह्य नहीं हो सकती थी। मतलब यह है, कि साम्राज्यवाद की दौड़ में ब्रिटेन और जर्मनी बीसवीं सदी के प्रारम्भ में एक दूसरे के प्रबल प्रतिस्पर्धी हो रहे थे। साम्राज्यवाद के कारण उत्पन्न हुआ यूरोपियन देशों का पारस्परिक संघर्ष और विशेषतया ब्रिटेन और जर्मनी की प्रतिस्पर्धा गत यूरोपियन महायुद्ध में महत्त्वपूर्ण कारण थे।

सैनिकवाद—उग्र राष्ट्रीयता और प्रचण्ड साम्राज्यवाद का स्वाभाविक परि-णाम सैनिकवाद था। प्रत्येक देश सेनाकी उन्नति के लिये पागलहो रहाथा। बाधित सैनिक शिक्षा ही नहीं, अपितु बाधित सैनिक सेवा की प्रथा भी प्रत्येक देश में प्रारम्भ की जा रही थी। कुछ निश्चित वर्षों के लिये प्रत्येक नागरिक के लिये यह आवश्यक था कि वह सेना में भरती होकर सैनिक सेवा करे। इस प्रकार सम्पूर्ण जनता युद्ध के लिये शिक्षित की जा रही थी, जो आवश्यकता पड़ने पर किसी भी समय युद्ध के लिये काम आ सकती थी। बाधित सैनिक सेवा की प्रथा सबसे पूर्व पर्शिया ने आरम्भ की थी। नैपोलियन का मुकाबला करने के लिये पर्शियन राजनीतिज्ञों ने इस प्रथा का प्रारम्भ किया था, और यह उस समय बहुत उपयोगी सिद्ध हुई थी। पर्शिया के बाद धीरे-धीरे अन्य यूरोपियन

राज्य भी इसे ग्रहण करते गये। गत यूरोपियन महायुद्ध से पूर्व ब्रिटेन के अतिरिक्त अन्य सब महत्त्वपूर्ण यूरोपियन राज्य इस प्रथा को अपना चुके थे और इस प्रकार यूरोप की सम्पूर्ण जनता सैनिक के रूप में परिवर्तित हो गई थी। सेनाओं का खर्च बड़ी तेजी के साथ बढ़ाया जा रहा था। अनेक यूरोपियन राज्य अपनी वार्षिक आमदनी का ८५ प्रतिशत भाग युद्ध की तैयारी पर खर्च कर रहे थे। राज्य के अन्य विभागों के लिये केवल १५ प्रतिशत रुपया शेष बचता था। सन् १८७३ में यूरोप के विविध देश सेना और युद्ध सामग्री के लिये कुल मिला कर १,१५,००,-००,००० रुपया खर्च करते थे, परन्तु १९१३में यह संख्या बढ़ कर ५,६८,२०,००-००० हो गई थी। इतनी धनराशि प्रति वर्ष युद्ध की तैयारी के लिये स्वाहा की जा रही थी। सब लोग विश्वास करते थे, कि युद्ध अवश्यम्भावी है, और उस-के लिये हर क्षण तैयार रहने में ही वे अपना कल्याण समझते थे। स्थिर सेना की संख्या भी लगातार बढ़ रही थी। सन् १९१३ में जर्मनी की स्थिर सेना ८,७०,००० थी। फ्रांस की सेना में ९,१०,००० सैनिक थे। इतनी बड़ी सेनाओं का खर्च यदि करोड़ों रुपया वार्षिक हो, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? इसी प्रकार नौसेना की वृद्धि के लिये सब देश एक दूसरे के साथ होड़ कर रहे थे। बड़े बड़े जंगी जहाजों का निर्माण किया जा रहा था। विज्ञान की सहायता से युद्ध के उपकरण निरन्तर अधिक उन्नत और जटिल होते जाते थे। जिस राज्य के पास जितने घातक और भंयकर हथियार हों, उसे उतना ही महान् समझा जाता था। बड़प्पन की निशानी ही यह थी, कि किस के पास अधिक सैनिक शक्ति है। सैनिकवाद की इस प्रचण्डता के होते हुए यह कैसे सम्भव था, कि युद्ध न हो। युद्ध तो इस सैनिकवाद का एक आवश्यक परिणाम था।

यूरोप के न केवल राजनीतिज्ञ और साम्राज्यवादी नेता ही सेना की वृद्धि द्वारा युद्ध को अवश्यम्भावी बना रहे थे, अपितु कवि, दार्शनिक, साहित्यिक, लेखक व ऐतिहासिक भी सैनिकवाद के प्रसार में सहायता पहुंचा रहे थे। विचारक लोग प्रतिपादित करते थे, कि युद्ध एक स्वाभाविक और आवश्यक वस्तु है। प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र में हमें संघर्ष दृष्टिगोचर होता है। निर्बलों को बलवान् खा जाते हैं, मात्स्यन्याय प्रकृति का न्यायसंगत नियम है। वनस्पति, जीव, जन्तु—सर्वत्र यह नियम काम कर रहा है। फिर मनुष्य जाति ही इसका अपवाद कैसे हो सकती है। शक्तिशाली राष्ट्र को अधिकार है, कि वह निर्बल जातियों को नष्ट कर सके। उन्नति के लिये यह आवश्यक है। जीवन का अधिकार कोई पवित्र और अनुल्लंघनीय अधिकार नहीं है, क्योंकि प्रकृति 'जीवो जीवस्य

भोजनम्' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। यदि मनुष्य जाति के पुराने इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय, तो युद्ध की उपयोगिता भलीभांति समझ में आ जायगी। युद्धों द्वारा ही साम्राज्यों की स्थापना होकर शान्ति और व्यवस्था का सूत्रपात हुआ, कमजोर जातियों का नाश होकर उत्कृष्ट सभ्यताओं का विकास हुआ। यदि युद्ध न होते, तो आज भी मनुष्य जाति छोटे छोटे कबीलों में विभक्त हुई पाई जाती। यदि पुराने समय में युद्ध ये सब उपकार कर चुका है, तो आज भी वह राष्ट्रीयता की तंग दीवारों का अन्त कर सार्वभौम शान्ति की स्थापना कर सकता है, विविध धर्मों, अवनत सभ्यताओं और अंधविश्वासमूलक प्रथाओं का अन्त कर संसार में एक उत्कृष्ट सभ्यता का प्रादुर्भाव कर सकता है। जब संसार के विचारक इन विचारों का डंके की चोट के साथ प्रतिपादन कर रहे हों, तो युद्ध होने में क्या देर हो सकती है। रूजवेल्ट का कहना था—"युद्ध में परास्त हो जाना भी सर्वथा युद्ध न करने की अपेक्षा अच्छा है।" तरुण जर्मन संघ का सिद्धान्त था, कि "मानवीय कार्यों में युद्ध सबसे अधिक श्रेष्ठ और पवित्रतम कार्य है। हमारे लिये भी वह शुभ घड़ी अवश्य आयगी, जब युद्ध का शंख बजेगा और हथियारों की सुमधुर झंकार से आकाश गूंज उठेगा। जर्मन हृदयों में किस प्रकार युद्ध का आल्हाद हिलोरें मारता है। आओ, हम लोग उन बूढ़ी औरतों का मजाक करें, जो युद्ध को क्रूर और ग्लानिजनक बताती हैं। युद्ध तो अत्यन्त सुन्दर होता है।" वीरथ का कहना था—"वह समय दूर नहीं है, जब सम्पूर्ण पृथिवी पर जर्मनी का अखण्ड राज्य हो जायगा।" बर्न हार्डी ने लिखा था—"युद्ध एक मानवीय आवश्यकता है।" ट्रीट्सके प्रतिपादित करता था—"युद्ध दैवीय व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण भाग है।" "जिसकी लाठी, उसकी भैंस, दुनिया में ठीक क्या है, इसका फैसला युद्ध से होता है," इस प्रकार के सिद्धान्त थे, जो गत शताब्दि के विचारक खुले तौर पर प्रतिपादित करते थे। अनेक सभा समितियां इसी उद्देश्य से स्थापित हुई थीं, कि वे मनुष्यों को युद्ध की आवश्यकता समझावें और राज्य को युद्ध के लिये तैयार रखने में सहायता दें। इस वातावरण में युद्ध होना आश्चर्य की बात नहीं, अपितु युद्ध का न होना ही आश्चर्य की बात हो सकती थी।

विकृत देशभक्ति—उग्र राष्ट्रीयता ने मनुष्यों में एक विकृत देशभक्ति की भावना उत्पन्न कर दी थी। हमारी सभ्यता सबसे उत्कृष्ट है, हमारा धर्म सबसे श्रेष्ठ है, हमारी भाषा, हमारी संस्कृति, हमारा खानपान, हमारी वेशभूषा, हमारे रीतिरिवाज संसार के लिये सर्वोत्तम हैं। परदेशी घृणा का पात्र है, हमसे

तुच्छ हैं । इस पहाड़ या नदी से परे जो लोग रहते हैं, वे हमारे दुश्मन हैं, उन्हें जीवित रहने का भी अधिकार नहीं है—ये भावनायें उस समय सब लोगों में उत्पन्न हो गई थीं। प्रेस, प्लेटफार्म, पुस्तकें, स्कूल, कालिज—सब में ये भावनायें ही प्रचारित की जाती थीं। हमारा देश अगर ठीक मार्ग पर है, तब तो ठीक ही है, अगर वह गलत रास्ते पर है, तो भी वही गलत रास्ता ठीक है—यह गत शताब्दि की देशभक्ति थी ! सारी दुनिया हमारे लिये है हम ईश्वर के विशेष लाड़ले हैं—ये भाव उस समय सब देशों के लोग खुले तौर से कहते थे । जर्मनी के चांसलर फॉन बेथमान-हाल्वेग का कथन था—"ईश्वर ने जर्मन जाति को संसार में एक विशेष स्थान प्रदान किया है, इतिहास में हमें कुछ विशेष कार्य करना है ।" सम्राट् विलियम द्वितीय कहता था—"परमेश्वर ने हमें संसार को सभ्य बनाने का कार्य सुपुर्द किया है ।" सेसिल र्‌होड्स ने लिखा था—"मेरा दावा है, कि अब तक इतिहास ने जितनी जातियां उत्पन्न की हैं, ब्रिटिश जाति उनमें सर्वश्रेष्ठ है ।" चैम्बरलेन का दावा था, कि "यह निश्चित है, कि एंग्लोसैक्सन जाति संसार के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति है।" जर्मन, इङ्गलिश, फ्रेन्च, रूसी, स्लाव आदि यूरोप की सभी जातियां अपने-अपने विषय में इन्हीं भावनाओं का प्रचार कर रही थीं। जब सब लोग समझते हों, कि संसार हमारे लिये है, हमें सारी दुनिया पर राज्य करना है, विश्व में अपनी सभ्यता और धर्म का प्रचार करना है, तो वे परस्पर टकराये बिना कैसे रह सकते हैं, वे युद्ध से कैसे बचे रह सकते हैं।

कूटनीति—कूटनीति और गुप्त सन्धियां युद्ध के इस वातावरण को और भी अधिक विषैला बना रही थीं। विविध देशों के पर‌राष्ट्र विभाग एक दूसरे के साथ गुप्त मन्त्रणायें करते रहते थे । विदेशी सम्बन्धों को पार्लियामेंट के सम्मुख भी खुले तौर पर पेश नहीं किया जाता था। समाचार पत्रों में तो ये मामले पूर्णतया आते ही न थे, अतः लोकमत का उन पर प्रभाव हो सकना सम्भव ही नहीं रहा था। बीसवीं सदी के लोकसत्तावादी नवीन युग में भी मध्यकाल के समान कूटनीति का बाजार गरम था। जनता को सर्वथा अज्ञान में रखकर विविध देशों के पर‌राष्ट्र विभाग कूटनीति का इस प्रकार का जाल-सा बिछाने में लगे थे, जिसमें फंसकर यूरोप के लिये युद्ध से बचना असम्भव था।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों का अभाव—जहां युद्ध को प्रारम्भ करने के लिये यूरोप के विविध राज्यों में परस्पर विद्वेष, प्रतिस्पर्धा, हितविरोध आदि के इतने कारण उपस्थित थे, वहां उनके आपस के झगड़ों को निबटाने के लिये किन्हीं शान्तिमय उपायों का समुचित रूप से विकास अभी नहीं हुआ था। जिस प्रकार

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में परस्पर झगड़े होते हैं, उसी तरह भिन्न-भिन्न राज्यों में भी झगड़ों का होना सर्वथा स्वाभाविक है। किसी समय व्यक्ति भी अपने झगड़ों का निर्णय द्वन्द्व-युद्ध द्वारा किया करते थे। पर अब वह समय गुजर चुका है। अब व्यक्तियों के झगड़ों को निबटाने के लिये न्यायालय बन गये हैं, जिनके निर्णय को दोनों पक्ष स्वीकृत करते हैं। पर राज्यों के सम्बन्ध में अभी यह दशा नहीं आई है। राज्यों के झगड़े मिटाने के लिये अभी किन्हीं ऐसे न्यायालयों का विकास नहीं हुआ है, जिनके फैसलों को सब पक्षों द्वारा स्वीकृत करना आवश्यक हो। अभी राज्यों के झगड़ों का निर्णय द्वन्द्व-युद्ध द्वारा ही होता है।

इसमें सन्देह नहीं, कि इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की आवश्यकता यूरोप में देर से अनुभव की जा रही थी। विचारक लोग तो उन्नीसवीं सदी में ही इस विचार को प्रगट करने लगे थे, पर राज्यों के संचालकों की तरफ से इसके लिये कोई विशेष उद्योग नहीं हुआ था। सन् १८९८ में रूस के जार निकोलस द्वितीय ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की, जिसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के लिये विविध राज्यों को निमन्त्रित किया गया था। इसके अनुसार पहला अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हेग में हुआ। उसमें २६ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। लोगों को इस सम्मेलन से बड़ी-बड़ी आशाएं थीं। शान्ति के उपासक समझते थे, कि अब एक ऐसे नवीन युग का श्रीगणेश हो रहा है, जिसमें युद्धों की इतिश्री हो जायगी और विविध राज्य अपने झगड़ों का निबटारा शान्ति द्वारा करने लगेंगे। परन्तु हेग के इस सम्मेलन को कोई विशेष सफलता नहीं हुई। जर्मनी और इङ्गलैंड के रुख के कारण सम्मेलन असफल हो गया, पर शान्ति के पक्षपाती इससे निराश नहीं हुए। सन् १९०७ में हेग में ही फिर दूसरी बार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। इसमें ४४ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। सन् १९०७ के इस सम्मेलन में सब से महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ, कि एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई। यह तय हुआ, कि यदि राज्य चाहें तो अपने झगड़ों को इस न्यायालय के सम्मुख पेश कर सकते हैं। इस न्यायालय के लिये विविध राज्य अपनी तरफ से कुछ न्यायाधीशों को मनोनीत करते थे। जब कोई मामला पेश होता था, तो वादी और प्रतिवादी राज्यों को यह अधिकार था, कि उन मनोनीत न्यायाधीशों में से कतिपय को अपने झगड़े का निर्णय करने के लिये न्यायाधीश चुन सकें। ये न्यायाधीश फिर उस झगड़े का निर्णय करने का प्रयत्न करते थे।

इसमें सन्देह नहीं, कि हेग में स्थापित यह न्यायालय विविध राज्यों के पारस्परिक

झगड़ों को शान्ति से निबटाने के लिये एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन था। इसके द्वारा यूरोप ने शान्ति की तरफ एक महत्त्वपूर्ण पग बढ़ाया था। कई झगड़े इस न्यायालय के सम्मुख पेश भी हुए, और उन्हें शान्ति से निबटाने में उसे सफलता भी प्राप्त हुई। पर अभी वह समय बहुत दूर था, जब सच्चे अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हो सके। उग्र राष्ट्रीयता, विकृत देशभक्ति और साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियां अभी इस स्वप्न को क्रिया रूप में परिणत नहीं होने देती थीं। यही कारण है, कि सन् १९०७ में हेग का न्यायालय स्थापित हो जाने के बाद भी अनेक युद्ध हुए, और आखिर १९१४ में गत महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ।

३. संघर्ष का श्रीगणेश

यूरोप के शक्तिशाली राज्य किस प्रकार दो जबरदस्त गुटों में विभक्त हो गये थे, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। दोनों ओर से शक्तिसंचय का प्रयत्न जारी था। गुटबन्दी तीव्र रूप धारण करती जाती थी। सेना में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि की जा रही थी। जंगी जहाजों और भयंकर हथियारों के निर्माण के लिये रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा था। विज्ञान की सहायता लेकर नये-नये हथियारों का आविष्कार हो रहा था। शस्त्र और सेना बढ़ाने के लिये दोनों गुटों में होड़ सी चल रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक तरफ फ्रांस और जर्मनी के हित परस्पर टकराते थे, दूसरी तरफ आस्ट्रिया और रूस में घोर प्रतिद्वन्द्विता थी। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से ब्रिटिश साम्राज्य के राजनीतिज्ञ अत्यधिक चिन्तित थे। साम्राज्यवाद का भूत सबके सिरों पर सवार हो गया था। महत्त्वाकांक्षा और राज्य विस्तार की मदिरा पीकर यूरोप के विविध राज्य शक्ति प्रदर्शन के लिये उतावले हो रहे थे। इस दशा में युद्ध अवश्यम्भावी था। जब दोनों पक्ष युद्ध के लिये कृतनिश्चय और उद्यत हों, तो किसी छोटी सी बात पर भी उनमें संघर्ष शुरू हो सकता है। यही कारण है, कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में अनेक बार ऐसी घटनायें उपस्थित हुईं, जब युद्ध के बादल आकाश में घिरने लगे और हथियारों की झंकार से यूरोप गूंज उठा। इन अवसरों पर युद्ध होते होते बचा। इन घटनाओं का संक्षिप्त रूप से उल्लेख महायुद्ध के श्रीगणेश को भलीभांति समझने के लिये उपयोगी है।

मोरक्को का प्रश्न—बीसवीं सदी में यूरोप के विविध राज्यों का पहला संघर्ष मोरक्को के प्रश्न पर हुआ। उत्तरी अफ्रीका में फ्रांस किस प्रकार अपना साम्राज्य

फैला रहा था, इसका उल्लेख पहले एक अध्याय में किया जा चुका है । १८३० में फ्रांस ने अल्जीरिया का विजय किया था और १८७४ तक उस पर फ्रांस का आधिपत्य अविकल रूप से स्थापित हो गया था। इससे फ्रांस के अफ्रीकन साम्राज्य की सीमायें पूर्व में ट्यूनिस के साथ और पश्चिम में मोरक्को से आ लगी थीं। ये दोनों राज्य स्वतन्त्र मुसलमान सुलतानों द्वारा शासित थे। ट्यूनिस की सीमा पर निवास करने वाली जातियां अल्जीरिया पर आक्रमण करती रहती हैं, यह निमित्त बनाकर १८८१ में फ्रांस ने ट्यूनिस पर हमला किया और उसे जीत कर अपने अधीन कर लिया। इटली भी अफ्रीका में अपना साम्राज्य विस्तृत करने के लिये तत्पर था, और लीबिया उसकी अधीनता में आ चुका था। लीबिया ट्यूनिस के पूर्व में है, और स्वाभाविक रूप से इटली की आकांक्षा थी, कि ट्यूनिस को जीत कर उसे अपने अफ्रीकन साम्राज्य में मिला ले। बिस्मार्क जो इटली को जर्मनी और आस्ट्रिया के गुट में शामिल करने में समर्थ हुआ, उसमें फ्रांस का ट्यूनिस पर प्रभुत्व स्थापित कर लेना एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

ईजिप्ट के प्रश्न पर फ्रांस और इङ्गलैण्ड के हित एक दूसरे के साथ टकराते थे। पर १९०४ में इन दोनों राज्यों ने आपस में सन्धि कर ली थी, जो इतिहास में 'आंतांत् कोर्दियाल' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि के अनुसार फ्रांस ने यह स्वीकार किया था, कि ईजिप्ट और सूडान पर ब्रिटेन का प्रभुत्व न्याय्य है, और वह इस मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। इङ्गलैण्ड को अधिकार होगा, कि वह इस क्षेत्र में अपनी शक्ति और प्रभाव का विस्तार कर सके। इसी प्रकार इङ्गलैण्ड को इस बात में कोई एतराज नहीं होगा, कि फ्रांस मोरक्को के क्षेत्र में अपने प्रभुत्व की वृद्धि कर सके। आंतांत् कोर्दियाल का इङ्गलैण्ड और फ्रांस में बड़े उत्साह के साथ स्वागत हुआ, और ये दोनों देश, जो उन्नीसवीं सदी में निरन्तर एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी रहे थे, अब परस्पर मित्रता के संबंध से बंध गये।

इङ्गलैण्ड के विरोध से निश्चिन्त होकर फ्रांस ने मोरक्को को अपनी अधीनता में लाने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। मोरक्को के सुलतान के लिये फ्रांस जैसे शक्तिशाली राज्य का मुकाबला कर सकना सम्भव नहीं था। पर फ्रांस के प्रतिस्पर्धी जर्मनी ने इस समय उसकी सहायता की। जर्मनी का परराष्ट्र विभाग इस समय बैरन फान हालस्टाइन के अधीन था। यह बड़ा नीतिकुशल और चालाक राजनीतिज्ञ था। उसकी प्रेरणा से कैसर विलियम द्वितीय ने मोरक्को की यात्रा की और वहां के सुलतान को स्वतंत्र व सम्पूर्ण-

प्रभुत्व-सम्पन्न राजा के रूप में स्वीकृत किया। वहां एक भाषण में उसने कहा, कि मुझे इस बात का पूरा भरोसा है, कि सुलतान के शासन में न केवल मोरक्को की स्वाधीनता ही अक्षुण्ण रहेगी, पर साथ ही सब देशों को वहां व्यापार आदि का समान अवसर रहेगा। मोरक्को किसी एक देश के प्रभाव में नहीं रहेगा।

जर्मनी के इस हस्तक्षेप के कारण फ्रांस के लिये मोरक्को में मनमानी कर सकना सम्भव नहीं रह गया और इन दोनों राज्यों में द्वेष निरन्तर बढ़ता गया। मोरक्को के सम्बन्ध में जर्मनी और फ्रांस के सम्बन्ध इतने कटु हो गये, कि एक समय ऐसा आया, जब युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा। जर्मनी के प्रयत्न से अन्त में यह तय हुआ, कि इस मामले पर विचार करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स बुलाई जाय और उसमें सब विवादग्रस्त विषयों का निर्णय किया जाय।

अल्जकिरास कान्फरेन्स—मोरक्को की समस्या पर विचार करने के लिये यह अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स १९०६ में अल्जकिरास में हुई, और उसमें जो निर्णय हुए, वे निम्नलिखित हैं—

(१) मोरक्को की राजनीतिक स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखा जाय।

(२) पर वहां शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक पुलीस का संगठन किया जाय, जिसमें फ्रांस और स्पेन के सिपाही लिये जावें। इस पुलीस का प्रधान अधिकारी (इन्स्पेक्टर जनरल) स्विस रहे।

(३) मोरक्को के आर्थिक व व्यापारिक विषयों का नियन्त्रण करने के लिये एक स्टेट बैंक की स्थापना की जाय। पर यह स्टेट बैंक केवल सुलतान के अधीन न होकर फ्रांस, इङ्गलैण्ड, जर्मनी और स्पेन—इन चार राष्ट्रों की अधीनता में हो और ये राज्य इस बैंक का संचालन करें।

(४) अल्जीरिया की ओर से जो माल व अस्त्र-शस्त्र मोरक्को आवें, उन पर आयात-कर की व्यवस्था व इस व्यापार को नियन्त्रित करने का कार्य फ्रांस के हाथ में रहे। इसी प्रकार पश्चिम में रि ओ द ओरो की तरफ से जो माल मोरक्को आवे, वह स्पेन के नियन्त्रण में रहे।

अल्जकिरास की इस कान्फरेन्स में बारह राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। जर्मनी को इसमें विशेष सफलता नहीं हो सकी। मोरक्को में शान्ति व व्यवस्था कायम रखने के लिये जिस अन्तर्राष्ट्रीय पुलीस का संगठन किया गया, उसमें फ्रेंच और स्पेनिश सिपाही लिये गये। मोरक्को में पूर्व की ओर से फ्रांस अपना प्रभुत्व बढ़ा रहा था और पश्चिम की ओर से स्पेन। मोरक्को

१९१४-१८ के महायुद्ध से पूर्व का यूरोप
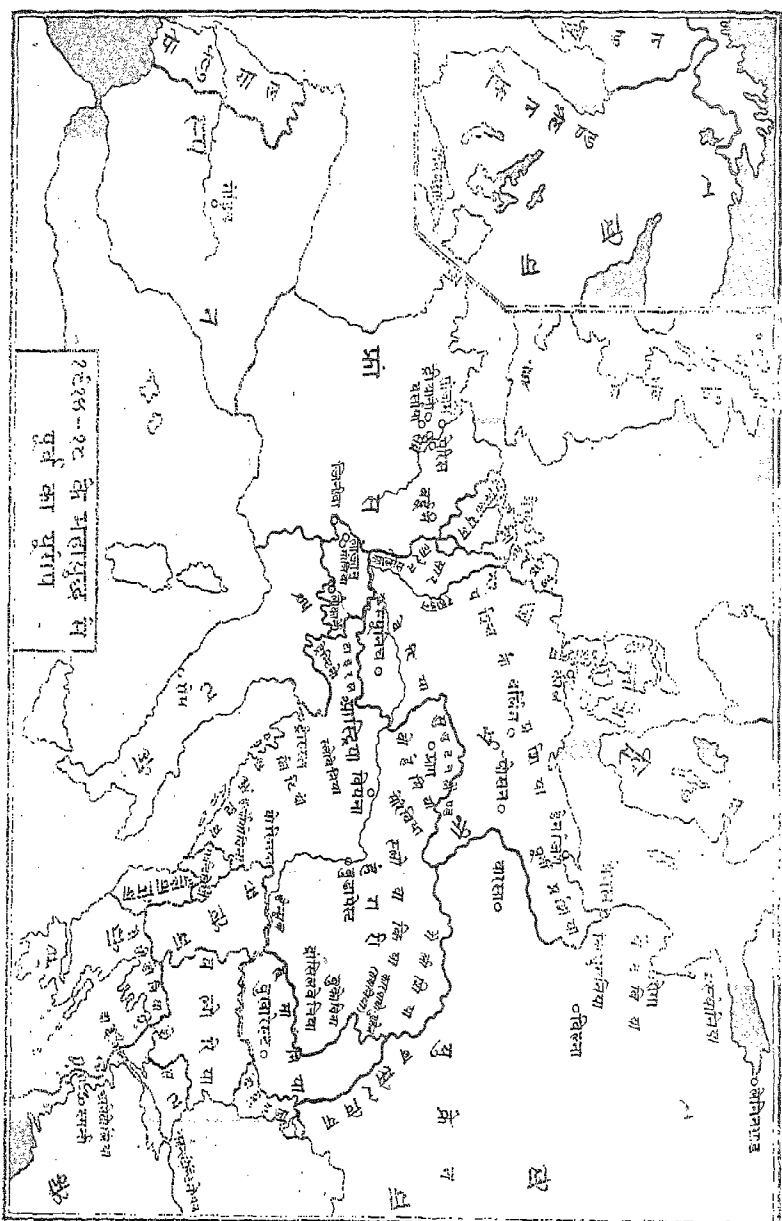
के मामले में इन दोनों देशों में परस्पर समझौता भी विद्यमान था। यद्यपि नाम को अब मोरक्को की स्वतन्त्रता कायम रही, पर अपनी पुलीस द्वारा फ्रांस और स्पेन को वहां मनमानी करने का अवसर मिल गया। जर्मनी मोरक्को में फ्रांस के बढ़ते हुए प्रभाव से बहुत उद्विग्न था, और इसीलिये अल्जकिरास कान्फरेन्स द्वारा की गई व्यवस्थायें देर तक कायम नहीं रह सकीं। यद्यपि कुछ समय के लिये मोरक्को की समस्या हल हो गई, पर इससे जर्मनी और फ्रांस के पारस्परिक विद्वेष में कमी नहीं आई। अल्जकिरास कान्फरेन्स में इङ्गलैण्ड, रूस, संयुक्त-राज्य अमेरिका और इटली ने फ्रांस का साथ दिया था। केवल आस्ट्रिया-हंगरी ही ऐसा राज्य था, जिसने सब बातों में जर्मनी का पक्षपोषण किया था। इससे जर्मनी को यह अनुभव करने का अवसर मिल गया था, कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसके मुकाबले में फ्रांस की स्थिति बहुत सुदृढ़ है। वह जहां एक तरफ अपने गुट को और अधिक मजबूत बनाने के लिये तत्पर हुआ, वहां साथ ही अपनी जल व स्थल सेना को भी बड़ी तेजी के साथ उन्नत करने का प्रयत्न उसने प्रारम्भ कर दिया। अल्जकिरास कान्फरेन्स से जर्मनी और फ्रांस के सम्बन्ध और भी अधिक कटु हो गये।

बाल्कन प्रायद्वीप की समस्या—१९०६ से १९०८ तक दो साल के लगभग यूरोप में प्रायः शान्ति रही। पर यह शान्ति देर तक कायम नहीं रह सकी। १९०८ में यूरोप के राजनीतिज्ञों को जिस समस्या का मुकाबला करना पड़ा, वह बाल्कन प्रायद्वीप में उपस्थित हुई थी। इस प्रायद्वीप के इतिहास पर हम इसके पहले एक अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डाल चुके हैं, पर अत्यन्त संक्षेप से कुछ बातों का दुबारा उल्लेख करना इस प्रसंग में उपयोगी होगा। बीसवीं सदी के शुरू में बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्य जर्मनी व उसके मित्र आस्ट्रिया-हंगरी के प्रभाव में थे। टर्की का सुलतान जर्मनी के सम्राट् विलियम द्वितीय का मित्र था। इस कारण तुर्की साम्राज्य के विस्तृत प्रदेश भी जर्मनी के प्रभाव में थे। रूमानिया का राजा चार्ल्स स्वयं होहन्ट्सोलर्न वंश का था। वंश की एकता के कारण जर्मनी के साथ उसकी मैत्री स्वाभाविक थी। सर्बिया पूर्णतया आस्ट्रिया के प्रभाव में था। वहां की परराष्ट्र नीति आस्ट्रिया के वैदेशिक विभाग द्वारा ही संचालित होती थी। इस प्रकार बाल्कन प्रायद्वीप के प्रायः सभी राज्य जर्मन पक्ष के प्रभाव में थे। इस प्रायद्वीप के राज्यों के सम्बन्ध में जर्मनी पूर्णतया निश्चिन्त था।

सन् १९०३ में सर्बिया के राजा अलेक्जण्डर की मृत्यु हो गई। अलेक्ज-

ण्डर आस्ट्रिया के राजा का परम मित्र था। सर्वियन देशभक्तों की भावनाओं की जरा भी परवाह न कर वह पूर्णतया आस्ट्रिया का पक्षपाती था। पर उसके उत्तराधिकारी राजा पीटर की यह दशा न थी। वह सर्वियन लोगों की राष्ट्रीय भावना के साथ सहानुभूति रखता था और इसलिये उसका झुकाव आस्ट्रिया की तरफ न होकर रूस की ओर था। सर्बिया के निवासी सर्व जाति के हैं। सर्व जाति द्वारा आबाद अनेक प्रदेश उस समय आस्ट्रिया के अधीन थे। अतः सर्व लोगों में यह आन्दोलन चल रहा था, कि उन प्रदेशों को आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त कर एक शक्तिशाली सर्वियन राष्ट्र की स्थापना की जाय। इस प्रयत्न में उन्हें रूस से सहायता व प्रोत्साहन प्राप्त थे। इसके दो कारण हैं। पहला यह, कि सर्व लोग उसी जाति के हैं, जिसके रूसी लोग हैं। दूसरा यह, कि बाल्कन प्रायद्वीप के सम्बन्ध में आस्ट्रिया और रूस के हित परस्पर टकराते थे। काला सागर और भूमध्यसागर को मिलाने वाले जलडमरूमध्य तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपना प्रभाव कायम करने के लिए रूस विशेष रूप से इच्छुक था, इसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं। राजा पीटर भलीभांति अनुभव करता था, कि सर्बिया का हित रूस के साथ मैत्री करने में है। पीटर की इस प्रवृत्ति से जर्मनी और आस्ट्रिया बहुत चिन्तित हुए। यदि सर्बिया रूस के साथ सन्धि कर ले, तो इससे जर्मनी और आस्ट्रिया दोनों को नुकसान था। इससे जर्मनी की पश्चिमी एशिया में साम्राज्य प्रसार की नीति में बाधा पड़ती थी। जर्मनी बाल्टिक सागर से पशिया की खाड़ी तक अपना अखण्ड प्रभाव स्थापित करने की धुन में था। एशिया पहुंचने का सीधा रास्ता भूमध्यसागर से स्वेज होकर लाल सागर की तरफ जाना है। पर इस रास्ते पर पहले से ब्रिटेन का कब्जा था। इस रास्ते के प्रत्येक महत्वपूर्ण पड़ाव पर ब्रिटिश लोग अपना अधिकार कर चुके थे। इस दशा में जर्मनी के लिये यही सम्भव था, कि वह एशिया पहुंचने का कोई नवीन मार्ग निकाले। जर्मनी से आस्ट्रिया, आस्ट्रिया से बाल्कन प्रायद्वीप, फिर टर्की—यह एक नया रास्ता एशिया पहुंचने के लिये हो सकता था। जर्मनी की आंख इसी पर थी। टर्की का साम्राज्य उन दिनों बहुत विस्तृत था। एशिया माइनर और मैसोपोटामिया उस समय उसके अधीन थे। यदि बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्य जर्मनी व उसके मित्र आस्ट्रिया के प्रभाव में रहें, तो वस्तुतः बाल्टिक सागर से पशिया की खाड़ी तक जर्मनी का अखण्ड प्रभुत्व स्थापित रहता था। आस्ट्रिया और टर्की उसके मित्र थे, और सर्बिया और रूमानिया पर उसका प्रभाव था। इसी आधार पर जर्मनी ने बर्लिन-बगदाद रेल्वे की स्कीम बनाई थी। सन् १८९८ में कैसर विलियम ने

टर्की की यात्रा की थी और वहां सुल्तान से मिलकर एशिया माइनर और मैसोपोटामिया में रेलवे बनाने का अधिकार प्राप्त किया था। जर्मनी का विचार था, कि बर्लिन से लेकर बगदाद तक सीधी रेलवे हो, जो जर्मनी के प्रभाव में रहे। जर्मनी की साम्राज्यवादी नीति के लिये यह रेलवे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। इसके तैयार हो जाने पर जर्मनी न केवल बाल्कन प्रायद्वीप और तुर्की साम्राज्य पर अपना कब्जा रख सकता था, अपितु एशिया में साम्राज्य विस्तार तथा व्यापार का द्वार भी उसके लिये खुल जाता था। यही कारण है, कि इङ्गलैण्ड, रूस और फ्रांस इस स्कीम से बहुत चिन्तित थे। इङ्गलैण्ड को भय था, कि बर्लिन-बगदाद रेलवे के तैयार हो जाने पर पर्शिया की खाड़ी पर जर्मनी का प्रभाव हो जायगा और यह होना ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के लिये अत्यन्त हानिकारक होगा। रूस समझता था, कि उत्तरी पर्शिया की तरफ वह जिस प्रकार निश्चिन्तता से अपने पैर फैला रहा है, वह इस रेलवे से सम्भव नहीं रहेगा। फ्रांस की दृष्टि सीरिया पर थी। उसका खयाल था, कि एशिया माइनर पर जर्मनी का प्रभाव हो जाने से सीरिया का क्षेत्र उसके लिये खतरे में पड़ जावेगा। इन तीन शक्तिशाली राज्यों के विरोध के कारण जर्मनी अपनी स्कीम को शीघ्र क्रिया में परिणत नहीं कर सका।

पर सर्बिया के राजा पीटर ने रूस के साथ मैत्री करके जो प्रवृत्ति प्रदर्शित की थी, वह जर्मनी की इस सारी स्कीम पर ही कुठाराघात करती थी। यदि सर्बिया आस्ट्रिया के स्थान पर रूस के प्रभाव में आ जाय, तो बर्लिन-बगदाद रेलवे और 'बाल्टिक सागर से पर्शियन खाड़ी' तक के क्षेत्र पर अखण्ड प्रभाव का अर्थ ही कुछ न रहता था। इसी प्रकार सर्बिया के रूस के साथ मिल जाने से आस्ट्रिया को भी सरासर नुकसान था। बाल्कन प्रायद्वीप को अपने प्रभाव में रखना आस्ट्रियन साम्राज्य की सुरक्षा के लिये आवश्यक था। सर्बियन राष्ट्रीयता के आन्दोलन से आस्ट्रियन साम्राज्य की सत्ता ही खतरे में पड़ जाती थी। इसलिये आस्ट्रिया और जर्मनी दोनों का हित इस बात में था, कि सर्बिया के सर्व आन्दोलन को एकदम कुचल दिया जाय। सन् १९०५ में रूस जापान से बुरी तरह परास्त हुआ था। आन्तरिक राज्यक्रान्ति के कारण रूस वैसे भी बहुत कमजोर हो रहा था। इस समय उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह सर्बिया की सहायता कर सके। अतः सर्बियन लोगों के राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल देने का यह अत्यन्त उत्तम अवसर था। इस अवसर से लाभ उठा कर सन् १९०८में आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जोगोविना के प्रदेशों को पूर्णतया अपने साम्राज्य में मिला लिया। इन दोनों प्रदेशों के निवासी सर्ब जाति के हैं, और राष्ट्रीय दृष्टि से इन्हें सर्बिया के साथ होना

चाहिये था। पर पहले ये टर्की के अधीन थे। १८७८ की बर्लिन की सन्धि द्वारा इन पर आस्ट्रिया का अधिकार स्वीकार किया गया था। तब से इन पर आस्ट्रिया का शासन चला आता था। सर्वियन देशभक्त इस यत्न में थे, कि इन्हें अपने साथ मिलाकर शक्तिशाली सर्वियन राष्ट्र का निर्माण किया जावे। इस आकांक्षा में उन्हें रूस की सहायता का पूरा भरोसा था। पर रूस की निर्बलता से लाभ उठाकर सन् १९०८ में आस्ट्रिया ने इन प्रदेशों पर अपना कब्जा और भी मजबूत कर लिया। यह स्वाभाविक था, कि सर्बिया इससे नाराज हो। बोस्निया और हर्जोगोविना के प्रश्न पर आस्ट्रिया और सर्बिया के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये। इस समय रूस के परराष्ट्र सचिव श्रीयुत इस्वोल्स्की थे। उन्होंने इस परिस्थिति में सर्बिया की सहायता करने के बजाय अपने लिये एक नया लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया। रूस की बहुत समय से आकांक्षा थी, कि काला सागर में उसके जंगी जहाजों का अनवरत प्रवेश रहे। श्रीयुत इस्वोल्स्की ने आस्ट्रिया के सम्मुख यह विचार पेश किया, कि यदि तुम हमें इस आकांक्षा को पूर्ण करने में सहायता दो, तो हम बोस्निया और हर्जोगोविना के मामले में सर्बिया की सहायता नहीं करेंगे। सम्भवतः आस्ट्रिया इसके लिये तैयार हो भी जाता, पर इङ्गलैण्ड ने इसका घोर विरोध किया और श्रीयुत इस्वोल्स्की का मनोरथ पूर्ण नहीं हो सका। इस दशा में रूस के लिये एक ही मार्ग था, वह यह कि सर्बिया का पक्ष लेकर अपनी पुरानी नीति का अनुसरण करे। पर जर्मनी ने बीच में पड़कर रूस पर इसके लिये जोर दिया, कि बोस्निया और हर्जोगोविना पर आस्ट्रिया का पूर्ण अधिकार स्थापित होने दे। इस समय रूस की यह दशा नहीं थी, कि वह युद्ध कर सकता। आन्तरिक क्रान्ति और जापान द्वारा पराजित होने के कारण वह बहुत निर्बल हो गया था। इच्छा न होते हुए भी उसे झुकना पड़ा और सर्बियन देशभक्तों की आकांक्षाओं के खिलाफ ये दोनों प्रदेश पूर्णतया आस्ट्रिया के अधीन कर दिये गये। इस प्रकार १९०८ में जर्मनी और आस्ट्रिया का गुट रूस के खिलाफ पूर्णतया सफल हुआ और बाल्कन प्रायद्वीप में उनका प्रभाव और भी बढ़ गया।

मोरक्को की समस्या—बाल्कन प्रायद्वीप का मामला अभी समाप्त ही हुआ था, कि मोरक्को पर फिर युद्ध के बादल मंडराने लगे। जर्मनी की प्रेरणा से १९०६ में मोरक्को की समस्या हल करने के लिये जो अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स हुई थी, उसमें यह व्यवस्था भी की गई थी, कि यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से मोरक्को स्वतन्त्र रहे, परन्तु उसके आर्थिक विषयों का सञ्चालन एक बैंक के हाथ में रहे, जिस पर मोरक्कन सरकार के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार हो। मोरक्को में

व्यापार की सबको स्वतन्त्रता हो, और उसमें व्यवस्था और शान्ति स्थापित रखने के लिये विदेशी सैनिक पुलीस रहे, जो फ्रांस और स्पेन के अधीन हो। इस फैसले के अनुसार मोरक्को पर अपना अधिकार निरन्तर बढ़ाते रहने के लिये फ्रांस को अनेक अवसर थे। उनका उपयोग कर वह मोरक्को पर अपना शिकंजा निरन्तर अधिक अधिक मजबूत करता जाता था। शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के बहाने फ्रेंच पुलीस मोरक्को के विविध नगरों पर कब्जा करती जाती थी। सुलतान पूर्णतया फ्रांस के काबू में था। इस दशा में सन् १९११ में मोरक्को के कुछ देशभक्तों ने फेज में विद्रोह कर दिया। विद्रोह को शान्त करने के निमित्त फ्रेंच पुलीस ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया। फ्रांस की इस गतिविधि को जर्मनी बड़ी चिन्ता की दृष्टि से देख रहा था। फेज पर फ्रेंच सेना के कब्जे को जर्मनी नहीं सह सका। उसने उद्घोषित किया, कि फेज पर कब्जा १९०६ के फैसले के खिलाफ है। जर्मनी के एक जंगी जहाज ने मोरक्को के बन्दरगाह अगदीर की तरफ प्रस्थान भी कर दिया। फ्रांस और जर्मनी दोनों हथियारों की झंकार से गूंज उठे। ऐसा प्रतीत होने लगा, कि अब युद्ध हुए बिना नहीं रह सकेगा। इस विकट परिस्थिति में इङ्गलैण्ड ने फ्रांस का साथ दिया। रूस, फ्रांस और इङ्गलैण्ड का जो त्रिगुट बना था, वह पूर्णतया अपना काम कर रहा था। जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस की सहायता करने के लिये इङ्गलैण्ड पूर्णरूप से उद्यत था। ब्रिटिश सरकार की ओर से भाषण करते हुए श्रीयुत लायड जार्ज ने उद्घोषित किया, कि "जिन मामलों के साथ ब्रिटेन का ताल्लुक है, यदि उनमें ब्रिटेन के हितों की उपेक्षा की गई, तो उसे हम किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकते। ऐसा करना ब्रिटेन का घोर अपमान है, ब्रिटेन की उपेक्षा कर यदि शान्ति स्थापित करने का उद्योग किया गया, तो हम उसे कभी भी सहन नहीं करेंगे।" श्रीयुत लायड जार्ज को इतने सख्त शब्दों में यह उद्घोषणा करने की आवश्यकता इसलिये हुई थी, क्योंकि जर्मनी मोरक्को के मामले में इङ्गलैण्ड की उपेक्षा करना चाहता था और फ्रांस से सीधे निबट लेने के प्रयत्न में था। पर इङ्गलैण्ड के हस्तक्षेप के कारण मोरक्को की समस्या अधिक नहीं बढ़ने पाई, मामला बीच में ही दब गया। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस मामले को लेकर जर्मनी में फ्रांस, इङ्गलैण्ड और रूस के त्रिगुट के विरुद्ध भावना बहुत प्रबल हो गई। जर्मन लोग समझने लगे, कि इस त्रिगुट का निर्माण उनकी मातृभूमि के स्वयंसिद्ध अधिकारों को कुचलने के लिये ही हुआ है। इसी प्रकार फ्रांस में भी जर्मनी से बदला लेने की भावना पुनः अत्यन्त प्रबल हो गई। १८७१ के पराजय की स्मृति

फ्रांस में सदा नाराजी रहती थी और अब मोरक्को की इस घटना ने अग्नि में घृत की आहुति का काम किया।

बाल्कन युद्ध—मोरक्को के प्रश्न पर यूरोप में युद्ध बाल बाल बचा था। पर कुछ ही समय बाद बाल्कन प्रायद्वीप में फिर युद्ध की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। ग्रीस, सर्बिया, बल्गेरिया और मोन्टिनिग्रो—बाल्कन प्रायद्वीप के ये चार राज्य तुर्की साम्राज्य का अन्त करने के लिये उसके खिलाफ टूट पड़े। यह बाल्कन-युद्ध किन परिस्थितियों में और किस प्रकार प्रारम्भ हुआ, इसका वर्णन हम इस इतिहास के उन्तीसवें अध्याय में कर चुके हैं। उसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं। बाल्कन युद्ध द्वारा यूरोप से टर्की का प्रभुत्व उठ गया, और बाल्कन प्रायद्वीप प्रायः स्वाधीन हो गया। पर इस युद्ध के सिलसिले में यूरोपियन राज्यों के दोनों गुटों को अपनी शक्ति आजमाने के लिये अनेक अवसर प्राप्त हुए और युद्ध की काली घटायें यूरोपियन आकाश में मंडराने लगीं। तुर्की साम्राज्य से स्वतन्त्र हुए बाल्कन प्रदेशों पर किसका अधिकार हो और नये स्वतन्त्र हुए राज्य किसके प्रभाव में रहें—यह समस्या थी, जिसे हल कर सकना अत्यन्त कठिन कार्य था। एक तरफ रूस बाल्कन प्रायद्वीप को अपने प्रभाव में लाने के लिये छटपटा रहा था। एशिया में वह जापान से बुरी तरह मार खा चुका था। अफगानिस्तान और पर्शिया में इङ्गलैण्ड ने उसकी प्रगति को रोक दिया था। सब तरफ से रुकावट पाकर रूस को आगे बढ़ने के लिये एक ही दिशा नजर आती थी—वह बाल्कन प्रायद्वीप को अपने प्रभाव में लाकर कान्स्टेन्टिनोपल पर अपना कब्जा कायम करना चाहता था। कालासागर से भूमध्यसागर तक पहुंचने का मार्ग उसके अधिकार में आ जाय—यह पुराना सुखद स्वप्न रूस के सम्मुख था। इङ्गलैण्ड अब उसका मित्र था, उधर से उसे कोई डर न था। अतः रूस के राजनीतिज्ञ इस दिशा में आगे बढ़ने के लिये अपना मार्ग अब साफ समझते थे। पर आस्ट्रिया और जर्मनी के रूप में दो बड़ी बाधाएं इस मार्ग में खड़ी थीं। जर्मनी बर्लिन से बगदाद तक अपना प्रभुत्व अक्षुण्ण रखना चाहता था। आस्ट्रिया को सर्बियन लोगों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं से भय था। जिस प्रकार पीडमौण्ट के छोटे से राज्य को अपना केन्द्र बनाकर इटालियन देशभक्तों ने शक्तिशाली इटालियन राष्ट्र का संगठन किया था, उसी प्रकार सर्बिया को केन्द्र बनाकर शक्तिशाली सर्ब या स्लाव राष्ट्र की स्थापना की जा सकती है, इसे सर्ब देशभक्त और आस्ट्रियन राजनीतिज्ञ दोनों भलीभांति समझते थे। बाल्कन युद्ध के समय आस्ट्रिया और रूस दोनों पैंतरे बदलते हुए अनेक बार एक दूसरे के समीप आगये, पर

उनकी तलवारें टकराने से बाल बाल बच गईं। बाल्कन युद्ध समाप्त हो गया, पर अपने पीछे विरोध और विक्षेप का कटु वातावरण छोड़ गया। सन् १९१२-१३ के बाल्कन युद्ध को निमित्त बनाकर ही जो यूरोप के दोनों गुटों में लड़ाई नहीं छिड़ गई, उसमें कोई विशेष कारण नहीं है। दोनों गुट युद्ध के लिये बिलकुल तैयार थे—बारूद बिलकुल सूखा हुआ था, उसे केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी, जो सन् १९१४ में मिल गई।

४. युद्ध का तात्कालिक कारण

आस्ट्रिया के युवराज की हत्या—२८ जून, १९१४ के दिन आस्ट्रिया-हंगरी के युवराज आर्कड्यूक फ्रांसिस फर्डिनन्ड और उसकी पत्नी की बोस्निया के नगर सराजेवो में हत्या हुई। आस्ट्रिया के युवराज उस समय अपने विशाल साम्राज्य की यात्रा करते हुए बोस्निया पधारे थे। सर्बिया की सरकार ने पहले ही इस बात की चेतावनी दे दी थी, कि देशभक्त सर्व क्रान्तिकारी अनेक प्रकार के षड्यन्त्रों में लगे हैं, और यदि कोई दुर्घटना हो गई, तो सर्बियन सरकार उसकी जिम्मेदारी नहीं ले सकेगी। आखिर, सर्व षड्यन्त्रकारी अपने प्रयत्न में सफल हो गये और आस्ट्रियन युवराज की हत्या हो गई। आस्ट्रिया ने सर्बिया की सरकार को इसके लिये उत्तरदायी ठहराया, और लगभग एक मास बाद सर्बिया को यह नोटिस दिया, कि अड़तालीस घण्टे के अन्दर अन्दर उन सब कार्रवाइयों को रोक दे, जो आस्ट्रिया के विरुद्ध सर्बिया में हो रही हैं। समाचार पत्र, स्कूल व सभा समितियां आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रचार बन्द कर दें, सरकार व सेना में जो ऐसे पदाधिकारी हैं, जो आस्ट्रिया के विरुद्ध हैं, व उसकी सरकार को पसन्द नहीं हैं, उन सब को बर्खास्त कर दे, और सर्बियन न्यायालयों में आस्ट्रियन अफसरों को इस उद्देश्य से बैठने की अनुमति दे, कि आस्ट्रिया के विरुद्ध कार्य व प्रचार करने वाले लोगों को यथोचित दण्ड दिया जा सके। ये सब शर्तें सर्बिया के लिये अत्यन्त अपमानजनक थीं। पर फिर भी वहां की सरकार अन्तिम शर्त को छोड़कर बाकी सब बातों को मानने के लिये तैयार हो गई। उसकी तरफ से केवल यह संशोधन पेश किया गया, कि इस अन्तिम शर्त को हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाय। आस्ट्रिया इससे सहमत नहीं हुआ। वस्तुतः आस्ट्रियन लोग इस समय युद्ध के लिये तुले हुए थे। वे समझते थे, कि आस्ट्रियन साम्राज्य के मार्ग में जो भी कांटे हैं, उन सबको दूर हटा देने का यह सुवर्णावसर है।

विविध राज्यों का रुख—जुलाई, १९१४ का अन्तिम सप्ताह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का था। यह स्पष्ट था, कि आस्ट्रिया और सर्बिया के संघर्ष में रूस तटस्थ नहीं रहेगा। रूस यह भी सहन नहीं करेगा, कि आस्ट्रिया सर्बिया को कुचल दे, और इस प्रकार शक्तिशाली स्लाव राज्य के निर्माण की सम्भावना सदा के लिये नष्ट हो जाय। दूसरी तरफ जर्मनी ने यह स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया, कि यदि रूस ने आस्ट्रिया पर आक्रमण किया, तो वह हर तरह से आस्ट्रिया की सहायता करेगा। रूस, फ्रांस और इङ्गलैण्ड के राजनीतिज्ञों ने जर्मनी पर बहुत जोर दिया, कि आस्ट्रिया और सर्बिया के मामले को हेग के न्यायालय के सम्मुख उपस्थित किया जाय। उन्होंने यह भी कहा, कि आस्ट्रिया और सर्बिया को अपना मामला स्वयं निबटाने देना चाहिये, और बड़ी शक्तियों को उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। पर जर्मनी युद्ध के लिए तुला हुआ था। वह भलीभांति जानता था, कि अपनी सैनिक व साम्राज्य सम्बन्धी महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने का यह उत्तम अवसर है। रूस और फ्रांस की सैनिक तैयारी अभी पूरी नहीं हुई है, और इङ्गलैण्ड की सैनिक शक्ति बिलकुल अगण्य है। जर्मनी ने आस्ट्रिया की पीठ ठोंकी, और २८ जुलाई के दिन आस्ट्रिया ने सर्बिया के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी।

इसी समय रूस ने भी लड़ाई की तैयारी शुरू कर दी। जर्मनी ने इस बहाने से कि रूस युद्ध में शामिल होने के लिये कटिबद्ध है, एक अगस्त को उसके खिलाफ युद्ध उद्घोषित कर दिया। इसी दिन जर्मनी ने फ्रांस से भी यह प्रश्न किया कि उसकी इस मामले में क्या नीति है? रूस और फ्रांस में घनिष्ट मित्रता थी। इसीलिये जर्मनी फ्रांस के रुख के बारे में स्पष्ट निर्णय जानने के लिये उत्सुक था। फ्रांस ने यह उत्तर दिया, कि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से जो कुछ जिस समय उचित होगा, वही किया जायगा। इस पर तीन अगस्त को जर्मनी ने उसके खिलाफ भी लड़ाई का ऐलान कर दिया। अपनी शक्ति का प्रयोग कर विरोधी राष्ट्रों को कुचल देने के लिये जर्मनी इतना उत्सुक था, कि बाकायदा युद्ध की घोषणा करने से एक दिन पहले ही, दो अगस्त को उसकी सेनाओं ने फ्रांस की सीमा की ओर कूच कर दिया और लुक्समबुर्ग के छोटे से सीमावर्ती राज्य पर कब्जा कर लिया।

५. युद्ध से पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

बीसवीं सदी के शुरू से ही यूरोप में महायुद्ध की जो अग्नि धीरे धीरे सुलग रही थी, वह आस्ट्रिया के युवराज फ्रांसिस फर्डिनन्ड की हत्या के कारण जो

एकदम एक भयंकर रूप में प्रज्वलित हो उठी, उनके कारणों को भलीभांति समझने के लिये यह उपयोगी होगा, कि हम महायुद्ध के पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संक्षेप के साथ पुनः उल्लेख करें, यद्यपि इस विषय पर पिछले अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डाला जा चुका है।

यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में १९१२ से १९१४ तक के दो वर्ष विशेष महत्त्व रखते हैं। इस काल की मुख्य घटनायें निम्नलिखित थीं—(१) फ्रांस और रूस में घनिष्टता, और (२) सर्बिया और आस्ट्रिया के पारस्परिक सम्बन्धों का अधिक अधिक कटु होते जाना। महायुद्ध के सूत्रपात में ये दोनों बातें बहुत अधिक सहायक हुईं।

फ्रांस और रूस की मित्रता—१८९३ में फ्रांस और रूस ने परस्पर मिलकर एक सन्धि की थी, जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने यह निश्चय किया था, कि यदि जर्मनी अकेले या इटली के साथ मिलकर फ्रांस के ऊपर आक्रमण करे, तो रूस फ्रांस की सहायता करेगा, और इसी प्रकार यदि जर्मनी और आस्ट्रिया रूस पर आक्रमण करें, तो फ्रांस रूस की सहायता करेगा। पर १८९२ की इस सन्धि का उद्देश्य केवल आत्मरक्षा था। १८८२ में जर्मनी के नेतृत्व में जिस त्रिगुट (जर्मनी, इटली और आस्ट्रिया-हंगरी) का निर्माण हुआ था, उसके कारण फ्रांस और रूस की स्थिति बहुत निर्बल हो गई थी। १८९३ की रूस और फ्रांस की सन्धि द्वारा यही प्रयत्न किया गया था, कि ये दोनों देश जर्मनी के त्रिगुट से अपनी रक्षा कर सकें। पर १९०८ के बाद फ्रांस और रूस की इस मित्रता ने अधिक उग्र रूप धारण करना शुरू किया और ये दोनों देश अपनी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये एक दूसरे की सहायता पर अधिक अधिक भरोसा करने लगे।

१९०८ में रूस ने आस्ट्रिया के बोस्निया और हर्जेगोविना प्रदेशों पर कब्जा कर लेने का इसी लिये विरोध नहीं किया था, क्योंकि वह समझता था, कि आस्ट्रिया की तरफ से इस बात का विरोध नहीं होगा, कि वह डार्डनल्स और बोस्परस के जलडमरूमध्य से अपने जंगी जहाजों को ले जा सकने का अधिकार प्राप्त कर ले। पर इङ्गलैण्ड के विरोध के कारण उसकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हुई, क्योंकि इङ्गलैण्ड यह किसी भी दशा में सहने के लिये तैयार नहीं था, कि रूस जैसे विशाल देश की सैनिक शक्ति भूमध्यसागर के जलमार्ग के इतने समीप तक पहुंच जावे। जर्मनी और टर्की तो रूस की इस आकांक्षा के विरोध में थे ही। अब रूस के सम्मुख अपने मनोरथ की सिद्धि के लिये यही मार्ग शेष रह गया

था, कि यूरोप में किसी महायुद्ध का सूत्रपात हो, जिसमें कि वह टर्की को परास्त कर कोन्स्टेन्टिनोपल पर अपना अधिकार जमा ले, और काला सागर से भूमध्यसागर को मिलाने वाले जलमार्ग पर उसका प्रभुत्व कायम हो जावे।

पर अपनी इस आकांक्षा को वह तभी पूर्ण कर सकता था, जब कि यूरोप का कोई अन्य शक्तिशाली राज्य उसका सहायक हो। फ्रांस के साथ उसकी मित्रता थी। १९१२ में फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संचालन ऐसे नेताओं के हाथ में आ गया, जो स्वयं भी रूस के साथ मैत्री को अधिक सुदृढ़ करने के लिये उत्सुक थे। इस समय फ्रेंच सरकार का नेतृत्व पोअन्कारे के हाथ में था। पोअन्कारे का जन्म लारेन के प्रदेश में हुआ था, और वह अपनी मातृभूमि को जर्मनी की अधीनता से मुक्त कराने के लिये कटिबद्ध था। वह भलीभांति समझता था, कि जर्मन लोग शान्तिमय उपायों से लारेन पर कभी भी अपना कब्जा छोड़ देने के लिये तैयार नहीं होंगे। लारेन को फ्रांस के साथ मिलाने का केवल एक उपाय पोअन्कारे की समझ में आता था, यह उपाय था युद्ध का। यदि यूरोप के किसी महायुद्ध में जर्मनी परास्त हो जाय, तो १८७१ की पराजय का बदला उससे लिया जा सकता है, और आल्सेस व लारेन को फिर से फ्रांस के साथ मिलाया जा सकता है, यह बात पोअन्कारे व उसके साथियों के सम्मुख ध्रुव सत्य के समान विद्यमान थी। यही कारण है, कि फ्रांस ने रूस के साथ अपनी मित्रता को और अधिक सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया और नवम्बर, १९१२ में पोअन्कारे ने रूस के साथ यह समझौता किया, कि यदि बाल्कन प्रायद्वीप के प्रश्न पर आस्ट्रिया या जर्मनी के साथ रूस का युद्ध शुरू हो जाय, तो फ्रांस उसकी पूर्णरूप से सहायता करेगा।

फ्रांस की सहायता का भरोसा हो जाने पर रूस ने बाल्कन प्रायद्वीप में अधिक स्वच्छन्दता के साथ हस्तक्षेप शुरू कर दिया। १९१२ में टर्की की निर्बलता से लाभ उठाकर बल्गेरिया, ग्रीस, सर्बिया और मान्टनिग्रो—इन चार बाल्कन राज्यों ने परस्पर मिलकर जो गुप्त समझौता किया था, रूस उसमें उनकी पीठ पर था। इस समझौते का उद्देश्य यह था, कि ये चारों राज्य मिल कर टर्की से युद्ध करें और यूरोप से टर्की के शासन का अन्त कर विजित प्रदेशों को आपस में बांट लें। आपस में समझौता कर बाल्कन राज्यों ने टर्की के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। इस युद्ध में टर्की परास्त हुआ और अन्य यूरोपियन राज्यों के हस्तक्षेप के कारण बाल्कन राज्यों के साथ सन्धि कर लेने के लिये तैयार हो गया। पर सन्धि कर सकना सुगम नहीं था, क्योंकि बाल्कन राज्यों की

मांगें बहुत अधिक थीं। टर्की ने एक बार फिर अपनी सैनिक शक्ति को आजमाने का निश्चय किया, और फरवरी, १९१३ में बाल्कन युद्ध फिर से प्रारम्भ हो गया।

मई, १९१३ में लण्डन की सन्धि द्वारा इस युद्ध का अन्त हुआ। इस सन्धि की शर्तों पर हम इस इतिहास के उनतीसवें अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डाल चुके हैं। लण्डन की सन्धि द्वारा भी बाल्कन प्रायद्वीप में शान्ति की स्थापना नहीं हो सकी। टर्की की अधीनता से स्वतंत्र कराये गये यूरोपियन प्रदेशों को आपस में बांटने के प्रश्न पर बाल्कन राज्यों में परस्पर लड़ाई शुरू हो गई (जून, १९१३), जो इतिहास में द्वितीय बाल्कन युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। सितम्बर, १९१३ में कोन्स्टेन्टिनोपल की सन्धि द्वारा इस युद्ध का अन्त हुआ।

बाल्कन प्रायद्वीप के इन युद्धों व संघर्षों को निमित्त बनाकर रूस अपनी इस आकांक्षा को पूर्ण करने के लिये उत्सुक था कि उसके जंगी जहाज काला सागर से भूमध्यसागर तक स्वच्छन्द रूप से आ जा सकें और बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्य उसे अपना संरक्षक स्वीकार करने लगें। पर आस्ट्रिया और जर्मनी उसके इस मनोरथ को पूर्ण नहीं होने देते थे। सर्बिया की बढ़ती हुई शक्ति को आस्ट्रिया किसी भी दशा में सहन करने को तैयार नहीं था, और रूस सर्बिया की पीठ पर था। रूस का यह विश्वास था, कि वह अपनी महत्त्वाकांक्षा को तभी पूर्ण कर सकता है, जब यूरोपियन महायुद्ध में जर्मनी और आस्ट्रिया का पक्ष परास्त हो जाय, और बाल्कन प्रायद्वीप के क्षेत्र में उसका विरोध करने वाला कोई न रहे। फ्रांस के साथ दृढ़ मित्रता स्थापित हो जाने से रूस को यह भरोसा हो गया था, कि जर्मनी और आस्ट्रिया को युद्ध में परास्त कर सकना कठिन नहीं होगा।

सर्बिया का राष्ट्रीय आन्दोलन—बाल्कन प्रायद्वीप के विविध प्रदेशों में निवास करने वाले सर्ब लोग सर्बिया को केन्द्र बनाकर अपने शक्तिशाली व विशाल सर्ब राष्ट्र का निर्माण करने के लिये किस प्रकार उत्सुक थे, इस बात का उल्लेख इस इतिहास में अनेक बार किया जा चुका है। रूस की सहायता और प्रोत्साहन पाकर सर्ब देशभक्तों ने उग्र उपायों का अवलम्बन करने का निश्चय कर लिया था। सर्बिया, बोस्निया और हर्जेगोबिना के प्रदेशों में एक क्रान्तिकारी समिति संगठित कर ली गई थी, जिसे 'काला हाथ' या 'एक सर्बियन राष्ट्र व मौत' समिति के नाम से कहा जाता था। इस समिति का उद्देश्य यह था, कि बोस्निया और हर्जेगोबिना में आस्ट्रिया

के शासन को असम्भव बना दिया जाय। इस समिति के सदस्य आस्ट्रियन अफसरों की हत्या के लिये प्रयत्नशील रहते थे, और अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये बल प्रयोग करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। सर्विया की सरकार के अनेक अफसर भी इस समिति के सदस्य थे और क्रान्तिकारी सर्व देशभक्तों की सहायता के लिये तैयार रहते थे। बोस्निया की यात्रा-करते हुए आस्ट्रिया के युवराज फ्रांसिस फर्डिनेन्ड की हत्या इसी गुप्त समिति का कार्य था। इसके लिये 'काला हाथ' समिति ने बड़ी तत्परता के साथ तैयारी की थी। सर्विया के गुप्तचर विभाग का एक बड़ा पदाधिकारी दिमित्रिविच इस षड्यन्त्र में शामिल था और वहां के प्रधान मंत्री निकोला पाशिप भी इसको पहले से ही जानता था। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि १९१४ तक सर्व जाति के राष्ट्रीय आन्दोलन ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया था, कि न केवल बोस्निया और हर्जेगोविना के देशभक्त लोग अपितु सर्बियन सरकार भी, जिस किसी प्रकार भी सम्भव हो, सर्व राष्ट्र के स्वप्न को क्रिया में परिणत करने के लिये उत्सुक हो गये थे।

पोअन्कारे की रूस-यात्रा—२८ जून, १९१४ को आस्ट्रिया के युवराज की हत्या के कारण यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत सरगरमी आ गई थी। सब राजनीतिज्ञ यह अनुभव करते थे, कि आस्ट्रिया इस समय शान्त नहीं बैठेगा। वह सर्बिया को काबू में लाने के लिये कोई भी कसर नहीं उठा रखेगा। इस अवसर पर जुलाई, १९१४ में फ्रांस के नेता पोअन्कारे ने रूस की यात्रा की। इसमें सन्देह नहीं, कि इस यात्रा की योजना २८ जून से पहले ही तैयार हो चुकी थी। पर पोअन्कारे ने अपनी रूस-यात्रा में वहां के राजनीतिज्ञों को फ्रांस की मित्रता और सहायता का फिर से भरोसा दिलाया और इस बात का वचन दिया, कि यदि आस्ट्रिया के सर्बिया पर आक्रमण करने के कारण रूस ने इस मामले में हस्तक्षेप की आवश्यकता अनुभव की, तो फ्रांस अपने मित्र की सहायता करने में संकोच नहीं करेगा। पोअन्कारे की यात्रा से रूस के उन राजनीतिज्ञों के हाथ बहुत मजबूत हो गये, जो युद्ध के लिये उत्सुक थे और जो युद्ध को ही रूस की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का एकमात्र साधन मानते थे। वस्तुतः, इस समय फ्रांस और रूस दोनों ही युद्ध के लिये तैयार थे। फ्रांस समझता था, कि आल्सेस और लारेन को प्राप्त करने व १८७१ की पराजय का प्रतिशोध करने का यह सुवर्णीय अवसर है। रूस और ब्रिटेन के साथ मित्रता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय

क्षेत्र में उसकी स्थिति बहुत सुरक्षित थी। बाल्कन प्रायद्वीप में अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये रूस को भी यह उपयुक्त अवसर प्रतीत होता था। रूस भलीभांति समझता था कि यदि अपने युवराज की हत्या को निमित्त बनाकर आस्ट्रिया ने इस समय सर्विया को निर्बल बना दिया, तो बाल्कन प्रायद्वीप को अपने प्रभाव में लाने का उसका स्वप्न कभी पूरा न हो सकेगा।

आस्ट्रिया का रुख—सर्विया के उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन से आस्ट्रिया बहुत चिन्तित था। वह समझता था, कि यदि सर्ब लोग अपना पृथक् विशाल राष्ट्र बनाने में सफल हो गये, तो न केवल बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेश उसके हाथ से निकल जायेंगे, अपितु साथ ही उसके विशाल साम्राज्य में निवास करने वाली चेक, पोल, स्लोवाक आदि अन्य जातियों को भी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये प्रेरणा मिलेगी और आस्ट्रिया-हंगरी का राज्य कभी कायम नहीं रह सकेगा। अपने युवराज की हत्या को निमित्त बनाकर वह ऐसे उपायों का अवलम्बन करने के लिये उत्सुक था, जिनसे सर्ब राष्ट्रीय आन्दोलन को पूर्ण रूप से कुचल दिया जा सके। इसीलिये २३ जुलाई, १९१४ को उसने सर्बिया को ४८ घण्टे का जो अल्टिमेटम दिया था, उसमें यह मांग की थी, कि सर्विया में समाचार पत्रों, पुस्तकों आदि द्वारा आस्ट्रिया के खिलाफ जो भी आन्दोलन किया जाता रहा है, उसे एकदम बन्द कर दिया जाय। सर्बिया की सरकार व सेना में जो भी ऐसे अफसर हैं, जिनकी सर्ब राष्ट्रीय आन्दोलन से सहानुभूति है, उन सबको अपने पदों से पदच्युत कर दिया जाय, 'काला हाथ' समिति को भंग कर दिया जाय और आस्ट्रियन युवराज की हत्या के लिये जिन लोगों पर सर्बियन न्यायालयों में अभियोग चलाया जाय, उन पर मुकदमे के सिलसिले में आस्ट्रियन अफसरों को न्यायालयों के साथ सहयोग करने का अवसर दिया जाय। यदि ये सब मांगें सर्बियन सरकार स्वीकार कर लेती, तो इससे सर्बिया पर आस्ट्रिया का प्रभाव बहुत बढ़ जाता और सर्ब राष्ट्रभक्तों की सब आकांक्षाओं पर तुषारपात हो जाता। पर आस्ट्रिया इस बात के लिये उत्सुक था, कि इस अवसर से लाभ उठा कर सर्बिया और सर्ब राष्ट्रवादियों की समस्या को सदा के लिये हल कर दिया जाय।

जर्मनी का रुख—जर्मनी के राजनीतिज्ञ यह बात भलीभांति समझते थे, कि बर्लिन-बगदाद रेलवे के निर्माण द्वारा एशिया तक पहुंचने के एक नये सुरक्षित मार्ग को प्राप्त कर सकने की उनकी आकांक्षा तभी पूर्ण हो सकती है,

जब कि आस्ट्रिया-हंगरी का राज्य अक्षुण्ण रूप से कायम रहे और बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्य उसके प्रभाव में रहे। सर्ब राष्ट्रीय आन्दोलन की उग्रता इस में सब से बड़ी बाधा थी। अतः ५ जुलाई, १९१४ को सम्राट् विलियम द्वितीय द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी गई थी, कि "इस अवसर पर आस्ट्रिया स्वयं यह निर्णय कर ले, कि सर्बिया के सम्बन्ध में उसे किस नीति का अनुसरण करना है। आस्ट्रिया का निर्णय चाहे कुछ भी हो, वह इस बात का पूर्णतया भरोसा कर सकता है, कि एक मित्र के रूप में जर्मनी की सहायता उसे प्राप्त रहेगी।" जर्मनी की ओर से यह आस्ट्रिया को स्पष्ट रूप से प्रोत्साहन था, और इसे पाकर वह सर्बिया की समस्या को सदा के लिये अपने विचारों के अनुसार हल कर देने के लिये उद्यत हो गया। २३ जुलाई, १९१४ को आस्ट्रिया ने सर्बिया को जो अल्टिमेटम दिया, वह जर्मनी के इसी प्रोत्साहन का परिणाम था।

सर्बिया और रूस—सर्बिया के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह अकेले अपने भरोसे पर आस्ट्रिया के अल्टिमेटम को अस्वीकृत कर सकने की हिम्मत करता। पर रूस उसकी पीठ पर था। २३ जुलाई को जिस दिन आस्ट्रिया का अल्टिमेटम सर्बिया को मिला, रूस के परराष्ट्र मंत्री श्री सैजोनोव ने सेण्ट पीटर्सबुर्ग में स्थित सर्बियन राजदूत के साथ भेंट की और उसे सलाह दी, कि सर्बिया को किसी भी दशा में आस्ट्रिया के सम्मुख नहीं झुकना चाहिये। पर सर्बिया आस्ट्रिया की शक्ति से भलीभांति परिचित था। वह जानता था, कि सर्बियन सेना आस्ट्रिया का मुकाबला नहीं कर सकेगी। अतः उसने २५ जुलाई, १९१४ को आस्ट्रिया के अल्टिमेटम की प्रायः सभी बातों को स्वीकार कर लिया। उसने केवल यह स्वीकृत करने में अपनी असमर्थता प्रगट की, कि आस्ट्रिया के प्रतिनिधि सर्बियन न्यायालयों के साथ अपने युवराज की हत्या के अभियुक्तों को दण्ड दिलाने में सहयोग दें, क्योंकि इससे सर्बिया की स्वतन्त्र व प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता में बाधा पड़ती थी। सर्बिया ने यह भी प्रस्ताव किया, कि इस सब मामले को हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के या विविध राज्यों के एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के सम्मुख निर्णय के लिये उपस्थित कर दिया जाय।

यदि इस समय रूस और आस्ट्रिया समझ से काम लेते, तो महायुद्ध को रोका जा सकना असम्भव नहीं था। पर एक तरफ जहां रूस इस अवसर से लाभ उठाकर बाल्कन प्रायद्वीप सम्बन्धी अपनी पुरानी महत्त्वाकांक्षा

की पूर्ति के लिये तुला हुआ था, वहां साथ ही आस्ट्रिया भी सर्व राष्ट्रीय आन्दोलन को सदा के लिये कुचल कर अपने साम्राज्य की रक्षा के लिये कटिबद्ध था। परिणाम यह हुआ, कि आस्ट्रिया ने अपने मित्र जर्मनी तक के परामर्श की परवाह नहीं की। जर्मनी के राजनीतिज्ञों की दृष्टि में सर्बिया का रुख सर्वथा युक्तिसंगत था, और वे चाहते थे कि आस्ट्रिया और सर्बिया के झगड़े को शान्ति के साथ निवटा दिया जाय। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। आस्ट्रिया के नेता सर्बिया को कुचल देने के लिये उतावले हो रहे थे। उन्हें यह भी खयाल था, कि रूस इस मौके पर सर्बिया की सहायता के लिये लड़ाई के मैदान में नहीं उतरेगा। जिस प्रकार १९०८ में रूस ने आस्ट्रिया के बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेशों पर अपना पूर्ण कब्जा कर लेने में कोई रुकावट नहीं डाली थी, वैसे ही अब भी वह इस मामले में तटस्थ रहेगा। पर फ्रांस की सहायता का पूरा भरोसा होने के कारण रूस ने अब अधिक साहस से काम लिया और युद्ध की घड़ी अधिक देर तक नहीं टल सकी। जिस समय जर्मनी आस्ट्रिया को युद्ध से बचने के लिये परामर्श दे रहा था, रूस ने लड़ाई की तैयारी शुरू कर दी थी। इसी समय फ्रांस का राष्ट्रपति पोअन्कारे रूस की राजधानी सेण्ट पीटर्सबुर्ग में विद्यमान था। वह समझता था, जर्मनी को युद्ध में परास्त कर आल्सेस और लारेन को पुनः प्राप्त करने व १८७१ के अपमान का बदला चुकाने का यह सुवर्णीय अवसर है। रूस सर्बिया का मित्र था, और फ्रांस सब प्रकार से रूस की सहायता करने को तैयार था—इस दशा में युद्ध को रोक सकना कैसे सम्भव होता। ३० जुलाई को रूस की सरकार ने आज्ञा प्रकाशित की, कि सब रूसी सेना को लड़ाई के लिये उद्यत कर दिया जाय। जर्मनी यह नहीं सह सकता था, कि रूस सर्बिया की सहायता को निमित्त बनाकर आस्ट्रिया पर आक्रमण कर दे। सब सम्भव उपायों से वह आस्ट्रिया की रक्षा करने के लिये तैयार था। उसी दिन जर्मनी ने रूस को अल्टिमेटम दिया, कि बारह घण्टे के अन्दर अन्दर लड़ाई की तैयारी को रोक दिया जाय, अन्यथा वह आस्ट्रिया का पक्ष लेकर रूस के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर देगा। रूस ने जर्मनी के इस अल्टिमेटम का कोई उत्तर नहीं दिया। परिणाम यह हुआ, कि एक अगस्त, १९१४ को जर्मनी ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

इङ्गलैण्ड का रुख—जिस प्रकार फ्रांस और रूस एक दूसरे के साथ मैत्री सम्बन्ध में बंधे हुए थे, वैसे ही इङ्गलैण्ड भी फ्रांस के साथ मैत्री सम्बन्ध में बंधा

हुआ था। १९०४ में उसने फ्रांस के साथ जो सन्धि की थी, उसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इस सन्धि द्वारा इङ्गलैण्ड और फ्रांस ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में परस्पर मिलकर कार्य करने का निश्चय किया था। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति और आकांक्षाओं के कारण इङ्गलैण्ड अनुभव करने लगा था, कि साम्राज्यवाद के क्षेत्र में निकट भविष्य में जर्मनी के साथ उसका संघर्ष होना अवश्यम्भावी है। इसीलिये १९०४ में फ्रांस के साथ सन्धि करके उसने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को सुरक्षित करने का प्रयत्न किया था। १९०७ में इङ्गलैण्ड ने रूस के साथ भी सन्धि कर ली थी और साम्राज्यविषयक जो भी विवादग्रस्त विषय इन दो राज्यों में देर से चले आते थे, उनका सन्तोषजनक निर्णय कर लिया था। १९०४ और १९०७ की इन दो सन्धियों के कारण इङ्गलैण्ड फ्रांस और रूस के गुट में पूरी तरह से शामिल हो गया था। यही कारण है, कि १९१४ में जो अन्तर्राष्ट्रीय दांव पेंच फ्रांस और रूस के गुट तथा जर्मनी और आस्ट्रिया के गुट में चल रहे थे, उनमें इङ्गलैण्ड के लिये तटस्थ रह सकना सम्भव नहीं था।

पर यदि इस समय इङ्गलैण्ड सचमुच युद्ध को रोकने का प्रयत्न करता, तो उसे अपने कार्य में सफलता हो सकती थी। यदि वह स्पष्ट शब्दों में जर्मनी को जता देता, कि यूरोप में युद्ध छिड़ने की दशा में वह फ्रांस और रूस को सहायता देगा, तो शायद जर्मनी आस्ट्रिया को युद्ध से रोकने का अधिक गम्भीरता पूर्वक प्रयत्न करता। जर्मनी आस्ट्रियन अल्टिमेटम के जवाब में सर्बिया के रुख से असन्तुष्ट नहीं था। यदि उसे यह निश्चय होता, कि इङ्गलैण्ड इस युद्ध में उदासीन नहीं रहेगा, तो वह आस्ट्रिया को सर्बिया पर आक्रमण करने से अवश्य रोक सकता था। इसी प्रकार यदि इङ्गलैण्ड फ्रांस और रूस से यह बात स्पष्ट रूप से कह देता, कि वह इस युद्ध में अपने गुट के अन्य मित्रराज्यों की सहायता नहीं कर सकेगा, तो फ्रांस और रूस अधिक संयम के साथ काम लेते और शायद युद्ध की घड़ी को टाला जा सकता। पर इङ्गलैण्ड के राजनीतिज्ञों ने इस समय किसी निश्चित व स्पष्ट नीति का अवलम्बन नहीं किया। वस्तुतः, इस समय इङ्गलैण्ड के मंत्रिमंडल में एक मत नहीं था। साथ ही, इंग्लैण्ड ने फ्रांस के साथ जो अनेक गुप्त सन्धियां की हुई थीं, उनके कारण उसके लिये यह सम्भव भी नहीं था, कि वह फ्रांस के युद्ध में सम्मिलित हो जाने पर सर्वथा तटस्थ नीति का अनुसरण कर सके। इङ्गलैण्ड के परराष्ट्र मंत्री एडवर्ड ग्रे का यह खयाल था, कि देश के व्यापारिक और

सामुद्रिक हितों को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है, कि जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस और रूस की सहायता की जाय। पर अन्य अनेक राजनीतिज्ञ सर ग्रे के साथ सहमत नहीं थे। उनका विचार था, कि बाल्कन प्रायद्वीप के आन्तरिक झगड़ों को सम्मुख रखकर प्रारम्भ हुए युद्ध में इङ्गलैण्ड उदासीन रह सकता है। यदि जर्मनी बेल्जियम पर आक्रमण न करता, तो शायद इङ्गलैण्ड युद्ध मे पृथक् रह सकता था। पर जब फ्रांस को शीघ्र से शीघ्र परास्त कर देने की धुन में जर्मनी ने बेल्जियम की स्वतन्त्र व उदासीन सत्ता की उपेक्षा कर उस पर आक्रमण कर दिया, तो इङ्गलैण्ड को अपना रुख निर्धारित करने में देर नहीं लगी, और युद्ध की लपटों से यूरोप का बड़ा भाग एकदम व्याप्त हो गया। ब्रिटेन और फ्रांस के विस्तृत साम्राज्यों के कारण युद्ध का क्षेत्र केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा। शीघ्र ही उसने विश्वयुद्ध का रूप धारण कर लिया।

चालीसवां अध्याय

महायुद्ध का इतिवृत्त

१. युद्ध का विस्तार

बेल्जियम पर आक्रमण---जर्मनी यह चाहता था, कि इससे पहले कि रूस उस पर पूर्व की ओर से आक्रमण कर सके, फ्रांस को दबा दिया जाय। फ्रांस को परास्त करने के बाद उसके लिये यह सुगम था, कि अपनी सब शक्ति को पूर्व की ओर केन्द्रित करके रूस के साथ लोहा ले। जर्मन सेनापतियों को यह पूरा विश्वास था, कि इस योजना की सफलता में कोई बाधा न आयगी। पेरिस तक पहुंचने के लिये सबसे सुगम मार्ग बेल्जियम होकर था। फ्रांस के युद्ध विशारदों ने अपनी उत्तरी सीमा पर विकट किला बन्दी कर रखी थी। इस किलाबन्दी को तोड़ सकना जर्मनी के लिये आसान न था। इसी कारण उसने लुक्समबुर्ग और बेल्जियम के मार्ग से फ्रांस पर हमला करने का निश्चय किया। जर्मनी की ओर से बेल्जियम को यह नोटिस दिया गया, कि वह जर्मन सेनाओं को बेल्जियम होकर फ्रांस पर हमला करने की अनुमति दे। जर्मनी ने यह वायदा किया, कि बेल्जियम के लोगों को किसी प्रकार का नुकसान न पहुंचने पावेगा, और सेना के आने जाने से यदि देश को किसी तरह की क्षति पहुंची, तो उसके लिये उचित हरजाना भी दिया जायगा। बेल्जियम को यह साफ साफ कह दिया गया, कि यदि वह इस मांग को अस्वीकार करेगा, तो उसके साथ शत्रु का सा व्यवहार किया जायगा। इस मांग को स्वीकार करने या न करने के लिये केवल बारह घण्टे का समय दिया गया। बेल्जियम जर्मनी और फ्रांस के झगड़े में सर्वथा उदासीन था। विविध सन्धियों द्वारा इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि सभी मुख्य शक्तिशाली राज्यों ने उसे यह गारण्टी दी हुई थी, कि उसकी उदासीनता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा, और उसकी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को अक्षुण्ण माना जायगा। जर्मनी के नोटिस का बेल्जियम ने वही उत्तर दिया, जो कि एक आत्माभिमानी स्वतन्त्र देश के लिये उचित था। उसने जर्मनी की मांग को अस्वीकार कर दिया।

इङ्गलैण्ड का युद्ध में प्रवेश—सदियों से इङ्गलैण्ड की यह नीति थी, कि इङ्गलिश चैनल के पार दो एक ऐसे छोटे राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखे, जो कि यूरोप के शक्तिशाली विशाल राज्यों के साथ उसका सीधा सम्पर्क होने में बाधक रहें। बेल्जियम इसी प्रकार का एक राज्य था। बेल्जियम और हालैण्ड जैसे छोटे राज्य जर्मनी और आस्ट्रिया जैसे शक्तिशाली राज्यों को इङ्गलैण्ड से दूर रखते थे। इङ्गलैण्ड अपनी आत्मरक्षा के लिये यह आवश्यक समझता था, कि बेल्जियम पर जर्मनी का अधिकार न होने पावे। इसलिए उसने यह स्पष्ट रूप से उद्घोषित कर दिया, कि यदि बेल्जियम पर आक्रमण किया गया, तो सब प्रकार से वह उसकी रक्षा करेगा। उसने जर्मनी को यह नोटिस दिया, कि बेल्जियम की उदासीनता के सम्बन्ध में अपनी नीति को बारह घण्टे के अन्दर अन्दर स्पष्ट रूप से प्रगट करे। इसका उत्तर जर्मनी के प्रधान मंत्री ने यह दिया, कि सैनिक आवश्यकता से विवश होकर जर्मनी बेल्जियम के बीच से अपनी सेनाओं को ले जाना चाहता है। उसने इङ्गलैण्ड के जर्मनी-स्थित राजदूत से यह भी कहा, कि "केवल एक कागज के टुकड़े की खातिर" इङ्गलैण्ड को युद्ध में नहीं फंसना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को जर्मन लोग केवल एक 'कागज का टुकड़ा' समझते हैं, इस बात ने संसार के लोकमत को बहुत उद्विग्न कर दिया, और सब इङ्गलिश लोग जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई के लिये तत्पर हो गये। बेल्जियम में जर्मनी की सेनाओं के प्रविष्ट होते ही ४ अगस्त, १९१४ के दिन इङ्गलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

बेल्जियम के ऊपर आक्रमण करने के कारण जर्मनी को अनेक नुकसान उठाने पड़े। यद्यपि बेल्जियम एक छोटा सा देश है, पर उसके निवासी बड़े वीर हैं। उसकी सैनिक शक्ति भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं थी। जर्मनी को बेल्जियम में कड़ा मुकाबला करना पड़ा। यद्यपि अन्त में उसकी जीत हुई, पर बेल्जियम के लोगों ने उन्हें तब तक रोके रखा, जब तक कि फ्रांस की विशाल सैनिक शक्ति पूर्णतया संगठित होकर जर्मनी का मुकाबला करने के लिये मैदान में नहीं आ गई। बेल्जियम पर आक्रमण करने के कारण ही इङ्गलैण्ड और उसके विशाल साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति जर्मनी के खिलाफ सन्नद्ध हो गई। यह सम्भव है, कि इस हमले के न होने पर भी इङ्गलैण्ड फ्रांस और रूस का पक्ष लेकर जर्मनी से लड़ाई करता। पर यह निश्चित है, कि उस दशा में इङ्गलैण्ड इतनी जल्दी युद्ध में शामिल न होता, और जर्मनी को फ्रांस और रूस की शक्ति को कुचलने का अनुकूल अवसर हाथ लग जाता।

युद्ध का प्रसार——४ अगस्त, १९१४ को यह स्थिति थी, कि आस्ट्रिया-हंगरी का सर्बिया से, और जर्मनी का रूस, फ्रांस और इङ्गलैण्ड से बाकायदा युद्ध उद्घोषित हो चुका था। ५ अगस्त को आस्ट्रिया-हंगरी ने रूस के खिलाफ लड़ाई का एलान कर दिया। अगले दिन मान्टिनिग्रो सर्बिया के पक्ष में शामिल हो गया। तीन दिन बाद ९ अगस्त को जर्मनी ने सर्बिया और मान्टिनिग्रो, दोनों के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी। १२ अगस्त को इङ्गलैण्ड ने आस्ट्रिया-हंगरी के खिलाफ लड़ाई का एलान कर दिया। इस प्रकार लड़ाई छिड़ने के दो सप्ताह के अन्दर अन्दर यूरोप के दोनों गुट एक दूसरे के साथ लड़ाई में उलझ गये। एक गुट का नेता जर्मनी था, और इसे 'केन्द्रीय राज्य' कहते हैं। दूसरा गुट 'मित्रराष्ट्र' के नाम से प्रसिद्ध है। २३ अगस्त को जापान मित्र राष्ट्रों के पक्ष में जर्मनी के विरुद्ध लड़ाईमें शामिल हो गया। इस प्रकार इस महायुद्ध का क्षेत्र केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा। इङ्गलैण्ड, फ्रांस, रूस व जर्मनी के विशाल साम्राज्यों और उपनिवेशों के कारण युद्ध का क्षेत्र पहिले भी विश्वव्यापी हो चुका था, पर जापान के सम्मिलित हो जाने के कारण प्रायः सम्पूर्ण यूरोप व एशिया युद्ध के क्षेत्र में आ गये। बाल्कन प्रायद्वीप में रूस जिस प्रकार अपना प्रभाव बढ़ा रहा था, उससे टर्की बहुत चिन्तित था। टर्की का हित इसी में था, कि केन्द्रीय राज्यों के साथ मिलकर रूस की शक्ति को क्षीण करने के इस अवसर से लाभ उठावे। परिणाम यह हुआ, कि ३ नवम्बर, १९१४ को टर्की केन्द्रीय राज्यों में बाकायदा शामिल हो गया।

इटली का रुख——इटली किस गुट में शामिल हो, यह प्रश्न बहुत महत्त्व का था। जर्मनी ने यूरोप में जिस त्रिगुट का निर्माण किया था, इटली उसमें सम्मिलित था। पर साथ ही युद्ध के अवसर का उपयोग कर वह इस बात के लिये भी उन्मुक था, कि इटालियन भाषा बोलनेवाले लोगों के जो प्रदेश अभी तक आस्ट्रियन साम्राज्य के अन्तर्गत हैं, वे उसे वापस मिल जावें। भूमध्य सागर में इटली की स्थिति बड़े महत्त्व की है। ८ एप्रिल, १९१५ को इटली ने आस्ट्रिया-हंगरी से यह मांग की, कि उसके अपने देश के जो हिस्से अभी तक भी आस्ट्रिया के कब्जे में हैं, उन्हें वापस लौटा दिया जाय। आस्ट्रिया इसके लिये तैयार हो गया, और जर्मनी ने अपनी ओर से यह गारण्टी दी, कि युद्ध की समाप्ति पर इटली की सब मांगें अवश्य ही पूर्ण कर दी जावेंगी। पर मित्रराष्ट्रों की कूटनीति इटली को अपने साथ रखने के लिए तुली हुई थी। उन्होंने २६ एप्रिल को इटली के साथ एक गुप्त सन्धि की, जिसके अनुसार उन्होंने निम्नलिखित बातें स्वीकार कीं——

(१) त्रेन्तिनो, त्रिएस्त और दक्षिणी टाइरोल के प्रदेश आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त कराके इटली को दिये जावेंगे। (२) गोरिजिया, ग्रादिस्का, इस्त्रिया और क्वार्नेरो की खाड़ी के द्वीप भी इटली को मिलेंगे। (३) उत्तरी डालमेटिया पर भी इटली का अधिकार स्वीकृत किया जायगा। (४) अल्बानिया के अन्तर्गत बलोना प्रदेश इटली के संरक्षण में दिया जायगा। (५) ईजियन सागर में विद्यमान दोदेसनीज द्वीपसमूह ग्रीस की अधीनता से मुक्त कराके इटली के सुपुर्द कर दिया जायगा। (६) अफ्रीका में विद्यमान जर्मन उपनिवेशों का एक हिस्सा इटली को मिलेगा (७) जर्मनी से जो हरजाना वसूल होगा, उसमें भी इटली का हिस्सा होगा। वस्तुतः, इस समय मित्रराष्ट्र इटली को अपने पक्ष में करने के लिये बड़ी से बड़ी रियायतें करने के लिये उत्सुक थे। इटली को इस सन्धि द्वारा अनेक ऐसे प्रदेशों को हस्तगत करने का अवसर मिलता था, जो राष्ट्रीय दृष्टि से उसके अंग नहीं थे। इटली के राष्ट्रीय देशभक्तों ने समझा, कि मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेने से उन्हें अपने देश के भावी उत्कर्ष का बहुत उत्तम अवसर मिलता है। २३ मई, १९१५ को इटली ने केन्द्रीय राज्यों के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी।

१४ अक्टूबर, १९१५ को बल्गेरिया केन्द्रीय राज्यों में सम्मिलित हो गया। ९ मार्च, १९१६ को पोर्तुगाल मित्रराष्ट्रों के पक्ष में लड़ाई में शामिल हुआ, और २७ अगस्त, १९१६ को रूमानिया ने आस्ट्रिया-हंगरी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। जुलाई, १९१७ को ग्रीस भी मित्रराष्ट्रों के पक्ष में शामिल हो गया। इस प्रकार, यूरोप में केवल नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हॉलैण्ड, स्विट्जरलैण्ड और स्पेन ही ऐसे राज्य बचे, जो किसी तरफ से भी युद्ध में सम्मिलित नहीं हुए। थोड़े से देशों को छोड़कर अन्यत्र सब जगह लड़ाई की अग्नि यूरोप में भड़क उठी थी।

जापान का युद्ध में प्रवेश—२३ अगस्त, १९१४ को जापान मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में शामिल हुआ था। कौन से ऐसे कारण थे, जिनसे यह एशियन राज्य यूरोप के महायुद्ध में शामिल हुआ, उनका उल्लेख करना आवश्यक है। पूर्वी एशिया के क्षेत्र में जापान और रूस के हित एक दूसरे के साथ टकराते थे। चीन की निर्बलता से लाभ उठा कर जहां रूस, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि यूरोपियन राज्य चीन में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने के लिये तत्पर थे, वहां साथ ही जापान भी इस देश को अपने साम्राज्यवाद का उपयुक्त क्षेत्र समझता था। पर जापान की मुख्य प्रतिद्वन्द्विता रूस के साथ में थी, क्योंकि

ये दोनों देश कोरिया और मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। जापान निश्चिन्तता के साथ रूस का मुकाबला कर सके, इस उद्देश्य से उसने १९०२ में ब्रिटेन के साथ एक सन्धि की थी, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ब्रिटेन यह स्वीकार करता है, कि कोरिया में जापान के विशेष हितों की सत्ता है, और चीन में भी उसके आर्थिक हित विद्यमान हैं। (२) जापान चीन में ब्रिटेन के विशेष हितों को स्वीकार करता है। (३) दोनों देश यह मानते हैं, कि दोनों को अपने अपने हितों की रक्षा के लिये आवश्यक कार्रवाई करने का अधिकार है। (४) यदि इन हितों की रक्षा के निमित्त ब्रिटेन और जापान का किसी अन्य राज्य के साथ युद्ध आवश्यक हो, तो दूसरा राज्य ऐसे युद्ध में उदासीन रहेगा। (५) यदि ऐसे युद्ध की दशा में कोई अन्य राज्य ब्रिटेन या जापान के शत्रु की सहायता के लिये लड़ाई के मैदान में उतर आये, तो ब्रिटेन और जापान दोनों मिलकर उसका मुकाबला करेंगे।

१९०२ की इस सन्धि को १९०५ और १९११ में पुनः दोहराया गया। १९१४ में जब यूरोप में महायुद्ध शुरू हुआ, तो जापान ने समझा, कि जर्मनी द्वारा अधिकृत चीन के प्रदेशों को अपने कब्जे में लाने का यह सुवर्णीय अवसर है। अतः १५ अगस्त, १९१४ को जापानी सरकार की ओर से एक अल्टिमेटम जर्मनी को दिया गया, जिसमें में यह मांग की गई, कि चीन के शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं, वे सब जापान को हस्तान्तरित कर दिये जावें, ताकि वे उन्हें चीन की सरकार को वापस लौटा देने की व्यवस्था कर सकें। इस अल्टिमेटम का उत्तर देने की अवधि एक सप्ताह नियत की गई। जब २२ अगस्त तक जर्मन सरकार की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला, तो अगले दिन २३ अगस्त को जापान ने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि ब्रिटेन ने १९०२ की सन्धि की दुहाई देकर जापान से यह निवेदन किया था, कि क्योंकि जर्मनी क्याऊ चाऊ (शांतुंग प्रायद्वीप में) को आधार बनाकर ब्रिटिश व्यापारी जहाजों पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा है, अतः १९०२ की सन्धि के अनुसार इस समय जापान को अपने मित्र की सहायता करने के लिये युद्ध के मैदान में उतर आना चाहिये।

बल्गेरिया—महायुद्ध में बल्गेरिया ने जर्मनी का साथ दिया। इसका कारण यह था, कि १९१३ के बाल्कन युद्ध में बल्गेरिया को सर्बिया द्वारा बहुत नुकसान उठाना पड़ा था। वह इस बात के लिये उत्सुक था, कि

उपयुक्त अवसर आने पर वह इसका प्रतिशोध करे। मैसिडोनिया के अनेक प्रदेशों को वह अपने साथ सम्मिलित करना चाहता था। ये प्रदेश बाल्कन युद्ध (१९१३) द्वारा सर्बिया को प्राप्त हुए थे। जिन प्रदेशों में बल्गेरियन लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं, उन सबको अपने साथ मिलाने के उद्देश्य से अक्टूबर, १९१५ में बल्गेरिया ने जर्मनी का पक्ष लेकर सर्बिया व उसके साथियों के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। बल्गेरिया के अपने पक्ष में हो जाने से जर्मनी को बहुत लाभ हुआ। टर्की उसके पक्ष में था ही। अब जर्मनी से टर्की तक का मार्ग जर्मन पक्ष के लिये साफ हो गया और रूस के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह काला सागर के जलमार्ग से अपने मित्र-राज्यों के साथ सम्बन्ध रख सके। ब्रिटेन और फ्रांस अब उसे अस्त्र-शस्त्र नहीं पहुंचा सकते थे, और वह अपने मित्रों की खाद्य सामग्री द्वारा सहायता नहीं कर सकता था।

रूमानिया—बल्गेरिया के जर्मनी के पक्ष में हो जाने से पूर्वी यूरोप और बाल्कन प्रायद्वीप में मित्रराष्ट्रों की स्थिति बहुत निर्बल हो गई थी। अतः वे इस बात के लिये बहुत अधिक उत्सुक थे, कि जिस प्रकार भी सम्भव हो, रूमानिया को अपने पक्ष में शामिल करने का प्रयत्न करें। रूमानिया की सीमायें उत्तर में रूस से मिलती थीं, दक्षिण में बल्गेरिया से और पश्चिम में आस्ट्रिया-हंगरी से। जर्मनी और मित्र राष्ट्र दोनों इस बात के प्रयत्न में थे, कि रूमानिया को अपने पक्ष में शामिल करें। इस उद्देश्य से वे उसे अधिक से अधिक कीमत देने को तैयार थे। बाल्कन प्रायद्वीप के अन्य राज्यों के समान रूमानिया भी अपनी सीमाओं को अधिक विस्तृत करने के लिये इच्छुक था। अगस्त, १९१६ तक वह यूरोप के महायुद्ध में उदासीन रहा। पर जब १९१६ में उसने देखा, कि जर्मनी का पक्ष निर्बल हो रहा है, और मित्रराष्ट्र उसे आस्ट्रिया-हंगरी को नुकसान पहुंचा कर बहुत बड़ी कीमत देने को तैयार हैं, तो वह उनका पक्ष लेकर युद्ध में शामिल होने के लिये तैयार हो गया। १७ अगस्त, १९१६ को ब्रिटेन, रूस, फ्रांस और इटली ने रूमानिया के साथ एक गुप्त सन्धि की, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) युद्ध की समाप्ति पर ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश रूमानिया को दिया जायगा। यह प्रदेश हंगरी के अन्तर्गत था, और इसमें रूमानियन और हंगेरियन लोग समान संख्या में निवास करते थे। (२) बुकोविना का प्रदेश भी रूमानिया को मिलेगा। यह आस्ट्रिया के अन्तर्गत था, और इसके एक तिहाई निवासी रूमानियन जाति के थे।

इस सन्धि के कारण रूमानिया को यह पूर्णतया समझ में आ गया था, कि मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेने से वह अपने राज्य में बहुत वृद्धि कर सकता है। इसीलिये २७ अगस्त, १९१६ को उसने आस्ट्रिया-हंगरी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी।

ग्रीस—जून, १९१७ तक ग्रीस ने तटस्थ नीति का अनुसरण किया। वहां का राजा कान्स्टेन्टाइन द्वितीय जर्मन के कैसर विलियम द्वितीय का निकट सम्बन्धी व मित्र था। वह यह भी समझता था, कि यदि ग्रीस ने मित्रराष्ट्रों का पक्ष लिया, तो बल्गेरिया की शक्तिशाली सेनायें उस पर आक्रमण कर देंगी, और उनसे अपने देश की रक्षा कर सकना सुगम नहीं होगा। पर ग्रीस का प्रधान मंत्री वेनिजलोस युद्ध में मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेने की नीति का समर्थक था। उसका ख्याल था, कि ब्रिटेन और फ्रांस का पक्ष लेकर ग्रीस अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण कर सकेगा, और ग्रीस के जो अनेक प्रदेश अभी तक अन्य राज्यों के अधीन हैं, उन्हें प्राप्त कर अपना राष्ट्रीय उत्कर्ष करना सम्भव हो सकेगा। ब्रिटेन और फ्रांस ग्रीस को यह वचन देने को तैयार थे, कि टर्की और अल्बेनिया की अधीनता में विद्यमान उन सब प्रदेशों को ग्रीस को दे दिया जायगा, जहां ग्रीक लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। अत: १९१४ में युद्ध शुरू होते ही वेनिजलोस इस बात का पक्षपाती था, कि मित्रराष्ट्रों की ओर से लड़ाई में शामिल हो लिया जाय। परिणाम यह हुआ, कि राजा कान्स्टेन्टाइन ने वेनिजलोस को प्रधानमंत्री पद से पृथक् कर दिया।

१९१५ में युद्ध की परिस्थिति ऐसी हो गयी थी, कि मित्रराष्ट्रों के सेनापति सैलोनिका (ईजियन सागर के उत्तरी तट पर ग्रीस का अन्यतम प्रदेश) को युद्ध के लिये प्रयुक्त करने के लिये उत्सुक थे। इस समय सर्बिया की स्वतन्त्र सत्ता खतरे में थी, और मित्रराष्ट्रों के सेनापति चाहते थे, कि सैलोनिका को आधार बनाकर सर्बिया को सैनिक सहायता पहुंचावें। १९१५ की समाप्ति से पूर्व ही एक फ्रेन्च सेनापति ने बल का प्रयोग कर सैलोनिका पर कब्जा कर लिया और वहां अपनी सेनायें स्थापित कर दीं। ग्रीस के राजा कान्स्टेन्टाइन का कहना था, कि ग्रीस एक तटस्थ राज्य है, और मित्र-राष्ट्रों को कोई अधिकार नहीं है, कि वे उसके किसी भी प्रदेश को युद्ध के लिये प्रयुक्त कर सकें। सैलोनिका पर मित्रराष्ट्रों का कब्जा ठीक उसी प्रकार की बात है, जैसी कि जर्मनी द्वारा बेल्जियम के मार्ग से अपनी सेनाओं को ले जाने की कोशिश थी। इस अवसर पर वेनिजलोस ने मित्रराष्ट्रों का साथ दिया।

उसने सैलोनिका में एक आजाद ग्रीक सरकार की स्थापना कर ली और जर्मनी के पक्ष के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। मित्रराष्ट्र इस आजाद ग्रीक सरकार की पीठ पर थे। जून, १९१७ में मित्रराष्ट्रों की एक सेना ने सैलोनिका की आजाद ग्रीक सरकार की ओर से ग्रीस पर आक्रमण कर दिया। कान्स्टेन्टाइन द्वितीय के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह इस सेना का मुकाबला कर सके। वह परास्त हो गया, और एथन्स पर मित्रराष्ट्रों का कब्जा हो गया। कान्स्टेन्टाइन और उसके युवराज ने ग्रीस की राजगद्दी पर से अपने अधिकार का परित्याग कर दिया और वेनिजलोस के नेतृत्व में एक नई ग्रीस सरकार का संगठन किया गया। ग्रीस में राजसत्ता को कायम रखा गया और कान्स्टेन्टाइन के द्वितीय पुत्र को ग्रीस का नया राजा घोषित किया गया। नई ग्रीक सरकार २ जुलाई, १९१७ को मित्रराष्ट्रों के पक्ष में लड़ाई में शामिल हो गई। ग्रीस के अपने पक्ष में हो जाने से मित्रराष्ट्रों को यह अवसर मिल गया, कि वे बाल्कन प्रायद्वीप में जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी का भलीभांति मुकाबला कर सकें।

२. महायुद्ध की प्रगति

फ्रांस पर आक्रमण—विशाल जर्मन सेना ने तीन ओर से फ्रांस पर हमला किया। बेल्जियम की ओर से, लुक्समबुर्ग से होकर शाम्पाञ् की ओर और मेट्ज से नान्सी की तरफ। बेल्जियम देर तक जर्मनी का मुकाबला नहीं कर सका। २० अगस्त, १९१४ को बेल्जियम की राजधानी ब्रुसल्स पर जर्मनी का कब्जा हो गया। लुक्समबुर्ग होकर जो जर्मन सेना फ्रांस में बढ़ रही थी, उसका नेमूर के दुर्ग पर डटकर मुकाबला किया गया। पर शक्तिशाली जर्मनी ने शीघ्र ही इसे जीत लिया, और वायुवेग से बढ़ती हुई जर्मन सेनायें पेरिस के २५ मील तक पहुंच गईं। फ्रांस की राजधानी पेरिस से हटाकर बोर्दियो ले जाई गई, और पेरिस की रक्षा के लिये मोर्चा तैयार किया जाने लगा। पर मार्न के रणक्षेत्र में फ्रेंच सेनापति जाफ ने जर्मन सेनाओं का डटकर मुकाबला किया, और उन्हें पीछे हटने के लिये विवश किया। मार्न की इस शानदार विजय से सेनापति जाफ की कीर्ति बहुत फैल गई। पेरिस को शत्रु के आक्रमण के भय से मुक्त कराने वाले इस वीर सेनापति को फ्रेन्च लोग देवता की तरह पूजने लगे। जर्मन सेनापति फान क्लुक इस बात के लिये विवश हुआ, कि अपनी सेनाओं को पीछे हटाकर सोआस्सों और रैंस के

बीच में स्थापित कर ले। पेरिस पर कब्जा करने की आशा छोड़कर जर्मन सेनाओं ने इस प्रदेश में अपना मोर्चा डाला, और अपनी शक्ति को बेल्जियम को पूरी तरह परास्त करने में लगा दिया। १० अक्टूबर को एण्टवर्प पर उनका कब्जा हो गया, और आस्टण्ड के दक्षिण-पश्चिम में स्थित एक छोटे से कोने के अतिरिक्त सारा बेल्जियम उनके अधिकार में चला गया। जर्मन सेना की यह योजना थी, कि एण्टवर्प से आगे बढ़कर कैले के बन्दरगाह पर कब्जा करें। कैले इङ्गलैण्ड के बहुत करीब है, वहां से इङ्गलिश चैनल को पार कर इङ्गलैण्ड पर आक्रमण करना बहुत सुगम है। इसीलिए जर्मन सेनायें बड़ी तेजी से कैले पर कब्जा करने के लिये उत्सुक थीं। पर सेर नदी के तट पर फ्रेंच और इङ्गलिश सेनाओं ने उनका डटकर मुकाबला किया, और इस नदी से उन्हें पार नहीं होने दिया। कैले जर्मनों के हाथ में नहीं जा सका, और इङ्गलैण्ड पर आक्रमण हो सकने का भय बहुत कुछ दूर हो गया।

परास्त बेल्जियम के प्रति नीति—बेल्जियम के साथ जर्मनी ने एक परास्त देश का सा बरताव किया। उससे अत्यधिक धनराशि हरजाने के रूप में वसूल की गई। कल कारखानों और आर्थिक साधनों पर अपना कब्जा करके उनका उपयोग जर्मन सेनाओं के लिये किया गया। जिस नागरिक ने जरा भी विरोध किया, उसे कड़े से कड़ा दंड दिया गया। अनेक नगरों को बुरी तरह विध्वंस भी किया गया। संसार के सभ्य देशों ने जर्मनी के बेल्जियम के साथ किये गये इस व्यवहार को बहुत बुरी दृष्टि से देखा, विशेषतया इसलिए कि वह एक तटस्थ देश था, और उसकी तटस्थता की गारण्टी में जर्मनी स्वयं भी शामिल था।

पश्चिमी रणक्षेत्र—जर्मनी की तीसरी सेना, जिसने सीधा फ्रांस पर आक्रमण किया था, शुरू शुरू में अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सकी। कारण यह कि फ्रांस ने जर्मन सीमा पर जटिल किलाबन्दी की हुई थी। पर कुछ समय बाद इस किलाबन्दी को भेद कर जर्मन सेनाओं ने आगे बढ़ना शुरू किया, और वर्दून तथा सां दिए के बीच में बहुत से फ्रेंच प्रदेश पर अपना कब्जा कर लिया। इस प्रकार युद्ध के पहले तीन महीनों में जर्मनों को शानदार सफलता हुई। बेल्जियम और लुक्सम्बुर्ग के राज्य पूरी तरह उनके अधीन हो गये, और उत्तर-पूर्वी फ्रांस का भी एक अच्छा बड़ा भूमिखण्ड उनके कब्जे में आ गया। युद्ध की दृष्टि से ये प्रदेश बहुत महत्त्व के थे, कारण यह कि कोयले और लोहे की यहां बड़ी खानें थीं, और अनेक समृद्ध व्यावसायिक नगर यहां स्थापित थे।

इस प्रकार सां दिए से लेकर वर्दून, रैंस और सेर नदी होती हुई, जो किलाबन्दी

की लाइन इङ्गलिश चैनल तक जर्मन सेनाओं ने स्थापित की, वह युद्ध की समाप्ति तक प्राय: चार वर्ष तक स्थिर रही। इस लाइन पर घनघोर युद्ध होता रहा। लाखों आदमी यहां कुर्बान हुए। भयंकर से भयंकर शस्त्रों का यहां प्रयोग किया गया। जर्मनों ने जहरीली गैसों और रासायनिक अग्नि तक का इस्तेमाल किया। दोनों तरफ से हवाई जहाज इस लाइन पर बम्ब वर्षा करते रहे। पर न तो जर्मन सेनायें इस लाइन से कुछ बहुत अधिक आगे फ्रांस में बढ़ने में समर्थ हुईं, और न ही फ्रेंच और इङ्गलिश सेनायें जर्मनों को कुछ अधिक पीछे धकेल सकीं। दोनों पक्षों की सेनाओं ने आमने सामने अपने मोरचे बना लिये, और चार साल तक वहां विकट लड़ाई जारी रही।

पूर्वी रणक्षेत्र—लड़ाई शुरू होते ही रूस की सेनाओं ने बड़ी तेजी के साथ उत्तर-पूर्वी जर्मनी पर (जर्मनी के अन्यतम प्रदेश पूर्वी प्रशिया पर) आक्रमण किया। पूर्वी प्रशिया में वे काफी आगे तक बढ़ गईं। पर शीघ्र ही सेनापति हिन्डनवर्ग ने उन्हें जर्मनी से बाहर खदेड़ दिया। रूस की सेनाओं के आक्रमण का मुख्य क्षेत्र आस्ट्रिया था। उसके गैलिसिया प्रदेश पर रूस का कब्जा भी हो गया था। पर इसी बीच में जर्मन और आस्ट्रियन सेनाओं ने मिलकर पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। उस समय पोलैण्ड का बड़ा भाग रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत था। वीएना की कांग्रेस (१८१४) के बाद वारसा की ग्राण्ड डची रूसी सम्राट् के सुपुर्द कर दी गई थी। अब आस्ट्रियन और जर्मन सेनाओं ने मिलकर वारसा पर हमला किया। वारसा के जर्मनों के हाथ में चले जाने से रूस की स्थिति बहुत नाजुक हो जाती थी। अत: गैलिसिया से रूसी सेनायें हटा ली गईं, और रूस की सारी शक्ति वारसा व पोलैण्ड की रक्षा के लिये लग गईं। इसी सिलसिले में सन् १९१५ की सर्दियों में रूस ने भरसक कोशिश की, कि कार्पेथियन पर्वतमाला को पार कर आस्ट्रिया-हंगरी पर आक्रमण करे, ताकि वारसा पर जर्मन सेनाओं का जोर कम हो जाय। पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई। इसी बीच में वारसा पर जर्मनी का कब्जा हो गया। अन्य भी अनेक बड़े बड़े पोल नगरों पर कब्जा करके जर्मन सेनायें रूस में आगे बढ़ गईं और कूरलैण्ड, लिवोनिया तथा एस्थोनिया पर उन्होंने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। ये सब प्रदेश रूस के साम्राज्य के अंग थे। युद्ध का अन्त होने तक पोलैण्ड तथा इन रूसी प्रदेशों पर जर्मनी का अधिकार बना रहा।

जर्मन उपनिवेशों का अन्त—महायुद्ध के प्रारम्भ होने के कुछ समय बाद ही

जर्मनी अपने सब उपनिवेशों से हाथ धो बैठा। जापान ने युद्ध में शामिल होते ही प्रसिद्ध बन्दरगाह कियाउ चाउ (चीन में जर्मनी के अधीन) पर कब्जा कर लिया। उत्तरी प्रशान्त महासागर में जो अन्य जर्मन प्रदेश थे, उन सब पर भी जापान ने अधिकार कर लिया। दक्षिणी प्रशान्त महासागर के जर्मन प्रदेश आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने विजय कर लिये। अफ्रीका में जर्मनी के अनेक उपनिवेश थे। इनमें से जर्मन दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका पर दक्षिण अफ्रीकन यूनियन (ब्रिटिश) ने कब्जा कर लिया। अन्य जर्मन उपनिवेश टोगोलैण्ड, कैमरून और जर्मन पूर्वी अफ्रीका धीरे धीरे इङ्गलिश व डच सेनाओं के अधिकार में आते गये। परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी का समुद्र पार का सब साम्राज्य उसके हाथ से निकल गया। स्थल में जर्मनी को अद्भुत सफलता हो रही थी, पर समुद्र में वह इङ्गलैण्ड व उसके साथियों का मुकाबला नहीं कर सकता था।

टर्की का युद्ध में प्रवेश—नवम्बर, १९१४ में टर्की जर्मनी के पक्ष में लड़ाई में शामिल हो गया। उसके सुल्तान ने, जो मुसलिम संसार का खलीफा व धर्माध्यक्ष भी माना जाता था, सब मुसलमानों से अपील की, कि मित्रराष्ट्र इस्लाम के शत्रु हैं, और उनके साथ युद्ध का करना धर्मयुद्ध (जिहाद) है, अतः प्रत्येक सच्चे मुसलमान का कर्त्तव्य है, कि वह मित्रराष्ट्रों के खिलाफ लड़ाई के लिए उठ खड़ा हो। जर्मनी को पूरी आशा थी, कि इस अपील के परिणामस्वरूप भारत, इजिप्ट आदि के सब मुसलमान अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर देंगे। पर उसकी यह आशा पूर्ण नहीं हुई। अब तक इजिप्ट पर टर्की का आधिपत्य माना जाता था, पर इस अवसर से लाभ उठा कर अंग्रेजों ने इजिप्ट को तुर्की साम्राज्य से सर्वथा पृथक् कर लिया, और वहां के शासक की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृत किया। इस सुलतान ने अंग्रेजों की संरक्षा स्वीकृत कर ली। टर्की के साम्राज्य में अरब भी शामिल था। अरब लोग धर्म की दृष्टि से तुर्कों से समता रखते हुए भी राष्ट्रीयता की दृष्टि से उनसे भिन्न थे। अंग्रेजों ने अरबों की राष्ट्रीय भावना को भड़का कर उन्हें तुर्कों के खिलाफ विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया। मैसोपोटामिया और सीरिया पर आक्रमण करके अंग्रेजों ने युद्ध का एक नया क्षेत्र बना दिया और जर्मनी तथा उसके साथियों को इस ओर भी मित्रराष्ट्रों की शक्ति का सामना करना पड़ा। इस क्षेत्र में मित्रराष्ट्र निरन्तर सफल होते गये। मार्च, १९१७ में बगदाद पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया और उसी साल दिसम्बर में ईसाइयों का पवित्र नगर जेरुसलम भी अंग्रेजों के अधिकार में आ गया।

गैलीपोली की लड़ाई——१९१५ में अंग्रेजों ने यह भी कोशिश की थी, कि टर्की की राजधानी कान्स्टेन्टिनोपल पर आक्रमण किया जाय। उस साल आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड से बहुत सी फौजें यूरोप में मित्रराष्ट्रों की सहायता करने के लिये आ गई थीं। अंग्रेजों की योजना यह थी, कि डार्डेनल्स के जल-डमरूमध्य से होकर टर्की पर हमला करें, और कान्स्टेन्टिनोपल पर कब्जा कर लें। पर इस प्रयत्न में उन्हें बुरी तरह असफलता हुई। अंग्रेजों के लाखों आदमी इस लड़ाई में काम आये। तुर्कों को जर्मन सेनापतियों और हथियारों की बहुत सहायता पहुंच रही थी। गैलीपोली के प्रायद्वीप में एक छोटा सा भूखण्ड अंग्रेजों ने जीत लिया था। यहां पर मित्रराष्ट्रों की बड़ी सेना पहुंचा दी गई थी, और किलाबन्दी करके यह प्रयत्न किया जा रहा था, कि इसे आधार बनाकर आगे टर्की पर हमला किया जाय। पर गैलीपोली में मित्रराष्ट्रों की सेना टिक नहीं सकी। उसे वापस लौटना पड़ा। इस वापसी के समय में तुर्कों ने उन पर खूब जोरदार हमले किये। निःसन्देह अंग्रेजी युद्ध-नीति की यह भयंकर गलती थी, कि टर्की पर इस तरफ से आक्रमण करने का प्रयत्न किया गया।

मई, १९१५ में इटली मित्रराष्ट्रों के पक्ष में लड़ाई में शामिल हो गया। इस प्रकार महायुद्ध के दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में स्थिति यह थी, कि जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और टर्की——इन तीन राज्यों के खिलाफ रूस, फ्रांस, इटली, ग्रेट ब्रिटेन (अपने सब उपनिवेशों व साम्राज्य के साथ), बेल्जियम, सर्बिया, जापान, मान्ट-निग्रो और सन मरीनो——ये नौ राज्य लड़ाई में जुटे हुए थे। पर युद्ध अभी बहुत आगे फैलना था। वे बहुत से देश जो लड़ाई के दूसरे साल के शुरू होने तक तटस्थ थे, धीरे धीरे इस महायुद्ध में प्रवेश करते गये।

पनडुब्बियों का युद्ध——समझा यह जाता था, कि जर्मनी की नौसेना समुद्र में डटकर अंग्रेजी नौसेना का मुकाबला करेगी। जर्मनी के पास बहुत से बड़े जंगी जहाज थे, और जर्मनी ने जल-युद्ध की अच्छी तरह तैयारी की थी। पर जर्मन जंगी जहाज अपने बन्दरगाहों से बाहर नहीं निकले, और सामुद्रिक युद्ध का काम उन पनडुब्बियों के ऊपर छोड़ दिया गया, जिनका आविष्कार युद्ध-काल में ही जर्मन इन्जीनियरों द्वारा किया गया था। ये पनडुब्बियां पानी की सतह के नीचे नीचे चलती थीं, और मित्रराष्ट्रों के जंगी जहाजों व सेना ले जानेवाले जहाजों पर पानी के नीचे से आक्रमण करके उन्हें डुबो देती थीं। इन पनडुब्बियों के कारण कुछ समय के लिये इङ्गलैण्ड का समुद्र पर आधिपत्य शिथिल हो गया, और जर्मन नौसेना का एक प्रकार का आतंक सा सर्वत्र छा गया। इङ्गलैण्ड के लिये यह तो

सम्भव था, कि जर्मन जंगी व व्यापारी जहाजों को बन्दरगाहों से बाहर होने से रोक सके, पर वे पनडुब्बियां समुद्र के नीचे होकर बाहर चली जाती थीं, और अंग्रेजी जहाज इनका पता नहीं पा सकते थे। पहले समयों में जब कोई जंगी जहाज किसी जहाज को डुबाता था, तो डूबनेवाले जहाज के यात्रियों व अन्य व्यक्तियों को डूबने से बचा लेता था, या बचने का अवसर देता था। पर ये पनडुब्बियां अचानक ही जहाजों पर हमला कर देती थीं, और किसी भी व्यक्ति को जान बचाने का अवसर नहीं मिलता था। सामुद्रिक युद्ध में यह बिलकुल नई परिस्थिति पैदा हो गई थी। इस दशा में इङ्गलैण्ड ने यह घोषणा की, कि हालैण्ड, नार्वे, स्वीडन आदि तटस्थ देशों के बन्दरगाहों पर जानेवाले जहाजों की तलाशी ली जावे, ताकि कोई युद्धोपयोगी सामान इन बन्दरगाहों से होकर जर्मनी न पहुंच सके। पनडुब्बियों के हमलों से परेशान होकर अब अंग्रेजों के सम्मुख यही रास्ता था, कि जर्मनी को कोई ऐसा माल न पहुंचने देवे, जो युद्ध के काम का हो। तटस्थ देशों के जहाजों की तलाशी के लिये कर्कलैण्ड का बन्दरगाह नियत किया गया। यह आर्कने टापू में है। फरवरी, १९१५ में जर्मनी ने यह यत्न किया, कि अपने देश के सारे अनाज पर सरकार का अधिकार हो जाय, ताकि सेनाओं को भोजन प्राप्त करने में कोई कठिनाई न हो। इस पर अंग्रेजों ने अनाज को भी युद्धोपयोगी सामान उद्घोषित कर दिया, क्योंकि सेनाओं के लिये जितना उपयोग हथियारों का है, उससे कहीं अधिक उपयोग भोजन का है। अब से कर्कलैण्ड में जहाजों की तलाशी के समय यह भी देखा जाने लगा, कि कहीं वे अनाज तो नहीं ले जा रहे हैं।

जर्मनी ने इसका बदला लेने के लिये यह उद्घोषणा की, कि ग्रेट ब्रिटेन के चारों ओर का समुद्र युद्ध के क्षेत्र के अन्तर्गत माना जायगा, और उसमें जो भी जहाज आयगा, उसे डुबा दिया जायगा। तटस्थ देशों को यह चेतावनी दे दी गयी, कि वे अपना कोई जहाज ग्रेट ब्रिटेन न भेजें, क्योंकि उसके चारों ओर का समुद्र पनडुब्बियों और बारूद की किस्तियों से भरपूर है। फरवरी, १९१५ में जर्मन पनडुब्बियों ने अपना काम बड़ी तीव्रता से प्रारम्भ कर दिया। जो भी जहाज ग्रेट ब्रिटेन आने का प्रयत्न करता था, उसे निर्दयता के साथ डुबा दिया जाता था। ७ मई, १९१५ को लुसिटानिया नाम का विशाल जहाज इङ्गलैण्ड आते हुए जर्मन पनडुब्बी का शिकार हुआ। यह जहाज अमेरिका से चला था। इसमें १२०० के लगभग यात्री थे, जिनमें १०० से कुछ अधिक अमेरिकन भी थे। ये सब यात्री जहाज के साथ ही समुद्र की सतह में समा गये। लुसिटानिया

के यात्रियों में बहुत सी स्त्रियां और बच्चे भी थे। इसके डूबने के समाचार से अमेरिका में बहुत रोष फैला। अमेरिकन लोगों का कहना था, कि जहाज में कोई भी ऐसा सामान नहीं था, जो युद्ध के काम का हो। ऐसे जहाज को डुबाना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सर्वथा विरुद्ध है। पर जर्मनी का यह कथन था, कि लुसिटानिया में बहुत से हथियार और बम्ब विद्यमान थे, और न्यूयार्क के समाचार पत्रों में यह विज्ञापन छपवा दिया गया था, कि कोई अमेरिकन यात्री इस जहाज पर यात्रा न करे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि लुसिटानिया के डुबाने से न केवल इङ्गलैण्ड और अमेरिका में, पर संसार के प्रायः सभी तटस्थ देशों में जर्मनी के विरुद्ध एक तीव्र रोष की भावना उत्पन्न हुई, और आगे चलकर अमेरिका और अन्य बहुत से देश मित्रराष्ट्रों के पक्ष में जो लड़ाई में शामिल हुए, उसमें यह घटना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण हुई।

बल्गेरिया का युद्ध में प्रवेश—जर्मन और आस्ट्रियन सेनायें गैलीसिया से रूसी सेनाओं को निकालने में सफल हुई थीं। इसके बाद उन्होंने सर्बिया पर हमला किया। बल्गेरिया की सर्बिया से पुरानी शत्रुता थी। सर्बिया पर जर्मनों को हमला करते देखकर बल्गेरिया ने अनुभव किया, कि सर्बिया के अन्त करने का यह अच्छा अवसर है। उसने जर्मनी के पक्ष में होकर सर्बिया के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। दो तरफ से सर्बिया पर हमला हुआ, और कुछ ही दिनों में उस पर शत्रुओं का अधिकार हो गया। महायुद्ध के अन्त तक सर्बिया जर्मनी और बल्गेरिया के ही हाथ में रहा।

३, महायुद्ध का दूसरा वर्ष

पश्चिमी रणक्षेत्र—१९१५ के अन्त में इङ्गलिश सेनाओं ने यह प्रयत्न किया, कि पश्चिमी जर्मन लाइन पर हमला करके जर्मनों को पीछे हटा दें। सर जान फ्रेंच के सेनापतित्व में दस लाख के लगभग अंग्रेजी सैनिकों ने अर्रास के उत्तर-पूर्व में आक्रमण किया। यहां घनघोर लड़ाई हुई, और इतनी कोशिश के बाद भी इंङ्गलिश सेनायें जर्मनों को केवल दो मील से तीन मील तक पीछे हटाने में समर्थ हुईं, और वह भी तीस मील के लगभग क्षेत्र में। इस लड़ाई से यह भलीभांति प्रगट हो गया, कि सा दिए से शुरू करके आस्टेण्ड तक जो किलाबन्दी की लाइन जर्मनी ने तैयार की हुई है, उसे तोड़ना या उसे पीछे धकेलना कितना कठिन है। बेल्जियम, लुक्सम्बुर्ग व उत्तर-पूर्वी फ्रांस पर जर्मनी

में एक फौलादी शिकञ्जा डाला हुआ था, और उसे तोड़ना बहुत ही मुश्किल था।

अरगास के इस युद्ध में कुछ पीछे हटकर जर्मन सेनाओं ने यह अनुभव किया, कि उन्हें भी पश्चिमी रणक्षेत्र में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहिये। उन्होंने वर्दून के प्राचीन और मजबूत किले पर हमला करने का निश्चय किया। जर्मन युद्ध-सामग्री का बड़ा भारी केन्द्र मेट्ज वर्दून से थोड़ी ही दूर पर था। जर्मन सेनापतियों ने अनुभव किया, कि मेट्ज को आधार बनाकर वर्दून पर हमला किया जा सकता है। जर्मनी के युवराज ने इस युद्ध का संचालन स्वयं अपने हाथों में लिया। वर्दून फ्रेंच किलाबन्दी का एक मुख्य केन्द्र था। उसे जीतकर जर्मन लोग यह आशा करते थे, कि फ्रेंच बचाव की लाइन टूट जायगी, और पेरिस की ओर आगे बढ़ना फिर सम्भव हो जायगा। २१ फरवरी, १९१६ को जर्मन सेनाओं का यह प्रबल आक्रमण प्रारम्भ हुआ। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा, कि फ्रेंच लोग जर्मन सेना के सामने न टिक सकेंगे। पर जनरल जाफ के नेतृत्व में फ्रेंच सेनाओं का पुनः संगठन किया गया, और वे जर्मन हमले को थामने में समर्थ हुई। शुरू शुरू में वर्दून के समीप के जिन प्रदेशों पर जर्मन सेनाओं का कब्जा हो गया था, वहां से उन्हें पीछे धकेल दिया गया, और फ्रांस अपनी किलाबन्दी की लाइन को सुरक्षित रखने में समर्थ हुआ। मित्रराष्ट्रों के लिये यह परम सन्तोष की बात थी। फ्रांस का पराजय जर्मन सैनिक स्थिति को बहुत मजबूत कर देता। क्योंकि जर्मनी के युवराज ने जर्मन सेनाओं का नेतृत्व इस युद्ध में अपने हाथों में लिया हुआ था, अतः इस आक्रमण की विफलता से जर्मन सैनिक शक्ति को बहुत कुछ नीचा देखना पड़ा। जुलाई, १९१६ तक फ्रांस की स्थिति इतनी मजबूत हो गई थी, कि जर्मन हमले की सफलता की सब सम्भावना दूर हो गई थी। पश्चिमी रणक्षेत्र में इसके बाद भी निरन्तर युद्ध जारी रहा। जुलाई से नवम्बर (१९१६) तक आमीन के पूर्व व उत्तर-पूर्व में घनघोर युद्ध हुए। ये सॉम के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं युद्धों में पहले पहल टैंकों का प्रयोग हुआ। टैंक एक कवचधारी मोटर गाड़ी का नाम है, जिसके चारों ओर मोटे लोहे की चादर लगी रहती है, और जिससे न केवल गोलियों की वर्षा की जा सकती है, अपितु तोप के गोले तक छोड़े जा सकते हैं। यह गाड़ी कांटेदार तारों, खाइयों और अन्य मोरचाबन्दी की परवाह न करती हुई, उसे तोड़ फोड़कर आगे बढ़ सकती है। इसका आविष्कार

अंग्रेजों ने किया था। इसमें सन्देह नहीं, कि पश्चिमी रणक्षेत्र में जर्मनों की मोर्चाबन्दी को तोड़ने में इन टैंकों ने बड़ा काम किया, और जर्मन लोग जो फ्रांस में आगे बढ़ने से रुक गये, उसका बड़ा श्रेय इन नये हथियारों को ही दिया जाना चाहिये।

इङ्गलैण्ड में बाधित सैनिक सेवा का सूत्रपात—इसी समय इङ्गलैण्ड में बाधित सैनिक सेवा का सूत्रपात किया गया। महायुद्ध से पूर्व जर्मनी, रूस और फ्रांस में बाधित सैनिक सेवा की प्रथा विद्यमान थी। इसके कारण लाखों सैनिक हर समय युद्ध के लिये तत्पर रहते थे। पर इङ्गलैण्ड में यह प्रथा न होने से उसकी सेना में सिपाहियों की संख्या एक लाख से भी कम थी। इसी कारण जर्मनी का सम्राट् इंगलिश सेना को एक तुच्छ और घृणायोग्य सेना कहा करता था। शुरू में इङ्गलैण्ड ने यह कोशिश की, कि लोगों को स्वेच्छापूर्वक सेना में भरती होने के लिये प्रेरित किया जाय। पर इसमें पर्याप्त सफलता न होने के कारण मई, १९१६ में बाधित सैनिक सेवा का कानून बनाया गया। इसके अनुसार १८ से ४१ वर्ष तक के प्रत्येक पुरुष के लिये सेना में भरती होना आवश्यक कर दिया गया। बाद में सैनिक सेवा की उमर बढ़ाकर १८ से ५० तक कर दी गई। ५० से ५५ वर्ष तक की आयु के पुरुषों से भी आवश्यकतानुसार सैनिक सेवा ली जा सकने की व्यवस्था की गई। इस नये कानून से इङ्गलैण्ड में सैनिकों की संख्या में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई। लाखों की संख्या में अंग्रेज सिपाही पश्चिमी रणक्षेत्र में भेजे जाने लगे।

इटली और आस्ट्रिया के युद्ध—जिस समय पश्चिमी रणक्षेत्र में वर्दून का युद्ध जारी था, पूर्व में इटालियन सेना ने आस्ट्रिया पर आक्रमण किया। पर वे अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुए। इसके विपरीत, आस्ट्रिया ने मई, १९१६ में न केवल इटालियन सेनाओं को अपनी सीमा से बाहर खदेड़ने में सफलता प्राप्त की, अपितु इटली के भी अनेक प्रदेश विजय कर लिये। इसी समय रूस ने एक बार फिर आस्ट्रिया पर आक्रमण करके गैलीसिया के विजय का प्रयत्न किया। अपने देश की रक्षा के लिये आस्ट्रिया को अपनी सेनायें उत्तर की ओर भेजनी पड़ीं, और इटली को अपने आक्रमणों की सफलता का सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया। इटली का युद्ध में शामिल होने का मुख्य उद्देश्य यह था, कि इटालियन भाषा बोलनेवाले जो प्रदेश अभी तक आस्ट्रिया के अधीन थे, उन्हें जीतकर वह अपने साथ शामिल कर सके। त्रिएस्त इनमें

प्रमुख था। इटालियन सेनाओं ने त्रिएस्त के मार्ग पर बढ़ना शुरू किया, और गोरिज़िया पर अपना अधिकार कर लिया ।

रूमानिया का युद्ध में प्रवेश—इस समय रूस का गैलीसिया पर हमला जारी था। ऐसा प्रतीत होता था, कि आस्ट्रिया के विरुद्ध रूस और इटली दोनों को अपूर्व सफलता मिल रही है। इससे उत्साहित होकर रूमानिया ने मित्रराष्ट्रों के पक्ष में जर्मनी, आस्ट्रिया और बल्गेरिया के विरुद्ध लड़ाई उद्घोषित कर दी। रूमानिया का यह दावा था, कि ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश उसका है, और वह उसे प्राप्त होना चाहिये । उसने ट्रांसिलवेनिया पर हमला कर दिया । यद्यपि जर्मन सेनायें इस समय सॉम के युद्ध में फंसी हुई थीं, तो भी दो ऊंचे जर्मन सेनापति बड़ी फौजों के साथ रूमानिया का मुकाबला करने के लिये भेजे गये। बात की बात में रूमानिया का आगे बढ़ना रुक गया। दिसम्बर, १९१६ में रूमानिया की राजधानी बुखारेस्ट पर जर्मनी का कब्जा हो गया और कुछ ही दिनों में दो तिहाई से अधिक रूमानियन इलाका जर्मनी की अधीनता में आ गया। रूमानिया बड़ा समृद्ध और उपजाऊ देश है । विशेषतया, मट्टी का तेल और अनाज वहां बड़ी मात्रा में होता है । यह सब अब जर्मनी को प्राप्त हो गया ।

१ जनवरी, १९१६ तक महायुद्ध में ६० लाख के लगभग आदमी मौत के घाट उतर चुके थे। इससे बहुत अधिक लोग या तो घायल हुए थे, और या कैद कर लिये गये थे। इस महायुद्ध की भयंकरता का इससे भलीभांति अनुमान किया जा सकता है। आकाश द्वारा युद्ध का प्रारम्भ भी १९१६ के अन्त तक हो गया था। पहले पहल जर्मन लोगों ने जेपलिनों का युद्ध के लिये प्रयोग किया। ये जेपलिन एक प्रकार के बड़े और मजबूत गुब्बारे (बैलून) होते थे। पर शीघ्र ही जेपलिनों का स्थान हवाई जहाजों ने ले लिया और पश्चिमी रणक्षेत्र में दोनों तरफ से इन वायुयानों का प्रयोग होने लगा ।

४. अमेरिका का महायुद्ध में प्रवेश

पनडुब्बियों द्वारा सब प्रकार के जहाजों को डुबाने के कारण जर्मनी के विरुद्ध अमेरिका में किस प्रकार रोष की भावना बढ़ रही थी, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। अमेरिका युद्ध में सर्वथा तटस्थ था। जब यूरोप में लड़ाई का आरम्भ हुआ, तो राष्ट्रपति विल्सन ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी थी, कि अमेरिकन सरकार इस युद्ध में सर्वथा तटस्थ रहेगी, और जनता को भी किसी पक्ष में नहीं होना चाहिये। अमेरिका के नेताओं

की दृष्टि में यह यूरोप के राज्यों का आपसी युद्ध था, और अटलाण्टिक महासागर के पार विद्यमान देशों का उससे कोई सम्बन्ध न था। पर ज्यों ज्यों युद्ध की अग्नि भड़कने लगी, यह स्पष्ट होने लगा कि अमेरिका अपनी तटस्थता की नीति पर स्थिर नहीं रह सकता। अमेरिका के निवासियों में ऐसे भी लोग थे, जो जर्मनी से आकर वहां बसे थे। इनकी सहानुभूति जर्मनी के साथ थी। अमेरिका से प्रकाशित होनेवाले अनेक समाचार पत्र यह कहते हुए नहीं हिचकते थे, कि जो कुछ जर्मनी कर रहा है, वह सब उचित और न्यायसंगत है। पर बेल्जियम पर आक्रमण करने, वहां की जनता के साथ किये गये व्यवहार और रैंस (फ्रांस) के प्राचीन गिरिजाघर का ध्वंस करने के समाचारों ने अमेरिका की जनता में जर्मनी के विरुद्ध एक तीव्र रोष को उत्पन्न कर दिया था। अमेरिका के स्वातन्त्र्य संग्राम में फ्रांस के लोगों ने बड़ी सहायता पहुंचाई थी। इस कारण अमेरिकन जनता की फ्रांस के साथ बहुत अधिक सहानुभूति थी। क्योंकि अमेरिका के बहुसंख्यक लोग इङ्गलैण्ड से आकर बसे थे, उनकी भाषा अंग्रेजी थी—अतः उनकी स्वाभाविक सहानुभूति भी इङ्गलैण्ड के साथ थी। लूसिटानिया जहाज के डुबाने से अमेरिका में जर्मनी के खिलाफ रोष बहुत बढ़ गया था। जनवरी, १९१७ में इङ्गलैण्ड ने यह प्रयत्न किया, कि कोई भी माल समुद्री मार्ग से जर्मनी न पहुंचने पावे। इस पर जर्मनी ने यह घोषणा की, कि क्योंकि इङ्गलैण्ड की यह इच्छा है, कि जर्मनी भूखा मर जावे, उसका बाहरी देशों के साथ सब व्यापार समाप्त हो जावे, अतः जर्मनी भी इङ्गलैण्ड के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध समुद्री मार्ग से नहीं रहने देगा। इङ्गलैण्ड एक द्वीप है, उसे सब प्रकार का माल समुद्र के रास्ते से ही मंगाना पड़ता है—अतः जर्मनी ने यह घोषणा की, कि इस टापू के चारों तरफ का दूर दूर का समुद्र रणक्षेत्र के अन्तर्गत माना जायगा, और जो कोई भी जहाज इस समुद्र में प्रवेश करेगा, उसे पनडुब्बी द्वारा डुबा दिया जायगा। अमेरिका के लिये यह सुविधा दी गई, कि उसके जहाज एक छोटी सी सामुद्रिक गली से इङ्गलैण्ड आ जा सकें, पर यह आवश्यक है, कि उनमें कोई युद्धोपयोगी सामग्री न हो।

१ फरवरी, १९१७ को जर्मनी ने पनडुब्बियों द्वारा सामुद्रिक युद्ध को अत्यन्त वीभत्स रूप में प्रारम्भ किया। बहुत से व्यापारी जहाज बड़ी तेजी के साथ समुद्र की सतह में पहुंचाये जाने लगे। जर्मनी के इस कार्य से अमेरिका की जनता बहुत उद्विग्न हो गई और बहुत से लोग राष्ट्रपति विल्सन

पर यह आक्षेप करने लगा, कि वे अनावश्यक रूप से जर्मनी के कुकृत्यों को सहन कर रहे हैं। लोकमत की उपेक्षा राष्ट्रपति देर तक नहीं कर सके, और ३ फरवरी, १९१७ को अमेरिका और जर्मनी का राजनीतिक सम्बन्ध भंग कर दिया गया। अमेरिकन राजदूत को जर्मनी से वापस बुला लिया गया, और जर्मन राजदूत काउन्ट बर्नस्टोर्फ को जर्मनी वापस भेज दिया गया। अमेरिकन लोगों का यह ख्याल था, कि जर्मन राजदूत का कार्यालय जर्मन जासूसी कार्रवाइयों का प्रधान केन्द्र है। उसके वापस चले जाने से जनता को बड़ा सन्तोष हुआ।

इस बीच में पनडुब्बियों द्वारा जहाजों के डुबाने की प्रक्रिया अधिक अधिक तीव्र होती गई, और जर्मनी के विरुद्ध अमेरिकन लोकमत भी उग्र रूप धारण करता गया। इसी बीच में एक पत्र पकड़ा गया, जो जर्मनी के विदेश मन्त्री ने मैक्सिको की सरकार को लिखा था। इस पत्र में यह प्रस्ताव किया गया था, कि यदि जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका में युद्ध छिड़ जाय, तो मैक्सिको को तुरन्त संयुक्त राज्य पर हमला कर देना चाहिए। इसके लिए टैक्साज, न्यू मैक्सिको और एरिजोना के राज्य मैक्सिको को इनाम के रूप में दिये जाने की बात कही गई थी।

अब यह स्पष्ट था, कि अमेरिका और जर्मनी में युद्ध अनिवार्य है। २ एप्रिल १९१७ को राष्ट्रपति विल्सन ने कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया। इसमें राष्ट्रपति ने यह उद्घोषित किया, कि सब क्रियात्मक दृष्टियों से जर्मनी अमेरिका के साथ लड़ाई शुरू कर चुका है। हमारा लक्ष्य यह है, कि स्वार्थ और एकाधिकार की शक्तियों के विरुद्ध संसार में शान्ति, न्याय और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों की रक्षा व स्थापना के लिये लड़ाई में शामिल हों। संसार के स्वतन्त्रताप्रिय और लोकतन्त्रवाद के अनुयायी राज्यों का यह कर्तव्य है, कि इस समय वे आपस में मिलकर उन शक्तियों का मुकाबला करें, जिनके कारण जनता के अधिकारों को भारी खतरा पैदा हो गया है। विल्सन ने यह प्रस्ताव किया, कि अमेरिका जर्मनी के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों के साथ बाकायदा सम्मिलित हो जाय, और धन जन द्वारा उनकी पूरी तरह सहायता करे। राष्ट्रपति के प्रस्ताव को कांग्रेस ने बड़ी भारी बहुसंख्या के साथ स्वीकृत किया।

अमेरिका के युद्ध में शामिल होने के बाद अन्य भी बहुत से देशों ने उसका अनुगमन किया। क्यूबा और पनामा तुरन्त ही मित्रराष्ट्रों में सम्मिलित हो

गये। कुछ दिनों बाद ग्रीस ने भी जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी। १९१७ के समाप्त होने से पहले ही सियाम, लाइबीरिया, चीन और ब्राजील ने भी मित्रराष्ट्रों के पक्ष में होकर जर्मनी व अन्य केन्द्रीय राज्योंके विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। अब युद्ध केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा था। वह सच्चे अर्थों में विश्वव्यापी महायुद्ध का रूप धारण कर चुका था। एक अरब चौंतीस करोड़ की आबादी वाले देश मित्रराष्ट्रों के पक्ष में थे। जर्मनी के पक्ष के देशों की आबादी केवल सोलह करोड़ थी। संसार की कुल आबादी का ८७ प्रतिशत इस महायुद्ध में शामिल था। इसमें से ९० प्रतिशत मित्रराष्ट्रों के पक्ष में थे, और केवल दस फीसदी के लगभग जर्मनी के साथ में थे।

जो देश इस महायुद्ध में शामिल नहीं हुए थे, उनकी कुल आबादी १९ करोड़ थी। हालैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन के लिये तटस्थ रहना इसलिये आवश्यक था, क्योंकि उनकी स्थिति जर्मनी के बहुत समीप थी। इस दशा में जर्मनी से लड़ाई छेड़ने का अभिप्राय अपने निश्चित विनाश के अतिरिक्त और कुछ न होता। मेक्सिको, चाइल और कुछ अन्य अमेरिकन राज्य तथा स्पेन इस युद्ध में तटस्थ रहे। पर तटस्थता की नीति रखते हुए भी शायद ही कोई ऐसा देश हो, जिस पर इस विश्वव्यापी महायुद्ध का कोई प्रभाव न पड़ा हो। सब जगह आर्थिक संकट उपस्थित हुए। खुले व्यापार का होना सम्भव न रहा। कीमतें ऊंची उठने लगीं। टैक्सों का बढ़ाना आवश्यक हो गया और जनता को अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़े।

५. महायुद्ध के आखरी दो वर्ष

पश्चिमी रणक्षेत्र—सॉम के युद्धों के बाद जर्मन सेनापतियों ने यह उपयोगी समझा, कि पश्चिमी रणक्षेत्र की जर्मन लाइन को कुछ छोटा किया जाय। उन्हें यह कठिन प्रतीत होता था, कि सां दिए से आस्टण्ड तक विस्तृत मोरचाबन्दी को भलीभांति संभाल कर सकें। इसलिए उन्होंने अपनी लाइन को दक्षिण में नोयों से अर्रास तक सीमित कर लिया। यह नई लाइन सौ मील के लगभग लम्बी थी, और इतिहास में हिन्डनबर्ग लाइन के नाम से प्रसिद्ध है। जर्मन लाइन के छोटे होने से एक हजार वर्ग मील के क्षेत्र पर मित्रराष्ट्रों का फिर से अधिकार हो गया। पर जर्मन सेनाओं ने पीछे हटते हुए इस प्रदेश को बुरी तरह उजाड़ दिया था।

जर्मनों के पीछे हटने से प्रोत्साहित होकर मित्रराष्ट्रों ने दो बड़े आक्रमण

हिन्डनबर्ग लाइन पर किये । पहला आक्रमण उत्तर की तरफ रैंस और सां क्वांती पर कब्जा करने के उद्देश्य से था। दूसरा हमला दक्षिण की तरफ लिओं के लिये किया गया था। पर इन दोनों में ही मित्रराष्ट्रों को सफलता नहीं हो सकी । हिन्डनबर्ग लाइन फौलाद की तरह से मजबूत थी । यद्यपि हजारों आदमी प्रति सप्ताह इस रणक्षेत्र में मारे जा रहे थे, पर न जर्मन आगे बढ़ सकते थे, और न उन्हें पीछे ही हटाया जा सकता था। युद्ध के अन्त तक इस रणक्षेत्र की प्रायः यही दशा रही ।

रूस में राज्यक्रांति---मार्च, १९१७ में रूस में राज्यक्रांति हो गई। रूस में जार (सम्राट्) का एकच्छत्र शासन था । वहां की जनता अशिक्षित, गरीब और पिछड़ी हुई थी । महायुद्ध ने यह साबित कर दिया, कि रूस की राजशक्ति बिल्कुल खोखली है। जार के राज्यच्युत होने के बाद जो सरकार रूस में कायम हुई, उसका अधिपति केरेन्स्की था। उसने एक बार फिर अपनी सैन्य शक्ति को संगठित कर गैलीसिया पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया। शुरू शुरू में इस प्रयत्न में उसे कुछ सफलता भी हुई। पर कुछ ही दिनों बाद उसका सब प्रयत्न विफल हो गया, और रूस की सेनायें जर्मनी की शक्ति के सामने खड़ी नहीं रह सकीं ।

रूस से सन्धि--केरेन्स्की की सरकार भी देर तक कायम नहीं रही । साम्यवाद का आन्दोलन रूस के मजदूरों व किसानों में बड़ा जोर पकड़ रहा था । साम्यवादी (कम्युनिस्ट) लोग समाज के संगठन में आमूलचूल परिवर्तन करना चाहते थे। लेनिन और ट्रॉटस्की के नेतृत्व में उन्होंने फिर क्रान्ति की, और ७ नवम्बर, १९१७ को केरेन्स्की का पतन हो गया । लेनिन की बोल्शेविक सरकार जर्मनी से युद्ध जारी रखना व्यर्थ समझती थी । उसने यह निर्णय किया, कि जर्मनी के साथ पृथक् रूप से सन्धि कर ली जाय। दिसम्बर, १९१७ में ब्रेस्ट-लिटोव्स्क नामक स्थान पर सन्धि-परिषद् प्रारम्भ हुई। जर्मनी इस परिषद् में विजेता के रूप में शामिल हुआ। युक्रेनिया, फिनलैण्ड, पोलैण्ड, लिथुएनिया, कूरलैण्ड, लिवोनिया और कौकेशस के कुछ प्रदेशों को रूस ने जर्मनी के सुपुर्द करना स्वीकार कर लिया । ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की इस सन्धि से विशाल रूसी साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। अनुमान किया गया है, कि उसके जो प्रदेश इस समय पृथक् हुए, उनमें सम्पूर्ण रूस की तिहाई जनता निवास करती थी, उसकी तीन चौथाई लोहे की खानें उन्हीं में स्थित थीं, और उसके सबसे समृद्ध व्यावसायिक नगर व खेती के मैदान उन्हीं में विद्यमान थे। रूस के युद्ध से निकल

जाने के कारण जर्मनी अब इस दशा में हो गया, कि अपनी सारी शक्ति पश्चिमी और दक्षिणी रणक्षेत्रों में लगा सके। उत्तर-पूर्व की ओर से अब उसे कोई भय न रहा था।

पश्चिमी रणक्षेत्र में घनघोर युद्ध—पर रूस के युद्ध से निकल जाने से मित्र-राष्ट्रों को जो क्षति पहुंची, वह अमेरिका के युद्ध में प्रविष्ट हो जाने से बहुत कुछ पूर्ण हो गई। अब जर्मनी की यह योजना थी, कि इससे पूर्व कि अमेरिकन सेनायें पर्याप्त संख्या में यूरोप पहुंच सकें, फ्रांस और इङ्गलैण्ड की सम्मिलित शक्ति को कुचल दिया जाय। हिन्डनबर्ग लाइन के सामने जो मित्रराष्ट्रों की मोरचा-बन्दी थी, उसका उत्तरी भाग अंग्रेजों के हाथ में था, और दक्षिणी भाग फ्रेंच लोगों के। जर्मनी ने यह कोशिश की, कि इन दो भागों के बीच में आक्रमण किया जाय, ताकि फ्रेंच और इङ्गलिश सेनाओं का आपस का सम्बन्ध टूट जाय, और वे एक दूसरे की मदद न कर सकें। इसी उद्देश्य से उसने अंग्रेजी मोरचाबन्दी के दक्षिणी हिस्से पर सॉम के प्रदेश पर फिर एक बार जबर्दस्त हमला किया। इस हमले में जर्मन सेनाओं को सफलता हुई। अंग्रेजी सेनाओं को विवश होकर आमीन तक पीछे हट जाना पड़ा। पर फ्रेंच सेनाओं ने तुरन्त उनकी सहायता की, और जर्मन हमले को आमीन पर रोक दिया गया। आमीन जर्मनों के हाथ पड़ने से बच गया। कहते हैं, कि इस युद्ध में चार लाख के लगभग आदमी काम आये। इतना जन-संहारक युद्ध शायद इससे पहले और कभी नहीं हुआ था।

मित्रराष्ट्रों का उद्योग—जर्मनों के इस हमले से मित्रराष्ट्रों ने यह विचार किया, कि उनकी सब सेना का संचालन एक सेनापति की अधीनता में होना चाहिये। जब तक सब मित्रराष्ट्रों की सेनायें मिलकर एक न हो जावेंगी, और परस्पर सहयोग से एक साथ काम न करेंगी, जर्मनी का मुकाबला सफलता के साथ न किया जा सकेगा। फ्रेंच सेनापति फर्डिनन्ड फॉच को सब मित्रसेनाओं का सेनापति नियत किया गया, और २८ मार्च, १९१८ को उसने यह उत्तरदायित्वपूर्ण पद संभाला। जनरल फॉच के चार्ज लेते ही अवस्था सुधरनी शुरू हो गई। ९ एप्रिल, १९१८ को जर्मन सेनाओं ने फिर हमला प्रारम्भ किया। यह हमला अर्रास और यॅप्र् के बीच में हुआ, और इसका उद्देश्य यह था, कि अंग्रेजों की मोरचा-बन्दी को तोड़कर कैले के बन्दरगाह तक पहुंचा जाय। पर अंग्रेजी सेनाओं ने बड़ी वीरता के साथ इसका मुकाबला किया, और जर्मन सेनायें कैले तक नहीं पहुंच सकीं। मई, १९१८ में जर्मन सेनाओं ने एक बार फिर पेरिस की दिशा में बढ़ने का उद्योग किया। सोआस्सों और शातो-थियेरी उन्होंने जीत लिया, और

पेरिस केवल चालीस मील रह गया । पर इस समय तक अमेरिकन सेनायें अपने मित्रों की सहायता के लिये फ्रांस पहुंच गई थीं । अमेरिकन सहायता के कारण फ्रांस और इङ्गलैण्ड की हिम्मत बहुत बढ़ गई । जुलाई, १९१८ तक दस लाख के लगभग अमेरिकन सैनिक फ्रांस में जम गये थे । अमेरिकन कारखाने बड़ी तेजी के साथ हथियार बनाने में लगे हुए थे, और बड़ी मात्रा में युद्धोपयोगी सामग्री यूरोप पहुंचने लगी थी ।

१५ जुलाई, १९१८ को जर्मन सेनाओं ने पूरे जोर के साथ पेरिस की तरफ बढ़ने का उद्योग किया । पर फ्रांस, इङ्गलैण्ड और अमेरिका की सम्मिलित शक्ति के सम्मुख उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी । धीरे धीरे मित्र-सेनाओं ने जवाब में आक्रमण शुरू कर दिये । सितम्बर, १९१८ तक यह स्थिति आ गई थी, कि जर्मन सेनायें एक बार फिर हिन्डनबर्ग लाइन की अपनी मजबूत मोरचाबन्दी पर पीछे हट जाने के लिये विवश हो गई । पर मित्र-सेनायें जर्मनों को हिन्डनबर्ग लाइन तक धकेल कर ही संतुष्ट नहीं हुईं, उन्होंने कुछ स्थानों पर इस विकट मोरचाबन्दी को तोड़ भी डाला ।

जर्मनी की घटती कला—न केवल पश्चिमी रणक्षेत्र में, अपितु दक्षिणी व अन्य रणक्षेत्रों में भी इस समय जर्मनी की घटती कला का प्रारम्भ हो गया था । यद्यपि रूस हथियार डाल चुका था, पर ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की सन्धि द्वारा जिन रूसी प्रदेशों पर जर्मनी का अधिकार हुआ था, उनमें अव्यवस्था और अराजकता व्याप रही थी । यूक्रेनिया के लोग जर्मन शासन से बहुत असंतुष्ट थे । वे अपने देश में एक स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना के लिये उत्सुक थे, और मित्रराष्ट्र इस कार्य में उनकी पूरी तरह सहायता कर रहे थे । फिनलैण्ड में गृह-कलह जारी था । रूस की बोल्शेविक सरकार भी चैन से नहीं बैठी थी । उसके विरुद्ध अनेक विद्रोह हो रहे थे, और मित्रराष्ट्र बोल्शेविकों के विरुद्ध किये गये सब प्रयत्नों की सहायता करने के लिये सदा उद्यत थे ।

बल्गेरिया का आत्मसमर्पण—जनरल फॉच ने अपनी शक्ति को केवल पश्चिमी रणक्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा । उसने बाल्कन प्रायद्वीप में एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया, जिसमें सर्बियन, ग्रीक, इङ्गलिश, फ्रेंच और अमेरिकन सब शामिल थे । इस समय सम्पूर्ण सर्बिया जर्मनी व उसके साथियों के अधिकार में था । पर अब जर्मनी व आस्ट्रिया इस स्थिति में नहीं रह गये थे, कि बाल्कन प्रायद्वीप में अपनी सेनाओं को बड़ी संख्या में भेज सकते । अतः बाल्कन में केन्द्रीय राज्यों की तरफ से लड़ने की सब जिम्मेदारी बल्गेरिया

के ऊपर आ गई। पर अकेले बल्गेरिया के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह मित्रराष्ट्रों की शक्तिशाली सेना का मुकाबला कर सके। २९ सितम्बर, १९१८ को उसने हथियार डाल दिये और सन्धि की प्रार्थना की। इस शर्त पर इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया गया, कि बल्गेरिया बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दे। बल्गेरिया की सेना छिन्न-भिन्न कर दी गई और उसे यह स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ा, कि उसके प्रदेश, रेलवे व अन्य आर्थिक साधनों को आस्ट्रिया-हंगरी तथा टर्की के खिलाफ लड़ाई के लिये प्रयुक्त किया जा सकेगा।

टर्की का आत्मसमर्पण—बल्गेरिया के आत्मसमर्पण से टर्की अपने अन्य साथियों से अलग पड़ गया था। यह स्पष्ट था, कि वह अकेला शक्तिशाली मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ाई जारी नहीं रख सकेगा। इसी बीच में तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत अरब प्रदेशों में विद्रोह शुरू हो चुका था। फ्रांस और इङ्गलैण्ड के कूट-नीतिज्ञ जहां अरबों को टर्की के विरुद्ध विद्रोह करके अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिये भड़का रहे थे, वहां इन देशों की सेनायें तुर्की सेनाओं को परास्त करके पीछे खदेड़ने में भी लगी थीं। मैसोपोटामिया, सीरिया आदि पर मित्र-सेनाओं का कब्जा हो गया था। इस दशा में ३१ अक्टूबर, १९१८ को टर्की ने भी आत्मसमर्पण कर दिया।

आस्ट्रिया का आत्मसमर्पण—अब यह स्पष्ट था, कि जर्मनी देर तक रणक्षेत्र में नहीं रह सकेगा। उसकी जनता यह अनुभव करने लगी थी, कि जर्मन सरकार अपने प्रयत्नों में असफल हो रही है। संसार के इतने सारे राज्यों की सम्मिलित शक्ति का मुकाबला जर्मनी व आस्ट्रिया-हंगरी कब तक कर सकते थे? आस्ट्रिया-हंगरी की आन्तरिक दशा बड़ी निर्बल थी। इस पुराने साम्राज्य का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत केवल सम्राट् की केन्द्रीय शक्ति के आधार पर हुआ था। आस्ट्रिया-हंगरी के राज्य में चेक, स्लोवाक, युगोस्लाव आदि कितनी ही जातियां निवास करती थीं। वे सब इस प्रयत्न में लगी थीं, कि महायुद्ध से लाभ उठाकर अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करें। मित्रराष्ट्र उनके इस प्रयत्न से न केवल सहानुभूति रखते थे, पर उन्हें क्रियात्मक सहायता देने के लिये भी प्रयत्नशील थे। आस्ट्रिया-हंगरी में सर्वत्र विद्रोह की चिनगारियां प्रगट हो रही थीं। आस्ट्रियन सम्राट् की सब शक्ति इन विद्रोहों से निबटने में ही लगी हुई थी। जर्मनी की कोई ठोस सहायता कर सकना उसके लिये सम्भव नहीं रहा था। जर्मनी को अपनी पनडुब्बियों पर बड़ा भरोसा था। पर ये पनडुब्बियां

इङ्गलैण्ड को घुटने टेक देने के लिये विवश नहीं कर सकीं। अमेरिकन जहाज जर्मनी के द्वारा डाली जानेवाली बारूद की खानों व अन्य हथियारों का मान मर्दन करते हुए खुले तौर पर अटलाण्टिक महासागर को पार कर रहे थे। पश्चिमी रणक्षेत्र में भी जर्मनी ने मार खाना शुरू कर दिया था।

इस दशा में आस्ट्रिया-हंगरी देर तक युद्ध में शामिल नहीं रह सका। ७ अक्टूबर, १९१८ को उसकी सरकार ने राष्ट्रपति विल्सन के पास एक आवेदन पत्र भेजा, जिसमें सन्धि के लिये प्रार्थना की गई थी। इसी समय, इटालियन सेनायें बड़ी तेजी के साथ आस्ट्रिया पर आक्रमण करने में लगी थीं। उन्होंने न केवल आस्ट्रियन सेनाओं को उत्तरी इटली के उन प्रदेशों से बाहर निकाल दिया, जहां वे लड़ाई के शुरू के दिनों में कब्जा कर चुकी थीं, अपितु ट्रेन्ट और ट्रिएस्ट पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस दशा में आस्ट्रिया के लिये युद्ध को जारी रखना व्यर्थ था। ३ नवम्बर, १९१८ के दिन उसने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया। पर इस समय तक आस्ट्रिया-हंगरी का प्राचीन राज्य यूरोप के नक्शे से दूर हो चुका था। उसके अन्तर्गत जो विविध जातियां निवास करती थीं, उन्होंने अपने अपने स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण कर लिया था। चैको-स्लोवाकिया और युगोस्लाविया नाम के दो नये राष्ट्र प्रगट हो गये थे, और हंगरी भी अपना पृथक् राज्य बनाने के प्रयत्न में था। इस दशा में आस्ट्रिया-हंगरी के गौरवमय सम्राट् के लिये, जो पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य की परम्परा को अब तक सुरक्षित रखे हुए था, राजसिंहासन पर आरूढ़ रहना सर्वथा निरर्थक था। ११ नवम्बर को उसने राजगद्दी का परित्याग कर दिया।

६. महायुद्ध का अन्त

जर्मनी का पराजय—अब जर्मनी के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह युद्ध को जारी रख सके। जर्मनी के सैनिक नेताओं को भी यह भलीभांति समझ में आ गया था, कि युद्ध को जारी रखना सर्वथा व्यर्थ है। इसीलिये अक्टूबर, १९१८ में उनकी तरफ से राष्ट्रपति विल्सन के साथ सन्धि के लिये बातचीत शुरू कर दी गई। यह बातचीत स्विट्जरलैण्ड की सरकार की मार्फत शुरू की गई थी। विल्सन ने यह स्पष्ट रूप से जता दिया, कि सन्धि के लिये जर्मनी को बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण करना होगा। साथ ही, इस बात

की भी व्यवस्था करनी होगी, कि जर्मनी फिर लड़ाई शुरू न कर सके। जर्मन सम्राट् और युवराज को अब भी यह आशा थी, कि वे अपनी सरकार की रक्षा कर सकेंगे। इसलिये उन्होंने मित्रराष्ट्रों को यह सूचित किया, कि वे जर्मनी की सरकार व अफसरों में भारी परिवर्तन करने के लिये उद्यत हैं। इसी लिये उन्होंने जनरल लुडनडार्फ को पदच्युत कर दिया। लुडनडार्फ जर्मन सेना का प्रमुख सेनापति था, और मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध बहुत सी लड़ाइयों का उसने संचालन किया था।

जर्मनी से राजसत्ता का अन्त—पर इस बीच में जनरल फाँच के नेतृत्व में मित्रसेनायें निरन्तर आगे बढ़ रही थीं। जर्मन सेनाओं के लिये उनका मुकाबला करना कठिन हो रहा था। इस दशा में ९ नवम्बर, १९१८ को जर्मन सम्राट् विलियम द्वितीय के राजसिंहासन परित्याग के समाचार से सारा संसार आश्चर्य-चकित रह गया। वस्तुतः अब जर्मन सम्राट् ने यह अनुभव कर लिया था, कि जर्मनी की अवस्था उसके काबू से बाहर हो गई है, और राजगद्दी छोड़ देने में ही उसका और उसके देश का कल्याण है। इस प्रकार प्रशिया के प्राचीन होहेन्ट्सोलर्न राजवंश का अन्त हुआ। अगले दिन जर्मनी में राज्यक्रान्ति हो गई, और फीडरिख एबर्ट नाम के एक साम्यवादी नेता के नेतृत्व में नई जर्मन सरकार का संगठन हुआ। जर्मनी में राजसत्ता का अन्त हो गया।

युद्ध का अन्त—इस बीच में जनरल फाँच के साथ सन्धि की बातचीत जारी थी। जर्मन सरकार के प्रतिनिधि ८ नवम्बर, १९१८ को जनरल फाँच से आकर मिले। उसी दिन उन्हें सन्धि की शर्तें पेश कर दी गईं। इस सन्धि की मुख्य मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) जर्मनी की सेनाओं ने जिन जिन प्रदेशों पर अधिकार किया हुआ था, उन सबको दो सप्ताह के अन्दर अन्दर खाली कर दे। इन प्रदेशों में मुख्यतया बेल्जियम, लुक्समबुर्ग और उत्तर-पूर्वी फ्रांस सम्मिलित थे। साथ ही आल्सेस-लारेन के प्रदेश भी दो सप्ताह के अन्दर अन्दर खाली कर दिये जावें। (२) जर्मन सेनायें र्‌हाइन नदी के पूर्वी तट पर चली जावें। र्‌हाइन नदी के पश्चिम में जर्मनी का जो प्रदेश है, उस पर मित्रराष्ट्रों का कब्जा हो जाय। (३) आस्ट्रिया-हंगरी, रूमानिया, टर्की और रूस में जो कोई भी जर्मन सेनायें हों, उन्हें तुरन्त वहां से हटा लिया जाय। (४) जर्मनी के जो भी जंगी जहाज, पनडुब्बियां व अन्य युद्ध सामग्री हैं, वे सब मित्रराष्ट्रों के सुपुर्द कर दी जावें। (५) र्‌हाइन नदी के पश्चिम की ओर जो भी रेलवे, सड़कें व खानें आदि हैं, वे सब मित्रराष्ट्रों के अधिकार में दे दी जावें। इन शर्तों को

नई जर्मन सरकार ने तुरन्त स्वीकार कर लिया, और ११ नवम्बर, १९१८ को सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर हो गये ।

इस प्रकार इस भयंकर विश्वव्यापी महायुद्ध का अन्त हुआ ।

७. महायुद्ध की कतिपय विशेषतायें

१९१४-१८ के महायुद्ध के इतिवृत्त को समाप्त करने से पूर्व यह आवश्यक है, कि इसकी कुछ विशेषताओं पर विचार किया जाय । विज्ञान की उन्नति के कारण बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में कुछ ऐसे साधन मनुष्य के हाथ में आ गये थे, जिनसे यह महायुद्ध इतिहास के अन्य सब युद्धों से कुछ विशेषतायें रखता है ।

(१) **जहरीली गैसों का प्रयोग**—इतिहास में यह पहला अवसर था, जब शत्रु को पराजित करने के लिये जहरीली गैसों का बड़े परिमाण में उपयोग किया गया । पहले जर्मनी के वैज्ञानिकों ने इन गैसों का आविष्कार किया और उनका रणक्षेत्र में प्रयोग शुरू किया । बाद में मित्रराष्ट्रों ने भी अनेक नई प्रकार की जहरीली गैसों का आविष्कार कर उनका जर्मनी के विरुद्ध उपयोग किया । अनेक ऐसे बम्ब बनाये गये जो फट जाने के बाद वायु को विषाक्त कर देते थे, और न केवल सैनिक, अपितु सर्वसाधारण नागरिक भी उनके घातक प्रभाव से बच सकने में असमर्थ होते थे । जहरीली गैसों से बचने के लिये अनेक प्रकार के नकाब (मास्क) भी इस समय में बनाये गये और ये मास्क सैनिकों की वर्दी के नियमित रूप से अंग बन गये । सर्वसाधारण नागरिकों को भी इनका प्रयोग सिखाया गया, ताकि शत्रु द्वारा जहरीली गैस का प्रयोग होने पर वे उससे अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सकें ।

(२) **वायुयान**—आजकल वायुयान एक साधारण बात हो गये हैं । पर १९१४ में वे मनुष्य-जाति के लिये एकदम नई चीज थे । युद्ध के लिये वायुयानों का पहलेपहल प्रयोग १९१४-१८ के महायुद्ध में ही किया गया । आकाश-मार्ग में चलनेवाले इन यानों का आविष्कार सन् १९०८ में हुआ था । युद्ध शुरू होने पर यह स्वाभाविक था, कि स्थल और जल में चलनेवाले यानों के समान इनका भी लड़ाई के लिये उपयोग किया जाय । १९१४ में वायुयानों का आकार इतना छोटा होता था, कि उनमें केवल एक आदमी बैठ सकता था । इस दशा में उनका प्रयोग केवल इस काम के लिये किया जा सकता था, कि शत्रु की छावनी के ऊपर उड़कर यह मालूम किया जाय, कि शत्रु की सेना किस ढंग से युद्ध की तैयारी में व्यस्त है । अगले साल १९१५ में वायुयानों के आकार अधिक बड़े

हो गये, और शत्रु पर बम्ब गिराने का काम उनसे लिया जाने लगा। आकाश से बम्ब गिराकर शत्रु के विनाश का प्रयत्न करना इतिहास में एक नई बात थी। दोनों पक्षों की ओर से हवाई जहाजों की उन्नति पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया और १९१६ तक यह दशा आ गई थी, कि वायुयानों की टुकड़ियां नियमित रूप से व्यूह रचना कर शत्रु पर आक्रमण करती थीं, और जल व स्थल के समान आकाश में भी बाकायदा लड़ाई होनी शुरू हो गई थी।

(३) प्रचार द्वारा युद्ध—१९१४-१८ के महायुद्ध में केवल अस्त्र-शस्त्रों द्वारा ही लड़ाई नहीं हुई, अपितु कागज के गोलों ने भी बहुत काम किया। लोकतन्त्रवाद के इस युग में यह बहुत जरूरी था, कि सर्वसाधारण जनता में युद्ध के लिए उग्र उत्साह का संचार किया जाय। पुराने जमाने में युद्ध करना सैनिकों का काम होता था, जनता का उससे अधिक सम्बन्ध नहीं होता था। पर व्यावसायिक उन्नति और वैज्ञानिक आविष्कारों के इस युग में वही देश विजय की आशा कर सकता था, जिसके कारखाने न केवल अस्त्र-शस्त्रों को अधिक से अधिक मात्रा में उत्पन्न कर सकें, अपितु उस सब सामग्री को तैयार कर सकें, जिसकी सैनिकों को आवश्यकता होती है, व जिसका देश की रक्षा व शत्रु के विनाश के लिये प्रयोग किया जा सकता है। जिस समय सैनिक लोग रणक्षेत्र में लड़ रहे होते थे, कारखानों और खेतों में काम करनेवाले लोग भी ऐसे काम में व्यस्त रहते थे, जिसका महत्त्व सैनिक कार्य से किसी भी प्रकार कम नहीं था। १९१४-१८ के महायुद्ध में सम्पूर्ण जनता ही युद्ध के प्रयत्न में व्यस्त रहती थी। प्रचार द्वारा उसे यह समझाया जाता था, कि यह युद्ध मानव सभ्यता, धर्म, लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता की रक्षा के लिये है। ब्रिटेन और फ्रांस के प्रचार विभाग जनता से कहते थे, जर्मनी और उसके साथी देश मानव समाज के शत्रु हैं, वे सभ्यता और धर्म के विनाश के लिये तुले हुए हैं। बेल्जियम को जीत कर वहां के लोगों पर उन्होंने अमानुषिक अत्याचार किये, पादरियों को जेल में डाल दिया, चर्च को भ्रष्ट किया और यदि युद्ध में इन नर-राक्षसों की विजय हो गई, तो किसी भी मनुष्य का जीवन सुरक्षित नहीं रह जायगा। जर्मनी भी अपने शत्रुओं के विरुद्ध इसी ढंग के प्रचार में लगा था। ब्रिटेन और फ्रांस के पक्ष में जो संसार के बहुसंख्यक देश शामिल हुए, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था, कि उनका प्रचार विभाग अधिक कुशल था। अमेरिका आदि तटस्थ देश ब्रिटेन और फ्रांस के प्रचार विभाग की उत्कृष्टता के

कारण सचमुच यह समझने लगे थे, कि इस पक्ष के राज्यों का उद्देश्य वस्तुतः मानव सभ्यता की रक्षा करना है। आस्ट्रिया-हंगरी और टर्की के साम्राज्यों में जिन विविध जातियों का विकास था, वे सब युद्ध के समय विद्रोह करने के लिये तैयार हो गई थीं, और इन्हें विद्रोह के लिये प्रेरित करने में मित्रराष्ट्रों के प्रचार विभाग का बड़ा हाथ था।

विज्ञान की सहायता से इस समय पनडुब्बी आदि जिन नये साधनों का प्रयोग हुआ, उनका उल्लेख हम इस अध्याय में पहले कर चुके हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि १९१४-१८ का यह युद्ध वैज्ञानिक साधनों द्वारा लड़ा गया था, और युद्ध-कार्य में विज्ञान का इतने बड़े परिमाण में उपयोग इतिहास में एक नई बात थी।

इकतालीसवां अध्याय

शान्ति की स्थापना

१. शान्ति सम्बन्धी समस्यायें

राज्यों के पुनःनिर्माण की समस्या--महायुद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व यूरोप में अनेक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें थीं, जिनके कारण विविध राज्यों में परस्पर असन्तोष और विरोध बना रहता था। बिस्मार्क के नेतृत्व में जब जर्मनी का उत्कर्ष हुआ, तो आलसेस-लारेन के प्रदेश पर उसने अपना अधिकार कर लिया था। फ्रांस समझता था, कि यह प्रदेश फ्रेंच राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, और वह उसे मिलना ही चाहिए। पोलैण्ड के देशभक्तों की यह आकांक्षा थी, कि उनका देश एक स्वतन्त्र व पृथक् राष्ट्र के रूप में प्रगट हो। रूस, आस्ट्रिया और जर्मनी ने पोलैण्ड का अंग-भंग कर उसे तीन टुकड़ों में बांट दिया था। क्रोटिया, बोस्निया और स्लावोनिया के निवासी यह समझते थे, कि स्लाव लोगों का अपना पृथक् राज्य होना चाहिए, और आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के अन्तर्गत उनका रहना राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के विपरीत है। चेक लोग भी यही समझते थे। इटली इस बात से असन्तुष्ट था, कि उसका अपना कुछ प्रदेश अभी तक भी आस्ट्रिया के पंजे से मुक्त नहीं हुआ है। वह इस बात के लिये उत्सुक था, कि इन प्रदेशों को, जैसे भी हो सके अपने राष्ट्र में सम्मिलित करे। बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्य अपनी राष्ट्रीय सीमाओं से असन्तुष्ट थे। रूमानिया चाहता था, कि ट्रांसिलवेनिया और बुकोविना के प्रदेश उसे मिलने चाहियें। बल्गेरिया और सर्बिया में राष्ट्रीय सीमा के लिये विकट झगड़ा था। रूस चाहता था, कि कान्स्टेन्टिनोपल उसके प्रभाव में रहे, और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य से होकर भूमध्यसागर तक पहुंच सकने में उसके मार्ग में कोई बाधा न हो।

अब महायुद्ध के परिणामस्वरूप ये अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें और भी गम्भीर रूप धारण कर गई थीं। तुर्की साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने से यह प्रश्न उत्पन्न हो गया था, कि सीरिया, मैसोपोटामिया व अन्य अरब प्रदेशों की क्या

व्यवस्था की जाय। सुदूर पूर्व में जापान की यह कोशिश थी, कि चीन में वह अपने प्रभाव का विस्तार करे। जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई में शामिल होकर उसे इसके लिए अनुपम अवसर मिल गया था। जर्मनी के लोग कहते थे, कि ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त होना चाहिये, और भारत तथा आयर्लैण्ड को स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। युद्ध की प्रगति के साथ-साथ योरप के विविध राष्ट्रों की सीमायें तथा स्थिति बड़ी तेजी के साथ परिवर्तित हो गई थीं। बेल्जियम, लक्सम्बुर्ग, उत्तर-पूर्वी फ्रांस, मान्टिनिग्रो और रूमानिया पर जर्मनी व उसके साथियों का कब्जा हो गया था। अफ्रीका में स्थित जर्मनी के सब उपनिवेश ब्रिटेन या फ्रांस के हाथ में आ गये थे, और चीन तथा प्रशान्त महासागर के सब जर्मन प्रदेश जापान या आस्ट्रेलिया के अधिकार में थे। अब प्रश्न यह था, कि इन राज्यों या प्रदेशों के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की जाय? महायुद्ध की समाप्ति पर शान्ति की स्थापना करते हुए दोनों पक्षों के राज्यों को यह निर्णय करना था, कि युद्ध के परिणाम-स्वरूप जो भारी उथल-पुथल हुई है, उसका क्या किया जाय।

विविध राज्यों को एक संगठन में संगठित करने का प्रश्न—पर इन सब समस्याओं से अधिक गम्भीर व महत्त्वपूर्ण समस्या यह थी, कि युद्धों का अन्त किस प्रकार किया जा सकता है। विज्ञान की उन्नति के कारण अनेक ऐसे अस्त्र-शस्त्र व युद्ध के साधन आविष्कृत हो गये थे, जिनसे अब युद्ध बहुत ही भयंकर व संहारक हो गया था। इस महायुद्ध में लाखों आदमी मृत्यु को प्राप्त हुए, करोड़ों घायल हुए और अपार सम्पत्ति का विनाश हुआ। संसार के राजनीतिज्ञों के सामने यह प्रश्न सबसे महत्त्व का था, कि क्या कोई ऐसा उपाय नहीं, जिससे युद्धों के अतिरिक्त अन्य उपायों से विविध राज्य आपस के झगड़ों का फैसला कर सकें। जैसे राज्यसंस्था के निर्माण से पूर्व मनुष्यों के पास आपस के झगड़ों को निबटाने के लिए आपस में लड़ने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था, वैसे ही अब राज्य भी आपस के झगड़े लड़ाई द्वारा ही निबटाते थे। पर क्या यह सम्भव नहीं, कि इस अन्तर्राष्ट्रीय 'मात्स्यन्याय' का अन्त कर विविध राज्य आपस में सहयोग के साथ रह सकें, और अपने हितों की रक्षा तथा आपस के झगड़ों का निर्णय करने के लिये एक विश्व-राज्यसंस्था का निर्माण कर सकें।

विश्व की एकता—विज्ञान की उन्नति के कारण मनुष्य ने देश और काल पर जो अद्भुत विजय प्राप्त कर ली थी, उसके कारण राज्यों की आपस की दूरी व भिन्नता भी अब दूर होती जाती थी। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के साथ राष्ट्रीयता की जिस भावना का प्रादुर्भाव हुआ था, उन्नीसवीं सदी में वह यूरोप की सबसे

प्रबल राजनीतिक शक्ति बन गई थी। पर अब रेल, तार, मोटर व यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले जहाज और वायुयान आदि के आविष्कार के कारण तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकसित हो जाने से विविध राज्य एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। नैपोलियन के समय में अटलाण्टिक महासागर को पार करने में एक महीने से भी अधिक समय लगता था। पर अब १९१९ में यही दूरी छः दिन से भी कम समय में पार की जा सकती थी। लोगों को यह भी आशा थी, कि वायुयानों में कुछ और उन्नति हो जाने पर अटलाण्टिक को पार करना कुछ दिनों का नहीं, अपितु कुछ घंटों का ही काम रह जायगा। पुराने जमाने में महासागर राष्ट्रों को एक दूसरे से अलग करने में सहायक होते थे। उन्हें पार करके दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना एक अत्यन्त कठिन बात होती थी। पर अब महासागर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वृद्धि के लिये तथा आने-जाने के लिये राजपथ का काम करते हैं। महायुद्ध से पहले पेरिस से कान्स्टेन्टिनोपल तक या पेरिस से मास्को तक नियमित रूप से रेलगाड़ियां चलती थीं, इनकी चाल ५० मील प्रति घंटा तक होती थी। पर वीएना की कांग्रेस (१८१४) के समय कोई ऐसा यान नहीं था, जो घोड़े की चाल की अपेक्षा तेजी से चल सकता हो। पर अब तार और टेलीफोन द्वारा संसार के किसी भी नगर से कुछ ही क्षणों में सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता था। किसी समाचार को पेरिस से न्यूयार्क या टोकियो पहुंचने में अब उतना भी समय नहीं लगता था, जितना कि लुई १८वें को पेरिस में ही अपने महल से किसी दूसरी जगह पर कोई सन्देश भेजने में लगाना आवश्यक था।

विश्व-संस्कृति का विकास—अब संसार के विविध राज्य एक दूसरे पर बहुत आश्रित हो गये थे। व्यवसाय और व्यापार की वृद्धि के कारण कुछ देशों में कपड़ा और लोहा अधिक मात्रा में उत्पन्न होने लगा था, क्योंकि उनके आर्थिक साधन इन व्यवसायों के लिये अधिक अनुकूल थे। वे अनाज के लिये दूसरे देशों पर आश्रित रहते थे। शायद ही कोई देश अब बीसवीं सदी में ऐसा बच रहा था, जो अपनी सब आवश्यकतायें स्वयं उत्पन्न कर लेता हो, और जिसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आश्रित न रहना पड़ता हो। फिर, प्रेस के आविष्कार के कारण पुस्तकों का मुद्रण व प्रचार बहुत बढ़ गया था। शैक्स्पियर (इङ्गलैण्ड), शिलर (जर्मनी) और वाल्टेयर (फ्रांस) आदि की पुस्तकों का संसार की प्रायः सभी भाषाओं में अनुवाद हो गया था, और लोग दूसरे देशों के विद्वानों के विचारों और साहित्य को पढ़कर एक दूसरे के अधिक समीप आने लग गये थे। एक प्रकार

की 'विश्व-संस्कृति' का विकास होने लगा था, और विविध राष्ट्रों के बीच में भाषा, धर्म व संस्कृति की भिन्नता के कारण जो खाई सी बनी रहती है, वे अब धीरे-धीरे पटने लग गई थीं।

इसलिये महायुद्ध की समाप्ति पर संसार के विविध राज्यों के सम्मुख एक बड़ा प्रश्न यह विद्यमान था, कि अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर कौन से ऐसे कदम उठाये जा सकते हैं, जिनसे राष्ट्रीय स्वाधीनता को कायम रखते हुए भी विविध राज्य एक ऐसे संगठन के सूत्र में बंध जावें, जो उनके आपस के झगड़ों को शान्तिमय उपायों से निबटाता रह सके। 'राष्ट्रसंघ' के निर्माण का विचार इस समय बल पकड़ता जाता था।

फिर, वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण विविध देशों ने ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया था, जो न केवल बीभत्स रूप से संहारक थे, अपितु अत्यन्त महंगे भी थे। अब वह जमाना नहीं रहा था, जब सैनिक लोग तीर-कमान या ढाल-तलवार या गोली-बन्दूक लेकर लड़ाई के मैदान में आ जावें। अब युद्ध के लिये टैंक, हजारों टन वजन के जंगी जहाज, रासायनिक गैस और हवाई जहाजों की आवश्यकता होती थी, जिनके निर्माण के लिये अरबों रुपया अपेक्षित था। राजकीय आमदनी का बहुत बड़ा भाग अब युद्धोपयोगी सामग्री के जुटाने में व्यय होने लगा था और संसार के सभ्य राज्य यह सोचने लगे थे, कि एक दूसरे के विनाश के लिये राष्ट्रीय सम्पत्ति को इस प्रकार पानी की तरह बहाना कहां तक उचित और न्यायसंगत है। इसके लिये आपस के समझौते से हथियारों की वृद्धि को नियन्त्रित करना और सेनाओं को घटाने का प्रश्न भी बड़े महत्त्व का था।

सामयिक सन्धियों द्वारा १९१८ के समाप्त होने से पूर्व यूरोप के सभी रणक्षेत्रों में लड़ाई बन्द हो गई थी। पर अभी शान्ति की स्थापना नहीं हुई थी। अब संसार के राजनीतिज्ञों के सम्मुख यही कार्य था, कि वे जहां विविध राज्यों के आपस के विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करें, वहां साथ ही ऐसे भी कदम उठावें, जिनसे विश्व में शान्ति यदि शाश्वत रूप से नहीं, तो चिर रूप से तो अवश्य स्थापित रहे।

२. युद्ध के मध्य में शान्ति के प्रयत्न

जर्मनी द्वारा शान्ति स्थापना का यत्न—दिसम्बर, १९१६ में जब जर्मनी और उसके साथियों का पलड़ा भारी था, जब उन्होंने पोलैण्ड, सर्बिया और रूमानिया पर कब्जा किया हुआ था, और ऐसा प्रतीत होता था, कि फ्रांस और

उसके साथियों की पराजय अवश्यम्भावी है, तो जर्मनी की ओर से शान्ति का प्रयत्न किया गया। उसने प्रस्ताव किया, कि दोनों पक्षों के प्रतिनिधि किसी तटस्थ देश में एकत्र हों, और परस्पर समझौते की शर्तों को तय करें। पर मित्रराज्यों ने इस प्रस्ताव पर कोई ध्यान नहीं दिया। वे भलीभांति जानते थे, कि इस समय सन्धि की बात चलाना जर्मनी को मनमानी करने की खुली छुट्टी देना है। जर्मनी ने मित्रराज्यों के इस रुख का संसार के लोकमत को अपने पक्ष में करने के लिये पूरी तरह से उपयोग किया। जर्मन सम्राट् ने उद्घोषित किया, कि मित्र-राष्ट्र युद्ध के लिये और संसार भर पर अपना आधिपत्य कायम करने के लिये कटिबद्ध हैं, और वे शान्ति व समझौते की बात तक भी चलाने के लिये उद्यत नहीं। वे जर्मनी को कुचल देना चाहते हैं। अतः आत्मरक्षा के लिये सब प्रकार के उपायों का अवलम्बन करना जर्मनी के लिये अनिवार्य है। पनडुब्बियों और बारूद की सुरंगों द्वारा जहाजों को डुबा देने की जो प्रक्रिया जर्मनी ने शुरू की, उसके लिये उसके पास यही सबसे बड़ी युक्ति थी।

राष्ट्रपति विलसन का प्रयत्न—इससे पूर्व कि मित्रराज्यों ने जर्मनी के सन्धि-प्रस्ताव को अस्वीकृत किया, अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने १८ दिसम्बर, १९१६ को दोनों पक्षों की सरकारों के पास एक आवेदन पत्र भेजा जिसमें उसने यह लिखा, कि ऐसा प्रतीत होता है, कि दोनों पक्ष शान्ति चाहते हैं, और इस बात पर भी सहमत हैं, कि छोटे राज्यों की रक्षा होनी चाहिये और संसार के विविध राज्यों को शान्ति की रक्षा के लिये एक प्रकार के विश्वसंघ में भी संगठित होना चाहिये। पर अभी तक किसी भी पक्ष ने यह स्पष्ट रूप से प्रगट नहीं किया, कि युद्ध में सम्मिलित होने के उसके उद्देश्य क्या हैं? अतः उचित यह है, कि पहले दोनों पक्ष अपनी नीति और उद्देश्यों को स्पष्ट कर दें, और फिर शान्ति-स्थापना के लिये सबके प्रतिनिधि एक सभा में एकत्र हों। जर्मनी इस प्रस्ताव से सहमत था, पर मित्रराज्य इसके लिये भी उद्यत नहीं हुए। राष्ट्रपति विलसन के आवेदन का उत्तर देते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया, कि शान्ति स्थापना के लिये निम्न-लिखित बातें आवश्यक हैं—(१) युद्ध में जर्मनी व उसके साथियों ने जिन प्रदेशों पर अधिकार किया है, उन सबको वे खाली कर दें। (२) युद्ध में जो धन और जन की हानि हुई है, उसके लिये जर्मनी हरजाना दे। (३) वर्तमान युद्ध से पहले भी जर्मनी व उसके साथियों ने जिन प्रदेशों पर उनकी जनता की सम्मति के विरुद्ध कब्जा किया हुआ था, उन सबको खाली कर दिया जाय। (४) राज्यों का पुनः निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को आधार माना जाय, और इसके

अनुसार आल्सेस-लारेन के प्रदेश फ्रांस को और त्रिएस्त का प्रदेश इटली को दिया जाय। आस्ट्रिया की अधीनता से स्लाव व चेक लोगों को मुक्त करके उनके पृथक् व स्वतन्त्र राज्य कायम किये जायें। पोलैण्ड की स्वतन्त्रता पुनः स्थापित की जाय, और टर्की के साम्राज्य का अन्त कर उसके अधीनस्थ प्रदेशों को स्वतन्त्र कर दिया जाय। साथ ही जर्मनी के उपनिवेशों को उसकी अधीनता से मुक्त कर दिया जाय।

जर्मनी व उसके साथी इन शर्तों को कैसे स्वीकृत कर सकते थे ? विशेषतया, उस समय में जब कि सैनिक दृष्टि से उन्हें निरन्तर सफलता प्राप्त हो रही थी। उन्होंने घृणा के साथ मित्रराज्यों के प्रस्ताव को ठुकरा दिया, और राष्ट्रपति विल्सन ने जिस प्रयत्न को प्रारम्भ किया था, वह सफल नहीं हो सका। मार्च, १९१७ में रूस में राज्यक्रान्ति हो जाने से जर्मनी की शक्ति और भी बढ़ गई। उत्तर व पूर्व में युद्ध बन्द हो जाने से जर्मनी अपनी सारी शक्ति को पश्चिम व दक्षिण के युद्धक्षेत्रों में लगा देने में समर्थ हुआ और कुछ समय के लिये उसकी शक्ति अजेय प्रतीत होने लगी। इस बीच में अमेरिका की सहानुभूति निरन्तर मित्रराज्यों के पक्ष में बढ़ती जाती थी। इसके कारणों पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

पोप का प्रयत्न—रूस की राज्यक्रान्ति द्वारा एक प्रकार की नास्तिकता की लहर का भी प्रारम्भ हुआ था। वहां के बोलशेविक (साम्यवादी या कम्युनिस्ट) लोग समझते थे, कि क्रिश्चियन चर्च सदा राजाओं की स्वच्छन्द सत्ता और पूंजी-पतियों का साथ देता रहा है। पुराने जमाने के साथ संघर्ष करते हुए उनका चर्च से भी विरोध हो गया और यूरोप के रोमन कैथोलिक चर्च के प्रमुख पोप ने यह अनुभव किया, कि ईसाई धर्म के ऊपर बोलशेविक क्रान्ति द्वारा जो एक नई विपत्ति आई है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है, कि ईसाई धर्म का अनुसरण करनेवाले विविध यूरोपियन राज्य आपस के इस युद्ध को बन्द कर दें, और परस्पर मिलकर अपने झगड़ों को निबटा लें। उसने १ अगस्त, १९१७ को दोनों पक्षों के सम्मुख एक सन्धि-प्रस्ताव रखा, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सैनिक शक्ति की अपेक्षा नैतिक शक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाय। (२) सब मिलकर हथियारों को कम करने का निर्णय करें। (३) समुद्र के मार्ग सबके लिये स्वतन्त्र व खुले हों। (४) आपस के झगड़ों को निबटाने के लिये पंचायत की पद्धति का आश्रय लिया जाय। (५) कौन सा प्रदेश किस राज्य के अन्तर्गत हो, इसका फैसला वहां के निवासियों की सम्मति

के आधार पर हो। (६) युद्ध के लिये किसी से कोई हरजाना न लिया जाय। (७) युद्ध से पहले जो प्रदेश जिसके पास था, वह उसे फिर लौटा दिया जाय।

पोप के इस सन्धि-प्रस्ताव का उत्तर राष्ट्रपति विल्सन ने दिया। उसकी सम्मति में मित्रराज्यों और जर्मनी व उसके साथियों को एक दृष्टि से देखना युक्तिसंगत नहीं था। जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गेरिया और टर्की में लोकतन्त्र शासन नहीं थे। एकतन्त्र राजाओं के शासन होने के कारण जनता का उन देशों की सरकारों पर कोई प्रभाव नहीं था। शान्ति की बातचीत ऐसी सरकारों के साथ चलाना व्यर्थ था, जिनका जनता के साथ किसी प्रकार का कोई सम्पर्क न हो।

विल्सन के चौदह सिद्धान्त—छः मास बाद राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिका की कांग्रेस के सम्मुख संसार में शान्ति स्थापना के लिये अपना कार्यक्रम पेश किया। इसके अन्दर कुल चौदह बातें थीं, जिनका संक्षेप के साथ यहां उल्लेख करना आवश्यक है—(१) राज्य आपस की गुप्त सन्धियों और गुप्त समझौतों का अन्त कर दें। (२) राज्यों के बीच में व्यापार व अन्य आर्थिक सम्बन्धों में किसी प्रकार की बाधा न रहे। (३) समुद्र सबके लिये स्वतन्त्र व खुले हुए रहें। (४) हथियारों में सब राज्य कमी करें। (५) उपनिवेशों का फैसला वहां के निवासियों के हितों को दृष्टि में रखकर किया जाय। (६) राष्ट्रीय जीवन की पुनः स्थापना के कार्य में रूस की सहायता की जाय। (७) बेल्जियम की स्वतन्त्र सत्ता की पुनः स्थापना की जाय। (८) फ्रांस से जर्मन सेनायें हटा ली जायं और आल्सेस लारेन के प्रदेश फ्रांस को मिल जावें। (९) इटली की राष्ट्रीय सीमाओं का पुनः निर्माण किया जाय। (१०) आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के अधीनस्थ जातियों को स्वतन्त्र किया जाय। (११) बाल्कन राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता फिर स्थापित की जाय। (१२) तुर्की साम्राज्य के अधीन सब तुर्क-भिन्न जातियों को स्वतन्त्र किया जाय और डार्डनलस का जलडमरूमध्य सब राज्यों के लिये खुला रखा जाय। (१३) पोलैण्ड स्वतन्त्र व पृथक् राज्य रहे। (१४) राज्यों को एक सूत्र में संगठित करने के लिये एक राष्ट्रसंघ की स्थापना की जाय।

राष्ट्रपति विल्सन द्वारा प्रतिपादित इन चौदह सिद्धान्तों के आधार पर यदि दोनों पक्षों के लोग शान्ति स्थापित करने को तैयार हो जाते, तो निःसन्देह यूरोप की बहुत सी समस्यायें सदा के लिये हल हो जातीं। पर जर्मनी और उसके साथी इन सिद्धान्तों को मानने के लिये तैयार न थे। इंग्लैण्ड भी इन सिद्धान्तों को पूर्णतया मानने के लिये उद्यत न था। जर्मनी के उपनिवेशों पर वह अपना

अधिकार स्थापित करना चाहता था, और समुद्रों को सबके लिये स्वतन्त्र और खुला कर देने से उसे अपनी स्थिति सुरक्षित नहीं प्रतीत होती थी। आल्सेस-लारेन के प्रदेश को फ्रांस के सुपुर्द कर देने की बात भी उसे पसन्द नहीं थी। पर युद्ध के बीच में विल्सन के इन चौदह सिद्धान्तों का स्पष्ट विरोध भी इङ्गलिश राजनीतिज्ञ उचित नहीं समझते थे। इङ्गलैण्ड के प्रधान मन्त्री श्री लायड जार्ज ने आंशिक रूप से विल्सन का समर्थन करते हुए विवादग्रस्त मामलों पर युद्ध के बाद पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा निर्णय करने की नीति का प्रतिपादन किया।

युद्ध की समाप्ति के लिये जो भी प्रयत्न आपस के समझौते द्वारा किये गये, वे सफल नहीं हो सके। यह स्पष्ट था, कि युद्ध का अन्त तभी हो सकेगा, जब कोई पक्ष सैनिक दृष्टि से बिलकुल परास्त हो जायगा। जब बल्गेरिया, टर्की, आस्ट्रिया-हंगरी और जर्मनी—एक-एक करके हथियार डालने को विवश होते गये, तभी युद्ध की समाप्ति हुई। पर शान्ति स्थापना का काम युद्ध की अपेक्षा किसी भी प्रकार सुगम न था। परास्त देशों के साथ सामयिक सन्धियां तो हो चुकी थीं, अब मित्रराज्यों के प्रतिनिधि पेरिस में स्थिर सन्धि का मसविदा तैयार करने के लिये एकत्र हुए।

३. पेरिस की शान्ति-परिषद्

महायुद्ध में सबसे अधिक नुकसान फ्रांस को उठाना पड़ा था, जर्मनी को परास्त करने में भी सबसे बड़ा भाग उसी का था। अतः फ्रांस की राजधानी पेरिस को सन्धि परिषद् के लिये चुना गया। १८ जनवरी, १९१९ को पेरिस में सन्धि-परिषद् की बैठक शुरू हुई। मित्रराष्ट्रों के ७० प्रतिनिधि उसमें सम्मिलित हुए। उनके अतिरिक्त सैकड़ों की संख्या में मन्त्री, विशेषज्ञ, पत्र-प्रतिनिधि, संवाददाता आदि भी पेरिस में एकत्र हुए, जो जहां प्रतिनिधियों की सहायता करते थे, वहां सन्धि-परिषद् के समाचारों को संसार भर में शीघ्र से शीघ्र पहुंचा देने में भी तत्पर रहते थे। पेरिस में एक प्रकार का मेला सा लग गया था। विविध राजनीतिक विचारधाराओं व राजनीतिक दलों के नेता अपने-अपने मन्तव्यों का प्रचार करने व अपने विचारों द्वारा सन्धि-परिषद् के सदस्यों पर प्रभाव डालने के लिये भी, वहां बड़ी संख्या में एकत्र हो गये थे। पेरिस के शानदार होटलों में एक तरह की रौनक सी आ गई थी। नाच, गान व तमाशों से प्रतिनिधियों व उनके सहायकों का मनोरंजन करने के साधन भी वहां खूब एकत्र हो गये थे। नैपोलियन की पराजय के बाद वीएना की जो दशा थी, वही अब पेरिस की थी। जिन उदात्त

सिद्धान्तों को सम्मुख रखकर मित्रराज्यों ने लड़ाई लड़ी थी, युद्ध के मध्य में लोकतन्त्रवाद, समानता व स्वतन्त्रता के जो नारे बुलन्द किये जाते थे—उन सबको भूलकर विजय के मद में मस्त मित्रराज्यों के प्रतिनिधि अब इस चिन्ता में लगे थे, कि परास्त जर्मनी व उसके साथियों से किस प्रकार अधिक से अधिक हरजाना वसूल किया जाय, और किस प्रकार उनके भग्नप्राय साम्राज्य आपस में बांट लिये जायं।

सर्वोच्च शान्ति-समिति—मित्रराष्ट्रों में प्रमुख पांच थे—फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका, इटली और जापान। युद्ध के समय इन पांचों की मिलकर एक 'प्रमुख युद्ध-समिति' बनी हुई थी, जो युद्ध का संचालन करती थी। अब शान्ति स्थापित करते हुए और सन्धि की शर्तों को निर्धारित करते हुए भी इन पांच राज्यों की ही प्रधानता थी। इनके प्रतिनिधियों द्वारा एक 'सर्वोच्च शान्ति-समिति' (सुप्रीम पीस कौंसिल) का निर्माण किया गया था, जिसके दस सदस्य थे। फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका, इटली और जापान इनके दो-दो प्रतिनिधि इसमें लिये गये थे। फ्रांस के क्लीमांशो और फॉच, ब्रिटेन के लायड जार्ज और बाल्फोर, अमेरिका के विलसन और लैन्सिंग, इटली के ओर्लाण्डो और सोन्निनो तथा जापान का सैओन्जी इस समिति के प्रधान सदस्य थे। इन राजनीतिज्ञों की समिति जो चाहती थी, सो करती थी। वे फैसला करते थे, सन्धि-परिषद् उसे स्वीकार कर लेती थी। बाद में जापान और इटली के प्रतिनिधि भी इस समिति से निकल गये, और क्लीमान्शो, लायड जार्ज व विल्सन की त्रिमूर्ति ही सब महत्त्वपूर्ण बातों का फैसला करने लगी। महायुद्ध की समाप्ति पर संसार के भाग्य का निबटारा पूरी तरह इन तीन महापुरुषों के हाथ में आ गया। सर्वसाधारण जनता की तो बात ही क्या, मित्रराज्यों के राजनीतिज्ञ भी संसार की जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल करने में कोई आवाज नहीं रखते थे। यह त्रिमूर्ति ही गुप्त रूप से सब बातों का फैसला किया करती थी।

विविध कमीशन—सर्वोच्च शान्ति-समिति के अतिरिक्त शान्ति-परिषद् ने बहुत से कमीशनों व उपसमितियों की भी नियुक्ति की थी, जिनकी संख्या ५८ थी। इन्हें यह कार्य सुपुर्द किया गया था, कि राष्ट्रसंघ के संगठन, शत्रु-पक्ष से वसूल किये जानेवाले हरजाने की रकम का निर्णय, अल्पसंख्यक जातियों की समस्या आदि प्रश्नों पर विशदरूप से विचार करके अपनी रिपोर्ट पेश करें। पर इनकी रिपोर्ट पर भी अन्तिम रूप से निर्णय करने का कार्य सर्वोच्च शान्ति-समिति ही के हाथों में था।

सन्धि-परिषद् के अधिवेशन खुले तौर पर होते थे। उनमें जनता व दर्शक आ सकते थे। परिषद् में मित्रराज्यों में से प्रत्येक के एक से पांच तक प्रतिनिधि लिये गये थे। यह परिषद् साधारण वाद-विवाद के बाद 'त्रिमूर्ति' द्वारा किये गये निर्णयों पर 'तथास्तु' कह देने का कार्य किया करती थी।

उदात्त सिद्धान्तों की उपेक्षा—सन्धि-परिषद् के अधिवेशन चार मास तक होते रहे। यद्यपि कहने को अब भी सब फैसलों का आधार राष्ट्रपति विल्सन द्वारा प्रतिपादित चौदह सिद्धान्त थे, पर वस्तुतः वे सिद्धान्त केवल आदर्श ही थे। क्रिया में उन्हें कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। महायुद्ध में अनेक राज्य इसलिये शामिल हुए थे, क्योंकि फ्रांस और ब्रिटेन ने उन्हें गुप्त सन्धियों द्वारा यह आश्वासन दे दिया था, कि युद्ध की समाप्ति पर उनकी विविध राष्ट्रीय आकांक्षायें पूर्ण कर दी जावेंगी। इटली, रूमानिया, जापान आदि विविध देशों ने इसी प्रकार के गुप्त आश्वासनों के कारण मित्रपक्ष में शामिल होना स्वीकार किया था। अब ब्रिटेन और फ्रांस इसके लिये लाचार थे, कि उन आश्वासनों को पूरा किया जाय, चाहे वे विल्सन के चौदह सिद्धान्तों के विपरीत ही क्यों न हों। मित्रराष्ट्रों की राष्ट्रीय महात्वाकांक्षायें विजय प्राप्त करने के बाद बहुत उग्ररूप धारण कर गई थीं। ये महत्त्वाकांक्षायें तभी पूर्ण हो सकती थीं, जब परास्त देशों के अधिकारों व न्याय्य मांगों की सर्वथा उपेक्षा की जाय। परिणाम यह हुआ, कि फ्रांस और ब्रिटेन ने सन्धि-परिषद् में खूब मनमानी की। क्लीमांशो और लायड जार्ज के सम्मुख विल्सन की एक न चली। अटलाण्टिक पार का यह राजनीतिज्ञ, जिसका सारा जीवन राजशास्त्र के अध्यापन में व्यतीत हुआ था, यूरोप की कूटनीति के सम्मुख सर्वथा शक्तिहीन हो गया, और क्लीमांशो की सारी ताकत इस बात में लग गई, कि बिस्मार्क ने १८७१ में फ्रांस को जो नीचा दिखाया था, उसका पूरी तरह बदला लिया जाय।

४. जर्मनी के साथ वर्साय की सन्धि

१८७१ का प्रतिशोध—चार महीने की मेहनत के बाद आखिर जर्मनी के साथ सन्धि का मसविदा तैयार हुआ, जिसमें १००० धारायें थीं और ८०,००० के लगभग शब्द थे। ६ मई, १९१९ को यह सन्धि-परिषद् के सम्मुख पेश हुआ, और स्वीकृत हो गया। अगले दिन इसे जर्मन सरकार के पास भेज दिया गया, और उन्हें छः सप्ताह का समय दिया गया, जिस बीच में वे इस पर विचार कर सकें, और बातचीत के बाद स्वीकार कर सकें। जर्मन राजनीतिज्ञों ने गम्भीरता

के साथ सन्धि के मसविदे पर विचार किया, और अपनी तरफ से ६०,००० शब्दों का एक आवेदन पत्र प्रस्तुत किया, जिसमें अनेक परिवर्तनों की सिफारिश की गई। मित्रराज्यों की प्रधान समिति (जो वस्तुत: अब क्लीमांशो, लायड जार्ज और विलसन की त्रिमूर्ति ही थी) ने अपने पहले मसविदे में कुछ मोटे-मोटे परिवर्तन स्वीकार किये, और जर्मन सरकार को यह सूचना दी, कि वे अधिक से अधिक २३ जून, १९१९ तक इस संशोधित मसविदे को अविकल रूप में स्वीकार कर लें। जर्मनी को अब यह अवसर नहीं दिया गया, कि सन्धि के मसविदे के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संशोधन या निवेदन प्रस्तुत कर सके। परास्त जर्मनी के सम्मुख अब अन्य कोई मार्ग न था। २८ जून, १९१९ के दिन जर्मनी के प्रतिनिधि वर्साय के राजप्रासाद के शीशमहल में एकत्र हुए, और उन्होंने सन्धि के मसविदे पर बिना किसी ननुनच के हस्ताक्षर कर दिये। १८७१ में वर्साय के इसी राजप्रासाद के इसी शीशमहल में शक्तिशाली जर्मन साम्राज्य की स्थापना की गई थी, और परास्त फ्रांस को जर्मनी द्वारा पेश की गई सन्धि को बिना किसी शर्त के स्वीकार कर लेना पड़ा था। अभी आधी सदी भी बीतने न पाई थी, कि क्लीमांशो ने फ्रांस के राष्ट्रीय अपमान का पूरी तरह से बदला ले लिया। फ्रांस का बूढ़ा शेर क्लीमांशो १८७१ में युवा था। उसने अपनी आंखों से फ्रांस की पराजय को देखा था। उसके हृदय में जर्मनी के प्रति विद्वेष की प्रचण्ड अग्नि धधक रही थी। अपनी वृद्धावस्था में जर्मनी को घुटने टेकने के लिये विवश करके क्लीमांशो ने अपने दिल की ज्वाला को अवश्य शान्त कर लिया, पर साथ ही उस विष-वृक्ष के बीज का भी आरोपण कर दिया, जो चौथाई सदी के लगभग समय में ही एक विशाल संहारक वृक्ष के रूप में परिवर्तित हो गया, और जिसके कटु फलों को क्लीमांशो के उत्तराधिकारियों को बुरी तरह से चखना पड़ा।

९ जुलाई को वर्साय की यह सन्धि जर्मनी की राष्ट्रीय सभा के सम्मुख पेश की गई। अब तक वहां प्रतापी कैसर विलियम के शासन का अन्त हो चुका था। रिपब्लिक स्थापित हो गई थी, और लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार शासन होने लग गया था। राष्ट्रीय सभा में २०८ वोट सन्धि के पक्ष में आये, और ११५ विरोध में। परास्त जर्मनी के लिये यही बुद्धिमत्ता थी, कि आंखें मींच कर वर्साय की सन्धि के कड़वे घूंट का चुपचाप पान कर ले। महान् राजनीतिज्ञ बिस्मार्क और होहेन्ट्सोलर्न वंश के प्रतापी सम्राटों ने जर्मनी की जिस शक्ति का विकास किया था, वर्साय की सन्धि ने उस सबका अन्त कर दिया।

वर्साय की सन्धि की प्रमुख समस्यायें—जर्मनी के साथ सन्धि करते

हुए मित्रराष्ट्रों ने जिन समस्याओं को हल करना था, उनमें से मुख्य निम्नलिखित थीं——(१) एक ऐसी व्यवस्था करना जिससे भविष्य में युद्धों की सम्भावना दूर हो सके। विविध राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को मिटाने के लिये युद्ध के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय भी होना चाहिये, यह विचार महायुद्ध के समय संसार के राजनीतिज्ञों के सम्मुख आ चुका था। वे अनुभव करने लगे थे, कि संसार में शान्ति स्थापित रखने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता है। इसीलिये राष्ट्रसंघ की कल्पना इस समय शान्ति-परिषद् में एकत्र प्रतिनिधियों के सम्मुख विद्यमान थी और वे विविध राज्यों का एक ऐसा संगठन बना देने के लिए तत्पर थे, जो जहां अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सहयोग की प्रवृत्ति को उत्पन्न करे, वहां साथ ही राज्यों के पारस्परिक झगड़ों का निर्णय शान्तिमय उपायों द्वारा करने में भी समर्थ हो। (२) उन्नीसवीं सदी में दो बार फ्रांस को जर्मनी द्वारा नीचा देखना पड़ा था। १८७० के युद्ध में जर्मन सेनायें जिस प्रकार पेरिस पर कब्जा करने में समर्थ हुई थीं, उसके कारण फ्रांसके नेता इस बात के लिये बहुत अधिक उत्सुक थे, कि शान्ति-परिषद् द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये, जिससे कि जर्मनी भविष्य में फिर कभी इतना अधिक शक्तिशाली न हो जाय, कि वह फ्रांस के लिये खतरे का कारण हो सके। अपनी रक्षा के लिये फ्रांस के राजनीतिज्ञ यह आवश्यक समझते थे, कि राइन नदी के पश्चिम के प्रदेश को जर्मनी से पृथक् करके एक ऐसे राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, जो अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से फ्रांस के प्रभाव में रहे। राइन के पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के कारण जर्मनी और फ्रांस एक दूसरे के पड़ोसी राज्य नहीं रह जावेंगे और फ्रांस को जर्मनी की उग्र सैनिक शक्ति का अधिक भय नहीं रह जायगा। (३) राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार यूरोप के विविध राज्यों के पुनः निर्माण की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण थी। फ्रांस आल्सेस-लारेन के प्रदेशों को जर्मनी से प्राप्त करने के लिये उत्सुक था, और पोलैण्ड जर्मनी के अनेक ऐसे प्रदेशों को अपने राज्य में अन्तर्गत करना चाहता था, जिनमें पोल जाति के लोग जर्मनों के साथ साथ अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। १९१४ तक पोलैण्ड जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में बंटा हुआ था। उसके विविध प्रदेशों के जर्मनी व आस्ट्रिया के अधीन होने के कारण बहुत से जर्मन लोग उन प्रदेशों में आबाद हो गये थे, जो वस्तुतः पोलैण्ड के अंग थे। कतिपय प्रदेशों में तो पोल लोगों की अपेक्षा जर्मनों की संख्या अधिक भी हो गयी थी। पर पोलैण्ड चाहता था, कि ये सब प्रदेश अब उसे प्राप्त हो जावें। इसी प्रकार चेकोस्लोवाकिया आदि जो नये

राज्य इस समय बनाये गये थे, वे भी अनेक ऐसे प्रदेशों को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील थे, जिनके निवासी राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक नहीं थे और जिनमें जर्मन लोग अच्छी बड़ी संख्या में आबाद थे। (४) जर्मनी की अधीनता में जो विविध प्रदेश अफ्रीका और एशिया में विद्यमान थे और जिन पर महायुद्ध के समय विविध मित्रराष्ट्रों ने अपना अधिकार कर लिया था, उसके सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की जाय, यह प्रश्न भी बहुत महत्त्व का था। (५) मित्रराष्ट्र इस बात पर सहमत थे, कि महायुद्ध की सब उत्तरदायिता जर्मनी और उसके साथियों की थी। अतः वे यह भी आवश्यक समझते थे, कि इन प्रदेशों से युद्ध के लिये हरजाना वसूल किया जाना चाहिये। पर इस हरजाने की मात्रा क्या हो, इस बात का निर्णय कर सकना सुगम नहीं था। युद्ध के कारण जर्मनी व उसके साथियों की आर्थिक दशा बहुत अस्तव्यस्त हो गई थी। वे मित्रराष्ट्रों को हरजाना तभी दे सकते थे, जब उनका आर्थिक संगठन इस योग्य रहे, कि वे अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के बाद इतना बचा सकें, जिसे हरजाने के रूप में दिया जा सके। (६) जर्मनी को युद्ध के लिये उत्तरदायी ठहरा कर मित्रराष्ट्र ऐसी भी व्यवस्था करना चाहते थे, जिससे कि भविष्य में फिर कभी जर्मनी इतना सबल न हो जाय, कि वह यूरोप की शान्ति के लिये खतरे का कारण बन सके। इसके लिये यह आवश्यक था, कि जर्मनी की सैनिक शक्ति को मर्यादित किया जाय, उसके जहाजों को कम किया जाय और ऐसे सब कारखानों को उससे छीन लिया जाय, जो अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री को तैयार करने में सहायक हो सकते थे। व्यावसायिक व सैनिक दृष्टि से जर्मनी को पंगु व निर्बल बनाकर ही मित्रराष्ट्र इस बात की आशा करते थे, कि वे यूरोप से युद्ध की सम्भावना को दूर कर सकेंगे।

राष्ट्रसंघ—इन विविध समस्याओं को हल करने का प्रयत्न वर्साय की सन्धि द्वारा किया गया। राष्ट्रसंघ इस सन्धि का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग था। राष्ट्रपति विल्सन इस बात पर बहुत जोर देता था, कि राष्ट्रसंघ के संविधान को वर्साय की सन्धि के अन्तर्गत किया जाना चाहिये। अन्य मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि इस बात से सहमत नहीं थे। राष्ट्रसंघ की आवश्यकता व उपयोगिता को वे स्वीकार करते थे। पर उनका विचार था, कि उसे वर्साय की सन्धि के अन्तर्गत करना अनावश्यक है। पर विल्सन का कहना था, कि राष्ट्रसंघ के बिना संधि अधूरी रहेगी। उसी के जोर देने पर यह परिणाम हुआ, कि राष्ट्रसंघ के संविधान को तैयार करने के लिये शान्ति-परिषद् द्वारा एक पृथक् कमीशन की

नियुक्ति की गई और उसकी रिपोर्ट के अनुसार निर्मित हुए संविधान को वर्साय की सन्धि के अन्तर्गत किया गया। राष्ट्रसंघ पर हम अगले अध्याय में विशदरूप से प्रकाश डालेंगे।

जर्मनी का अंग-भंग—वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी का १५ फी सदी प्रदेश उसके हाथ से निकल गया। इसमें से आल्सेस-लारेन के प्रदेश फ्रांस को दिये गये। यूपन, मल्मेडी और मोरेसनेट का कुछ अंश बेल्जियम को मिला। इन प्रदेशों की जनसंख्या ७०,००० थी, और ये जर्मनी के हाथ में न रहकर बेल्जियम को दिये जावें, इसके लिये इन प्रदेशों के निवासियों का लोकमत लिया गया था, जिसे लेने का कार्य बेल्जियम के सरकारी अफसरों के सुपुर्द किया गया था। १८६४ में प्रिंस बिस्मार्क के नेतृत्व में श्लेश्विग का प्रदेश जर्मनी ने डेन्मार्क से प्राप्त किया था। इसके निवासियों का भी लोकमत लिया गया। उत्तरी श्लेश्विग ने डेन्मार्क के पक्ष में वोट दिया और दक्षिणी श्लेश्विग ने जर्मनी के। परिणाम यह हुआ, कि उत्तरी श्लेश्विग वर्साय की सन्धि द्वारा डेन्मार्क को दे दिया गया। मेमल का प्रदेश लिथुएनिया को दिया गया। पूर्वी साइलीसिया और पश्चिमी प्रशिया का अधिकांश भाग पोलैण्ड को प्राप्त हुआ। अपर साइलीसिया का कुछ भाग चेकोस्लोवाकिया को और दूसरा भाग पोलैण्ड को दिया गया। डान्सिग का प्रसिद्ध बन्दरगाह मित्रराज्यों द्वारा शासित रहे, यह व्यवस्था की गई। इतने प्रदेशों में कट छंट जाने से जर्मनी का अंग-भंग हो गया, और उसका १५ फी सदी प्रदेश, जिसमें जर्मनी की कुल आबादी का दसवां हिस्सा निवास करता था, उसके हाथ से निकल गया। चीन में जर्मनी के अधीन जो प्रदेश थे और प्रशांत महासागर के जिन द्वीपों पर जर्मनी का अधिकार था, वे सब जापान को मिल गये। अफ्रीका में जो उपनिवेश जर्मनों ने कायम किये थे, उन्हें ब्रिटेन, फ्रांस और बेल्जियम ने आपस में बांट लिया।

इसमें सन्देह नहीं, कि जर्मनी का यह अंग-भंग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से बड़े महत्त्व का था। आल्सेस-लारेन के प्रदेश व्यावसायिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। ये प्रदेश फ्रांस और जर्मनी की सीमा पर स्थित हैं, और इनमें फ्रेंच और जर्मन दोनों भाषायें बोली जाती हैं। १८७१ से पूर्व ये फ्रांस के अंग थे। बिस्मार्क ने फ्रांस को परास्त कर इन्हें जर्मनी के साथ मिला लिया था। आल्सेस-लारेन के साथ ही सार के प्रदेश को भी इस समय जर्मनी से अलग कर लिया गया। आल्सेस का प्रदेश लोहे की खानों के लिये प्रसिद्ध है, और सार कोयले के लिये। फ्रेंच लोग चाहते थे, कि सार पर भी उनका अधिकार रहे,

ताकि वहां के कोयले और आल्सेस के लोहे द्वारा वे अपनी व्यावसायिक उन्नति कर सकें। सार की प्रायः सम्पूर्ण जनता जर्मन जाति की है। इसका क्षेत्रफल ७२३ वर्गमील है, और जनसंख्या ६,६०,०००। उत्तरी फ्रांस में जर्मन सेनाओं ने फ्रेंच व्यवसायों का जो विध्वंस किया था, उसके प्रतिशोध के लिये सार का व्यवसाय-प्रधान प्रदेश राष्ट्रसंघ के संरक्षण में एक कमीशन के शासन में दे दिया गया। इस कमीशन में फ्रेंच लोगों की प्रधानता थी। यह व्यवस्था की गई, कि १५ साल के बाद लोकमत द्वारा यह निश्चय किया जाय, कि सार पर किसका कब्जा रहे। यदि सार की जनता जर्मनी के साथ रहने का निर्णय करे, तो फ्रांस ने वहां की कोयले की खानों के लिये जो खर्च किया हो, उसकी कीमत जर्मनी अदा करे। इस प्रकार, जर्मनी का एक अच्छा बड़ा प्रदेश इस समय फ्रांस के हाथ में दे दिया गया।

उत्तर और पूर्व में जर्मनी के अनेक प्रदेश चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड के हाथ में दे दिये गये। चेकोस्लोवाकिया के रूप में चेक व स्लाव लोगों ने जो नया राष्ट्र बनाया था, उसमें जर्मन बोलनेवाले जर्मन नसल के लोग भी काफी संख्या में थे। निःसन्देह, चेकोस्लोवाकिया की यह बड़ी कमजोरी थी। जर्मन लोग अनुभव करते थे, कि चेकोस्लोवाकिया के ये जर्मन निवासी उनके राष्ट्र के अंग हैं। यही दशा पोलैण्ड में भी थी। राष्ट्रीय उत्कर्ष के जोश में पोलैण्ड ने अनेक ऐसे प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था, जिनके बहुसंख्यक निवासी जर्मन थे। साथ ही, समुद्र तक अप्रतिहत प्रवेश रखने के लिये पोलैण्ड ने डान्सिग के बन्दरगाह को एक 'स्वतन्त्र नगर' के रूप में परिवर्तित करा लिया था, और डान्सिग तक पहुंचने के लिये एक गलियारा (कॉरिडोर) जर्मनी के बीच से प्राप्त कर लिया था। इस गलियारे के कारण पूर्वी प्रशिया शेष जर्मनी से बिलकुल अलग पड़ गया था। राष्ट्रपति विल्सन ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था— उनका यह कितना भयंकर उपहास था! जर्मनी जैसा वीर व प्रतापी देश यह कैसे सहन कर सकता था, कि उसके अपने प्रदेश में पोलैण्ड के लिये एक गलियारा दिया जाय, और इस प्रकार उसके शरीर को दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया जाय। पर विजयमद में मस्त मित्रराज्यों ने इस बात पर जरा भी ध्यान नहीं दिया, कि जर्मनी का इस प्रकार अंग-भंग करके वे भविष्य के लिये कितने खतरनाक कांटे बो रहे हैं।

अफ्रीका में जर्मनी का जो साम्राज्य था, उसके निवासियों की संख्या सवा करोड़ से भी अधिक थी। उसका ४२ फीसदी ब्रिटेन को, ३३ फीसदी फ्रांस को

और २५ फीसदी बेल्जियम को मिला। विल्सन के सिद्धान्तों के अनुसार इन उपनिवेशों का भाग्य-निर्णय वहां के निवासियों की सम्मति के अनुसार होना चाहिये था। पर जिन देशों में ये उपनिवेश बांट दिये गये थे, उनका इन पर इसके सिवा कोई अधिकार न था, कि वे विजेता थे। विल्सन के सिद्धान्तों का एक प्रकार से उपहास करने के लिये एक व्यवस्था यह की गई, कि जर्मन उपनिवेशों पर जो कब्जा ब्रिटेन, फ्रांस और बेल्जियम को दिया गया है, वह वस्तुतः राष्ट्र-संघ का है, और ये देश राष्ट्रसंघ की ओर से उपनिवेशों का अनुशासन और सुव्यवस्था मात्र करने के लिये नियत किये गये हैं। राष्ट्रसंघ की ओर से शासन करने की इस पद्धति को 'मेन्डेटरी सिस्टम' कहा जाता था। इसके अनुसार यह माना जाता था, कि जर्मनी के भूतपूर्व अफ्रीकन उपनिवेशों पर शासन करने का जो अधिकार अब ब्रिटेन, फ्रांस और बेल्जियम को दिया गया है, वह राष्ट्रसंघ के 'मेन्डेट' या आदेश द्वारा उन्हें प्राप्त हुआ है, और वस्तुतः ये उपनिवेश राष्ट्रसंघ की ही अधीनता में हैं।

फ्रांस के जोर देने पर र्हाइन नदी के पश्चिम में विद्यमान जर्मन प्रदेश के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गई, उस पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। फ्रेंच लोग समझते थे, कि जर्मनी से अपने देश की रक्षा करने का एक उत्तम उपाय यह है, कि जर्मनी की पश्चिमी सीमा को र्हाइन नदी तक नियत कर दिया जाय। मार्शल फॉच का कहना था, कि "सबसे पूर्व हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिये, कि प्रकृति ने हमारी रक्षा के लिये क्या व्यवस्था की है। जर्मनी के आक्रमण के मार्ग में प्रकृति ने एक स्वाभाविक रुकावट रखी है, और यह रुकावट है, र्हाइन नदी। अतः जर्मनी की सीमा इस नदी तक ही रखी जानी चाहिये।" इसी दृष्टि से मार्शल फॉच की यह योजना थी, कि र्हाइन नदी के बायें तट पर जर्मनी के जो प्रदेश हैं, उन्हें एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, जो अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से फ्रांस की संरक्षा में रहे। इस प्रदेश का क्षेत्रफल दस हजार वर्गमील के लगभग है। पर ब्रिटेन और अमेरिका मार्शल फॉच की इस योजना के विरुद्ध थे। उनका कहना था, कि र्हाइनलैण्ड को एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर देने का यह परिणाम होगा, कि फ्रेंच लोग वहां अच्छी बड़ी संख्या में आ बसेंगे और धीरे धीरे वह भी आलसेस-लारेन के समान एक ऐसा प्रदेश बन जायगा, जिसमें जर्मन और फ्रेंच दो जातियों का निवास हो जायगा, और यह बात भविष्य में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न करेगी। बहुत विचार व बहस के बाद क्लीमांशो र्हाइनलैण्ड के सम्बन्ध में इस समझौते को

स्वीकार करने के लिये तैयार हुआ, कि कुछ निश्चित समय के लिये इस प्रदेश में मित्रराष्ट्रों की सेनायें स्थापित कर दी जावें, ताकि जर्मनी इसका उपयोग अपनी सैनिक शक्ति के लिये न कर सके। र्हाइनलैण्ड को तीन भागों में बांटा जाय, उत्तरी, मध्यवर्ती और दक्षिणी। उत्तरी भाग पर मित्रपक्ष की सेनाओं का पांच साल तक कब्जा रहे, मध्यवर्ती भाग पर दस साल तक और दक्षिणी भाग पर पन्द्रह साल तक। र्हाइन नदी के साथ साथ के ३१ मील चौड़े प्रदेश पर जर्मनी किसी भी प्रकार की किलाबन्दी न कर सके और यदि जर्मनी हरजाना आदि अदा करने में विलम्ब करे या सन्धि की अन्य शर्तों का ठीक प्रकार से पालन न करे, तो र्हाइनलैण्ड के विविध भागों पर मित्रसेनाओं के कब्जे की अवधि को और अधिक भी बढ़ाया जा सके। व्यावसायिक दृष्टि से र्हाइनलैण्ड का प्रदेश बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें मित्रपक्ष की सेनाओं का कब्जा हो जाने के कारण जहां जर्मनी से हरजाने को वसूल कर सकना सुगम हो गया, वहां फ्रांस को भी जर्मनी की सैन्यशक्ति के भय से छुटकारा मिल गया।

जिस प्रकार जर्मनी के सब अफ्रीकन उपनिवेश वर्साय की सन्धि द्वारा उससे छीन लिये गये, वैसे ही पूर्वी एशिया में जो अनेक प्रदेश उसके अधिकार में थे, वे भी उससे ले लिये गये। चीन में शांतुंग प्रदेश में जर्मनी को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे, क्याऊ चाऊ पर तो उसका पूरा ही अधिकार था। महायुद्ध के समय जापान ने इन सब पर अपना कब्जा कर लिया था। युद्ध में चीन ने भी जर्मनी के खिलाफ मित्रराज्यों का साथ दिया था। अतः उसके प्रतिनिधि भी पेरिस की शान्ति-परिषद् में सम्मिलित हुए थे। उन्होंने मांग की, कि शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, और जिन्हें युद्ध के समय जापान ने हस्तगत कर लिया था, वे अब चीन को वापस मिलें। पर जापान के प्रतिनिधि का यह दावा था, कि पूर्वी एशिया से जर्मन प्रभुत्व का अन्त करने में जापान ने जो कुर्बानियां की थीं, उनका प्रतिफल उसे यह मिलना चाहिये, कि शांतुंग प्रान्त और क्याऊ चाऊ में जापान के दावों को स्वीकृत कर लिया जाय। साथ ही प्रशान्त महासागर के उत्तरी भाग में जो अन्य छोटे छोटे द्वीप पहले जर्मनी के हाथ में थे, वे भी जापान को दे दिये जावें। राष्ट्रपति विल्सन जापान की इन दोनों मांगों के विरोध में थे। पर फ्रांस, ब्रिटेन और इटली ने १९१७ में जापान के साथ अनेक इस प्रकार की गुप्त सन्धियां कर रखी थीं, जिनके कारण इन राज्यों ने जापान के दावों का समर्थन करने का वचन दिया हुआ था। परिणाम यह हुआ, कि

चीन के प्रतिनिधियों को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिल सकी। वर्साय की सन्धि में शान्तुंग प्रान्त में जापान के विशेषाधिकारों को स्वीकृत कर लिया गया और प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीप (जो पहले जर्मनी के अधीन थे) भी राष्ट्रसंघ की ओर से जापान को शासन करने के लिये दिये गये। यही कारण है, कि चीन ने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया।

वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी ने न केवल अपने अफ्रीकन और एशियन साम्राज्य से हाथ धोया, पर साथ ही उसके अपने अनेक प्रदेश भी उसके हाथ से निकल गये। र्‍हाइनलैण्ड पर मित्रपक्ष की सेनाओं का कब्जा और सार का राष्ट्रसंघ द्वारा नियत किये गये कमीशन से शासित होना राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत था। इसी प्रकार उसके जो प्रदेश इस समय पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों को दिये गये थे, उन्हें राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। १९३९ में यूरोप में जो एक बार फिर युद्ध की अग्नि धधक उठी, उसका यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण था, कि वर्साय की सन्धि में जर्मनी का पुनः निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की सर्वथा उपेक्षा की गई थी।

हरजाने का प्रश्न—वर्साय की सन्धि से जर्मनी का केवल अंग-भंग ही नहीं किया गया, अपितु उसे बहुत बड़ी मात्रा में हरजाना देने के लिये भी विवश किया गया। यह माना गया, कि युद्ध के लिये सारी उत्तरदायिता जर्मनी की है, और युद्ध के कारण जो क्षति फ्रांस व अन्य मित्रराष्ट्रों को हुई है, उसकी पूर्ति करना उसका कर्त्तव्य है। हरजाने की मात्रा एक खरब (दस हजार करोड़) रुपया नियत की गई। इसमें से १५ अरब (१५०० करोड़) रुपया मई, १९२१ तक जर्मनी प्रदान कर दे, और बाद में एक अरब पचास करोड़ (१५० करोड़) रुपया हर साल देता रहे। हरजाने की यह मात्रा कितनी अधिक थी, इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। पर मित्रराष्ट्र इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। यद्यपि कोयले और लोहे की खानों के सभी मुख्य-मुख्य प्रदेश, यथा सार और आल्सेस-लारेन उसके हाथ से ले लिये गये थे, फिर भी यह व्यवस्था की गई, कि जर्मनी ७० लाख टन कोयला प्रतिवर्ष फ्रांस को दे, ८० लाख टन प्रतिवर्ष बेल्जियम को दे, और इतना ही हर साल इटली को प्रदान करे। फ्रांस, इटली और बेल्जियम दस साल तक इस परिमाण में कोयला जर्मनी से प्राप्त करते रहें। बाद में कोयले की मात्रा घटा कर ६० लाख टन प्रति वर्ष कर दी गई, और जर्मनी को यह भी सुविधा दी गई, कि वह कोयले की जगह

पर उसकी कीमत दे सके। इतना ही नहीं, जर्मनी को अपने व्यापारी जहाजों का बड़ा हिस्सा मित्रराज्यों के सुपुर्द कर देना पड़ा। जो जहाज जर्मनी ने हर्जाने के रूप में मित्रराज्यों को प्रदान किये, उनका वजन बीस लाख टन से भी अधिक था। यह ध्यान रखना चाहिये, कि जर्मनी के पास जो जंगी जहाज, पनडुब्बियां व बारूदी सुरंगें थीं, उन सबको युद्ध बन्द करते हुए सामयिक सन्धि के समय पर ही मित्रराज्यों ने अपने अधिकार में कर लिया था। अब व्यापारी जहाजों के भी बड़े हिस्से पर कब्जा करके मित्रराज्यों ने जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति को बिलकुल खतम कर दिया। जर्मनी के उत्तर में कील कैनाल जर्मन नौसेना का बड़ा केन्द्र था। अब उसे सब राज्यों के लिये खुला कर दिया गया, ताकि जर्मनी फिर वहां अपनी सामुद्रिक किलाबन्दी न कर सके।

अन्य शर्तें—वर्साय की सन्धि की अन्य महत्त्वपूर्ण शर्तें ये थीं—(१) मित्रराज्यों को यह स्वतन्त्रता हो, कि वे आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गेरिया, टर्की और रूस के साथ पृथक् रूप से सन्धि कर सकें, जर्मनी को इन सन्धियों से कोई वास्ता न हो। (२) जर्मनी में बाधित सैनिक सेवा की पद्धति का अन्त किया जाय। (३) जर्मनी की सेना में सैनिकों की संख्या एक लाख से अधिक न बढ़ने पावे। (४) अस्त्र-शस्त्र, हवाई जहाज और अन्य युद्धोपयोगी सामग्री को बनानेवाले जर्मन कारखाने मित्रराज्यों के नियन्त्रण में रहें, और जर्मनी एक निश्चित मात्रा से अधिक इस सामग्री का निर्माण न कर सके। (५) र्‌हाइन नदी के दक्षिणी तट पर तथा फ्रांस और जर्मनी की सीमा के प्रदेश में जो किलाबन्दी जर्मनी ने की थी, उस सबको नष्ट कर दिया जाय। (६) मित्रराज्यों को यह अधिकार हो, कि वे सम्राट् विलियम द्वितीय और उसके प्रमुख साथियों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने का मुकदमा चला सकें।

इसमें सन्देह नहीं, कि ये सब शर्तें जर्मनी के लिये बहुत ही अपमानजनक थीं। पर इन्हें आंख मीच कर स्वीकार करने के लिये जर्मन लोग विवश थे। इसीलिये उनका यह कहना था, कि यह कोई ऐसी सन्धि नहीं है, जो दोनों पक्ष के लोग आपस में विचार-विनिमय द्वारा करते हैं। यह सन्धि तो मित्रराज्यों के आदेश पर, उनके हुकुम पर आश्रित है, जिसे स्वीकार करने के सिवा अन्य कोई मार्ग है ही नहीं।

वर्साय की सन्धि द्वारा यह भी उद्योग किया गया, कि संसार में युद्धों का अन्त करने के लिये और इस व्यवस्था के लिये, कि विविध राज्य परस्पर सहयोग से कार्य करें, और आपस में झगड़ों का फैसला युद्ध के अतिरिक्त

अन्य शान्तिमय उपायों से करने में समर्थ हों, एक राष्ट्रसंघ की स्थापना की जाय। साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सम्मेलन व अन्य अनेक संस्थाओं का भी निर्माण किया गया। इन पर हम आगे चलकर विस्तार से विचार करेंगे।

५. आस्ट्रिया के साथ सां जर्मैं की सन्धि

आस्ट्रिया के साथ जो सन्धि हुई, उस पर पेरिस के समीप सां जर्मैं के प्राचीन राजमहल में हस्ताक्षर हुए थे। इसीलिये वह सां जर्मैं की सन्धि कहाती है। यह सन्धि १० सितम्बर, १९१९ को हुई थी। इस सन्धि के अनुसार हंगरी, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया के पृथक् स्वतन्त्र राज्यों की सत्ता को आस्ट्रिया ने स्वीकार किया। आस्ट्रिया-हंगरी के प्राचीन साम्राज्य में बहुत सी विभिन्न जातियां निवास करती थीं। इनमें राष्ट्रीय भावना का भलीभांति विकास हो गया था, और युद्ध के अवसर पर इनके नेताओं ने यह अनुभव किया था, कि मित्रराष्ट्रों की सहायता से वे अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना कर सकते हैं। अब इन विविध जातियों के पृथक् स्वतन्त्र राज्य कायम कर दिये गये, और वे आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त हो गये। आस्ट्रिया में भी प्राचीन हाप्सबुर्ग राजवंश का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई। नई आस्ट्रियन रिपब्लिक ने जो प्रदेश इटली को प्रदान किये, वे निम्नलिखित थे—दक्षिणी टाइरल, त्रेन्तिनो, त्रिएस्त, इस्त्रिया और डलमातिया के तटवर्ती कतिपय द्वीप। इटली ने इन्हीं प्रदेशों को प्राप्त करने के लिये मित्रराष्ट्रों का पक्ष ग्रहण कर आस्ट्रिया-हंगरी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा की थी। यूरोप में अपने अविकल राष्ट्रीय राज्य की स्थापना की इटली की जो आकांक्षा थी, वह सां जर्मैं की सन्धि द्वारा पूर्ण हो गई। इटली चाहता था, कि उसकी उत्तरी सीमा आल्प्स की पर्वतमाला हो। वह सैनिक दृष्टि से ब्रेनर के दर्रे को अपने हाथ में रखना चाहता था। इसीलिये दक्षिणी टाइरल को उसने अपने अधिकार में किया था, यद्यपि उसमें ढाई लाख से अधिक जर्मन जाति के लोगों का निवास था। आस्ट्रिया का अंग-भंग कर जो प्रदेश चेकोस्लोवाकिया आदि को दिये गये थे, उन पर हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे। अब जो आस्ट्रिया बच गया था, उसका क्षेत्रफल आयर्लैण्ड से भी कम था, उसकी आबादी केवल ७० लाख थी। यह भी व्यवस्था की गई थी, कि उसकी सेना में तीस हज़ार से अधिक सैनिक न हो सकें। आस्ट्रिया के निवासी जर्मन जाति के हैं, अतः इस बात की आशंका हो

सकती थी, कि वे भविष्य में कभी जर्मनी के साथ मिलकर एक शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र का निर्माण करने का प्रयत्न करें। अतः सां जर्मे की सन्धि द्वारा यह भी व्यवस्था कर दी गई, कि आस्ट्रियन रिपब्लिक भविष्य में कोई ऐसा प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रयत्न न करे, जिससे कि आस्ट्रिया के पृथक् व स्वतन्त्र राज्य रहने में बाधा पड़ सकती हो।

आस्ट्रिया पर भी युद्ध की उत्तरदायिता का दोष लगाकर हरजाने की एक बड़ी मात्रा लाद दी गई। उसके भी सब जहाज जब्त कर लिये गये। आस्ट्रिया का अंग-भंग करके उसे एक छोटे से राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया, और साथ ही हरजाने का भारी बोझ भी उस पर लाद दिया गया। इस बोझ के कारण आस्ट्रिया की आर्थिक दशा बिलकुल खराब हो गई, और उसके लिये अपनी आर्थिक जिम्मेदारियों को अपनी आमदनी से पूरा कर सकना असम्भव हो गया। कई सालों तक वहां बिलकुल अव्यवस्था मची रही। बाद में राष्ट्र-संघ को विवश होकर आस्ट्रिया की आर्थिक दशा को संभालने के लिये सहायता प्रदान करना स्वीकार करना पड़ा।

६. बल्गेरिया के साथ न्वीय्यी की सन्धि

२७ नवम्बर, १९१९ को बल्गेरिया के साथ सन्धि की गई। यह सन्धि पेरिस के समीप न्वीय्यी में की गई थी। इसीलिये यह न्वीय्यी की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार बल्गेरिया ने दोब्रुद्जा का प्रदेश रूमानिया को, थ्रेस का प्रदेश ग्रीस को और मैसीडोनिया का अधिकांश प्रदेश सर्बिया को देना स्वीकार किया। बीसवीं सदी के शुरू के बालकन प्रायद्वीप के युद्धों में बल्गेरिया ने जो कुछ भी प्राप्त किया था, वह अब उसके हाथ से निकल गया। अब कोई भी समुद्रतट उसके हाथ में नहीं रह गया, और उसकी जन-संख्या केवल ४५ लाख रह गई। यह व्यवस्था की गई, कि उसकी सेना में बीस हजार से अधिक सैनिक न रहें। युद्ध के लिये बल्गेरिया को भी दोषी ठहराया गया, और ४५ लाख की आबादी के इस छोटे से देश पर डेढ़ अरब (१५० करोड़) के लगभग हरजाने की मात्रा लाद दी गई। यह हरजाना बल्गेरिया को ३७ सालों में अदा करना था। हरजाने की इस भारी मात्रा के अतिरिक्त अन्य भी अनेक आर्थिक दण्ड बल्गेरिया को दिये गये। न्वीय्यी की सन्धि ने बालकन प्रायद्वीप में निवास करनेवाली विविध जातियों के साथ न्याय नहीं किया। इस प्रायद्वीप में अनेक जातियां निवास करती हैं। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार

उनका विभाग करना और राष्ट्रीय सीमाओं को नियत कर सकना सुगम बात नहीं थी। पर मैसिडोनिया के प्रदेश को बल्गेरिया से ले लेना एक ऐसी बात थी, जिससे बल्गेरिया की समस्या सुलझने के बजाय और भी उलझ जाती थी। यही कारण है, कि न्वीय्यी की सन्धि के बाद कई सालों तक बालकन प्रायद्वीप में गृह-कलह जारी रहा। अनेक क्रान्तिकारी नेताओं ने अपने दल एकत्र कर इस क्षेत्र में युद्ध की अग्नि को पुनः प्रज्वलित कर दिया।

७. हंगरी के साथ त्रियानो की सन्धि

४ जून, १९२० को हंगरी के साथ सन्धि की गई। यह सन्धि वर्साय के त्रियानो प्रासाद में की गई थी, इसीलिये इसे त्रियानो की सन्धि कहते हैं। हंगरी के साथ सन्धि करने में जो इतनी अधिक देर हो गई, उसका कारण यह था कि हाप्सबर्ग वंश के पतन के बाद वहां अव्यवस्था मची हुई थी, और विविध दलों के लोग राजशक्ति को प्राप्त करने के लिये संघर्ष में लगे हुए थे। यद्यपि इस समय हंगरी में रिपब्लिक की स्थापना हो गई थी, पर उसकी स्थिति अभी सुरक्षित नहीं हुई थी।

त्रियानो की सन्धि द्वारा पुराने हंगरी का अंग-भंग कर दिया गया। ट्रांसिलवेनिया और उसके साथ के कुछ प्रदेश रूमानिया को दिये गये। इन प्रदेशों में हंगेरियन लोगों की संख्या १५ लाख के लगभग थी, यद्यपि बहुसंख्यक जनता रूमानियन थी। क्रोटिया व स्लावोनिया के प्रदेश यूगोस्लाविया को मिले। इनमें भी पांच लाख के लगभग हंगेरियन लोगों का निवास था। स्लोवाकिया का प्रदेश चेकोस्लोवाकियन रिपब्लिक के अन्तर्गत कर दिया गया। इसमें जो हंगेरियन लोग बसते थे, उनकी संख्या दस लाख के लगभग थी। हंगरी के कुछ प्रदेश आस्ट्रिया को भी दिये गये। महायुद्ध से पहले हंगरी की कुल आबादी दो करोड़ दस लाख थी। त्रियानो की सन्धि द्वारा जो नया हंगरी बना, उसकी जनसंख्या केवल ७५ लाख थी। ३० लाख के लगभग हंगेरियन लोग अब अन्य राज्यों की प्रजा बनकर रहने के लिये विवश कर दिये गये थे। यही कारण है, कि त्रियानो की सन्धि से हंगेरियन लोगों को बहुत असन्तोष था। वे कहते थे, कि इस सन्धि द्वारा यूरोप में अनेक आल्सेस-लारेन बना दिये गये हैं। उन्होंने मित्रराष्ट्रों से सन्धि को दोहराने के लिये बहुत अनुरोध किया, पर उसका कोई फल नहीं निकला।

त्रियानो की सन्धि द्वारा यह व्यवस्था भी की गई थी, कि हंगरी की सेना में

३५,००० से अधिक सैनिक न रह सकें। उसकी सब जलसेना उससे छीन ली गई, और कुछ थोड़े से जहाज ही उसके पास रहने दिये गये। हंगरी को भी युद्ध के लिये दोषी ठहराया गया, और उसे हरजाने की एक बड़ी रकम मित्रराष्ट्रों को देने के लिये विवश किया गया ।

८. टर्की के साथ सेव्र की सन्धि

१० अगस्त, १९२० को टर्की के साथ सन्धि हुई, जो सेव्र की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है । इस सन्धि द्वारा थ्रेस का प्रदेश और ईगियन सागर में विद्यमान सब द्वीप ग्रीस को प्राप्त हुए। स्मर्ना के प्रदेश पर भी ग्रीस का शासन स्थापित किया गया, पर इस शर्त के साथ कि पांच साल बाद वहां लोकमत लिया जायगा, और यदि लोकमत द्वारा यह तय हो, कि वहां के निवासी ग्रीस के साथ ही रहना चाहते हैं, तो स्मर्ना का प्रदेश स्थिर रूप से ग्रीस को दे दिया जायगा। डोडेकनीज द्वीप-समूह, र्होड्स और अडेलिया के प्रदेश इटली को दिये गये। मैसोपोटामिया और पैलेस्टाइन ब्रिटेन के शासन में दिये गये, और सीरिया पर फ्रांस का अधिकार स्थापित किया गया। आर्मीनिया और हज्जाज को स्वतन्त्र कर दिया गया। ईजिप्ट को ब्रिटेन के संरक्षण में दिया गया, और कुर्दिस्तान को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। साइप्रस ब्रिटिश साम्राज्य का एक उपनिवेश बना दिया गया। डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य को एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन के अधीन कर दिया गया, ताकि वह किसी एक राज्य के प्रभुत्व में न रहे।

इस प्रकार तुर्की साम्राज्य के सम्बन्ध में जो नई व्यवस्था हुई, उसके अनुसार चार लाख चालीस हजार वर्ग मील जमीन टर्की के हाथ से निकल गई। अब उसकी आबादी केवल ८० लाख रह गई, और एक करोड़ बीस लाख व्यक्ति उसकी अधीनता से मुक्त हो गये। यह व्यवस्था की गई, कि टर्की की सेना में सैनिकों की संख्या पचास हजार से अधिक न बढ़ने पावे। टर्की के पास जल सेना बिलकुल भी नहीं रहने दी गई, और उसे एक छोटे से शक्तिहीन राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। सेव्र की सन्धि के कारण ईजिप्ट, सूडान, साइप्रस, त्रिपोलिलानिया, मोरक्को और ट्यूनीसिया से टर्की का अधिकार पूर्णरूप से उठ गया। इन देशों पर टर्की को जो अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे, उन सबका अन्त हो गया। अरब, पैलेस्टाइन, मेसोपोटामिया और सीरिया टर्की की अधीनता से मुक्त कर दिये गये और यूरोप में जो अनेक प्रदेश टर्की के साम्राज्य में थे, उन्हें ग्रीस को दिया गया ।

सेव्र की सन्धि पर टर्की की ओर से वहां के सुलतान मुहम्मद चतुर्थ के प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर किये थे। पर इस समय टर्की में राज्यक्रान्ति हो रही थी। मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्क लोग राजसत्ता का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे। ये क्रान्तिकारी तुर्क लोग सेव्र की सन्धि को मानने के लिये तैयार नहीं थे। टर्की की इस राज्यक्रान्ति पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

यूरोप के ईसाई लोग बहुत समय से इस बात के लिए उत्सुक थे, कि टर्की का यूरोप में प्रवेश न रहे। इस विधर्मी मुसलिम राज्य का यूरोप में रहना उन्हें बहुत खलता था। सेव्र की सन्धि द्वारा यूरोप में टर्की के प्रदेशों की प्रायः समाप्ति हो गई। अब वह प्रधानतया एक एशियाई राज्य ही रह गया।

महायुद्ध की समाप्ति पर विविध सन्धियों द्वारा यूरोप में जो नई राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की गई, उसके अनुसार अनेक नये राज्यों का निर्माण हुआ। इनमें पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया पुराने आस्ट्रिया-हंगरी के भग्नावशेषों पर कायम हुए। इनके अतिरिक्त फिनलैण्ड, लिथुएनिया, एस्थोनिया और लैट्विया—ये चार राज्य रूस से पृथक् होकर स्वतन्त्ररूप से स्थापित किये गये। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन हुआ। हम इन सब पर आगे चलकर यथास्थान विचार करेंगे।

९. अल्पसंख्यक जातियों का समस्या

१९१४-१८ के महायुद्ध में जो प्रवृत्तियां संघर्ष कर रही थीं, उनमें राष्ट्रीयता की भावना एक थी। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार यूरोप के विविध राज्यों का फिर से निर्माण किया जाना चाहिये, यह विचार मित्र राष्ट्रों के सम्मुख प्रबल रूप से विद्यमान था। 'एक राष्ट्रीयता, एक राज्य' इस आदर्श को क्रियारूप में परिणत होने में अनेक बाधायें भी थीं। इनमें मुख्य निम्नलिखित थीं—(१) पूर्वी यूरोप और बाल्कन प्रायद्वीप के अनेक प्रदेश इस प्रकार के थे, जिनमें एक से अधिक राष्ट्रीयता के लोगों का निवास था। आस्ट्रिया-हंगरी के राज्य में जर्मन जाति के बहुत से लोग ऐसे प्रदेशों में भी आबाद हो गये थे, जो उनके अपने प्रदेश नहीं थे। चेक, स्लोवाक, पोल आदि जातियां सदियों तक आस्ट्रियन व हंगेरियन लोगों की अधीनता में रही थीं। इस कारण इनके प्रदेशों में अनेक जातियों का मिश्रण हो गया था, जिससे राष्ट्रीयता के आधार पर नये राज्यों की सीमाओं का निर्धारित कर सकना सुगम नहीं था। यही बात बाल्कन प्राय-

द्वीप के विविध राज्यों के सम्बन्ध में थी। इसके अनेक प्रदेश देर तक तुर्क साम्राज्य के अधीन रहे थे और एक शासन में देर तक रहने के कारण वहां के निवासियों में भी विविध जातियों का मिश्रण हो गया था। (२) जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गेरिया और टर्की को परास्त करने में उनकी अधीनता में विद्यमान विविध जातियों ने मित्रराष्ट्रों का साथ दिया था। जब जर्मन पक्ष की पराजय के बाद इन्हें अपने पृथक् स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का अवसर मिला, तो इनका यह प्रयत्न हुआ, कि वे अपने राज्यों के क्षेत्र को अधिक से अधिक विस्तृत करें और अनेक ऐसे प्रदेशों को भी अपने अन्तर्गत कर लें, जहां उनके अपने सजातीय लोग बहुसंख्या में नहीं थे। फ्रांस इनकी इस आकांक्षा का प्रबल रूप से समर्थक था, क्योंकि उसका यह प्रयत्न था, कि जर्मनी और आस्ट्रिया अधिक से अधिक निर्बल हो जावें। फ्रांस चाहता था, कि पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया बहुत शक्तिशाली राज्य हों, ताकि उनके साथ मित्रता स्थापित कर वह जर्मनी को यूरोप में फिर से अपना सिर ऊँचा न करने दे।

इस दशा का यह परिणाम हुआ, कि महायुद्ध के बाद यूरोप में अल्पसंख्यक जातियों की एक नई समस्या उत्पन्न हो गई। इस समस्या की गम्भीरता को निम्नलिखित बातों से भलीभांति समझा जा सकता है—(१) चालीस लाख के लगभग आस्ट्रियन-जर्मन अपनी मातृभूमि से बाहर उन राज्यों में निवास करते थे, जिनका निर्माण सां जर्मे की सन्धि द्वारा किया गया था। इन जर्मनों की बहुसंख्या चेकोस्लोवाकिया में आबाद थी। सुडटनलैण्ड के प्रदेश (जो चेकोस्लोवाकिया के अन्तर्गत था) में जर्मन लोग बहुत बड़ी संख्या में रहते थे। (२) जर्मनी के जो प्रदेश पोलैण्ड को दिये गये थे, उनमें बसनेवाले जर्मन लोगों की संख्या दस लाख के लगभग थी। डान्ट्सिग और मेमल जैसे नगर, जो विशुद्ध रूप से जर्मन थे, जर्मनी से पृथक् कर दिये गये थे। (३) हंगरी से जो अनेक प्रदेश त्रियानो की सन्धि द्वारा ले लिये गये थे, उनमें तीस लाख के लगभग हंगेरियन लोगों का निवास था।

पेरिस की सन्धि-परिषद् के सम्मुख यह समस्या विकट रूप से विद्यमान थी, कि विदेशों में स्थिर रूप से निवास करनेवाली इन अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा करने के लिये किन उपायों का आश्रय लिया जाय। यह समस्या केवल पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि नये राज्यों के सम्बन्ध में ही नहीं थी। आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया और टर्की में भी बहुत से ऐसे लोग स्थिर रूप से आबाद थे, जो विजातीय थे और राष्ट्रीय दृष्टि से जो उस देश के नहीं थे, जिसमें

कि उनका निवास था । यही कारण है, कि सां जर्मे, त्रियानो, न्वीय्यी और सेव्र की सन्धियों में यह शर्त भी शामिल की गई थी, कि आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया और टर्की की सरकारें अपने क्षेत्र में बसी हुई अल्पसंख्यक जातियों की भाषा धर्म, संस्कृति आदि की रक्षा करेंगी और इनकी अपनी राष्ट्रीय विभिन्नताओं को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करेंगी ।

पेरिस की सन्धि-परिषद् ने पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि को भी इस बात के लिये विवश किया, कि वे अपने राज्यों में निवास करनेवाली अल्पसंख्यक जातियों की भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की रक्षा करने की गारण्टी दें । ये राज्य (पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, ग्रीस, युगोस्लाविया और टर्की) इस प्रकार की गारण्टी देने के विरुद्ध थे । इनका कहना था, कि इससे न केवल उनकी सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता (सोविरेनिटी) में बाधा पड़ती है, अपितु उनके राज्यों में विच्छृंखलता भी उत्पन्न होती है । उनकी इच्छा यह थी, कि इन अल्पसंख्यक जातियों को राष्ट्रीय दृष्टि से अपना अंग बना लिया जाय । जब तक भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की दृष्टि से वे पृथक् रहेंगी, देश में राष्ट्रीय एकता की स्थापना सम्भव नहीं होगी । पर अमेरिका और ब्रिटेन का इस बात पर बहुत जोर था, कि अल्पसंख्यक जातियों के हितों की पूर्ण रूप से रक्षा की जाय । इसी का यह परिणाम हुआ, कि राष्ट्रसंघ को यह कार्य सुपुर्द कया गया, कि वह यूरोप के विविध राज्यों में विद्यमान अल्पसंख्यक जातियों के हितों और अधिकारों की रक्षा करे । राष्ट्रसंघ द्वारा विविध राज्यों के साथ इस विषय में पृथक्-पृथक् रूप से इकरार भी किये गये । पर इससे अल्पसंख्यक जातियों की समस्या हल नहीं हो सकी । उनमें अपनी पृथक्ता की भावना बनी रही, और यही कारण है, कि जब हिटलर के नेतृत्व में जर्मन राष्ट्रीयता के आन्दोलन ने जोर पकड़ा, तो पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया में निवास करनेवाले जर्मनों ने नाजी दल का साथ दिया । राष्ट्रीयता की जिस समस्या को हल करने का प्रयत्न पेरिस की शान्ति-परिषद् ने किया था, वह सुलझने के बजाय उसकी नीति से और भी अधिक उलझ गई ।

बयालीसवां अध्याय

महायुद्ध के परिणाम

१. जन और धन का विनाश

महायुद्ध में ३२ राज्य एक पक्ष में और ४ राज्य दूसरे पक्ष में थे। संसार भर में केवल चौदह ऐसे राज्य बचे थे, जो इस युद्ध में तटस्थ रहे थे। इनमें से ६ यूरोप में, ७ अमेरिका में और १ अफ्रीका में था। संसार के अन्य सब राज्य फ्रांस और ब्रिटेन या जर्मनी का पक्ष लेकर युद्ध के मैदान में उतर आये थे। इतिहास में पहले कभी इतने सारे राज्य एक साथ रणक्षेत्र में नहीं उतरे थे। जर्मनी और उसके साथियों ने दो करोड़ आदमी युद्ध के लिये सैनिकों व उनके सहायकों के रूप में तैयार किये थे। मित्रराज्यों के सैनिकों की संख्या इससे दुगनी थी। इस प्रकार छः करोड़ आदमी युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग ले रहे थे। परोक्ष रूप से युद्ध में हिस्सा बटानेवाले लोगों की संख्या तो इससे कई गुना थी। वस्तुतः, युद्ध में सम्मिलित ३६ राज्यों की सारी जनता किसी न किसी रूप में युद्धकार्य में सहायता पहुंचा रही थी।

जनशक्ति का विनाश—इस महायुद्ध में कुल मिलाकर अस्सी लाख आदमी मारे गये। घायलों की संख्या एक करोड़ नब्बे लाख रही, इनमें साठ लाख ऐसे घायल भी शामिल हैं, जो बिलकुल अपाहिज हो गये थे। जर्मनी व उसके साथियों के तीस लाख आदमी मारे गये और अस्सी लाख घायल हुए। मित्रराष्ट्रों के पचास लाख आदमी मरे और एक करोड़ दस लाख घायल हुए। इनके अतिरिक्त, सत्तर लाख से अधिक आदमी दोनों पक्षों में मिलाकर ऐसे थे, जो लापता थे। इस प्रकार महायुद्ध में तीन करोड़ बीस लाख आदमी या तो जान से मारे गये, या खोये गये और या बुरी तरह से घायल हुए। दोनों पक्षों ने कुल मिलाकर छः करोड़ सैनिक व उनके सहायक भरती किये थे। इनमें से आधे से भी अधिक युद्ध में काम आ गये। संसार के इतिहास में इससे पहले शायद कोई ऐसा युद्ध नहीं हुआ, जिसमें इतने मनुष्यों का संहार हुआ हो।

सैनिकों के अतिरिक्त नागरिकों को भी समुद्र व हवाई लड़ाई के कारण जान का बहुत नुकसान उठाना पड़ा। ६९२ अमेरिकन और २०,६२० ब्रिटिश नागरिक जहाज डुबा देने के कारण समुद्र में मारे गये। १२७० ब्रिटिश नागरिक हवाई गोलाबारी के शिकार हुए। तुर्क लोगों ने अपनी ईसाई या यहूदी प्रजा पर जो अत्याचार किये, उनके कारण लाखों नागरिकों का संहार हुआ। महायुद्ध के बाद जो महामारियां यूरोप में फैलीं, उनमें चालीस लाख से भी अधिक आदमी मृत्यु को प्राप्त हुए। सैनिकों और नागरिकों का करोड़ों की संख्या में यह संहार बहुत ही भयंकर था। युद्ध में जो सैनिक मारे गये, वे सब जवान थे। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से वे अपने देशों के सबसे अच्छे लोग थे। उनका इतनी बड़ी संख्या में मारा जाना यूरोप के लिये बहुत ही हानिकारक हुआ। १९१९ के बाद यूरोप में सर्वत्र जो एक प्रकार का आर्थिक ह्रास-सा प्रतीत होता था, उसका बड़ा कारण वहां के नवयुवकों का इतनी बड़ी संख्या में मारा जाना ही था।

महायुद्ध का खर्च—महायुद्ध में कितना खर्च हुआ, इसका हिसाब अर्थ-शास्त्रियों ने इस प्रकार लगाया है—

पहले साल में—६०,०००,०००,००० (छः हजार करोड़)
दूसरे साल में—१००,०००,०००,००० (दस हजार करोड़)
तीसरे साल में—१२५,०००,०००,००० (साढ़े बारह हजार करोड़)
चौथे साल में—३००,०००,०००,००० (तीस हजार करोड़)

सर्वयोग—५८५,०००,०००,००० (साढ़े अट्ठावन हजार करोड़)

यह विशाल धन-राशि चार साल में युद्ध में सम्मिलित दोनों पक्षों ने फूंक कर धर दी। सन् १९१८ में संयुक्त राज्य अमेरिका की सारी सम्पत्ति इससे अधिक कीमत नहीं रखती थी। ब्रिटिश साम्राज्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति की कीमत इस विशाल धनराशि से कम थी। इसमें से एक तिहाई खर्च जर्मनी और उसके साथियों का हुआ, और दो तिहाई मित्रराष्ट्रों का। महायुद्ध का औसतन दैनिक खर्च चालीस करोड़ रुपया था, और १९१८ में तो खर्च का औसत साढ़े तीन करोड़ रुपया प्रति घंटा पड़ता था।

इस असाधारण खर्च के कारण संसार के सार्वजनिक ऋणों की मात्रा में भी असाधारण रूप से वृद्धि हो गई। १९१४ में दोनों पक्षों के प्रमुख राज्यों का कुल सार्वजनिक ऋण आठ हजार करोड़ था, १९१८ में यह बढ़कर चालीस हजार करोड़ हो गया। सार्वजनिक ऋण की मात्रा में पांचगुने की वृद्धि हो जाना यह

भली भांति सूचित करता है, कि युद्ध में सम्मिलित राज्यों को किस प्रकार ऋण के बोझ से लद जाना आवश्यक हो गया था ।

सम्पत्ति का विनाश——महायुद्ध में जो खर्च हुआ, उसके अतिरिक्त सम्पत्ति का भी बड़ा भारी विनाश युद्ध के कारण हुआ । इसका हिसाब अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार लगाया है——

जमीन पर सम्पत्ति का विनाश——१००,०००,०००,००० (दस हजार करोड़)
समुद्र में सम्पत्ति का विनाश——२५,०००,०००,००० (ढाई हजार करोड़)
तटस्थ देशों की सम्पत्ति का विनाश——७,०००,०००,००० (सात सौ करोड़)

सर्वयोग——१३२,०००,०००,००० (तेरह हजार दो सौ करोड़)

परिणाम——इतने भारी धन-विनाश का परिणाम यह हुआ कि वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगीं, मजदूरी की दर भी ऊंची उठने लगी, पैदावार बहुत कम रह गई, मुद्रा की कीमत बुरी तरह नीचे जानी शुरू हुई ,और व्यापार-व्यवसाय के क्षेत्रों में एक प्रकार की अव्यवस्था सी उत्पन्न हो गई । सरकारों को अपना बजट बराबर करना कठिन हो गया । नये टैक्स लगाये गये, और लोग सब तरह से आर्थिक संकट का अनुभव करने लगे । इस दशा से छुटकारा पाने के लिये यूरोप को कई साल लगे ।

२. राजनीतिक परिणाम

महायुद्ध के राजनीतिक परिणाम इतने महत्त्वपूर्ण थे, कि इसके बाद यूरोप में एक नवयुग का प्रारम्भ हुआ । जिस प्रकार १७८९ में फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद यूरोप में एक नवयुग का सूत्रपात हुआ था, वैसे ही अब १९१८ के बाद हुआ । महायुद्ध के इन राजनीतिक परिवर्तनों का यहां संक्षेप से उल्लेख करना आवश्यक है ।

(१) **एकतन्त्र शासनों का अन्त**——फ्रांस की राज्यक्रान्ति से यूरोप में लोकतन्त्र शासनों का जो श्रीगणेश हुआ था, अब उनका पूरी तरह से विकास हुआ । १७८९ में फ्रांस में बूर्बो राजवंश का अन्त होकर वहां रिपब्लिक की स्थापना हुई थी । अब जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और रूस के प्राचीन गौरवशाली राजवंशों का अन्त होकर इन सब देशों में रिपब्लिक स्थापित हुई । आस्ट्रिया-हंगरी के हाप्सबुर्ग सम्राट् प्राचीन पवित्र रोमन सम्राटों के उत्तराधिकारी थे । पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त हो चुका था, पर हाप्सबुर्ग सम्राट् अभी तक भी उसकी परम्परा व स्मृति

को कायम किये हुए थे। फ्रांस की राज्यक्रान्ति की लहर उन्हें कोई क्षति नहीं पहुंचा सकी थी। १८३० और १८४८ की क्रान्ति की लहरें भी इस पुराने राजवंश को कोई नुकसान नहीं पहुंचा पाई थीं। पर अब १९१८ में यह प्राचीन राजवंश सदा के लिये समाप्त हो गया, और इसका विशाल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। रूस के सम्राट् अपने स्वेच्छाचार और अबाधित सत्ता के लिये अद्वितीय थे। बीसवीं सदी में भी उनके सुविस्तृत साम्राज्य में प्रजा के अधिकार, स्वतन्त्र विचार और लोकमत जैसी 'फिजूल' बातों का प्रवेश नहीं हो पाया था। रूस के ये सम्राट् अब भी वैसे ही वैभव और गर्व के साथ रहते थे, जैसे कभी फ्रांस के बूर्बो सम्राट् स्वेच्छाचार और शान के साथ राज्य किया करते थे। जैसे कोई पुराना खोखला वृक्ष आंधी के वेग से लड़खड़ा कर गिर पड़ता है, वैसे ही अब रूस का प्राचीन राजवंश क्रान्ति के धक्के से धराशायी हो गया। यही दशा जर्मनी के होहेन्ट्सोलर्न वंश की हुई। ये सम्राट् अपनी वीरता और सैनिक शक्ति के मद से बहुत उद्धत थे। महायुद्ध में परास्त होकर इन्हें अपनी राजगद्दी से हाथ धोना पड़ा, और जर्मनी में भी रिपब्लिक की स्थापना हो गई। कैसर विलियम द्वितीय जर्मनी का सम्राट् था, और प्रशिया का राजा। उसके अतिरिक्त जर्मनी में बवेरिया आदि राज्यों के अन्य भी अनेक राजवंश थे। होहेन्ट्सोलर्न राजवंश के साथ-साथ उनकी भी समाप्ति हो गई। बल्गेरिया का राजवंश भी देर तक कायम नहीं रह सका, और कुछ साल बाद १९२५ में टर्की में भी सुलतान के एकतन्त्र शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई। टर्की के ये सुलतान केवल सम्राट् ही नहीं थे, अपितु खलीफा भी थे। संसार भर के मुसलमान इनको अपना धर्मगुरु भी मानते थे। अब न केवल टर्की की प्राचीन सल्तनत का अन्त हुआ, पर साथ ही खलीफत की भी इतिश्री हो गई। निःसन्देह, १९१८ में महायुद्ध की समाप्ति पर संसार में एक भारी क्रान्ति हुई थी, और १७८९ में लोकतन्त्रवाद की जिस लहर का प्रारम्भ हुआ था, उसने अब पृथ्वी के बहुत बड़े भाग को व्याप्त कर लिया था।

(२) **नई रिपब्लिकों की स्थापना**—१८१४ में यूरोप में केवल एक राज्य में रिपब्लिकन शासन था। सम्पूर्ण उन्नीसवीं सदी में केवल चार अन्य देशों में रिपब्लिकन शासन स्थापित हुए थे। १९१४ में जब महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड और पोर्तुगाल—केवल ये तीन महत्त्वपूर्ण देश ऐसे थे, जहां रिपब्लिक विद्यमान थीं। इन तीन के अतिरिक्त दो अन्य छोटे राज्यों (सन मरीनो और अन्दोरा) में भी रिपब्लिकन शासन की सत्ता थी। शेष सब यूरो-

पियन देशों में वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था। इसमें सन्देह नहीं, कि उन्नीमवीं सदी में यूरोप में लोकतन्त्रवाद का काफी विस्तार हुआ, पर उस काल की जनता इतने से सन्तुष्ट थी, कि पार्लियामेंट में लोकमत का प्रभाव बढ़ता रहे, विविध शासन-सुधारों द्वारा नागरिकों को वोट का अधिकार मिलता रहे और मन्त्रिमंडल पर जनता का प्रभाव स्थापित होता रहे। राजगद्दियों का अन्त करके रिपब्लिक की स्थापना होनी चाहिये, इसकी आवश्यकता को उन्नीसवीं सदी में लोगों ने विशेष रूप से अनुभव नहीं किया। पर अब महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप यूरोप में रिपब्लिकों की बाढ़ सी आ गई। रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, लिथु एनिया, लैटविया, एस्थोनिया, फिनलैण्ड और युक्रेनिया—ये दस नई रिपब्लिक अब यूरोप में कायम हुईं। यूरोप के बाहर एशिया और अफ्रीका में भी बहुत सी नई रिपब्लिक इस समय स्थापित हुईं, और संसार के बहु-संख्यक राज्यों में ऐसे शासन कायम हुए, जिसमें कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था, अपितु जनता अपना राजप्रमुख व राष्ट्रपति स्वयं चुनती थी। जापान और टर्की के अतिरिक्त कोई भी देश इस समय पृथिवी पर ऐसा नहीं रह गया था, जहां राजा के दैवी अधिकार का सिद्धान्त माना जाता हो। १९२५ में टर्की से भी दैवी राजा का अन्त हो गया, और अठारहवीं सदी का यह सर्वमान्य सिद्धान्त अब केवल जापान की ही सम्पत्ति रह गया।

जिन देशों में अभी वंशक्रमानुगत राजा रह भी गये, वहां भी जनता का शासन में अधिकार बढ़ने लगा, और लोकतन्त्रवाद बड़ी तेजी के साथ प्रगति करने लगा।

(३) **राष्ट्रीयता की भावना का चरम विकास**—फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा यूरोप में जिन नई प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ था, उनमें लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता की भावना सबसे प्रधान थी। जो लोग भाषा, धर्म, नसल, ऐतिहासिक परम्परा, संस्कृति व भौगोलिक दृष्टि से एक हैं, उनका अपना पृथक् स्वतन्त्र राज्य होना चाहिये और इस राज्य में किसी एक स्वेच्छाचारी राजा व वर्ग का शासन न होकर जनता की इच्छा व लोकमत के अनुसार शासन होना चाहिये—ये भावनायें अठारहवीं सदी के अन्त में यूरोप में प्रबल होने लगी थीं। उन्नीसवीं सदी में इन्हीं प्रवृत्तियों को क्रिया में परिणत करने के लिये यूरोप में संघर्ष होता रहा, और महायुद्ध के बाद प्रायः सारे यूरोप में ये भावनायें फलीभूत हो गईं। राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार हो गया, और प्रायः सर्वत्र पुराने राजवंशों की स्वेच्छाचारी सत्ता का अन्त होकर लोकतन्त्र शासन स्थापित हो गये।

महायुद्ध की समाप्ति पर यह सिद्धान्त एक सत्य के रूप में स्वीकृत कर लिया गया था, कि राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के अनुसार होना चाहिये। पेरिस की शान्ति-परिषद् ने राष्ट्रीयता के आधार पर यूरोप का पुनःनिर्माण करने का प्रयत्न किया, और आठ नये राज्य यूरोप के नकशे पर प्रकट हुए। ये राज्य चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, पोलैण्ड, लिथुएनिया, लैटविया, फिनलैण्ड, एस्थोनिया और हंगरी थे। इसमें सन्देह नहीं, कि इन राज्यों के निर्माण से यूरोप का नकशा बहुत-कुछ राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार बन गया था।

पर अभी राष्ट्रीयता की दृष्टि से अनेक ऐसी समस्यायें बच रही थीं, जिनका हल होना बाकी था। आयरलैण्ड अभी तक भी ग्रेट ब्रिटेन का एक प्रदेश था। भारत और ईजिप्ट अभी तक भी ब्रिटेन के अधीन थे। फिलिप्पीन्स पर अमेरिका का प्रभुत्व था। कोरिया जापान के अधीन था। चीन और अफ्रीका में यूरोपियन राज्यों के बड़े-बड़े प्रभावक्षेत्र और उपनिवेश कायम थे। इन सबके सम्बन्ध में राष्ट्रीयता या स्वभाग्यनिर्णय के सिद्धान्तों का अभी प्रयोग नहीं हुआ था। साथ ही, यूरोप में भी जो नये राज्य कायम किये गये थे, उनकी सीमाओं के सम्बन्ध में अनेक विवाद थे। सदियों तक यूरोप में बड़े-बड़े शक्तिशाली सम्राटों का शासन रहा था। हाप्सबुर्ग सम्राटों के शासन में जर्मन, हंगेरियन, चेक, स्लाव आदि विविध जातियां एक साथ रही थीं। इसका परिणाम यह था, कि अनेक प्रदेशों की आबादी मिश्रित थी। उनमें जर्मन और चेक या जर्मन और स्लाव साथ-साथ बसे हुए थे। ये प्रदेश किस राज्य में रहें, इसका फैसला हो सकना सुगम बात न थी। पेरिस की सन्धि-परिषद् में इनके सम्बन्ध में जो निर्णय हुए, उनके विरुद्ध तीव्र असन्तोष था।

(४) **लोकतन्त्रवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया**—युद्ध के समय प्रायः सभी राज्यों के लिये यह आवश्यक हो गया था, कि उनकी सरकारें असाधारण शक्ति और अधिकार प्राप्त कर लें। सैनिक आवश्यकता की दृष्टि से यह उपयोगी भी था। युद्ध का सुचारु रूप से संचालन तभी हो सकता था, जब सरकारें लोकमत की परवाह किये बिना और पार्लियामेण्ट से हर बात पूछे बिना, जिस समय जो कुछ जरूरी हो, उसे कर सकने का पूरा अधिकार रखती हों। साथ ही, युद्ध की दृष्टि से ही यह भी आवश्यक था, कि प्रेस पर कड़ी निगाह रखी जाय, लेख और भाषण की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित किया जाय, जो लोग युद्ध से सहानुभूति न रखते हों या उसके लिये पूरा प्रयत्न न करते हों, उनका दमन किया जाय, और सरकार को जनता से न केवल पूरी तरह सहयोग मिले, अपितु सब लोग आंख मींच कर

सरकार की आज्ञाओं का पालन करें। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ, कि युद्ध के मध्य में प्रायः सभी देशों की सरकारें बहुत कुछ स्वेच्छाचारी व एकतन्त्र हो गईं। जब युद्ध समाप्त भी हो गया, तो भी उस समय की असाधारण राजनीतिक व आर्थिक परिस्थितियों के कारण सरकारों के ये अबाधित अधिकार जारी रहे, और राजनीतिक नेताओं को यह आदत पड़ने लगी, कि वे देश की सुरक्षा और भलाई के नाम पर अमर्यादित सत्ता व अधिकारों का उपयोग करने लगें। इसी का परिणाम यह हुआ, कि इटली और स्पेन में लोकसत्तात्मक शासनों का अन्त होकर एक वर्ग-विशेष या दल-विशेष का शासन कायम हुआ। यही प्रवृत्ति आगे चलकर जर्मनी में प्रगट हुई, और धीरे-धीरे यूरोप के अनेक देशों में वे शासन स्थापित हुए, जिन्हें राजनीतिक परिभाषा में 'फैसिस्ट' कहा जाता है। इन फैसिस्ट शासनों में जनता की शक्ति का अन्त होकर एक राजनीतिक दल या प्रबल नेता के हाथों में सब राजशक्ति आ जाती थी।

(५) **सैनिकवाद में वृद्धि**—समझा यह जाता था, कि महायुद्ध में मित्र-राष्ट्र जर्मनी के सैनिकवाद (मिलिटरिज्म) के विरुद्ध लड़ रहे हैं। जर्मनी के परास्त हो जाने के बाद उचित तो यह था, कि विजेता देश आपस में मिलकर यह निर्णय करते, कि भविष्य में कोई भी देश अपनी सेना में इतनी वृद्धि न कर सके, कि वह अन्य देशों के लिये खतरे का कारण हो। पर हुआ इसके सर्वथा विपरीत। युद्ध की समाप्ति पर फ्रांस, ब्रिटेन और बेल्जियम ने अपनी सेना और साम्राज्य की वृद्धि के लिये अपनी सब शक्ति को लगा दिया। फ्रांस ने केवल आल्सेस-लारेन पर ही अपना अधिकार नहीं किया, अपितु र्हाइन के पश्चिम के जर्मन प्रदेश पर भी कब्जा कर उसने अपने व्यवसायों को खूब तरक्की दी। इन प्रदेशों के लोहे, कोयले आदि का उपयोग कर उसने अपने अस्त्र-शस्त्रों को बहुत बढ़ा लिया, और बहुत बड़ी संख्या में सेनाओं की भरती की। १९२२ में फ्रांस की स्थिर सेना में सैनिकों की संख्या सात लाख सत्तर हजार से भी अधिक थी! पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि नये राज्य उसके मित्र थे। इनकी विदेशी नीति का संचालन फ्रांस ही करता था। महायुद्ध के बाद यूरोप में फ्रांस की शक्ति इतनी प्रबल थी, कि वह जहां चाहे आक्रमण कर सकता था, और उसको रोकने की ताकत यूरोप के किसी भी देश में न थी। जर्मनी कभी इतना शक्तिशाली नहीं हुआ था, जितना कि अब फ्रांस था। अफ्रीका में अनेक जर्मन उपनिवेशों पर कब्जा करके और तुर्की साम्राज्य के अन्यतम प्रदेश सीरिया को अधिगत करके फ्रांस की सामुद्रिक और औपनिवेशिक शक्ति भी अब बहुत बढ़ गई थी। साम्राज्य की दृष्टि से अब उसका

स्थान संसार में दूसरे नम्बर पर था। इसमें सन्देह नहीं, कि फ्रांस की यह स्थिति यूरोप के लिये बड़े खतरे की चीज थी।

ग्रेट ब्रिटेन और बेल्जियम ने भी महायुद्ध के परिणामस्वरूप अनेक नये प्रदेश व उपनिवेश प्राप्त किये थे। इटली ने जहां यूरोप में आस्ट्रिया से कुछ प्रदेशों को प्राप्त किया था, वहां अफ्रीका में भी अपने साम्राज्य-विस्तार की उसे बड़ी चिन्ता थी। यह स्पष्ट है, कि यूरोप के विविध देशों को इस समय दो भागों में बांटा जा सकता था। एक वे जिनके पास साम्राज्य थे, और दूसरे वे जिनके पास साम्राज्य नहीं थे। साम्राज्यवाले देश धनी, सम्पन्न और शक्तिशाली थे। साम्राज्य-विहीन देश गरीब व शक्तिशून्य थे। उनमें प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या का होना बिलकुल स्वाभाविक था। साधन न होते हुए भी यूरोप के विविध देश सेनाओं तथा युद्धोपयोगी सामग्री की वृद्धि करने में जुट गये थे। सैन्य-शक्ति के लिये उनमें एक प्रकार की होड़ सी चल पड़ी थी। १९२२ में इन राज्यों की सेनाओं में सैनिकों की संख्या इस प्रकार थी—

फ्रांस—७,७०,०००
पोलैण्ड—२,३०,०००
इटली—२,५०,०००
स्पेन—२,१७,०००
ग्रीस—२,५०,०००
बेल्जियम—१,१३,०००

युद्ध समाप्त हो गया था, पर अब भी यूरोप के विविध देशों की स्थिर सेनाओं में सैनिकों की संख्या चालीस लाख से कम न थी। इतनी बड़ी सेनाओं को रखने के लिये कितना रुपया प्रतिवर्ष खर्च होता था, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। यूरोप के विविध राज्य आपस में मिलकर यह तय कर लें, कि वे सेनाओं में वृद्धि करने के बजाय उन्हें घटायें—इसके लिये अनेक यत्न किये भी गये। १९२१ में वाशिंगटन में एक सम्मेलन इसी उद्देश्य से हुआ। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण बातों पर समझौता भी हुआ। पर यूरोप में सैन्य-वृद्धि में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। महायुद्ध के समय में वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण अनेकविध नये संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ था। अब यूरोप के विविध देश इसी उद्योग में लगे थे, कि इन हथियारों को अधिक से अधिक मात्रा में अपने पास जुटा लें।

(६) अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास—महायुद्ध का सबसे महत्त्वपूर्ण राज-

नीतिक परिणाम अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास था। संसार के विविध राज्यों को किसी न किसी रूप में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में संगठित होना चाहिये, यह विचार नया नहीं था। इसके लिये कतिपय प्रयत्न भी पहले हो चुके थे। पर महायुद्ध में जिस भयंकरता के साथ धन और जन का विनाश हुआ, उसके कारण इस प्रकार के संगठनों की आवश्यकता बहुत प्रबल रूप से अनुभव की जाने लगी। इसी कारण राष्ट्रपति विल्सन ने पेरिस की शान्ति-परिषद् में राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिये बहुत जोर दिया और उसे वर्साय की सन्धि में प्रमुख स्थान दिया। आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया और टर्की के साथ जो पृथक् सन्धियां की गईं, उनमें भी राष्ट्र संघ के संविधान को अन्तर्गत किया गया। अन्तर्राष्ट्रीयता के विचार को क्रिया में परिणत करने के लिये जो क्रियात्मक कदम इस समय उठाये गये उनमें मुख्य निम्नलिखित थे---(१) राष्ट्रसंघ (२) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (३) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूरसंघ। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी इस समय स्थापित किये गये। यद्यपि इन्हें पूर्णरूप से सफलता नहीं हो सकी, और बीस साल के बाद ही संसार में एक बार फिर मात्स्यन्याय प्रबल हो गया, पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि १९१४-१८ के महायुद्ध द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में भारी सहायता मिली थी।

महायुद्ध के बाद स्थापित हुए इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों पर हम अगले अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

३. महायुद्ध के आर्थिक व सामाजिक परिणाम

जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में १९१४-१८ के महायुद्ध ने अत्यन्त क्रान्तिकारी परिणाम उत्पन्न किये, वैसे ही आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में भी इसने भारी परिवर्तन किया। इन परिवर्तनों का उल्लेख संक्षेप के साथ इस प्रकार किया जा सकता है---

(१) **राजकीय साम्यवाद का विकास**---महायुद्ध से पूर्व ही साम्यवाद का विचार यूरोप में जोर पकड़ने लगा था। पर व्यवसाय और व्यापार का संचालन अभी व्यक्तियों के ही हाथ में था, और प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा व साधनों के अनुसार जो काम चाहे कर सकता था। इसमें सन्देह नहीं, कि राज्य की ओर से आर्थिक जीवन पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण शुरू हो गये थे, पर अभी उनकी मात्रा बहुत कम थी। महायुद्ध के समय में आवश्यकता से विवश होकर

राज्यों ने अनेक व्यवसायों का संचालन अपने हाथ में ले लिया था। युद्ध के साथ जिन व्यवसायों का सीधा सम्बन्ध था, उन्हें व्यक्तियों के हाथों में नहीं रहने दिया जा सकता था। कोयले और लोहे की खानें, अस्त्र-शस्त्र बनाने के कारखाने, रेल और मोटर बनानेवाले कारखाने---ये सब राज्यों ने अपने अधिकार में कर लिये थे। जिन व्यवसायों को राज्यों ने सीधा अपने कब्जे में नहीं किया था, उन पर भी कड़ा नियन्त्रण रखने की आवश्यकता थी, क्योंकि उन सबका संचालन युद्ध की दृष्टि से किया जाना अनिवार्य था। इस प्रकार विविध राज्यों का आर्थिक जीवन अब बहुत कुछ उनकी सरकारों के हाथ में आ गया था, और 'राजकीय साम्यवाद' की स्थापना स्वयमेव हो गई थी। युद्ध की समाप्ति पर साम्यवादी चाहते थे, कि व्यवसायों पर अब भी राज्य का नियन्त्रण जारी रहे, और पूंजीपतियों को यह अवसर न दिया जाय, कि वे मनमानी तरीके से आर्थिक जीवन का संचालन कर सकें। यद्यपि उन्हें अपने उद्योग में सफलता नहीं मिली, और व्यवसाय फिर से व्यक्तियों व पूंजीपतियों के हाथ में चले गये, पर राज्य का अनेक प्रकार का हस्तक्षेप जारी रहा, और राजकीय साम्यवाद के लिये एक प्रकार का मार्ग तैयार हो गया। जर्मनी के नेताओं ने इस स्थिति से लाभ उठाकर वहां नाजी (राष्ट्रीय साम्यवादी) पद्धति का विकास किया, और अनेक अन्य देशों ने भी उसका अनुसरण किया।

(२) **मजदूर-आन्दोलन**--महायुद्ध के समय में कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। करोड़ों की संख्या में नवयुवकों के लड़ाई के मैदान में चले जाने के कारण मजदूरी करनेवाले लोगों की बहुत कमी हो गई थी। लड़ाई में विजय के लिये जितनी आवश्यकता सैनिकों की थी, उतनी ही अस्त्र-शस्त्रों व अन्य युद्धोपयोगी सामग्री की भी थी। इस सामग्री को कारखाने तैयार करते थे, और कारखाने मजदूरों के बिना नहीं चल सकते थे। परिणाम यह हुआ, कि मजदूरश्रेणी में अपनी महत्ता की एक नई अनुभूति उत्पन्न हुई। मजदूर लोग न केवल यह आन्दोलन करने लगे, कि उन्हें अधिक वेतन मिलना चाहिये, उनके काम करने के घंटों में कमी होनी चाहिये, उनके रहन-सहन में उन्नति तथा आराम का प्रबन्ध होना चाहिये, अपितु व्यवसायों के संचालन में उनका वैसा ही हाथ होना चाहिये, जैसा कि पूंजीपतियों का होता है। इसके लिये उन्होंने अनेक संघों की स्थापना की, और इस आन्दोलन को बहुत प्रबल कर दिया, कि युद्ध में विजय का बड़ा श्रेय मजदूरों को है, और समाज व राज्य में उनकी स्थिति अधिक महत्त्व की होनी चाहिये। राजनीतिक क्षेत्र में पृथक्

मजदूरदलों की स्थापना हुई, और धीरे-धीरे मजदूरश्रेणी का राज्य-शासन में महत्त्व बढ़ने लग गया ।

(३) **मुद्रा का प्रसार**——महायुद्ध के समय में रुपये की भी बड़ी आवश्यकता थी । दोनों पक्षों के राज्य अरबों रुपया प्रतिवर्ष खर्च कर रहे थे । यह रुपया किसी उत्पादक धन्धे में न लगकर विनाश में लग रहा था । लड़ाई में न केवल रुपया पानी की तरह बह रहा था, पर साथ ही कल-कारखानों, रेलवे, जहाज तथा अन्य सम्पत्ति का विनाश भी बुरी तरह से हो रहा था । इस दिशा में विविध राज्य अपने अत्यन्त बढ़े हुए खर्चों को चलाने के लिये यही उपाय काम में ला सकते थे, कि वे ज्यादा कर्ज लें, यह कर्ज चाहे देश के धनपतियों से लिया जाय और चाहे विदेशों से । टैक्स खूब बढ़ाये जावें, और यदि कर्ज व टैक्स से भी खर्च पूरे न हों, तो कागज की मुद्रा प्रचारित कर काम चलाया जाय । इन सबका परिणाम यह हुआ, कि युद्ध के समाप्त होते-होते प्रायः सभी राज्य कर्जों से बुरी तरह लद गये, कीमतें बढ़ गई, और पत्र-मुद्राओं का मूल्य बाजार में बहुत गिर गया । यूरोप के प्रायः सभी देशों में एक प्रकार का आर्थिक संकट उपस्थित हो गया, जिसे दूर करने के लिये उन्हें अनेक प्रकार के आयोजन करने पड़े ।

(४) **स्त्रियों की स्थिति**——महायुद्ध में करोड़ों की संख्या में पुरुष लड़ाई के मैदान में चले गये थे । जीवन के अनेक क्षेत्रों में काम करने के लिये अब स्त्रियों को आगे बढ़ना पड़ा । दफ्तर, ट्राम, बस, दूकान और कारखाने——सब जगह अब पुरुषों का स्थान स्त्रियां लेने लगीं । युद्ध की आवश्यकता से विवश होकर स्त्रियों को बहुत बड़ी संख्या में घर छोड़कर आर्थिक जीवन में आना पड़ा । बड़े-बड़े कारखानों में कठिन से कठिन काम करने के लिये भी स्त्रियों ने हाथ बढ़ाया । लोहे के कारखानों में ढलाई का काम, रन्दे का काम और भट्टी तक का काम स्त्रियां करने लगीं । यह एक भारी सामाजिक क्रान्ति थी । अब स्त्रियों में यह भावना बहुत प्रबल हो गई थी, कि उनका कार्यक्षेत्र केवल घर की चहारदीवारी ही नहीं है, अपितु वे सब क्षेत्रों में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाती हुई काम कर सकती हैं । इसका परिणाम यह हुआ, कि प्रायः सभी यूरोपियन देशों में स्त्रियों को वे सब राजनीतिक अधिकार दिये गये, जिनसे वे अब तक वंचित थीं । वोट का अधिकार उन्हें प्राप्त हुआ और वे भी पार्लियामेंट की सदस्य बनने के लिये अपने को पेश करने लगीं । स्त्रियों को पुरुषों के समान सामाजिक और राजनीतिक स्थिति प्राप्त कराने में महायुद्ध ने बहुत अधिक सहायता दी ।

(५) **नसलों की समानता**—महायुद्ध से पहले यूरोप के लोगों में अपने वर्ण और नसल की उत्कृष्टता की भावना बड़ी प्रबल थी। यूरोपियन लोग समझते थे, कि श्वेतांग लोग सबसे उत्कृष्ट हैं, और एशिया व अफ्रीका के काले, भूरे व पीले रंग के लोग उनकी अपेक्षा बहुत हीन हैं। इन महाद्वीपों में उनके जो साम्राज्य थे, उनके कारण वे एशिया व अफ्रीका के निवासियों को अपना गुलाम व आश्रित समझते थे। पर युद्ध की आवश्यकता से विवश हो भारत, अफ्रीका, जापान आदि से बहुत से सैनिक यूरोप आये, और उन्होंने जर्मनी व उसके साथियों के गौरांग सैनिकों के साथ डटकर लड़ाई की। भारत व अफ्रीका के सिपाही यूरोप के सिपाहियों से किसी भी प्रकार हीन नहीं हैं, यह बात अब भली भांति सिद्ध हो गई, और इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ, कि यूरोपियन नसलों की उत्कृष्टता का विचार बिलकुल निराधार साबित हो गया। सब नसलें एक समान हैं, कोई उत्कृष्ट या हीन नहीं है—इस विचार द्वारा संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता और सुख-शान्ति स्थापित होने का मार्ग बहुत कुछ निष्कण्टक हो गया।

(६) **धर्म के सम्बन्ध में सन्देह**—महायुद्ध के समय में दोनों पक्ष के चर्च अपने-अपने राज्य के पक्ष को न्याय-संगत व धर्मानुकूल प्रतिपादित करते थे, और ईश्वर से प्रार्थना करते थे, कि उनके पक्ष की विजय हो। फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रिया—सब ईसाई धर्म के अनुयायी थे। सबका एक ईश्वर, एक धर्म-पुस्तक और एक धार्मिक सिद्धान्त थे। यदि ईसाई चर्च के नेता यह समझते, कि युद्ध के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं, चर्च का उद्देश्य तो दुखी मानव-जाति की समान रूप से सेवा करना है, युद्ध को बन्द कर शान्ति स्थापना के लिये प्रयत्न करना धर्म के नेताओं का मुख्य कार्य है—तो धर्म के प्रति जनता में श्रद्धा बढ़ती। पर राज-शक्ति से अभिभूत होकर पादरियों ने अपनी सरकारों के अच्छे बुरे सब प्रकार के कार्यों का समर्थन शुरू किया, और जनता को यह भी कहना प्रारम्भ किया, कि युद्ध में अपने राज्य का पूर्ण रूप से समर्थन उनका सबसे बड़ा धार्मिक कर्तव्य है। ईसाई मत के नाम से यही बात मित्र-राष्ट्रों के पादरी कहते थे, और यही बात जर्मनी व उसके साथी देशों के पादरी प्रतिपादित करते थे। जर्मनी के गिरजों में भगवान् से प्रार्थना की जाती थी, कि मित्रराष्ट्र परास्त हो जावें और फ्रांस के गिरजों में जर्मनी के विनाश के लिये प्रार्थनायें होती थीं। धर्म और भगवान् का यह कैसा बीभत्स उपहास था! विज्ञान की उन्नति से पहले ही ईसाई धर्म के सम्बन्ध में एक प्रकार की सन्देह की प्रवृत्ति लोगों में पैदा हो गई थी। अब युद्ध के समय में यह प्रवृत्ति और भी बढ़ गई। यूरोप में एक प्रकार की

नास्तिकता की लहर जोर पकड़ने लगी। रूस में इसने बड़ा उग्र रूप धारण किया, और वहां से ईसाई चर्च प्रायः नष्ट ही हो गया।

(७) **शिक्षा और विज्ञान**--महायुद्ध के कारण शिक्षा को बहुत नुकसान पहुंचा। उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले नवयुवक बाधित सैनिक सेवा के कारण बड़ी संख्या में युद्ध-क्षेत्र में चले गये। बहुत से अध्यापकों को भी पुस्तकें छोड़कर बन्दूकें हाथ में लेनी पड़ीं। अनेक विश्वविद्यालय और कालिज बन्द हो गये। पर शिक्षा के क्षेत्र में जो क्षति हुई, वह विज्ञान की उन्नति ने बहुत कुछ पूरी कर दी। युद्ध के समय में वैज्ञानिक लोगों ने अपनी सारी ताकत नये नये आविष्कारों में लगा दी। विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में इस समय नये-नये आविष्कार हुए। इसमें सन्देह नहीं, कि युद्ध की आवश्यकताओं से विवश होकर विज्ञान के क्षेत्र में जो उन्नति हुई, उसके कारण मानव-समाज प्रगति के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ गया।

तेंतालीसवां अध्याय

राष्ट्रसंघ

१. अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास

संसार के विविध राज्यों को एक सूत्र में संगठित करने का विचार नया नहीं है। युद्धों का अन्त तभी हो सकता है, जब विविध स्वतन्त्र राज्य मिलकर एक ऐसे संगठन का निर्माण कर लें, जो उनके आपस के झगड़ों का निर्णय युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों से कर सकें। उन्नीसवीं सदी में सबसे प्रबल राजनीतिक शक्ति राष्ट्रीयता की थी। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी पृथक् सत्ता और स्वाधीनता का अधिकार है, और उसे अक्षुण्ण रखना उसके नागरिकों का प्रधान कर्तव्य है, यह विचार उस समय सबसे प्रबल था। साथ ही, यह भी आवश्यक समझा जाता था, कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय सभ्यता, भाषा व संस्कृति का पूरी तरह विकास करे, और उनकी रक्षा के लिये अपनी सैनिक शक्ति को इतना बढ़ा ले, कि कोई दूसरा राष्ट्र उसे किसी प्रकार की क्षति न पहुंचा सके। हमारी राष्ट्रीय सभ्यता सबसे उत्कृष्ट है, और हम अपनी शक्ति को बढ़ाकर, अन्य पिछड़े हुए देशों को सभ्यता व उन्नति के मार्ग पर अग्रसर कर सकते हैं, यह विचार राष्ट्रीय गौरव की भावना का एक स्वाभाविक परिणाम था। इसी के कारण उस साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने यूरोप के उन्नत राष्ट्रों को एशिया व अफ्रीका में अपने प्रभाव का विस्तार करने के लिये प्रेरित किया। उग्र राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियों ने अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को जन्म दिया, और उन युद्धों का सूत्रपात हुआ, जो आधुनिक इतिहास की एक बड़ी विशेषता है।

पर साथ ही विचारकों ने यह भी सोचना शुरू किया, कि क्या विविध स्वतन्त्र राज्यों का एक संगठन बनाकर उनके आपस के झगड़ों का सदा के लिये अन्त नहीं किया जा सकता? राज्यसंस्था के निर्माण से पूर्व, मनुष्य स्वच्छन्दता में रहते थे, शक्तिशाली से निर्बल की रक्षा करने का कोई साधन न था। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी तरह बलशाही मनुष्य के सम्मुख शक्ति-

हीन मनुष्य अपने को असहाय अनुभव करता था। राज्यसंस्था के निर्माण द्वारा इस स्थिति का अन्त हुआ, और विविध मनुष्य अपने झगड़ों का फैसला ताकत आजमाने की बजाय कानून के सहारे करने लगे। क्या यह सम्भव नहीं कि एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था व सरकार का निर्माण करके अन्तर्राष्ट्रीय 'मात्स्यन्याय' का भी अन्त कर दिया जाय, और विविध राज्य अपने झगड़ों का निर्णय एक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कराने लगें ?

इस विचार के विकसित होने में निम्नलिखित परिस्थितियां सहायक हुईं—

(१) उन्नीसवीं सदी में जो वैज्ञानिक आविष्कार हुए, उनके कारण देश और काल पर अद्भुत विजय स्थापित हुई। इससे विविध राज्य एक दूसरे के बहुत समीप आने लगे। रेल और मोटर के आविष्कार के कारण फ्रांस, इटली, टर्की और स्पेन आदि यूरोपीय राज्य एक दूसरे के बहुत समीप आ गये। भाप व यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले जहाजों के कारण यूरोप, एशिया व अफ्रीका आदि महाद्वीपों की दुरी बहुत कम रह गई। हवाई जहाजों के आविष्कार के बाद तो सारी पृथ्वी के निवासी एक छोटे से टापू के निवासियों के समान एक दूसरे के बहुत नजदीक आ गये। तार, रेडियो आदि के कारण एक स्थान का समाचार दूसरी जगह जाना बहुत सुगम हो गया, और हजारों मील की दूरी पर रहनेवाले लोग भी आपस में घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने में समर्थ होने लगे।

(२) विविध राज्यों में पारस्परिक व्यापार के विकास के कारण लोगों में विदेशियों के साथ सम्पर्क में आने, उन्हें समझने और उनका विश्वास करने की भावना बढ़ने लगी। इङ्गलैण्ड, फ्रांस, अमेरिका आदि समृद्ध देशों ने अरबों रुपया भारत, चीन, ईरान आदि में कल कारखानों के विकास के लिये लगाया, और हजारों लाखों व्यापारी स्वतन्त्रता व निश्चिन्तता के साथ विदेशों में व्यापार के लिये आने-जाने लगे।

(३) प्रेस के आविष्कार के कारण पुस्तकों की मांग बढ़ने लगी। विदेशी भाषाओं के उत्कृष्ट ग्रन्थों का अनुवाद कर उनको प्रकाशित करने की प्रवृत्ति ने अन्य देशों की सभ्यता, संस्कृति व धर्म को समझने में बड़ी सहायता पहुंचाई। शेक्सपियर (इङ्गलिश), शिलर (जर्मन), वाल्टेयर (फ्रेंच) आदि लेखकों के ग्रन्थों का अनुवाद विविध भाषाओं में होने लगा। गीता, बाइबल, कुरान, आदि धार्मिक ग्रन्थ संसार की प्रायः सभी भाषाओं में प्रकाशित हुए। इसका परिणाम यह हुआ, कि भाषा, धर्म व संस्कृति के कारण मनुष्यों में जो भेद हैं, वे दूर होने लगे और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के विकास के साथ-साथ एक प्रकार की

अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति का भी जन्म होने लगा। इन परिस्थितियों का यह परिणाम हुआ, कि विविध राज्यों के बीच में जो एक प्रकार की अभेद्य दीवार थी, एक दूसरे के प्रति जो सन्देह और विद्वेष की भावना थी, वह खंडित होने लगी, और परस्पर सहयोग व भाईचारे की भावना का प्रादुर्भाव होने लगा। इसमें सन्देह नहीं, कि उन्नीसवीं सदी में एक नये युग का प्रारम्भ हो रहा था। विज्ञान, साहित्य, व्यापार, धर्म और शिक्षा के क्षेत्रों में राष्ट्रीय भेद-भाव का अन्त होकर एक प्रकार की विश्व संस्कृति का जन्म होने लगा था, और संसार के विविध देश एक दूसरे के बहुत समीप आने लग गये थे।

इसी प्रवृत्ति का यह परिणाम था, कि उन्नीसवीं सदी में विविध उद्देश्यों को सम्मुख रखकर बहुत सी अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं व संस्थाओं का निर्माण किया गया। इनकी संख्या ३०० से भी अधिक थी। संसार के विविध राज्य अब एक दूसरे के इतने समीप आ गये, कि आपस की विविध समस्याओं को हल करने के लिये अनेक प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण करना आवश्यक हो गया था। इनमें से कतिपय का उल्लेख करना उपयोगी है—

(१ तथा २) विश्व पोस्टल यूनियन और विश्व टेलीग्राफ यूनियन; अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व यात्रा आदि की वृद्धि से अब एक देश से दूसरे देश में भेजे जानेवाले पत्रों, पार्सल व तार आदि की संख्या इतनी बढ़ गई थी, कि विश्व भर के देशों को अपना एक संगठन बनाये बिना इस डाक की व्यवस्था करना सम्भव नहीं था। आवश्यकता से विवश होकर विविध राज्यों ने डाक और तार की सुव्यवस्था के लिये अपना यूनियन बनाया और इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के कानून-कायदों को मानना स्वीकार किया।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कमीशन; व्यापार और यात्रा की वृद्धि के कारण एक देश में विद्यमान महामारी का दूसरे देश में फैल जाना भी अब सुगम हो गया था। इसे रोकने के लिये और यह व्यवस्था करने के लिये कि हैजा, प्लेग, चेचक आदि छूत के रोग एक देश से दूसरे देश में न फैलने पावें, १९०३ ईस्वी में अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कमीशन का निर्माण किया गया।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय स्वेज नहर कमीशन; इसका उद्देश्य यह था कि युद्ध व शान्ति, सब काल में स्वेज नहर को खुला रखा जाय। इसी प्रकार की अनेक संस्थायें गत प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१९) से पहले संगठित हो रही थीं, जो नई परिस्थितियों से विवश होकर ही विविध क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रयत्न कर रही थीं।

प्रथम महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति को बहुत बल मिला । युद्धों से विविध राष्ट्रों में जहां विद्वेष उत्पन्न होता है, वहां उनमें घनिष्ठता भी स्थापित होती है । इस महायुद्ध में सम्मिलित राज्य दो भागों में विभक्त थे; मित्रराष्ट्र व जर्मन पक्ष । मित्रराष्ट्रों में ३२ राज्य सम्मिलित थे, और जर्मन पक्ष में चार । महायुद्ध में दोनों पक्षों को यह आवश्यकता हुई, कि एक पक्ष के राज्य आपस में मिलकर व एक दूसरे के साथ घनिष्ठता के सम्बन्ध में बंधकर युद्ध का संचालन करें । मित्रराष्ट्रों के नेता फ्रांस और इङ्गलैण्ड थे । दूसरे पक्ष का नेता जर्मनी था । युद्ध के संचालन के लिये सैनिक, आर्थिक व राजनीतिक सहयोग की अत्यधिक आवश्यकता थी । इसके लिये अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण किया गया । मित्रराष्ट्रों ने परस्पर सहयोग द्वारा युद्ध का संचालन करने के लिये 'प्रधान युद्ध कौंसिल' 'मित्रराष्ट्रीय नाविक कौंसिल', 'शस्त्र कौंसिल', 'ट्रांसपोर्ट कौंसिल', 'खाद्य पदार्थ कौंसिल' आदि विविध संस्थाओं का संगठन किया । मित्रराष्ट्रों के पक्ष में सम्मिलित बत्तीस राज्यों का यह हित था, कि वे केन्द्रीय राज्यों को युद्ध में परास्त करें । इसके लिये उन्होंने आपस में मिलकर काम करना स्वीकार किया था, अपने आप स्वच्छन्द रीति से लड़ने की अपेक्षा उन्होंने यह उचित समझा था, कि अपनी सब सेनाओं, हथियारों व अन्य साधनों को एक 'प्रधान युद्ध कौंसिल' के सुपुर्द कर दें, और इस कौंसिल द्वारा आदेश पाकर उसके अनुसार कार्य करें । अन्तर्राष्ट्रीय राज्यसंस्था की ओर यह महत्त्वपूर्ण कदम था । इन कौंसिलों द्वारा बत्तीस मित्रराष्ट्रों को यह अभ्यास हुआ, कि वे अपनी स्वाधीनता को सबके हित के लिये मर्यादित कर सकें, और एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में बंध सकने की आदत डालें । इसी का परिणाम हुआ, कि जब महायुद्धों में मित्रराष्ट्रों की विजय हुई, तो उन्होंने अनुभव किया कि युद्ध के कारण सहयोग की जो भावना उनमें उत्पन्न हुई है, उसे स्थिर रखने के लिये और परस्पर मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का संचालन व आपस के विवादग्रस्त विषयों का शान्तिमय उपायों से निर्णय करने के लिये एक 'राष्ट्रसंघ' का निर्णय करना आवश्यक है ।

२. राष्ट्रसंघ

प्रथम महायुद्ध के बाद संसार में स्थिर रूप से शान्ति स्थापित रखने के लिये जो प्रयत्न हुए, उनमें सबसे प्रमुख राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) का संगठन था । इस संघ के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, शान्ति और सुरक्षा को प्रोत्साहित करना (२) हथियारों को कम करना,

और (३) युद्धों को रोकने व राज्यों के आपस के झगड़ों का युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों से फैसला कराने का यत्न करना। राष्ट्रसंघ में सम्मिलित राज्यों ने यह जिम्मा लिया था, कि वे एक दूसरे की राष्ट्रीय सीमा को सुरक्षित रखेंगे, और यदि कोई अन्य राज्य उनमें से किसी पर भी आक्रमण करे, तो उसका मिल-कर मुकाबला करेंगे। सन् १९२५ तक ५५ राष्ट्र इस संघ में सम्मिलित हो गये थे। संसार में केवल ९ ऐसे राष्ट्र रह गये थे, जो राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं बने थे। विश्व भर के राज्यों को एक संघ में संगठित करने के प्रयत्न में, निस्संदेह, यह बहुत बड़ी सफलता थी। राष्ट्रसंघ का संगठन इस प्रकार था—

(१) **एसेम्बली**—इसमें राष्ट्रसंघ के सब सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधि होते थे। प्रतिनिधियों की संख्या राज्य की महत्ता के अनुसार एक से तीन तक होती थी। एसेम्बली का वार्षिक अधिवेशन सितम्बर के महीने में जिनीवा में होता था। जनता उसमें दर्शक रूप से सम्मिलित हो सकती थी। आवश्यकता पड़ने पर सितम्बर के अतिरिक्त अन्य समय में भी एसेम्बली के विशेष अधिवेशन हो सकते थे। जनता एसेम्बली के सब अधिवेशनों में दर्शक रूप से शामिल हो सकती थी। जब एसेम्बली का अधिवेशन हो, तो शुरू में वह व्यक्ति उसके सभापति पद को ग्रहण करता था, जो उस समय राष्ट्र-संघ की कौंसिल का अध्यक्ष हो। बाद में एसेम्बली अपने सभापति और छः उपसभापतियों का निर्वाचन करती थी। सभापति का निर्वाचन हो जाने पर वही एसेम्बली के सभापतिपद को ग्रहण कर लेता था। सभापति और छः उपसभापतियों के अतिरिक्त छः स्थिर समितियों का भी एसेम्बली चुनाव करती थी। ये स्थिर समितियां (स्टैंडिंग कमेटी) निम्नलिखित छः विषयों के लिये होती थीं—(१) वैधानिक और संविधान सम्बन्धी (कान्स्टिट्यूशनल) विषयों पर विचार करने के लिये, (२) विशिष्ट मामलों के लिये जो अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन निर्मित हुए थे, उनके लिये, (३) अस्त्र-शस्त्रों को कम करने के प्रश्न पर विचार करने के लिये, (४) बजट के लिये और राष्ट्रसंघ के आन्तरिक प्रशासन के लिये (५) सामाजिक समस्याओं पर विचार करने के लिये और (६) राजनीतिक प्रश्नों पर विचार के लिये। इन छः स्थिर समितियों के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ की एसेम्बली अन्य अनेक विशेष समितियों का भी चुनाव करती थी, जिन्हें किसी विशेष समस्या पर विचार करने का कार्य सुपुर्द किया जाता था।

एसेम्बली के अधिवेशनों में विविध सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधि किसी भी ऐसे प्रश्न को उपस्थित कर सकते थे, जो राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और प्रयोजनों के

अन्तर्गत हो। वे अपनी शिकायतों को वहां पेश कर सकते थे, अपनी समस्याओं को अन्य राज्यों के सम्मुख ला सकते थे और अन्य राज्यों की नीति की आलोचना भी कर सकते थे । एसेम्बली राष्ट्रसंघ के वार्षिक बजट को स्वीकार करती थी, जो नये राज्य राष्ट्रसंघ के सदस्य बनना चाहें, उनके आवेदनपत्रों पर विचार करती थी, कौंसिल के लिये उन सदस्यों को चुनती थी, जो अपने अधिकार से कौंसिल के स्थिर सदस्य नहीं होते थे, और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करती थी ।

(२) **कौन्सिल**—शुरू में यह व्यवस्था की गई थी, कि कौंसिल के नौ सदस्य हों। इनमें से पांच स्थिर हों, और चार अस्थिर। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान को स्थिर रूप से अपना एक एक सदस्य कौंसिल में भेजने का अधिकार दिया गया था। शेष चार सदस्य राष्ट्रसंघ की एसेम्बली द्वारा निर्वाचित हों, यह व्यवस्था की गई थी । क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ से अलग हो गया था, अतः १९२२ तक उसकी कौंसिल में केवल आठ सदस्य ही रहे। १९२२ में यह तय किया गया, कि कौंसिल के सदस्यों की संख्या आठ के स्थान पर दस कर दी जाय। १९२३ में जब संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया, तो उसे भी कौंसिल में स्थिर रूप से स्थान दिया गया। अब से पांच प्रमुख राज्यों के प्रतिनिधि स्थिर रूप से कौंसिल में रहने लगे, और पांच का चुनाव राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्य-राज्यों की ओर से होने लगा ।

कौंसिल राष्ट्रसंघ की कार्यकारिणी समिति थी। सैकड़ों की संख्या में विकट अन्तर्राष्ट्रीय मामले उसके सम्मुख पेश होते थे । कौंसिल के तीन अधिवेशन प्रतिवर्ष नियमित रूप से हुआ करते थे, ये अधिवेशन जनवरी, मई और सितम्बर में होते थे । कौंसिल के जो भी सदस्य हों, वे बारी बारी से उसका अध्यक्ष-पद ग्रहण करते थे। यह आवश्यक था, कि कौंसिल के सब निर्णय (केवल कार्यक्रम व कार्यविधि के अतिरिक्त) सर्वसम्मति द्वारा किये जावें । जब किसी ऐसे राज्य का मामला कौंसिल के सम्मुख पेश हो, जो कि कौंसिल का उस समय सदस्य न हो, तो उसे यह अवसर दिया जाता था, कि उसका प्रतिनिधि कौंसिल के अधिवेशन में उपस्थित हो सके और विचार में भाग ले सके । अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को विचार-विमर्श व शान्तिमय उपायों से सुलझा कर राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने यह दिखा दिया, कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निबटारा युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा भी किया जा सकता है।

कौंसिल से जिन कार्यों की विशेष रूप से आशा की जाती थी, वे निम्नलिखित

ा—(१) विविध राज्यों के अस्त्र-शस्त्रों व युद्धसामग्री को कम करने के लिये क्रियात्मक योजनाओं को तैयार करना। (२) जिन प्रदेशों का शासन-कार्य राष्ट्रसंघ के आदेश (मैन्डेट) द्वारा विविध राज्यों के सुपुर्द किया गया था, उनके शासन की वार्षिक रिपोर्ट पर विचार करना। (३) राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों पर कोई अन्य राज्य आक्रमण न करे और उनकी राष्ट्रीय सीमायें अक्षुण्ण बनी रहें, इस बात पर ध्यान देना और उसके लिये क्रियात्मक उपायों का अवलम्बन करना। (४) जो अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े राष्ट्रसंघ के सम्मुख उपस्थित किये जावें, उन पर बारीकी के साथ विचार करना और अपनी रिपोर्ट को एसेम्बली के सम्मुख पेश करना। (५) यदि कभी किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर युद्ध की सम्भावना हो, तो राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों को यह आदेश देना कि उस झगड़े को निबटाने के लिये उन्हें किन उपायों का अवलम्बन करना होगा।

बाद में जब जर्मनी और रूस राष्ट्रसंघ के सदस्य बन गये, तो उनको भी स्थिर रूप से कौंसिल का सदस्य बना दिया गया। कौंसिल में स्थिर सदस्यों की संख्या बढ़ जाने पर अन्य राज्यों द्वारा निर्वाचित किये जानेवाले अस्थिर सदस्यों की संख्या भी बढ़ा दी गई।

(३) **स्थिर कार्यालय**—यह राष्ट्रसंघ की सेक्रेटरियट था और जिनीवा में स्थित था। राष्ट्रसंघ के प्रबन्ध, पत्रव्यवहार व व्यवस्था का कार्य इसके सुपुर्द होता था। इसके लिये एक सेक्रेटरी जनरल (प्रधान सचिव) की नियुक्ति की जाती थी, जो कि कौंसिल की सहमति से अपने अन्य कर्मचारियों को नियुक्त करता था। पहला प्रधान सचिव सर जेम्स एरिक ड्रुम्मन्ड था, और राष्ट्रसंघ के संविधान में ही यह व्यवस्था कर दी गई थी, कि प्रधान सचिव के पद पर उन्हें नियुक्त किया जाय। उनके बाद इस पद पर नियुक्ति किस प्रकार से की जाय, इस विषय में यह व्यवस्था की गई थी, कि एसेम्बली की सहमति से कौंसिल नये प्रधान-सचिव की नियुक्ति किया करे। १९३३ तक सर ड्रुम्मन्ड अपने पद पर रहे। बाद में श्री जोसफ आवनोल को कौंसिल द्वारा इस पद पर नियुक्त किया गया।

प्रधान सचिव की अधीनता में जो कर्मचारी राष्ट्रसंघ के स्थिर कार्यालय में कार्य करते थे, उनकी संख्या ७०० के लगभग थी। ये राष्ट्रसंघ के विविध सदस्य-राज्यों से लिये जाते थे। भाषा, धर्म, नसल, संस्कृति आदि की भिन्नता होते हुए भी वे एक साथ मिलकर राष्ट्रसंघ के कार्यालय में काम करते

थे। स्थिर कार्यालय को कार्य की दृष्टि से ग्यारह विभागों में विभक्त किया गया था। इनमें मुख्य निम्नलिखित थे—मैन्डेट (आदेश) के अधीन शासित होनेवाले प्रदेश, निःशस्त्रीकरण, स्वास्थ्य, अल्पसंख्यक जातियां और आर्थिक समस्यायें। राष्ट्रसंघ के प्रधान सचिव का एक मुख्य कार्य यह भी था कि वह अपने कार्यालय में उन सब सन्धियों को रजिस्टर्ड करे, जो कि राष्ट्रसंघ के विविध सदस्य-राज्यों ने आपस में की हों। युद्ध का एक बड़ा कारण यह माना जाता था, कि विविध राज्य आपस में गुप्त सन्धियां करके गुटबंदी का प्रयत्न करते हैं। यदि सब सन्धियों को राष्ट्रसंघ में रजिस्टर्ड करा लिया जाय और इन्हें प्रकाशित कर दिया जाय, तो गुटबन्दी की प्रवृत्ति मर्यादित की जा सकती थी। इसीलिये राष्ट्रसंघ की ओर से इन सब सन्धियों को फ्रेंच और इङ्गलिश भाषा में प्रकाशित कर दिया जाता था। सन् १९४१ तक जो सन्धियां राष्ट्रसंघ के स्थिर कार्यालय में रजिस्टर्ड कराई गईं, उनकी संख्या ४७३३ थी।

राष्ट्रसंघ का कार्य—राष्ट्रसंघ ने न केवल राज्यों के राजनीतिक झगड़ों को निबटाने का ही कार्य किया, अपितु महामारियों को रोकने, स्वास्थ्य को उन्नत करने, दास-प्रथा को दूर करने, स्त्रियों के क्रय-विक्रय को रोकने, अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा करने, आर्थिक, सामाजिक व साहित्यिक क्षेत्रों में सहयोग स्थापित करने व इसी प्रकार के अन्य सर्वहितकारी मामलों के सम्बन्ध में भी बहुत से उपयोगी कार्य किये। जिस प्रकार राज्यसंस्था केवल आभ्यन्तर और बाह्य भयों से ही अपने नागरिकों की रक्षा नहीं करती, अपितु देशवासियों की सब प्रकार की उन्नति का भी प्रयत्न करती है, वैसे ही राष्ट्रसंघ ने भी अपने सदस्य-राज्यों के पारस्परिक राजनीतिक सम्बन्धों को ठीक रखने का ही प्रयत्न नहीं किया, अपितु उनमें पारस्परिक सहयोग द्वारा राज्यों की आर्थिक, नैतिक, सामाजिक व स्वास्थ्य सम्बन्धी उन्नति पर भी ध्यान दिया। इसके लिये अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण किया गया, जो राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में अपना अपना कार्य करते थे।

३. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में जो अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाये गये, उनमें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। इसे 'पर्मनेन्ट कोर्ट आफ इन्टरनेशनल जस्टिस' (अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के लिये निर्मित स्थिर

न्यायालय) कहा जाता था। फरवरी १९२० में राष्ट्रसंघ की कौंसिल द्वारा विधान-शास्त्र के पण्डितों की एक समिति नियुक्त की गई, जिसे इस न्यायालय के संगठन का कार्य सुपुर्द किया गया। इस समिति के अधिवेशन हेग में हुए और छः सप्ताह के निरन्तर प्रयत्न द्वारा इसने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिये संविधान, कार्यविधि और संगठन के कार्य को पूर्ण कर लिया। कुछ संशोधनों के साथ राष्ट्र संघ की कौंसिल और एसेम्बली ने समिति के निर्णयों को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया। साथ ही यह भी निश्चय किया गया, कि जब राष्ट्रसंघ के सदस्यों की बहुसंख्या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संगठन को स्वतंत्ररूप से स्वीकार कर ले, तब हेग में इसकी स्थापना कर दी जाय। सितम्बर, १९२१ तक राष्ट्रसंघ के बहुसंख्यक सदस्यों ने इसे स्वीकार कर लिया, और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का बाकायदा निर्माण कर दिया गया। यह अनुमान किया गया, कि इस न्यायालय पर बीस लाख रुपये के लगभग प्रतिवर्ष खर्च हुआ करेगा। इस खर्च को राष्ट्रसंघ के बजट में शामिल कर लिया गया और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

शुरू में इस न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या ग्यारह नियत की गई। उनके अतिरिक्त चार उपन्यायाधीश भी नियत किये गये। ये सब राष्ट्रसंघ की एसेम्बली द्वारा नौ वर्ष के लिये निर्वाचित किये गये। इन्होंने न्यायालय के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष का स्वयं निर्वाचन किया, और यह व्यवस्था की गई, कि प्रति तीन वर्ष बाद अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का नया चुनाव हुआ करे। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपना कार्य साल भर करता रहता था और कोई समय ऐसा नहीं होता था, जब इस न्यायालय के अधिवेशन न हो रहे हों। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की कार्यविधि उसी ढंग की रखी गई थी, जैसी कि साधारण अदालतों की होती है। उसके सम्मुख बाकायदा दावा अर्जी पेश की जाती थी, गवाह पेश होते थे, अन्य प्रकार से भी साक्षी उपस्थित की जाती थी और वादी व प्रतिवादी को यह मौका दिया जाता था, कि वे मामले पर बहस करें। बहस समाप्त होने पर न्यायाधीश आपस में उस पर विचार करते थे और उनकी बहुसंख्या जिस मत की हो, उसी के अनुसार निर्णय सुनाया जाता था। केवल राज्यों को (व्यक्तियों को नहीं) ही यह अधिकार था, कि वे इस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख अपने दावे व मुकदमे पेश कर सकें। राष्ट्रसंघ की कौंसिल या एसेम्बली को भी यदि किसी कानूनी प्रश्न पर परामर्श की आवश्यकता हो, तो उन्हें इस न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाता था। कौंसिल या एसेम्बली के लिये यह

अनिवार्य नहीं था, कि वह इस न्यायालय की सम्मति को अवश्य ही स्वीकार करे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इसकी सम्मति को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था।

४. अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ

लोकतन्त्रवाद के विकास के कारण इस समय संसार के विविध राज्यों में मजदूरों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया था। मजदूरों की संख्या प्रत्येक देश में बहुत अधिक थी। यदि ये सन्तुष्ट हों, तो राज्य अपना कार्य अच्छी तरह से कर सकता था। मजदूरों का असन्तोष न केवल राज्य के लिये अपितु अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये भी घातक था। साम्यवाद के जो विविध आन्दोलन इस समय विविध देशों में चल रहे थे, उन सबका उद्देश्य मजदूरों की दशा को उन्नत करना ही था। पूंजीपतियों और मजदूरों के स्वार्थ एक दूसरे के विरुद्ध थे। अतः कुछ साम्यवादी विचारक यह भी प्रतिपादित करते थे, कि उत्पत्ति के साधनों को किसी की वैयक्तिक सम्पत्ति न होकर राज्य की सम्पत्ति होना चाहिये। ये विचार (जिन्हें स्थूलरूप से कम्युनिज्म कहा जाता है) संसार में एक नई क्रान्ति का सूत्रपात कर रहे थे। १९१७ में रूस में जार के स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासन के विरुद्ध जो क्रान्ति हुई, वह १७८९ की फ्रेंच राज्य-क्रान्ति से इसी अंश में भिन्न थी, कि उसका उद्देश्य केवल राजनीतिक लोकतन्त्रवाद की स्थापना ही नहीं था, वह आर्थिक दृष्टि से भी जनता में समानता और स्वतन्त्रता की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थी। यही कारण है, कि पेरिस की शान्ति-परिषद् में जहां अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिये राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई, वहां साथ ही मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मजदूरसंघ भी स्थापित किया गया, ताकि राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य परस्पर सहयोग द्वारा अपने मजदूरों की दशा को उन्नत कर उन्हें सन्तुष्ट कर सकें।

इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर राष्ट्रसंघ के अधीन अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना की गई थी, और यह निश्चय किया गया था कि इस संघ के लिये आवश्यक खर्च राष्ट्रसंघ की ओर से किया जाय। जो राज्य राष्ट्रसंघ के सदस्य हों, वे अपने अधिकार से इस मजदूरसंघ के भी सदस्य हो जाते थे। पर यह आवश्यक नहीं था, कि अन्तर्राष्ट्रीय मजदूरसंघ का सदस्य होने के लिये कोई राज्य राष्ट्र-संघ का भी सदस्य हो। जर्मनी उस समय भी इस संघ का सदस्य था, जब कि उसे राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त नहीं हुई थी। इसी प्रकार ब्राजील और

संयुक्त राज्य अमेरिका उस समय भी इस संघ के सदस्य रहे, जब कि वे राष्ट्र-संघ में शामिल नहीं रहे थे।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूरसंघ का प्रधान कार्यालय जिनीवा में था। उसका संगठन राष्ट्रसंघ के ही सदृश था, जिसके मुख्य अंग निम्नलिखित थे—(१) जनरल कान्फरेंस—इसमें प्रत्येक सदस्य-राज्य को चार प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। इनमें से एक मजदूरों का प्रतिनिधित्व करता था, एक कारखानों के मालिकों का और दो प्रतिनिधि सरकार के होते थे। जनरल कान्फरेंस को यह अधिकार नहीं था, कि वह कोई ऐसा कानून बना सके, जिसे मानना सब सदस्य-राज्यों के लिये अनिवार्य हो। पर वह अपने प्रस्तावों द्वारा सदस्य-राज्यों का ध्यान उन बुराइयों की ओर आकृष्ट कर सकती थी, जो कहीं मजदूरों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले कानूनों में विद्यमान हों। दो तिहाई वोट से यह ऐसे प्रस्ताव भी स्वीकार कर सकती थी, जिनमें उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया हो, जिनके अनुसार विविध राज्यों को अपने मजदूर सम्बन्धी कानूनों का निर्माण करना चाहिये। ये प्रस्ताव राष्ट्रसंघ के प्रधान सचिव द्वारा विविध सदस्य-राज्यों के पास भेज दिये जाते थे और यह अनिवार्य माना जाता था, कि इन प्रस्तावों को विविध राज्य अपनी व्यवस्थापिका सभाओं के सम्मुख विचारार्थ पेश करें। (२) गवर्निंग बाडी—इसके ३२ सदस्य होते थे, जिनमें से ८ मजदूरों के, ८ मालिकों के और १६ सरकारों के प्रतिनिधि होते थे। बेल्जियम, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, भारत, इटली और जापान—इन आठ राज्यों को यह अधिकार दिया गया था, कि उनकी सरकारों का एक एक प्रतिनिधि स्थिर रूप से गवर्निंग बाडी का सदस्य रहे। व्यावसायिक क्षेत्र में इन राज्यों का महत्त्व बहुत अधिक था। इसी कारण इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मजदूरसंघ की गवर्निंग बाडी में स्थिर सदस्यता का अधिकार दिया गया था। बाद में जब रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका संघ में शामिल हो गये, तब उन्हें भी यह अधिकार प्राप्त हुआ, और उनके लिये जगह करने के लिये बेल्जियम और कनाडा से स्थिर सदस्यता का अधिकार ले लिया गया। शेष आठ सरकारी सदस्य जनरल कान्फरेंस के उन सरकारी सदस्यों द्वारा चुने जाते थे, जिन्हें गवर्निंग बाडी में स्थिर सदस्यता का अधिकार नहीं था। गवर्निंग बाडी में जो सदस्य मजदूरों व मालिकों का प्रतिनिधित्व करते थे, वे जनरल कान्फरेंस के मजदूर व मालिक सदस्यों द्वारा निर्वाचित किये जाते थे। (३) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय—यह जिनीवा में स्थित था, और इसमें

३०० के लगभग कर्मचारी काम करते थे। राष्ट्रसंघ के कार्यालय के कर्मचारियों के समान इन्हें भी सब सदस्य-राज्यों से लिया जाता था। जिनीवा में स्थित इस मजदूर कार्यालय का कार्य यह था, कि सब देशों के व्यावसायिक जीवन और मजदूरों के सम्बन्ध में सब प्रकार की जानकारी एकत्र करे और संसार में जहां कहीं भी मजदूरों की दशा को उन्नत करने के लिये कोई सभा-समितियां विद्यमान हैं, उनके साथ सम्पर्क स्थापित करे। इस कार्यालय की ओर से जहां 'इन्टरनेशनल लेबर रिव्यू' और 'ऑफिसियल बुलेटिन' जैसे पत्र प्रकाशित होते थे, वहां साथ ही श्रमियों की समस्या के सम्बन्ध में अनेक विज्ञप्तियां, पुस्तिकायें व रिपोर्टें भी छपती थीं।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूरसंघ की ओर से यह प्रयत्न किया जाता था, कि सब देशों में कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों के काम करने के घण्टों में कमी की जाय; बीमारी की दशा में मजदूरों को रुपये की परेशानी न हो, इसके लिये उनका बीमा किया जाय; स्त्रियों और बच्चों के बारे में विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की जाय, कारखाने में काम करते हुए किसी मजदूर की यदि मृत्यु हो जाय या उसे चोट लग जाय, तो उसकी क्षतिपूर्ति की जाय और कारखानों में काम करने की परिस्थितियां ऐसी न हों, जो उनके स्वास्थ्य के लिये विघातक हों। निस्सन्देह, मजदूरसंघ का यह कार्य बहुत उपयोगी व महत्त्वपूर्ण था।

५. राष्ट्रसंघ के विविध कार्य

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये राष्ट्रसंघ ने जो विविध कार्य किये, उनका उल्लेख इस इतिहास में प्रसङ्गवश आगे चलकर किया ही जायगा, पर उसके महत्त्व को भलीभांति समझने के लिये यह उपयोगी होगा, कि उसके विभिन्न कार्यों का यहां संक्षेप से परिचय दिया जाय।

प्रदेशों का शासन—वर्साय की सन्धि द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि जर्मनी के सार प्रदेश और डान्ट्सिग नगर का शासन राष्ट्रसंघ के हाथों में रहे। इसके अनुसार सार के शासन के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसके पांच सदस्य थे। इन पांच में से एक फ्रेंच था, एक सार का निवासी और शेष तीन ऐसे व्यक्ति, जो न फ्रेंच थे और न जर्मन। सार के सब निवासी जर्मन थे, और वह वस्तुतः जर्मनी का ही अंग था। इसलिये वहां के निवासी कमीशन के शासन के विरुद्ध थे। वर्साय की सन्धि

के अनुसार आर्थिक दृष्टि से उसे फ्रांस के साथ जोड़ दिया गया था। वहां फ्रेंच सिक्का चलता था, उसकी कोयले की खानों का प्रबन्ध फ्रेंच लोगों के हाथों में था, और उसका कोयला फ्रांस के कारखानों के काम में लाया जाता था। कोयले की खानों में काम करने के लिये बहुत से फ्रेंच लोग सपरिवार सार पहुंच गये थे, और उनके बच्चों की शिक्षा के लिये ऐसे स्कूल खोल दिये गये थे, जिनमें सब शिक्षा फ्रेंच भाषा में दी जाती थी। फ्रांस का यह प्रयत्न था कि जर्मन बच्चे भी इन स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रविष्ट हों, और धीरे धीरे सार प्रदेश को फ्रेंच प्रभाव में ले आया जाय, ताकि १५ साल बाद १९३५ में जब वहां लोकमत लिया जाय, तो वहां के बहुसंख्यक निवासियों के वोट सार को फ्रांस के साथ रखने के पक्ष में प्राप्त हो सकें। फ्रांस की इस नीति से सार के जर्मन निवासियों में बहुत अधिक असन्तोष था। अनेक बार सार के निवासियों ने राष्ट्रसंघ की कौंसिल के सम्मुख अपनी शिकायतों को पेश करने का प्रयत्न किया, पर फ्रांस के प्रभाव के कारण उन्हें विशेष सफलता नहीं मिल सकी। १९३५ में जब सार में लोकमत लेने का समय आया, तब तक जर्मनी में नाज़ी दल जोर पकड़ चुका था और हिटलर की शक्ति वहां भलीभांति स्थापित हो चुकी थी। यूरोप के सब जर्मन लोग राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर विशाल शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र का स्वप्न लेने लग गये थे। लोकमत शान्तिपूर्वक लिया जा सकेगा, इसकी सम्भावना कम हो गई थी। परिणाम यह हुआ, कि ३००० सैनिकों की एक सेना राष्ट्रसंघ की ओर से सार में भेज दी गई। इस सेना में ब्रिटिश, इटालियन,. स्वीडिश और डच सैनिक थे। लोकमत लेने पर सार के निवासियों ने बहुत बड़ी संख्या में जर्मनी के पक्ष में वोट दिया। परिणाम यह हुआ, कि १ मार्च, १९३५ को सार का प्रदेश जर्मनी के साथ मिला दिया गया। पर १९२० से १९३५ तक १५ वर्ष सार राष्ट्रसंघ के शासन में रहा, और उसकी कौंसिल के निरीक्षण में ही उसका शासन कार्य होता रहा।

डान्ट्सिग का शासन भी राष्ट्रसंघ के सुपुर्द था। वह उस समय तक राष्ट्रसंघ के अधीन रहा, जब तक कि हिटलर की नाजी सेनाओं ने उसे अपने अधिकार में नहीं कर लिया।

मैन्डेट के अधीन राज्य—जर्मनी और टर्की के अधीन जो अनेक प्रदेश थे, उनका शासन भी वर्साय और सेव्र की सन्धियों द्वारा राष्ट्रसंघ के सुपुर्द किया गया था। पर इनका शासन राष्ट्रसंघ स्वयं नहीं करता था।

यह कार्य अनेक मित्रराष्ट्रों के सुपुर्द कर दिया गया था, जो राष्ट्रसंघ की ओर से मैन्डेट (आदेश) प्राप्त कर उन पर शासन करते थे। राष्ट्रसंघ की ओर से शासित होनेवाले ये मैन्डेटरी राज्य तीन प्रकार के थे--(१) टर्की के अधीन जो ईराक, पैलेस्टाइन, ट्रांस-जोर्डन, सीरिया और लैबेनन के प्रदेश थे, उनके सम्बन्ध में यह माना गया था, कि ये विकास की इस दशा में पहुंच गये हैं, कि इन्हें पृथक् व स्वतंत्र राज्यों के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है, यद्यपि अभी कुछ समय तक इन पर नियन्त्रण रखने और राजकाज में परामर्श व सहायता देने की आवश्यकता है। अतः ईराक, पैलेस्टाइन और ट्रांस-जोर्डन को ब्रिटेन के मैन्डेट में रखा गया और सीरिया तथा लैबेनन को फ्रांस के। इन दो मित्रराष्ट्रों के निरीक्षण व प्रभाव में इन सब को पृथक् व स्वतंत्र राज्यों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। (२) अफ्रीका में जर्मनी के जो अनेक उपनिवेश थे, उन्हें अभी इस योग्य नहीं समझा गया कि वे अपना शासन स्वयं कर सकें। अतः उन्हें पृथक् व स्वतंत्र राज्यों के रूप में परिणत नहीं किया गया, और उनका राज-प्रबन्ध राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन ब्रिटेन, फ्रांस और बेल्जियम के सुपुर्द कर दिया गया। जर्मन ईस्ट अफ्रीका (टांगनीका), टोगोलैण्ड का एक तिहाई भाग और कैमेरून का छठा हिस्सा ब्रिटेन को दिये गये। टोगोलैण्ड का शेष दो तिहाई भाग और कैमेरून का शेष सब भाग फ्रांस के सुपुर्द किया गया। बेल्जियम को रुआन्डा-उरुन्डी का प्रदेश शासन के लिये दिया गया। (३) जर्मनी की अधीनता में कतिपय ऐसे प्रदेश व द्वीप भी थे, जिनमें या तो आबादी बहुत कम थी, या जिनका आकार बहुत छोटा था और या जो भौगोलिक दृष्टि से ऐसी स्थिति में थे कि उनका सभ्य संसार से सम्पर्क बहुत कम था। इनके विषय में यह समझा गया, कि इनकी पृथक् राज्य के रूप में सत्ता सम्भव नहीं है। अतः उन्हें कतिपय मित्रराष्ट्रों के सुपुर्द कर यह व्यवस्था की गई, कि उनका शासन पूर्णरूप से इन राज्यों की अधीनता में ही रहे। इस सिद्धान्त के अनुसार जर्मनी का दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अन्यतम उपनिवेश दक्षिणी अफ्रीका को दे दिया गया। समोआ द्वीप न्यूजीलैण्ड को दिया गया और नौरू द्वीप ब्रिटेन को। प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जर्मनी की अधीनता में जो अन्य बहुत से द्वीप थे, उनके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई कि भूमध्य रेखा के दक्षिण में जो ऐसे द्वीप हैं, वे आस्ट्रेलिया को दे दिये जावें, और भूमध्य रेखा के उत्तर के द्वीप जापान को।

अल्पसंख्यक जातियों की समस्या—राष्ट्रसंघ को यह कार्य भी सुपुर्द किया गया था, कि मध्य और पूर्वी यूरोप के विविध राज्यों में जिन अल्पसंख्यक जातियों का निवास है, उनके हितों और अधिकारों की भी वह रक्षा करे। इस प्रश्न पर हम पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। इसके लिये राष्ट्रसंघ की ओर एक से पृथक समिति का संगठन किया गया था।

शान्ति को स्थापित रखना—राष्ट्रसंघ की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था, कि वह संसार में शान्ति कायम रखे और विविध राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों से निबटाने का प्रयत्न करे। इसके लिये यह व्यवस्था की गई थी, कि जब राष्ट्रसंघ के किन्हीं सदस्य राज्यों में कोई झगड़े का कारण हो, तो उसे राष्ट्रसंघ की कौंसिल के सम्मुख उपस्थित किया जाय। राष्ट्रसंघ ऐसे झगड़ों का जो फैसला करे, वह दोनों पक्षों को मान्य हो। जो पक्ष राष्ट्रसंघ के निर्णय को स्वीकार करने के लिये उद्यत हो, अन्य सब राज्य उसकी सहायता करें, या कम से कम उसके विरुद्ध किसी प्रकार की कार्रवाई में सहयोग न दें। जो पक्ष राष्ट्रसंघ के निर्णय को मानने के लिये उद्यत न हो, उसके खिलाफ निम्नलिखित कार्रवाई किये जाने की व्यवस्था की गई थी—(१) जो राज्य राष्ट्रसंघ के निर्णय को न मानकर शस्त्र का प्रयोग करने का प्रयत्न करे, उसका आर्थिक बहिष्कार किया जाय। कोई अन्य राज्य उसके साथ व्यापार का या अन्य आर्थिक सम्बन्ध न रखे। (२) यदि आर्थिक उपाय उस राज्य को वश में रखने में अपर्याप्त सिद्ध हो, तो राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्य-राज्य उसके खिलाफ शस्त्रशक्ति का प्रयोग करें। उस राज्य को वश में लाने के लिये जिस स्थल, जल व वायुसेना की आवश्यकता हो, उसमें सब राज्य हिस्सा बटावें। यदि कोई ऐसा राज्य संसार की शान्ति में बाधक हो, जो राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है, तो उसके खिलाफ भी संघ के सदस्य-राज्य इन दोनों (आर्थिक व शस्त्रशक्ति) उपायों का प्रयोग कर सकें।

इसमें सन्देह नहीं, कि शान्ति की रक्षा के लिये राष्ट्रसंघ को अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों में सफलता प्राप्त हुई। विशेषतया छोटे राज्यों के आपसी झगड़ों को शान्तिमय उपायों द्वारा निबटा सकने में उसने अच्छी सफलता प्राप्त की। पर जब जापान, इटली और जर्मनी जैसे विशाल शक्तिशाली राज्य साम्राज्य विस्तार व अपनी राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये उग्र उपायों के अवलम्बन में तत्पर हुए, तो राष्ट्रसंघ उन पर अंकुश रख सकने में असमर्थ सिद्ध हुआ। राष्ट्रसंघ को किन झगड़ों को निबटाने में सफलता हुई,

और किन में वह असफल रहा, इसका उल्लेख इस इतिहास के अगले अध्यायों में यथास्थान किया जायगा।

यह स्वीकार करना होगा, कि राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम था। सन् १९३० तक उसकी खूब उन्नति हुई। प्रायः सभी शक्तिशाली राज्यों के प्रधान नेता इस काल में राष्ट्रसंघ के अधिवेशनों में शामिल होते थे, और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा संसार की समस्याओं को सुलझाने का उद्योग करते थे। कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा था, कि युद्धों का अन्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग का युग आ गया है व मानव समाज उन्नति के पथ पर बहुत आगे बढ़ गया है।

चवालीसवां अध्याय

जर्मनी का पुनः निर्माण

१. जर्मनी में क्रान्ति

महायुद्ध के बाद पेरिस की शान्ति-परिषद् के निर्णयों के अनुसार यूरोप के राजनीतिक नकशों में इतने भारी परिवर्तन हो गये थे, और नये स्थापित हुए राज्यों के स्वरूप में पहले के मुकाबले में इतना अन्तर था, कि इन सब राज्यों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

१८७१ के बाद जर्मनी ने असाधारण उन्नति की थी। न केवल सैनिक दृष्टि से, अपितु व्यवसाय और विज्ञान के क्षेत्रों में भी अन्य यूरोपियन राज्यों के मुकाबले में जर्मनी बहुत आगे बढ़ गया था। सब प्रकार से उन्नत होते हुए भी जर्मनी के पास कोई साम्राज्य नहीं था। वहां के सब निवासी, चाहे वे किन्हीं भी विचारों या राजनीतिक दलों के हों, यह अनुभव करते थे, कि ब्रिटेन और फ्रांस के सदृश जर्मनी का भी साम्राज्य होना चाहिये। दुनिया में उसके लिये भी 'जगह' होनी चाहिये। इसीलिये युद्ध के पहले दो सालों में जर्मन सरकार को सब लोगों का पूरी तरह से सहयोग प्राप्त था। साम्यवादी लोग भी युद्ध के प्रयत्न में अपने देश की सरकार का पूरी तरह साथ दे रहे थे। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, युद्ध की भयंकरता बढ़ती गई, और जर्मनी की सैनिक उत्कृष्टता में सन्देह के कारण प्रगट होने लगे। सरकार की नीति का विरोध भी शुरू हो गया। सबसे पहले कार्ल लीब्क्नेख्ट के नेतृत्व में उग्र साम्यवादियों ने अपना पृथक् दल बनाया और बजट में युद्ध के खर्च के पक्ष में वोट देने से इन्कार किया। बाद में उन्होंने जर्मनी की सोशलिस्ट (साम्यवादी) पार्टी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, और एक स्वतन्त्र दल का संगठन किया, जिसका नाम 'स्वतन्त्र साम्यवादी दल' था। कार्ल लीब्क्नेख्ट के अनुयायी 'स्पार्टकिस्ट' भी कहाते थे, क्योंकि उनका नेता अपने मन्तव्यों का प्रचार करते हुए जो लेख लिखता था, उन पर वह अपना उपनाम

स्पार्टेकस' दिया करता था । जब पनडुब्बियों और बारूदी सुरंगों द्वारा जर्मनी ने सब प्रकार के जहाजों को डुबाना शुरू किया, और संसार का लोकमत उसके बहुत विरुद्ध हो गया, तो जर्मनी में अन्य भी अनेक प्रगतिशील विचारकों ने अनुभव किया, कि उनकी सरकार की नीति उचित नहीं है, और वे स्वतन्त्र साम्यवादी दल के साथ मिलकर सरकार की युद्ध-नीति का विरोध करने लगे । उन्होंने राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सिद्धान्तों का समर्थन किया, और यह उद्घोषणा की, कि इन सिद्धान्तों के अनुसार दोनों पक्षों को आपस में सुलह कर लेनी चाहिये । उन्होंने यह आन्दोलन भी शुरू किया, कि जर्मन सरकार का कायाकल्प होना चाहिये, और मन्त्रिमण्डल ऐसा होना चाहिये, जो पूरी तरह जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी हो ।

वैध राजसत्ता की विफलता—सन् १९१८ के शुरू तक यह भली भांति स्पष्ट हो गया था, कि युद्ध में जर्मनी की विजय सम्भव नहीं है । सरकार की नीति के प्रति असन्तोष भी बहुत बढ़ गया था । जब अक्टूबर, १९१८ में बाडेन के प्रिंस मैक्स को चांसलर के पद पर नियत किया गया, तो प्रगतिशील लोग बहुत प्रसन्न हुए । प्रिंस मैक्स स्वयं प्रगतिशील विचारों के थे, और उनकी चांसलर पद पर नियुक्ति यह सूचित करती थी, कि अब जर्मनी की राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होंगे । पर इससे पहले कि प्रगतिशील लोग अपनी नीति को क्रिया में परिणत कर सकें, स्थिति काबू से बाहर हो गई । युद्ध में जर्मनी को निरन्तर विफलता हो रही थी । सेनाओं के हृदय डोलने लगे थे, और आम जनता युद्ध से तंग आकर शान्ति के लिये उत्सुक हो गई थी । अब तक रूस में राज्य-क्रान्ति हो चुकी थी । वहां कम्युनिस्ट लोग एक नई विचार-धारा को सम्मुख रखकर सरकार, समाज और आर्थिक जीवन—सबका पुनः निर्माण करने में लगे थे । कम्युनिस्ट विचारों का प्रभाव जर्मनी पर भी पड़ रहा था । वहां के विचारक और मजदूर भी यह स्वप्न लेने लगे थे, कि सम्राट्, उसके दरबारियों और कुलीनों के शासन का अन्त कर जर्मनी में भी किसानों और मजदूरों का राज्य कायम होना चाहिये । नवम्बर, १९१८ में जर्मनी में क्रान्ति के चिन्ह प्रगट होने लगे । सबसे पहले कील कैनाल में विद्रोह हुआ । फिर अन्य अनेक स्थानों पर भी विद्रोह और क्रान्ति शुरू हुई । जर्मनी के प्रगतिशील लोगों ने भलीभांति समझ लिया, कि इस क्रान्ति के ज्वालामुखी को शमन कर सकना अब सम्भव नहीं है । उनका विचार था, कि सम्राट् विलियम द्वितीय को राजगद्दी पर कायम रखते हुए वे जर्मनी में उत्तरदायी लोकतन्त्र शासन की

स्थापना करें। पर क्रान्ति की बाढ़ और समय की गति को अनुभव कर उन्होंने यही उचित समझा, कि अब रिपब्लिक स्थापित करने में क्रान्तिकारियों की सहायता करें। प्रगतिशील लोगों का यह ख्याल था, कि इस समय क्रान्ति का साथ देकर जर्मनी को कम्युनिज्म के पंजे से बचाया जा सकता है, और सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन स्थापित करना सम्भव हो सकता है।

राजसत्ता का अन्त—इस बीच में क्रान्ति की लपटें बड़ी तेजी के साथ सारे जर्मनी को व्याप्त कर रही थीं। परिस्थितियों से विवश होकर, ९ नवम्बर १९१८ को सम्राट् विलियम द्वितीय ने प्रशिया की राजगद्दी और जर्मन साम्राज्य के राजसिंहासन का परित्याग कर दिया। अगले दिन क्रान्ति का ज्वालामुखी बर्लिन में भी फूट पड़ा। प्रिंस मैक्स के लिये स्थिति को संभालना कठिन हो गया। उसने अपने अन्य साथियों की सहमति से यही निर्णय किया, कि साम्यवादी दल के नेता फ्रीडरिख एबर्ट के हाथ में सरकार का सूत्र संभाल दिया जाय। जर्मनी में राजसत्ता का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई, और एबर्ट उसका पहला चांसलर बना। सम्राट् विलियम द्वितीय के राजसिंहासन का परित्याग करते ही बवेरिया आदि दर्जनों छोटे छोटे जर्मन राज्यों के राजाओं ने भी अपनी अपनी राजगद्दियों का परित्याग कर दिया, और राजाओं व कुलीनों के शासन का जर्मनी में सदा के लिये अन्त हो गया।

रिपब्लिक के विरोधी दल—इस समय दो दल ऐसे थे, जो एबर्ट के शासन के विरोध में थे। एक तो वे राजसत्तावादी, जो होहेन्ट्सोलर्न राजवंश के शासन को फिर से जर्मनी में स्थापित करना चाहते थे। दूसरे वे उग्र साम्यवादी और कम्युनिस्ट लोग, जो जर्मनी में रूस के ढंग की क्रान्ति के लिये प्रयत्नशील थे। इन दोनों दलों को काबू में रखने के लिये एबर्ट और उसकी सरकार को भारी संघर्ष करना पड़ा। आखिर वे अपने प्रयत्न में सफल हुए और जब जनवरी, १९१९ में नई राष्ट्रीय महासभा का निर्वाचन हुआ, तो उसमें विविध दलों की स्थिति इस प्रकार थी:—एबर्ट का साम्यवादी दल १६३; कैथोलिक दल ९०; डेमोक्रेट ७५; राजसत्तावादी ४२; उग्र साम्यवादी २२; जनता पार्टी २२ और अन्य ७। इस चुनाव में १९ वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक जर्मन स्त्री व पुरुष को वोट का अधिकार दिया गया था। तीन करोड़ से अधिक व्यक्तियों ने अपने वोट के अधिकार का उपयोग भी किया था। निर्वाचन के परिणाम ने यह भली भांति प्रगट कर दिया था, कि जर्मन जनता न तो फिर से होहेन्ट्सोलर्न राजवंश का शासन चाहती है, और न रूस

के ढंग की सामाजिक व आर्थिक क्रान्ति । जनता लोकतन्त्र के पक्ष में थी, और चांसलर एबर्ट का साम्यवादी दल लोकतन्त्र रिपब्लिक के लिये ही प्रयत्नशील था ।

वाइमर की महासभा और सामयिक सरकार—६ फरवरी, १९१९ को राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन वाइमर में हुआ । चार दिन बाद एक नया विधान स्वीकृत किया गया, जिसके अनुसार एक सामयिक सरकार की स्थापना की गई। यह सरकार राष्ट्रीय महासभा के प्रति उत्तरदायी थी। महासभा में बहुसंख्या साम्यवादी दल की थी, और उसने कैथोलिक और डेमोक्रेट दलों के साथ मिलकर एक सम्मिलित (मिली-जुली) सरकार बनाई । इस सरकार में एबर्ट राष्ट्रपति (प्रेजिडेन्ट) था, चान्सलर (प्रधान मन्त्री) के पद पर बीडमान को नियत किया गया था और उसके अतिरिक्त बारह अन्य मन्त्री मन्त्रिमण्डल में नियुक्त किये गये थे। इस प्रकार जर्मनी में एक उत्तरदायी सरकार और रिपब्लिकन शासन की स्थापना की जा रही थी । पर इस बीच में उग्र साम्य-वादी और कम्युनिस्ट लोग शान्त नहीं बैठे थे । चुनाव में बुरी तरह परास्त होकर उन्होंने गुप्त उपायों से सरकार को पलटने व स्वयं शक्ति प्राप्त करने के लिये उद्योग प्रारम्भ कर दिया था । ७ एप्रिल, १९१९ को इन कम्युनिस्टों ने जगह-जगह पर विद्रोह किये, और म्यूनिच में बाकायदा सोवियट रिपब्लिक की स्थापना भी कर दी गई । इस आन्दोलन को कुचलने के लिये एबर्ट की सरकार को बहुत सख्त उपायों का अवलम्बन करना पड़ा । हजारों की संख्या में कम्युनिस्ट तलवार के घाट उतारे गये, और हजारों गिरफ्तार हुए। ७ एप्रिल के प्रयत्न में विफल होकर उग्र साम्यवादी दल की शक्ति बहुत क्षीण हो गई । मजदूरों के विविध संगठनों ने राष्ट्रीय महासभा के प्रति भक्ति की शपथ ली, और शान्तिमय उपायों से अपने विचारों का प्रसार करने की नीति को स्वीकार किया। जब वर्साय की सन्धि को राष्ट्रीय महासभा के सम्मुख पेश किया गया, तो विरोधी दलों को सरकार पर आक्षेप करने का सुवर्णावसर हाथ लगा। पर वर्साय की सन्धि जर्मनी की पराजय का परिणाम था । एबर्ट व उसके साथी उसके लिये जिम्मेदार नहीं थे । महासभा ने बहुमत से सन्धि को स्वीकार कर लिया, और उग्र साम्यवादी अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सके। राष्ट्रीय महासभा मुख्य रूप से जर्मनी के लिये एक नये शासन-विधान को तैयार करने में लगी थी । जुलाई, १९१९ तक यह नया शासन-विधान बनकर तैयार हो गया था । ३१ जुलाई को वाइमर की राष्ट्रीय महासभा ने (२६२ पक्ष में और ७५

विरोध में) बहुमत से इसे स्वीकृत कर दिया था, और ११ अगस्त से इसके अनुसार जर्मनी का शासन भी प्रारम्भ हो गया था।

२. जर्मनी का नया शासन-विधान

वाइमर की राष्ट्रीय महासभा ने जर्मनी के लिये जो नया शासन-विधान तैयार किया था, उसकी रूप-रेखा निम्नलिखित थी—

(१) जर्मनी को एक संघ के रूप में संगठित किया गया, जिसमें कुल मिला कर अठारह राज्य सम्मिलित थे। सबसे बड़ा राज्य प्रशिया था। क्रान्ति से पूर्व भी जर्मनी एक ऐसा साम्राज्य था, जिसमें बहुत से छोटे बड़े राज्य शामिल थे। क्रान्ति ने इन स्थानीय भेदों को पूरी तरह दूर नहीं किया। एक भाषा, एक संस्कृति और एक परम्परा होते हुए भी जर्मनी के विविध राज्यों को पृथक् रूप से कायम रखा गया। भेद यह हुआ, कि इन अठारहों राज्यों का शासन अब रिपब्लिकन था, और उनका मिलकर जो संघ (फिडरेशन) बना, उसका अधिपति भी जनता द्वारा निर्वाचित होता था।

(२) जर्मन रिपब्लिक के कानून आदि का निर्माण करने के लिये दो सभाएं बनाई गईं—१. रीशराट (राज्यसभा)—इसमें सब राज्यों के प्रतिनिधि रहते थे। यह व्यवस्था की गई थी, कि दस लाख निवासियों का एक प्रतिनिधि राज्यसभा में रहे। पर यदि किसी राज्य की जन-संख्या दस लाख से कम हो, तो भी उसका एक प्रतिनिधि अवश्य रहे, और किसी एक राज्य के इतने अधिक प्रतिनिधि न होने पावें, कि उनकी संख्या राज्यसभा के कुल सदस्यों के ४० फीसदी से अधिक बढ़ जावे। २. रीशटाग (प्रतिनिधि-सभा)—इसमें जर्मन जनता के प्रतिनिधि रहते थे। बीस साल से अधिक आयु के प्रत्येक स्त्री व पुरुष को वोट का अधिकार दिया गया था। चुनाव के लिये वोट गुप्त रूप से डाला जाता था, और 'समानुपातिक प्रतिनिधित्व' की प्रणाली से निर्वाचन किया जाता था। प्रतिनिधि-सभा के सदस्य चार साल के लिये चुने जाते थे।

(३) रिपब्लिक के राष्ट्रपति का चुनाव सीधा जनता द्वारा होता था। राष्ट्रपति पद के लिये जो उम्मीदवार हों, उनकी आयु कम से कम ३५ साल अवश्य होनी चाहिये। राष्ट्रपति सात साल के लिये चुना जाता था, और उसे दुबारा फिर सात साल के लिये चुने जा सकने की भी व्यवस्था थी। यदि लोकमत उसके विरुद्ध हो जाय, तो जनमत (रिफरेन्डम) द्वारा उसे पदच्युत भी किया जा सकता था। राष्ट्रपति को बहुत अधिक अधिकार दिये गये थे। वह स्थल और जल-

सेनाओं का प्रधान सेनापति होता था। बड़े-बड़े सैनिक व अन्य राजकर्मचारियों की नियुक्ति भी वही करता था। विदेशी मामलों में उसके अधिकार बहुत अधिक थे। पर सन्धि-विग्रह के मामलों में वह प्रतिनिधि-सभा की सम्मति के बिना कुछ नहीं कर सकता था। उसकी शक्ति जनता के प्रतिनिधियों के अधीन थी।

(४) मन्त्रिमण्डल के प्रधान को चांसलर कहते थे। प्रतिनिधि-सभा में जिस दल का बहुमत हो, उसके नेता को चांसलर का पद ग्रहण करने के लिये राष्ट्रपति निमन्त्रित करता था। चांसलर अपने साथियों में से मन्त्री चुनता था, और यह मन्त्रिमण्डल तब तक अपने पद पर रहता था, जब तक प्रतिनिधि-सभा का बहुमत उसके पक्ष में रहे। यदि प्रतिनिधि-सभा का बहुमत मन्त्रिमण्डल के पक्ष में न रहे, तो यह आवश्यक था कि मन्त्रिमण्डल त्याग-पत्र दे दे, और नये चांसलर की नियुक्ति हो।

(५) नये शासन-विधान में जर्मन नागरिकों के आधारभूत अधिकारों व कर्त्तव्यों का बड़े विशद रूप से प्रतिपादन किया गया था। कानून की दृष्टि में सब नागरिक एक बराबर हों। स्त्री और पुरुष—दोनों के एक समान अधिकार और कर्तव्य हों। जन्म के कारण न किसी के कोई विशेष अधिकार हों और न किसी को हीन समझकर किसी अधिकार से वंचित रखा जाय। कुलीन लोगों व अन्य बड़े आदमियों को जो ओहदे व उपाधियां पहले जमाने में दी जाती थीं, वे अब न दी जावें। सबको अपने विचार प्रगट करने, स्वतन्त्रतापूर्वक भाषण करने, लेख लिखने व अपने विचारों का प्रचार करने की पूरी-पूरी आजादी रहे। प्रत्येक मनुष्य जहां चाहे रह सके, और जो काम चाहे कर सके। सम्पत्ति पर व्यक्तियों का अधिकार रहे। धर्म के सम्बन्ध में सबको पूरी-पूरी स्वतन्त्रता रहे। सबको बाधित रूप से शिक्षा दी जाय और यह शिक्षा बिना खर्च के हो। सब शिक्षणालयों में यह प्रयत्न किया जाय, कि विद्यार्थियों का चरित्र उत्तम हो, नागरिकता के कर्त्तव्यों का उन्हें ज्ञान हो, अपने कार्य में वे पूरी तरह दक्ष हों, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति की नीति पर उन्हें विश्वास हो। सम्पत्ति पर व्यक्तियों के स्वत्व को स्वीकृत किया गया, पर साथ ही पूंजीपतियों से यह आशा की गई, कि वे अपनी सम्पत्ति का उपयोग सार्वजनिक हित को दृष्टि में रखकर करें। मजदूरों के लिये यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया, कि उन्हें कार्य देना राज्य का कर्तव्य है। बीमारी, बेकारी और बुढ़ापे के लिये उनका बीमा होना चाहिये, और काम करने का समय व कम से कम मजदूरी की मात्रा भी निश्चित होनी चाहिये।

(६) शासन-विधान में यह भी व्यवस्था की गई, कि जर्मन संघ के अन्तर्गत सब राज्यों में रिपब्लिकन शासन-प्रणाली आवश्यक रूप से रहे। ब्रेमन, हाम्बुर्ग और ल्यूबक के नगर-राज्यों में पहले से ही रिपब्लिक विद्यमान थीं। अतः उनमें किसी विशेष परिवर्तन की आवश्यकता नहीं थी। राज्यों के वंशक्रमानुगत राजा राजसिंहासन परित्याग करने को विवश हो गये थे। अब उन सबमें रिपब्लिक स्थापित की गईं। प्रशिया की रिपब्लिक में दो सभाएं बनाई गई। १. लान्ड-टाग—२४ वर्ष से अधिक आयु के सब स्त्री-पुरुष इस सभा के लिये प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार रखते थे। प्रतिनिधियों का चुनाव चार वर्ष के लिये होता था। २. स्टाट्सराट—इसका चुनाव प्रान्तीय सभाएं करती थीं। प्रशिया के अतिरिक्त अन्य राज्य छोटे-छोटे थे। उनमें दो सभाओं की आवश्यकता नहीं थी। उनके व्यवस्थापन विभाग में एक ही सभा रखी गई थी। सब राज्यों में व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल शासन का कार्य करते थे।

३. जर्मनी में रिपब्लिक का शासन

समस्यायें—राजसत्ता का अन्त होकर जर्मनी में रिपब्लिक का शासन कायम हो गया था। पर नई सरकार के सम्मुख अनेक विकट समस्यायें थीं, जिनका हल किये बिना जर्मनी में शान्ति व व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती थी। नये शासन-विधान का विरोध दो दलों की ओर से हो रहा था। राजसत्ता के पक्ष-पाती अभी कम नहीं थे, दूसरी तरफ कम्युनिस्ट लोग भी अभी अपने आन्दोलन में लगे थे। पर इन दोनों दलों की शक्ति को तोड़ने और रिपब्लिक की रक्षा करने में जर्मन साम्यवादी सरकार पूरी तरह से सफल हुई।

पर अधिक विकट समस्या वर्साय की सन्धि की उन शर्तों को पूरा करना था, जिनके अनुसार जर्मनी को अरबों रुपया प्रतिवर्ष मित्रराज्यों को हरजाने के रूप में देना था। जर्मनी का अंग-भंग हो चुका था, लाखों जर्मन लोग अब अन्य राज्यों की प्रजा बनकर रहने के लिये विवश हो गये थे, पर इन सब बातों को उन्होंने चुपचाप सह लिया था। परन्तु समस्या यह थी, कि उस भारी रकम को किस प्रकार अदा किया जाय, जिसे हर साल देना आवश्यक था। इसके लिये यही सम्भव था, कि जर्मन सरकार कर्ज ले, टैक्स बढ़ावे और अधिक से अधिक पत्र-मुद्रा जारी करे। जर्मनी के व्यवसाय व कारखाने युद्ध में अस्तव्यस्त हो गये थे। व्यावसायिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व के बहुत से प्रदेश अब उसके

हाथ से निकल चुके थे । इस दशा में अपनी पैदावार से हरजाने की रकम को अदा कर सकना उसके लिये सम्भव नहीं था । कर्ज, टैक्सों में वृद्धि और पत्र-मुद्रा के प्रचार का अवलम्बन करके जर्मनी ने अपनी देनदारियों को अदा करने का प्रयत्न किया, और उसका परिणाम यह हुआ, कि उसके सिक्के (मार्क) की कीमत लगातार गिरने लगी ।

मार्क की दुर्दशा—मार्क की कितनी दुर्दशा हुई, इसे स्पष्ट करना आवश्यक है । युद्ध के समय एक पौंड में २० मार्क आते थे । मार्क एक शिलिंग या ११। आने के बराबर होता था । बाद में उसकी कीमत इस प्रकार गिरती गई—

दिसम्बर, १९२१ एक पौंड=७७० मार्क
अगस्त, १९२२ एक पौंड=३००० मार्क
दिसम्बर, १९२२ एक पौंड=३४,००० मार्क
दिसम्बर, १९२३ एक पौंड=१९००,०००,००० मार्क

मार्क की इस दुर्दशा के कारण जर्मनी के लिये हरजाने की रकम का दे सकना बहुत कठिन हो गया । मार्च, १९२२ तक जर्मनी ४०,०००,०००,००० रुपया (चार हजार करोड़) हरजाने के रूप में अदा कर चुका था । इसी भारी रकम के कारण जर्मनी में रुपये का इतना अभाव हो गया, कि उसके लिये अपनी आर्थिक दशा को संभालना कठिन हो गया । मार्च, १९२२ के बाद मार्क की कीमत निरन्तर गिरने लगी, और उसके लिये और अधिक हरजाना दे सकना मुश्किल हो गया । इस दशा में जर्मनी की ओर से मित्रराज्यों की सेवा में एक आवेदन-पत्र भेजा गया, जिसमें यह प्रार्थना की गई, कि दो साल के लिये हरजाने की अदायगी स्थगित की जाय और जर्मनी को यह अवसर दिया जाय, कि वह अपनी आर्थिक दशा को संभालने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय ऋण प्राप्त कर सके । ब्रिटेन इस आवेदन-पत्र पर सहानुभूति के साथ विचार करने के लिये तैयार था ।

रूर पर कब्जा—पर फ्रांस और बेल्जियम किसी भी प्रकार की रियायत के लिये तैयार नहीं हुए, और जब उन्होंने देखा कि जर्मनी समय पर हरजाने की रकम नहीं दे पाया है, तो रूर के प्रदेश पर उन्होंने कब्जा करने का निश्चय किया । रूर जर्मन व्यवसायों का केन्द्र है । उस पर कब्जे का अभिप्राय जर्मनी के व्यावसायिक जीवन पर कब्जा था । ११ जनवरी, १९२३ को फ्रांस की सेनाओं ने रूर पर अधिकार कर लिया । जर्मनी इस स्थिति में नहीं था, कि फ्रांस का मुकाबला कर सकता । पर उसने निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति का अवलम्बन

किया। जर्मन मजदूरों ने फ्रांस के साथ असहयोग किया, और सब व्यवसाय बन्द हो गये।

डावस-योजना—संसार के लोकमत की सहानुभूति इस समय जर्मनी के साथ थी और फ्रांस के कार्य की सब निन्दा करते थे। अन्त में फ्रांस जर्मनी के साथ समझौता करने के लिये तैयार हो गया। जर्मनी की ओर से निष्क्रिय प्रतिरोध के आन्दोलन को बन्द कर दिया गया, और फ्रांस ने एक कमेटी बिठाना स्वीकार किया, जो इस बात पर विचार करे, कि हरजाने की अदायगी के सम्बन्ध में जर्मनी को क्या रियायतें दी जा सकती हैं। यह डावस कमेटी के नाम से प्रसिद्ध है। मई, १९२४ में डावस कमेटी की रिपोर्ट तैयार हो गई। जुलाई में लण्डन में दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें कुछ परिवर्तनों के साथ 'डावस-योजना' को सबने स्वीकृत कर लिया। इस योजना की प्रधान बातें ये थीं—(१) जर्मनी अस्सी करोड़ रुपया प्रतिवर्ष हरजाने के रूप में देना शुरू करे। (२) पर वार्षिक हरजाने की यह मात्रा निरन्तर बढ़ती जावे, और चार वर्ष के बाद जर्मनी दो सौ करोड़ रुपया हर साल देने लगे। (३) आर्थिक व्यवस्था को ठीक करने के लिये जर्मनी को ६५ करोड़ रुपये का कर्ज तुरन्त दिया जावे। (४) फ्रांस ने रूर के जिन प्रदेशों पर कब्जा किया हुआ था, उन्हें वह छोड़ दे। (५) पर जर्मनी ठीक समय पर हरजाने की मात्रा अदा करता रहेगा, इसके लिये उसकी रेलवे की आमदनी, व्यावसायिक आय और टैक्स—अमानत के रूप में रहें। यदि जर्मन सरकार स्वयं समय पर हरजाना न दे, तो इन आमदनियों से वह रकम वसूल की जा सके। (६) जर्मनी की मुद्रापद्धति का पुनः संगठन किया जावे, और जर्मनी हरजाने की जो रकम हर साल दिया करे, वह मार्क सिक्के में हो। उसे अपने देश के सिक्के में परिवर्तित करने की जिम्मेदारी मित्रराज्यों के ऊपर रहे। (७) आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में जर्मनी को पूरी स्वतन्त्रता रहे।

मुद्रापद्धति का उद्धार—मार्क की कीमत को संभालने और जर्मनी की मुद्रापद्धति में फिर से जान डालने के लिये एक नई मुद्रापद्धति को शुरू किया गया। इस सिक्के का नाम रीशमार्क रखा गया, और इसकी कीमत एक शिलिंग या ११॥ आने नियत की गई। इसे जर्मनी की सरकार नहीं जारी करती थी। एक राजकीय बैंक का संगठन किया गया, जिसकी ओर से रीशमार्क जारी किये गये और ये सिक्के सरकारी नियन्त्रण से पृथक् रहे। इस समय सभी राज्य जर्मनी की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये उत्सुक थे, क्योंकि उसकी आर्थिक दशा के

संभले बिना हरजाने की रकम भी वसूल नहीं हो सकती थी। यही कारण है, कि जब जर्मनी की ओर से राष्ट्रीय ऋण जारी हुआ, तो प्रायः सभी देशों ने अच्छी तरह इसका स्वागत किया। जितने कर्ज की उसे जरूरत थी, उससे कहीं अधिक रुपया उसे प्राप्त हो गया।

जर्मनी के प्रति नीति में परिवर्तन—डावस-योजना द्वारा यूरोप के इतिहास में एक नई प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ। अब तक जर्मनी से बदला लेने और उसे सर्वथा पंगु बना देने की भावना प्रबल थी। वर्साय की सन्धि का अभिप्राय यही था, कि जर्मनी को सर्वथा कुचल दिया जाय। पर अब समय बदल रहा था। युद्ध की कटु स्मृतियां मन्द पड़ने लगी थीं, और मित्रराष्ट्र अनुभव करने लगे थे, कि जर्मनी को अपने पैरों पर खड़ा होने देना उनके अपने हितों की दृष्टि से भी आवश्यक है। इस समय ब्रिटेन में लेबर पार्टी का मन्त्रिमण्डल बन चुका था, श्री रामजे मेकडानल्ड प्रधान मन्त्री थे। फ्रांस में मई, १९२४ में नया चुनाव हुआ था। इसके परिणामस्वरूप श्री पायन्कारे का मन्त्रिमण्डल पदच्युत हो गया था, और उनके स्थान पर श्री हेरियो प्रधान मन्त्री के पद पर आरूढ़ हुए थे। श्री हेरियो रेडिकल पार्टी के नेता थे और जर्मनी के साथ उदार नीति का अनुसरण करने के पक्षपाती थे। इस समय जर्मनी के विदेश सचिव श्री स्ट्रेसमान थे, जो स्वयं इस बात के लिये उत्सुक थे, कि जर्मनी को यूरोप के राज्यों में फिर से सम्मानास्पद स्थान प्राप्त हो, और वह सबके साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करके रहे। मेकडानल्ड, हेरियो और स्ट्रेसमान के प्रगतिशील विचारों का ही यह परिणाम हुआ, कि डावस-योजना स्वीकृत हुई, और जर्मनी की गिरती हुई दशा को संभलने में सहायता मिली।

डावस-योजना द्वारा जर्मनी की वार्षिक देनदारी को ऐसी मात्रा में नियत करने का प्रयत्न किया गया, जिसे वह अपने व्यवसायों को नष्ट किये बिना देता रह सके। यह इस योजना की सबसे अच्छी बात थी। पर इसमें यह तय नहीं किया गया था, कि जर्मनी कब तक सालाना हरजाना देता रहेगा। जर्मनी को हरजाने की कुल कितनी रकम देनी है, यह भी इस योजना में तय नहीं किया गया था। सम्भवतः यह मुमकिन नहीं था, कि हरजाने की पूर्व निश्चित मात्रा में किसी भी तरह की कमी की जा सके, कारण यह कि फ्रांस इस बात को कभी भी स्वीकार न करता। इस दशा में, जर्मन लोगों को अपनी देनदारी का अन्त कहीं भी नजर नहीं आता था। वे समझते थे, कि अपने व्यवसायों को उन्नत करके व आर्थिक दशा को संभाल कर वे जो कुछ भी पैदा करेंगे या बचावेंगे, वह

सब आखिरकार उनके हाथ से निकल कर मित्रराष्ट्रों के पास पहुंच जायगा। डावस-योजना ने जर्मनी को संभलने में मदद अवश्य दी, पर जर्मन लोगों में जो कटुता और निराशा की भावना थी, उसे वह दूर नहीं कर सकी।

अन्तर्राष्ट्रीय ऋण—डावस योजना के अधीन जिस अन्तर्राष्ट्रीय ऋण की व्यवस्था की गई थी, उसने भी अनेक परिणाम उत्पन्न किये। इस ऋण की सफलता से उत्साहित होकर अगले पांच सालों में न केवल जर्मन सरकार ने, अपितु अनेक जर्मन म्युनिसिपैलिटियों और व्यावसायिक कम्पनियों ने भी विदेशों से ऋण लेने शुरू किये। अमेरिका और ब्रिटेन के बाजार में इन ऋणों को खूब सफलता मिलती थी। अरबों की संख्या में विदेशी रुपया जर्मनी को मिलने लगा, और इससे जहां वह अपने सालाना हरजाने की रकम को सुगमता से अदा करता रह सका, वहां अपने व्यवसायों की उन्नति के लिये भी उसे बहुत सहायता मिली। १९२३ में जो जर्मनी सर्वथा दिवालिया हो गया था, वह १९२८ तक बहुत कुछ संभल गया, और उसके माल से संसार के बाजार एक बार फिर पटने लग गये। जर्मनी में फिर आर्थिक समृद्धि प्रगट होने लगी।

राजनीतिक शक्ति का संचार—आर्थिक दशा संभलने के साथ-साथ जर्मनी में राजनीतिक शक्ति भी संचारित होने लगी थी। यद्यपि डावस-योजना ने वर्साय की सन्धि की बुराइयों का अनेक अंशों में संशोधन किया था, पर जर्मनी के उग्र राष्ट्रीय दल उससे सन्तुष्ट नहीं थे। महायुद्ध को समाप्त हुए अब छः साल हो गये थे। पराजय के कारण जो आत्मग्लानि जर्मन लोगों में पैदा हुई थी, वह बहुत कुछ दूर हो गई थी। वे अब फिर उग्र राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत होने लगे थे। २८ फरवरी, १९२५ को राष्ट्रपति एबर्ट की मृत्यु हो गई। अब नये राष्ट्रपति के चुनाव का प्रश्न था। राष्ट्रीय दल ने फील्ड मार्शल फान हिण्डनबर्ग को अपनी ओर से उम्मीदवार खड़ा किया। हिण्डनबर्ग के वीर कृत्यों को जर्मन लोग अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वह जर्मन सैनिक शक्ति और राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं का मूर्त रूप था। उसके व्यक्तित्व के सम्मुख साम्यवादी एबर्ट के अनुयायी नहीं टिक सके। वह राष्ट्रपति चुना गया, और १२ मई, १९२५ को ७८ वर्ष की आयु के इस वयोवृद्ध फील्ड मार्शल ने राष्ट्रपति के पद की शपथ ग्रहण की। हिण्डनबर्ग के निर्वाचन ने जर्मनी में एक नई शक्ति का संचार कर दिया। लोग फिर से जर्मनी के राष्ट्रीय पुनरुत्थान का स्वप्न देखने लगे। जिस सैनिक शक्ति को कुचल कर जर्मनी का पराजय किया गया था, वह एक बार फिर जर्मन लोगों में नई आशा का संचार करने लगी।

४. लोकार्नो की सन्धि

यूरोप में फ्रांस और जर्मनी की प्रतिस्पर्धा देर से चली आती थी। सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में फ्रांस यूरोप की सबसे बड़ी राजनीतिक और सैनिक शक्ति था। नैपोलियन के नेतृत्व में फ्रांस अपने उत्कर्ष की चरम सीमा को पहुंच गया था। पर उन्नीसवीं सदी में जर्मनी का संगठन हुआ, और १८७०-७१ में फ्रांस को उससे बुरी तरह परास्त होना पड़ा। १९१४-१८ के महायुद्ध में फ्रांस जर्मनी से बदला लेने में समर्थ हुआ, पर अभी तक भी उसे यह भय बना हुआ था, कि जर्मनी फिर से शक्ति प्राप्त कर उसके लिये खतरे का कारण बन सकता है। पेरिस की सन्धि-परिषद् में फ्रांस की यही कोशिश थी, कि जर्मनी की सम्भावित शक्ति के मुकाबले में आत्मरक्षा का वह पूरा पूरा इन्तजाम कर ले। इसीलिये उसने वर्साय की सन्धि में जर्मनी को इस बात के लिये विवश किया था, कि र्हाइन नदी के दक्षिण में वह कोई किलाबन्दी न कर सके। इसीलिये उसने रूर के प्रदेश पर कब्जा किया था। पर फ्रांस इस सबको पर्याप्त नहीं समझता था। महायुद्ध में जर्मनी के हाथों से उसे भारी नुकसान उठाना पड़ा था। उसकी कोशिश यह थी, कि अमेरिका और ब्रिटेन इस बात की गारण्टी दें, कि यदि फिर जर्मनी ने फ्रांस पर हमला किया, तो वे पूरी तरह उसकी सहायता करेंगे। अमेरिका और ब्रिटेन से उसे यह गारण्टी पूरी तरह नहीं मिल सकी। इसी उद्देश्य से फ्रांस ने पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया के साथ सन्धियां की थीं। इन सब देशों को जर्मनी से निरन्तर भय था। कारण यह कि इनकी नई सीमाओं के अन्तर्गत अनेक ऐसे प्रदेश आ गये थे, जिनमें जर्मन जाति के लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। फ्रांस ने इन देशों से सन्धि कर यूरोप में अपना एक ऐसा गुट बना लिया था, जिसकी सहायता पर वह सदा भरोसा रख सकता था। पर जर्मनी के भावी आक्रमणों से वह तभी निश्चिन्त हो सकता था, जब अमेरिका और ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली देशों की सहायता का भी उसे पूरी तरह भरोसा हो जाय।

सन् १९२१ में राष्ट्रसंघ के सम्मुख यह प्रश्न पेश हुआ, कि विविध राज्यों को अपने अस्त्र-शस्त्रों की मात्रा में कमी करनी चाहिये। फ्रांस तथा पूर्वी यूरोप के विविध देशों की यह राय थी, कि अस्त्र-शस्त्रों में तब तक कमी कर सकना सम्भव नहीं है, जब तक कि उनकी रक्षा के लिये अन्य व्यवस्था का भरोसा न हो। इस सिद्धान्त को ब्रिटेन ने स्वीकार किया, और एक ऐसा मसविदा तैयार हुआ, जिसमें 'पारस्परिक सहायता के लिये सन्धि' की व्यवस्था की गई थी। इस मसविदे

के अनुसार यदि किन्हीं राज्यों में लड़ाई छिड़ जाय, तो राष्ट्रसंघ की कौंसिल का अधिवेशन फौरन बुलाया जाना चाहिये, और कौंसिल को चार दिन के अन्दर अन्दर यह फैसला कर देना चाहिये, कि लड़ाई शुरू करने में कौन राज्य दोषी है। जो दोषी हो, उसके खिलाफ लड़ाई में अन्य सब राज्यों को पूरी तरह सहायता करनी चाहिये। इस मसविदे को राष्ट्रसंघ में सम्मिलित सब राज्यों की सरकारों के पास विचारार्थ भेज दिया गया। फ्रांस ने इसका बड़े उत्साह के साथ समर्थन किया। पूर्वी यूरोप के अन्य राज्य भी इस मसविदे से बहुत प्रसन्न हुए। पर ब्रिटेन ने इसका स्वागत नहीं किया। ब्रिटेन और उसके साम्राज्य के अन्तर्गत कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि उपनिवेश इस बात के लिये तैयार नहीं थे, कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनकी जिम्मेवारियां बढ़ती जावें। उन्होंने 'पारस्परिक सहायता की सन्धि' को अस्वीकृत कर दिया।

जिनीवा प्रोटोकोल—इसी बीच में अगले साल डावस-योजना तैयार हुई। इस योजना से इङ्गलैण्ड और फ्रांस दोनों सहमत थे। डावस-योजना द्वारा यूरोप में एक बार फिर आशा और परस्पर विश्वास का संचार हुआ, और १९२४ में रामजे मेकडानल्ड और हेरियो राष्ट्रसंघ के अधिवेशन में बड़ी आशा के साथ सम्मिलित हुए। वहां उन्होंने मिलकर एक समझौता तैयार किया, जो 'जिनीवा प्रोटोकोल' के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रोटोकोल द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि जब दो राज्यों में कोई झगड़ा ऐसा हो, जो कानून से सम्बन्ध रखता हो, तो उसे स्थिर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाय। इस न्यायालय का निर्णय दोनों पक्षों के लिये मानना आवश्यक हो। यदि राज्यों में ऐसे झगड़े हों, जो कानून से सम्बन्ध न रखते हों, तो उन्हें राष्ट्रसंघ की कौंसिल के सामने पेश किया जाय। यदि कौंसिल में कोई फैसला सर्वसम्मति से हो जाय, तो उसे मानना सबके लिये आवश्यक हो। पर यदि फैसला सर्वसम्मति से न हो, तो उसे एक पंचायत के सम्मुख पेश किया जाय। इस पंचायत की नियुक्ति राष्ट्रसंघ की कौंसिल करे। पंचायत जो फैसला दे, उसे मानना सबके लिये जरूरी हो। पर फ्रांस इस प्रोटोकोल से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं था। कारण यह, कि वह यह गारण्टी चाहता था, कि यदि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, कौंसिल व उस द्वारा नियुक्त पंचायत का फैसला न माने, और युद्ध प्रारम्भ करे, तो उसके खिलाफ अन्य सब राज्य मिलकर लड़ाई की घोषणा कर देंगे। पर फिर भी फ्रांस ने जिनीवा प्रोटोकोल को स्वीकृत कर लिया। पोयन्कारे के पतन के बाद श्री हेरियो के नेतृत्व में फ्रांस की राजनीति में परिवर्तन आ गया था, और वह अन्य राज्यों के साथ मिलकर कार्य

करने के लिये उत्सुक था। जिनीवा प्रोटोकोल इसी नीति का परिणाम था।

प्रोटोकोल की असफलता—इस बीच में ब्रिटेन में नया निर्वाचन हुआ। वहां की कन्जर्वेटिव पार्टी ने मजदूर दल को परास्त कर अपनी सरकार कायम की। नये मन्त्रिमण्डल में विदेश सचिव का पद श्री आस्टिन चेम्बरलेन ने ग्रहण किया। श्री बालड्विन प्रधान मन्त्री बने। ब्रिटेन की जनता नहीं चाहती थी, कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी जिम्मेवारियां जरा भी बढ़ें। पार्लियामेण्ट के सम्मुख जिनीवा प्रोटोकोल जब पेश हुआ, तो वह बहुमत से अस्वीकृत हो गया। ब्रिटेन की अस्वीकृति का परिणाम यह हुआ, कि श्री हेरियो और श्री मेकडानल्ड ने आपस में मिलकर जो समझौता किया था, वह बीच में ही रह गया। उसकी अकाल मृत्यु हो गई। फ्रांस में इससे बहुत असन्तोष हुआ, और अब वहां के राजनीतिज्ञ ब्रिटेन के सहयोग की आशा छोड़कर यूरोप में अपनी स्थिति को मजबूत करने में लग गये। इसी प्रयत्न का परिणाम लोकार्नो की सन्धि थी, जो जर्मनी और फ्रांस के इतिहास में बड़ा महत्त्व रखती है।

लोकार्नो की सन्धि—१९२२ के अन्त में जर्मनी ने फ्रेंच सरकार के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा था, कि वे आपस में मिलकर एक ऐसा समझौता कर लें, जिसके अनुसार कम से कम एक सन्तति तक (२५ वर्षों तक) वे एक दूसरे के साथ युद्ध न करें। पर उस समय पोयन्कारे फ्रांस का प्रधान मन्त्री था। रूर पर फ्रांस का कब्जा हुए अभी थोड़ा ही समय बीता था। फ्रांस ने जर्मनी के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। सन् १९२३ और १९२४ में जर्मनी ने कई बार यह प्रयत्न किया, कि इस प्रस्ताव को फिर फ्रांस के सम्मुख रखे, पर उसे सफलता नहीं हुई। पर अब समय बदल गया था। फ्रांस का नया प्रधान मन्त्री हेरियो समझौते की नीति को अधिक पसन्द करता था। जिनीवा प्रोटोकोल के अस्वीकृत हो जाने के बाद फ्रांस स्वयं इस बात के लिये उत्सुक था, कि आत्मरक्षा के लिये किसी नई सन्धि या समझौते की बात चलाये। १९२५ में विदेशी राजदूतों द्वारा इस सम्बन्ध में बातचीत चलती रही। आखिर, अक्टूबर १९२५ में विविध राज्यों के प्रतिनिधि स्विट्जरलैण्ड के अन्यतम नगर लोकार्नो में एकत्र हुए, और १६ तारीख को निम्नलिखित बातों पर फैसला हो गया—

(१) जर्मनी और फ्रांस की जो सीमा वर्साय की सन्धि द्वारा तय हुई थी, उसे सब राज्य गारण्टी करें।

(२) जर्मनी और बेल्जियम की जो सीमा वर्साय की सन्धि द्वारा तय की गई थी, उसे भी सब राज्य गारण्टी करें।

(३) जर्मनी और फ्रांस, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया व पोलैण्ड में यदि कोई झगड़ा हो, तो उसका फैसला पंचायती तरीके से किया जाय।

(४) फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया व पोलैण्ड में यह सन्धि हुई, कि वे एक दूसरे की सीमा की गारण्टी करें।

इन सब बातों का फैसला लोकार्नो में हुआ, पर उन पर बाकायदा हस्ताक्षर एक दिसम्बर, १९२५ को लण्डन में किये गये। लोकार्नो के ये समझौते बड़े महत्त्व के थे। अब फ्रांस, जर्मनी और बेल्जियम ने यह आखिरी तौर पर स्वीकार कर लिया था, कि उनकी जो सीमायें वर्साय की सन्धि में तय हुई थीं, वे स्थिर रहेंगी। कोई राज्य उन्हें बदलने की कोशिश नहीं करेगा। इस समझौते में जर्मनी भी शामिल था और ब्रिटेन भी। यदि जर्मनी या फ्रांस इसके विपरीत कोई यत्न करे, तो ब्रिटेन की शक्ति उसके विरोध में प्रयुक्त होगी, यह गारण्टी स्थिर रूप से मिल गई थी। फ्रांस को इस बात से बड़ा सन्तोष हुआ।

पर जो गारण्टी फ्रांस और जर्मनी तथा बेल्जियम व जर्मनी की सीमाओं के सम्बन्ध में प्राप्त हुई थी, वह जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया तथा जर्मनी और पोलैण्ड की सीमा के बारे में प्राप्त नहीं हुई थी। यह बात बड़े महत्त्व की थी। इसका अभिप्राय यह था, कि यदि जर्मनी अपनी पूर्वी सीमा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करे, या वह पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के उन प्रदेशों पर फिर से कब्जा करने के लिये युद्ध छेड़े, जिनमें जर्मन जाति के लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, तो ब्रिटेन जर्मनी के खिलाफ लड़ाई शुरू करने के लिये मजबूर नहीं होगा। इस प्रकार के झगड़ों का फैसला पंचायती तरीके से होना तय हुआ था, पर फ्रांस ने इस बात की गारण्टी कर दी थी, कि वह चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड की सीमाओं की स्थिरता के लिये लड़ाई करने में अपना कदम पीछे नहीं हटायेगा।

इसमें सन्देह नहीं, कि लोकार्नो के इस समझौते से फ्रांस बहुत कुछ सन्तुष्ट हो गया, और जर्मनी के साथ उसके सम्बन्ध पहले की अपेक्षा बहुत अच्छे हो गये। उसे यह भरोसा हो गया, कि जर्मनी सुगमता के साथ उसकी नई सीमा का उल्लंघन करने का यत्न नहीं करेगा। पर साथ ही, जर्मनी भी अब यूरोप की राजनीति में एक स्वतन्त्र और सम्मानास्पद देश के सदृश भाग लेने लगा। इसी का परिणाम यह हुआ, कि अगले साल १९२६ में जर्मनी भी राष्ट्रसंघ का सदस्य हो गया, और उसका भी एक प्रतिनिधि राष्ट्रसंघ की कौंसिल में स्थिर रूप से रहने लगा। अब जर्मनी यूरोप के अन्य राज्यों के समकक्ष स्थान पा गया था।

पैंतालीसवां अध्याय

यूरोप के नये और परिवर्तित राज्य

१. आस्ट्रिया-हंगरी का अधःपतन

महायुद्ध में परास्त होने से जिस प्रकार जर्मनी में होहेन्ट्सोलर्न राजवंश का अन्त हुआ, उसी प्रकार आस्ट्रिया-हंगरी में हाप्सबुर्ग वंश की समाप्ति हुई। हाप्सबुर्ग वंश के राजा आस्ट्रिया और हंगरी दोनों राज्यों के अधिपति होते थे। जर्मनी और उसके साथियों के पराजय से न केवल इस प्राचीन राजवंश का अन्त हुआ, पर आस्ट्रिया-हंगरी का शक्तिशाली साम्राज्य भी टुकड़े-टुकड़े हो गया। उसके भग्नावशेषों पर चार स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ, जिनके नाम हैं—आस्ट्रिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया।

राजसत्ता का अन्त और रिपब्लिक की स्थापना—३० अक्टूबर, १९१८ को आस्ट्रिया में एक सामयिक राष्ट्रीय महासभा की बैठक हुई। इसमें वे लोग सदस्य के रूप में एकत्र हुए, जो पुराने आस्ट्रिया-हंगरी की प्रतिनिधि सभा में आस्ट्रिया के प्रदेशों से चुने गये थे। इस महासभा का मुख्य कार्य यह था, कि विजेता देशों के साथ सन्धि करके शान्ति की स्थापना करे। ११ नवम्बर, १९१८ को हाप्सबुर्ग सम्राट् चार्ल्स ने पदत्याग कर दिया, और अगले दिन आस्ट्रिया में रिपब्लिक की घोषणा की गई। सामयिक रूप से एक नये मन्त्रिमण्डल का संगठन किया गया और उन जरूरी कानूनों का निर्माण किया गया, जो समय और परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए आवश्यक थे।

इसी बीच में आस्ट्रिया के लिये एक संविधान-परिषद् (कान्स्टिटट्यूएन्ट एसेम्बली) का निर्वाचन किया गया। इसके लिये सब बालिग स्त्री-पुरुषों को वोट का अधिकार दिया गया था। १६ फरवरी, १९१९ तक नई संविधान-परिषद् के चुनाव पूर्ण हो गये। परिषद् में सोशल डेमोक्रेट और क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टियों का बहुमत था। इन दलों की प्रवृत्तियां साम्यवादी थीं। मित्रराज्यों के साथ सां जर्मे की सन्धि सम्पन्न कर संविधान-परिषद् ने आस्ट्रिया

के लिये नये शासन-विधान के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। नया विधान १ अक्टूबर, १९२० से लागू हुआ।

नया संविधान—आस्ट्रिया की नई रिपब्लिक की कुल जन-संख्या ६५ लाख थी। इनमें से २० लाख व्यक्ति वीएना में निवास करते थे, जो कि आस्ट्रिया की प्राचीन राजधानी थी। इस छोटी सी रिपब्लिक को आठ भागों या राज्यों में विभक्त किया गया। प्रत्येक राज्य अपने आप में पूर्ण व स्वतन्त्र था, और उनको मिलाकर एक संघ (फिडरेशन) बनाया गया था। संघ की पार्लियामेन्ट में दो सभायें बनाई गईं (१) नाशनल राट—(राष्ट्रीय सभा)—इसके सदस्य चार साल के लिये चुने जाते थे, और उनका चुनाव आस्ट्रिया के सब मतदाताओं द्वारा सीधा होता था। (२) बुन्दसराट (संघ सभा)—इसके सदस्यों का चुनाव आठों राज्यों की प्रतिनिधि-सभायें करती थीं। दोनों सभाओं का जब मिलकर अधिवेशन हो, तो उसे राष्ट्रीय महासभा कहते थे, और यह महासभा आस्ट्रिया के राष्ट्रपति का निर्वाचन करती थी। राष्ट्रपति का निर्वाचन चार साल के लिये किया जाता था, और उसे दुबारा भी चार साल के लिये चुना जा सकता था। मन्त्रिमण्डल का निर्माण प्रधान मन्त्री करता था। नाशनल राट में जिस दल का बहुमत हो, उसके नेता को प्रधान मन्त्री बनाया जाता था, और वह नाशनल राट के सदस्यों में से अपने मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। मन्त्रिमण्डल नाशनल राट के प्रति ही उत्तरदायी होता था। संघ की सरकार के अधिकार बहुत अधिक थे। आस्ट्रिया ने अपने कानूनों का भी इस समय पुनः निर्माण किया। इन नये कानूनों की एक विशेषता यह थी, कि मृत्युदण्ड को सर्वथा उड़ा दिया गया था।

१७ अक्टूबर, १९२० को नये शासन-विधान के अनुसार पहले निर्वाचन हुए। पार्लियामेन्ट में सोशल डेमोक्रेट और क्रिश्चियन सोशलिस्ट दलों का ही बहुमत हुआ। आस्ट्रिया का पहला राष्ट्रपति डा. माइकेल हैनिश निर्वाचित हुआ। रिपब्लिक की नई सरकार के सम्मुख बहुत सी विकट समस्यायें थीं। आस्ट्रिया अब एक छोटा सा राज्य रह गया था। उसके पास कोई भी बन्दरगाह नहीं था। पुराने आस्ट्रिया के जो भी व्यावसायिक नगर थे, उसके पास जो भी कोयले या लोहे की खानें थीं, वे सब उससे ले ली गई थीं। महायुद्ध के लिये दोषी ठहरा कर उस पर भी हरजाने की भारी मात्रा लाद दी गई थी। इस दशा में आर्थिक दृष्टि से आस्ट्रिया को भी बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। धीरे-धीरे उसकी दशा इतनी बिगड़ गई, कि राष्ट्रसंघ को वाधित होकर उसे सहायता देने के लिये तैयार होना पड़ा। आखिर, यह व्यवस्था की गई, कि

चालीस करोड़ रुपये के कर्ज का प्रबन्ध किया जाय, जिससे कि आस्ट्रिया अपनी आर्थिक दशा को संभाल सके। इस कर्ज की अदायगी के लिये आस्ट्रिया की रेलवे और निर्यात-आयात-करों की आमदनियों को जमानत के रूप में माना गया। इसमें सन्देह नहीं, कि इस कर्ज के कारण १९२२ के बाद आस्ट्रिया की आर्थिक दशा कुछ कुछ सुधरने लग गई।

२. हंगरी

महायुद्ध के बाद हंगरी का बहुत सा प्रदेश उसके हाथ से निकल गया। पहले उसकी आबादी दो करोड़ दस लाख थी। नये हंगरी के निवासियों की संख्या केवल ७५ लाख रह गई। त्रियानों की सन्धि के अनुसार पुराने हंगरी का ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश रूमानिया को, क्रोटिया का प्रदेश युगोस्लाविया को और स्लोवाकिया का प्रदेश चेकोस्लोवाकिया को दिया गया था। इन प्रदेशों में जो हंगेरियन लोग रहते थे, उनकी संख्या तीस लाख से भी अधिक थी। हंगरी के इतने राष्ट्रीय नागरिक अब विदेशों में रहने के लिये विवश हुए थे। उसकी यह स्वाभाविक इच्छा थी, कि ट्रांसिलवेनिया, क्रोटिया और स्लोवाकिया के वे हिस्से, जिनमें हंगेरियन लोग बहुसंख्या में थे, उसे फिर से वापस मिल जावें। अल्पसंख्या के लोगों की जो समस्यायें यूरोप में आगे चलकर पैदा हुईं, उनमें हंगेरियन लोगों की समस्या बहुत पेंचीदी थी।

रिपब्लिक की स्थापना—हंगरी का राज्य अब आस्ट्रिया से पृथक करके बनाया गया। हाप्सबुर्ग वंश के राजा ही पहले हंगरी के भी राजा होते थे। सम्राट् चार्ल्स ने जब आस्ट्रिया की राजगद्दी का परित्याग किया, तभी हंगरी की राजगद्दी भी खाली हो गई। हंगरी की नई सरकार का स्वरूप अब बदल गया था। वहां भी अब रिपब्लिक की स्थापना की गई थी। सामयिक रूप से वहां का पहला राष्ट्रपति काउण्ट कारोल्यी को बनाया गया। पर हंगरी में ऐसा दल भी विद्यमान था, जो वहां फिर से हाप्सबुर्ग वंश का शासन स्थापित करना चाहता था। १९२१ में भूतपूर्व सम्राट् चार्ल्स की ओर से दो बार यह प्रयत्न किये गये, कि वह फिर से हंगरी की राजगद्दी पर अधिकार प्राप्त कर सके, पर उसे सफलता नहीं हुई। यद्यपि हंगरी के लोगों की सहानुभूति उसके साथ थी, पर चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया उसके बहुत खिलाफ थे। उनका ख्याल था, कि हाप्सबुर्ग वंश के फिर से हंगरी के शासक बन जाने का परिणाम यह होगा, कि पुराने साम्राज्य को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया जायगा।

कम्युनिस्ट क्रान्ति—पृथक् स्वतन्त्र राज्य बनने के बाद हंगरी को अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। मार्च, १९१९ में कम्युनिस्ट लोग हंगरी में बहुत प्रबल हो गये। रूस में इस समय तक कम्युनिस्ट लोग अपना शासन भली भांति जमा चुके थे। उनका यह प्रयत्न था, कि सारे यूरोप में बोल्शेविक सिद्धांतों के अनुसार क्रान्ति की जाय, क्योंकि सर्वत्र कम्युनिस्ट प्रणाली के प्रचलित हुए बिना रूस में नये आर्थिक व सामाजिक संगठन का कायम रह सकना सम्भव नहीं है। हंगरी के कम्युनिस्ट दल का नेता बेलाकुन था। वह देर तक रूस में रह चुका था, और वहीं उसने कम्युनिस्ट सिद्धान्तों की शिक्षा ग्रहण की थी। मार्च, १९१९ में बेलाकुन के नेतृत्व में हंगरी में क्रान्ति हुई। हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट पर कम्युनिस्टों ने अपना कब्जा कर लिया, और राष्ट्रपति काउन्ट कारोल्यी को देश छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा। कम्युनिस्ट शासन में सब वैयक्तिक सम्पत्ति जब्त कर ली गई। सब व्यवसाय और व्यापार राज्य के अधिकार में ले लिये गये। कारखानों पर मजदूरों की कौंसिलों ने कब्जा कर लिया और जमींदारों से उनकी सब जमीनें छीन ली गईं। विरोधियों के साथ बड़ा सख्त बरताव किया गया। कुछ समय के लिये हंगरी में आतंक का राज्य छा गया, और ऐसा प्रतीत होने लगा, कि इस छोटी सी रिपब्लिक में भी रूस के समान बोल्शेविक रीति-नीति कायम हो जायगी।

कम्युनिस्ट सरकार का पतन—हंगरी के पड़ोसी राज्य इससे बहुत चिन्तित हुए। विशेषतया, वे राज्य जिनका निर्माण पुराने आस्ट्रिया-हंगरी के खण्डहरों पर हुआ था, इससे बहुत भयभीत हुए। उनसे प्रेरणा पाकर रूमानिया ने हंगरी पर हमला कर दिया। ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश रूमानिया ने हंगरी से ही प्राप्त किया था। इसमें बहुत से हंगेरियन जाति के लोग बसते थे। रूमानिया को भय था, कि कम्युनिज्म की बीमारी कहीं उसके प्रदेश में भी न आ जावे। हंगरी के बोल्शेविक रूमानिया का मुकाबला नहीं कर सके। रूमानियन सेनाओं ने शीघ्र ही बुडापेस्ट पर कब्जा कर लिया। बोल्शेविक शासन का अन्त कर दिया गया। आक्रमण करनेवाली सेनाओं ने हंगरी को बहुत बुरी तरह से लूटा। उनकी हंगरी से पुरानी शत्रुता थी। बोल्शेविकों का दमन करने के बहाने से उन्होंने हंगरी का बुरी तरह विनाश किया।

जब रूमानियन सेनायें लूट-मार करके अपने देश को वापस लौट गईं, तो हंगरी की राष्ट्रीय महासभा ने एडमिरल होर्थी को राष्ट्रपति चुना और देश में नये शासन-विधान को प्रचलित करने का प्रयत्न किया। बोल्शेविकों के दमन के

कारण हंगरी में साम्यवादी दल बहुत कमजोर पड़ गये, और उन दलों ने जोर पकड़ा, जो हाप्सवुर्ग राजवंश को फिर से राजगद्दी पर स्थापित करके पुराने जमाने को वापस लाना चाहते थे। पर इन्हें अपने प्रयत्नों में सफलता नहीं हुई। हंगरी में रिपब्लिक कायम रही, पर वहां के प्रगतिशील लोगों ने अपना यह प्रयत्न बन्द नहीं किया, कि हंगरी फिर अपने लुप्त गौरव को प्राप्त करे। चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रुमानिया से उसका स्वाभाविक विरोध था। यही कारण है, कि जब १९३८ में हिटलर के प्रयत्नों से चेकोस्लोवाकिया का अन्त हुआ, तो हंगरी ने भी अपनी राजनीतिक सत्ता के पुनरुत्थान का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया और वह एक बार फिर जर्मनी के शिकंजे में चला गया।

३. चेकोस्लोवाकिया

आस्ट्रिया-हंगरी के खण्डहरों पर जिन नये राज्यों का निर्माण हुआ, उनमें चेकोस्लोवाकिया मुख्य है। इस देश में दो जातियों का प्रधानतया निवास है, चेक और स्लोवाक। ये दोनों विशाल स्लाव जाति की दो शाखायें हैं। इनकी बोलियां अलग-अलग हैं, पर वे एक ही भाषा की दो शाखायें हैं। यद्यपि जाति की दृष्टि से चेक और स्लोवाक एक दूसरे के बहुत समीप हैं, पर उनकी ऐतिहासिक परम्परा सर्वथा पृथक् रही है। चेक लोगों का प्रदेश बोहेमिया कहाता है, और मध्यकाल में वह एक स्वतन्त्र राज्य था। १६२० के बाद वह आस्ट्रिया के साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। तब से चेक लोगों पर जर्मन प्रभाव बढ़ने लगा। आस्ट्रियन लोगों की भाषा जर्मन है, और सभ्यता व संस्कृति की दृष्टि से भी वे जर्मनों के बहुत समीप हैं। चेक जाति के कुलीन और बड़े लोग जर्मन भाषा पढ़ने लगे और जर्मन संस्कृति को अपनाने में गौरव अनुभव करने लगे। इसी का परिणाम हुआ, कि आधुनिक चेक लोग सुशिक्षित, परिश्रमी और उन्नत हैं। इसके विपरीत, स्लोवाक लोग एक हजार साल से हंगरी के अधीन थे। हंगरी आस्ट्रिया के मुकाबले में बहुत पिछड़ा हुआ था। इसलिये हंगेरियन लोगों के सम्पर्क में रहते हुए स्लोवाक लोग कोई विशेष उन्नति नहीं कर सके। यही कारण है, कि जब महायुद्ध के बाद चेकोस्लोवाकिया का पृथक् स्वतन्त्र राज्य कायम हुआ, तो उसकी सरकार में चेक लोगों की प्रधानता रही। राजकर्मचारी भी मुख्यतया चेक जाति के हुए। यह बात बहुत से स्लोवाक लोगों को पसन्द नहीं थी। उनके प्रगतिशील लोगों ने यह आन्दोलन शुरू किया, कि स्लोवाकिया का पृथक् राज्य होना चाहिये। पर यह आन्दोलन सफल नहीं हुआ। चेक और

स्लोवाक--दोनों एक ही जाति के थे। अतः धीरे-धीरे उनमें एकता की भावना का विकास होता गया।

चेक और स्लोवाक लोगों में आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य से स्वतन्त्र होने की आकांक्षा देर से विद्यमान थी। फ्रांस की राज्यक्रान्ति और नैपोलियन के विजयों से यूरोप भर में राष्ट्रीयता की जो भावना व्याप्त हुई थी, उसका प्रभाव चेक और स्लोवाक लोगों पर भी पड़ा था। विशेषतया, चेक लोगों में अपने राष्ट्रीय गौरव और देश-प्रेम का विकास बड़ी तेजी के साथ होने लगा। अनेक विद्वानों और लेखकों ने इस प्रवृत्ति में सहायता दी। १८४८ के क्रान्ति-काल में चेक लोगों ने भी विद्रोह किये, पर उन्हें बुरी तरह कुचल दिया गया। १८६८ के बाद चेक लोगों ने अपने राष्ट्रीय आन्दोलन को फिर खड़ा किया। इस समय चेकों में दो मुख्य दल थे। एक दल का कहना था, कि जिस प्रकार हाप्सबुर्ग राजवंश का सम्राट् आस्ट्रिया और हंगरी दोनों राज्यों का पृथक्-पृथक् राजा है, और उसका राज्याभिषेक वीएना और बुडापेस्ट, दोनों राजधानियों में होता है, उसी प्रकार उसे बोहेमिया के पृथक् राज्य का भी पृथक् राजा होना चाहिये, और उसका राज्याभिषेक प्राग में भी होना चाहिये। दूसरा दल कहता था, कि चेक, स्लोवाक, रुथेनियन और युगोस्लाव इन सब जातियों का मिलकर एक विशाल स्लाव राज्य संगठित किया जाना चाहिये। दोनों दल शान्तिमय उपायों से अपने आन्दोलनों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसी बीच में महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ। शुरू में चेक लोगों ने आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के प्रति पूर्णतया भक्ति प्रदर्शित की, और युद्ध के प्रयत्न में सरकार का पूरा-पूरा साथ दिया। अक्टूबर, १९१४ में बोहेमिया के चेक यूनियन ने घोषणा की, कि "हम सरकार का विरोध अवश्य करते रहे हैं, पर हमने राज्य के प्रति विरोध-भावना का कभी प्रदर्शन नहीं किया।" पर चेक लोगों में ऐसे उग्र राष्ट्रवादी नेताओं की कमी नहीं थी, जो महायुद्ध को अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति का एक सुवर्णावसर समझते थे। वे अनुभव करते थे, कि यदि महायुद्ध में आस्ट्रिया-हंगरी की पराजय हो, तभी वे अपना पृथक् स्वतन्त्र राज्य कायम करने में समर्थ हो सकते हैं। इन क्रान्तिकारी लोगों ने गुप्त रूप से मित्रराष्ट्रों की सहायता करनी प्रारम्भ की। अनेक नेता छिपकर फ्रांस और ब्रिटेन में चले आये, और वहां उन्होंने मित्रराष्ट्रों की सरकारों से यह प्रेरणा की, कि चेक गुप्त समितियों को अपने कार्य में पूरी-पूरी सहायता दी जाय, ताकि आस्ट्रिया-हंगरी के युद्ध सम्बन्धी प्रयत्नों में रोड़े अटकाने के कार्य में वे समर्थ हो सकें। कुछ समय बाद

अनेक चेक नेताओं ने पेरिस में एक सामयिक चेक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की, और फ्रांस के विदेशी कार्यालय की सहायता से बोहेमिया में विद्यमान क्रान्तिकारी गुप्त समितियों की सहायता शुरू कर दी। साथ ही, आस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध प्रचार के काम में इस आजाद चेक सरकार ने बड़ा काम किया। न केवल संसार के लोकमत को हाप्सबुर्ग राजवंश के खिलाफ भड़काने का इसने उद्योग किया, पर साथ ही आस्ट्रिया-हंगरी के विशाल साम्राज्य में निवास करनेवाली विविध जातियों को युद्ध के अवसर से फायदा उठा कर विद्रोह कर देने के लिये भी इसने प्रेरित किया। १४ अक्टूबर, १९१८ को पेरिस में स्थित इस चेक सरकार को मित्रराष्ट्रों ने वैध चेक सरकार के रूप में बाकायदा स्वीकार कर लिया। चार दिन बाद, १८ अक्टूबर को इसी चेक सरकार ने अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। चेक लोगों के इस राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रधान नेता प्रोफेसर मैसेरिक था। आस्ट्रिया-हंगरी के पराजय और हाप्सबुर्ग राजवंश के पतन के बाद प्राग में चेक लोगों ने रिपब्लिक की स्थापना कर दी। रिपब्लिक का पहला राष्ट्रपति प्रोफेसर मैसेरिक को चुना गया, और नया शासन-विधान तैयार करने के लिये एक विधान-परिषद् का निर्माण कर दिया गया।

नया संविधान---२९ फरवरी, १९२० को चेकोस्लोवाकिया का नया विधान बनकर तैयार हुआ। पार्लियामन्ट में दो सभायें रखी गई। (१) प्रतिनिधि-सभा---इसके सदस्य छः साल के लिये चुने जाते थे। २१ साल से अधिक आयु के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को वोट का अधिकार दिया गया था, और ३० साल से अधिक आयु का प्रत्येक व्यक्ति प्रतिनिधि-सभा का सदस्य होने का उम्मीदवार हो सकता था। (२) सीनेट---इसका चुनाव आठ साल के लिये होता था। प्रतिनिधि-सभा और सीनेट के सदस्य राष्ट्रीय महासभा के रूप में अपनी सम्मिलित बैठक करते थे, और राष्ट्रपति का निर्वाचन करते थे। प्रोफेसर मैसेरिक अब तक सामयिक रूप से राष्ट्रपति का कार्य करते थे। अब उन्हें राष्ट्रीय महासभा द्वारा सात साल के लिये राष्ट्रपति चुन लिया गया।

नये राज्य का स्वरूप---चेकोस्लोवाकिया का जो नया राज्य अब स्थापित हुआ, उसकी कुल आबादी एक करोड़ छत्तीस लाख ग्यारह हजार थी। इसमें ८७,६०,००० चेकोस्लोवाक, ३१,२३,००० जर्मन (आस्ट्रियन), ७५,८०० पोल, ७,४७,००० हंगेरियन और ४,६१,००० रुथेनियन लोग थे। चेकोस्लोवाकिया की यह बहुत बड़ी कमजोरी थी, कि उसमें अन्य जातियों के लोग भी बड़ी संख्या में बसते थे। विशेषतया, जर्मन लोगों का ३१ लाख से भी अधिक संख्या

में रहना चेकोस्लोवाकिया के लिये बहुत भय की बात थी। राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर जिस नये राज्य का चेक लोगों ने निर्माण किया, उसमें इतनी अधिक संख्या में उग्र जर्मन जाति के लोगों को शामिल करके उन्होंने भारी गलती की। राष्ट्रीय उत्साह में वे यह बात भूल गये, कि अपने देश की सीमाओं को आगे बढ़ाने के लिये जिन प्रदेशों को वे शामिल करते जा रहे हैं, उनमें विजातीय लोग बड़ी संख्या में बसते हैं, और वे लोग कभी भी उनके राज्य के लिये खतरे का कारण हो सकते हैं। हिटलर ने इन्हीं जर्मन निवासियों का सहारा लेकर केवल बीस साल बाद इस नये राज्य को दबोच कर अपने पैरों के नीचे कुचल दिया। बीस साल की स्वतन्त्र सत्ता के काल में भी चेकोस्लोवाकिया की सरकार को इन विविध अल्पसंख्यक जातियों की अनेकविध समस्याओं का मुकाबला करना पड़ा।

पुराने आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य में जो लोहे और कोयले की खानें थीं, उनका आधे से भी अधिक भाग चेकोस्लोवाकिया के राज्य में आया था। इस कारण इस नये राज्य की खूब व्यावसायिक उन्नति हुई। जिस समय जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी आदि विविध राज्य आर्थिक संकट के शिकार होकर दुर्दशा को प्राप्त थे, चेकोस्लोवाकिया निरन्तर व्यावसायिक उन्नति में लगा था। उसका माल संसार के बाजारों में खूब अच्छी कीमतों पर बिकता था। केवल व्यावसायिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु कृषि में भी इस नये राज्य ने खूब उन्नति की। महायुद्ध से पूर्व इस देश में जमीनों पर बड़े-बड़े जमींदारों का अधिकार था, जो किसानों को चूस कर स्वयं भोग-विलास में मस्त रहते थे। अब इन बड़ी जमींदारियों को छोटे टुकड़ों में विभक्त कर किसानों को बेच दिया गया। परिणाम यह हुआ, कि मध्य श्रेणी के किसान निरन्तर समृद्ध और सुखी होते गये।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति—यूरोप की राजनीति में भी चेकोस्लोवाकिया का महत्त्व बढ़ने लगा। जर्मनी की पराजय से फ्रांस यूरोप के राज्यों में सबसे शक्तिशाली हो गया था। अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये उसने चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया का एक त्रिगुट संगठित किया। इतिहास में यह 'छोटा त्रिगुट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका उद्देश्य यह था, कि जर्मनी फिर सिर न उठा सके, और न ही हाप्सबुर्ग राजवंश के सम्राट् फिर से अपने साम्राज्य का पुनरुद्धार कर सकें। फ्रांस इस त्रिगुट का संरक्षक था। इसकी सेनाओं का शिक्षण फ्रेंच आफिसर करते थे, और इसकी सरकारें पूरी तरह फ्रेंच प्रभाव में थीं। फ्रांस जर्मनी के खिलाफ आत्मरक्षा के जो साधन जुटा रहा था,

उनमें इन तीन नये राज्यों को अपने साथ रखना भी एक महत्त्व की बात थी। इन राज्यों का हित इसी में था, कि जर्मनी, आस्ट्रिया और हंगरी फिर से अपनी शक्ति न बढ़ा सकें। इनकी सत्ता ही इस बात पर निर्भर थी। फ्रांस भी यही चाहता था, इसीलिये वह इन छोटे राज्यों के साथ बहुत घनिष्ठ सन्धि करने में समर्थ हुआ। चेकोस्लोवाकिया के साथ तो उसने इतनी अधिक मित्रता कर ली, कि यदि उनमें से किसी पर कोई अन्य राज्य आक्रमण करे, तो वे एक दूसरे की पूरी सहायता करेंगे, और विदेशी राजनीति सम्बन्धी सब मामलों में एक दूसरे के परामर्श तथा सहयोग से काम करेंगे। यह सन्धि २५ जनवरी, १९२४ को की गई थी। इसके बाद चेकोस्लोवाकिया की स्थिति यूरोप की राजनीति में बहुत सुरक्षित तथा महत्त्वपूर्ण हो गई थी, क्योंकि फ्रांस उसकी पीठ पर था।

४. युगोस्लाविया

पुराने सर्बिया का विस्तार कर युगोस्लाविया का निर्माण किया गया था। इस नये राज्य में निम्नलिखित प्रदेश सम्मिलित किये गये थे—सर्बिया, क्रोटिया, मान्टिनिग्रो, स्लोवेनिया, डाल्मेटिया, बोस्निया और हरजोगोविना। महायुद्ध से पहले इनमें से सर्बिया और मान्टिनिग्रो पृथक् राज्य थे, यद्यपि मान्टिनिग्रो आंशिक रूप से हाप्सबुर्ग राजवंश की अधीनता को स्वीकार करता था। शेष सब प्रदेश आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। नये स्थापित युगोस्लाव राज्य में तीन जातियों का निवास था, सर्ब, क्रोट और स्लोवन। ये तीनों विशाल स्लाव जाति की भिन्न-भिन्न शाखायें थीं, और नसल, भाषा तथा संस्कृति की दृष्टि से एक दूसरे के समीप थीं। सर्बिया के राजा को ही सारे युगोस्लाविया का राजा बनाया गया था। युगोस्लाव का अभिप्राय है, दक्षिणी स्लाव। दक्षिणी स्लाव जातियों के इस राज्य की स्थापना से स्लाव जाति की राष्ट्रीय भावना और महत्त्वाकांक्षा बहुत कुछ पूरी हो गई थी। इस नये राज्य की कुल आबादी एक करोड़ पैंतीस लाख थी। यूरोप के नये राज्यों में यह काफी बड़ा और शक्तिशाली था। नये राज्य का शासन-विधान क्या हो, इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद थे। रिपब्लिक का सवाल युगोस्लाविया में उत्पन्न नहीं हुआ। सर्बिया से ही महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ था, आस्ट्रिया-हंगरी की सेनायें शीघ्र ही उसे जीत लेने में समर्थ हुई थीं। मित्रराष्ट्रों की विजय के बाद सर्बिया के राजवंश ने एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था, और उसे पदच्युत कर देने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। पर शासन-विधान के विषय में मुख्य मतभेद इस बात पर था,

कि नये राज्य में सब राजशक्ति केन्द्रीय सरकार में केन्द्रित की जाय, या विविध प्रदेशों का स्वतन्त्र शासन कायम रखते हुए एक फिडरेशन (संघ) का निर्माण किया जाय। एक दल के नेता श्री पासिप थे। उनकी राय यह थी, कि युगोस्लाविया की केन्द्रीय सरकार फ्रांस के समान मजबूत होनी चाहिये। दूसरा दल चाहता था, कि उनके देश में स्विट्जरलैण्ड के जैसा शासन कायम किया जाय, जिसमें सर्व, क्रोट और स्लोवन जातियों की पृथक् सत्ता और पृथक् राज्य कायम रहें। इस दल के प्रधान नेता श्री रेडिप थे। क्रोट लोगों में कुछ ऐसे भी थे, जो रिपब्लिक चाहते थे, पर अभी उनकी संख्या अगण्य थी।

नया संविधान—नवम्बर, १९२० में नया शासन-विधान तैयार करने के लिये विधान-परिषद की रचना की गई। १९२१ में इस परिषद ने युगोस्लाविया का नया संविधान तैयार कर लिया। इसके अनुसार सर्व राजवंश की सत्ता कायम रखी गई, और पार्लियामेंट में केवल एक सभा बनाई गई। इसके लिये वोट का अधिकार बालिग उमर के सब स्त्री-पुरुषों को दिया गया। मन्त्रि-मण्डल को पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी रखा गया, और यह प्रयत्न किया गया, कि युगोस्लाविया में एक मजबूत केन्द्रीय सरकार स्थापित की जावे।

नये संविधान से असंतोष—पर नये शासन-विधान से क्रोट और स्लोवन लोग प्रसन्न नहीं हुए। विशेषतया, क्रोट लोग इससे बहुत असन्तुष्ट थे। उनमें राष्ट्रीय भावना बहुत प्रबल थी। वे समझते थे, कि नये विधान द्वारा वे सर्व लोगों के बिल्कुल वशवर्ती और अधीन हो गये हैं। साथ ही, अन्य भी अनेक कारण थे, जो युगोस्लाविया में एकता व एक राष्ट्रीय भावना के विकास में बाधक थे। क्रोट और स्लोवन लोग रोमन कैथोलिक धर्म के अनुयायी हैं, बहुत समय तक आस्ट्रिया के साम्राज्य के अन्तर्गत रहने से उन पर जर्मन भाषा, सभ्यता और संस्कृति का बहुत असर था। वे शिक्षा की दृष्टि से पर्याप्त उन्नत थे। इसके विपरीत, सर्व लोग ग्रीक और कैथोलिक चर्च के अनुयायी हैं। वे जर्मन प्रभाव में कभी नहीं रहे थे। शिक्षा की दृष्टि से वे बहुत पिछड़े हुए थे। क्रोट और स्लोवन लोग अनुभव करते थे, कि सर्व लोगों में और उनमें भारी भेद है। अतः शासन का स्वरूप ऐसा अवश्य होना चाहिये, जिसमें उन्हें अपना पृथक् रूप से विकास करने का अवसर मिलता रहे। साथ ही, कम्युनिज्म की लहर का असर युगोस्लाविया पर भी पड़ रहा था। वहां भी अनेक ऐसे दल संगठित होने लगे थे, जो समाज के आर्थिक संगठन में आमूल चूल परिवर्तन करके एक नई व्यवस्था की स्थापना के लिये उत्सुक थे। इसके साथ ही, रिपब्लिकन विचारधारा भी निरन्तर

जोर पकड़ रही थी। इस दशा में, दिसम्बर १९२४ में प्रधान मन्त्री पेशिच ने यह आज्ञा जारी की, कि क्रोट किसान दल को भंग कर दिया जाय और इसके नेता श्री रैडिच को गिरफ्तार कर लिया जाय। पर इन दमनकारी उपायों से सरकार का विरोध घटा नहीं। आखिरकार, विवश होकर छः महीने बाद न केवल श्री रैडिच को जेल से मुक्त कर दिया गया, पर साथ ही उन्हें भी निमन्त्रण दिया गया, कि वे अपने अनुयायियों के साथ मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित हों, और युगोस्लाविया में एक मिली जुली सरकार कायम की जाय। श्री रैडिच ने इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया, और वे शिक्षा-मन्त्री के पद पर अधिष्ठित हुए। पर इस मिली-जुली सरकार ने भी युगोस्लाविया में राष्ट्रीय भावनाओं के आपस के विरोध की समस्याओं को हल नहीं किया। क्रोट लोग अब भी यह कहते थे, कि हमारा उद्देश्य अपने प्रदेशों में एक पृथक् राज्य को स्थापित करना है। हम अपने कानून स्वयं बनाना चाहते हैं, और अपनी अलग सरकार चाहते हैं। हम सर्ब लोगों के साथ केवल इतना सम्बन्ध रखना चाहते हैं, कि विदेशी मामले और सन्धि-विग्रह के विषय एक संघ-सरकार के हाथ में रहें।

उग्र क्रोट-आन्दोलन—क्रोट लोगों के इस आन्दोलन ने बहुत विकट रूप धारण किया। १९२८ में उनके कुछ नेताओं की पार्लियामेंट के अधिवेशन के बीच में हत्या कर दी गई। इससे मामला और भी बिगड़ गया। क्रोट लोगों ने न केवल पार्लियामेंट का बहिष्कार किया, अपितु स्वयं भी हिंसा के उपायों का अवलम्बन शुरू किया। इस स्थिति में युगोस्लाविया के राजा अलेक्जण्डर ने सारा शासन-सूत्र अपने हाथों में ले लिया, और शासन-विधान को स्थगित कर दमन-नीति का अनुसरण किया। पर इससे भी समस्या हल नहीं हुई। १९३४ में जब राजा अलेक्जण्डर पेरिस में यात्रा के लिये गया हुआ था, उसे कुछ क्रोट क्रान्तिकारियों ने कतल कर दिया। अन्त में क्रोट लोगों की मांग स्वीकार की गई, पर यह बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य उस समय (१९३९ में) किया गया, जब यूरोप के क्षितिज पर नये महायुद्ध के बादल मंडराने लगे थे। १९१९ से १९३९ तक पूरे बीस साल युगोस्लाविया में तीन स्लाव जातियों के आन्तरिक आपसी झगड़े भयंकर रूप से चलते रहे, और वहां के राजनीतिज्ञ इन्हें नहीं निबटा सके। मनुष्य जाति का स्वभाव ही यह है, कि वह दूर दृष्टि से किसी समस्या को निबटाने की बजाय क्षणिक विचारों को अधिक महत्त्व देती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति—अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में युगोस्लाविया यूरोप के छोटे त्रिगुट में सम्मिलित था। फ्रांस उसकी सैन्यनीति व विदेशी राजनीति का वैसे ही संचालन करता था, जैसे कि चेकोस्लोवाकिया का। युगोस्लाविया का इटली के साथ १९१९ से १९२४ तक पांच साल इस प्रश्न पर झगड़ा रहा, कि फियूम का महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह किसके अधीन रहे। इन पांच सालों में कई बार ऐसा प्रतीत होता था, कि फियूम के प्रश्न को लेकर दोनों राज्यों में युद्ध शुरू हो जायगा। अन्त में, २७ जनवरी, १९२४ को युगोस्लाविया और इटली में यह समझौता हुआ, कि फियूम पर इटली का कब्जा रहे, पर युगोस्लाविया को यह अधिकार रहे, कि व्यापार के लिये उसके नागरिक फियूम के बन्दरगाह का स्वतन्त्रता के साथ उपयोग कर सकें।

५. रूमानिया

महायुद्ध में रूमानिया ने मित्रराज्यों का साथ दिया था। इसका उसे बहुत इनाम मिला। शान्ति-परिषद् के बाद यूरोप का जिस प्रकार पुनःनिर्माण किया गया, उससे रूमानिया का क्षेत्रफल पहले की अपेक्षा दुगने से भी अधिक हो गया। उसे निम्नलिखित नये प्रदेश प्राप्त हुए—ट्रांसिलवेनिया, बुकोविना और बेस्सेरेबिया। इनके अतिरिक्त, टेमेस्वार का भी बहुत सा हिस्सा उसे प्राप्त हुआ। इनमें से बेस्सेरेबिया का प्रदेश उसे रूस से मिला था, शेष सब पुराने आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य से। नये विशाल रूमानिया की आबादी एक करोड़ सत्तर लाख थी, और इसमें सन्देह नहीं, कि अब उसकी गिनती यूरोप के शक्तिशाली राज्यों में होने लगी थी। महायुद्ध से पहले रूमानिया के उग्र राष्ट्रवादी भी यह कल्पना नहीं करते थे, कि उसका इतना अधिक उत्कर्ष इतने थोड़े से समय में हो जायगा।

रूमानिया में रिपब्लिक स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। वहां पुराना राजवंश राज्य करता रहा। राजा फर्डिनण्ड (सन् १९२७ तक) के शासन-काल में नाम को पार्लियामेंट विद्यमान थी, पर वास्तविक शासन-शक्ति श्री जान ब्राटियानो के हाथ में थी। वह रूमानिया का प्रधान मन्त्री था, और लिबरल दल का नेता था। कहने को तो उसकी पार्टी का नाम लिबरल था, पर वस्तुतः उसमें धनी पूंजीपतियों का जोर था। वे अपने रुपये के जोर पर मनमानी करते थे, और पार्लियामेन्ट का निर्वाचन आजादी के साथ नहीं होने देते थे। सारी राजशक्ति इस दल के कुछ नेताओं के हाथ में थी, जो अपनी इच्छानुसार

उम्मीदवारों को नामजद करते थे, और धन की ताकत से उन्हें पार्लियामेन्ट में चुनवा देते थे। सन् १९२७ में जान ब्राटियानो की मृत्यु हो गई। उसके बाद लिबरल दल में कोई ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति नहीं रहा, जो सारे राजनीतिक जीवन को अपने हाथ में रख सके। १९२८ में जब नये निर्वाचन हुए, तो लिबरल दल की पराजय हुई, और पार्लियामेन्ट में राष्ट्रीय किसान दल का बहुमत हो गया। इस दल की नीति यह थी, कि रूमानिया में सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जाय, चुनाव स्वतन्त्र रूप से हों, प्रेस पर सेंसर न रहे, अल्प-संख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा की जाय और देश की आर्थिक उन्नति के लिये विदेशी पूंजी का स्वागत किया जाय। पर राष्ट्रीय किसान दल अपने आदर्शों के अनुसार शासन में विशेष परिवर्तन नहीं ला सका। १९३० में शासन-सूत्र को वहां के राजा करोल ने अपने हाथों में ले लिया, और फैसिस्ट आदर्शों के अनुसार राज्यकार्य प्रारम्भ किया। इस समय यूरोप में फैसिज्म जोर पकड़ने लगा था। लोकतन्त्रवाद का स्थान एकाधिकारी नेताओं या राजाओं के एकतन्त्र शासन लेने लगे थे। रूमानिया में करोल ने इसी प्रणाली का अनुसरण किया।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में रूमानिया यूरोप के छोटे त्रिगुट में शामिल था, और फ्रांस के कहने के अनुसार चलता था। हाप्सबुर्ग वंश के राजा अपनी शक्ति का पुनरुत्थान करके कहीं फिर आस्ट्रिया-हंगरी की शक्ति का विकास न कर लें, इसका भय रूमानिया को सदा बना रहता था। यही कारण है, कि वह विदेशी राजनीति में सदा फ्रांस का साथ देता था। इस समय फ्रांस यूरोप में उन सब देशों का नेता था, जो वर्साय की सन्धि और पेरिस की शान्ति-परिषद् के निर्णयों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते थे।

रूमानिया के सम्मुख अल्पसंख्यक जातियों के प्रश्न अधिक जटिल नहीं थे। उसमें अन्य जातियों के लोग बसते जरूर थे, पर उनकी संख्या इतनी अधिक नहीं थी, कि वे रूमानिया के खिलाफ सिर उठा सकें। पर रूमानिया की आन्तरिक राजनीति में सबसे बड़ी समस्या तेल के उन कूपों की थी, जिनका संचालन प्रधानतया विदेशी कम्पनियां करती थीं। रूमानिया में मट्टीका तेल बहुत बड़ी मात्रा में होता है। इस दृष्टि से उसका स्थान यूरोप में दूसरा है। यूरोप में रूस के बाद तेल के सबसे ज्यादा कूप रूमानिया में ही हैं। इनका संचालन मुख्यतया अमेरिकन, ब्रिटिश व अन्य विदेशी कम्पनियों के हाथ में था। रूमानियन लोग यह पसन्द नहीं करते थे। इसी कारण उनके विदेशियों के साथ अनेक संघर्ष हुए। बेस्सेरेबिया के प्रश्न को लेकर रूस के साथ भी उसके अनेक झगड़े हुए। कम्युनिज्म

की लहर वैसे तो सारे ही रूमानिया पर असर डाल रही थी, पर बेस्सेरेबिया में उसका जोर बहुत ज्यादा था। यही कारण है, कि युद्ध के बाद रूमानिया में कई बार विद्रोह हुए। पर वहां की सरकार इन सबको दबाने में सफल रही, और वहां क्रान्ति की चिनगारियां प्रगट नहीं हो पाईं।

६. पोलैण्ड

पुरातन इतिवृत्त--महायुद्ध के बाद यूरोप में जो नये राज्य कायम हुए, उनमें सबसे बड़ा, सबसे शक्तिशाली और सबसे महत्त्वपूर्ण पोलैण्ड था। इसकी आबादी तीन करोड़ से भी अधिक थी। वह यूरोप के सबसे बड़े सात राज्यों में एक था, और निःसन्देह यूरोप की प्रधान राजनीतिक शक्तियों में उसकी गिनती की जा सकती थी। पोलैण्ड कोई नया राज्य नहीं था। दसवीं से अठारहवीं सदी तक, लगभग आठ सौ साल तक पोलैण्ड यूरोप का एक शक्तिशाली और स्वतन्त्र राज्य रहा था। अठारहीं सदी के उत्तरार्ध में रूस, प्रशिया और आस्ट्रिया ने अपनी क्रूर दृष्टि उस पर डाली, और उसका पतन शुरू हुआ। १७९५ तक वह पूर्णतया इन तीन पड़ोसी राज्यों में बंट गया था। उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो गई थी और उसके विविध प्रदेश रूस, प्रशिया और आस्ट्रिया की अधीनता में चले गये थे। नैपोलियन ने जब रूस पर आक्रमण किया, तो कुछ समय के लिये पोलैण्ड रूस की अधीनता से मुक्त हो गया। वारसा के राज्य की पृथक् रूप से स्थापना हुई, और पोल लोग फिर से अपने राष्ट्रीय गौरव का स्वप्न देखने लगे। नैपोलियन के पतन के बाद वीएना की कांग्रेस के समय, १८१५ में, रूस के सम्राट् अलेक्जेण्डर प्रथम ने पोलैण्ड की आन्तरिक स्वतन्त्रता को स्वीकार किया। उसकी योजना यह थी, कि पोलैण्ड रूस के साम्राज्य के अन्तर्गत अपनी पृथक् सत्ता कायम रखे। पर पोल देशभक्त इससे सन्तुष्ट नहीं थे, वे पूर्ण स्वाधीनता चाहते थे। यही कारण है, कि जब सन् १८३० में क्रान्ति की दूसरी लहर ने यूरोप को व्याप्त किया, तो पोल लोग भी उसके असर में आ गये। उन्होंने रूस के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। पर अपने प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं हुई। रूस के सम्राट् ने उन्हें बुरी तरह कुचल दिया, और पोलैण्ड को जो थोड़ी बहुत आन्तरिक स्वतन्त्रता १८१५ में दी गई थी, वह उससे छीन ली गई। १८६३ में पोल देशभक्तों ने फिर एक बार विद्रोह किया, पर इस बार उनका और भी बुरी तरह दमन किया गया। अब रूसी राजनीतिज्ञों ने यह तय किया, कि पोल लोगों की राष्ट्रीय भावना का पूर्णरूप से अन्त कर देने के लिये यह आवश्यक है,

कि उनमें रूसी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया जाय और उन्हें पूरी तरह रूसी बना लिया जाय।

१८६३ के बाद पोल देशभक्तों को यह आशा नहीं रही थी, कि वे सुगमता से रूसी पंजे से छुटकारा पा सकेंगे। पर रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत रहने से आर्थिक दृष्टि से उन्हें एक लाभ भी हुआ। रूस में इस समय व्यावसायिक क्रान्ति हो रही थी, नये-नये कारखाने कायम किये जा रहे थे। पोलैण्ड में लोहे और कोयले की अनेक खानें थीं। रूसी पूंजी द्वारा इन खानों का उपयोग किया गया, और कुछ ही समय में पोलैण्ड रूसी साम्राज्य का व्यावसायिक केन्द्र बन गया। पोलैण्ड के जो प्रदेश प्रशिया और आस्ट्रिया के अन्तर्गत थे, उनमें भी राष्ट्रीय भावना जागृत थी। वहां के पोल देशभक्त भी अपने पुराने राष्ट्रीय गौरव को पुनः स्थापित करने और पोलैण्ड का एक शक्तिशाली राज्य कायम करने के लिये वैसे ही इच्छुक थे, जैसे कि रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत पोल लोग।

महायुद्ध और पोलैण्ड——१९१४ में जब महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो रूस और जर्मनी की लड़ाई प्रधानतया पोलैण्ड के प्रदेशों में ही हुई। इससे पोल लोगों को बहुत नुकसान पहुंचा। पर युद्ध के समय रूस और जर्मनी——दोनों ही इस बात के लिये उत्सुक थे, कि पोल लोगों की सहानुभूति और सहयोग को प्राप्त करें। १९१४ में रूस की सरकार ने उद्घोषित किया, कि लड़ाई में शामिल होने का उसका एक उद्देश्य यह भी है, कि सारे पोल प्रदेशों को एक साथ मिलाकर पोलैण्ड के स्वतन्त्र राज्य की पुनः स्थापना की जाय। १९१६ में जर्मनी और आस्ट्रिया ने भी यह घोषणा की, कि वे भी सब पोल प्रदेशों को (जिनमें रूस के अन्तर्गत पोल प्रदेश भी शामिल हैं) मिलाकर एक पृथक् पोलैण्ड की स्थापना करना चाहते हैं। १९१७ में रूस में राज्यक्रान्ति हो गई। विशाल रूसी साम्राज्य विवश होकर युद्ध से अलग हो गया। इस अवसर से लाभ उठाकर पोल देशभक्तों ने अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को पूर्ण किया, और एक सामयिक पोल सरकार की स्थापना कर डाली। शीघ्र ही एक विधान-परिषद् का भी आयोजन किया गया। पर युद्ध की स्थिति अभी बहुत अनिश्चित थी। यह विधान-परिषद् अपना काम तभी कर सकी, जब महायुद्ध का अन्त होकर शान्ति की स्थापना हो गई। १७ मार्च, १९२१ को पोलैण्ड का नया शासन-विधान बनकर तैयार हो गया।

स्वतन्त्र पोलैण्ड——वर्साय की सन्धि में पोलैण्ड के पृथक् स्वतन्त्र राज्य की

सत्ता को स्वीकार किया गया। पोल देशभक्तों की आकांक्षा पूर्ण हुई, और एक बार फिर स्वतन्त्र पोलैण्ड की स्थापना हुई। पर इस नये राज्य के सम्मुख समस्यायें कम नहीं थीं। एक सदी से अधिक समय तक पोल लोग तीन भिन्न-भिन्न साम्राज्यों के अन्तर्गत रहे थे। इस कारण पोलैण्ड के इन तीनों प्रदेशों की सभ्यता, संस्कृति और कानून में भेद विकसित हो गया था। इस भेद का प्रभाव पोल लोगों पर भी पड़ा था। एक जाति के होते हुए भी अब पोल लोग एक दूसरे से बहुत कुछ भिन्न हो गये थे। महायुद्ध में वे भिन्न पक्षों की सेनाओं में शामिल होकर एक दूसरे के साथ लड़े भी थे। इस दशा में पोलैण्ड के सब लोगों में एकता की भावना, देशप्रेम की वृत्ति और भ्रातृभाव उत्पन्न करना सहज बात नहीं थी। पोल लोगों की इस आन्तरिक भिन्नता ने अनेक समस्याओं को उत्पन्न किया, और इसी कारण उनके देश में लोकतन्त्र शासन बहुत सफल नहीं हुआ। शीघ्र ही वहां एकाधिकारी शासन का विकास हो गया, और सरकार के हाथ में जो अपार शक्ति थी, इसी के कारण पोलैण्ड की एकता कायम रह सकी।

सीमा सम्बन्धी विवाद---वर्साय की सन्धि द्वारा पोलैण्ड की जो सीमायें निश्चित की गई थीं, उनसे भी अनेक जटिल समस्यायें उत्पन्न हुई। केवल दक्षिण दिशा में पोलैण्ड की सीमा स्वाभाविक थी। कार्पेथियन पर्वतमाला उसे स्लोवाकिया से अलग करती थी। अन्य सब ओर उसकी सीमायें ऐसी थीं, जिनके बारे में उसके पड़ोसी राज्यों से झगड़े उत्पन्न हुए। दक्षिण-पूर्व में आस्ट्रियन साइलीसिया का प्रदेश ऐसा था, जिसमें चेक और पोल---दोनों जातियों के लोग बसते थे। इस प्रदेश में कोयले की बहुत सी खानें थीं। पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया दोनों ही इसे अपने अपने राज्य के अन्तर्गत करना चाहते थे। साइलीसिया के सवाल को लेकर झगड़ा इतना बढ़ा, कि १९१९ के शुरू में पोल और चेक सेनायें लड़ने के लिये मैदान में उतर आईं। उनकी लड़ाई बहुत भयंकर रूप धारण कर लेती, यदि फ्रांस और ब्रिटेन बीच-बचाव करने के लिये आगे न आ जाते। आखिर, यह फैसला हुआ, कि साइलीसिया में लोकमत लिया जाय, और बहुमत जिस ओर हो, उसे दोनों पक्ष स्वीकार करें। पर ज्यों-ज्यों लोकमत लेने का समय नजदीक आता गया, साइलीसिया के चेक और पोल लोगों के सम्बन्ध अधिक-अधिक कटु होते गये। ऐसा प्रतीत होने लगा, कि लोकमत लेने के समय भयंकर दंगे होंगे, और शान्तिपूर्वक कोई निर्णय नहीं हो सकेगा। इस दशा में फ्रांस ने बीच में पड़कर लोकमत लिये बिना ही दोनों राज्यों में फैसला करा दिया। इस फैसले के अनुसार यह निश्चय हुआ, कि कोयले की खानों के क्षेत्र चेकोस्लोवा-

किया को मिलें, और आस्ट्रियन साइलीसिया की प्रधान नगरी टेपन पोलैण्ड को प्राप्त हो। इस फैसले के पीछे कोई युक्ति नहीं थी। यह केवल एक समझौता था, जिससे पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया दोनों ही असन्तुष्ट थे। पर इस समय उनके सम्मुख इस समझौते को स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था।

पोलैण्ड के जो प्रदेश पहले आस्ट्रियन साम्राज्य के अन्तर्गत थे, उनके नाम थे—पूर्वी गैलीसिया और पश्चिमी गैलीसिया। इनमें से पश्चिमी गैलीसिया की आबादी विशुद्ध रूप से पोल थी। परन्तु पूर्वी गैलीसिया में बड़े-बड़े जमींदार और शिक्षित श्रेणियों के लोग तो पोल थे, पर सर्वसाधारण जनता और किसान लोग युक्रेनियन जाति के थे। युक्रेनियन किसान पोल जमींदारों से बहुत घृणा करते थे। अब पोलैण्ड के नये राज्य में पूर्वी गैलीसिया भी शामिल किया गया। इस पर युक्रेनियन लोगों ने विद्रोह कर दिया। उनका दमन करने के लिये पोल सेनाओं ने बड़े सख्त उपायों का प्रयोग किया। फ्रांस और ब्रिटेन ने इस मामले में भी हस्तक्षेप किया, और अन्त में यह फैसला हुआ, कि पच्चीस साल तक पूर्वी गैलीसिया पर पोलैण्ड का शासन रहे। बाद में राष्ट्रसंघ यह निर्णय करे, कि इस प्रदेश पर किसका शासन रहना है। इस फैसले का अभिप्राय यही था, कि पूर्वी गैलीसिया पर पोलैण्ड का अधिकार मान लिया गया था। पर उग्र पोल लोगों ने इस फैसले को मानने से भी इनकार कर दिया। उनका कहना था, कि सम्पूर्ण साइलीसिया पोलैण्ड का एक प्रदेश है, और उसके बारे में वे किसी बाहरी राज्य का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकते। आखिरकार १९२३ में मित्रराष्ट्रों ने पूर्वी साइलीसिया पर पोलैण्ड के अधिकार को पूरी तरह से स्वीकार कर लिया।

किसी समय, जब पोलैण्ड एक स्वतन्त्र और शक्तिशाली राज्य था, उसका शासन लिथुएनिया और युक्रेनिया पर भी था। उस समय काला सागर तक पोलैण्ड का साम्राज्य विस्तृत था। इन प्रदेशों की जमीनें पोल जमींदारों की सम्पत्ति थीं। अठारहवीं सदी के अन्त में पोलैण्ड की राजनीतिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गई और उसके प्रदेश रूस, प्रशिया और आस्ट्रिया ने आपस में बांट लिये। पर लिथुएनिया और युक्रेनिया में पोल जमींदारों की जमींदारियां कायम रहीं। राजनीतिक स्वतन्त्रता नष्ट हो जाने के बाद भी इन पोल जमींदारों का प्रभाव और शक्ति जारी रही। पर जब १९१७ में रूस में राज्यक्रान्ति हुई, कम्युनिस्ट लोगों ने एक नई आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया, तो ये पोल जमींदार भागकर पोलैण्ड में चले आये। अब जब कि पोलैण्ड एक

पृथक् व शक्तिशाली राज्य बन गया, तो इन पोल जमींदारों ने अपनी सरकार पर यह जोर देना शुरू किया, कि युक्रेनिया और लिथुएनिया पर हमला करके उन देशों को अपने अधीन किया जाय, ताकि वे अपनी खोई हुई जमींदारियों को फिर से प्राप्त कर सकें। पोलैण्ड के उग्र राष्ट्रीय नेताओं ने उनका साथ दिया। उनका खयाल था, कि इन आक्रमणों से पोलैण्ड के विलुप्त गौरव का पुनरुद्धार किया जा सकता है, और एक बार फिर पोल-साम्राज्य को बाल्टिक सागर से काला सागर तक विस्तृत किया जा सकता है। जब पोल देशभक्तों की यह मनोवृत्ति थी, तो उनके लिये इस बात को समझ सकना बिल्कुल असम्भव था, कि उनके राज्य में केवल वे ही प्रदेश शामिल होने चाहियें, जहां के निवासियों की बहुसंख्या पोल जाति की है। इस समय पोल-सरकार का अधिपति मार्शल पिल्सुद्स्की था। १९२० के शुरू में उसने युक्रेनिया पर आक्रमण कर दिया। रूस की कम्युनिस्ट सरकार अभी पूरी तरह व्यवस्थित नहीं हुई थी। वह पोल-सेनाओं के सामने नहीं टिक सकी। शीघ्र ही कीव (युक्रेनिया का मुख्य नगर) पर पोलैण्ड का कब्जा हो गया। पर रूस की कम्युनिस्ट सेनायें इस बीच में संगठित हो गई थीं। जून में उन्होंने हमला शुरू किया। वे न केवल पोल सेनाओं को युक्रेनिया से बाहर खदेड़ने में समर्थ हुईं, अपितु पोलैण्ड में प्रवेश करके वारसा (पोलैण्ड की राजधानी) तक पहुंच गईं। पर यहां पोल सेनाओं ने रूस का कड़ा मुकाबला किया। रशियन सेनाओं को पीछे हटना पड़ा। अभी रशियन सरकार युद्ध से बची रहना चाहती थी। उसके सम्मुख अपने देश को संभालने का ही बहुत बड़ा सवाल विद्यमान था। उसने यही उचित समझा, कि पोलैण्ड से सुलह कर ली जाय। १९२१ में रीगा की सन्धि द्वारा रूस और पोलैण्ड के बीच की सीमा का निर्णय कर लिया गया। इस सन्धि से पोल देशभक्तों की यह इच्छा तो पूर्ण नहीं हुई, कि काला सागर तक उनका साम्राज्य विस्तीर्ण हो जाय, पर रूस का काफी बड़ा प्रदेश उन्हें प्राप्त हो गया। निःसन्देह, इस समय पोलैण्ड एक शक्तिशाली राज्य बन गया था।

लिथुएनिया की राजधानी विलना थी। इस विलना की आबादी मिली-जुली थी। लिथुएनियन लोगों के अतिरिक्त वहां यहूदी और पोल लोग भी बड़ी संख्या में निवास करते थे। यद्यपि बहुसंख्या पोल लोगों की नहीं थी, पर विलना पोल-साहित्य, शिक्षा और संस्कृति का बड़ा केन्द्र था। वहां पोल लोगों का एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय भी था। इस कारण पोलैण्ड के राष्ट्रीय नेताओं की यह प्रबल आकांक्षा थी, कि विलना उनके राज्य में शामिल हो। यदि इसके लिये

लिथुएनिया से युद्ध भी करना पड़े, तो भी इसमें संकोच नहीं करना चाहिये। पोल सेनाओं ने युद्ध शुरू कर दिया, पर उन्हें अपने प्रयत्नों में विशेष सफलता नहीं हुई। पोलैण्ड की सरकार ने यही उचित समझा, कि लिथुएनिया के साथ सन्धि कर ली जाय, और विल्ना पर कब्जा करने के यत्न को छोड़ दिया जाय।

इधर तो पोल सरकार विल्ना के सम्बन्ध में सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर रही थी, और उधर वह गुप्त रूप से एक षड्यन्त्र तैयार कर रही थी, जिसके अनुसार केवल तीन दिन बाद एक पोल सेनापति ने कुछ सेना एकत्र कर अचानक विल्ना पर हमला कर दिया। लिथुएनियन लोग समझते थे, कि पोलैण्ड के साथ सुलह हो चुकी है। वे बेफिक्र थे, और युद्ध के लिये उन्होंने कोई भी तैयारी नहीं की हुई थी। जनरल जेलिगोव्स्की के नेतृत्व में पोल सेनाओं ने विल्ना पर कब्जा कर लिया। ऊपर से पोल सरकार ने घोषणा की, कि जनरल जेलिगोव्स्की के कार्य में उनका कोई भी हाथ नहीं है, वे उसके कार्य की निन्दा करते हैं, और इस प्रकार एक मित्रराज्य की राजधानी पर कब्जा कर लेना सर्वथा अनुचित है। पर अन्दर-अन्दर से पोल सरकार इससे बहुत प्रसन्न थी, वस्तुतः उसी की प्रेरणा और साजिश से यह हमला किया गया था। राष्ट्रसंघ ने बहुत कोशिश की, कि पोल सेना विल्ना को छोड़कर वापस चली आय। पर उसकी एक न चली। आखिर, विवश होकर राष्ट्रसंघ ने यह स्वीकार कर लिया, कि विल्ना पर पोल सेना का कब्जा न्यायसंगत है, और वह पोलैण्ड के अंतर्गत ही रहेगा।

पश्चिम की ओर पोलैण्ड की सीमा जर्मनी से छूती थी। डान्ट्सिग के बन्दरगाह को एक स्वतन्त्र नगरराज्य के रूप में इसीलिये परिवर्तित किया गया था, ताकि पोलैण्ड को सामुद्रिक व्यापार के लिये एक ऐसा बन्दरगाह मिल जाय, जहां से वह स्वतन्त्र रूप से व्यापार कर सके। डान्ट्सिग तक पहुंचने के लिये एक गलियारे (कारिडोर) की भी रचना की गई थी, जिसके कारण जर्मनी दो हिस्सों में विभक्त हो गया था, और पूर्वी पर्शिया शेष जर्मनी से अलग पड़ गया था। जर्मनी इससे बहुत असन्तुष्ट था, और पोलैण्ड से शत्रुता रखता था। जब जर्मनी ने पुनः शक्ति प्राप्त की, तो पोलैण्ड से इस अनर्थ का प्रतिशोध करने का उद्योग किया। पोलैण्ड स्वयं समझता था, कि जर्मनी से उसे कभी भी खतरा हो सकता है। इसी कारण उसका हित इस बात में था, कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में फ्रांस का अनुसरण करे। जिस प्रकार चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया विदेशी राजनीति में पूरी तरह फ्रांस का साथ देते थे, वैसे ही पोलैण्ड भी इस विषय में फ्रांस का अनुयायी था।

पोलैण्ड की विधान-परिषद ने देश के लिये जिस शासन-विधान को तैयार किया था, वह १९२१ में चालू हुआ। उसके अनुसार एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना की गई। पार्लियामेन्ट में दो सभायें रखी गई। (१) प्रतिनिधि-सभा—इसके सदस्यों का चुनाव पांच साल के लिये होता था, और वोट का अधिकार सब बालिग स्त्री-पुरुषों को दिया गया था। प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों को निश्चित वेतन दिया जाता था, ताकि वे अपना समय निश्चिन्त रूप से कानून बनाने और शासन पर नियन्त्रण रखने में लगा सकें। (२) सीनेट—इसका चुनाव भी जनता द्वारा किया जाता था, पर इसके निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण पृथक् रूप से किया गया था। प्रतिनिधि-सभा और सीनेट के सदस्य मिलकर राष्ट्रीय महासभा के रूप में एकत्र होते थे, और राष्ट्रपति का निर्वाचन करते थे। राष्ट्रपति का चुनाव सात सालों के लिये होता था। उसे शासन में बहुत अधिक अधिकार दिये गये थे। न्यायाधीशों की नियुक्ति भी उसी द्वारा की जाती थी।

९ दिसम्बर, १९२२ को राष्ट्रीय महासभा ने गेब्रियल नारुटोविच को पोलैण्ड का राष्ट्रपति निर्वाचित किया। पर कार्य सम्भालने के एक सप्ताह बाद ही उसकी हत्या हो गई। इससे सूचित होता है, कि पोलैण्ड में अनेक विकट आन्तरिक समस्यायें विद्यमान थीं, और विविध दल हत्या और हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करने में भी संकोच नहीं करते थे। इसमें सन्देह नहीं, कि विदेशी मामलों के समान ही पोलैण्ड के अन्दरूनी मामले भी बहुत पेचीदे थे। वहां सबसे बड़ी समस्या जमीन की मल्कियत और बन्दोबस्त की थी। पोलैण्ड के ८० फीसदी निवासी अपनी आजीविका के लिये कृषि पर निर्भर थे। आधी से अधिक जमीन ऐसी थी, जिसके मालिक अठारह हजार के लगभग बड़े-बड़े जमींदार थे। ये किसानों से मनमानी लगान वसूल करते थे, और इनके कारण खेती में पूरी तरह उन्नति नहीं होने पाती थी। पोल सरकार की ओर से जमींदारी प्रथा को नियन्त्रित करने के लिये अनेक कानून पेश किये गये, पर जमींदारों ने उनका घोर विरोध किया, और उन्हीं के कारण वे सुगमता से क्रिया में परिणत नहीं किये जा सके। आगे चलकर पोलैण्ड को अनेक ऐसे सख्त उपायों का अवलम्बन करना पड़ा, जिनसे विरोध को दबाकर कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार जारी किये जा सकने सम्भव हुए।

७. फिनलैण्ड

महायुद्ध के बाद बाल्टिक सागर के साथ-साथ चार नये राज्य कायम हुए थे, जिनके नाम हैं—फिनलैण्ड, एस्थोनिया, लैटविया और लिथुएनिया।

इन चारों राज्यों के प्रदेश पहले रशियन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। रूस के विशाल साम्राज्य से पृथक् करके ही इन नये राज्यों का निर्माण किया गया था।

रूस की अधीनता का काल—अठारहवीं सदी तक फिनलैण्ड स्वीडन का एक हिस्सा था। १८०९ में उस पर रूस ने अपना अधिकार कर लिया। पर रूस ने फिनलैण्ड की भाषा, संस्कृति व कानून आदि में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। विदेशी मामलों और सन्धि-विग्रह की बात को छोड़कर अन्य सब विषयों में फिनलैण्ड की पृथक् सत्ता और आन्तरिक स्वतन्त्रता भी स्वीकार की गई। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक रशियन सरकार की यह नीति कायम रही, और फिनलैण्ड के निवासी रशियन साम्राज्य के अधीन रहते हुए भी अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहे। पर सम्राट् निकोलस द्वितीय बड़ा महत्वाकांक्षी था। साथ ही, रूस में स्लाव राष्ट्रीय आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ रहा था। परिणाम यह हुआ, कि फिनलैण्ड में स्लाव संस्कृति और रशियन कानून जारी करने का प्रयत्न शुरू किया गया, और इस नीति का अवलम्बन किया गया, कि फिनलैण्ड को पूरी तरह रूस का ही एक अंग बना दिया जाय। इसी लिये उसकी आन्तरिक स्वतन्त्रता भी छीन ली गई। फिन लोगों ने विद्रोह किया, पर उसका बुरी तरह दमन किया गया। अनेक फिन-नेता विदेशों में जाकर आश्रय लेने को विवश हुए। १९०५ में रूस की जापान के साथ युद्ध में पराजय हुई। उसी साल रूस में क्रान्ति की लहर शुरू हुई, और अनेक नवीन शासन-सुधार किये गये। इसका असर फिनलैण्ड पर भी पड़ा, और एक बार फिर वहां प्रतिनिधि-सभा की स्थापना की गई। पर १९०८ में रशियन सरकार ने फिनलैण्ड पर फिर दबाव डालना शुरू किया। स्लाव राष्ट्रवादी नेताओं की आकांक्षा यह थी, कि फिनलैण्ड आदि सब बाल्टिक प्रदेश अपनी पृथक् सत्ता को खोकर पूरी तरह रशियन बन जावें। पर फिन लोग अपनी राष्ट्रीय सत्ता को इस प्रकार नष्ट नहीं होने देना चाहते थे। परिणाम यह हुआ, कि उन्होंने फिर विद्रोह किये। १९१४ में महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय रूस के खिलाफ फिन देशभक्तों के आन्दोलन जारी थे। युद्ध के दौरान में यह असम्भव था, कि रूस किसी भी विद्रोह व आन्दोलन को सह सके। फिन लोगों के साथ बहुत कड़ाई का बरताव किया गया। कई बार वहां फौजी कानून भी जारी किया गया। बहुत-से देशभक्त गिरफ्तार हुए। इस सबके बावजूद भी फिन लोगों ने स्वतन्त्रता के अपने प्रयत्नों को जारी रखा। १९१७ में रूस में जब राज्यक्रान्ति हुई और साम्राज्य का केन्द्रीय शासन अस्त-व्यस्त हो गया, तो फिन लोगों ने इस

अनुपम अवसर से लाभ उठाया । ६ दिसम्बर, १९१७ को उन्होंने फिनलैण्ड को एक स्वतन्त्र राज्य उद्घोषित कर दिया और उसके शासन के लिये एक सामयिक सरकार का संगठन कर लिया । रूस की क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट सरकार के सम्मुख अपनी आन्तरिक समस्यायें ही बहुत थीं । फिनलैण्ड के स्वातन्त्र्य को कुचलने के लिये न उनके पास समय था, न शक्ति । २७ दिसम्बर, १९१७ को रशियन सरकार ने फिनलैण्ड की स्वाधीनता और पृथक् सत्ता को स्वीकार कर लिया । १९१८ के शुरू में स्वीडन, फ्रांस और जर्मनी ने भी रूस का अनुसरण किया ।

स्वतन्त्र फिनलैण्ड की समस्यायें—पर स्वाधीनता की स्थापना के साथ फिनलैण्ड की समस्याओं का अन्त नहीं हो गया । रूस की बोल्शेविक विचारधारा का असर फिन लोगों पर भी पड़ा और अनेक फिन क्रान्तिकारियों ने सोचा, कि साम्यवादी शासन स्थापित करने का यह अच्छा अवसर है । १९१७ की क्रान्ति से पहले जो रशियन सेनायें फिनलैण्ड में विद्यमान थीं, उनमें से बहुत-सी अब तक रूस वापस नहीं गई थीं । ये रशियन सैनिक कम्युनिस्ट विचारों के थे । फिन कम्युनिस्टों ने सोचा, कि रशियन सैनिकों की मदद से फिनलैण्ड में भी कम्युनिस्ट प्रणाली के अनुसार क्रान्ति की जा सकती है । उन्होंने विद्रोह कर दिया । बाकायदा गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया, और दक्षिणी फिनलैण्ड पर कम्युनिस्टों का कब्जा हो गया । कम्युनिस्टों के साथ उत्तरी फिनलैण्ड की जो सेनायें लड़ रही थीं, उनका प्रधान सेनापति जनरल मैनरहाइम था । यह पुरानी रशियन सेना का एक निपुण सेनापति था । उत्तरी फिनलैण्ड के लोग पूरी तरह उसकी सहायता कर रहे थे । पर विदेशी सहायता के बिना यह सम्भव नहीं प्रतीत होता था, कि कम्युनिस्ट लोगों का दमन किया जा सकेगा । फिन सरकार ने पहले स्वीडन की सहायता मांगी । पर वह किसी तरह भी फिनलैण्ड के इस आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप करने के लिये तैयार नहीं हुआ । जर्मनी ने खुशी के साथ जनरल मैनरहाइम की मदद करना स्वीकार कर लिया । जनरल रूडिगर के नेतृत्व में एक जर्मन सेना फिर कम्युनिस्टों का दमन करने के लिये भेजी गई । फिन और जर्मन सेनाओं के सम्मिलित प्रयत्न से एप्रिल, १९१८ में कम्युनिस्ट सेनाओं का पराजय किया गया और गृह-कलह का अन्त हुआ । महायुद्ध में जब जर्मनी परास्त हो गया, और सन्धि की स्थापना हो गई, तब ये जर्मन सेनायें दिसम्बर, १९१८ में फिनलैण्ड से वापस लौटीं ।

नया शासन-विधान—फिनलैण्ड में नये शासन-विधान का प्रारम्भ जुलाई,

१९१९ में हुआ। इसके अनुसार पार्लियामेंट में केवल एक सभा रखी गई, जिसका चुनाव तीन साल के लिये होता था। वोट का अधिकार सब बालिग स्त्री-पुरुषों को दिया गया। राष्ट्रपति का निर्वाचन छः साल के लिये होना था। प्रतिनिधि सभा जो फैसला करे, उसे वीटो करने का अधिकार राष्ट्रपति को नहीं दिया गया था। मन्त्रिमण्डल प्रतिनिधि-सभा के प्रति उत्तरदायी था। फिनलैण्ड के दस फी सदी निवासी स्वीडिश भाषा बोलनेवाले थे। उन्हें सन्तुष्ट रखने के लिये फिन और स्वीडिश—दोनों भाषाओं को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत किया गया। फिनलैण्ड का कुल क्षेत्रफल १,४५,००० वर्गमील है, और उसकी आबादी १९२५ में ३३,६०,००० थी।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फिनलैण्ड की नीति यह थी है, कि वह अपने पड़ोसी राज्य स्वीडन, नार्वे और डेनमार्क के साथ सुलह से रहे। राष्ट्रसंघ पर उसका अतुल विश्वास था। रूस और स्वीडन के साथ उसके जो भी झगड़े हुए, उन सबको वह राष्ट्रसंघ के सम्मुख पेश करता रहा। पर फिनलैण्ड का यह रिपब्लिकन राज्य देर तक अपने लोकतन्त्र स्वरूप को कायम नहीं रख सका। जब इटली और जर्मनी में फैसिज्म और नाजीज्म द्वारा एक दल या एक नेता के हाथ में सब राजनीतिक अधिकार आने की प्रवृत्ति शुरू हुई, तो फिनलैण्ड भी उस प्रभाव से नहीं बच सका। यद्यपि लोकतन्त्र-शासन वहां कायम रहा, तथापि फैसिज्म के असर से वहां भी सरकार ने बहुत सी शक्ति अपने हाथों में कर ली।

८. एस्थोनिया

रूस की अधीनता—फिनलैण्ड के समान एस्थोनिया का प्रदेश भी पहले स्वीडन के अधीन था, बाद में रूस ने उस पर अपना कब्जा कर लिया था। रशियन साम्राज्य के अन्तर्गत रहकर एस्थोनिया की बहुत दुर्दशा हुई। बड़े-बड़े एस्थोनियन जमींदार और कुलीन श्रेणी के लोग रशियन सम्राट् की मदद करते थे, और इस मदद के बदले में स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी रैयत पर अत्याचार करते थे। पर एस्थोनिया की जनता में भी धीरे-धीरे जागृति हो रही थी। १९०५ में जब रूस में सर्वत्र क्रान्ति की लहर व्याप्त हुई, तो एस्थोनियन लोगों ने भी विद्रोह किया। पर इस विद्रोह का दमन करने के लिये रशियन सरकार को कोई भी परेशानी नहीं हुई। बिना किसी विशेष प्रयत्न के एस्थोनिया की क्रान्ति की भावना को कुचल दिया गया। महायुद्ध के समय में एस्थोनियन देशभक्त स्वतन्त्रता के लिये हाथ-पैर जरूर पटकते रहे, पर उन्हें कोई सफलता नहीं मिली।

स्वतन्त्र एस्थोनिया—१९१७ में जब रूस में राज्य-क्रान्ति हुई, तो एस्थोनिया को भी स्वाधीनता-प्राप्ति का अनुपम अवसर हाथ लगा। मार्च, १९१७ में जो सामयिक सरकार कायम हुई थी, उसने एस्थोनिया के स्वाधीनता के दावे को स्वीकार कर लिया। एस्थोनिया में भी सामयिक सरकार की स्थापना की गई और विधान-परिषद् के निर्वाचन की व्यवस्था हुई। पर एस्थोनिया अपनी स्वतन्त्रता को देर तक कायम नहीं रख सका। १९१८ के शुरू में जर्मन सेनाओं ने इस पर कब्जा कर लिया, और एस्थोनियन देशभक्तों की सब उमंगें और आकांक्षायें मन की मन में ही रह गयीं।

महायुद्ध में जर्मनी की पराजय के बाद एस्थोनियन रिपब्लिक का पुनरुद्धार हुआ। विधान-परिषद ने देश के लिये जो नया शासन-विधान बनाया था, उसके अनुसार पार्लियामेण्ट में केवल एक सभा रखी गई थी, जिसके १०० सदस्य होते थे। वोट का अधिकार सब बालिग स्त्री-पुरुषों को दिया गया था। राष्ट्रपति को वीटो का अधिकार नहीं था। वह किसी निश्चित काल के लिये नहीं चुना जाता था। जब तक प्रतिनिधि-सभा उस पर विश्वास रखे, वह अपने पद पर रह सकता था। १९२२ में एस्थोनिया की आबादी ११ लाख थी।

एस्थोनिया को स्वतन्त्र हो जाने के बाद अनेक दिक्कतों का सामना करना पड़ा। नवम्बर, १९१८ में उसकी भी कम्युनिस्टों के साथ लड़ाई शुरू हुई। यह युद्ध एक साल से अधिक समय तक जारी रहा। आखिर जब रूस की कम्युनिस्ट सरकार ने एस्थोनियन रिपब्लिक की स्वाधीन सत्ता को स्वीकार कर लिया, तब २ फरवरी, १९२० को इस लड़ाई का अन्त हुआ।

१९३४ के बाद एस्थोनिया भी फैसिस्ट प्रभाव में चला गया, और लोकतन्त्र शासन का अन्त होकर वहां एकाधिकार की स्थापना हुई।

९. लैटविया

फिनलैण्ड और एस्थोनिया के समान लैटविया भी पहले स्वीडन के साम्राज्य के अन्तर्गत था। स्वीडन के निर्बल होने और रूस के उत्कर्ष के कारण बाद में लैटविया रूस के अधीन हो गया। लैट देशभक्तों ने अपनी स्वतन्त्रता के लिये जो भी प्रयत्न किये, उन सबको बुरी तरह कुचला गया। १९०५ की क्रान्ति की लहर का असर लैटविया पर भी पड़ा, पर लैट विद्रोह का दमन करने में रशियन सरकार को कोई दिक्कत नहीं उठानी पड़ी।

लैटविया की स्वधीनता—महायुद्ध के शुरू होने पर जर्मन सेनाओं ने पूर्वी

रणक्षेत्र में आगे बढ़ना शुरू किया, और १९१५ में लैटविया पर कब्जा कर लिया। जर्मनी का लैटविया पर यह कब्जा १९१८ तक जारी रहा। जब महायुद्ध का अन्त हुआ और जर्मनी परास्त हो गया, तब लैट लोगों को अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूरा करने का अवसर मिला। १८ नवम्बर, १९१८ को लैटविया में स्वाधीनता की घोषणा की गई, और देश का शासन करने के लिये एक अस्थायिक सरकार का निर्माण हुआ। साथ ही, एक विधान-परिषद् का निर्वाचन किया गया, जिसने रिपब्लिक के लिये नया शासन-विधान तैयार करने का काम अपने हाथों में लिया। १५ फरवरी, १९२२ को विधान-परिषद् ने अपना काम समाप्त कर दिया और जो नया शासन-विधान बनाकर तैयार किया, उसके अनुसार पार्लियामेण्ट में एक सभा रखी गई। इस सभा के सदस्यों की संख्या १०० निश्चित की गई, जिनका चुनाव तीन सालों के लिये किया जाना था। वोट का अधिकार सब बालिग स्त्री-पुरुषों को दिया गया था। राष्ट्रपति का चुनाव भी तीन साल के लिये होना था। उसे वीटो का अधिकार नहीं दिया गया था, और राज्य की वास्तविक शक्ति जनता के हाथों में रखी गई थी। लैटविया की इस नई रिपब्लिक की जनसंख्या तीन लाख के लगभग थी, और उसका कुल क्षेत्रफल २५ हजार वर्गमील था।

स्वतन्त्र होने के बाद लैटविया को भी कम्युनिस्ट लोगों से युद्ध करना पड़ा। इस लड़ाई का तब अन्त हुआ, जब कि अगस्त, १९२० में रीगा (लैटविया की राजधानी) की सन्धि द्वारा रूस की बोल्शेविक सरकार ने लैटविया की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लिया।

१०. लिथुएनिया

मध्यकाल में लिथुएनिया के प्रदेश पोलैण्ड के शक्तिशाली राज्य के अन्तर्गत थे। जब पोलैण्ड की शक्ति क्षीण हुई, तो रूस ने इन पर अपना अधिकार कर लिया। इन प्रदेशों के सम्बन्ध में रूस की नीति यह थी, कि इन्हें पूरी तरह रशियन बना लिया जाय। १८४० में लिथुएनिया में वहां के पुराने कानून की जगह रशियन कानून को लागू किया गया, विल्ना के विश्वविद्यालय तथा अन्य अनेक शिक्षणालयों को बन्द कर दिया गया और १८६४ में लिथुएनिया में पुस्तकों और समाचारपत्रों तक का प्रकाशन रोक दिया गया। इस सबका उद्देश्य यही था, कि लिथुएनियन लोग अपनी भाषा, सभ्यता, संस्कृति और परम्परा को सर्वथा भूल जायँ, और पूरी तरह रशियन जन-समाज के अंग बन जायँ। १९०५ की क्रान्ति की लहर ने लिथुएनिया पर भी असर डाला। पर उसका कोई विशेष

परिणाम नहीं हुआ। इस बीच में लिथुएनियन लोगों में स्वतन्त्रता का आन्दोलन जारी था। दमनकारी विविध उपायों से भी उसे दबाया नहीं जा सका था। महायुद्ध के शुरू होने के कुछ समय बाद ही जर्मन सेनाओं ने लिथुएनिया पर भी कब्जा कर लिया। जर्मनी यह चाहता था, कि लैटविया और लिथुएनिया को मिलाकर एक पृथक् बाल्टिक राज्य बना दिया जाय, जो जर्मनी की अधीनता को स्वीकार करे। पर लिथुएनियन देशभक्त इससे सहमत नहीं थे, वे अपने देश को पूर्णतया स्वाधीन करना चाहते थे। महायुद्ध में जब जर्मनी परास्त हो गया, तो उन्हें अपनी आकांक्षा को क्रिया में परिणत करने का अवसर मिला। १९१८ में लिथुएनिया की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी गई और शासन-विधान तैयार करने के लिये एक विधान-परिषद् का निर्वाचन किया गया।

नया शासन-विधान—नया शासन-विधान १ अगस्त, १९२२ को तैयार हुआ। इसके अनुसार पार्लियामेण्ट में एक सभा बनाई गई, जिसके सदस्यों का चुनाव तीन साल के लिये किया जाता था। सब बालिग स्त्री-पुरुषों को वोट का अधिकार दिया गया। राष्ट्रपति को भी पार्लियामेण्ट निर्वाचित करे, यह व्यवस्था की गई। राष्ट्रपति को वीटो का अधिकार नहीं दिया गया, यद्यपि पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकार किये गये कानूनों व प्रस्तावों को क्रिया में परिणत होने का समय वह स्थगित कर सकता था। लिथुएनिया का कुल क्षेत्रफल २० हजार वर्गमील था, और १९२२ में उसकी जन-संख्या २२॥ लाख के लगभग थी।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति—लिथुएनिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना विल्ना पर पोलैण्ड का कब्जा था। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना मेमल पर लिथुएनिया का कब्जा थी। मेमल बाल्टिक के समुद्रतट पर एक समृद्ध बन्दरगाह है। यह पहले जर्मनी के हाथ में था। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी ने इसे मित्रराष्ट्रों के सुपुर्द कर दिया था। लिथुएनिया चाहता था, कि यह उसे प्राप्त हो जाय। उसके राज्य में अन्य कोई ऐसा बन्दरगाह नहीं था, जो उसके सामुद्रिक व्यापार का केन्द्र बन सके। मित्रराष्ट्र उसे यह वचन भी दे चुके थे, कि स्थिति के सँभलने पर मेमल लिथुएनिया के सुपुर्द कर दिया जायगा। जब लिथुएनियन सरकार ने देखा, कि मित्रराष्ट्र मेमल को देने में टालमटोल कर रहे हैं, तब उसने भी पोलैण्ड की नीति का अनुसरण कर मेमल पर जबर्दस्ती कब्जा कर लिया। बाद में विवश होकर मित्रराष्ट्रों ने मेमल पर लिथुएनिया के अधिकार को स्वीकार कर लिया।

बाल्टिक त्रिगुट—बाल्टिक के समुद्रतट पर स्थित इन तीनों राज्यों (लैटविया,

एस्थोनिया, लिथुएनिया) के अन्तर्राष्ट्रीय हित एक सदृश थे। इसलिये उन्होंने मिलकर उसी प्रकार एक बाल्टिक त्रिगुट का निर्माण किया, जैसे कि चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया ने मिलकर दक्षिण-पूर्वी यूरोप में किया था। इस त्रिगुट का यही प्रयत्न रहता था, कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तीनों राज्य सहयोग से काम करें। जब उनके पड़ोस में रूस में बोल्शेविक सरकार ने और जर्मनी में नाजी दल ने जोर पकड़ा, और कम्युनिस्ट और नाजी विचार-धाराओं में संघर्ष का सूत्रपात हुआ, तब इस त्रिगुट द्वारा ही बाल्टिक समुद्रतट के ये राज्य कुछ समय के लिये अपनी स्थिति को सुरक्षित रख सके।

अन्य पड़ोसी राज्यों के समान लिथुएनिया में भी लोकतन्त्र शासन देर तक कायम नहीं रह सका। नाजी और फैसिस्ट प्रणाली का अनुसरण कर वहां भी १९२६ के बाद एक दल का शासन स्थापित हो गया। १९२६ से १९३६ तक, दस साल तक लिथुएनियन पार्लियामेण्ट का अधिवेशन तक नहीं हुआ। राष्ट्रीय संघ नाम के राजनीतिक दल ने इस राज्य की सारी राज्यशक्ति को अपने हाथ में कर लिया था।

११. युक्रेनिया

पोलैण्ड के दक्षिण-पूर्व में युक्रेनिया का प्रदेश है, जहां के निवासी युक्रेनियन या रुथेनियन कहाते हैं। गेहूं की पैदावार की दृष्टि से यह यूरोप का सबसे उपजाऊ इलाका है। मध्यकाल में युक्रेनिया का कुछ हिस्सा रूस के अधीन था, और शेष पोलैण्ड के शक्तिशाली राज्य के अन्तर्गत था। जब १७९५ में पोलैण्ड की स्वतन्त्रता और पृथक् सत्ता का अन्त हुआ, तो यह सब प्रदेश रूस की अधीनता में आ गया। रशियन सरकार की इसके सम्बन्ध में भी यही नीति थी, कि युक्रेनियन संस्कृति, कानून और परम्पराओं को नष्ट करके उसे पूर्णतया रशियन बना लिया जाय। इसका परिणाम यह हुआ, कि युक्रेनियन लोगों में राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावनाएँ जोर पकड़ने लगीं। वहां भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये विद्रोह शुरू हुए, और अनेक देशभक्त नेताओं ने, सब प्रकार के कष्ट उठाकर भी स्वाधीनता के आन्दोलन को जारी रखा। महायुद्ध के समय में इस आन्दोलन को बहुत बल मिला, और जब मार्च, १९१७ में रूस में पहली राज्यक्रान्ति हुई, तो युक्रेनियन लोगों के राष्ट्रीय नेताओं ने कीव में एकत्र होकर यह मांग पेश की, कि रूस के अन्तर्गत उनकी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया जाय। रूस की सामयिक सरकार ने इस मांग का कोई उत्तर नहीं दिया। इस पर २३ जून, १९१७ को

युक्रेनियन सेनाओं ने अपनी सामयिक सरकार कायम कर ली, और स्वतन्त्र रूप से अपने देश का शासन प्रारम्भ कर दिया। जब नवम्बर, १९१७ में एक षड्यन्त्र द्वारा बोल्शेविक लोगों ने रूस का शासन-सूत्र अपने हाथों में ले लिया, तो युक्रेनिया में स्वतन्त्र रिपब्लिक की घोषणा कर दी गई। बोल्शेविक लोग अपने देश की आन्तरिक शक्ति को संभालने में लगे हुए थे, अतः उन्होंने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया।

फरवरी, १९१८ में जर्मन सेनाओं ने युक्रेनिया पर कब्जा कर लिया। वहां की सरकार को तिरस्कार कर उन्होंने जर्मनी के पक्षपाती जनरल स्कोरोपाड्स्की को युक्रेनिया का शासक नियत किया। महायुद्ध में जब जर्मनी की पराजय हुई, तो युक्रेनिया में फिर स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की गई। पर रूस के समान युक्रेनिया में भी कम्युनिस्ट लोगों की शक्ति बढ़ने लगी थी। वहां की स्वतन्त्र रिपब्लिक पर भी कम्युनिस्टों का कब्जा हो गया, और जब बोल्शेविकों ने रूस में सोवियट प्रणाली के अनुसार निर्मित रिपब्लिकों का संघ स्थापित किया, तो दिसम्बर, १९२२ में युक्रेनिया भी इस संघ में शामिल हो गया। युक्रेनिया का क्षेत्रफल १,७४,२१० वर्गमील है, और १९२२ में उसकी जन-संख्या २,७५,००,००० के लगभग थी। रशियन संघ में शामिल होकर युक्रेनिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति रूस के अधीन हो गई, पर आन्तरिक मामलों में उसकी स्वतन्त्र सत्ता कायम रही।

१२. बल्गेरिया

महायुद्ध में बल्गेरिया जर्मनी का पक्ष लेकर शामिल हुआ था। जर्मनी के केन्द्रीय पक्ष की पराजय के कारण उसे बहुत अधिक नुकसान उठाना पड़ा। नवम्बर, १९१९ में न्वीय्यी की सन्धि द्वारा उसका अंग-भंग किया गया और अनेक प्रदेश उसके हाथों से निकल गये। इनमें अनेक प्रदेश ऐसे भी थे, जिनमें बल्गेरियन लोग बहुत बड़ी संख्या में निवास करते थे। (१) बल्गेरिया की पश्चिमी सीमा पर स्थित जो प्रदेश सर्बिया (या नये युगोस्लाविया) को दिये गये थे, उनके प्रायः सभी निवासी बल्गेरियन लोग थे। (२) थ्रेस का जो प्रदेश पहले बल्गेरिया के पास था, वह इस सन्धि द्वारा ग्रीस को दे दिया गया था। इसमें भी बल्गेरियन लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। महायुद्ध के बाद बल्गेरिया का कुल क्षेत्रफल ४०,३५० वर्गमील रह गया था, और उसकी जनसंख्या ४८,००,००० थी। बल्गेरिया को १५० करोड़ रुपया हरजाने के रूप में भी मित्रराष्ट्रों को

प्रदान करना था और इतनी भारी रकम को अदा कर सकना उसके लिये सुगम नहीं था।

महायुद्ध के बाद १९१९ से १९२३ तक बल्गेरिया की राज्यशक्ति अलेक्जेण्डर स्ताम्बुलिस्की के हाथों में रही। यह किसान पार्टी का नेता था और न्वीय्यी की सन्धि की सब शर्तों को पूर्ण करने के लिये मित्रराष्ट्रों के साथ सहयोग करने का पक्षपाती था। हरजाने की रकम को ईमानदारी के साथ अदा करने के लिये इसने राजकीय आमदनी के बड़े भाग को मित्रराष्ट्रों के पास जमानत के रूप में रख दिया था। इसकी यह नीति थी, कि युगोस्लाविया व अन्य पड़ोसी राज्यों के साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करे।

पर बल्गेरिया में ऐसे राष्ट्रीय नेताओं की कमी नहीं थी, जो न्वीय्यी की सन्धि से असन्तुष्ट थे। वे समझते थे, कि मित्रराष्ट्रों ने बल्गेरिया के साथ घोर अन्याय किया है। जो बहुत से बल्गेरियन लोग इस समय अन्य विदेशी राज्यों की प्रजा के रूप में रहने के लिये विवश हुए थे, उनमें विद्रोह की भावना अत्यन्त उग्र रूप धारण कर रही थी और बहुत-से बल्गेरियन लोग युगोस्लाविया, ग्रीस आदि से स्वदेश को लौटकर वहां की सरकार पर यह जोर दे रहे थे, कि उनके हितों की रक्षा करना बल्गेरियन सरकार का प्रमुख कर्तव्य है। इनकी दुःख-गाथाओं को सुन-सुनकर बल्गेरिया के निवासियों में जोश पैदा हो रहा था और लोग स्ताम्बुलिस्की की नीति से असन्तोष अनुभव करने लगे थे। परिणाम यह हुआ, कि बल्गेरिया में एक नये राष्ट्रीय दल का प्रादुर्भाव हुआ, जो इटली की फैसिस्ट पार्टी और जर्मनी की नाजी पार्टी के समान ही उग्र राष्ट्रवादी था। जून, १९२३ में इस पार्टी ने विद्रोह कर दिया। अलेक्जेण्डर स्ताम्बुलिस्की विद्रोहियों के कोप का शिकार बना और बल्गेरिया का शासन किसान पार्टी के हाथों से निकल गया। प्रोफेसर त्सान्कोव के नेतृत्व में नई सरकार का निर्माण हुआ। त्सान्कोव व उसके अनुयायी उग्र राष्ट्रवादी थे, पर सब बल्गेरियन लोग उनकी नीति के समर्थक नहीं थे। रूस से कम्युनिज्म की जो नई झलक चली थी, वह भी बल्गेरिया में अपना असर डाल रही थी। परिणाम यह हुआ, कि प्रोफेसर त्सान्कोव ने अपने विरोधियों को कुचलने के लिये उग्र उपायों का अवलम्बन किया। सारे देश में मार्शल-लॉ जारी कर दिया गया और विरोधी लोगों पर घोर अत्याचार शुरू हुए। कम्युनिस्टों ने भी सरकारी अफसरों व राष्ट्रीय दल के नेताओं की हत्या करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। १९२५ तक बल्गेरिया में एक प्रकार का आतंक का राज्य कायम रहा और सरकार के पक्षपाती और विरोधी लोग एक दूसरे का

विनाश करने के लिये भयंकर से भयंकर उपायों का अवलम्बन करते रहे। १९२५ के बाद स्थिति में सुधार शुरू हुआ और आतंक का अन्त होकर वैध रीति से देश का शासन प्रारम्भ हुआ।

१३. अल्बेनिया

१९१२ और १९१३ के बाल्कन-युद्धों के परिणामस्वरूप बाल्कन प्रायद्वीप में एक नये राज्य का प्रादुर्भाव हुआ था, जिसे अल्बेनिया कहते थे। इसका कुल क्षेत्रफल ११,००० वर्गमील था, और इसकी जन-संख्या दस लाख के लगभग थी। महायुद्ध में अल्बेनिया उदासीन रहा था, पर आस्ट्रिया, इटली और सर्बिया ने उसकी उदासीन सत्ता की कोई परवाह नहीं की थी। वे निःसंकोचरूप से अपनी सेनायें उसमें से ले जाते थे और उसे युद्ध के लिये आधार रूप से प्रयुक्त करते थे। पेरिस की शान्ति-परिषद् में इटली ने यह मांग की थी, कि अल्बेनिया को उसके संरक्षण में दे दिया जाय। पर राष्ट्रपति विल्सन ने इटली की इस मांग का विरोध किया और अल्बेनिया की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता कायम रही।

महायुद्ध के समय अल्बेनिया में राजसत्ता विद्यमान थी और उसका राजा विलियम जर्मनी के राजवंश के साथ सम्बन्ध रखता था। युद्ध शुरू होने पर वह जर्मनी वापस लौट गया था और देश में कोई ऐसी सरकार कायम नहीं रही थी, जो शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में समर्थ हो। इसी स्थिति से लाभ उठा कर विविध राज्यों ने अल्बेनिया को युद्ध के लिये प्रयुक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। १९२० में वहां एक सामयिक सरकार की स्थापना की गई, जिसके सम्मुख प्रधान कार्य यह था, कि उन विदेशी सैनिकों को अपने देश के बाहर निकाले, जो महायुद्ध की समाप्ति के बाद भी वहां अव्यवस्था मचाने में तत्पर थे। पर इस सामयिक सरकार का कार्य सुगम नहीं था, क्योंकि अल्बेनिया में अभी सर्वत्र अशान्ति और अव्यवस्था मची हुई थी। १९२२ में वहां एक ऐसे नेता का प्रादुर्भाव हुआ, जो देश में व्यवस्थित सरकार को स्थापित करने में समर्थ हुआ। इस नेता का नाम था, अहमद जोगू। यह धर्म से मुसलिम था। पर इसे अपने कार्य में असाधारण सफलता हुई, और सामयिक सरकार के प्रधान-मन्त्री का पद ग्रहण कर यह देश को एक व्यवस्थित शासन में लाने में समर्थ हुआ।

जनवरी, १९२५ में अमहद जोगू के नेतृत्व में अल्बेनिया में बाकायदा रिपब्लिक की स्थापना हुई। उसे सात साल के लिये राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया और देश के लिये एक नये संविधान की रचना की गई।

१४. ग्रीस

महायुद्ध के समय १९१७ में वेनिजलोस के नेतृत्व में ग्रीस किस प्रकार युद्ध में मित्रराष्ट्रों के पक्ष में शामिल हुआ था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ग्रीस का राजा कान्स्टेन्टाइन वेनिजलोस की नीति से सहमत नहीं था। इसीलिये उसने स्वेच्छापूर्वक राजगद्दी का परित्याग कर दिया था और उसका लड़का एलेक्जेण्डर ग्रीस का राजा बना था। महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय के कारण ग्रीस को भी अपने उत्कर्ष का अवसर मिला। थ्रेस का प्रायः सम्पूर्ण प्रदेश उसे प्राप्त हुआ। थ्रेस में केवल वह थोड़ा-सा प्रदेश अब ग्रीस से बाहर रहा, जिस पर कि कान्स्टेन्टिनोपल नगर स्थित है। एशिया माइनर में स्मर्ना का बन्दरगाह और उसके चारों तरफ का सुविस्तृत प्रदेश सेव्र की सन्धि द्वारा टर्की से लेकर ग्रीस को दिया गया और डोडकनीज द्वीपसमूह (एशिया माइनर के पश्चिम में) व ईजियन सागर के अनेक द्वीप भी उसे प्राप्त हुए। १९१७ में ग्रीस का कुल क्षेत्र-फल ४१,९३३ वर्गमील था। अब वह बढ़ कर ७०,००० वर्गमील के लगभग हो गया। इसकी जन संख्या में भी इस समय बीस लाख की वृद्धि हुई।

१९२० में राजा एलेक्जेण्डर की मृत्यु हो गई। उसका पिता कान्स्टेन्टाइन अभी जीवित था और विदेश में जीवन बिता रहा था। ग्रीस की राजगद्दी रिक्त होने पर उसने घोषणा की, कि मैं स्वदेश वापस लौटकर राज्यकार्य को संभालने के लिये तैयार हूं। इस प्रश्न पर जनता का मत लिया गया और मतदाताओं ने बहुत बड़े बहुमत से कान्स्टेन्टाइन के पक्ष में वोट दिया। वेनिजलोस की यह भारी पराजय थी। अब एक बार फिर ग्रीस में राजा कान्स्टेन्टाइन का शासन स्थापित हो गया।

पर कान्स्टेन्टाइन का कार्य सुगम नहीं था। पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा जो बहुत-से नये प्रदेश ग्रीस ने प्राप्त किये थे, वे टर्की के युद्ध में परास्त हो जाने के कारण उसे प्राप्त हुए थे। पर इस समय टर्की में मुस्तफा कमाल पाशा के रूप में एक नई शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने सेव्र की सन्धि को मानने से इनकार कर दिया। इस पर ग्रीस ने टर्की पर आक्रमण किये, जिनमें उसे सफलता नहीं हो सकी। स्मर्ना का प्रदेश ग्रीस के हाथों से निकल गया और कमाल पाशा के मुकाबले में ग्रीस के लिये टर्की के किसी भी प्रदेश में अपनी शक्ति को कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा। लोजान की सन्धि (१९२३) द्वारा ग्रीस ने न केवल

स्मर्ना के प्रदेश पर से अपने दावे का परित्याग कर दिया, अपितु पूर्वी थ्रेस भी उसके हाथ से निकलकर टर्की को प्राप्त हुआ।

टर्की के साथ युद्ध में ग्रीस को जिस प्रकार नीचा देखना पड़ा था, उसके कारण वहां का लोकमत, राजा कान्स्टेन्टाइन की सरकार के बहुत विरुद्ध हो गया था। परिणाम यह हुआ, कि एक बार फिर उसे राजगद्दी का परित्याग करने के लिये विवश होना पड़ा। १९२२ के नवम्बर मास में उसने स्वेच्छापूर्वक राजगद्दी का परित्याग कर दिया और उसका लड़का ज्यार्ज द्वितीय (एलेक्जेण्डर का बड़ा भाई) ग्रीस का राजा बना। वेनिजलोस एक बार फिर अपने देश को वापस लौट आया और प्रधान-मन्त्री के पद पर नियुक्त हुआ।

लोजान की सन्धि के अनुसार एक व्यवस्था यह की गयी थी, कि एशिया-माइनर व पूर्वी थ्रेस में जो ग्रीक लोग आबाद हैं, वे ग्रीस वापस चले जायं और इसी प्रकार ग्रीस में निवास करनेवाले तुर्क लोक टर्की चले आवें। इसका परिणाम यह हुआ, कि लाखों सम्पन्न ग्रीक लोग इस समय टर्की से स्वदेश लौटे। पर इनके निवास और निर्वाह की व्यवस्था कर सकना सुगम बात नहीं थी। इन शरणार्थियों को फिर से बसाने के लिये ग्रीक सरकार को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

ज्यार्ज द्वितीय देर तक ग्रीस की राजगद्दी पर नहीं रह सका। वेनिजलोस और उसके अनुयायी राजसत्ता के विरोधी थे और अपने देश में रिपब्लिक की स्थापना करने के लिये उत्सुक थे। १९२४ के प्रारम्भ में वेनिजलोस के प्रस्ताव पर ग्रीस की पार्लियामेण्ट ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया, कि राजा ज्यार्ज द्वितीय से स्वेच्छापूर्वक गद्दी का परित्याग करने के लिये प्रार्थना की जाय। ग्रीक जनता ने भी लोकमत द्वारा इस प्रस्ताव का समर्थन किया। राजा ज्यार्ज के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह लोकमत की उपेक्षा कर सकता। उसने राजगद्दी का परित्याग कर दिया और यूरोप के अनेक अन्य राज्यों के समान ग्रीस में भी रिपब्लिक की स्थापना हो गई।

छयालीसवां अध्याय

रूस की राज्यक्रान्ति

१. क्रान्ति से पूर्व रूस की दशा

रूस की राज्यक्रान्ति का महत्त्व—बीसवीं सदी के इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना रूस की राज्यक्रान्ति है। अठारहवीं सदी के अन्त में जब फ्रांस में क्रान्ति हुई, तो उसमें लोकतन्त्रवाद, राष्ट्रीयता की भावना और राजनीतिक समानता की प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ था। पुराने स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासनों का अन्त होकर जनता के शासन का सूत्रपात फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय से ही हुआ था। १७८९ में जिन सिद्धान्तों को क्रान्तिकारी और उग्र माना जाता था, आज वे सर्वसम्मत तथ्य हो गये हैं, और फ्रांस से जो लहर शुरू हुई थी, वह सारी पृथिवी पर व्याप्त हो गई है।

आज से लगभग तीस साल पहले रूस में जो राज्यक्रान्ति हुई, उसने सम्राट् के एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का अन्त कर लोकतन्त्रवाद की स्थापना का ही प्रयत्न नहीं किया, अपितु सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में भी कुलीनों, पूंजीपतियों और जमींदारों की शक्ति का अन्त कर सर्वसाधारण मजदूर और किसान जनता की सत्ता भी स्थापित की। उससे संसार में एक नई विचारधारा का प्रारम्भ हुआ, जिसे कम्युनिज्म (समाजवाद या साम्यवाद) कहते हैं। कम्युनिज्म एक नई सभ्यता, नई संस्कृति और नये समाज का पक्षपाती है। उसकी दृष्टि में फ्रांस, ब्रिटेन या अमेरिका का समाज व आर्थिक संगठन उसी प्रकार पुराना या विकृत है, जैसे कि राजाओं के स्वेच्छाचारी शासनों के समय में था। राजनीतिक क्रान्तियों ने शक्ति को राजा व उसके दरबारियों के हाथ से छीनकर कुछ पढ़े-लिखे लोगों व पूंजीपतियों के हाथ में दे दिया। सर्वसाधारण जनता की दशा में इससे कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। कम्युनिस्टों का ख़याल है, कि जैसे फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने राजनीतिक क्षेत्र में परिवर्तन लाकर पुराने युग का अन्त किया और राजाओं की सत्ता समाप्त हो गई, उसी प्रकार अब आर्थिक और सामाजिक

देशों में कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुसार क्रान्ति होकर मध्य श्रेणी और पूंजीपतियों का अन्त हो जायगा, और सर्वसाधारण जनता की सत्ता स्थापित हो जायगी। रूस में यही सब कुछ हुआ है। अन्य बहुत से देशों में भी यही कुछ किये जाने का प्रयत्न जारी है। आधा यूरोप और आधे के लगभग एशिया अब कम्यूनिस्ट हो चुका है। पृथिवी के अन्य देशों में भी यह विचारधारा अपना असर बड़ी तेजी के साथ बढ़ा रही है। सम्भव है, कि जिस प्रकार धीरे-धीरे फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा उत्पन्न विचारधारा को सब देशों ने अपना लिया, उसमें एक सदी के लगभग समय लगा; उसी प्रकार धीरे-धीरे सब देश कम्युनिस्ट विचारधारा को भी स्वीकार कर लें। पर अभी इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आज तो संसार के अनेक उन्नत और शक्तिशाली देश रूस की विचारधारा को घातक और हानिकारक बताते हैं। पर यही दशा कभी फ्रांस की नई विचारधारा के सम्बन्ध में भी थी। वीएना की कांग्रेस (१८१४) में एकत्र राजनीतिज्ञ फ्रांस की राज्यक्रान्ति का उपहास करते थे, उसके सब परिणामों को मिटा देने में ही वे यूरोप का कल्याण मानते थे। सम्भवतः, यही दशा इस समय रूस की राज्यक्रान्ति के सम्बन्ध में है। अमेरिका, ब्रिटेन, भारत आदि सर्वत्र कम्युनिज्म को एक बीमारी के रूप में लिया जाता है। इतिहास आगे चलकर बतायगा, कि संसार के सभ्य देश उसके द्वारा उत्पन्न नई प्रवृत्तियों को उसी प्रकार अपनाते हैं या नहीं, जैसे कि एक सदी पहले की फ्रांस की राज्यक्रान्ति की भावना को उन्होंने अपनाया था।

क्रान्ति से पूर्व रूस की दशा—राज्यक्रान्ति से पूर्व रूस की क्या दशा थी? भौगोलिक दृष्टि से रूस पृथिवी का सबसे बड़ा देश था। कुल जमीन का छठा भाग उसके अन्तर्गत था। उसकी आबादी अठारह करोड़ थी। वहां का सम्राट् निकोलस द्वितीय बड़ा शक्तिशाली राजा था। सारी राज-शक्ति उसके हाथों में थी। यद्यपि १९०५ की क्रान्ति के बाद रूस में पार्लियामेण्ट की स्थापना हो गई थी, पर अभी असली राजशक्ति सम्राट् और उसके दरबारियों के हाथों में ही थी। सम्राट् जो चाहे कर सकता था, उसकी मनमानी को रोकने का कोई जबर्दस्त साधन जनता के पास नहीं था। सर्वसाधारण जनता अशिक्षित और पिछड़ी हुई थी। चर्च का लोगों पर बड़ा प्रभाव था। जनता में बहुत से अन्ध-विश्वास प्रचलित थे। शिक्षा के न होने से लोग पुरोहितों व पादरियों का कहना आंख मींचकर मानते थे। चर्च का अभी तक भी यह खयाल था, कि राजा दैवी अधिकार से देश पर शासन करता है। जनता अनेक श्रेणियों में विभक्त थी। कुलीन श्रेणी, मध्यश्रेणी

और मजदूर-किसान जनता—एक दूसरे से बिलकुल पृथक्-पृथक् थीं। कुलीन और मध्य श्रेणियों के लोग सर्वसाधारण जनता को नीची निगाह से देखते थे। कुलीन लोग अपने घमण्ड में मध्य श्रेणी को भी कुछ नहीं गिनते थे।

रूस में सम्राट् की एकतन्त्र स्वेच्छाचारी सत्ता को कायम रखने में निम्न-लिखित कारण परम सहायक थे—(१) चर्च राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त में विश्वास रखता था, और अपने अनुयायियों को भी यही उपदेश देता था, कि राजा पृथिवी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। उसका विरोध करना ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह करना है। (२) सम्राट् की सहायता के लिये एक शक्तिशाली कुलीन श्रेणी विद्यमान थी। इन कुलीन लोगों का भला इसी में था, कि राजा का स्वेच्छाचारी शासन बना रहे, ताकि वे भी अपने-अपने क्षेत्र में स्वेच्छा से रह सकें, और मनमानी कर सकें। (३) रूस में नौकरशाही भी सम्राट् के शासन के पक्ष में थी। अठारह करोड़ की जन-संख्या के विशाल देश में शासन करने के लिये हजारों की संख्या में बड़े-बड़े सरकारी कर्मचारी विद्यमान थे। इसकी सत्ता, स्थिति और उन्नति इसी बात पर निर्भर थी, कि ये सम्राट् की पूर्ण भक्ति के साथ सेवा करें, और उसकी आज्ञाओं को आंख मीचकर स्वीकार करें। नौकरशाही के लोगों की उन्नति उसी दशा में थी, जब वे राजा को प्रसन्न रखें। राजा की प्रसन्नता के लिये वे जनता को सब प्रकार से कुचलने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। (४) रूस की विशाल सेना में भरती वेतन और सुखपूर्वक जीवन के लालच से की जाती थी। इस सेना के सैनिकों और अफसरों की उन्नति भी राजा की कृपादृष्टि पर ही निर्भर थी। अतः ये भी राजा को प्रसन्न रखने के लिये सब कुछ करने को उद्यत रहते थे। (५) आम जनता सर्वथा अशिक्षित थी। बेपढ़े-लिखे लोगों पर शासन करना सुगम होता है, क्योंकि वे अपने अधिकारों को नहीं समझते।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के विचारों का असर रूस पर अवश्य पड़ा था, पर अभी तक भी वहां की दशा बहुत कुछ वही थी, जो लुई १८ वें के शासनकाल में फ्रांस में थी। १९०५ में रूस में पार्लियामेण्ट अवश्य बन गई थी, पर सम्राट् व उसके सलाहकार जनता की इच्छा की कोई परवाह नहीं करते थे। सम्राट् पर अन्तःपुर और दरबार का बड़ा असर था। वहां सब प्रकार की साजिशें चलती थीं। निकोलस द्वितीय के अन्तःपुर पर रासपुटिन नाम के एक साधु का बड़ा असर था। अन्तःपुर पर प्रभाव के कारण सम्राट् उसके हाथ में कठपुतली के समान था। रूस में रासपुटिन की इच्छा ही कानून थी, और यह रासपुटिन एक अन्ध-

विश्वासी पर चतुर साधु के अतिरिक्त और कुछ न था। बीसवीं सदी में, अठारह करोड़ जन-संख्या के विशाल देश में इस प्रकार का शासन एक लज्जा की बात थी।

२. क्रान्ति के कारण

यह सम्भव नहीं था, कि बीसवीं सदी में इस प्रकार का स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन यूरोप में कायम रह सके। इसे नष्ट करके लोकतन्त्र शासन स्थापित करने का बड़ा भारी प्रयत्न रशियन क्रान्तिकारियों की ओर से जारी था। जो कारण इस समय रशियन राज्यक्रान्ति के लिये मैदान तैयार कर रहे थे, उनका संक्षेप में उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। (१) व्यावसायिक क्रान्ति के कारण रूस में बहुत-से कल-कारखाने स्थापित हो गये थे। इनमें काम करने के लिये लाखों मजदूर देहातों से शहरों में आ बसे थे। अब ये सीधे-सादे देहाती नहीं रहे थे, शहरों में रहने से न केवल इनमें चलता-पुरजापन आ गया था, अपितु ये राजनीतिक मामलों में भी दिलचस्पी लेने लग गये थे। इनकी क्लबें बन गई थीं, जहां ये सब प्रकार के मामलों पर विचार करते थे, बहस करते थे। कार्ल मार्क्स ने जर्मनी में साम्यवाद की जिस नई विचारधारा को शुरू किया था, उसकी चर्चा भी ये सुनते थे। इन्हें यह चर्चा अच्छी लगती थी, और यह ख़याल बड़ा मीठा प्रतीत होता था, कि कारखानों पर उनका अपना अधिकार और कब्जा हो जाना चाहिये। (२) १९०५ में रूस में जो क्रान्ति हुई थी, उसने लोगों को राजनीतिक अधिकारों से परिचित करा दिया था। वोट क्या है, पार्लियामेण्ट के लिये प्रतिनिधि कैसे चुने जाते हैं, सरकार को लोकमत के अनुसार काम करना चाहिये—ये सब बातें रूस के लोग अब जानने लग गये थे। अपने राजनीतिक अधिकारों से परिचित हो जाने के कारण अब वे यह चाहते थे, कि रूस में भी पूरी तरह लोकतन्त्र शासन की स्थापना होनी चाहिये। (३) पश्चिमी यूरोप के लोकतन्त्र राज्यों का असर भी रूस पर पड़ रहा था। विचार हवा की तरह होते हैं, जिन्हें रोकना बड़े-से-बड़े सम्राट् के लिये भी सम्भव नहीं होता। महायुद्ध के समय में जर्मनी और उसके साथियों के विरुद्ध जो प्रचार का कार्य मित्रराष्ट्र कर रहे थे, उनमें मुख्यतया यही कहा जाता था, कि ये लोकतन्त्र शासन जनता की स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता के लिये युद्ध कर रहे हैं। रूस मित्रराष्ट्रों के अन्तर्गत था। वहां की जनता पर भी इस प्रचार का असर पड़ता था। (४) रूस

की मध्य श्रेणी में शिक्षा विद्यमान थी। वे नई पुस्तकों को पढ़ते थे। पश्चिमी यूरोप के विचारकों की लिखी हुई पुस्तकें रशियन भाषा में अनूदित भी हुई थीं। अनेक रशियन लेखकों ने भी अपने ग्रन्थों द्वारा नये विचारों को प्रतिपादित किया था। शिक्षित वर्ग पर इन नये विचारों का बड़ा असर था। विशेषतया, नवयुवक विद्यार्थी नये विचारों को पढ़कर यह भली भांति समझ गये थे, कि उनका अपना देश उन्नति की दौड़ में बहुत पिछड़ा हुआ है और उनका यह कर्तव्य है, कि वे उसे भी उन्नति के मार्ग पर आगे ले जायं। बहुत से सम्पन्न लोग फ्रांस, अमेरिका और ब्रिटेन आदि उन्नत देशों की यात्रा भी कर चुके थे। उनमें यह भावना बड़ी तीव्रता के साथ विद्यमान थी, कि उनका देश अभी बहुत पीछे है, और उसे आगे बढ़ाना उनका परम कर्तव्य है। (५) महायुद्ध में रूस मित्रराष्ट्रों में सम्मिलित हुआ था। उसकी विशाल सेना ने शुरू-शुरू में बड़ी क्षमता प्रदर्शित की। पर दो साल तक निरन्तर युद्ध करते हुए उसमें शिथिलता के चिन्ह प्रकट होने लगे। रूस की सेना वीर अवश्य थी, पर उसमें देश भक्ति और राष्ट्रीयता की वे भावनायें नहीं थीं, जो अपूर्व त्याग और मर मिटने के लिये प्रेरणा देती हैं। रूस की ये सेना के सैनिक भृति के लिये भरती किये गये थे। उनमें वीर सैनिकों की परम्परा अवश्य थी, पर उनके सम्मुख कोई आदर्श नहीं था। यही दशा वहां की नौकरशाही की थी। रूस के राजकर्मचारी यह नहीं समझते थे, कि वे देश की उन्नति और राष्ट्रसेवा के लिये नियुक्त हैं। उनका आदर्श यही था, कि सम्राट् को खुश करके वे अपनी उन्नति करते जायं। जब महायुद्ध लम्बा होता गया, और दो साल की निरन्तर लड़ाई के बाद भी विजय के कोई चिन्ह प्रकट नहीं हुए, तो यह सेना और नौकरशाही घबड़ा गई। रिश्वतखोरी, विकृति आदि रूस में पहले से ही विद्यमान थीं। अब यह स्थिति आ गई, कि सर्वत्र असन्तोष और अशान्ति फूटने लगी। सरकार के लिये स्थिति पर काबू रख सकना कठिन हो गया। इसी समय सर्वत्र अनाज, ईंधन और कपड़े की कमी होने लगी। कीमतें बहुत ऊंची उठ गईं। गरीब लोगों के लिये गुजर कर सकना असम्भव हो गया। लोग समझते थे, कि रूस में सब चीजें प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, पर स्वार्थी पूंजीपतियों ने उन्हें अपने कब्जे में कर लिया है, ताकि बाजार में माल न होने से कीमतें ऊंची उठती जावें, और बढ़े हुए मूल्य पर बेचकर अमीर लोग और अधिक रुपया कमा सकें। सरकार इस दशा को संभालने

में सर्वथा असमर्थ थी। ऐसा प्रतीत होता था, कि शीघ्र ही घोर दुर्भिक्ष देश को व्याप्त कर लेगा। पर सरकार को इसकी कोई भी चिन्ता नहीं थी। लोग कहते थे, कि सरकार स्वयं अमीरों और पूंजीपतियों की मुनाफाखोरी की नीति में शामिल है। उनमें सरकार के विरुद्ध असन्तोष और भी बढ़ता जाता था।

इस दशा को सुधारने के लिये विशेषज्ञों की एक कमेटी सरकार की ओर से नियुक्त की गई। कमेटी का खयाल यह था, कि देश में अनाज और कपड़ा प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। पर सरकारी अव्यवस्था और कुप्रबन्ध के कारण वह चोर-बाजार में चला गया है। सम्राट् से यह प्रार्थना की गई कि वह स्वयं शासनसूत्र को अपने हाथ में ले, और स्थिति में सुधार करने का प्रयत्न करे। फरवरी, १९१७ में मास्को में एक कान्फरेन्स हुई, जिसमें कुलीन श्रेणी के बड़े-बड़े लोग एकत्र हुए। इन कुलीन लोगों ने भी यह मांग की, कि स्थिति को संभालने के लिये शासन में सुधार करना परमावश्यक है। पार्लियामेण्ट का अधिवेशन शीघ्र होना चाहिये, और सब स्थिति पर विचार करके ऐसे कदम उठाने चाहियें, जिनसे देश के इस भयंकर संकट को दूर किया जा सके। पर सम्राट् और उसके दरबारियों को इसकी कुछ भी चिन्ता न थी। वे अपने भोग-विलास और शक्ति के मद में मस्त थे। रासपुटिन ने उन पर एक प्रकार का जादू सा किया हुआ था।

आखिर, ७ मार्च, १९१७ को स्थिति काबू से बाहर हो गई। भूखे और ठण्ड से ठिठुरते हुए गरीब मजदूरों ने जुलूस बनाकर पेट्रोग्राड की सड़कों पर घूमना शुरू कर दिया। रोटी की दूकानों पर ताजी और गरम रोटियों के ढेर लगे थे। भूखे गरीब लोगों से न रहा गया, उन्होंने लूट शुरू कर दी। सरकार ने हुक्म दिया, कि गोली चलाकर बलवाइयों को तितर-बितर कर दिया जाय। पर सिपाहियों ने गोली चलाने से इनकार कर दिया। उनमें भी क्रान्ति की भावना प्रवेश कर गई थी। भूख से तड़पते हुए निहत्थे लोगों पर गोली चलाने को उनका मन नहीं करता था।

अब क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया था!

३. पहली राज्यक्रान्ति

मजदूरों में असन्तोष—८ मार्च, १९१७ को पेट्रोग्राड के कपड़े के कारखानों में काम करनेवाली स्त्रियों ने हड़ताल कर दी, क्योंकि उन्हें पेट भर भोजन नहीं मिल रहा था। उनकी मांग थी, कि पहले उन्हें खाने को दिया जाय,

तब वे काम पर आयेंगी। अगले दिन मर्द मजदूर भी उनके साथ हड़ताल में शामिल हो गये। हड़ताली लोगों ने एक जुलूस निकाला, जो जहां 'रोटी, रोटी' के नारे लगा रहा था, वहां साथ ही 'लड़ाई का अन्त हो, स्वेच्छाचारी शासन का नाश हो'—इस प्रकार के भी नारे बुलन्द कर रहा था। अगले दिन १० मार्च को पेट्रोग्राड में आम हड़ताल हो गई। अन्य शहरों पर भी इसका असर हुआ। बहुत-से कारखानों में मजदूर लोग अपने-अपने औजार छोड़कर बाहर निकल आये। सिपाहियों को जब हुकुम दिया गया, कि हड़तालियों के जुलूसों को तितर-बितर करें, उन पर गोली चलावें, तो उन्होंने हुकुम मानने से इनकार कर दिया। वे दिल से हड़तालियों के साथ थे। पुलीस और सेना के अन्य सिपाहियों की हालत साधारण मजदूरों-जैसी ही थी, वे भी सर्वसाधारण जनता के अंग थे। जब मजदूरों को मालूम होगया, कि सिपाही उन पर गोली नहीं चलावेंगे, तो उनकी हिम्मत और भी बढ़ गई। हड़तालों की बीमारी सब जगह फैलती गई, और सारे कारोबार बन्द हो गये। राजनीतिक पार्टियों ने इस दशा से लाभ उठाया। उन्होंने अनुभव किया, कि लोकतन्त्र शासन स्थापित करने का यह उत्तम अवसर है। वे सब भी मिलकर मजदूरों के इस आन्दोलन में शामिल हो गईं।

राजसत्ता का अन्त—क्रोध में आकर सम्राट् निकोलस द्वितीय ने यह आज्ञा प्रचारित की, कि पार्लियामेण्ट को तोड़ दिया जाय। इस पर पार्लियामेण्ट ने भी विद्रोह कर दिया। सब सदस्य लोग पार्लियामेण्ट के हाल में एकत्र हुए। सम्राट् की आज्ञा से उन्होंने अधिवेशन को बन्द करके बाहर जाने से इनकार कर दिया। अब स्थिति काबू से बाहर होती जाती थी। पेट्रोग्राड की गलियों में लड़ाई चल रही थी। जो फौजी अफसर सम्राट् के साथ थे, वे मजदूरों और बलवाइयों पर दिल खोलकर गोली चला रहे थे। तीन दिन तक यह लड़ाई जारी रही। आखिर, सम्राट् ने अनुभव कर लिया, कि अब वह या उसके अफसर स्थिति को नहीं संभाल सकते। १४ मार्च, १९१७ को पार्लियामेण्ट ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया, कि एक सामयिक सरकार की स्थापना की जाय, जो देश के शासन को अपने हाथों में ले ले। अगले दिन, १५ मार्च को सम्राट् निकोलस द्वितीय ने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया। तीन सौ साल से जो प्रतापी रोमनेव राजवंश विशाल रशियन साम्राज्य का अबाधित शासन कर रहा था, उसका अब अन्त हो गया। रूस में राज्यक्रान्ति हो गई।

सामयिक सरकार—पार्लियामेण्ट ने देश का शासन करने के लिये जिस

सामयिक सरकार की स्थापना की, उसका नेता प्रिंस ल्वोव था। वह प्रधान-मन्त्री बना। ल्वोव रूस के लिबरल दल का नेता था, और स्वयं कुलीन श्रेणी का था। युद्ध-मन्त्री के पद पर श्री गुचकोव को नियत किया गया। टेरेपेन्को अर्थ-मन्त्री बना। यह स्वयं एक समृद्ध व्यापारी था, और रूस के पूंजीपतियों का प्रतिनिधि था। विदेश-मन्त्री प्रोफेसर मिल्युकोव को बनाया गया। उसका बहुत-सा समय ब्रिटेन और फ्रांस में व्यतीत हुआ था, और वह विदेशी राजनीति से भली भांति परिचित था। साम्यवादी दल का नेता केरेन्स्की न्याय मन्त्री बनाया गया। यद्यपि क्रान्ति का मुख्य श्रेय भूखे और नंगे मजदूरों को था, पर सम्राट् को राजच्युत करके जो नई सरकार कायम हुई, उसका नेतृत्व कुलीन और मध्य श्रेणी के हाथों में था। मित्रराष्ट्रों ने रूस की इस नई सरकार को तुरन्त स्वीकृत कर लिया। वे जिन आदर्शों के लिये युद्ध कर रहे थे, रूस की स्वेच्छाचारी एकतन्त्र सरकार उनके सर्वथा विपरीत थी। वे अनुभव करते थे, कि उनका एक साथी देश ऐसा है, जहां का शासन जर्मनी और आस्ट्रिया की अपेक्षा भी अधिक पिछड़ा हुआ है। वे इस बात से बहुत प्रसन्न और सन्तुष्ट हुए, कि अब रूस में एक ऐसा शासन कायम हो गया है, जो लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता के आदर्शों के अनुकूल है।

रूस की नई सरकार ने उन हजारों राजनीतिक कैदियों को तुरन्त जेलखाने से मुक्त कर दिया, जो अपने विचारों और आदर्शों के कारण साइबीरिया में कैद थे। पुराने जमाने के पक्षपाती लोगों को कैद किया गया, या देश से बाहर भाग जाने के लिये विवश किया गया। यहूदियों के खिलाफ जो बहुत से कानून थे, उन सबको रद्द कर दिया गया। यह प्रयत्न किया गया, कि सरकारी कर्मचारियों के विकृतिपूर्ण शासन को सुधारा जाय, उनमें रिश्वतखोरी की प्रवृत्ति को दूर किया जाय। यह व्यवस्था की गई, कि शीघ्र ही रूस के लिये एक ऐसे शासन-विधान का निर्माण किया जाय, जिसमें नागरिकों के आधारभूत अधिकारों का प्रतिपादन हो, सबको लिखने, बोलने और अपने विचारों को प्रकट करने की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता हो। राष्ट्रपति विल्सन के विचारों को इस समय रूस में बड़े उत्साह के साथ पढ़ा जाता था। लोग समझते थे, अब उनके देश में नये युग की स्थापना हो रही है। सिपाही, किसान, मजदूर सब इस समय खुश थे।

प्रिंस ल्वोव और प्रोफेसर मिल्युकोव की इच्छा थी, कि रूस युद्ध को जारी रखे। वे कट्टर राष्ट्रवादी थे। विदेशी राजनीति के सम्बन्ध में वे सम्राट् निकोलस

द्वितीय की सरकार के पदचिन्हों पर पूरी तरह चलना चाहते थे। उन्होंने घोषणा की, कि रूस की नई सरकार युद्ध को दुगने उत्साह से चलायगी। मित्रराष्ट्र इससे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने रूस को खूब साधुवाद दिया। पर साम्यवादी लोगों का कहना था, कि युद्ध को जारी रखते हुए रूस में उन बुराइयों को दूर कर सकना सम्भव नहीं है, जो रोमनेव राजवंश की स्वेच्छाचारी सत्ता के परिणाम हैं। देश में लोकतन्त्र शासन तभी भली भांति स्थापित हो सकता है, जब कि युद्ध को बन्द करके सारी ताकत शासन को संभालने में लगा दी जाय।

पंचायती राज का सूत्रपात—जिस समय रूस की सरकार युद्ध जारी रखने या सुलह करने के सवाल पर बहस करने में लगी थी, सारे देश में क्रान्ति हो रही थी। पुरानी नौकरशाही के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह एकदम अपने को नई परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित कर ले। परिणाम यह था, कि सुदूर प्रदेशों में एक प्रकार की अराजकता-सी छा गई थी। केन्द्रीय सामयिक सरकार पुरानी नौकरशाही को अपने अनुकूल नहीं बना सकती थी, और नये कर्मचारी भरती करके सरकार चलाने का न उसे समय था और न सामर्थ्य। इस दशा में सब जगह किसानों और मजदूरों ने अपने संगठन बनाने शुरू कर दिये। पार्लियामेण्ट और प्रान्तीय प्रतिनिधि-सभाओं के पास इस समय कोई ऐसा साधन न था, जिससे वे रूस जैसे विशाल देश की शासन-सत्ता को पूरी तरह संभाल सकतीं। पुरानी नौकरशाही सर्वथा निकम्मी, विकृत और अयोग्य थी। पर रूस में गैरसरकारी तौर पर वे ग्राम-पंचायतें अब तक विद्यमान थीं, जिनमें एकत्र होकर देहात के निवासी अपने काम चलाते थे। ये पंचायतें मुख्यतया जमींदारों के विरुद्ध किसानों की रक्षा करने का काम किया करती थीं। अब जब कि देश में कोई ऐसी सत्ता नहीं रह गई थी, जो शासन के साधारण कार्य को भली-भांति चला सके, और देहातों में शान्ति और व्यवस्था को कायम रख सके, तो इन पंचायतों ने, जिन्हें रूस में मीर कहते थे, जोर पकड़ा। इनका पुनः संगठन हुआ, और इन्होंने सरकार के काम को अपने हाथों में ले लिया। इन पंचायतों में उन साम्यवादियों का जोर था, जिन्हें कम्युनिस्ट या बोल्शेविक कहा जाता था। कम्युनिस्ट लोग भारी संख्या में इन पंचायतों में शामिल हुए और उन्होंने इन्हें अपने प्रभाव में कर लिया। इनका परिणाम यह हुआ, कि रूस में एक बार फिर क्रान्ति हुई। कुलीन और मध्य श्रेणियों के शिक्षित लोग लोकतन्त्रवाद के आदर्शों के अनुसार जिस सामयिक सरकार को सफल बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, वह अपने उद्देश्य में असफल रही।

सामयिक सरकार की विफलता---प्रिंस ल्वोव और उसके साथी चाहते थे, कि रूस में एक संविधान-परिषद् का आयोजन किया जाय, सब बालिग स्त्री-पुरुषों को इसके सदस्य निर्वाचित करने के लिये वोट का अधिकार हो। संविधान-परिषद् देश के लिये एक ऐसा शासन-विधान तैयार करे, जिसके अनुसार मन्त्रिमण्डल पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी रहे। पर उनकी यह सब आकांक्षा दिल की दिल में ही रह गई। इन्हें अपने प्रयत्नों में सफलता नहीं हुई। कारण यह कि (१) युद्ध की परिस्थितियों ने रूस में जो भयंकर भुखमरी पैदा कर दी थी, उससे लोग व्याकुल थे। वे चाहते थे, कि उनके लिये भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध किया जाय। उनके लिये वोट देने के अधिकार का उतना महत्त्व नहीं था, जितना कि खाने के लिये रोटी और पहनने के लिये कपड़ों का था। प्रिंस ल्वोव की सरकार संविधान-परिषद् के लिये योजनाएं तैयार कर रही थी। पर उसके कुलीन और उच्च श्रेणी के लोगों को गरीब किसानों व मजदूरों के लिये रोटी व कपड़े की कोई चिन्ता नहीं थी। बोल्शेविकों ने इस स्थिति से लाभ उठाया और सर्वसाधारण जनता में सामाजिक और आर्थिक संगठन को ही बदल डालने का आन्दोलन खड़ा कर दिया। (२) प्रिंस ल्वोव लड़ाई को जारी रखना चाहता था। मित्रराष्ट्र उसकी पीठ को थपथपा रहे थे। पर रूस की जनता युद्ध से तंग आ चुकी थी। युद्ध के कारण उन्होंने अपार कष्ट उठाया था। जर्मन लोग भी इस प्रचार में लगे थे, कि युद्ध से रशियन जनता का कोई लाभ नहीं है। फौज के सिपाही भी शान्ति चाहते थे। जब प्रिंस ल्वोव ने यह उद्घोषित किया, कि रूस की नई लोकतन्त्र सरकार लड़ाई को जारी रखेगी, तो किसानों और मजदूरों में असन्तोष बहुत बढ़ गया। युद्ध में भी नई सरकार को कोई सफलता नहीं मिली। गेलीसिया पर जो हमला नई सरकार ने किया था, वह बुरी तरह असफल हुआ। इससे प्रिंस ल्वोव के खिलाफ लोकमत इतना प्रबल हो गया, कि उसे त्यागपत्र देने के लिये विवश होना पड़ा। उसकी जगह केरेन्स्की ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया। पर रूस की जनता युद्ध को बन्द करके शान्ति की स्थापना करना चाहती थी। कोई भी सरकार, जो इस समय युद्ध को जारी रखना चाहे, रूस में कामयाब नहीं हो सकती थी। (३) इस समय सेनाओं में युद्ध को बन्द करने की उत्कट अभिलाषा पैदा हो गई थी। ये अपनी सरकार के विरुद्ध बगावत तक करने के लिये तैयार थीं, और इस बात के लिये तुली हुई थीं, कि वे लड़ाई में हिस्सा न लेंगी। जिस तरह की पंचायतें देहातों में किसानों ने और कारखानों में मजदूरों ने बनाई थीं, वैसे ही सेना में सिपाहियों ने बना लीं।

ये पंचायतें, जिन्हें अब सोवियत कहते थे, अपनी केन्द्रीय कान्फरेन्स करके यह मांग कर रही थीं, कि युद्ध को बन्द कर दिया जाय। इसके कारण रूस की सरकार की लोकप्रियता नष्ट होती जाती थी, और यह साफ नजर आने लगा था कि देश में जो क्रान्ति की लहर शुरू हुई थी, वह अभी और बहुत कुछ करेगी। क्रान्ति का अभी तो श्रीगणेश ही हुआ है, उसे अभी बहुत कुछ आगे बढ़ना है।

सोवियतों का संगठन---रूस की वास्तविक राज्यशक्ति अब सोवियतों के हाथ में आ रही थी। देहातों में किसानों की, कारखानों में मजदूरों की और सेना में सिपाहियों की सोवियतों का संगठन बड़ी तेजी के साथ हो रहा था। तीनों तरह की सोवियतें अपना-अपना केन्द्रीय संगठन बना रही थीं। मई, १९१७ में इन सोवियतों की एक अखिल रशियन कांग्रेस का अधिवेशन मास्को में हुआ। इसमें उन्होंने यह खुले शब्दों में घोषित किया, कि हम केवल राजनीतिक क्रान्ति से ही सन्तुष्ट नहीं हैं, हम साथ ही सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति भी चाहते हैं। युद्ध के सम्बन्ध में उन्होंने मित्रराष्ट्रों के सम्मुख वे शर्तें पेश कीं, जिनके माने जाने पर वे युद्ध को जारी रखने के लिये तैयार थीं।

प्रिंस ल्वोव का पतन और केरेन्स्की की नई सरकार---इस कांग्रेस का ही यह परिणाम हुआ था, कि प्रिंस ल्वोव तथा उसके अमीर साथियों को त्याग-पत्र देने के लिये विवश होना पड़ा। सामयिक सरकार का पुनः संगठन हुआ और केरेन्स्की प्रधान मन्त्री के पद पर अधिष्ठित हुआ। अखिल रशियन सोवियत कांग्रेस की देश के शासन-विधान में कोई स्थिति नहीं थी, पर वास्तविक शक्ति अब उसके हाथ में आती जाती थी। केरेन्स्की इसलिये प्रधान मन्त्री बना था, क्योंकि प्रिंस ल्वोव को सोवियत कांग्रेस पसन्द नहीं करती थी। जब सोवियत कांग्रेस में बोल्शेविकों का बहुमत हो गया, और सोवियत के सदस्य इस बात के लिये कटिबद्ध हो गये, कि उन्हें आर्थिक क्रान्ति करनी है, तो केरेन्स्की को अपना पद त्यागना पड़ा और सरकार बोल्शेविकों के हाथ में चली गई।

राज्यक्रान्ति के समय जनता को जो आशायें थीं, वे अलग-अलग तरह की थीं। सिपाही क्रान्ति से यह आशा करते थे, कि अब युद्ध की समाप्ति हो जायगी, और वे चैन से अपने घरों में बैठ सकेंगे। मजदूर समझते थे, कि अब कारखानों पर उनका कब्जा हो जायगा। किसानों का खयाल था, कि अब ज़मीनें उनकी अपनी हो जायंगी। रूस के किसान बहुत दुर्दशाग्रस्त थे। पहले उनकी स्थिति अर्द्ध-दासों की थी। अब यह दशा तो सुधर गई थी, पर जमींदार उनसे लगान और अन्य रूपों में उपज का इतना हिस्सा ले लेते थे, कि किसानों के पास

खाने के लिये कठिनता से बच रहता था। किसान लोग क्रान्ति से यही आशा करते थे, कि उनकी स्थिति में भी सुधार होगा। पर सिपाही, मजदूर व किसान-किसी की भी आशा क्रान्ति से पूरी नहीं हुई। सबमें असन्तोष बढ़ने लगा। सिपाही खुल्लमखुल्ला विद्रोह करने लगे, उन्होंने लड़ने से इनकार करना शुरू कर दिया, और पूरी की पूरी पलटनें हथियार डालकर रणक्षेत्र से वापस लौटने लगीं। रूस जैसे विशाल देश में किसी एक जाति का निवास नहीं था। वहां बहुत-सी नसलों के, बहुत-सी भाषाएं बोलनेवाले और बहुत-सी विभिन्न संस्कृतियों का अनुसरण करनेवाले लोग निवास करते थे। अब तक ये एक राज्य के अंग थे, क्योंकि उन पर एक सम्राट् का शासन था, और एक नौकरशाही उन पर लौहहस्त से शासन करती थी। अब जब केन्द्रीय सरकार कमजोर हुई, विद्रोह और अव्यवस्था की प्रवृत्तियां जोर पकड़ने लगीं, तो इन जातियों में भी गदर की भावना उत्पन्न हुई। सब अपना-अपना पृथक् राज्य बनाने का फिकर करने लगीं। राष्ट्रीयता की भावना उनमें एकता उत्पन्न नहीं कर सकती थी, क्योंकि रूस की विभिन्न जातियां राष्ट्रीय दृष्टि से एक नहीं थीं। पर एक विचारधारा और एक प्रकार का आर्थिक संगठन उनमें एकता उत्पन्न कर सकते थे। बोल्शेविक लोगों के पास यह नई विचारधारा विद्यमान थी। पुराने किस्म के लोकतन्त्र शासन को स्थापित करने के प्रयत्न में केरेन्स्की की सामयिक सरकार एकदम असफल हो रही थी।

केरेन्स्की का पतन---इसी बीच में जर्मन सेनायें रूस की सेनाओं को परास्त करती हुई निरन्तर आगे बढ़ रही थीं। सेनाओं में असन्तोष बढ़ता जाता था। सोवियत बोल्शेविकों के प्रभाव में आते जाते थे। पर केरेन्स्की जर्मनी के साथ पृथक् रूप से सन्धि करके युद्ध का अन्त कर देने के लिये उद्यत नहीं था। वह पूरी तरह फ्रांस और ब्रिटेन के प्रभाव में था, और जर्मनी के खिलाफ एक नये हमले की योजना तैयार कर रहा था। रशियन जनता इसे सहन नहीं कर सकी। आखिर, ७ नवम्बर, १९१७ को उसे प्रधान मन्त्री के पद का त्याग करने के लिये विवश होना पड़ा। सामयिक सरकार का अन्त हो गया, और राजशक्ति बोल्शेविक दल के हाथों में चली गई। रूस में लोकतन्त्र शासन स्थापित करने का जो प्रयत्न हुआ था, वह कुछ ही महीनों में असफल होकर समाप्त होगया।

४. बोल्शेविक पार्टी

कम्युनिज्म का प्रारम्भ---कार्ल मार्क्स ने जर्मनी में साम्यवाद के जिस सिद्धान्त

रूसी गणतन्त्र का नेता लेनिन

का प्रतिपादन किया था, उसका रूस में पहलेपहल प्रवेश सन् १८८३ में हुआ। रूस का पहला साम्यवादी प्लेखनोव था। उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह रोमनोव राजवंश के स्वेच्छाचारी शासन में अपने सिद्धान्तों का खुले तौर पर प्रचार कर सके। विवश होकर उसे स्विट्जरलैण्ड में शरण लेनी पड़ी, और जिनीवा में उसने एक आन्दोलन का प्रारम्भ किया, जिसे 'मजदूरों की मुक्ति' का आन्दोलन कहते हैं। कार्ल मार्क्स के विचारों का प्रचार करने के लिये प्लेखनोव और उसके अनुयायियों ने बड़ा काम किया। मार्क्स और एंजल्स के ग्रन्थों का उन्होंने रशियन भाषा में अनुवाद किया। ये अनुवाद स्विट्जरलैण्ड में प्रकाशित हुए, और गुप्त रीति से उन्हें रूस में पहुंचाया गया। प्लेखनोव ने स्वयं भी अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें मार्क्स के सिद्धान्तों का विशदरूप से प्रतिपादन किया गया था। मार्क्स का मत था, कि साम्यवाद की स्थापना केवल स्वप्न की बात नहीं है। वह एक यथार्थ सत्य है। व्यावसायिक क्रान्ति और पूंजीवाद का यह परिणाम अवश्यम्भावी है, कि मजदूर श्रेणी में जागृति उत्पन्न हो। वे यह समझने लगें, कि उनके हित पूंजीपतियों के हितों से सर्वथा भिन्न हैं। पूंजीपति श्रमियों के श्रम से उत्पन्न सम्पत्ति का लाभ स्वयं प्राप्त करते हैं, और श्रमियों को कुछ नहीं देना चाहते। जिस प्रकार ऐतिहासिक विकास के कारण राजाओं के एकतन्त्र अधिकारों का अन्त हो गया और जमींदारों और कुलीनों के चंगुल से दास लोग मुक्त हो गये, इसी प्रकार वह समय आना अवश्यम्भावी है, जब कि पूंजीवाद का अन्त हो जायगा, व्यवसाय श्रमियों के हाथ में आ जायंगे, उत्पत्ति के साधनों पर समाज का स्वत्व स्थापित हो जायगा, और पूंजीपति श्रेणी की समाप्ति होकर आर्थिक उत्पत्ति मजदूर श्रेणी के अधिकार में आ जायगी। प्लेखनोव और उसके साथी इन्हीं विचारों का प्रचार करने का प्रयत्न कर रहे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि शहरों की जागृत मजदूर जनता उनके विचारों को ध्यान से सुनती थी, और उन्हें अपने लिये हितकर समझती थी। रूस में व्यावसायिक क्रान्ति हो रही थी। उसके कारण शहरों में मजदूर श्रेणी बड़ी संख्या में विकसित होने लग गई थी। प्लेखनोव समझता था, कि यही श्रेणी किसी समय रूस में क्रान्ति का श्रीगणेश कर सकती है। इस समय वह उसके विचारों को बदलने के प्रयत्न में लगा था। वह जानता था, कि क्रान्ति के लिये पहले विचारों में परिवर्तन आवश्यक है। पर प्लेखनोव और उसके अनुयायी मजदूरों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ नहीं हुए थे। उनका मुख्य कार्य पढ़ेलिखे लोगों में था, जो सामाजिक

और आर्थिक प्रश्नों पर विचार करते थे। मजदूरों की मुक्ति-सभा ने रूस में अनेक ऐसे अध्ययन-केन्द्र कायम किये, जहां मार्क्स के विचारों पर बहस होती थी, जहां नवयुवकों को साम्यवाद के साथ सम्पर्क में आने का अवसर मिलता था। इसमें सन्देह नहीं, कि प्लेखनोव ने रूस में मजदूर-आन्दोलन और बोल्शेविक क्रान्ति के लिये मैदान तैयार करने के लिये बड़ा काम किया।

लेनिन का कार्य—पर मार्क्स के सिद्धान्तों को सर्व साधारण मजदूर लोगों में फैलाने और उन्हें कार्य में परिणत करने का प्रधान श्रेय लेनिन को है। वस्तुत: लेनिन ही कम्युनिज्म या बोल्शेविज्म का प्रवर्तक था। उसका जन्म सन् १८७० में सिम्बिर्स्क नामक नगर में हुआ था। १८८७ में वह काजन यूनिवर्सिटी में दाखिल हुआ। उसके विचार शुरू से ही क्रान्तिकारी थे। विद्यार्थियों में जो क्रान्तिकारी आन्दोलन चल रहे थे, लेनिन उनमें प्रमुख भाग लेता था। काजन में मार्क्स के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिये एक केन्द्र पहले से ही विद्यमान था। लेनिन ने उसमें हिस्सा लेना शुरू किया। परिणाम यह हुआ, कि उसे काजन यूनिवर्सिटी से निकाल दिया गया। पर वहां रहते हुए उसने मार्क्स के विचारों का भलीभांति अनुशीलन कर लिया था, और वह साम्यवाद का पक्का अनुयायी हो गया था। काजन से लेनिन समरा नामक नगर में गया, और वहां उसने स्वयं एक अध्ययनकेन्द्र की स्थापना की। १८९३ में लेनिन सेण्ट पीटर्सबर्ग पहुंच गया। वहां मार्क्स के अनेक अनुयायी पहले से ही विद्यमान थे। पर लेनिन साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन इतनी अच्छी तरह करता था, और उसे मजदूर श्रेणी की अवश्यम्भावी विजय पर इतना जबर्दस्त विश्वास था, कि वह शीघ्र ही सेण्ट पीटर्सबर्ग के साम्यवादियों का प्रधान नेता बन गया। १८९५ में लेनिन ने सेण्ट पीटर्सबर्ग के सब साम्यवादियों को एकत्र करके एक नया संगठन बनाया, जिसका नाम रखा गया—'मजदूर श्रेणी की मुक्ति के लिये संघर्ष करने का संघ'। इस संघर्ष-संघ के सम्मुख लेनिन ने यह विचार रखा, कि हमें केवल प्रचार का कार्य ही नहीं करना चाहिये, अपितु मजदूरों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने और राजनीतिक आन्दोलन शुरू करने का भी यत्न करना चाहिये। मजदूर लोग अपनी शिकायतों को दूर करने के लिये जो हड़तालें करते हैं या अन्य आन्दोलन करते हैं, उन सबका प्रयोग हमें अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिये करना चाहिये। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में रूस में कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या लाखों में पहुंच चुकी थी, और ये लोग समय-समय पर हड़तालें भी करते रहते थे। काम करने का समय नियन्त्रित हो, मजदूरी की

कम से कम दर सरकार की तरफ से निश्चित की जाय और मजदूरों के निवास आदि की समुचित व्यवस्था की जाय—इस प्रकार की बातों को लेकर मजदूर लोग समय-समय पर आन्दोलन करते रहते थे। लेनिन कहता था, कि इन आन्दोलनों का सहारा लेकर मजदूरों का संगठन इस दृष्टि से किया जाना चाहिये, कि समय आने पर वे सारे व्यवसाय और कल-कारखानों पर कब्जा कर सकें। इसीलिये जब सेण्ट पीटर्सबर्ग के किसी करखाने में हड़ताल होती थी, तो लेनिन के संघर्ष-संघ की ओर से मजदूरों में खूब प्रचार किया जाता था, और अनेक पुस्तिकाएं प्रकाशित की जाती थीं, जिनमें साम्यवाद के सिद्धान्तों का सुचारुरूप से प्रतिपादन किया जाता था। संघर्ष-संघ की ओर से स्वयं भी कई हड़तालों का आयोजन किया गया, और धीरे-धीरे यह संघ सेण्ट पीटर्सबर्ग के मजदूरों की प्रधान संस्था बन गई।

सोशल डेमोक्रेट पार्टी—कुछ समय बाद अन्य बड़े नगरों और व्यावसायिक केन्द्रों में भी सेण्ट पीटर्सबर्ग के संघर्ष-संघ के अनुकरण में संघ कायम किये गये, और इन साम्यवादी संस्थाओं का एक जाल-सा सारे रूस में बिछ गया। रूस में एक नई पार्टी का संगठन हो गया, जिसे सोशल डेमोक्रेट पार्टी कहा जाता था। लेनिन इसका प्रधान नेता था। उसके बढ़ते हुए प्रभाव को सरकार नहीं सह सकी। दिसम्बर, १८९५ में उसे अपने प्रमुख साथियों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। पर सेण्ट पीटर्सबर्ग के संघर्ष-संघ और सोशल डेमोक्रेट पार्टी का काम जारी रहा, और मजदूर-आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ता गया। कुछ समय तक सेण्ट पीटर्सबर्ग की जेल में रखकर लेनिन को बाद में साइबेरिया भेज दिया गया। वहां भी उसने अपने काम को जारी रखा, और वह गुप्त रूप से रूस के अपने अनुयायियों से पत्र-व्यवहार आदि करता रहा। १९०० में लेनिन को साइबेरिया से मुक्ति मिली। रूस लौटकर लेनिन ने अनुभव किया, कि देश भर के साम्यवादियों में परस्पर सम्बन्ध बनायें रखने के लिये एक समाचार-पत्र की परम आवश्यकता है। पर रोमनेव राजवंश के शासन में यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था, कि लेनिन इस प्रकार के समाचारपत्र को शुरू कर सके। इसके लिये वह स्विट्जरलैण्ड गया, और वहां प्लेखनोव के सहयोग से इस्क्रा नाम के पत्र का प्रारम्भ किया गया। यह पत्र जिनीवा से प्रकाशित होता था, और गुप्त रूप से रूस में पहुंचाया जाता था। इस्क्रा के प्रथक अंक के प्रथम पृष्ठ पर यह लेख अंकित था—'यह एक चिनगारी है, जो एक दिन भयंकर ज्वाला का रूप धारण कर लेगी।' इसमें

सन्देह नहीं, कि लेनिन का इस्क्रा इसी प्रकार की एक चिनगारी थी।

बोलशेविक पार्टी का प्रादुर्भाव---इस्क्रा के कारण रूस के साम्यवादियों को एक सूत्र में संगठित होने में बड़ी मदद मिली। धीरे-धीरे वे सब सोशल डेमोक्रेट पार्टी में सम्मिलित हो गये, और यह पार्टी मजदूरों में बहुत लोकप्रिय हो गई। १९०३ में सोशल डेमोक्रेट पार्टी की एक कांग्रेस संगठित की गई, जिसमें पार्टी के उद्देश्य और नियम तैयार किये गये। पर इस समय पार्टी में मतभेद प्रकट होने लगे थे। इन मतभेदों के कारण लेनिन की सोशल डेमोक्रेट पार्टी के अन्दर दो नई पार्टियां बनने लग गई (१) मेन्शेविक पार्टी---यह मार्क्स के साम्यवादी सिद्धान्तों पर तो विश्वास करती थी, पर इसका खयाल यह था, कि उन्हें क्रिया में परिणत करने के लिये क्रान्तिकारी उपाय अनिवार्य नहीं हैं। मजदूरों में शिक्षा के प्रसार और धीरे-धीरे सुधारों द्वारा भी साम्यवाद की स्थापना की जा सकती है। (२) बोलशेविक पार्टी---इसका खयाल था, कि क्रान्तिकारी उपायों के बिना मार्क्स के सिद्धान्तों को क्रिया में परिणत नहीं किया जा सकता। मजदूर लोग तभी अपनी असली स्थिति प्राप्त कर सकते हैं, जब कि राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक--सब क्षेत्रों में क्रान्ति हो। इस क्रान्ति के लिये यदि हिंसा और हत्या के उपायों का भी प्रयोग किया जाय, तो भी कोई हानि नहीं।

१९०५ में जब रूस में क्रान्ति की लहर आई, तो बोलशेविक लोगों का खयाल था, कि रोमनेव वंश के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त करने का यह अच्छा अवसर है। वे चाहते थे, कि इस समय मजदूर लोग हथियार लेकर उठ खड़े हों, और पुराने जमाने का अन्त कर नवयुग की सृष्टि करें। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। १९०५ की क्रान्ति की लहर का केवल इतना फल हुआ, कि रूस में भी पार्लियामेण्ट की स्थापना हो गई, और आंशिक रूप से वैध राजसत्ता का प्रारम्भ हुआ।

धीरे-धीरे मेन्शेविक और बोलशेविक लोगों में मतभेद बढ़ते गये। यद्यपि अभी ये दोनों दल सोशल डेमोक्रेट पार्टी की कांग्रेस में एक साथ सम्मिलित होते थे, पर यह निरन्तर स्पष्ट होता जाता था, कि कार्ल मार्क्स के अनुयायी होते हुए भी उनमें इतना अधिक मतभेद है, कि उनका एक साथ काम कर सकना असम्भव है। आखिर, प्राग में १९१२ में रशियन सोशल डेमोक्रेट पार्टी का एक महत्त्वपूर्ण अधिवेशन हुआ। इसमें मेन्शेविक दल को पार्टी से बहिष्कृत कर दिया गया, और बोलशेविक दल का पृथक् रूप से संगठन किया। इस दल का प्रधान नेता लेनिन था। वह पुराने जमाने से किसी भी प्रकार का समझौता करने के

लिये तैयार नहीं था। उसके बोल्शेविक अनुयायी मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार किसान-मजदूर श्रेणियों का आधिपत्य स्थापित करने के लिये कटिबद्ध थे। मन्शेविकों का बहिष्कार कर देने के बाद इस दल में कोई भी ऐसे लोग नहीं रह गये, जो किसी भी प्रकार से सुधारवादी हों, या धीरे-धीरे उन्नति व परिवर्तन के पक्षपाती हों। लेनिन का यह बोल्शेविक दल आमूलचूल क्रान्तिकारी था।

महायुद्ध के समय में लेनिन रूस के बाहर रहता हुआ अपने विचारों का प्रचार करता रहा। वह युद्ध को पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का परिणाम कहता था। उसके अनुसार मजदूरों और सर्वसाधारण जनता को युद्ध से कोई लाभ नहीं था। वह यही प्रतिपादित करता था, कि रूस के मजदूरों को सरकार के खिलाफ गदर करके सब शक्ति अपने हाथ में ले लेनी चाहिये, और युद्ध को बन्द कर देना चाहिये।

राज्यक्रान्ति और लेनिन—मार्च, १९१७ में जब रूस में पहली राज्यक्रान्ति हुई, तो लेनिन ज्यूरिच में था। अपने एक मित्र से उसे क्रान्ति का समाचार मिला। वह खुशी के मारे उछल पड़ा, और तुरन्त बाजार में निकल आया। वहां उसने ताजा समाचारपत्र खरीदा, पर उससे भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। ज्यूरिच की झील के किनारे एक बड़ा बोर्ड था, जिस पर ताजे समाचारों के बुलेटिन चिपका दिये जाते थे। लेनिन वहां गया, एक बुलेटिन में निम्नलिखित पंक्तियां थीं—"पार्लियामेण्ट के बारह सदस्यों की एक कमेटी इस समय सरकार का संचालन कर रही है। सम्राट् के सब मन्त्री गिरफ्तार करके जेल में डाल दिये गये हैं। रूस की सरकार उन सब लोगों को देश वापस आने का निमन्त्रण देती है, जिन्होंने देश के लिये कष्ट उठाया है, जो अब जेलों में हैं या देश से बहिष्कृत हैं।" अब लेनिन के सामने केवल एक विचार था, वह कैसे जल्दी से जल्दी रूस को वापस लौट जाय। लेनिन का प्रसिद्ध साथी और प्रतिस्पर्धी ट्राटस्की इस समय अमेरिका में था। उसे भी यही चिन्ता थी, कि कैसे शीघ्र से शीघ्र रूस पहुंचा जाय। ट्राटस्की लेनिन के समान ही बोल्शेविक था, और सोशल डेमोक्रेट पार्टी की कांग्रेस में उसका भी बहुत उच्च स्थान था। पर लेनिन के सम्मुख सवाल यह था, कि रूस पहुंचा कैसे जाय? स्विट्जरलैण्ड से रूस जाने के लिये दो ही रास्ते थे, या तो जर्मनी होकर और या फ्रांस, इङ्गलैण्ड, हालैण्ड और स्केण्डेनेविया होकर। जर्मनी का रूस से युद्ध जारी था। वहां से होकर जाना असम्भव था। मित्रराष्ट्रों के प्रदेश से होकर जाना सम्भव था, पर लेनिन युद्ध का विरोधी और शान्ति का पक्षपाती था। रूस की नई सरकार युद्ध को जारी रखने के पक्ष में थी। मित्रराष्ट्रों

की खुफिया पुलीस युद्ध के विरोधी लेनिन को रूस वापस जाने देगी, इस बात में बहुत सन्देह था। आखिर, लेनिन ने यह विचार किया, कि जर्मन सरकार उसे रूस वापस लौटने में सहायता कर सकती है, क्योंकि जर्मनी का हित रूस को युद्ध से पृथक् कर देने में ही है। उसने जर्मन सरकार से बातचीत शुरू की, और रूस लौटने का इन्तजाम कर लिया। अपने २९ साथियों के साथ लेनिन जर्मन रेलगाड़ी पर सवार हुआ, और बर्लिन से कोपनहागन, स्वीडन और फिनलैण्ड होता हुआ पेट्रोग्राड पहुंच गया।

रूस में राज्यक्रान्ति हुए अभी केवल एक मास हुआ था। रूस में विद्यमान बोल्शेविक पार्टी के लोग सामयिक सरकार के साथ सहयोग कर रहे थे। पर लेनिन के आते ही परिस्थिति में परिवर्तन आ गया। लेनिन ने घोषणा की, कि लोग चाहते हैं रोटी, लोग चाहते हैं खेत, और लोग चाहते हैं शान्ति। पर सामयिक सरकार शान्ति की जगह लड़ाई, रोटी की जगह भूख और किसानों को खेत देने की जगह जमींदारों को खेत दे रही है। लेनिन के आने से बोल्शेविक दल में नई जान आ गई। उन्होंने सामयिक सरकार के साथ सहयोग करना बन्द कर किसानों, मजदूरों और सिपाहियों की सोवियतों में काम करना शुरू कर दिया। यद्यपि इन सोवियतों की सरकार में कोई सत्ता नहीं थी, देश के शासन-विधान में इनका कोई स्थान न था, पर लेनिन भली भांति समझता था, कि इन सोवियतों द्वारा ही सर्वसाधारण जनता राजसत्ता को अपने हाथों में ले सकती है, और वह समय दूर नहीं है, जब इन सोवियतों द्वारा साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना की जा सकेगी। लेनिन और उसके साथियों ने इन सोवियतों द्वारा निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन व आन्दोलन प्रारम्भ किया—(१) बड़ी-बड़ी जमींदारियों को तुरन्त जब्त कर लिया जाय। (२) व्यवसायों पर राज्य का नियन्त्रण कायम किया जाय। (३) रूस के राष्ट्रीय ऋण को गैरकानूनी घोषित कर दिया जाय। सरकार इस ऋण की अदायगी से इनकार कर दे। (४) कारखानों का संचालन मजदूर-सभायें करें। (५) रोमनेव राजवंश के सम्राटों ने जो भी विदेशी सन्धियां व समझौते किये थे, उन सबको तुरन्त रद्द कर दिया जाय। (६) युद्ध को तुरन्त बन्द करके शान्ति स्थापित कर दी जाय। (७) वोट का अधिकार केवल सर्वसाधारण जनता को हो। पूंजीपतियों व अन्य धनिक लोगों को वोट का अधिकार न दिया जाय।

रूस आने के बाद लेनिन अपना कार्य बड़ी तेजी के साथ कर रहा था। एप्रिल, १९१७ में उसने एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें बोल्शेविक पार्टी के

मन्तव्यों और कार्यक्रम का बड़े विशद रूप से प्रतिपादन किया गया था। ७ मार्च को उसने बोल्शेविक पार्टी की एक कान्फरेन्स सेण्ट पीटर्सबर्ग में बुलाई। इस समय तक बोल्शेविक पार्टी के बाकायदा सदस्यों की संख्या अस्सी हजार से ऊपर हो चुकी थी। कहने को तो यह बोल्शेविक पार्टी की सातवीं कान्फरेन्स थी, पर कानून से विहित खुले तौर पर हुई यह पहली ही कान्फरेन्स थी। इससे पहले की कान्फरेन्सें या तो विदेशों में हुई थीं या रूस में गुप्त रूप से की गई थीं। अब लेनिन की बोल्शेविक पार्टी खुले तौर पर मैदान में आ गई थी।

५. बोल्शेविक क्रान्ति

लेनिन का विचार था, कि बोल्शेविक क्रान्ति के लिये उपयुक्त समय अब आ गया है। अतः उसने अब अपना कार्य बड़ी तत्परता से साथ शुरू कर दिया। वह कहता था—हमें रूस के लिये न पार्लियामेण्टरी रिपब्लिक की आवश्यकता है, और न शिक्षित मध्यश्रेणी के लोकतन्त्र शासन की। हमें केवल एक सरकार चाहिये, वह है किसानों, मजदूरों और सिपाहियों की सोवियतों के प्रतिनिधियों की। पहली राज्यक्रान्ति ने राजशक्ति को सम्राट्, दरबारी और कुलीन लोगों के हाथ से छीनकर मध्यश्रेणी के हाथों में दे दिया है। अब समय आ गया है, कि राजशक्ति मध्यश्रेणी के हाथ से निकलकर सर्वसाधारण जनता, किसानों और मजदूरों के हाथ में आ जाय। राज्यक्रान्ति को पूर्ण करने के लिये यह आवश्यक है, कि आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति भी हो, और पूंजीपतियों व जमींदारों का वैसे ही विनाश हो, जैसे कि सम्राट् निकोलस व उसके रोमनेव राजवंश का हुआ है। लेनिन के अपने अनेक साथी उसके विचारों को अत्यधिक उग्र समझते थे। उनका खयाल था, लेनिन बहुत जल्दबाजी कर रहा है। रूस जैसे पिछड़े हुए देश में एकदम साम्यवादी समाज का निर्माण क्रियात्मक नहीं है। पर लेनिन चट्टान की तरह अपने विचारों पर दृढ़ था। उसका विश्वास था, कि यह समय क्रान्ति को पूर्ण करने के लिये उपयुक्त है। वह भलीभांति समझता था, कि रूस में मजदूरों की संख्या व शक्ति इतनी नहीं है, कि वे अकेले मध्यश्रेणी के हाथ से राजसत्ता को छीन सकें। रूस की जनता देहातों में निवास करती थी। देहात के किसानों के लिये एक ही समस्या थी, खेतों पर कैसे उनका अपना अधिकार हो। यही उनके लिये स्वराज्य था और यही क्रान्ति। लेनिन ने कहा—खेतों पर किसानों का अधिकार होना चाहिये। किसान उसके साथ हो गये। सामयिक

सरकार का संचालन जो लोग कर रहे थे, उनकी यह भारी भूल थी, कि उन्होंने देहातों के करोड़ों किसानों को सन्तुष्ट करने के लिये कोई काम नहीं किया। यदि वे किसानों को खुश करके उन्हें अपने पक्ष में कर लेते, तो सम्भवतः रूस में बोल्शेविक क्रान्ति सफल न हो सकती। लेनिन बड़ा दूरदर्शी और चतुर राजनीतिज्ञ था। उसकी सफलता का मूल कारण यही था, कि उसने मजदूरों, किसानों और सिपाहियों को मिलाकर एक मोर्चा कायम किया और इसी लिये वह सामयिक सरकार को पदच्युत करके दूसरी राज्यक्रान्ति में सफलता प्राप्त कर सका। बोल्शेविक पार्टी के सदस्यों की संख्या बहुत नहीं थी। उनके पास रुपये की भी कमी थी, पर उसका प्रचार-कार्य गजब का था। 'युद्ध का अन्त हो, खेत किसानों को मिलें और गरीबों को रोटी प्राप्त हो', ये नारे जादू का सा असर रखते थे। उसका प्रोपेगेन्डा गजब कर रहा था। उसके विचार आम जनता में घुस गये थे। कारखानों और खेतों में, सेनाओं और दफ्तरों में —सब जगह उसके एजण्ट काम कर रहे थे। बोल्शेविक लोग सरकार के विरुद्ध जहर उगलते थे और विश्वास के साथ कहते थे, कि उनके शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद रशियन जनता की सब समस्यायें हल हो जायंगी, लोगों को खाने को रोटी और पहनने को कपड़ा मिलने लगेगा। इस समय सामयिक सरकार अपने प्रयत्नों में सर्वथा असफल हो रही थी। कारखानों में इसलिये काम नहीं था, क्योंकि कच्चे माल का अभाव था। सेनायें इसलिये तकलीफ में थीं, क्योंकि उनके पास न लड़ने को हथियार थे और न ठण्ड से बचने के लिये कपड़ा। रेल, मोटर आदि आने-जाने के सब साधन अस्तव्यस्त हो गये थे।

बोल्शेविकों ने इस स्थिति से फायदा उठाया। पहले उन्होंने जुलाई, १९१७ में क्रान्ति के लिये उद्योग किया। बोल्शेविक स्वयंसेवक हथियार लेकर बाजार में आगये। पर सरकार ने इस विद्रोह को सुगमता से दबा दिया। बहुत-से बोल्शेविक नेता और कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिये गये। लेनिन के रूस पहुंचने के कुछ दिन बाद ट्राटस्की भी स्वदेश वापस लौट आया था। वह भी गिरफ्तार हुआ। लेनिन ने छिपकर अपने को गिरफ्तार होने से बचाया। बोल्शेविक विद्रोह की असफलता से सामयिक सरकार की शक्ति बढ़ गई। बोल्शेविक पार्टी को गैरकानूनी उद्घोषित कर दिया गया, और कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा, कि रूस में भी लोकतन्त्र शासन को सफलता प्राप्त हो जायगी और बोल्शेविक लोग अपने उद्देश्य में सफल नहीं होने पावेंगे। मित्रराष्ट्र इससे बहुत प्रसन्न थे।

पर बोल्शेविक विद्रोह की विफलता का एक और परिणाम हुआ, जिसका केरेन्स्की और उसकी सरकार को स्वप्न में भी खयाल न था। रूस में अभी ऐसे लोग विद्यमान थे, जो रोमनव वंश के पुराने जमाने के पक्षपाती थे। विशेषतया सेना के अनेक बड़े अफसर फिर से अपनी सत्ता और शक्ति को स्थापित करने के लिये उत्सुक थे। जब उन्होंने देखा, कि उग्र क्रान्तिकारी बिलकुल दब गये हैं, तो उन्होंने पुराने जमाने की पुन: स्थापना के लिये विद्रोह किया, और जनरल कार्निलोव, जो कि रूस की सेनाओं का प्रधान सेनापति था—के नेतृत्व में सामयिक सरकार की सत्ता का अन्त करने के लिये गदर प्रारम्भ हो गया। पर सैनिक अफसरों की यह साजिश सफल नहीं हो सकी। शीघ्र ही इस विद्रोह को दबा दिया गया। पर इस विद्रोह के दो महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए—(१) जनता इससे बहुत चिन्तित हो गई। उसने अनुभव किया, कि अभी रूस में ऐसी शक्तियां मौजूद हैं, जो क्रान्ति को विफल कर सकती हैं, और फिर से एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना के लिये उद्योग कर सकती हैं। इससे उनके विचार अधिक उग्र हो गये, और उनकी बोल्शेविकों के साथ सहानुभूति पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गई। (२) केरेन्स्की की सरकार ने अनुभव किया, कि क्रान्ति की विरोधी भावनाओं का मुकाबला करने के लिये उग्र क्रान्तिकारियों का सहयोग प्राप्त रखना उपयोगी है। इसलिये उसने बोल्शेविक पार्टी पर से प्रतिबन्ध हटा दिये। ट्राटस्की आदि नेताओं को जेल से मुक्त कर दिया गया। लेनिन आदि छिपे हुए नेता फिर से प्रकाश में आ गये।

अब बोल्शेविकों ने फिर अपना काम शुरू किया। अब उनका प्रयत्न यह था, कि किसानों, मजदूरों और सिपाहियों की सोवियतों पर कब्जा कर लिया जाय, और ऐसे लोग इन सोवियतों में निर्वाचित हों, जो बोल्शेविक पार्टी के सदस्य हों। इस प्रयत्न में उन्हें सफलता हुई, और पेट्रोग्राड और मास्को की सर्वप्रधान सोवियतों पर उनका कब्जा हो गया। ट्राटस्की पेट्रोग्राड की सोवियत का अध्यक्ष चुना गया। लेनिन समझता था, कि अब समुचित अवसर आ गया है, और बोल्शेविकों को शक्ति प्राप्त करने का पुन: उद्योग करना चाहिये। लेनिन के अनेक साथी कहते थे, अभी रूस बोल्शेविक क्रान्ति के लिये तैयार नहीं है। पेट्रोग्राड और मास्को जैसे बड़े शहरों और व्यावसायिक केन्द्रों की सोवियतों पर कब्जा कर लेने से यह नहीं समझा जा सकता, कि रूस जैसे विशाल देश में सब जगह जनता बोल्शेविकों के साथ है; विशेषतया, देहातों के किसान किसका साथ देंगे, यह सर्वथा अनिश्चित है। पर लेनिन

कहता था---हम चाहते हैं, कि जमीन जमींदारों के हाथ से छिन जाय, किसान खेतों पर अधिकार कर लें। यह कैसे सम्भव है, कि किसान हमारा साथ न दें। आखिर, बोल्शेविक पार्टी ने अपने नेता की बात मान ली, वे दूसरी बार क्रान्ति के लिये उद्यत हो गये। इस क्रान्ति की योजना को ट्राटस्की ने तैयार किया था। पेट्रोग्राड की शक्तिशाली सोवियत के अध्यक्ष की हैसियत से वह क्रान्ति का नेतृत्व कर रहा था।

इस समय बोल्शेविक पार्टी की स्वयंसेवक सेना में २५ हजार के लगभग स्वयंसेवक थे। ये सब हथियार बांधते थे और अपने आदर्शों के लिये बड़े से बड़ा त्याग करने के लिये तैयार थे। यदि सामयिक सरकार चाहती, तो इनको सुगमता से काबू में रख सकती थी। पर इस स्वयंसेवक सेना को दबाने का एकमात्र उपाय सेना थी। पर सेना किस ओर है, यह बात बहुत सन्दिग्ध थी। सेना में बोल्शेविक लोगों के अनुयायियों की संख्या कम न थी। पेट्रोग्राड में स्थापित सेना जहां स्वयं बोल्शेविक विचारों की थी, वहां उसे यह भी आशंका थी, कि कहीं उसे लड़ाई में अगले मोरचे पर न भेज दिया जाय। वह बोल्शेविकों के साथ मिल गई, और इस कारण केरेन्स्की की सामयिक सरकार सर्वथा असहाय हो गई। ७ नवम्बर, १९१७ को प्रातःकाल दो बजे बोल्शेविक स्वयंसेवकों ने पेट्रोग्राड के रेलवे स्टेशन, पुलिस कोतवाली, पोस्ट आफिस, सरकारी बैंक, टेलीफोन-एक्सचेंज और इसी प्रकार की अन्य सरकारी इमारतों पर कब्जा कर लिया। खून की एक बूंद भी गिराये बिना पेट्रोग्राड पर बोल्शेविकों का अधिकार हो गया। उन्हें न जुलूस निकालने की आवश्यकता हुई, न गलियों और बाजारों में लड़ाई हुई, और न ही गोलियां चलीं। सेना उनके साथ थी, इस दशा में केरेन्स्की और उसके साथी कर ही क्या सकते थे।

७ नवम्बर को पेट्रोग्राड में रूस की दूसरी राज्यक्रान्ति शुरू हो गई, और बोल्शेविकों ने राजशक्ति को अपने हाथों में ले लिया। ८ नवम्बर को लेनिन की ओर से अनेक सरकारी आज्ञायें प्रचारित की गईं, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित थीं---(१) रूस युद्ध का अन्त करके शान्ति स्थापित करना चाहता है, अतः युद्ध में सम्मिलित सब देशों की जनता और सरकारों से अनुरोध है, कि वे न्याय पर आश्रित सुलह के लिये बातचीत तुरन्त प्रारम्भ कर दें। इस सुलह के अनुसार न किसी राज्य पर हरजाने की रकम लादनी चाहिये और न उसके राष्ट्रीय प्रदेशों को उससे छीनना चाहिये। जर्मनी व उसके साथी इसके लिये उद्यत नहीं हुए। उन दिनों उनकी चढ़ती कला थी। पर लेनिन युद्ध को समाप्त करने के लिये

तुला हुआ था। जर्मनी की इच्छानुसार, उस द्वारा आरोपित शर्तों पर भी वह सुलह के लिये तैयार हो गया। इसका परिणाम यह हुआ, कि ब्रेस्ट-लिटोवस्क की सन्धि के द्वारा जर्मनी के साथ युद्ध का अन्त कर दिया गया। (२) जमींदारों का जमीनों पर से स्वामित्व समाप्त किया जाता है, और उन्हें जमींदारियों के बदले में किसी प्रकार की कीमत व हरजाना नहीं दिया जायगा। देहातों के लोग इस आज्ञा से बहुत प्रसन्न हुए। उनकी निगाह में जमींदार सब प्रकार के अत्याचारों और ज्यादतियों के मूर्तिमान् रूप थे। उनके खातमे की बात से किसान लोग बोल्शेविकों के पक्ष में हो गये, और लेनिन को यह मौका मिल गया, कि क्रान्ति की लहर को रूस के कोने-कोने में पहुंचा दे। (३) लेनिन समझता था, कि केवल केरेन्स्की व उसकी सामयिक सरकार के मन्त्रियों को पदच्युत कर देने से ही काम नहीं चलेगा। सरकार के सब पुराने अफसरों, न्यायाधीशों व कर्मचारियों को बदले बिना बोल्शेविक-क्रान्ति सफल नहीं हो सकेगी। पुरानी नौकरशाही सम्राटों के स्वेच्छाचारी शासन, पूंजीपतियों के प्रभुत्व और शिक्षित मध्यश्रेणी की उत्कृष्टता की आदी है। पुराने जमाने के इन औजारों से नये युग का काम नहीं चल सकता। इन सब पुराने अफसरों को हटाकर नये आदमी नियत करने होंगे, और सरकारी मशीनरी को सर्वथा बदल देना होगा। लेनिन ने इसके लिये उद्योग शुरू कर दिया, और ऐसे लोगों को सरकारी पदों पर नियत किया, जो किसानों और मजदूरों के विश्वासपात्र थे। शासन की इकाई सोवियतें नियत की गईं, और किसानों, मजदूरों व सिपाहियों की जिन सोवियतों का पिछले दिनों में संगठन हुआ था, उन्हें नई सरकार का आधार बनाया गया।

निःसन्देह, अब रूस बोल्शेविक-क्रान्ति की लहरों से आप्लावित हो गया था।

६. ब्रेस्ट-लिटोवस्क की सन्धि

जर्मनी और उसके साथी राज्यों के साथ सन्धि करके युद्ध का अन्त कर देने का जो कार्य बोल्शेविक नेताओं ने किया, रूस के इतिहास में उसका बहुत महत्त्व है। यह सन्धि ३ मार्च, १९१८ के दिन हुई थी। इसकी शर्तें निम्नलिखित थीं—

(१) जो प्रदेश इस समय केन्द्रीय राज्यों (जर्मनी व उसके साथियों) के कब्जे में हैं, उनमें रूस की ओर से किसी भी प्रकार का कोई प्रोपेगण्डा न किया जाय।

(२) बातम, एरिवान और कार्स के प्रदेशों पर से रूस अपना आधिपत्य

उठा ले। इन प्रदेशों में आर्मीनियन लोगों का निवास था। आर्मीनिया का एक भाग टर्की के साम्राज्य के अन्तर्गत था और दूसरा रूस के। जर्मनी चाहता था, कि सम्पूर्ण आर्मीनिया टर्की के अधीन रहे। टर्की महायुद्ध में जर्मनी के साथ था।

(३) एस्थोनिया, लिवोनिया, फिनलैण्ड और आलैण्ड द्वीप-समूह पर से रूस का प्रभुत्व समाप्त कर दिया जाय। इनको पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों के रूप में परिणत किया जाय।

(४) पोलैण्ड, कूरलैण्ड और लिथुएनिया को रूसी प्रभुत्व से मुक्त किया जाय। भविष्य में इनकी राजनीतिक स्थिति क्या हो, इस बात का निर्णय इनकी जनता की सम्मति के अनुसार केन्द्रीय राज्यों द्वारा किया जाय।

(५) युक्रेन से रूसी सेनाओं को हटा लिया जाय। रूस के शासन के विरुद्ध इस देश में जो 'युक्रेनियन पीपुल्स रिपब्लिक' वहां के लोगों ने स्थापित की है, उसकी वैध सत्ता को स्वीकार कर रूस उसके साथ सन्धि कर ले।

ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की इस सन्धि के अतिरिक्त अगस्त, १९१८ में रूस और जर्मनी में अन्य भी सन्धियां की गई, जिनके अनुसार (१) रूस ने यह स्वीकार किया, कि वह जर्मनी को ६,००,००,००,००० रुपये की भारी रकम हरजाने के रूप में प्रदान करे। (२) जर्मनी को रूस में व्यापार करने के लिये विशेष सुविधायें दी गईं। ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की सन्धि के अनुसार जो प्रदेश रूस की अधीनता से निकल गये थे, उनका क्षेत्रफल पांच लाख वर्गमील के लगभग था, और उनमें ६,६०,००,००० व्यक्तियों का निवास था। इतने सुविस्तृत प्रदेशों के अपने हाथ से निकल जाने के कारण रूस को बहुत अधिक क्षति पहुंची थी। रूस के कुल व्यवसायों का ३५ प्रतिशत भाग इन्हीं प्रदेशों में स्थित था। कोयले और लोहे की खानों का ७५ प्रतिशत भाग इन प्रदेशों के चले जाने के कारण रूस के हाथों से निकल गया था।

पर बोल्शेविक लोग भलीभांति अनुभव करते थे, कि जर्मनी पर उसके साथियों के खिलाफ युद्ध को जारी रखते हुए उनके लिये यह सम्भव नहीं होगा, कि वे अपने देश में नई साम्यवादी व्यवस्था को कायम कर सकें। मित्रराष्ट्र इस सन्धि से बहुत रुष्ट थे, और इसीलिये बोल्शेविक व्यवस्था के खिलाफ जो भी शक्तियां रूस में काम कर रही थीं, उनकी उन्होंने दिल खोलकर सहायता की।

७. गृह-कलह

बोल्शेविक शासन के विरोधी—बोल्शेविक शासन का स्थापन तो बड़ी

सुगमता से हो गया था, पर उसके विरोधियों की कमी नहीं थी। नवम्बर १९१७ से १९२० के शुरू तक लगभग तीन साल तक बोल्शेविकों को अपने विरोधियों का डटकर मुकाबला करना पड़ा। ये विरोधी तीन प्रकार के थे, (१) रोमनेव राजवंश के पक्षपाती, जो पुराने जमाने को फिर से स्थापित करना चाहते थे। (२) लोकतन्त्रवादी, जो चाहते थे कि रूस में फ्रांस और अमेरिका के सदृश लोकतन्त्र शासन की स्थापना हो। संविधान-परिषद् निर्वाचित की जाय, और लोकमत को दृष्टि में रखते हुए नये शासन-विधान का निर्माण किया जाय। (३) मेन्शेविक पार्टी के लोग, जो साम्यवादी तो थे, पर क्रान्तिकारी उपायों से समाज के आर्थिक संगठन को एकदम बदल देना उचित नहीं समझते थे। मित्रराष्ट्र बोल्शेविकों के इन विरोधियों की पीठ पर थे। लेनिन ने जर्मनी के साथ सुलह करके युद्ध की समाप्ति कर दी थी। इससे जर्मनी पूर्वी रण-क्षेत्र से निश्चिन्त होकर अपनी सारी सैन्यशक्ति को पश्चिमी और दक्षिणी रण-क्षेत्रों में लगा देने में समर्थ हो गया था। मित्रराष्ट्र इस बात से बहुत जले हुए थे। वे चाहते थे, कि रूस से बोल्शेविक शासन का अन्त हो, और फिर से ऐसी सरकार कायम हो, जो जर्मनी के साथ युद्ध को जारी रखे। मित्रराष्ट्रों की सहायता बोल्शेविकों के विरोधियों को प्राप्त थी। इन विरोधियों ने रूस के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। (१) साइबेरिया में एडमिरल कोल्चक ने, (२) जनरल डेनिकिन ने दक्षिण में, (३) युडेनिच ने उत्तर में और (४) रेन्गल ने दक्षिण-पश्चिम में सेनायें एकत्र कर बोल्शेविकों के साथ युद्ध शुरू कर दिया। इतना ही नहीं, फ्रांस और ग्रीस की सेनाओं ने यूक्रेनिया पर हमला शुरू किया और फ्रांस के जंगी जहाजों ने ओडेसा पर गोलाबारी शुरू कर दी।

दो विचारधाराओं का संघर्ष—यह युद्ध दो देशों का नहीं था। इसमें एक ही देश की दो विचारधाराओं के लोग आपस में घोर संघर्ष में लगे थे। दोनों तरफ से एक दूसरे पर वीभत्स से वीभत्स अत्याचार किये जा रहे थे। लाल आतंक और श्वेत आतंक एक दूसरे से टकराकर एक भयंकर स्थिति उत्पन्न किये हुए थे। बोल्शेविकों के भयंकर कारनामों को लाल आतंक और उनके विरोधियों के कुकृत्यों को श्वेत आतंक कहा जाता था। जुलाई, १९१८ में सम्राट् निकोलस द्वितीय और उसके परिवार की हत्या कर दी गई। बोल्शेविक लोग समझते थे, कि राजघराने के सब लोग षड्यन्त्रों में शामिल हैं। बोल्शेविकों के विरोधियों पर मुकदमे चलाने के लिये एक क्रान्तिकारी न्यायालय की स्थापना की गई। इस न्यायालय में हजारों की संख्या में मुकदमे पेश किये गये, और अपराधियों को कड़ी

से कड़ी सजाएं दी गई। बहुत-से लोगों को बिना मुकदमे के ही गिरफ्तार किया गया। इस समय सारे रूस में एक प्रकार का घोर आतंक छाया हुआ था। दोनों पक्ष अपने विरोधियों पर घोर से घोर अत्याचार करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। हत्या, लूट और गिरफ्तारियों का बाजार गरम था। सब जगह हाहाकार मचा हुआ था।

विद्रोहियों का दमन—एडमिरल कोचक ने पूर्व में साइबेरिया से जो हमला शुरू किया, उसमें रशियन सैनिकों के अतिरिक्त ब्रिटिश, अमेरिकन, जापानी, इटालियन, फ्रेंच, सर्बियन, चेक और पोल सैनिक भी बड़ी संख्या में शामिल थे। अनुमान किया गया है, कि एडमिरल कोचक की सेना में १० हजार रशियन, ६ हजार ब्रिटिश, ७ हजार अमेरिकन, २८ हजार जापानी और हजारों की संख्या में फ्रेंच, चेक और पोल आदि सम्मिलित थे। पर कोचक को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, बोल्शेविक सेनाओं ने उसे साइबेरिया से आगे नहीं बढ़ने दिया, और वहीं उसकी सेनाओं का संहार कर दिया गया। कोचक गिरफ्तार कर लिया गया, और उसे गोली मार दी गई। डेनिकिन ने दक्षिण में जो विद्रोह का झण्डा खड़ा किया था, उसमें उसे मित्रराष्ट्रों की सहायता पूरी तरह प्राप्त थी। क्रीमिया के क्षेत्र में ब्रिटिश और फ्रेंच लोग उसे पूरी-पूरी सहायता पहुंचा रहे थे। पर बोल्शेविक सेनाओं ने उसे भी परास्त किया, और डेनिकिन की सेनाओं के पैर उखड़ गये। जनरल युडेनिख ने उत्तर में एस्थोनिया की तरफ से बढ़ना शुरू किया, और धीरे-धीरे वह पेट्रोग्राड तक पहुंच गया। फ्रांस का प्रधान मन्त्री पोयन्कारे चाहता था, कि युडेनिख को पूरी तरह मदद दी जाय, और मित्रराष्ट्रों की ओर से एक विशाल सेना उसकी सहायता के लिये भेजी जाय। पर ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री लायड जार्ज इसके लिये तैयार नहीं हुआ। उसका कहना था, कि रूस के मामले में सैनिक हस्तक्षेप से बढ़कर कोई बेवकूफी नहीं हो सकती। युडेनिख की सेनाओं ने पेट्रोग्राड का घेरा डाल रखा था। लेनिन की राय थी, कि पेट्रोग्राड को छोड़ दिया जाय और बोल्शेविक सेनाओं को वहां से वापस बुला लिया जाय। पर अन्य बोल्शेविक नेता इसके लिये तैयार नहीं हुए। पेट्रोग्राड की रक्षा के लिये ट्राटस्की को भेजा गया। वहां की जनता और सेनायें शहर के घेरे के कारण बहुत परेशान हो चुकी थीं। भोजन, वस्त्र और हथियारों की कमी से पेट्रोग्राड के निवासी बहुत तंग थे, और बहुत कुछ निराश हो चुके थे। ट्राटस्की ने उनमें नये जीवन का संचार किया। उसकी जोशीली वक्तृताओं से पेट्रोग्राड की सेनाओं में उत्साह भर गया। वे पूरे

उत्साह से मोरचे पर उतर आई। युडेनिच की सेनाओं का मुकाबला करते हुए बीस हजार से अधिक बोल्शेविक सिपाही काम आये, पर वे पेट्रोग्राड की रक्षा करने में सफल हुए और युडेनिच को वापस लौटने के लिये विवश होना पड़ा। पीयन्कारे के परामर्श के अनुसार यदि मित्रराष्ट्र पूरी तरह युडेनिच को सहायता के लिये मैदान में आ जाते, तो शायद पेट्रोग्राड के युद्ध में बोल्शेविक सेनायें परास्त हो जातीं। पर अब न केवल युडेनिच को, अपितु अन्य सब विद्रोही सेनापतियों को परास्त करने में बोल्शेविक लोग सफल हुए।

आर्थिक बहिष्कार—बोल्शेविक लोग विजयी अवश्य हुए, पर विजय के लिये उन्हें बड़ी भारी कीमत देनी पड़ी। लाखों बोल्शेविक सैनिक युद्ध में काम आये। जब मित्रराष्ट्रों ने देखा, कि सैनिक युद्ध में रूस को परास्त करना कठिन है, तो उन्होंने आर्थिक बहिष्कार का आश्रय लिया। रूस के साथ सब प्रकार का व्यापार बन्द कर दिया गया। बोल्शेविक सरकार को इस बात की बड़ी आवश्यकता थी, कि रूस के व्यवसायों और कल-कारखानों को फिर से संगठित करने के लिये नई मशीनरी प्राप्त करे। पर मित्रराष्ट्र न उसे मशीनरी देने को तैयार थे और न कोई अन्य समान। केवल इंजन, मोटर तथा अन्य मशीनरी के अभाव से रूस के व्यवसाय, व्यापार व माल का ढोना—सब अस्तव्यस्त हो गये। इसी समय, वहां घोर दुर्भिक्ष पड़ा। गृह-कलह के इस काल में रूस को बहुत कष्ट उठाने पड़े, पर बोल्शेविक पार्टी और उसके नेताओं में इतनी हिम्मत थी, कि वे सब प्रकार के विरोधों और कठिनाइयों के होते हुए भी अपने प्रयत्न में लगे रहे।

बोल्शेविकों की विजय—अन्त में इस गृह-कलह में बोल्शेविकों की विजय हुई। १९२१ के अन्त तक न केवल रूस में आन्तरिक शान्ति स्थापित हो गई, अपितु फ्रांस, ग्रीस और पोलैण्ड ने भी यह भलीभांति अनुभव कर लिया, कि बोल्शेविकों को परास्त कर सकना असम्भव है। जनता की सारी शक्ति बोल्शेविकों के साथ थी, और इस शक्ति को दबा सकना सुगम काम न था। गृह-कलह में बोल्शेविकों की विजय के कारण निम्नलिखित थे—(१) किसान लोग समझते थे, कि यदि बोल्शेविक परास्त हो गये, तो जमींदार फिर से उनकी जमीन पर अधिकार कर लेंगे। उन्होंने बोल्शेविकों की पूरी तरह सहायता की। (२) ट्राटस्की ने लाल सेना का बड़ी कुशलता के साथ संगठन किया। इस समय रूस की जनता में क्रान्ति की वैसी ही भावना पैदा हो गई थी, जैसी की फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समय फ्रांस में हुई थी। रशियन लोग समझते थे, कि वे एक सिद्धान्त के लिये लड़ रहे हैं। उन्हें संसार में एक नई व्यवस्था और एक

नये समाज को कायम करना है । वे रशियन सिपाही, जो पहले लड़ाई के नाम से कांपते थे, जो बड़ी संख्या में सेना से भागकर अपनी प्राण-रक्षा करने में संकोच नहीं करते थे, अब शेरों की तरह से लड़ रहे थे । बोल्शेविकों ने उनके अन्दर एक नया जोश पैदा कर दिया था। (३) क्रान्ति के विरोधियों ने जनता पर घोर अत्याचार किये थे । वे लोगों में एक तरह का आतंक पैदा कर रहे थे, पर नये आदर्शों से ओत-प्रोत रशियन जनता इस आतंक से दबने के बजाय और भी अधिक उग्र होती जाती थी । (४) क्रान्ति के विरोधियों की सहायता के लिये जो विदेशी सेनायें रूस पर हमला कर रही थीं, उनसे जनता में बहुत क्रोध उत्पन्न हो गया था, देशभक्ति की भावना प्रबल हो गई थी और रशियन लोग कहते थे, कि बोल्शेविकों के विरोधी देश में विदेशी सत्ता को स्थापित करना चाहते हैं । इस समय रूस की कुछ वैसी ही दशा थी, जैसी कि अठारहवीं सदी के अन्त में फ्रांस की थी । फ्रांस के क्रान्तिकारियों को कुचलने के लिये प्रशिया, आस्ट्रिया, ब्रिटेन---सबने हमले किये । पुराने जमाने के पक्षपाती फ्रेंच लोग क्रान्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के लिये सब प्रकार का उद्योग करते रहे । पर फ्रांस की क्रान्तिकारी भावनाओं के सम्मुख उनकी एक न चली। यही दशा अब रूस की भी थी । विदेशी हमले और आन्तरिक विरोध मिलकर भी बोल्शेविक क्रान्ति का कुछ न बिगाड़ सके और १९२२ के शुरू तक बोल्शेविक सरकार पूरी तरह रूस में स्थापित हो गई ।

८. बोल्शेविक सरकार

नवम्बर, १९१७ की क्रान्ति से रूस में जिस बोल्शेविक सरकार की स्थापना हुई थी, उसका संगठन संसार के इतिहास में बिलकुल नया था । इस सरकार के प्रधान अंग निम्नलिखित थे—(१) अखिल रशियन सोवियत कांग्रेस—इसमें स्थानीय और प्रान्तीय सोवियतों के प्रतिनिधि होते थे । इन प्रतिनिधियों की संख्या १३०० के लगभग थी । बोल्शेविक सरकार की सारी शक्ति इन सोवियतों में केन्द्रित रहती थी, और स्थानीय सोवियतों की यह केन्द्रीय कांग्रेस सर्वोपरि राजसत्ता रखती थी। (२) अखिल रशियन सेन्ट्रल एक्जीक्यूटिव कमेटी---इसके सदस्यों की संख्या २०० थी । इनका निर्वाचन सोवियत कांग्रेस द्वारा होता था । नये कानून यही पास करती थी, और इस द्वारा स्वीकृत कानूनों, प्रस्तावों व अन्य विधानों को सोवियत कांग्रेस के सम्मुख अन्तिम स्वीकृति के लिये पेश किया जाता था । (३) पीपल्स कमीसार की कौंसिल---यह कौंसिल वह स्थिति रखती थी,

जो अन्य देशों में मन्त्रिमण्डल को होती है। शासन के कुल अठारह विभाग बनाये गये थे। प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष को कमीसार कहा जाता था। कौंसिल में कुल अठारह कमीसार होते थे, जिन्हें सेन्ट्रल एक्जीक्यूटिव कमेटी चुनती थी। शासन का संचालन ये कमीसार ही करते थे।

नई बोल्शेविक सरकार का आधार स्थानीय सोवियतें थीं। प्रत्येक ग्राम व नगर में ये सोवियतें विद्यमान थीं। अठारह वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक स्त्री व पुरुष को, जो अपने श्रम से आजीविका प्राप्त करता हो, वोट का अधिकार दिया गया था। इस प्रकार प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष पहले स्थानीय सोवियत का चुनाव करता था। फिर ये सोवियतें प्रान्तीय सोवियत कांग्रेस के सदस्यों को चुनती थीं, और प्रान्तीय सोवियत कांग्रेसों द्वारा अखिल रशियन केन्द्रीय सोवियत कांग्रेस का निर्वाचन किया जाता था। यह केन्द्रीय कांग्रेस शासन की सारी शक्ति रखती थी, और काम की सुगमता को दृष्टि में रखकर केन्द्रीय एक्जीक्यूटिव कमेटी को चुनती थी। इस प्रकार बोल्शेविक शासन नीचे से ऊपर की तरफ जाता था। वह एक विशाल पिरामिड के समान था, जिसका आधार हजारों सोवियतें थीं, और जिसकी केन्द्रीय सरकार अपनी सब शक्ति इन स्थानीय सोवियतों से ही प्राप्त करती थी। शासन के क्षेत्र में यह एक नया परीक्षण था, और संसार के अन्य किसी देश में ऐसी सरकार नहीं थी, जिससे इसकी तुलना की जा सके।

नये बोल्शेविक शासन-विधान में यह भी व्यवस्था की गई, कि (१) सम्पत्ति पर व्यक्तियों का स्वामित्व न रहे। जमीन, जंगल, खानें, रेलवे, कारखाने, बैंक आदि सब पर राज्य का प्रभुत्व व स्वत्व रहे। उत्पत्ति के साधनों पर किसी व्यक्ति का अधिकार न रहकर राज्य का अधिकार हो। (२) जमीन किसानों को खेती के लिये दी जाय और जो किसान जितनी जमीन पर सुगमता के साथ स्वयं अपने हाथ से खेती कर सके, उसका उतनी जमीन पर अधिकार रहे। (३) व्यवसायों और कारखानों का संचालन मजदूर लोग करें, और इसके लिये वे अपनी एक कौंसिल बना लें। विविध कारखानों का प्रबन्ध उन कारखानों की मजदूर कौंसिलों के हाथ में हो, जिन पर एक सर्वोपरि राष्ट्रीय श्रमी कौंसिल का निरीक्षण रहे। (४) रोमनेव राजवंश के शासन-काल में जो राष्ट्रीय ऋण लिये गये थे, उन सबको रद्द कर दिया जाय। (५) प्रत्येक आदमी के लिये श्रम करना आवश्यक हो। जो श्रम न करे, उसे भोजन न मिले। आमदनी का स्रोत केवल श्रम है। शारीरिक श्रम के अतिरिक्त मानसिक श्रम को भी श्रम माना गया, पर यह व्यवस्था की गई, कि कोई ऐसा मनुष्य न रहे, जो बिना कुछ किये आमदनी प्राप्त कर सके। (६)

जो लोग सम्पत्ति रखते हों, बिना श्रम के आमदनी प्राप्त करते हों, उन्हें न वोट का अधिकार हो और न वे शस्त्र रख सकें। श्रमियों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दी गई, उनके लिये सैनिक शिक्षा आवश्यक और सैनिक सेवा बाधित कर दी गई। इसी कारण उस शक्तिशाली लाल सेना का विकास हुआ, जो सब प्रकार के विरोधियों को दमन कर रूस में बोल्शेविक सत्ता की स्थापना में समर्थ हुई। (७) पुरानी सरकारों ने विदेशी राज्यों के साथ जो गुप्त सन्धियां व समझौते किये थे, उन सबको रद्द कर दिया गया। (८) राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को स्वीकृत किया गया, और इसीलिये पुराने रशियन साम्राज्य के जिन प्रदेशों में रशियन-भिन्न लोग बसते थे, उन्हें स्वतन्त्र रूप से अपने पृथक् राज्य स्थापित करने का अवसर दिया गया। बोल्शेविक सरकार की इसी नीति के कारण फिनलैण्ड, लैटविया, एस्थोनिया और लिथुएनिया के स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई। (९) विशाल रशियन साम्राज्य में निवास करनेवाली विविध जातियों को बोल्शेविक प्रणाली का अनुसरण कर सोवियत शासन स्थापित करने के लिये प्रेरणा की गई। जिन जातियों ने इसे स्वीकार किया, उनका एक सम्मिलित सोवियत संघ स्थापित किया गया। (१०) चर्च को राज्य से पृथक् किया गया, और शिक्षा को चर्च से। अब तक चर्च शिक्षा का भी काम करता था। अब वह काम उससे ले लिया गया, ताकि विद्यार्थी किसी सम्प्रदाय-विशेष के प्रभाव में न रहें। (११) किसानों और मजदूरों के बालक-बालिकाओं को राज्य की ओर से मुफ्त शिक्षा मिले, यह व्यवस्था की गई। (१२) विदेशों के जो मजदूर रूस में बसना चाहें, उन्हें इसके लिये पूरा अवसर दिया गया। यह नियम बनाया गया, कि विदेशी मजदूरों को भी रूस में सब राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। बोल्शेविक लोग मानते थे, कि संसार भर के श्रमियों के हित एक सदृश हैं, उन्हें एक दूसरे को विदेशी समझने के बजाय आपस में एक होकर रहना चाहिये।

नई बोल्शेविक सरकार ने मास्को को अपनी राजधानी बनाया। राष्ट्रीय झण्डे का रंग लाल नियत किया गया और उस पर दरांती और हथौड़ा चिन्हित किया गया। दरांती किसानों का और हथौड़ा मजदूरों का प्रतिनिधि था। राष्ट्रीय चिन्ह में यह भी अंकित किया गया—"रशियन सोशलिस्ट सोवियट फिडरेटेड रिपब्लिक, संसार के श्रमिकों, मिलकर एक हो जाओ।" लेनिन कहता था, कि रूस की यह सरकार सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र सरकार है। अन्य लोकतन्त्र राज्यों का इससे कोई मुकाबला नहीं हो सकता।

नई सरकार के प्रधान नेता थे, लेनिन, चिचेरिन और ट्राटस्की। लेनिन

पीपल्स कमीसार की कौंसिल या मन्त्रिमण्डल का प्रधान था। उसे प्रधान मन्त्री कहा जा सकता है। चिचेरिन विदेश-मन्त्री और ट्राट्स्की युद्ध-मन्त्री था। इस सरकार ने बाह्य और आभ्यन्तर--सब प्रकार के भयों से नये शासन की रक्षा करने और एक नई सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को कायम करने में असाधारण तत्परता और योग्यता प्रदर्शित की।

रूस में जो भारी परिवर्तन हुए, उनका प्रधान श्रेय लेनिन को है। कार्ल मार्क्स ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, लेनिन ने उन्हें क्रिया में परिणत करके दिखा दिया। बीसवीं सदी के शुरू में रूस की प्रायः वही दशा थी, जो अठारहवीं सदी के मध्यभाग में फ्रांस की थी। पर लेनिन के प्रयत्नों से वहां न केवल पुराने जमाने का अन्त हुआ, अपितु एक नई व्यवस्था व नवीन सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। लेनिन का विश्वास था, कि वह समय दूर नहीं है, जब यही व्यवस्था सारा संसार अपना लेगा। पर अपने विश्वासों को वह अपने जीवन-काल में पूरा होता हुआ न देख सका। १९२४ में उसकी मृत्यु हो गई।

इसमें सन्देह नहीं, कि लेनिन इतिहास के उन महापुरुषों में एक था, जो सदा के लिये अपनी छाप उस पर छोड़ जाते हैं। वह सच्चे अर्थों में युगप्रवर्तक था। रूस की बोल्शेविक क्रान्ति उसी के असाधारण व्यक्तित्व, शक्ति और प्रतिभा का परिणाम थी। संसार की सभ्यता को एक नये सांचे में ढालने का जो प्रयत्न उसने शुरू किया, वह अब भी जारी है। इसमें सन्देह नहीं, कि साम्यवाद की जो लहर लेनिन ने प्रारम्भ की, वह संसार के काफी बड़े भाग को अब तक व्याप्त कर चुकी है, और किसी न किसी रूप में वह सारी पृथिवी पर अपना असर डाल रही है।

सैंतालीसवां अध्याय

टर्की का अभ्युदय

१. सल्तनत का अन्त

सेव्र की सन्धि—उन्नीसवीं सदी में टर्की को यूरोप का बीमार देश समझा जाता था। ब्रिटेन और रूस की प्रतिस्पर्धा से ही उसकी प्राण-रक्षा की हुई थी। महायुद्ध में टर्की जर्मनी के पक्ष में शामिल हुआ, और परास्त होने के बाद उसके साथ जो सन्धि (सेव्र की सन्धि) हुई, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस सन्धि द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि (१) थ्रेस का प्रदेश और ईजियन सागर के द्वीप ग्रीस को प्राप्त हों। (२) स्मर्ना का प्रदेश भी सामयिक रूप से ग्रीस को दिया जाय। (३) बोस्फोरस और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में रहें। इनके पूर्व की ओर का समुद्र-तट के साथ-साथ का प्रदेश टर्की के शासन में हो, और पश्चिम की ओर का प्रदेश ग्रीस के शासन में। पर समुद्र-तट के साथ-साथ के इन दोनों ओर के प्रदेशों के शासन पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण भी रहे। इसका उद्देश्य यह था, कि काला सागर से भूमध्यसागर तक आने-जानेवाले सब जहाज पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ इस जलमार्ग का प्रयोग कर सकें। (४) अरब, मेसोपोटामिया, सीरिया और आर्मीनिया तुर्की साम्राज्य से पृथक् कर दिये जावें। (५) एशिया माइनर में सीलिसिया को फ्रांस के अधिकार में और अनेतोलिया व अडेलिया को इटली के अधिकार में दे दिया जाय। (६) कुर्दिस्तान को स्वतन्त्र राज्य बना दिया जाय। (७) टर्की को भी युद्ध के लिये दोषी ठहराया गया, और उस पर भी हरजाने की भारी रकम लादी गई। इसकी अदायगी के लिये टर्की की राजकीय आमदनी पर मित्र-राष्ट्रों का नियन्त्रण कायम कर दिया गया।

टर्की की राज्यक्रान्ति—सेव्र की इस सन्धि का परिणाम यह हुआ, कि टर्की के विशाल पर विच्छृंखल साम्राज्य का अन्त हो गया। एक करोड़ बीस लाख की आबादी के प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त हो गये, और अब उसकी जन-संख्या केवल अस्सी लाख रह गई। वह एक छोटा-सा राज्य रह गया, जिसका यूरोप से

सम्बन्ध नाममात्र को था, और जिसकी अधीनता में कोई भी ऐसे प्रदेश नहीं रहे थे, जहां किसी तुर्क-भिन्न जाति का निवास हो। पर तुर्की साम्राज्य के अन्त होने की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तुर्की सल्तनत की इतिश्री थी। टर्की के सुल्तान न केवल साम्राज्य के सम्राट् थे, पर साथ ही इस्लाम के प्रधान धर्माचार्य भी थे। वे राज्य और धर्म—दोनों के प्रधान थे, और सारे मुस्लिम संसार पर उनका एक प्रकार का प्रभुत्व था। ईसाइयत के धार्मिक साम्राज्य की समाप्ति कभी की हो चुकी थी, पवित्र रोमन साम्राज्य के अन्त द्वारा यूरोप के ईसाई राजा अब धर्माध्यक्ष नहीं रहे थे। पर टर्की के सुल्तान इस्लाम के धर्माध्यक्ष भी थे। सेव्र की सन्धि को सुलतान की सरकार ने स्वीकार कर लिया था, पर इस समय टर्की में वास्तविक राजनीतिक शक्ति मुस्तफा कमाल पाशा के हाथ में थी, जिसके नेतृत्व में अन्कोरा में एक नई तुर्की सरकार की स्थापना हो गई थी। इस समानान्तर सरकार ने सेव्र की सन्धि को मानने से इनकार कर दिया। कुछ ही समय बाद कमाल पाशा के नेतृत्व में टर्की में राज्यक्रान्ति हो गई। सुलतान को राजगद्दी छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा, और यूरोप के अन्य विविध राज्यों के समान टर्की में भी रिपब्लिक की स्थापना की गई। टर्की की यह राज्यक्रान्ति बहुत महत्त्व की थी। कारण यह कि इससे न केवल सुलतान के स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन का ही अन्त किया गया था, अपितु साथ ही खलीफत (इस्लाम के धर्माचार्य की सत्ता) का भी। इस्लाम के धार्मिक इतिहास में यह बहुत बड़ी घटना थी। पैगम्बर मुहम्मद के बाद खलीफाओं की जिस परम्परा का प्रारम्भ हुआ था, उसका अब (लगभग बारह सदी बाद) अन्त हो गया, और इस्लामी चर्च में एक भारी क्रान्ति हुई। सुलतानों के पदच्युत होने के बाद टर्की की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये मार्ग खुल गया।

२. कमाल पाशा

प्रारम्भिक जीवन—मुस्तफा कमाल पाशा का जन्म १८९१ में हुआ था। उसके पिता साधारण स्थिति के आदमी थे, जो पहले एक छोटी सरकारी नौकरी करते थे। बाद में उन्होंने अपना कारोबार शुरू किया। १८९० में जब उनकी मृत्यु हुई, तो कमाल पाशा की उमर केवल नौ साल की थी। वह अपने पिता का अकेला पुत्र था। पिता उसके लिये इतनी सम्पत्ति नहीं छोड़ गये थे, कि वह आराम से अपने दिन गुजार सकता। शुरू में उसे मजदूरी करके अपने दिन गुजारने पड़े। बाद में अपनी चाची की सहायता से वह स्कूल में दाखिल हुआ, और धीरे-धीरे

कोन्स्टेन्टिनोपल के सैनिक विद्यालय में भर्ती हो गया। चौबीस साल की आयु में उसने सैनिक शिक्षा पूर्ण की। विद्यार्थी-जीवन में उसने फ्रांस के क्रान्तिकारियों के इतिवृत्त को बड़े ध्यान से पढ़ा था। रूसो और वाल्टेयर के ग्रन्थों का उसे बड़ा शौक था। इस साहित्य को पढ़ने से उसके ध्यान में यह बात बैठ गई थी, कि टर्की की सरकार बहुत विकृत है, और क्रान्ति के बिना उसे ठीक नहीं किया जा सकता। उसके हृदय में यह बात घर कर गई थी, कि देश के उद्धार के लिये उसे राजनीति में पड़ना चाहिये और टर्की की दशा को सुधारना चाहिये। पर सुलतान की खुफिया पुलीस बड़ी क्रियाशील थी। टर्की के शासन में अन्य कोई भी दोष क्यों न हों, पर उसके गुप्तचर बड़े चतुर थे और वे झट इस बात का पता कर लेते थे, कि सुलतान के विरुद्ध कहाँ क्या मन्त्रणा हो रही है। मुस्तफा कमाल के विचारों का भी उन्हें पता लग गया, और उसे गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया।

सैनिक जीवन—पर कमाल पाशा देर तक जेल में नहीं रहा। उसकी सैनिक योग्यता भी सुलतान की सरकार को भलीभांति मालूम थी। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जब बाल्कन प्रायद्वीप में युद्ध प्रारम्भ हुए, और टर्की भी उनमें उलझ गया, तो उसे कैद से रिहा कर दिया गया और उसे सैनिक अफसर बनाकर रणक्षेत्र में भेज दिया गया। युद्ध में उसने अपनी योग्यता का भलीभांति परिचय दिया और वह सैनिक क्षेत्र में अच्छी उन्नति करता गया। महायुद्ध में उसे अपनी असाधारण सैनिक प्रतिभा को प्रदर्शित करने का सुवर्णावसर हाथ लगा। गैलीपोली के युद्ध में जिस तुर्क सेना ने ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया की सेनाओं का बुरी तरह पराजय किया था, उसका सेनापति मुस्तफा कमाल पाशा ही था। दिसम्बर, १९१५ में इस विजय के कारण उसकी कीर्ति बहुत बढ़ गई, और वह टर्की का प्रधान सैनिक वीर समझा जाने लगा। जर्मनी की सैनिक क्षमता में उसे शुरू से सन्देह था। वह भली भांति समझता था, कि जर्मनी व उसके साथी महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों को परास्त नहीं कर सकेंगे। पर उसने सैनिक अफसर के अपने कर्तव्य में ढील नहीं होने दी, और जब तक महायुद्ध जारी रहा, वह अपने कर्तव्य का सुचारु रूप से पालन करता रहा।

सेव की सन्धि का विरोध—पर जब महायुद्ध में टर्की परास्त हो गया, और मित्रराष्ट्रों ने सेव्र की सन्धि को सुलतान के सम्मुख पेश किया, तो सुलतान की सरकार यही समझती थी, कि उसे स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त उसके सम्मुख अन्य कोई मार्ग नहीं है। पर मुस्तफा कमाल पाशा का यह विचार नहीं था। वह

समझता था, कि टर्की को यह सन्धि स्वीकार नहीं करनी चाहिये। यदि आवश्यकता हो, तो युद्ध को फिर से प्रारम्भ करके भी इसका मुकाबला करना चाहिये। वह सुलतान की नीति का बड़ा आलोचक था। पहले उसे यह आशा थी, कि वह सुलतान को अपने रास्ते पर ला सकेगा। वह नहीं चाहता था, कि सुलतान को पदच्युत किया जाय। पर जब उसने देखा, कि सुलतान अपने दरबारियों और निकम्मे अफसरों के हाथ में कठपुतली के समान है, और उसका सुधार कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, तो वह क्रान्ति का पक्षपाती हो गया। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के इतिहास से जो शिक्षायें उसने ग्रहण की थीं, उनका उसने अनुसरण किया, और इसी का यह परिणाम हुआ, कि टर्की में सल्तनत का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई।

३. टर्की में राज्यक्रान्ति

अन्गोरा की आजाद तुर्क सरकार—जिस समय सुलतान की सरकार सेव्र की सन्धि को स्वीकार कर रही थी, मुस्तफा कमाल पाशा अनेतोलिया में इन्स्पेक्टर-जनरल के पद पर कार्य कर रहा था। टर्की के देशभक्त और राष्ट्रीय विचारों के लोग उसके चारों ओर एकत्र होने लगे थे। अनेतोलिया में एक राष्ट्रीय सभा का संगठन हो गया था। इसमें कमाल पाशा ने हिस्सा लेना शुरू किया, और शीघ्र ही वह उसका प्रधान नेता बन गया। इसी सभा की ओर से सितम्बर, १९१९ में एक अखिल तुर्की कांग्रेस का संगठन किया गया, जिसका प्रथम अधिवेशन सिवास नामक स्थान पर हुआ। कमाल पाशा समझता था, कि राज्य की वास्तविक शक्ति सर्वसाधारण जनता है। तुर्क जनता में जान है, शक्ति है, और उन्नति की अभिलाषा है—यह उसका दृढ़ विश्वास था। एक बार महायुद्ध के समय, जब एक जर्मन सेनापति ने उससे कहा, कि तुर्क सैनिक तो युद्ध में साधारण गाय-बैलों की तरह भाग खड़े होते हैं, तो उसने झुंझलाकर उत्तर दिया था, कि इसमें दोष सिपाहियों का नहीं है। इसके लिये जिम्मेदार वे अफसर लोग हैं, जो स्वयं सब प्रकार के अधःपतन के शिकार हैं। कमाल पाशा का विचार था, कि यदि तुर्क जनता को सही-सही नेतृत्व प्राप्त हो जाय, तो वह संसार में गौरवपूर्ण स्थान शीघ्र ही प्राप्त कर सकती है। सिवास की अखिल तुर्क कांग्रेस में इसी सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधि बहुत बड़ी संख्या में एकत्र हुए थे। सुलतान की सरकार इससे बहुत चिन्तित थी। उन्होंने आज्ञा दी, कि कमाल पाशा को गिरफ्तार कर लिया जाय। पर अनेतोलिया के किसी सरकारी अफसर की यह हिम्मत नहीं हुई, कि वह

कमाल पाशा पर हाथ डाल सके। सारे अनेतोलिया में इस समय विद्रोह और क्रान्ति की भावनायें प्रबल हो रही थीं। कमालपाशा के नेतृत्व में वहां एक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना की गई, जिसकी राजधानी अन्कोरा बनाई गई।

सेव्र की सन्धि का सत्यानाश—कमाल पाशा की इस समानान्तर सरकार ने न केवल यह घोषणा की, कि सेव्र की सन्धि उसे स्वीकार नहीं है, अपितु ग्रीस और इटली आदि ने टर्की के जिन प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित करना शुरू किया था, उनके खिलाफ भी उसने लड़ाई छेड़ दी। सुल्तान इस समय पूरी तरह से मित्रराष्ट्रों के हाथ में था। उसने उद्घोषित किया, कि अन्कोरा की सरकार के कार्यों से टर्की की न्याय्य सरकार किसी भी प्रकार सहमत नहीं है, और प्रत्येक राज-भक्त तुर्क का कर्तव्य है, कि वह सुल्तान का साथ दे, और अन्कोरा से कोई सम्बन्ध न रखे। पर कमाल पाशा के वीर कृत्यों के कारण तुर्क जनता उसे अपना वीर नेता मानने लगी थी, और उसके कार्यों के साथ पूरी तरह सहानुभूति रखती थी। कमाल पाशा ने ग्रीस और इटली के साथ युद्ध को जारी रखा। रूस की बोल्शेविक सरकार ने कमाल पाशा की सरकार को स्वीकार कर लिया। इटली ने भी यह अनुभव किया, कि तुर्कों के साथ लड़ाई को जारी रखना बिलकुल व्यर्थ है। उन्होंने लण्डन में कमाल पाशा के प्रतिनिधि के साथ गुप्त रूप से यह समझौता कर लिया, कि टर्की के सब प्रदेशों से इटालियन सेनाएं वापस बुला ली जायंगी। अब अकेला ग्रीस ही ऐसा देश रह गया, जिससे अन्कोरा की सरकार युद्ध कर रही थी। यह युद्ध १९१९ से १९२१ तक निरन्तर जारी रहा। कुछ समय के लिये ग्रीक सेनाएं अनेतोलिया में प्रवेश भी कर गईं, और उन्होंने यह भी प्रयत्न किया, कि अन्कोरा पर कब्जा करके कमाल पाशा की सरकार का सर्वनाश कर दिया जाय। पर अपने इस प्रयत्न में उसे सफलता नहीं हो सकी। कमाल पाशा के साथी और सहायक मित्र इस्मत ने इनोनू के रणक्षेत्र में ग्रीक सेनाओं को बुरी तरह से परास्त किया। इस विजय के कारण ही वह आगे चलकर इस्मत इनोनू के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ग्रीस और टर्की के युद्ध में दोनों पक्षों ने एक दूसरे पर भयंकर अत्याचार किये, और लड़ाई में बड़ी बर्बरता प्रदर्शित की। इस समय यह भलीभांति स्पष्ट हो गया था, कि टर्की में एक नई भावना और नवीन शक्ति प्रगट हो गई है, जिसका दमन कर सकना सम्भव नहीं है। फ्रांस और ब्रिटेन अब यह अनुभव करने लगे थे, कि टर्की के साथ झगड़ा जारी रखने की अपेक्षा उत्तम यह है, कि नवीन टर्की के साथ सन्धि कर ली जाय, और उसकी आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिये उससे ऐसी आर्थिक सुविधायें प्राप्त कर ली जायं, जिनसे फ्रांस और ब्रिटेन के

पूंजीपतियों को लाभ पहुंचे। इसी प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ, कि सेव्र की सन्धि की जगह नई सन्धि की योजना की गई, और उसके लिये स्विट्जरलैण्ड के अन्यतम नगर लोजान में एक कान्फरेन्स की व्यवस्था की गई। इस कान्फरेन्स में टर्की की नई सरकार के साथ सब विवादग्रस्त मामलों का नये सिरे से निबटारा किया गया।

रिपब्लिकन की स्थापना—लोजान कान्फरेन्स के शुरू होने से पहले ही कमाल पाशा की सरकार टर्की की एकमात्र सरकार रह गई थी। सन् १९२२ के समाप्त होने से पहले ही सुल्तान मुहम्मद टर्की से भागकर बाहर चला गया था। यद्यपि वह अब भी अपने को टर्की की राजगद्दी का अधिकारी और न्याय्य सम्राट् समझता था, पर अक्टूबर, १९२३ में अंकोरा में टर्की को एक रिपब्लिकन राज्य उद्घोषित कर दिया गया। सारे देश से प्रतिनिधि निर्वाचित होकर ग्राण्ड नेशनल एसेम्बली का अधिवेशन किया गया। एसेम्बली में सर्वसम्मति से निश्चय हुआ, कि टर्की में रिपब्लिकन शासन की स्थापना की जाय और मुस्तफा कमाल पाशा उनके पहले राष्ट्रपति हों। लोकमत को दृष्टि में रखते हुए शुरू में यह व्यवस्था की गई, कि सुलतान मुहम्मद छठे का टर्की के शासन से कोई सम्बन्ध न रहे, पर उसे खलीफा के पद पर रहने दिया जाय। अभी टर्की के मुसलमान इस बात के लिये तैयार नहीं थे, कि धर्माचार्य की बारह सदी पुरानी इस पदवी को एकदम उठा दिया जाय। पर टर्की में इतनी तेजी से परिवर्तन आ रहे थे, और राज्यक्रान्ति के कारण अन्य क्षेत्रों में भी इतनी क्रान्ति हो रही थी, कि मार्च, १९२४ में खिलाफत को उड़ा देने का भी फैसला कर लिया गया। राज्य को धर्म से सर्वथा पृथक् कर दिया गया, और काजियों को न्याय-सम्बन्धी जो अधिकार प्राप्त थे, वे सब उनसे छीन लिये गये।

निःसन्देह, कमाल पाशा के नेतृत्व में जो क्रान्ति हुई थी, उसने टर्की के स्वरूप को बिल्कुल बदल दिया था।

४. राज्यक्रान्ति की प्रगति

सुलतान मुहम्मद छठे को राजगद्दी और खलीफत के गौरवपूर्ण पद से च्युत करके ही क्रान्ति की समाप्ति नहीं हो गई। कमाल पाशा ने जिस नई भावना का प्रादुर्भाव किया था, वह टर्की के सामाजिक जीवन में भी भारी परिवर्तन ला रही थी। इस परिवर्तन का प्रधान नायक कमाल पाशा ही था, जिसने अपने व्यक्तित्व की शक्ति से टर्की को बात की बात में आमूलचूल बदल दिया था।

उनके प्रयत्नों से जिस नये टर्की का अभ्युदय हुआ, उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ थीं:—

(१) रिपब्लिकन शासन-प्रणाली—टर्की-जैसे पुराने देश में रिपब्लिक की स्थापना बहुत बड़ी घटना थी। वहां न केवल सुलतान का शासन था, पर उस पर आश्रित बहुत-से दरबारी, अमीर उमरा और कुलीन श्रेणी के लोग अपने-अपने क्षेत्र में अपरिमित शक्ति और अधिकारों का उपभोग करते थे। ये सब बात की बात में उड़ा दिये गये। सुल्तान का स्थान कमाल पाशा ने लिया, जो स्वयं एक छोटे-से व्यापारी का लड़का था और जिसका बचपन मजदूरी करते हुए बीता था। रिपब्लिक के अन्य प्रधान कर्मचारी भी साधारण स्थिति के आदमी थे। कुलीन श्रेणी का स्थान अब साधारण जनता के उन लोगों ने ले लिया था, जिन पर लोगों को विश्वास था।

(२) राष्ट्रीयता—नवीन टर्की का आधार राष्ट्रीयता थी। कमाल पाशा का यह मन्तव्य था, कि जो टर्की में रहते हों, तुर्की भाषा बोलते हों, तुर्की संस्कृति और परम्पराओं का अनुसरण करते हों और तुर्क आदर्शों को अपना राष्ट्रीय आदर्श मानते हों, वे सब टर्की के नागरिक समझे जाने चाहियें, और धर्म व नसल का कोई भेद न रखकर उन्हें तुर्क समझना चाहिये। अब तक टर्की के राज्य का आधार इस्लाम था। वह एक ऐसा राज्य था, जो धर्म पर आश्रित था। अब वह धर्म के बन्धन से मुक्त होकर पूरी तरह राष्ट्रीयता पर आश्रित हो गया।

(३) जनता का शासन—राजसत्ता का आधार जनता है और जनता से ही सरकार अपनी सब शक्ति प्राप्त करती है—यह सिद्धान्त टर्की के नये शासन-विधान का आधार बनाया गया। अब तक यह समझा जाता था, कि सुल्तान दैवी अधिकार से देश पर शासन करता है। वह धर्म का भी अधिपति है। यह सिद्धान्त अब दूर हो गया, और उसका स्थान इस आधुनिक मन्तव्य ने ले लिया, कि जनता सम्पूर्ण राजशक्ति का मूलस्रोत है, और उसी की इच्छा के अनुसार शासन होना चाहिये।

(४) आर्थिक जीवन पर राज्य का नियन्त्रण—देश की आर्थिक उन्नति के लिये यह आवश्यक है, कि सब व्यवसायों पर राज्य का नियन्त्रण हो। राज्य जहां स्वयं अनेक बड़े व्यवसायों का संचालन करे, वहां रेल, तार, मोटर, खान और सार्वजनिक हित के साथ सम्बन्ध रखनेवाले सब व्यवसायों पर पूरी तरह सरकार का नियन्त्रण रहे। इस सिद्धान्त के अनुसार कपड़ा, ऊन, रेशम, लोहा आदि के

कारखाने राज्य की ओर से खोले गये, और यह यत्न प्रारम्भ हुआ, कि बड़े पैमाने पर देश की व्यावसायिक उन्नति की जाय।

(५) सामाजिक क्रान्ति——देश की उन्नति के लिये यह आवश्यक है, कि क्रान्ति के सिद्धान्त को सामाजिक क्षेत्र में भी लागू किया जाय। इसमें सन्देह नहीं, कि धीरे-धीरे परिवर्तन करके देश की दशा को सुधारा जा सकता है। पर कमाल पाशा की यह धारणा थी, कि धीरे-धीरे परिवर्तन से कोई विशेष लाभ नहीं होता। जैसे राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति के द्वारा सदियों पुराने गन्द के ढेर को जरा-सी देर में भस्म कर दिया जाता है, और नई राजसंस्था की स्थापना कर दी जाती है, वैसे ही सामाजिक क्षेत्र में भी सदियों पुरानी कुरीतियों को क्रान्ति द्वारा नष्ट किया जा सकता है। इसी मन्तव्य के अनुसार मुस्तफा कमाल पाशा ने ये व्यवस्थायें कीं:——

(क) तुर्की टोपी (फेज) और पगड़ी का पहनना कानून की दृष्टि में अपराध घोषित कर दिया गया। जिन लोगों ने इसका विरोध किया, उन्हें कड़ी सजायें दी गईं। टर्की की नई सरकार की दृष्टि में फेज का पहनना इतना बड़ा अपराध था, कि कुछ लोगों को इसके लिये दस-दस साल तक की कैद का दण्ड दिया गया। टोपी और पगड़ी की जगह यूरोपियन तरीके के टोप का पहनना आवश्यक कर दिया गया। साथ ही, कमाल पाशा ने यह व्यवस्था की, कि सब तुर्क लोग यूरोपियन पोशाक पहनें, कोट-पतलून धारण करें, टाई लगावें और ठीक उस तरह से रहें, जैसे पश्चिमी यूरोप के उन्नत व सभ्य लोग रहते हैं।

(ख) पहले टर्की में शुक्रवार के दिन छुट्टी रहती थी। अब यह व्यवस्था की गई, कि इतवार के दिन छुट्टी रहा करे।

(ग) इस्लाम के अनुसार बहु-विवाह की इजाजत थी। तुर्क लोग अनेक विवाह करते थे, और अमीर लोगों के हरम में तो बहुत-सी स्त्रियां रहा करती थीं। अब एक से अधिक स्त्री के साथ एक समय में विवाह करना कानून के विरुद्ध करार कर दिया गया।

(घ) यह व्यवस्था की गई, कि स्त्री कोई बुरका न ओढ़ सके, परदा न करे। स्त्रियां वैसे ही खुले तौर पर रहें, जैसे फ्रांस व ब्रिटेन में रहती हैं। उन्हें वोट का अधिकार दिया गया, और राजनीति व समाज के क्षेत्रों में उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किये गये। १९३५ के निर्वाचन में १७ स्त्रियां भी टर्की की प्रतिनिधि-सभा में सदस्य के रूप में निर्वाचित हुई थीं।

(ङ) अब तक तुर्की भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती थी। पर कमाल पाशा ने यह व्यवस्था की, कि अरबी लिपि का सर्वथा बहिष्कार करके रोमन लिपि का प्रचार किया जाय। सबसे पहले कमाल पाशा ने स्वयं अपने पत्रों में रोमन लिपि का प्रयोग शुरू किया। बाद में उसने अफसरों को यह आज्ञा दी, कि वे रोमन लिपि सीखें, और उसी का प्रयोग करें। उसने स्वयं अफसरों को रोमन लिपि में तुर्की भाषा लिखना सिखाया। आगे चलकर अरबी लिपि का प्रयोग सर्वथा रोक दिया गया, और रोमन का प्रयोग आवश्यक कर दिया गया। टर्की में छापेखानों को इससे बहुत नुकसान पहुंचा। अब तक वहां के सब छापेखाने अरबी लिपि में पुस्तकें व समाचारपत्र छापते थे। एक साल तक वे बिल्कुल बन्द रहे। रोमन में छपाई करने के लिये उन्हें नई व्यवस्था करनी पड़ी। परिणाम यह हुआ, कि ऐसा भी समय आया, जबकि साल भर में टर्की में केवल एक ही पुस्तक छपकर प्रकाशित हुई। पर धीरे-धीरे वहां के छापेखानों ने नई मशीनें व सामान मंगा लिया, और रोमन लिपि का भलीभांति प्रचार हो गया।

इन सब सुधारों को करते हुए कमाल पाशा का उद्देश्य यह था, कि टर्की को पूरी तरह से यूरोपियन सभ्यता व संस्कृति के रंग में रंग दिया जाय। उसका खयाल था कि, जिस तरह पोलैण्ड, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया व ग्रीस यूरोपियन देश हैं, उनकी सभ्यता और संस्कृति बहुत कुछ एक है, उनकी लिपि एक है, उनकी पोशाक व रहन-सहन एक है, उसी तरह से टर्की को भी भाषा का भेद रखते हुए भी लिपि, पोशाक, रहन-सहन और संस्कृति की दृष्टि से अपने को पूरी तरह यूरोपियन बना लेना चाहिये। वह चाहता था, कि टर्की की गिनती अरब, ईराक, सीरिया और ईजिप्ट जैसे पिछड़े हुए देशों के साथ में न की जाय। लोग यूरोपियन देशों में उसका शुमार करें, और वह यूरोप के सदृश ही उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो। इसी दृष्टि से उसने इस बात पर एतराज नहीं किया, कि पैलेस्टाइन, मैसोपोटामिया, ईराक आदि को टर्की से पृथक् कर दिया जाय। वह समझता था, कि इन देशों की संस्कृति टर्की से अलग है, उनका टर्की से पृथक् रहना ही अच्छा है। एक आधुनिक राष्ट्रीय रिपब्लिक के रूप में टर्की का विकास तभी सम्भव है, जब उसमें ऐसा कोई प्रदेश शामिल न हो, जो भाषा, नसल व सभ्यता की दृष्टि से पूर्णतया तुर्क न हो।

कमाल पाशा के व्यक्तित्व व अतुल शक्ति का ही यह परिणाम था, कि ये सब क्रान्तिकारी सुधार वहां सम्भव हो सके। इसमें सन्देह नहीं, कि सुधार के लिये कमाल पाशा ने एकाधिकार का प्रयोग किया। उसके अपने दल के अतिरिक्त अन्य

कोई दल टर्की में पनप नहीं सकता था। इस अंश में कमाल पाशा के शासन का वही स्वरूप था, जो कि इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर के शासन का था। पर भेद यह है, कि कमाल पाशा ने जिस शक्ति को अपने व्यक्तित्व में केन्द्रित किया था, उसका उद्देश्य टर्की में नवजीवन का संचार करना था। टर्की में सच्चे अर्थों में जनता का राज्य स्थापित हो सके, इसके लिये ही उसे असाधारण शक्ति अपने हाथों में लेने की आवश्यकता हुई थी। एक बार कमाल पाशा ने ब्रिटिश राजदूत से कहा था—"यदि आज मेरी मृत्यु हो जाय, तो हजार ऐसे तुर्क हैं, जो मेरा स्थान ले लेंगे।" इसमें सन्देह नहीं, कि कमाल पाशा जिस भावना से अपना कार्य कर रहा था, हजारों तुर्कों के हृदयों में वही भावना विद्यमान थी, और वे यह भलीभांति समझते थे, कि उनके देश का भविष्य व उन्नति इसी प्रकार के सुधारों पर निर्भर है।

कमाल पाशा के नेतृत्व में टर्की ने आश्चर्यजनक उन्नति की। वह टर्की, जो महायुद्ध के समय तक यूरोप का अत्यन्त पिछड़ा हुआ व बीमार देश समझा जाता था, अब एक उन्नत और सभ्य देश बन गया। देश की उन्नति को लक्ष्य बनाकर एक सच्चे वीर और उन्नतिशील नेता के एकमात्र नेतृत्व में कोई देश कितनी शीघ्र उन्नति कर सकता है, इसका टर्की बड़ा उत्तम उदाहरण है।

५. लोजान और मोन्त्रो की सन्धियाँ

लोजान की सन्धि—सेव्र की सन्धि को कमाल पाशा की रिपब्लिकन सरकार ने अस्वीकार कर दिया था। वह सन्धि बिलकुल व्यर्थ हो गई थी। उस द्वारा जो प्रदेश इटली और ग्रीस ने अपने कब्जे में किये थे, उन पर टर्की का अधिकार कायम हो गया था। इस दशा में, लोजान की कान्फरेन्स में टर्की के साथ नया समझौता किया गया, जिसके अनुसार (१) पूर्वी थ्रेस का प्रदेश फिर टर्की को प्राप्त हुआ। (२) स्मर्ना पर भी टर्की का अधिकार स्वीकृत किया गया। (३) अनेतोलिया के जो प्रदेश इटली को दिये गये थे, वे सब और अडेलिया फिर टर्की को प्राप्त हुए। (४) सीलिसिया भी जो फ्रांस को दिया गया था, अब टर्की को मिला। (५) हरजाने की जो रकम टर्की को अदा करनी थी, उसमें भारी कमी की गई। (६) बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि टर्की वहां कोई किलाबन्दी न कर सके, और उसमें आने-जाने का सब देशों के जहाजों को पूरा अधिकार रहे। पर इस सामुद्रिक-मार्ग पर जो अन्तर्राष्ट्रीय

नियन्त्रण कायम किया गया था, उसे दूर कर दिया गया, और राजनीतिक दृष्टि से इस पर टर्की के अधिकार को स्वीकार किया गया। (७) कुर्दिस्तान पर टर्की का स्वामित्व मान लिया गया। ईराक और कुर्दिस्तान की सीमा निश्चित किये जाने का प्रश्न भविष्य के लिये स्थगित कर दिया गया। बाद में दिसम्बर, १९२५ में यह प्रश्न राष्ट्रसंघ द्वारा हल किया गया। लोजान की सन्धि द्वारा जो नई व्यवस्था हुई थी, उसके अनुसार टर्की का राज्य पहले की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत हो गया था, और उसकी जनसंख्या भी एक करोड़ तीस लाख से अधिक हो गई थी। सेव्र की सन्धि को पूर्णतया नष्ट कर उसके स्थान पर लोजान की सन्धि करना कमाल पाशा की अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारी विजय थी।

मोन्त्रो की सन्धि—पर तुर्की नेता लोजान की सन्धि से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थे। बोस्पोरस और डार्डनल्स के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण उन्हें अपने राष्ट्रीय गौरव के प्रतिकूल प्रतीत होता था। इसीलिये १९३६ में मोन्त्रो के समझौते द्वारा यह निश्चय हुआ, कि इस प्रदेश में टर्की अपनी इच्छानुसार किलाबन्दी कर सके। टर्की को यह अधिकार हो, कि युद्ध के समय में उभय पक्ष के जंगी जहाजों का आना-जाना वह इस जलमार्ग में रोक सके। इस समझौते का परिणाम यह हुआ, कि टर्की के आन्तरिक क्षेत्र में (स्थल व जल दोनों क्षेत्रों में) किसी अन्य देश का किसी प्रकार का हस्तक्षेप व नियन्त्रण नहीं रहा। यद्यपि महायुद्ध में टर्की भी जर्मनी व आस्ट्रिया के समान परास्त देश था, पर उसके राजनीतिज्ञों ने अपनी बुद्धिमत्ता और नीतिकुशलता के कारण अपने देश को पराजय के परिणामस्वरूप कोई नुकसान नहीं होने दिया। इसके विपरीत युद्ध के परिणामस्वरूप टर्की का प्रगतिशील और आधुनिक राज्य के रूप में अभ्युदय हुआ।

अड़तालीसवां अध्याय

ग्रेट ब्रिटेन और उसका साम्राज्य

१. साम्राज्य में वृद्धि

महायुद्ध द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार में बहुत सहायता मिली। महायुद्ध में परास्त होने के कारण टर्की और जर्मनी के साम्राज्य नष्ट हो गये और उनकी अधीनता से जो अनेक प्रदेश मुक्त हुए, उनका बड़ा भाग ग्रेट ब्रिटेन को प्राप्त हुआ। महायुद्ध से पूर्व सम्पूर्ण अरब तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत था। अरब लोग राष्ट्रीयता की दृष्टि से तुर्कों से भिन्न हैं। उनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना भी विद्यमान थी। अंग्रेजों ने इससे लाभ उठाया, और उन्हें तुर्क शासन के विरुद्ध विद्रोह कर देने के लिये प्रेरित किया। उन्होंने अरबों को यह आश्वासन दिया, कि युद्ध की समाप्ति पर उन्हें टर्की की अधीनता से मुक्त कर स्वतन्त्र कर दिया जायगा। लारेन्स नामक एक ब्रिटिश अफसर ने इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उसे अरबी भाषा का अच्छा ज्ञान था। अरब वेश पहनकर वह अरब के रेगिस्तान के निवासियों में रहने लगा, और तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये उन्हें भड़काता रहा। उसके प्रयत्न से बहुत-से अरब देशभक्त मित्रराष्ट्रों के पक्ष में हो गये और टर्की के पतन में उन्होंने पूरा-पूरा सहयोग दिया।

अरब की स्वतन्त्रता—यद्यपि सम्पूर्ण अरब पर टर्की का प्रभुत्व स्थापित था, पर हज्जाज के प्रदेश में एक वंशक्रमानुगत अरब राजा का शासन कायम था, जो तुर्क सुलतान की अधीनता स्वीकृत करता था। तुर्की साम्राज्य की अधीनता में उसकी प्रायः वही स्थिति थी, जो कि भारत में ब्रिटिश सरकार की अधीनता में हैदराबाद, ग्वालियर या काश्मीर की थी। मुसलमानों के पवित्र नगर मक्का और मदीना हज्जाज के अन्तर्गत थे। १९१४ में हज्जाज की राजगद्दी पर हुसैन का अधिकार था। उसे पैगम्बर मुहम्मद का वंशज माना जाता था और सब अरब लोग उसे अत्यधिक आदर की दृष्टि से देखते थे। अंग्रेजों ने समझा, कि टर्की के खिलाफ अरब-विद्रोह के लिये हुसैन को प्रयुक्त किया जा सकता है।

लारेन्स ने उससे बातचीत की, और उसे यह भरोसा दिलाया, कि अरब को तुर्की की अधीनता से मुक्त कराके उसे वहां का स्वतन्त्र राजा मान लिया जायगा। पर्शिया की खाड़ी से मोसल तक और लाल सागर से दमास्कस तक सम्पूर्ण अरब पर उसका अबाधित शासन रहेगा। अंग्रेजों की प्रेरणा से हुसैन तुर्क साम्राज्य के सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये तैयार हो गया। अंग्रेजों ने धन और जन से उसकी सहायता की। मई, १९१६ में हुसैन ने घोषणा की, कि अरब अब स्वतन्त्र हो गया है, और सम्पूर्ण मुसलिम संसार को उसे ही इस्लाम का असली खलीफा स्वीकृत करना चाहिये। इसी समय अंग्रेजी और भारतीय सेनाएं अच्छी बड़ी संख्या में बगदाद पहुँच गईं, और १९१८ के मध्य भाग तक उन्होंने न केवल सम्पूर्ण ईराक पर, अपितु मोसल तक के अरब प्रदेशों पर अपना कब्जा कर लिया। अरब की राष्ट्रीय भावना ने महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की पूरी-पूरी सहायता की और महायुद्ध में जर्मनी और उसके साथी राज्यों की पराजय के कारण अरब को तुर्की साम्राज्य से स्वतन्त्र होने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ।

ब्रिटेन द्वारा शासित अरब प्रदेश—तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत अरब के प्रदेश निम्नलिखित थे—ईराक (मैसोपोटामिया), सीरिया, पैलेस्टाइन, हज्जाज और नेज्द। इन सब प्रदेशों के अरबनिवासी स्वाभाविक रूप से यह आशा करते थे, कि महायुद्ध की समाप्ति पर उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायगी। मित्रराष्ट्रों और विशेषतया ब्रिटेन ने उन्हें इसी बात का भरोसा दिया था। हम राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद के लिये युद्ध कर रहे हैं, और संसार का पुनःनिर्माण इन्हीं आदर्शों के अनुसार करना चाहते हैं—यह बात वे डंके की चोट के साथ कहते थे। पर अब मित्रराष्ट्रों ने यह अनुभव किया, कि अरब के लोग बहुत पिछड़े हुए हैं, वे अभी स्वराज्य के योग्य नहीं हैं, और उन्हें कुछ समय के लिये यूरोप के उन्नत राज्यों के संरक्षण में रहना चाहिये। मित्रराष्ट्र यह तो नहीं कह सकते थे, कि हम इन प्रदेशों को अपनी अधीनता में रखना चाहते हैं। किसी समय साम्राज्य-विस्तार राज्यों के लिये गौरव की बात समझी जाती थी। राज्य व उनके शासक खुले तौर पर कहते थे, कि वे अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहे हैं। पर अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भाषा में परिवर्तन आ गया था। अब यह कहा जाने लगा, कि अरब जातियों के कल्याण के लिये मित्रराष्ट्र यह बोझ सिर पर लेने के लिये तैयार हैं, कि कुछ समय तक उनकी उन्नति में सहयोग दें, और उन्हें अपनी संरक्षा में रखकर बाह्य और आभ्यन्तर भयों से उनकी रक्षा करें, ताकि वे निश्चिन्त होकर अपनी उन्नति करते रह सकें। इसी बात को दृष्टि में रखकर राष्ट्रसंघ

से यह व्यवस्था की, कि अरब और इसी प्रकार के जो अन्य प्रदेश टर्की व जर्मनी की अधीनता से मुक्त हुए हैं, उन्हें ब्रिटेन और फ्रांस जैसे उन्नत देशों की संरक्षा में दे दिया जाय।

इस नीति के अनुसार निम्नलिखित प्रदेश राष्ट्रसंघ के मैन्डेट (आदेश) के अधीन ब्रिटिश संरक्षा में दिये गये।

(१) **ईराक**---इस प्रदेश में तेल के अनेक कुएं हैं। ब्रिटेन के लिये इसका महत्त्व केवल इसके तैलकूपों के कारण ही नहीं था, अपितु भारत के विशाल साम्राज्य पर अपना आधिपत्य स्थिर रखने के लिये भी इसका बड़ा उपयोग था। महायुद्ध से पूर्व जर्मन सरकार की यही योजना थी, कि आस्ट्रिया और टर्की के साम्राज्यों को अपने प्रभाव में लाकर बर्लिन से बगदाद तक सीधा सम्बन्ध कायम कर लिया जाय, ताकि बगदाद को आधार बनाकर मौका आने पर भारत पर सुगमता से हमला किया जा सके। जर्मनी ने इसके लिये प्रयत्न भी किया था। ब्रिटेन ने यह भलीभांति समझ लिया था, कि उसके विशाल पूर्वी साम्राज्य की सुरक्षा के लिये जिस प्रकार स्वेज कैनाल की उपयोगिता है, वैसे ही ईराक की भी है। इसीलिये उसने ईराक पर अधिकार करके सैनिक दृष्टि से एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रदेश को प्राप्त कर लिया। अंग्रेजों ने ईराक को एक पृथक् अरब राज्य के रूप में परिवर्तित किया और उसकी राजगद्दी फैजल के सुपुर्द की गई। फैजल हज्जाज के हुसैन का छोटा लड़का था, और महायुद्ध के समय उसने अंग्रेजों का दिल से साथ दिया था। १९२२ में अंग्रेजों ने फैजल को ईराक का स्वतन्त्र राजा स्वीकार कर लिया, यद्यपि उस पर ब्रिटेन का संरक्षण कायम रहा। १९२२ के बाद ईराक की स्थिति ब्रिटेन के संरक्षित राज्य के समान थी, यद्यपि उसे एक स्वतन्त्र राज्य माना जाता था।

(२) **पैलेस्टाइन**---यद्यपि इसके बहुसंख्यक निवासी अरब थे, पर यहां यहूदी लोग भी अल्प संख्या में बसते थे। पैलेस्टाइन यहूदियों की धर्म-भूमि थी। शुरू में वे यहीं पर बसते थे, और यहीं से दुनिया के अन्य हिस्सों में फैले थे। राष्ट्रीयता की भावना के विकास के कारण जर्मनी, पोलैण्ड, हंगरी आदि यूरोपियन राज्यों में यहूदियों की स्थिति बहुत खतरे में पड़ गई थी। यहूदी लोग धन, शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा आगे बढ़े हुए थे। राष्ट्रीय भावना के कारण पोल, चेक, हंगेरियन आदि लोग अपने बीच में उनकी ऊँची स्थिति को ईर्षा और प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से देखते थे। उन्हें यह पसन्द नहीं था, कि यहूदी लोग उनके बीच में रहें। इसलिये अब यहूदी लोग इस बात की आव-

श्यकता अनुभव करने लगे थे, कि उनका भी कोई अपना देश होना चाहिये। उनके नेता डा० वीजमान की यह राय थी, कि पैलेस्टाइन का प्रदेश यहूदियों का घर होने के लिये सब प्रकार से उपयुक्त है। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की इस आन्दोलन से सहानुभूति थी। कारण यह कि वे समझते थे, कि पैलेस्टाइन में यहूदियों के बस जाने से अरब में एक ऐसा प्रदेश तैयार हो जायगा, जो सुगमता से ब्रिटेन के प्रभाव में रह सकेगा।

अब पैलेस्टाइन पर भी ब्रिटेन का संरक्षण कायम किया गया। इससे ब्रिटेन को यह लाभ हुआ, कि स्वेज कैनाल पर उसका प्रभुत्व अधिक दृढ़ हो गया। मिस्र में स्वाधीनता का आन्दोलन बड़ी तेजी से चल रहा था। अब ब्रिटेन यह भरोसा नहीं रख सकता था, कि मिस्र में उसकी सेनायें सुरक्षित रूप से रह सकेंगी। पर पैलेस्टाइन के अधीन हो जाने से ब्रिटेन वहां अपनी सेनायें निश्चिन्त रूप से रख सकता था, और वहां से स्वेज कैनाल पर अपना कब्जा कायम रखना उसके लिये बहुत सुगम था। साथ ही, हवाई जहाजों का विकास इस समय पर्याप्त रूप से हो चुका था, और ब्रिटेन से भारत, सिंगापुर, आस्ट्रेलिया आदि का हवाई सम्बन्ध रखने के लिये यह जरूरी था, कि अरब में कहीं बड़ा हवाई अड्डा बनाया जाय। पैलेस्टाइन इसके लिये सबसे उपयुक्त था। पैलेस्टाइन पर अधिकार ब्रिटेन के लिये सैनिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व का था। उसे प्राप्त कर ब्रिटेन अपने विशाल पूर्वी साम्राज्य की सुरक्षा के सम्बन्ध में बहुत कुछ निश्चिन्त हो गया था।

ब्रिटेन के प्रोत्साहन से यहूदी लोग लाखों की संख्या में पैलेस्टाइन में बसने शुरू हुए। वहां उन्होंने अनेक व्यवसाय-केन्द्रों, बन्दरगाहों और नगरों का विकास किया। यहूदियों की पूंजी और वैज्ञानिक निपुणता से पैलेस्टाइन का पिछड़ा हुआ प्रदेश कुछ ही सालों में बड़ा उन्नत और समृद्ध हो गया। जहां यहूदियों द्वारा पैलेस्टाइन को यह लाभ पहुंचा, वहां साथ ही यह नुकसान भी हुआ, कि शीघ्र ही वहां जातिगत विरोध की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। अरब लोग यह पसन्द नहीं करते थे, कि उनके बीच में एक विदेशी और विधर्मी जाति आकर बस जाय। इसके कारण जो जातिगत युद्ध पैलेस्टाइन में शुरू हुए, उनका उल्लेख हम यथा-स्थान करेंगे।

(३) **ट्रांसजोर्डेनिया**—सीरिया के कुछ प्रदेश को लेकर ट्रांसजोर्डेनिया नामक एक अन्य अरब-राज्य का निर्माण किया गया। इसका शासक हज्जाज के हुसैन के बड़े लड़के अब्दुल्ला को नियत किया गया। इसने भी महायुद्ध में अंग्रेजों की सहायता

की थी। ईराक के समान ट्रांसजोर्डनिया भी अंग्रेजों का संरक्षित राज्य था।

अरब के सब प्रदेश अंग्रेजों की संरक्षा में ही नहीं दिये गये थे। सीरिया और लेबनान पर फ्रांस का आधिपत्य स्थापित किया गया। इन पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

हज्जाज---इसी प्रसंग में यह उल्लेख कर देना भी उपयोगी होगा, कि तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत हज्जाज प्रदेश को एक ऐसे स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत किया गया, जो न ब्रिटेन की संरक्षा में था और न फ्रांस की। मक्का और मदीना मुसलमानों के पवित्र तीर्थ हैं, अतः यह उचित समझा गया, कि इनके प्रदेश को पूर्णतया स्वतन्त्र रखा जाय। हुसैन को हज्जाज का स्वतन्त्र राजा स्वीकृत किया गया। उसके दो लड़के अब्दुल्ला और फैजल दो अन्य अरब-राज्यों के शासक हो गये थे, और वह स्वयं हज्जाज का स्वतन्त्र राजा बन गया था। टर्की में सुलतान के शासन का अन्त हो जाने पर जब वहां रिपब्लिक की स्थापना हो गई, तो कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रहा, जो सम्पूर्ण मुसलिम-जगत का खलीफा होने का दावा कर सके। हुसैन ने इस स्थिति का उपयोग किया और अपने को खलीफा घोषित कर दिया। पर हज्जाज में हुसैन की शक्ति देर तक कायम नहीं रह सकी। महायुद्ध के समय में ही अरब के रेगिस्तान में एक वीर नेता का प्रादुर्भाव हुआ था, जिसका नाम इब्न सऊद था। जिस समय हुसैन अंग्रेजों की सहायता से तुर्क शासन के खिलाफ संघर्ष में लगा था, इब्न सऊद ने अपने बाहुबल के भरोसे अरब के रेगिस्तान में तुर्कों के खिलाफ विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया था और वहां अपनी शक्ति को कायम कर लिया था। नेज्द अरब के इसी रेगिस्तान का नाम है। १९२४ तक प्रायः सम्पूर्ण नेज्द इब्न सऊद के आधिपत्य में आ गया था। १९२४ का अन्त होने से पूर्व ही उसने हज्जाज पर भी आक्रमण कर दिया। हुसैन उसका मुकाबला नहीं कर सका और मक्का छोड़कर भागने के लिये विवश हुआ। पैलेस्टाइन में जाकर उसने शरण ली और जरूसलम में उसकी मृत्यु हुई। हज्जाज पर इब्न सऊद का अधिकार कायम हो गया, और वह हज्जाज और नेज्द पर स्वतन्त्र राजा के रूप में शासन करने लगा।

अफ्रीका में ब्रिटेन के अधीन नये प्रदेश---जिस प्रकार महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप ब्रिटेन को अनेक प्रदेश अरब में प्राप्त हुए, वैसे ही अफ्रीका में भी अनेक प्रदेशों पर उसका आधिपत्य कायम हुआ। ये पहले जर्मनी के अधीन थे, पर पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा ब्रिटेन के हाथ में आ गये थे। इनका भी यहां उल्लेख करना आवश्यक है---

(१) टांगनीका—यह अफ्रीका में है। महायुद्ध से पहले यह जर्मनी के अधीन था, और इसीलिये इसे जर्मन ईस्ट अफ्रीका भी कहते थे। अब यह ब्रिटेन के संरक्षण में आ गया। टांगनीका के प्राप्त हो जाने से कैरो (मिस्र में) से केप (अफ्रीका का सबसे दक्षिणी सिरा) तक ब्रिटेन का अबाधित शासन कायम हो गया। टांगनीका के दो छोटे प्रदेश बेल्जियम और पोर्तुगाल को भी दिये गये। ये प्रदेश बेल्जियम कांगो और पोर्तुगाल के अफ्रीकन प्रदेश के साथ लगते थे। शेष सारा टांगनीका ब्रिटेन को मिला।

(२) पश्चिमी अफ्रीका में कामरून और टोगोलैण्ड के प्रदेश ब्रिटेन और फ्रांस में बांट दिये गये। इनका भी अच्छा बड़ा हिस्सा ब्रिटेन को मिला।

(३) जर्मनी का दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका का उपनिवेश ब्रिटिश दक्षिणी अफ्रीका को मिला।

प्रशान्त महासागर में जो अनेक द्वीप जर्मनी के अधीन थे, वे जापान, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में बांट दिये गये। इनमें से बहुत-से द्वीप आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड को मिले। इनकी प्राप्ति से ब्रिटिश साम्राज्य में बहुत कुछ वृद्धि हो गई, और अनेक स्थान, जो सैनिक महत्त्व के थे, ब्रिटेन को प्राप्त हो गये।

महायुद्ध के कारण ब्रिटिश साम्राज्य की बहुत समृद्धि हुई। उसे न केवल नये प्रदेश ही प्राप्त हुए, अपितु अनेक ऐसे स्थान भी मिले, जिनके कारण ब्रिटेन का विशाल साम्राज्य पहले की अपेक्षा बहुत अधिक सुरक्षित हो गया।

२. आयर्लैण्ड की स्वाधीनता

आयरिश देशभक्त अपने देश को ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्र कराने के लिये जो आन्दोलन कर रहे थे, उसका उल्लेख इस इतिहास के पहले एक अध्याय में किया जा चुका है। सारी उन्नीसवीं सदी में आयरिश लोग स्वराज्य के लिये संघर्ष करते रहे। नसल, भाषा, धर्म और रीति-रिवाज की दृष्टि से आयरिश लोग अंग्रेजों से भिन्न हैं। महायुद्ध के प्रारम्भ होने से पहले होमरूल के लिये जो बिल ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में उपस्थित किये गये थे, उन पर अन्तिम निर्णय युद्ध के कारण स्थगित कर दिया गया था। इससे आयरिश लोगों में बहुत असन्तोष हुआ। ब्रिटिश लोगों को यह तो फिकर थी, कि आस्ट्रियन साम्राज्य की अधीनता में जो चेक, पोल, स्लोवाक और हंगेरियन आदि जातियां निवास करती हैं, उन सबको राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाय, पर उनके अपने साम्राज्य में जो जातियां अधीनस्थ रूप में रहती थीं, उनकी स्वतन्त्रता की उन्हें कोई चिन्ता न थी। आयर्लैण्ड

उनके बिलकुल पड़ोस में है। वहां के लोग जो स्वराज्य के लिये यत्न कर रहे थे, उन्हें ब्रिटिश सरकार उसी तरह कुचलने में तत्पर थी, जैसे कि आस्ट्रियन सरकार चेकों व स्लोवाकों की राष्ट्रीय आकांक्षा को।

सिनफीन दल---सन् १९०४ में ग्रीफिथ के नेतृत्व में सिनफीन दल का संगठन हुआ था। सिनफीनर लोग चाहते थे, कि आयर्लैण्ड का ब्रिटिश साम्राज्य के साथ कोई सम्बन्ध न रहे, और वहां एक पृथक् व स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की जाय। महायुद्ध को उन्होंने स्वराज्य-प्राप्ति के लिये सुवर्णीय अवसर समझा, और 'इङ्गलैण्ड की मुसीबत हमारे लिये उत्तम अवसर है', इस सिद्धान्त का अनुसरण कर संघर्ष का प्रारम्भ कर दिया। अनेक सिनफीनर लोग इस समय जर्मनी गये और उन्होंने इङ्गलैण्ड के विरुद्ध लड़ाई शुरू करने के लिये जर्मन सरकार से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। १९१६ में ईस्टर के अवसर पर सिनफीनर लोगों ने डब्लिन की कतिपय सार्वजनिक इमारतों पर कब्जा कर लिया और यह घोषित किया, कि स्वतन्त्र आयरिश रिपब्लिक की सामयिक सरकार का संगठन कर लिया गया है। यदि इस अवसर पर जर्मनी आयरिश देशभक्तों की अस्त्र-शस्त्र से सहायता कर सकता, तो निःसन्देह सिनफीनर लोग अपने प्रयत्न में अच्छी सफलता प्राप्त कर सकते थे। पर समुद्र में ब्रिटेन की शक्ति बहुत अधिक थी और जर्मनी के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह आयरिश देशभक्तों के पास हथियार पहुंचा सकता। परिणाम यह हुआ, कि सिनफीनर लोगों को विशेष सफलता नहीं हुई। एक सप्ताह में उनके विद्रोह या स्वातन्त्र्य-युद्ध को दबा दिया गया। अनेक विद्रोही नेता गोली से उड़ा दिये गये और कई हजार विद्रोहियों को गिरफ्तार कर लिया गया। आयर्लैण्ड में फौजी शासन कायम कर दिया गया और ब्रिटिश सरकार ने सिनफीन विद्रोह को कुचल देने के लिये अत्यन्त उग्र उपायों का आश्रय लिया। पर इनसे सिनफीन दल कमजोर नहीं हुआ। उसकी शक्ति निरन्तर बढ़ती गई, और जनता की सहानुभूति उन्हें प्राप्त होती गई।

इस समय इङ्गलैण्ड का प्रधान मन्त्री लायड जार्ज था। वह लिबरल दल का था और आयरिश होमरूल का समर्थक था। १९१७ में उसने आयर्लैण्ड की समस्या को हल करने के लिये एक कान्फरेन्स का आयोजन किया। पर इसमें कोई ऐसा निर्णय नहीं हो सका, जो दोनों पक्षों को स्वीकार हो। १९१८ के शुरू में इङ्गलैण्ड ने बाधित सैनिक सेवा और बाधित सैनिक भरती के कानून को आयर्लैण्ड में भी लागू कर दिया और आयरिश नवयुवकों को जबर्दस्ती सेना में

भरती करना शुरू किया गया। इससे आयर्लैण्ड में और भी अधिक असन्तोष फैला। यदि कुछ समय बाद महायुद्ध का अन्त न हो जाता, तो जबर्दस्ती सैनिक भरती के सवाल पर आयर्लैण्ड में और भी अधिक अशान्ति हो जाती।

समानान्तर सरकार की स्थापना—दिसम्बर, १९१८ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के नये चुनाव हुए। इसमें सिनफीन दल ने भी हिस्सा लिया। आयरिश नेशनलिस्ट पार्टी ब्रिटिश साम्राज्य में रहते हुए होम रूल प्राप्त करना चाहती थी, और सिनफीन दल स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना के पक्ष में था। आयर्लैण्ड में चुनाव इसी प्रश्न को सम्मुख रखकर लड़ा गया। चुनाव में सिनफीन दल को असाधारण सफलता मिली। सिनफीन दल के ७३ उम्मीदवार चुनाव में सफल हुए और नेशनलिस्ट दल के केवल ६ उम्मीदवार। इस समय सिनफीन दल के ७३ प्रतिनिधियों ने बड़े साहस का काम किया। इङ्गलैण्ड में जाकर पार्लियामेण्ट में बैठने के बजाय उन्होंने डबलिन में अपनी पृथक् पार्लियामेण्ट कायम कर ली। जनवरी, १९१९ में उन्होंने स्वतन्त्र आयरिश रिपब्लिक की घोषणा कर दी। एक समानान्तर सरकार कायम कर ली गई। इसका अपना मन्त्रिमण्डल था, अपनी पुलिस व सेना थी, अपने न्यायालय थे और अपने कानून थे। डी वेलेरा को स्वतन्त्र आयरिश रिपब्लिक का पहला राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। इस सरकार ने ब्रिटिश अफसरों के साथ बाकायदा लड़ाई छेड़ दी। गुरीला युद्ध के तरीकों का इस्तेमाल करके ब्रिटिश सेना को उन्होंने काफी परेशान किया। सिनफीनर लोगों ने इतना उग्र रूप धारण किया, कि २१ नवम्बर, १९२० को ब्रिटिश सैनिक अफसरों के मकानों पर उन्होंने हमले करने शुरू कर दिये। १४ अफसर गोली से उड़ा दिये गये। ये अफसर डबलिन के बाहर फौजी होटलों में रहते थे। इनके परिवार भी साथ में थे। इन अफसरों की हत्या उनकी पत्नियों की आंखों के सामने की गई थी। ब्रिटिश सेना इस समाचार से काबू से बाहर हो गई। उसी दिन दोपहर बाद डबलिन में फुटबाल का एक मैच हो रहा था। इसे देखने के लिये आयरिश लोग हजारों की संख्या में एकत्र थे। ब्रिटिश सैनिकों ने इन पर हमला बोल दिया। उन्होंने खुलकर गोली चलाई। सैकड़ों निहत्थे नागरिक बुरी तरह से घायल हुए, बहुत से जान से मारे गये। आयरिश और ब्रिटिश लोगों में विद्वेष किस हद तक बढ़ गया था, इसका यह घटना अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार की अन्य भी अनेक घटनायें वहां निरन्तर घट रही थीं। दोनों पक्ष आतंक के उपायों का प्रयोग कर रहे थे। डबलिन के बाजारों में मशीनगनें चक्कर काटती रहती थीं। जहां कहीं वे भीड़ देखतीं, उस पर अन्धाधुन्ध गोली चलातीं।

आयरिश लोग भी चुप नहीं बैठे थे। उनके स्वयंसेवक सिपाही जब मौका देखते, ब्रिटिश शासकों व सैनिकों पर हमला कर देते। दोनों में से कोई भी सुरक्षित नहीं था। १९२० में यह आतंक और कत्लेआम निरन्तर जारी रहे। इस समय लायड जार्ज का यह विचार था, कि आयर्लैण्ड को कुचलने का एक ही तरीका है, कि एक बड़ी शक्तिशाली सेना वहां भेज दी जाय, जो वहां फौजी शासन की स्थापना करे। पर इससे भी वहां स्थिर रूप में शान्ति कायम हो सकेगी, यह बात सन्दिग्ध थी। यूरोप के अन्य राज्य इस सम्बन्ध में ब्रिटिश शासन की कटु आलोचना में लगे थे। वे कहते थे, जो ब्रिटेन संसार की अन्य पराधीन जातियों की स्वाधीनता के लिये संघर्ष करता है, वही स्वयं आयरिश लोगों पर घोर से घोर अत्याचार करने में संकोच नहीं करता। अमेरिका का लोकमत इस सम्बन्ध में ब्रिटिश नीति के बहुत खिलाफ था, बहुत-से आयरिश देशभक्त अमेरिका जाकर वहां ब्रिटिश अत्याचारों के सम्बन्ध में कटु प्रचार में लगे थे।

समझौते के प्रयत्न—आयर्लैण्ड में जिस प्रकार स्वतन्त्र आयरिश सरकार और ब्रिटिश शासकों में संघर्ष चल रहा था, उसका अन्त करने के लिये भी लायड जार्ज की सरकार ने अनेक प्रयत्न किये। दिसम्बर, १९२० में उसने पार्लियामेण्ट द्वारा एक नया आयरिश होम रूल एक्ट पास कराया, जिसके अनुसार आयर्लैण्ड को स्वशासन सम्बन्धी अनेक अधिकार दिये गये। इस कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि अल्स्टर और दक्षिणी आयर्लैण्ड की पृथक्-पृथक् पार्लियामेण्ट हों, और दोनों की सरकारें भी अलग-अलग हों। अल्स्टर के निवासी इस व्यवस्था से सन्तुष्ट थे, पर दक्षिणी आयर्लैण्ड के लोग और विशेषतया सिनफीन दल के लोग इसे स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं थे। उनका कथन था, कि देश का दो भागों में विभाजन सर्वथा अनुचित है, और अब आयर्लैण्ड के लोग किसी भी ऐसी व्यवस्था को स्वीकार नहीं कर सकते, जिसके अनुसार उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहना हो।

१९२१ में नये आयरिश होम रूल एक्ट (१९२०) के अनुसार चुनावों की व्यवस्था की गई। सिनफीन दल ने इसमें भाग लिया। चुनाव में उसे असाधारण सफलता मिली। दक्षिणी आयर्लैण्ड की पार्लियामेण्ट के सदस्यों की कुल संख्या १२८ थी। इसमें से १२४ सदस्य सिनफीन दल के निर्वाचित हुए। ब्रिटिश सरकार के आदेशानुसार जब इस आयरिश पार्लियामेण्ट का अधिवेशन शुरू हुआ, तो उसमें केवल चार सदस्य उपस्थित हुए। सिनफीन दल ने इस पार्लियामेण्ट का बहिष्कार कर दिया था।

लायड जार्ज इससे भी निराश नहीं हुआ। उसने सिनफीन दल के अन्यतम नेता डी वेलेरा को लण्डन निमन्त्रित किया और वहां समझौते की बातचीत शुरू की। पर लायड जार्ज के प्रस्ताव आयरिश लोगों ने स्वीकार्य नहीं समझे, और समझौते की बातचीत सफल नहीं हो सकी।

आयर्लैण्ड के साथ सन्धि—डी वेलेरा के साथ समझौता करने के प्रयत्न में असफल होकर भी लायड जार्ज ने अपनी इस कोशिश को जारी रखा, कि कोई ऐसा उपाय निकाला जाय, जिससे आयर्लैण्ड ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहता हुआ स्वराज्य का उपभोग कर सके। १९२१ में सिनफीन दल के प्रतिनिधियों को एक बार फिर लण्डन में निमन्त्रित किया गया। इस बार सिनफीन दल के प्रतिनिधिमण्डल के नेता श्री ग्रीफिथ और माइकेल कालिन्स थे। सिनफीन नेता गुरीला युद्ध में अवश्य प्रवीण थे, पर राजनीतिक बातचीत में वे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। लायड जार्ज जैसे कुशल नीतिज्ञ के सम्मुख वे दब गये और ६ दिसम्बर, १९२१ को आयर्लैण्ड और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ब्रिटिश साम्राज्य में आयर्लैण्ड की वही स्थिति रहेगी, जो कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका और न्यूजीलैण्ड सदृश उपनिवेशों की है। (२) आयर्लैण्ड की अपनी पृथक् पार्लियामेण्ट होगी, जिसे अपने देश के लिये कानून बनाने और शान्ति व व्यवस्था कायम रखने के लिये नीति निर्धारण का पूरा-पूरा अधिकार होगा। (३) आयर्लैण्ड का शासन-विभाग इस पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी होगा। (४) नया आयर्लैण्ड 'आयरिश फ्री स्टेट' कहायगा। (५) आयरिश फ्री स्टेट के सरकारी कर्मचारियों, मन्त्रियों व पार्लियामेण्ट के सदस्यों को ब्रिटेन के राजा के प्रति भक्ति की शपथ लेनी होगी। जिस प्रकार कनाडा में ब्रिटेन की ओर से एक गवर्नर जनरल नियुक्त किया जाता है, जो वहां ब्रिटिश राजा का प्रतिनिधित्व करता है, वैसे ही आयर्लैण्ड में भी राजा के प्रतिनिधि रूप में एक गवर्नर जनरल की नियुक्ति की जायगी। (६) उत्तरी आयर्लैण्ड (अल्स्टर) को यह अधिकार होगा, कि चाहे वह आयरिश फ्री स्टेट में सम्मिलित हो जाय और चाहे अपनी पृथक् सत्ता को कायम रखे। (७) आयरिश फ्री स्टेट की अपनी पृथक् सेना होगी, पर ब्रिटेन का जंगी जहाजी बेड़ा उसके समुद्रतट की रक्षा के लिये उत्तरदायी होगा। इसके लिये अनेक आयरिश बन्दरगाह ब्रिटेन के सैनिक कब्जे में रहेंगे और उनमें ब्रिटेन अपने सैनिक अड्डे बना सकेगा।

फ्री स्टेट के पक्षपाती और रिपब्लिकन दलों में संघर्ष—ग्रीफिथ और कालिन्स

सिनफीन दल के प्रमुख नेता थे। वे जो पूर्ण स्वराज्य के स्थान पर औपनिवेशिक स्वराज्य के लिये सहमत हो गये, यह ब्रिटिश कूटनीति की भारी विजय थी। पर जब इस सन्धि का समाचार डी वेलेरा को मिला, तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसने इस समझौते को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। वह ऐसी किसी भी सन्धि व समझौते को मानने के लिये तैयार नहीं था, जिसके अनुसार आयर्लैण्ड ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहता हो, और उसके सरकारी कर्मचारियों को ब्रिटिश राज्य के प्रति भक्ति की शपथ लेना अनिवार्य हो। बहुत से अन्य सिनफीन नेताओं ने डी वेलेरा का साथ दिया।

६ दिसम्बर, १९२१ को श्री ग्रीफिथ ने जो सन्धि ब्रिटिश सरकार के साथ की थी, उसे 'डेल अरायन' के सम्मुख विचारार्थ पेश किया गया। सिनफीन दल के ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के लिये निर्वाचित १२४ सदस्यों ने अपनी जो अलग पार्लियामेण्ट कायम कर ली थी (१९२०), उसे डेल अरायन कहते थे। बहुमत से डेल अरायन ने श्री ग्रीफिथ द्वारा की गई सन्धि को स्वीकृत कर लिया। इस पर डी वेलेरा ने सिनफीन दल से और स्वतन्त्र (समानान्तर) आयरिश सरकार के अध्यक्ष पद से त्याग-पत्र दे दिया। अब आयर्लैण्ड के वे देशभक्त दो दलों में विभक्त हो गये, जिन्होंने सिनफीन झण्डे के नीचे अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये घोर संघर्ष किया था। ग्रीफिथ, कालिन्स और कासग्रेव ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य से सन्तुष्ट थे और उनका विचार था, कि अब आयर्लैण्ड को ६ दिसम्बर, १९२१ की सन्धि की सब शर्तों का पालन करते हुए देश के लिये नया संविधान तैयार करना चाहिये। इसके विपरीत डी वेलेरा और उसके साथियों का कहना था, कि "हम लोगों ने ब्रिटेन के लिये आयर्लैण्ड पर शासन कर सकना असम्भव बना दिया था, और अब हम उन आयरिश लोगों के लिये सरकार का संचालन कर सकना असम्भव बना देंगे, जो कि ब्रिटेन के साथ सहयोग करने को तैयार हैं।" डी वेलेरा ने इस समय एक नई पार्टी का संगठन किया, जिसे रिपब्लिकन पार्टी या 'फिआना फैल' कहते थे। इस पार्टी ने अपनी पृथक् स्वयंसेवक सेना संगठित की और ग्रीफिथ की स्वतन्त्र आयरिश सरकार के खिलाफ लड़ाई छेड़ दी। एक साल के लगभग तक दोनों दलों में घोर संघर्ष जारी रहा। १९२२ के जून मास में आयर्लैण्ड की पार्लियामेण्ट का नया निर्वाचन हुआ। डी वेलेरा की रिपब्लिकन सेना ने इसमें विघ्न डालने के लिये हत्या और तोड़-फोड़ के उपायों का अवलम्बन किया। वह रेलवे लाइनों को उखाड़कर, औपनिवेशिक स्वराज्य के पक्षपातियों पर हमले करके और वोटरों पर आतंक जमाकर चुनाव को

असफल बनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करती रही। पर आयर्लैण्ड की जनता ने ग्रीफिथ का साथ दिया और उसके अनुयायी बहुत बड़ी संख्या में पार्लियामेण्ट में निर्वाचित हुए।

आयरिश फ्री स्टेट का संविधान—१९२२ के नये चुनाव द्वारा आयर्लैण्ड की जिस पृथक् पार्लियामेण्ट का निर्माण हुआ, उसने देश के लिये नये संविधान की रचना की, और सामयिक रूप से एक सरकार का संगठन किया, जिसका अध्यक्ष श्री कासग्रेव को चुना गया। आयरिश पार्लियामेण्ट द्वारा तैयार किये गये संविधान को ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने अविकल रूप से स्वीकार कर लिया और ६ दिसम्बर, १९२२ के दिन ब्रिटेन के राजा जार्ज पञ्चम ने आयरिश फ्री स्टेट की स्थापना की घोषणा कर दी। इसके बाद आयर्लैण्ड से सब ब्रिटिश सेनाओं को हटा लिया गया और वहां शान्ति व व्यवस्था स्थापित रखने की सब जिम्मेदारी आयरिश सरकार पर छोड़ दी गई।

१९२२ में निर्वाचित आयरिश पार्लियामेण्ट ने देश के लिये जिस नये संविधान का निर्माण किया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) शासन का प्रमुख गवर्नर जनरल को माना जाय, जो ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त हो और जो आयर्लैण्ड में ब्रिटिश राजा का प्रतिनिधित्व करता हो। (२) पर सरकार का वास्तविक रूप से संचालन एक मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाय, जो आयरिश पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी हो। मन्त्रिमण्डल के अध्यक्ष को प्रेसिडेन्ट (अध्यक्ष) कहा जाय। (३) आयर्लैण्ड की पार्लियामेण्ट में दो सदन हों—सीनेट और डेल अरायन। सीनेट के सदस्यों की संख्या ६० हो, जिन्हें १२ साल के लिये चुना जाय। प्रति तीन वर्ष बाद सीनेट के एक चौथाई सदस्य बदलते रहें। ३० साल से अधिक आयु के प्रत्येक आयरिश को सीनेट के सदस्यों के चुनाव में वोट देने का अधिकार हो। डेल अरायन का चुनाव चार साल के लिये किया जाय और २१ साल से अधिक आयु के प्रत्येक आयरिश नागरिक को इसके सदस्यों के चुनाव में वोट देने का अधिकार रहे। मन्त्रिमण्डल के अध्यक्ष (प्रेसिडेन्ट) का चुनाव डेल अरायन किया करे। (४) धर्म के मामले में आयर्लैण्ड के सब निवासियों को पूरी-पूरी स्वतन्त्रता रहे।

६ दिसम्बर, १९२१ की सन्धि के अनुसार एक व्यवस्था यह भी की गई थी, कि यदि उत्तरी आयर्लैण्ड (अल्स्टर) यह फैसला करे, कि उसे आयरिश फ्री स्टेट से पृथक् रहना है, तो दोनों राज्यों की सीमा को निश्चित करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की जाय। अल्स्टर के लोग अपने को शेष आयर्लैण्ड से

पृथक् रखना चाहते थे, अतः १९२४ में इस सीमा-कमीशन की नियुक्ति की गई। अल्स्टर और आयरिश फ्री स्टेट की सीमा को निश्चित कर सकना सुगम बात नहीं थी, क्योंकि बीच के प्रदेशों की आबादी मिश्रित थी, वहां आयरिश और इङ्गलिश जातियों के लोग साथ-साथ बसे हुए थे। कमीशन और ब्रिटिश सरकार के साथ सीधी बातचीत द्वारा अल्स्टर की जो सीमा अन्त में तय हुई, वह ऐसी थी, जिससे आयरिश लोग बहुत असन्तुष्ट थे, क्योंकि इसके कारण बहुत-से आयरिश लोग अल्स्टर में निवास करने के लिये विवश हो गये थे। डी वेलेरा व उसके साथियों ने आयरिश फ्री स्टेट की सरकार के खिलाफ आन्दोलन में इस स्थिति का खूब उपयोग किया और अल्स्टर की समस्या आयर्लैण्ड में अशान्ति का एक स्थिर कारण बनी रही।

अपना पृथक् संविधान बनाने के बाद यह स्वाभाविक था, कि आयर्लैण्ड में राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति को और अधिक बल मिले। अब आयर्लैण्ड ने अपना पृथक् राष्ट्रीय झण्डा बनाया, और अपनी देसी भाषा गैलिक का पुनरुद्धार किया। अब तक आयर्लैण्ड की राजकीय भाषा अंग्रेजी थी, शिक्षा का माध्यम भी वहां अंग्रेजी ही थी। पर स्वतन्त्र आयरिश राज्य ने अंग्रेजी की जगह पर गैलिक (आयरिश) भाषा को राजकीय भाषा के रूप में स्वीकृत किया और शिक्षा का माध्यम भी उसी को बनाया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी आयर्लैण्ड की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम आदि देशों में आयर्लैण्ड के पृथक् दूतावास कायम किये गये और १९२३ में आयर्लैण्ड भी राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। आयरिश लोगों में राष्ट्रीय भावना इतनी प्रबल थी, कि राष्ट्रसंघ के अधिवेशनों में भी उसके प्रतिनिधि गैलिक भाषा में भाषण देते थे।

डी वेलेरा की नई नीति—१९२२ में डी वेलेरा की रिपब्लिकन पार्टी हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन कर आयरिश फ्री स्टेट की सरकार के मार्ग में बाधा डालने की पूरी-पूरी कोशिश करती रही। ग्रीफिथ, कासग्रेव और कालिन्स आदि नेताओं के लिये यह सुगम नहीं था, कि वे उन लोगों के खिलाफ उग्र दमनकारी नीति का अवलम्बन कर सकें, जिन्होंने स्वराज्य-संग्राम में अपूर्व वीरता प्रदर्शित की थी। अगस्त, १९२२ में रिपब्लिकन पार्टी के लोगों ने कालिन्स की हत्या कर दी। अब श्री कासग्रेव की सरकार के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह डी वेलेरा की पार्टी के हिंसात्मक उपायों की उपेक्षा कर सके। अब उसने भी दमन-नीति का अवलम्बन किया। रिपब्लिकन पार्टी के हजारों व्यक्तियों को

गिरफ्तार किया गया और दर्जनों को गोली से उड़ा दिया गया। अब डी वेलेरा के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह सरकार की शक्ति का मुकाबला कर सके। १९२३ में उसने अपनी नीति में परिवर्तन किया और हिंसात्मक उपायों का त्याग कर वैध नीति को ग्रहण किया।

१९२३ से १९२७ तक डी वेलेरा की रिपब्लिकन पार्टी शान्तिमय और वैध उपायों से अपने पक्ष का प्रचार करने में व्यग्र रही। नये संविधान के अनुसार १९२३ में जो नये चुनाव हुए, उसमें भी इस पार्टी ने भाग लिया। १९२३ के चुनाव में रिपब्लिकन पार्टी के लोग अच्छी बड़ी संख्या में पार्लियामेण्ट में निर्वाचित हुए थे, पर वे उसके अधिवेशन में शामिल नहीं होते थे। १९२७ के चुनाव में डी वेलेरा के अनुयायियों को और भी अधिक सफलता हुई। डेल अरायन के सदस्यों की कुल संख्या १५३ थी, इनमें से ५७ रिपब्लिकन पार्टी के निर्वाचित हुए थे। कतिपय अन्य छोटी पार्टियों के साथ मिलकर अब डी वेलेरा के लिये यह कठिन नहीं था, कि वह कासग्रेव की सरकार के लिये कार्य कर सकना असम्भव कर सके। अब डी वेलेरा की रिपब्लिकन पार्टी हिंसात्मक उपायों व असहयोग-नीति का त्याग कर पूर्ण रूप से वैध उपायों का अनुसरण करने लग गई थी।

कासग्रेव-सरकार का पतन—१९३२ तक श्री कासग्रेव की सरकार कायम रही। इस बीच में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। १९२९-३० में जिस विश्वव्यापी अर्थसंकट का प्रारम्भ हुआ था, आयर्लैण्ड भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा था। आयर्लैण्ड के व्यवसायों को इससे भारी नुकसान पहुँच रहा था, और कारखानों के मालिक चाहते थे, कि विदेशी माल के मुकाबले में उनकी रक्षा करने के लिये संरक्षण-नीति का अनुसरण किया जाय। आर्थिक संकट के कारण सरकार की आमदनी पर भी असर पड़ने लगा था, और खर्च कम करने के अतिरिक्त उसे कोई उपाय ऐसा समझ में नहीं आता था, जिससे सरकारी बजट में आय और व्यय को बराबर रखा जा सके। सरकारी खर्च कम करने का यही उपाय था, कि सरकारी कर्मचारियों के वेतन आदि में कटौती की जाय। पर इसे वे स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। कासग्रेव की सरकार को इस समय बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था, और उसके विरुद्ध जनता में असन्तोष निरन्तर बढ़ता जाता था। डी वेलेरा ने इस स्थिति का उपयोग किया और १९३२ में जब डेल अरायन के नये चुनाव का समय आया, तो उसने रिपब्लिकन पार्टी की ओर से निम्नलिखित बातें मतदाताओं के सम्मुख पेश कीं—(१) १९२१ की सन्धि के अनुसार पार्लियामेण्ट के सदस्यों को

ब्रिटिश राजा के प्रति भक्ति की जो शपथ लेनी पड़ती है, उसे उड़ाया जाय। (२) आयरिश व्यवसायों की रक्षा के लिये संरक्षण-नीति का अनुसरण किया जाय। (३) आयर्लैण्ड में बहुत-सी जमीनें ऐसी थीं, जो ब्रिटिश लोगों की सम्पत्ति थीं। ६ दिसम्बर, १९२१ की सन्धि के अनुसार एक फैसला यह भी हुआ था, कि ये जमीनें ब्रिटिश मालिकों से खरीद ली जायं और उनकी कीमत को धीरे-धीरे सालाना किस्तों में आयरिश सरकार अदा करती रहे। इन किस्तों की मात्रा सात करोड़ रुपया वार्षिक नियत की गई थी। डी वेलेरा का कहना था, कि आर्थिक संकट के इस काल में इन किस्तों की अदायगी स्थगित रखी जाय। (४) १९३१ में आयरिश सरकार ने एक सार्वजनिक रक्षा कानून पास किया था, जिसके अनुसार अनेक राजनीतिक संगठनों को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया था, और यह भी व्यवस्था की गई थी, कि जिन लोगों पर हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करने का अपराध हो, उनके खिलाफ फौजी अदालतों में मुकदमे चलाये जायं। डी वेलेरा की पार्टी की मांग थी, कि इस कानून को रद्द किया जाय।

१९३२ के चुनाव में डी वेलेरा की रिपब्लिकन पार्टी को आशातीत सफलता हुई। इस चुनाव के कारण डेल अरायन में विविध दलों के सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी—रिपब्लिकन दल ७२, कासग्रेव के अनुयायी ६५, स्वतन्त्र सदस्य ९, मजदूर दल ७। अब कासग्रेव के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह सरकार का संचालन कर सकता। उसने त्याग-पत्र दे दिया और डी वेलेरा को बहुमत से मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया।

डी वेलेरा का शासन—मार्च, १९३२ में डी वेलेरा ने सरकार के अध्यक्ष पद को प्राप्त किया। अब उसे यह अवसर मिला, कि वह अपनी नीति को क्रिया में परिणत कर सके। १९३१ के सार्वजनिक रक्षा कानून को उसने तुरन्त रद्द कर दिया, और अपने कार्यक्रम की अन्य बातों को क्रिया में परिणत करने के लिये उद्योग प्रारम्भ किया। आयर्लैण्ड के व्यवसायों की रक्षा के लिये उसने संरक्षण-नीति का आश्रय लिया। पर यह करते हुए उसे अनेक विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा। आयर्लैण्ड से जो माल विदेशों में बिकने के लिये जाता था, उसका ९० प्रतिशत ग्रेट ब्रिटेन खरीदता था। इसी प्रकार वहां विदेशों से जो माल बिकने के लिये आता था, उसका बहुत बड़ा भाग भी ब्रिटेन से ही आया करता था। इस दशा में संरक्षण-नीति के अवलम्बन से सबसे अधिक नुकसान ब्रिटेन को हुआ। यह स्वाभाविक था, कि ब्रिटेन डी वेलेरा की इस नीति से नाराज हो। जब आयरिश सरकार ने ब्रिटेन को दी जाने वाली सालाना किस्त की

अदायगी को भी स्थगित कर दिया, तब तो ब्रिटिश सरकार के रोष की कोई सीमा नहीं रही। उसने आयर्लैण्ड से ब्रिटेन आनेवाले माल पर १०० प्रतिशत आयात-कर लगाने की व्यवस्था की और यह निश्चय किया, कि इस आयात-कर द्वारा जो आमदनी ब्रिटेन को होगी, उसे आयर्लैण्ड से वसूल की जाने वाली सालाना किस्त के खाते में जमा कर दिया जायगा। इस समय आयर्लैण्ड और ब्रिटेन दोनों ही एक दूसरे के माल पर भारी कर लगाने की नीति का अनुसरण कर रहे थे, और इसके कारण दोनों देशों में आयात-कर सम्बन्धी एक युद्ध-सा प्रारम्भ हो गया था। इस युद्ध का यह परिणाम हुआ, कि इन दोनों देशों के पारस्परिक व्यापार को बहुत अधिक नुकसान पहुँचा और उसकी मात्रा बहुत कम रह गई। १९३७ तक आयात-कर सम्बन्धी यह युद्ध जारी रहा और अन्त में दोनों देशों ने इस बात की आवश्यकता को अनुभव किया, कि परस्पर बातचीत द्वारा इसका अन्त किया जाना चाहिये। जनवरी, १९३८ में ब्रिटेन और आयर्लैण्ड के प्रतिनिधि इस प्रश्न पर विचार करने के लिये लण्डन में एकत्र हुए। वहां उन्होंने यह फैसला किया, कि (१) १९३२ में जब आयात-कर सम्बन्धी युद्ध का प्रारम्भ हुआ था, तब से दोनों देशों ने एक दूसरे के आयात माल पर जो कर लगाये हैं, उन सबका अन्त कर दिया जाय। (२) इङ्गलिश लोगों की जमीनों की कीमत के रूप में जो सालाना किस्तें आयर्लैण्ड ने ब्रिटेन को देनी थीं, उनकी जगह पर १५ करोड़ रुपया एक साथ नवम्बर, १९३८ तक दे दिया जाय, और भविष्य में इस मद्द में आयर्लैण्ड की कोई देनदारी न रहे। इस प्रकार इन दोनों देशों के आयात-कर सम्बन्धी युद्ध का अन्त हुआ।

नया संविधान—डी वेलेरा की यह नीति थी, कि आयर्लैण्ड का ब्रिटिश साम्राज्य के साथ कोई सम्बन्ध न रहे और उसकी स्थिति एक स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य की हो जाय। इसके अनुसार १९३७ में उसने आयर्लैण्ड के लिये एक नये संविधान की रचना की। पार्लियामेण्ट की स्वीकृति के बाद इस पर जनता का भी मत लिया गया, और लोकमत द्वारा स्वीकृत हो जाने पर दिसम्बर, १९३७ में इसे लागू कर दिया गया। इस संविधान की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) सम्पूर्ण आयर्लैण्ड एक स्वतन्त्र, सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न व लोकसत्तात्मक राज्य है, और भविष्य में उसका नाम 'आयर' रहेगा। (२) जब तक उत्तरी और दक्षिणी आयर्लैण्ड परस्पर मिलकर एक न हो जायं, नया संविधान केवल दक्षिणी आयर्लैण्ड पर लागू होगा। (३) आयर्लैण्ड का एक राष्ट्रपति होगा, जिसे जनता सात साल के लिये निर्वाचित करेगी। (४) राष्ट्रपति अपने

मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार शासन करेगा और मन्त्रिमण्डल पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी होगा। (५) व्यवस्थापन-विभाग में दो सदन होंगे, सीनेट और डेल अरायन। डेल अरायन के सदस्यों को जनता चुनेगी और सीनेट के सदस्य देश के आर्थिक व अन्य विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व करेंगे।

नये संविधान के अनुसार डा० डगलस हाइड आयर्लैण्ड के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए, और डी वेलेरा उसके प्रथम प्रधान मन्त्री नियत किये गये। १९३८ में आयर्लैण्ड एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिणत हो गया और इसकी स्थिति ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत एक औपनिवेशिक राज्य से भिन्न हो गई। ब्रिटिश लोगों ने भी अब यह अनुभव कर लिया, कि आयर्लैण्ड को वहां के निवासियों की इच्छा के खिलाफ जबर्दस्ती ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रख सकना सम्भव नहीं है। १९३८ के शुरू में जब आयर्लैण्ड और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने परस्पर मिल-कर आयात-कर सम्बन्धी युद्ध का अन्त किया, तभी उन्होंने यह फैसला भी किया, कि आयर्लैण्ड के जिन बन्दरगाहों में ब्रिटिश जल-सेना के अड्डे हैं, वहां से ब्रिटिश सेना व अस्त्र-शस्त्र आदि को हटा लिया जाय, और वहां पर विद्यमान सब ब्रिटिश सम्पत्ति आयर्लैण्ड के सुपुर्द कर दी जाय। इस समय से आयर्लैण्ड की स्थिति इतनी स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न हो गई, कि बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) में वह तटस्थ रहा और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अन्य उपनिवेशों व देशों के समान युद्ध में शामिल नहीं हुआ।

३. ईजिप्ट के साथ संघर्ष

उन्नीसवीं सदी में ईजिप्ट तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था। यद्यपि उसके अपने शासक होते थे, पर वे टर्की के सुलतान की अधीनता को स्वीकृत करते थे। तुर्की साम्राज्य की निर्बलता और ईजिप्ट के खदीवों की फिजूलखर्ची से लाभ उठाकर ब्रिटेन ने ईजिप्ट में अपना प्रभाव स्थापित करना शुरू किया। १८८२ में अपनी कुछ सेनायें उसने स्वेज नहर के क्षेत्र में रख दीं। ईजिप्ट किस प्रकार धीरे-धीरे ब्रिटेन के प्रभुत्व में आ गया, इस विषय पर पिछले एक अध्याय में हम विशद रूप से प्रकाश डाल चुके हैं। स्वेज नहर की रक्षा और भारत आदि पूर्वी देशों की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था के लिये ब्रिटेन यह आवश्यक समझता था, कि ईजिप्ट पर उसका कब्जा रहे। महायुद्ध में टर्की ने जर्मनी का साथ दिया। ईजिप्ट को पूर्णतया अपने अधिकार में ले आने का इससे अच्छा मौका ब्रिटेन के लिये और कौन-सा हो सकता था। उसने घोषणा की, कि ईजिप्ट को टर्की की अधीनता

से मुक्त किया जाता है, और वहां के खदीव ने ब्रिटेन की संरक्षा में रहना स्वीकार कर लिया है। ईजिप्ट के देशभक्त नेताओं का खयाल था, कि उनके देश पर ब्रिटेन का यह संरक्षण केवल युद्ध के काल के लिये है। युद्ध शीघ्र ही समाप्त हो जायगा और उसके साथ ही उनका देश भी पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो जायगा।"

स्वाधीनता के लिये संघर्ष—पर युद्ध जल्दी समाप्त नहीं हुआ। यद्यपि ईजिप्ट युद्ध में तटस्थ था, पर ब्रिटेन ने उसके निवासियों को जबर्दस्ती युद्ध में सहयोग देने के लिये विवश किया। ब्रिटेन की ओर से ईजिप्सियन लोगों की एक श्रमिक सेना भरती की गई, जिसका कार्य पैलेस्टाइन और सीरिया के रणक्षेत्रों में रसद पहुंचाना था। ज्यों-ज्यों युद्ध अधिक भयंकर होता गया, ब्रिटेन को यह आवश्यकता अनुभव होने लगी, कि ईजिप्ट के लोगों के सहयोग के बिना एशिया माइनर के क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं है। अब उसने ईजिप्सियन मजदूरों को सेना में भरती करने के लिये बल का प्रयोग शुरू किया। जरूरत पड़ने पर बहुत-से ईजिप्सियन सैनिकों को ब्रिटेन ने इस बात के लिये भी विवश किया, कि वे टर्की और जर्मनी के खिलाफ युद्ध करें। इस बात से ईजिप्ट के लोगों में बहुत असन्तोष फैला, और वहां एक राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ, जिसका उद्देश्य देश को ब्रिटेन के प्रभुत्व से मुक्त कराना था। इस आन्दोलन का प्रमुख नेता जगलुल पाशा था। उसने एक राष्ट्रीय दल का संगठन किया, जिसे वफ्द कहते थे। वफ्द पार्टी ने सशस्त्र स्वयंसेवकों का संगठन करके ब्रिटिश अफसरों पर हमले शुरू कर दिये। १९१८ में जब महायुद्ध की समाप्ति होकर पेरिस में शान्ति-परिषद् के अधिवेशन प्रारम्भ हुए, तो जगलुल पाशा की इच्छा थी, कि वहां जाकर ईजिप्ट की स्वतन्त्रता के प्रश्न को शान्ति-परिषद् के सम्मुख उपस्थित करे। जगलुल पाशा के नेतृत्व में ईजिप्सियन नेताओं के एक डेपुटेशन ने पेरिस के लिये प्रस्थान किया। पर अंग्रेजों ने मार्ग में ही उसे गिरफ्तार कर लिया और माल्टा में नजरबन्द कर दिया। यह समाचार जब ईजिप्ट पहुंचा, तो वहां जनता ने विद्रोह कर दिया। अंग्रेजों ने इस विद्रोह को दबाने के लिये उग्र उपायों का प्रयोग किया। कई जगह गोलियां चलाई गईं, और सैकड़ों ईजिप्सियन देशभक्तों को कैद में डाल दिया गया। पर ईजिप्ट के इस विद्रोह ने इतना भयंकर रूप धारण किया, कि जनरल एलेन्बी को एक अच्छी बड़ी सेना की सहायता से वहां शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने का कार्य सुपुर्द किया गया। यद्यपि एलेन्बी की शक्तिशाली सेनाओं का मुकाबला कर सकना ईजिप्सियन लोगों के लिये सम्भव नहीं था, पर उन्होंने डटकर उनका सामना किया, और अन्त में अंग्रेजों ने अनुभव

किया, कि ईजिप्ट में शान्ति स्थापित करना तभी सम्भव होगा, जब उसके नेताओं के साथ सुलह की बात चलाई जायगी। इसलिये जगलुल पाशा आदि गिरफ्तार नेताओं को जेल से छोड़ दिया गया, और लार्ड मिलनर को इस उद्देश्य से ईजिप्ट भेजा गया, कि वह वहां की परिस्थिति का भलीभांति अध्ययन करके अपना परामर्श दे।

१९२२ की सन्धि—लार्ड मिलनर ने इङ्गलैण्ड वापस लौटकर यह रिपोर्ट दी, कि ईजिप्ट के साथ शीघ्र ही एक सन्धि की व्यवस्था करनी चाहिये, जिसके अनुसार उसे स्वाधीनता दे दी जाय, पर साथ ही वहां ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिये भी समुचित व्यवस्था कर ली जाय। ब्रिटिश लोग ईजिप्ट में अपने लिये जो विशेष अधिकार व सुविधायें रखना चाहते थे, ईजिप्सियन नेता उन्हें स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हुए। परिणाम यह हुआ, कि एक बार फिर ईजिप्ट और ब्रिटेन में संघर्ष शुरू हो गया। जगलुल पाशा और उसके साथियों को पुनः गिरफ्तार किया गया और अंग्रेजों ने ईजिप्ट में उग्र दमन नीति का प्रयोग किया। एलेन्बी यद्यपि ईजिप्ट के स्वातन्त्र्य-संग्राम को पूर्णतया कुचल देने के लिये कटिबद्ध था, पर साथ ही वह यह भी अनुभव करता था, कि सैन्य-शक्ति से ईजिप्ट की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सदा के लिये दबा देना सम्भव नहीं है। इसीलिये उसने ब्रिटिश सरकार को यह सूचना दी, कि यदि ईजिप्ट की राष्ट्रीय भावनाओं को सन्तुष्ट करने के लिये शीघ्र ही समुचित कार्रवाई नहीं की गई, तो वहां क्रान्ति होने में देर नहीं है। लार्ड एलेन्बी ने स्थिति को भलीभांति समझ लिया था, और उसके परामर्श के अनुसार फरवरी, १९२२ में ब्रिटिश सरकार ने ईजिप्ट के साथ समझौता कर लिया, जिसके अनुसार यह स्वीकार किया गया, कि ईजिप्ट एक स्वाधीन देश है, और उस पर से ब्रिटेन के संरक्षण व प्रभुत्व का अन्त किया जाता है। पर ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा और स्वेज नहर के क्षेत्र में ब्रिटिश हितों की सुरक्षितता को दृष्टि में रखकर यह आवश्यक है, कि (१) स्वेज के क्षेत्र में एक ब्रिटिश सेना स्थापित रहे। (२) ईजिप्ट में अंग्रेजों व अन्य विदेशियों के जो हित हैं, उनकी रक्षा की जिम्मेदारी ब्रिटेन पर रहे। (३) कोई अन्य राज्य ईजिप्ट पर आक्रमण कर उसे अपनी अधीनता व प्रभाव में न ला सके, इसका प्रबन्ध भी ब्रिटेन के हाथों में रहे। (४) सूडान पहले के समान ही ब्रिटेन की अधीनता व संरक्षा में रहे।

ईजिप्ट के राष्ट्रीय नेता इस सन्धि से सन्तुष्ट नहीं थे। उनका विचार था, कि इससे उनके देश की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अधूरी रह जाती है। पर ब्रिटेन की सैनिक शक्ति का मुकाबला कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं था। लाचार होकर उन्होंने

इस सन्धि को स्वीकार कर लिया, और २८ फरवरी, १९२२ को सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। इसी समय ईजिप्ट के लिये एक नये संविधान की रचना की गई, जिसके अनुसार वहां पार्लियामेण्ट और उसके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था की गई।

संघर्ष का पुनः प्रारम्भ——१९२३ में ईजिप्ट की पार्लियामेण्ट का निर्वाचन हुआ। इसमें राष्ट्रीय (वफ्द) दल की विजय हुई, और उसका नेता जगलुल पाशा प्रधान मन्त्री के पद पर अधिष्ठित हुआ। उसकी इच्छा थी, कि ईजिप्ट पूर्णरूप से स्वाधीन हो, और १९२२ की सन्धि द्वारा ब्रिटेन को वहां जो विशेष अधिकार प्राप्त हुए हैं, उनका अन्त किया जाय। इस समय ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री रामजे मेकडानल्ड था, जो मजदूर दल का था। जगलुल पाशा को आशा थी, कि रामजे मेकडानल्ड को ईजिप्ट की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति होगी। अतः वह १९२४ में लण्डन गया। पर उसे निराशा का सामना करना पड़ा। ब्रिटिश सरकार उसकी मांगों को पूर्ण करने के लिये तैयार नहीं हुई।

वैध उपायों से अंग्रेजी प्रभुत्व का अन्त कर सकने में असमर्थ होकर ईजिप्शियन देशभक्तों ने एक बार फिर हिंसा के मार्ग का अवलम्बन किया। ब्रिटिश अफसरों पर फिर आक्रमण शुरू हुए। नवम्बर, १९२४ में सूडान के गवर्नर-जनरल और ईजिप्ट में स्थित ब्रिटिश सेनाओं के प्रधान सेनापति सर ली स्टैक की हत्या कर दी गई। इस हत्या से सारे ब्रिटिश साम्राज्य में सनसनी फैल गई, और ब्रिटिश सरकार अपने काबू से बाहर हो गई। ब्रिटेन की तरफ से इस समय ईजिप्ट की सरकार को एक अल्टिमेटम दिया गया, जिसकी मुख्य मांगें निम्नलिखित थीं——(१) ईजिप्ट की सरकार इस हत्या के लिये ब्रिटेन से क्षमा-याचना करे और यह वायदा करे कि भविष्य में फिर कभी ऐसी घटना नहीं होगी। (२) ७५ लाख रुपया हरजाना दिया जाय। (३) जो लोग इस हत्या के लिये उत्तरदायी हैं, उन्हें कठोर दण्ड दिये जायं और ब्रिटेन के खिलाफ जो राजनीतिक प्रदर्शन समय-समय पर ईजिप्ट में होते रहते हैं, उन्हें कतई बन्द कर दिया जाय। (४) सूडान में जो भी ईजिप्शियन सिपाही हैं, उन्हें तुरन्त वहां से वापस बुला लिया जाये। साथ ही, ब्रिटेन ने यह भी घोषणा की, कि सूडान में खेती के क्षेत्र को और अधिक बढ़ाया जायगा और उसकी सिंचाई के लिये नील नदी के जल को प्रयुक्त किया जायगा। नील नदी ईजिप्ट के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार है, उसी के जल से ईजिप्ट के खेतों की सिंचाई होती है। नील नदी सूडान से होकर आती है।

वहां के खेतों के लिये नील के जल को और अधिक ले लेने का परिणाम यह होता, कि ईजिप्ट के खेतों के लिये पानी न बचता।

जगलुल पाशा ब्रिटिश अल्टिमेटम की अन्य सब शर्तों को मानने के लिये तैयार था, पर सूडान विषयक मांग को पूरा कर सकना उसके लिये सम्भव नहीं था। उसने अल्टिमेटम को मानने से इनकार कर दिया। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटिश सेनाओं ने स्वेज के क्षेत्र से आगे बढ़कर एलेग्जेन्ड्रिया पर कब्जा कर लिया। अब ईजिप्शियन नेताओं के सम्मुख दो ही मार्ग थे, या तो वे ब्रिटेन से युद्ध के लिये तैयार होते और या उसके सम्मुख सिर झुका देते। इस विकट परिस्थिति में जगलुल पाशा ने प्रधानमन्त्री-पद से त्यागपत्र दे दिया, और एक ऐसा मन्त्रिमण्डल बना, जिसने कि ब्रिटेन की सब शर्तों को स्वीकार कर लिया। नये मन्त्रिमण्डल को यह आशा थी, कि राष्ट्रसंघ के सम्मुख इस मामले को पेश करने से लाभ होगा, और वहां ईजिप्ट ब्रिटिश सरकार द्वारा किये गये अन्याय का प्रतिशोध करा सकेगा। पर राष्ट्रसंघ से उसे निराशा हुई। वहां से यह जवाब मिला, कि यद्यपि ईजिप्ट नाम को स्वाधीन राष्ट्र है, पर असल में वह ब्रिटेन की संरक्षा व प्रभुत्व में है। यह ब्रिटिश साम्राज्य का अन्दरूनी मामला है, अतः राष्ट्र-संघ उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझता। फरवरी, १९२२ की सन्धि द्वारा ईजिप्ट में जिस 'स्वराज्य' की स्थापना हुई थी, उसका वास्तविक रूप अब प्रगट हो गया, और ईजिप्शियन देशभक्तों ने फिर ब्रिटेन के खिलाफ आन्दोलन का प्रारम्भ कर दिया।

१९२५ से ईजिप्ट की सरकार की अद्भुत स्थिति थी। वहां की पार्लियामेण्ट में राष्ट्रीय (वफ्द) दल का बहुमत था, पर यह दल अपना मन्त्रिमण्डल नहीं बना सकता था, क्योंकि ब्रिटेन उसे किसी भी दशा में स्वीकृत करने को तैयार नहीं होता था। इस समय ईजिप्ट में ब्रिटेन की ओर से लार्ड लायड हाई कमिश्नर के पद पर नियत था, और वह ईजिप्शियन सरकार को पूर्णतया अपने हाथों में कठपुतली की तरह रखना चाहता था। ईजिप्ट का राजा उसके प्रभाव में था, और राजदरबार के लोगों का सरकार पर दबदबा था। मन्त्रिमण्डल जो प्रस्ताव पार्लियामेण्ट के सम्मुख पेश करता था, वे वहां स्वीकृत नहीं हो पाते थे, और पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों को मन्त्रिमण्डल क्रिया में परिणत नहीं करता था। इसी बीच में १९२७ में जगलुल पाशा की मृत्यु हो गई। उसके बाद भी वफ्द पार्टी की शक्ति कम नहीं हुई, और वह राजा व उसके मन्त्रिमण्डल का विरोध करने में तत्पर रही। ईजिप्ट की राजगद्दी पर इस समय अहमद फौद विराज-

मान था, जो न केवल ब्रिटेन का पक्षपाती था, अपितु लोकतन्त्र-शासन का भी विरोधी था ।

वफ्द-मन्त्रिमण्डल—दिसम्बर, १९२९ में ईजिप्ट की पार्लियामेण्ट का नया चुनाव हुआ । इसमें भी वफ्द पार्टी को सफलता हुई । जगलुल पाशा की मृत्यु के बाद इस पार्टी का प्रधान नेता मुस्तफा नहस पाशा था । इस समय ब्रिटेन में मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल था, और श्री रामजे मेकडानल्ड प्रधान मन्त्री के पद पर अधिष्ठित थे । ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में मजदूर दल की शक्ति इतनी अधिक बढ़ गई थी, कि उसके सदस्यों की संख्या अन्य किसी भी दल के सदस्यों की अपेक्षा अधिक थी । मजदूर दल इस समय अपने सिद्धान्तों व आदर्शों को क्रिया में परिणत करने में तत्पर था । ईजिप्ट में उसने लार्ड लायड की जगह पर सर पर्सी लारेन को हाई कमिश्नर के पद पर नियत किया । सर लारेन प्रगतिशील विचारों का व्यक्ति था । इस दशा में ईजिप्ट के प्रति ब्रिटिश नीति में भी परिवर्तन हुआ, और नहस पाशा ने वफ्द दल के मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया । यदि यह मन्त्रिमण्डल शान्तिपूर्वक अपना कार्य कर सकता, तो निःसन्देह ईजिप्ट उन्नति के मार्ग पर अधिक शीघ्रता के साथ आगे बढ़ सकता । पर ईजिप्ट का राजा, दरबारी और वहां बसे हुए ब्रिटिश व्यापारी—सब वफ्द पार्टी के खिलाफ थे । परिणाम यह हुआ, कि नहस पाशा ने त्याग-पत्र दे दिया और राजा ने पार्लियामेण्ट को भंग कर दिया ।

सिदकी पाशा का शासन—अब राजा की ओर से इस्माईल सिदकी पाशा को ईजिप्ट का प्रधान मन्त्री नियत किया गया । वह भलीभांति अनुभव करता था, कि जब तक १९२३ का संविधान कायम रहेगा और उसके अनुसार पार्लियामेण्ट का निर्वाचन होता रहेगा, वफ्द पार्टी की शक्ति को तोड़ सकना सम्भव नहीं होगा । उसने १९३० में ईजिप्ट के लिये एक नये संविधान का निर्माण किया, जो लोकतन्त्र शासन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल था । पार्लियामेण्ट के चुनाव का इसमें एक ऐसा ढंग रखा गया, जिससे ऐसे प्रतिनिधि न चुने जा सकें, जो जनता को स्वीकार्य हों । राजा और ब्रिटेन के संरक्षण में सिदकी पाशा अपने संविधान को प्रयुक्त करने में समर्थ हुआ । नये संविधान के अनुसार १९३१ में नये निर्वाचन कराये गये, पर वफ्द पार्टी ने इस चुनाव का बहिष्कार किया । सरकार ने भी बहुत-से राष्ट्रीय नेताओं को नजरबन्द कर दिया, ताकि वे जनता में असन्तोष न फैला सकें । इस दशा में जिस नई पार्लियामेण्ट का चुनाव हुआ, वह आंख मींचकर सिदकी पाशा का अनुसरण करने वाली थी । १९३१ से १९३३ तक सिदकी पाशा ने एक

डिक्टेटर के समान ईजिप्ट का शासन किया और अपने विरोधियों को दबाने के लिये कठोर दमन-नीति का प्रयोग किया।

पर सिदकी पाशा के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह वफद पार्टी को पूर्णतया कुचल सके। उसके शासन-काल में ईजिप्ट में अशान्ति और असन्तोष निरन्तर बढ़ रहे थे। १९३०-३१ के आर्थिक संकट से ईजिप्ट भी अछूता नहीं बचा था। कपास की कीमत बहुत अधिक गिर गई थी। ईजिप्ट के आर्थिक जीवन में कपास का बहुत महत्त्व है, उस पर ही वहां के लोगों की आमदनी मुख्य रूप से निर्भर करती है। कपास की कीमत में असाधारण कमी हो जाने से ईजिप्शियन लोगों को घोर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। इसी समय ईजिप्ट में ईसाइयों के खिलाफ विद्वेष का वातावरण बहुत उग्र हो उठा। ब्रिटेन द्वारा वहां अनेक शिक्षणालय स्थापित थे, जिनका संचालन ईसाई मिशनरियों के हाथों में था। मिशनरी लोग केवल स्कूल ही नहीं चलाते थे, अपितु मुसलमानों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने में भी प्रयत्नशील रहते थे। कहा जाता है, कि पोर्ट सईद की एक ईसाई अध्यापिका ने एक मुसलिम बालिका को अनुचित रूप से ईसाई बनाने का प्रयत्न किया। इससे ईजिप्ट के मुसलमानों में ईसाइयों और साथ ही ब्रिटिश लोगों के प्रति विद्वेष की अग्नि भड़क उठी। इस्लाम की रक्षा के लिये एक नये संगठन का निर्माण हुआ, और ईसाई लोगों पर हमले शुरू हो गये। ईजिप्ट के लोगों ने यह भी मांग शुरू की, कि सरकार की ओर से जो आर्थिक सहायता ईसाई शिक्षणालयों को दी जाती है, उसे बन्द किया जाय और मुसलिम संस्थाओं को सरकार की ओर से भरपूर सहायता दी जाय, ताकि भोले-भाले ईजिप्शियन लोग विधर्मी लोगों के प्रभाव में आने से बचे रहें। सिदकी पाशा के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह आर्थिक संकट और धार्मिक आन्दोलन का भलीभांति सामना कर सकता। उसने त्याग-पत्र दे दिया। सितम्बर, १९३३ में वह प्रधानमन्त्री-पद से पृथक् हो गया।

१९३० के संविधान का अन्त---चौदह मास तक ईजिप्ट में अव्यवस्था रही। कोई स्थिर मन्त्रिमण्डल देश के शासन को संचालित करने में समर्थ नहीं हुआ। १९३४ में मुहम्मद तौफीक नसीम पाशा को ईजिप्ट का प्रधान मन्त्री बनाया गया। इसका सम्बन्ध किसी राजनीतिक दल से नहीं था, और ईजिप्शियन लोग इसे आदर की दृष्टि से देखते थे। उसने राजा फौद को सलाह दी, कि १९३० के संविधान का अन्त कर लोकतन्त्र शासन की पुनःस्थापना द्वारा ही देश में शान्ति स्थापित की जा सकती है। राजा ने उसकी बात को मान लिया और यह व्यवस्था की, कि जब तक नये संविधान का निर्माण न हो, राजा ही अपने विशेष

अधिकारों द्वारा देश के शासन-सूत्र का संचालन करता रहे। प्रधान मन्त्री के पद पर नसीम पाशा ही रहा, और उसकी सरकार राजा के नाम पर ईजिप्ट का शासन करती रही।

इसी बीच में यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन शुरू हो गये। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में फैसिज्म का प्रादुर्भाव हुआ, और इटली अफ्रीका में साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रयत्नशील हुआ। अबीसीनिया पर इटली का आधिपत्य स्थापित हो जाने के कारण ब्रिटेन के लिये ईजिप्ट का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया, और अब उसे यह आवश्यक जान पड़ा, कि इस देश के लोगों को सन्तुष्ट कर उनके साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित रखने में ही अपना हित है। ईजिप्ट के राष्ट्रीय नेताओं ने भी अनुभव किया, कि ब्रिटेन में अपनी मांगों को स्वीकृत कराने का यह सुवर्णीय अवसर है। वफ्द पार्टी के नेता नहस पाशा ने घोषणा की, कि ब्रिटेन तभी ईजिप्ट से सहयोग व सहायता प्राप्त कर सकता है, जब उसे एक स्वतन्त्र व समान राष्ट्र की स्थिति प्राप्त हो जायगी। इस समय ईजिप्ट में जगह-जगह पर विद्रोह हो रहे थे, और इन विद्रोहियों का उद्देश्य ब्रिटेन के प्रभाव व प्रभुत्व का अन्त करना ही था। इस स्थिति में ब्रिटेन ईजिप्ट की समस्या की उपेक्षा नहीं कर सकता था। इस समय ईजिप्ट में ब्रिटेन के हाई कमिश्नर पद पर श्री लैम्प्सन विराजमान थे। इस पद पर उनकी नियुक्ति सन् १९३३ में हुई थी। उन्होंने घोषणा की, कि ब्रिटेन ईजिप्ट के साथ सब समस्याओं पर विचार करने व समझौता करने के लिये तैयार है, पर इसके लिये यह आवश्यक है, कि वहां एक ऐसी सरकार कायम हो, जो सच्चे अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व करती हो और जो विविध राजनीतिक दलों को मान्य हो। इस दशा में मुहम्मद तौफीक नसीम पाशा ने राजा को प्रेरित किया, कि १९२३ के संविधान का पुनरुद्धार किया जाय, और उसके अनुसार पार्लियामेण्ट का नया निर्वाचन कराया जाय। राजा इसके लिये तैयार हो गया और मई, १९३६ में १९२३ के संविधान के अनुसार पार्लियामेण्ट का नया चुनाव हुआ। इसमें वफ्द पार्टी को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। नवनिर्वाचित पार्लियामेण्ट में वफ्द पार्टी के सदस्यों की संख्या ८० प्रति शत थी। नहस पाशा एक बार फिर ईजिप्ट का प्रधान मन्त्री बना और उसने ब्रिटेन के साथ समझौते की बात प्रारम्भ कर दी।

१९३६ की सन्धि—नहस पाशा के नेतृत्व में ईजिप्ट के प्रतिनिधियों ने ब्रिटेन के साथ जो सन्धि इस समय की, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) ईजिप्ट की स्थिति एक स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की होगी। (२)

ब्रिटेन यत्न करेगा, कि उसे राष्ट्रसंघ की सदस्यता का अधिकार प्राप्त हो। (३) ब्रिटेन का राजदूत ईजिप्ट में रहेगा और ईजिप्ट का ब्रिटेन में। (४) ब्रिटेन को अधिकार होगा, कि वह अपनी सेनायें स्वेज नहर के क्षेत्र में रख सके, पर ये केवल स्वेज के उत्तरी क्षेत्र में ही रह सकेंगी। शान्ति के काल में इस सेना में सैनिकों की संख्या ८००० से अधिक नहीं हो सकेगी। आठ साल के अन्दर-अन्दर ईजिप्ट के विविध प्रदेशों में स्थित ब्रिटिश सेनाओं को उत्तरी स्वेज क्षेत्र में केन्द्रित कर दिया जायगा। (५) युद्ध की अवस्था में ब्रिटेन को अधिकार होगा, कि वह ईजिप्ट में सब प्रकार की सुविधायें प्राप्त कर सके। यदि वह आवश्यकता समझे, तो ईजिप्ट से यह भी मांग कर सकेगा, कि देश में व्यवस्था व शान्ति स्थापित रखने के लिये फौजी शासन स्थापित कर दिया जाय। (६) सूडान का शासन ब्रिटेन और ईजिप्ट दोनों के संयुक्त नियन्त्रण में रहे, और ईजिप्सियन लोगों को यह अधिकार हो, कि वे वहां बिना किसी रुकावट के आबाद हो सकें। (७) ब्रिटेन इस बात का प्रयत्न करेगा, कि ईजिप्ट में जिन विदेशी राज्यों को एक्सट्रा-टैरिटोरिएलिटी सम्बन्धी विशेष अधिकार प्राप्त हैं, उनका अन्त कर दिया जाय। इन अधिकारों के अनुसार ईजिप्ट में बसे हुए विदेशी लोगों पर चलाये गये मुकदमों का निर्णय ईजिप्सियन न्यायालयों में न होकर उन देशों के अपने पृथक् न्यायालयों द्वारा किया जाता था और विदेशियों पर ईजिप्ट के कानून लागू नहीं होते थे। अब ब्रिटेन ने यह स्वीकार किया, कि ईजिप्ट में निवास करने वाले विदेशी लोग ईजिप्सियन कानून के अधीन होंगे और उनके जान व माल की रक्षा की उत्तरदायिता ईजिप्ट की सरकार पर रहेगी।

एक्सट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त करने के लिये ब्रिटेन ने १९३७ में मोन्त्रो में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिसमें उन सब देशों के प्रतिनिधि एकत्र हुए, जिन्हें ईजिप्ट में ये विशेषाधिकार प्राप्त थे। मोन्त्रो कान्फरेन्स में यह निर्णय हुआ, कि १९४९ तक ईजिप्ट से एक्सट्रा-टैरिटोरिएलिटी का पूर्णरूप से अन्त कर दिया जायगा, और बीच के बारह वर्षों में ऐसी व्यवस्था की जायगी, जिससे १९४९ तक इस पद्धति का पूर्णरूप से अन्त कर सकना सम्भव हो जाय। १९३७ में ही ईजिप्ट को राष्ट्रसंघ का भी सदस्य बना लिया गया।

१९३६ में राजा अहमद फौद की मृत्यु हो गई थी, और उसका लड़का फारूक प्रथम ईजिप्ट के राजसिंहासन पर आरूढ़ हो गया था। जुलाई, १९३७ में स्वतन्त्र ईजिप्ट के राजा फारूक का राज्याभिषेक बड़ी धूमधाम के साथ हुआ। यद्यपि अब ईजिप्ट राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गया था, पर स्वेज के क्षेत्र में ब्रिटिश

सेना की सत्ता और देश में ब्रिटिश लोगों को प्राप्त अनेक प्रकार के विशेषाधिकार ईजिप्ट की पूर्ण स्वाधीनता के लिये कलङ्क के समान थे। १९३९ में जब यूरोप में दूसरे महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो १९३६ की सन्धि का प्रयोग कर ब्रिटेन ने ईजिप्ट पर अपने शिकंजे को और अधिक मजबूत कर लिया। इस प्रकार १९३६ की सन्धि भी ईजिप्ट की समस्याओं को अन्तिम रूप से हल करने में असमर्थ रही।

४. पैलेस्टाइन

महायुद्ध की समाप्ति पर पैलेस्टाइन का प्रदेश राष्ट्रसंघ द्वारा ब्रिटेन के सुपुर्द किया गया था। उस समय इस प्रदेश की कुल जनसंख्या ७,५७,००० थी। इनमें ६,००,००० मुसलिम अरब थे, ८३,००० यहूदी थे और ७३,००० ऐसे अरब थे, जिन्होंने कि ईसाई धर्म को अपना लिया था। राष्ट्रसंघ की यह नीति थी, कि पैलेस्टाइन को यहूदियों का देश बना दिया जाय, ताकि यूरोप के विविध राज्यों में बसनेवाले यहूदी लोग वहां आकर बस सकें। राष्ट्रीयता की उग्र भावना के कारण अनेक यूरोपियन देश अब यह नहीं चाहते थे, कि यहूदी लोग उनमें बसें। अतः यहूदियों के एक पृथक् राज्य की आवश्यकता राष्ट्रसंघ द्वारा अनुभव की गई थी, और क्योंकि पैलेस्टाइन यहूदियों की धर्मभूमि था, अतः इसी को उनके पृथक् देश के रूप में भी चुना गया था। पर अरब लोग इससे सन्तुष्ट नहीं थे। उनका कहना था, कि पैलेस्टाइन में अरब लोगों का बहुत बड़ी संख्या में निवास है, और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार उस पर उन्हीं का अधिकार होना चाहिये। महायुद्ध के समय मित्रराष्ट्रों ने अरबों को वचन दिया था, कि टर्की की पराजय के बाद उन्हें पूर्ण स्वाधीनता दे दी जायगी। पैलेस्टाइन को यहूदियों का देश बनाने का प्रयत्न इस नीति के सर्वथा विरुद्ध था।

पैलेस्टाइन की शासन-व्यवस्था—राष्ट्रसंघ द्वारा पैलेस्टाइन के शासन का अधिकार या आदेश (मैन्डेट) प्राप्त करके ब्रिटिश सरकार ने सितम्बर, १९२२ में सर हर्बर्ट सैमुएल को वहां का प्रथम हाई कमिश्नर नियत किया। सर सैमुएल ने पैलेस्टाइन के शासन के लिये जो व्यवस्था की, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) पैलेस्टाइन का एक हाई कमिश्नर हो, जो उसके शासन का सर्वोच्च अधिकारी हो। वह एक एग्जीक्यूटिव कौंसिल की सहायता से देश का शासन करे। इस कौंसिल के सदस्य हाई कमिश्नर द्वारा नियुक्त किये जाया करें। (२) देश के लिये कानून बनाने का कार्य एक व्यवस्थापिका सभा के सुपुर्द हो, जिसके २३ सदस्य हों। हाई कमिश्नर इस सभा का अपने अधिकार से सदस्य हो। शेष

२२ सदस्यों में से १० की नियुक्ति हाई कमिश्नर द्वारा की जाय। १२ सदस्य निर्वाचित हों, जिनमें से ८ मुसलमान, २ ईसाई और २ यहूदी हुआ करें। अरब लोग इस व्यवस्था से बहुत असन्तुष्ट थे। वे समझते थे, कि पैलेस्टाइन एक अरब प्रदेश है, और उसमें राष्ट्रीयता व लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार अरबों का ही शासन होना चाहिये। उन्होंने व्यवस्थापिका सभा का बहिष्कार कर दिया और सर सैमुएल ने स्वेच्छाचारी व निरंकुश रूप से पैलेस्टाइन का शासन करना प्रारम्भ किया।

पैलेस्टाइन की समस्या—अरब लोग अपने असन्तोष को केवल सभाओं व समाचारपत्रों द्वारा ही प्रगट नहीं करते थे, अपितु विद्रोह के लिये भी तत्पर थे। १९२९ में उन्होंने पैलेस्टाइन में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, जिसका उद्देश्य यहूदियों का विरोध करना था। इस विद्रोह में उन्होंने यहूदियों पर हमले शुरू किये और बहुत-से यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया। स्थिति ने इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया, कि ब्रिटिश सरकार को अपने जंगी जहाज व वायुयान पैलेस्टाइन भेजने के लिये विवश होना पड़ा। यद्यपि सैन्य-शक्ति का प्रयोग करके ब्रिटेन अरब-विद्रोह को शान्त करने में समर्थ हुआ, पर इससे पैलेस्टाइन की समस्या हल नहीं हुई। अरब लोगों को पैलेस्टाइन के सम्बन्ध में जो मुख्य शिकायतें थीं, उन्हें संक्षेप के साथ इस प्रकार उल्लिखित किया जा सकता है—

(१) पैलेस्टाइन में यहूदियों को यह अधिकार प्राप्त था, कि वे वहां पर अमर्यादित रूप से जमीन खरीद सकते थे। खेती के योग्य भूमि वहां पहले ही अधिक नहीं थी। यहूदी लोग इस जमीन को बड़े परिमाण में खरीदने में तत्पर थे। अरब लोग समझते थे, कि इससे सब कृषि-योग्य भूमि अरबों के हाथ से निकलती जा रही है, और हजारों अरब किसान बेरोजगार हो जाने के लिये विवश हो रहे हैं।

(२) ब्रिटिश सरकार यहूदियों को पैलेस्टाइन में आबाद करने के लिये प्रयत्नशील थी। इसी कारण १९३० में वहां यहूदियों की आबादी १९२२ की अपेक्षा दुगने के लगभग हो गई थी। यदि पैलेस्टाइन आकर बसनेवाले ये यहूदी इस ढंग के होते, जो वहां बड़ी मात्रा में पूंजी लगाकर व्यावसायिक उन्नति पर ध्यान देते, तो शायद अरबों को अधिक एतराज न भी होता। पर बहुसंख्यक यहूदी ऐसे थे, जो पोलैण्ड, रूस व रूमानिया से आये थे, और जो सम्पन्न न होकर साधारण किसान व मजदूर थे। यूरोप और अमेरिका के धनी यहूदी इनकी पीठ पर थे और धन द्वारा इनकी सहायता के लिये तत्पर थे। सम्पन्न सजातीय लोगों से आर्थिक सहायता प्राप्त करके ये गरीब यहूदी लोग पैलेस्टाइन में अरबों से

कृषि योग्य भूमि व अन्य छोटे कारोबारों को खरीदने में तत्पर थे, और यह बात अरब लोगों को अपने लिये अत्यन्त हानिकारक प्रतीत होती थी ।

(३) यहूदियों के प्रवेश से पैलेस्टाइन में साम्प्रदायिक समस्या भी अधिक विकट रूप धारण करती जाती थी । जरूसलम में एक दीवार थी, जिसे यहूदी लोग पवित्र मानते हैं । इसके समीप ही खलीफा उमर की मसजिद थी, जो मुसलमानों की दृष्टि में अत्यधिक महत्त्व रखती थी । मुसलमान लोग बहुत बड़ी संख्या में इस मसजिद में एकत्र होते थे और यहूदी लोग अपनी पवित्र दीवार के सामने। यह स्वाभाविक था, कि इतने समीप पूजा के लिये एकत्र होने पर मुसलमानों और यहूदियों का परस्पर संघर्ष व झगड़ा हो । साम्प्रदायिक समस्या इन झगड़ों के कारण और भी उग्र रूप धारण करती जाती थी ।

(४) यहूदी लोग आर्थिक दृष्टि से बहुत सम्पन्न हैं । यूरोप, अमेरिका और एशिया के प्रायः सभी राज्यों में वे बसे हुए हैं, और व्यापार व व्यवसाय का अनुसरण कर अच्छे समृद्ध बन गये हैं । इन्होंने एक 'विश्व-यहूदी-संघ (वर्ल्ड जिओनिस्ट आर्गनिजेशन) बनाया हुआ था, जिसका उद्देश्य यह था, कि पैलेस्टाइन को यहूदी जाति का राज्य बना दिया जाय, और उसमें उन सब यहूदियों को आबाद कर दिया जाय, जो यूरोप के विविध राज्यों की राष्ट्रीय नीति के कारण बेघरबार होते जा रहे हैं । विश्व-यहूदी-संघ की ओर से बेघरबार यहूदियों को पैलेस्टाइन आने के लिये मार्ग-व्यय और वहां बसने के लिये आर्थिक सहायता दी जाती थी। इस संघ के सदस्य बहुत प्रभावशाली थे और उनके प्रयत्न से यहूदी लोग बहुत बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन आकर आबाद होते जाते थे । अरब लोग इस स्थिति से बहुत असन्तुष्ट थे और यह अनुभव करते थे, कि उनका अपना देश विदेशियों के हाथों में चलता जा रहा है, जो सर्वथा अनुचित है ।

समस्याओं को हल करने का उद्योग—ब्रिटिश सरकार ने पैलेस्टाइन की इन समस्याओं का हल करने के लिये अनेक उद्योग किये । यहूदियों द्वारा पूजित होने वाली दीवार के मामले पर विचार करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की गई। १९३१ में इसने दोनों पक्षों की बात सुनकर यह फैसला दिया, कि यह दीवार और उसके साथ का चबूतरा मुसलमानों की सम्पत्ति है, पर यहूदियों को यह अवसर दिया जाना चाहिये, कि वे वहां जाकर पूजा कर सकें । कमीशन की सिफारिशों के अनुसार हाई कमिश्नर ने दीवार व चबूतरे पर मुसलमानों का कब्जा करा दिया और यहूदियों की पूजा के लिये समय नियत कर दिये ।

पैलेस्टाइन में यहूदियों के बसने के खिलाफ अरब लोगों में जो उग्र भावना थी,

उससे विवश होकर १९३० में ब्रिटिश सरकार ने सामयिक रूप से यहूदियों का वहां प्रवेश रोक दिया, और इस समस्या पर विचार करने के लिये एक अन्य कमीशन की नियुक्ति कर दी। इसका अध्यक्ष सर जान सिम्प्सन को बनाया गया। सब बातों पर विचार करके इस कमीशन ने यह रिपोर्ट दी, कि यहूदियों को बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन में बसाने का यह परिणाम हुआ है, कि वहां के अन्य लोगों को इससे बहुत नुकसान पहुंचा है, और २,५०,००० एकड़ कृषि-योग्य भूमि यहूदियों के हाथों में चली गई है। यहूदी लोग अपनी जमीनों को उन्नत करने के लिये न केवल पूंजी ही अपने साथ लाते हैं, अपितु उन पर काम करने के लिये मजदूरों को भी बाहर से लाते हैं। यह बात अरबों के लिये अत्यन्त हानिकारक है। सिम्प्सन कमीशन की इस रिपोर्ट को दृष्टि में रखकर ब्रिटिश सरकार ने यहूदियों का पैलेस्टाइन में प्रवेश अनियमित समय के लिये रोक दिया। यह स्वाभाविक था, कि अरब लोग इस नीति से सन्तोष अनुभव करें, पर यहूदियों को इससे बहुत नाराजगी हुई। उन्होंने इसके खिलाफ घोर आन्दोलन शुरू किया, और ब्रिटिश सरकार के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह विश्व-यहूदी-संघ के विरोध की उपेक्षा कर सके। १९३२ में उसने अपनी नीति में परिवर्तन किया, और यह व्यवस्था की, कि (१) जो कोई यहूदी १०,००० रुपये लेकर पैलेस्टाइन में आकर बसना चाहे, उसे वहां प्रविष्ट होने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। (२) जो यहूदी इतना रुपया न ला सकें, और मजदूरी की तलाश में पैलेस्टाइन आना चाहें, उनकी मासिक संख्या नियत कर दी गई।

१९३२ की इस व्यवस्था से अरब लोग सन्तुष्ट नहीं थे, पर ब्रिटेन की शक्ति के सम्मुख वे असहाय थे। इस समय सम्पन्न व धनी यहूदी लोग अच्छी बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन आकर बस रहे थे और गरीब यहूदी भी प्रति मास पैलेस्टाइन में यहूदियों की संख्या बढ़ा रहे थे। १९३७ में पैलेस्टाइन में बसे हुए यहूदियों की संख्या चार लाख से भी अधिक हो गई थी, और वहां की सम्पूर्ण आबादी में वे २८ प्रतिशत हो गये थे। समृद्धि की दृष्टि से अरब लोग इनकी तुलना में अगण्य थे, अतः देश में इनका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था। यहूदियों की पूंजी द्वारा पैलेस्टाइन की आर्थिक उन्नति में अच्छी सहायता मिली। उसके नगरों का स्वरूप एकदम परिवर्तित हो गया। विशाल इमारतों, चौड़ी सड़कों और बिजली आदि के कारण जरुसलम, जाफ्फा, हैफा आदि नगर यूरोप के नगरों की बराबरी करने लगे। पर इस समृद्धि से अरब लोगों को कोई लाभ नहीं पहुंचा। पैलेस्टाइन में दो अलग-अलग दुनिया बन गई थीं, एक यहूदियों की और दूसरी अरबों की। एक देश म

एक साथ निवास करते हुए भी वे एक दूसरे के लिये परदेसियों के समान थे।

इस अवस्था में यह स्वाभाविक था, कि अरब लोग असन्तोष और बेचैनी अनुभव करें। १९३५ के बाद अरबों के राष्ट्रीय आन्दोलन ने फिर जोर पकड़ा, और उन्होंने ब्रिटिश सरकार के सम्मुख निम्नलिखित मांगें पेश कीं—(१) पैलेस्टाइन में लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार शासन का पुनः संगठन किया जाय। (२) यह कानून बनाया जाय, कि भविष्य में कोई यहूदी पैलेस्टाइन में जमीन न खरीद सके। (३) भविष्य में यहूदियों के पैलेस्टाइन में प्रविष्ट होने को पूर्णतया रोक दिया जाय, और (४) ऐसी व्यवस्था की जाय, जिससे गरीब अरब किसान कर्ज से मुक्त होकर यहूदी साहूकारों के शिकंजे से छूट जावें।

पील कमीशन—ब्रिटिश सरकार ने जब इन मांगों को स्वीकृत नहीं किया, तो अरबों ने फिर हिंसात्मक उपायों को ग्रहण किया. जगह-जगह पर दंगे हुए और ब्रिटिश अफसरों व यहूदी लोगों पर हमले शुरू हो गये। स्थिति इतनी गम्भीर हो गई, कि ब्रिटिश सरकार ने पैलेस्टाइन की समस्या पर विचार करने के लिये नवम्बर, १९३६ में लार्ड पील की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की। पील कमीशन ने पैलेस्टाइन जाकर वहां की समस्या का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला, कि अरबों और यहूदियों में किसी भी प्रकार का समझौता हो सकना सम्भव नहीं है। अरब लोगों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं और यहूदियों की पैलेस्टाइन में अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य बनाने की अभिलाषा में किसी भी प्रकार से सामञ्जस्य स्थापित कर सकना क्रियात्मक बात नहीं है। अतः उचित यह होगा, कि पैलेस्टाइन को तीन भागों में विभक्त कर दिया जाय—(१) यहूदी राज्य—इसमें पैलेस्टाइन के उस भाग को शामिल किया जाय, जहां वे अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। इसका क्षेत्रफल सम्पूर्ण पैलेस्टाइन के चतुर्थांश के लगभग हो। (२) अरब राज्य—इसमें पैलेस्टाइन के उस भाग को अन्तर्गत किया जाय, जहां यहूदियों की आबादी अरबों के मुकाबले में बहुत कम है। (३) मध्यवर्ती राज्य—इसमें जरूसलम व उसके समीप के वे प्रदेश अन्तर्गत हों, जिन्हें यहूदी लोग पवित्र मानते हैं, और जिनमें अरब और यहूदी दोनों अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। इस राज्य का शासन ब्रिटिश सरकार की अधीनता में हो, और समुद्रतट के साथ इसका सम्बन्ध रखने के लिये जाफ्फा बन्दरगाह तक एक गलियारा भी इस राज्य में सम्मिलित किया जाय। पील कमीशन ने यह भी प्रस्तावित किया, कि पैलेस्टाइन के यहूदी और अरब राज्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र माने जावें और उन्हें राष्ट्रसंघ की सदस्यता का अधिकार प्रदान किया जाय।

वुडहेड कमीशन—पील कमीशन की इस योजना से न यहूदी सन्तुष्ट हुए और न अरब। यहूदियों का कहना था, कि यह हमारे साथ विश्वासघात है। हमारे लिये एक पृथक् राष्ट्रीय राज्य के विकसित होने की आशा का ही इससे अन्त हो जाता है। अरब लोग कहते थे, पैलेस्टाइन के जो उपजाऊ व समृद्ध प्रदेश हैं, वे यहूदियों को दे दिये गये हैं। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध फिर विद्रोह शुरू कर दिया, अनेक स्थानों पर दंगे हुए और अनेक ब्रिटिश अफसर अरब-रोष के शिकार हुए। इस दशा में ब्रिटिश सरकार ने यह भलीभांति अनुभव कर लिया, कि पील कमीशन की योजना से पैलेस्टाइन की समस्या को हल कर सकना सम्भव नहीं होगा। उसने यह मामला राष्ट्रसंघ के सम्मुख उपस्थित किया, और राष्ट्रसंघ ने पैलेस्टाइन के प्रश्न पर विचार करने के लिये एक नये कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन का अध्यक्ष सर जान वुडहेड को नियत किया गया और १९३८ के शुरू में इस कमीशन ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। वुडहेड कमीशन की यह रिपोर्ट थी, कि पील कमीशन की योजना क्रियात्मक नहीं है, अतः उसका परित्याग कर देना चाहिये और इस बात का यत्न करना चाहिये, कि यहूदियों और अरबों में कोई ऐसा समझौता हो जाय, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो। इसके लिये उसने एक गोलमेज-परिषद् का प्रस्ताव किया, और यह कहा कि इस परिषद् में न केवल यहूदियों और पैलेस्टाइन के अरबों के प्रतिनिधियों को ही निमन्त्रित करना चाहिये, अपितु साथ ही पड़ोस के अन्य अरब राज्यों के प्रतिनिधियों को भी बुलाना चाहिये। इसके अनुसार लण्डन में गोलमेज परिषद् का आयोजन किया गया। १९३९ के फरवरी मास में परिषद् के अधिवेशन लण्डन में शुरू हुए।

गोलमेज-परिषद्—पर परिषद् का कार्य सुगम नहीं था। अरबों और यहूदियों में इतना अधिक मतभेद और विद्वेष था, कि वे किसी बात पर भी सहमत नहीं हो सकते थे। वे इस बात के लिये भी तैयार नहीं हुए, कि परिषद् के अधिवेशनों में एक साथ बैठ सकें। ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों को दोनों पक्षों के साथ पृथक्-पृथक् बात करनी पड़ती थी। इस दशा में यह असम्भव था, कि गोलमेज-परिषद् को सफलता प्राप्त हो सकती। कुछ सप्ताहों के प्रयत्न के बाद परिषद् भंग कर दी गई, और पैलेस्टाइन की समस्या पहले के समान ही जटिल बनी रही। पैलेस्टाइन में अरब और यहूदी दोनों ही परस्पर संघर्ष में लगे रहे और ब्रिटिश शासन का विरोध करते रहे।

इसी बीच में महायुद्ध (१९३९-४५) का प्रारम्भ हो गया, और ब्रिटिश

सरकार ने पैलेस्टाइन की समस्या को सुलझाने के कार्य को स्थगित कर दिया। युद्ध के अवसर पर ब्रिटेन यह आवश्यक समझता था, कि पैलेस्टाइन पर उसका कब्जा कायम रहे, ताकि वह सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस प्रदेश का वह युद्ध के लिये उपयोग कर सके।

५. भारत में स्वराज्य-आन्दोलन

आयर्लैण्ड और मिस्र के समान भारत में भी महायुद्ध के समय जनता में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई। भारत में स्वतन्त्रता की आकांक्षा पहले भी विद्यमान थी। अनेक क्रान्तिकारी नेता ब्रिटिश शासन के विरुद्ध क्रान्ति की तैयारी में लगे थे। उनके अनेक गुप्त संगठन थे, और समय-समय पर ब्रिटिश अफसरों पर आक्रमण कर वे अपनी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का परिचय देते रहते थे। भारत की शिक्षित जनता में जागृति और स्वतन्त्रता की उत्कण्ठा को उत्पन्न करने के लिये नेशनल कांग्रेस भी अपना कार्य कर रही थी। युद्ध के समय इस कार्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला। महायुद्ध में भारत ने पूरी तरह ब्रिटेन के साथ सहयोग किया। लाखों नवयुवक सेना में भरती हुए और करोड़ों रुपया युद्ध की सहायता के लिये चन्दा दिया गया। ऋण की मात्रा तो अरबों में थी। मित्रराष्ट्रों के इस प्रचार से कि वे संसार में लोकतन्त्र शासन की स्थापना और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर राज्यों के पुनः निर्माण के लिये संघर्ष कर रहे हैं, भारत में आशा का संचार हुआ, और यहां के नेताओं ने तन, मन और धन से ब्रिटेन की सहायता की। पर युद्ध की समाप्ति पर उन्हें घोर निराशा का सामना करना पड़ा। शासन-सुधार के लिये जो योजना भारत-मन्त्री श्री मान्टेग्यु और वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने तैयार की, वह बहुत ही निराशाजनक थी। भारत में विद्रोह की प्रवृत्तियों का दमन करने के लिये सरकार ने रालेट एक्ट (१९१९ म) का निर्माण किया। इसके विरुद्ध सब जगह प्रदर्शन किये गये। पर सरकार ने उन्हें बड़ी कठोरता के साथ दबा दिया। जगह-जगह गोलियां चलाई गईं।

अमृतसर का हत्याकाण्ड—अमृतसर में नागरिक रालेट एक्ट का विरोध करने के लिये एक सार्वजनिक सभा कर रहे थे, जिसमें हजारों नर-नारी उपस्थित थे। इस सभा में सम्मिलित निहत्थे व शान्त लोगों पर मशीनगन से गोलियां चलाई गई। हजारों निहत्थे लोग बुरी तरह घायल हुए। जो लोग गोलियों के शिकार होकर मर गये, उनकी संख्या भी एक हजार से अधिक थी। इतने भयंकर हत्याकाण्ड से सारे भारत में सनसनी फैल गई, और लोग ब्रिटिश

सरकार का मुकाबला करने के लिये उठ खड़े हुए। इस समय नेशनल कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गान्धी ने अपने हाथों में लिया, और स्वराज्य-प्राप्ति के लिये उन्होंने असहयोग-आन्दोलन का प्रारम्भ किया।

असहयोग-आन्दोलन--इस आन्दोलन में चार बातें मुख्य थीं--(१) सरकारी स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार और उनकी जगह पर राष्ट्रीय शिक्षणालयों की स्थापना, (२) अदालतों का बहिष्कार, (३) विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करके हाथ के कते और हाथ के बुने कपड़ों का पहनना, ताकि देश का धन विदेश में न जाने पावे, और देश आर्थिक दृष्टि से किसी विदेश पर आश्रित न रहे, और (४) सरकारी कर्मचारियों से यह भी अनुरोध किया गया, कि वे ब्रिटिश शासन से असहयोग करके अपनी नौकरियों का परित्याग कर दें, ताकि ब्रिटिश लोगों के लिये इस देश में शासन कर सकना असम्भव हो जाय। महात्मा गान्धी के इस आन्दोलन से सारे भारत में जागृति उत्पन्न हो गई। हजारों देशभक्तों को गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया गया। अनेक सरकारी कालिज बन्द हो गये। जनता में बहुत जोश फैल गया, और सब जगह खादी और स्वदेशी की धूम मच गई। गान्धीजी को गिरफ्तार करके उन पर मुकदमा चलाया गया, और उन्हें छः साल कैद की सजा दी गई। सरकार की दमन-नीति के कारण कुछ समय बाद असहयोग-आन्दोलन शिथिल पड़ गया, पर देश में अशान्ति जारी रही। विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने १९२७ में सर जान साइमन के नेतृत्व में एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसे भारत में शासन-सुधार सम्बन्धी परामर्श देने का काम सुपुर्द किया गया। इस कमीशन के सब सदस्य अंग्रेज थे। उससे यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि वह भारत की आकांक्षाओं को भली भांति समझकर कोई उचित रिपोर्ट दे सकेगा। नेशनल कांग्रेस ने उसके बहिष्कार का निश्चय किया, और किसी महत्त्वपूर्ण नेता ने उसके सम्मुख गवाही नहीं दी। साइमन कमीशन जहां कहीं भी गया, काले झण्डों और 'साइमन वापस चले जाओ' के नारों से उसका स्वागत किया गया। साइमन कमीशन की रिपोर्ट १९३१ में प्रकाशित हुई। पर उससे भारत में किसी को भी सन्तोष नहीं हुआ। दिसम्बर, १९२९ में पंडित जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में नेशनल कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ। उसमें कांग्रेस ने सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकार किया, कि भारत में पूर्ण स्वराज्य स्थापित करना ही कांग्रेस का उद्देश्य है। मार्च १९३० में महात्मा गान्धी ने भारत के ब्रिटिश वाइसराय के पास एक पत्र भेजा, जिसमें ग्यारह मांगें पेश की गईं। इनमें से मुख्य ये थीं--(१) नमक

पर से कर उठा दिया जाय, (२) सेना के खर्च को घटाकर आधा कर दिया जाय, (३) सब राजनीतिक कैदियों को छोड़ दिया जाय, और (४) विदेशी माल के भारत में प्रवेश होने में रुकावटें पैदा की जायं। महात्मा गान्धी ने अपने पत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया था, कि इन मांगों के स्वीकार न होने पर सत्याग्रह का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जायगा।

सत्याग्रह-आन्दोलन—वाइसराय ने महात्मा गान्धी की मांगों को स्वीकार नहीं किया। इस पर उन्होंने स्वयं अपने ८१ विश्वासपात्र साथियों के साथ सत्याग्रह का श्रीगणेश किया। वे नमक कानून को तोड़ने के उद्देश्य से पैदल चल कर समुद्र-तट पर गये, और अपने साथियों के साथ वहां गिरफ्तार कर लिये गये। महात्मा गांधी के अनुकरण में देश भर में जगह-जगह पर नमक-कानून तोड़ा गया, और सरकार ने हजारों स्त्री-पुरुषों को गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया। कांग्रेस ने यह भी आन्दोलन किया, कि विदेशी कपड़े की दूकानों और शराब की भट्ठियों पर धरना दिया जाय, और किसान लोग सरकार को मालगुजारी अदा न करें। शीघ्र ही सत्याग्रह-आन्दोलन सारे देश में फैल गया, और जेल जानेवाले वीर देशभक्तों की संख्या एक लाख के लगभग पहुंच गई। सरकार ने देशभक्त सत्याग्रहियों पर कठोर अत्याचार किये। कई जगह जनता और पुलीस में मुठभेड़ भी हो गई। पर महात्मा गान्धी के आन्दोलन का मुख्य तत्त्व अहिंसा और शान्तिमय उपायों से सरकार का विरोध करना था। वे इस बात को भलीभांति समझते थे, कि स्वराज्य-प्राप्ति के लिये सर्व-साधारण जनता में जागृति और अन्याय का प्रतिरोध करने की सामर्थ्य उत्पन्न कर देना ही सबसे अधिक उपयोगी है। उनके प्रयत्न से भारत की जनता ब्रिटिश सरकार के खिलाफ उठ खड़ी हुई, और अन्त में अंग्रेजों को कांग्रेस से समझौता करने के लिये विवश होना पड़ा। उन्होंने लण्डन में एक गोलमेज-परिषद् का आयोजन किया, जिसमें कांग्रेस को भी अपने प्रतिनिधि भेजने के लिये निमन्त्रित किया गया। कांग्रेस की ओर से अकेले महात्मा गान्धी इस कान्फरेन्स में शामिल हुए। गोलमेज-परिषद् के परिणामस्वरूप भारत के लिये १९३५ में एक नया शासन-विधान स्वीकृत किया गया, जिससे आंशिक रूप में स्वायत्त-शासन की स्थापना की गई। वाइसराय के इस आश्वासन पर कि गवर्नर-जनरल या प्रान्तीय गवर्नर जनता द्वारा निर्वाचित मन्त्रियों के काम में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, १९३७ में कांग्रेस ने नये शासन-विधान के साथ सहयोग करना स्वीकार कर लिया। १९३७ के चुनाव में कांग्रेस की सर्वत्र विजय हुई, और प्रायः सब जगह कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल कायम हुए।

महात्मा गांधी और उनके साथी नेताओं के प्रयत्नों से भारत में एक ऐसी जागृति उत्पन्न हो गई, जिससे ब्रिटिश शासन का वहां स्थिर रह सकना सम्भव नहीं रहा। ब्रिटेन-जैसे शक्तिशाली देश का शिकंजा जो भारत में ढीला पड़ गया, उसका प्रधान कारण जन-शक्ति का विकास था। महात्मा गांधी का प्रयत्न यही था, कि भारत की यह जनशक्ति ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़ी हो।

६. ब्रिटेन का शासन

आर्थिक समस्या—महायुद्ध के समाप्त होने के समय ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री लायड जार्ज थे। उनके मन्त्रिमण्डल में सब प्रमुख राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, क्योंकि युद्ध के अवसर पर सब दलों के लिये मिलकर काम करना आवश्यक था। युद्ध की समाप्ति पर लायड जार्ज की सरकार को अनेक विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा। ब्रिटेन के तैयार माल का मुख्य खरीदार भारत था। पर युद्ध के समय में भारत के अपने व्यवसाय भलीभांति उन्नत होने लग गये थे। कपड़े की बहुत-सी मिलें वहां खुल गई थीं। जिस समय जर्मनी ब्रिटेन के जहाजों को डुबाने में लगा था, ब्रिटिश तैयार माल का भारत व अन्य पूर्वी देशों में आ सकना कठिन हो गया था, और ब्रिटेन के सब कारखाने युद्ध के लिये विविध प्रकार की सामग्री तैयार करने में व्यस्त थे, जापान ने भारत व एशिया के अन्य बाजारों को अपने सस्ते माल से भर देने का अच्छा मौका पा लिया था। युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटेन ने अनुभव किया, कि एशिया के बाजारों में वह जापान का मुकाबला नहीं कर सकता। वह बाजार उससे बहुत कुछ छिन गया है। दक्षिणी अमेरिका के साथ ब्रिटेन का जो व्यापार था, अब उसे संयुक्त राज्य अमेरिका ने हस्तगत कर लिया था। महायुद्ध के समय ब्रिटेन के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह दक्षिणी अमेरिका के राज्यों को अपना माल पहुंचा सके। संयुक्त राज्य अमेरिका देर तक युद्ध से अलग रहा था, अतः उसे दक्षिण में अपने व्यापार को विस्तृत करने का अच्छा अवसर हाथ लग गया था। ब्रिटेन का कोयला मुख्यतः इटली, हालैण्ड और स्कैण्डेनेविया को जाता था। पर अब ये देश अपनी जरूरत का कोयला फ्रांस से सस्ते दामों पर खरीद रहे थे। जर्मनी को हरजाने के रूप में बीस लाख टन कोयला हर साल फ्रांस को देना होता था। इस कोयले को वह सस्ते दामों पर और देशों को बेच देता था। इसलिये ब्रिटेन के कोयले की मांग भी बहुत कम हो गई थी। हरजाने के रूप में बहुत-से जहाज ब्रिटेन ने जर्मनी से प्राप्त

किये थे। इससे ब्रिटेन को जहां लाभ हुआ, वहां यह नुकसान भी हुआ, कि उसे नये जहाज बनाकर तैयार करने की जरूरत नहीं रही। जहाज बनाने के कारोबार में जो लाखों आदमी रोजगार पा रहे थे, वे बेकार हो गये। अन्दाज किया गया है, कि जहाज तैयार करने के रोजगार में जितने आदमी लड़ाई के जमाने में काम कर रहे थे, उनका दो-तिहाई हिस्सा लड़ाई के खतम होने पर बेकार हो गया। ब्रिटेन की करोड़ों रुपये की पूंजी रूस में लगी हुई थी। बोल्शेविक सरकार ने उसे अदा करने से इनकार कर दिया। ब्रिटेन की करोड़ों रुपये की पूंजी बात की बात में नष्ट हो गई। लड़ाई के समय में यूरोप के बहुत-से मित्रराष्ट्रों ने ब्रिटेन से रुपया कर्ज लिया था। इस कर्ज को वसूल करना कठिन था। पर ब्रिटेन ने अमेरिका से जो कर्ज लिया था, उसे अदा करने से वह इनकार नहीं कर सकता था। इस कर्ज की मात्रा १५०० करोड़ रुपया थी। यह स्थिति ब्रिटेन के लिये बहुत ही भयंकर थी। लड़ाई से पहले लण्डन संसार का सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। रुपये का भी वही सबसे बड़ा बाजार था। पर अब लण्डन का स्थान न्यूयार्क ले रहा था। ब्रिटेन में रुपये की कमी हो गई थी, क्योंकि उसके लिये अपने कर्जों को वसूल करना कठिन हो गया था।

१९२१ में बीस लाख से भी अधिक मजदूर इङ्गलैण्ड में बेकार थे। कारखानों के मालिक कहते थे, मजदूरी की दर में कमी किये बिना वे अपने खर्च पूरे नहीं कर सकते। मजदूर कहते थे, वे किसी भी प्रकार मजदूरी की दर में कमी करना स्वीकार नहीं करेंगे। लायड जार्ज की सरकार के सामने बड़ा जटिल प्रश्न यह था, कि वह लाखों बेकारों के बारे में किस नीति का अनुसरण करे, और पूंजीपतियों व मजदूरों के झगड़ों को कैसे निबटावे। बेकार मजदूरों की समस्या का हल करने के लिये व्यवस्था यह की गयी, कि जब तक वे बेकार रहें, उन्हें सरकार की ओर से निर्वाह खर्च (डोल) दिये जावें। पर बीस लाख मजदूरों का गुजारा चलाने के लिये करोड़ों रुपयों की आवश्यकता थी। यह रुपया कहां से आये? इसके लिये सरकार ने यह उपाय किया, कि इनकम-टैक्स (आय-कर) की दर बढ़ा दी गई, अनेक नये कर लगाये, और मुक्तद्वार वाणिज्य (फ्री ट्रेड) की नीति का परित्याग कर संरक्षण (प्रोटेक्शन) नीति का प्रारम्भ किया। संरक्षण-नीति का अवलम्बन इसलिये भी आवश्यक था, क्योंकि इस समय अन्य देशों (विशेषतया जापान) का तैयार माल बड़ी तादाद में ब्रिटेन के बाजारों में आने लगा था। ब्रिटेन के कारखाने इतना सस्ता माल नहीं बना सकते थे, क्योंकि वहां मजदूरी की दर बहुत ऊंची थी। ब्रिटेन इस समय व्यावसायिक क्षेत्र में अपने नेतृत्व को खो

चुका था, अपने व्यवसायों की रक्षा के लिये उसे संरक्षण-नीति का अवलम्बन करना पड़ा था।

कन्जर्वेटिव पार्टी की सरकार—सरकार की नई नीति से सब लोग सन्तुष्ट नहीं थे। परिणाम यह हुआ, कि लायड जार्ज ने इस्तीफा दे दिया, और कन्जर्वेटिव दल के नेता श्री बोनर लॉ ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। नये चुनाव में कन्जर्वेटिव पार्टी की विजय हुई। पार्लियामेण्ट में उसका बहुमत था। कुछ दिनों बाद बीमारी के कारण बोनर लॉ ने त्यागपत्र दे दिया, और श्री बाल्डविन प्रधान मन्त्री के पद पर अधिष्ठित हुए। बाल्डविन संरक्षण-नीति का समर्थक था। उसका यह विचार था, कि ब्रिटेन की आर्थिक समस्या को हल करने का एकमात्र उपाय संरक्षण-नीति ही है। पर लिबरल और मजदूर दलों के लोग इस बात से सहमत नहीं थे। कन्जर्वेटिव पार्टी के अनेक सदस्य भी संरक्षण-नीति की सफलता में सन्देह रखते थे। यह मतभेद इतना अधिक बढ़ा, कि बाल्डविन ने पार्लियामेण्ट को भंग कर दिया। नया चुनाव मुक्तद्वार वाणिज्य और संरक्षण-नीति के सवाल को सामने रखकर लड़ा गया। इसमें कन्जर्वेटिव पार्टी की पराजय हुई। १९२३ के इस नये निर्वाचन में पार्टियों की स्थिति इस प्रकार थी—कन्जर्वेटिव २३८, मजदूर दल १९१ और लिबरल दल १५९। यद्यपि सबसे अधिक संख्या अब भी कन्जर्वेटिव पार्टी की ही थी, पर मजदूर और लिबरल दल मिलकर उससे अधिक संख्या में हो जाते थे। परिणाम यह हुआ, कि बाल्डविन ने त्यागपत्र दे दिया। मजदूर दल के नेता श्री रामजे मेकडानल्ड ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया, और मजदूर दल का पहला मन्त्रिमण्डल ब्रिटेन में कायम हुआ। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि श्री रामजे मेकडानल्ड अपने पद पर तभी तक रह सकते थे, जब तक कि लिबरल दल का सहयोग और समर्थन उन्हें प्राप्त रहे।

मजदूर-सरकार—१९२३ के चुनाव में मजदूर दल ने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की थी। साम्यवाद की जो लहर इस समय सारे यूरोप में व्याप्त हो रही थी, यह उसी का परिणाम था। पर रामजे मेकडानल्ड का पहला मन्त्रिमण्डल देर तक कायम नहीं रह सका। चुनाव के समय पर मजदूर दल ने मतदाताओं के सम्मुख अनेक नई बातें रखी थीं। पूंजीपतियों से एक विशेष पूंजी-कर वसूल करके सरकार अपनी आर्थिक समस्या को हल कर सकेगी, मेकडानल्ड ने यह आशा दिलाई थी। पर मजदूर दल केवल वही योजना क्रिया में परिणत कर सकता था, जिससे लिबरल पार्टी सहमत हो। इस बात से मजदूर दल में बड़ी बेचैनी थी। रामजे मेकडानल्ड का यह विचार था, कि रूस की बोल्शेविक सरकार

के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिये, ताकि यूरोप में शान्ति का मार्ग तैयार हो सके। पर लिबरल लोग रूस के बहिष्कार को जारी रखना चाहते थे। इस दशा में मजदूर मन्त्रिमण्डल के लिये कायम रह सकना असम्भव था। अक्टूबर, १९२४ में फिर नया निर्वाचन हुआ। इस बार कन्जर्वेटिव लोग सफल हुए। उनके उम्मीदवार बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। उनकी सफलता का प्रधान कारण रूस की बोल्शेविक सरकार के सम्बन्ध में मजदूर दल की नीति ही थी।

कन्जर्वेटिव सरकार—१९२४ से १९२९ तक पांच साल बाल्डविन का कन्जर्वेटिव मन्त्रिमण्डल अपने पद पर कायम रहा। इस काल में उसने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। संरक्षण-नीति में इस तरह के परिवर्तन किये गये, जिनसे ब्रिटेन को आयात-कर से आमदनी तो मिलती रहे, पर उसके व्यवसायों को कच्चा माल प्राप्त करने में कोई कठिनाई न हो, और तैयार माल की कीमतें भी ब्रिटेन के बाजार में ज्यादा न बढ़ें। कन्जर्वेटिव पार्टी के शासन-काल में मजदूरों की समस्या बहुत विकट होती गई। मई, १९२६ में उन्होंने आम हड़ताल कर दी। इस पर सरकार ने एक नया कानून बनाया, जिसके अनुसार आम हड़तालों को गैरकानूनी करार कर दिया गया, और ट्रेड यूनियनों के आन्दोलन में अनेक प्रकार की रुकावटें डाली गयीं। इससे मजदूर श्रेणी में असन्तोष बहुत बढ़ गया।

मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल—इसी कारण १९२९ में जब पार्लियामेण्ट का नया चुनाव हुआ, तो कन्जर्वेटिव पार्टी की हार हो गई। सबसे अधिक सदस्य मजदूर दल के चुने गये। बाल्डविन की सरकार ने इस्तीफा दे दिया और श्री मैकडानल्ड ने एक बार फिर मजदूर दल के मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। इस बार मैकडानल्ड ने विदेशी राजनीति में विशेष दिलचस्पी ली। उसी के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि रूस की बोल्शेविक सरकार यूरोप की राजनीति में समुचित स्थान प्राप्त करने में समर्थ हुई। मैकडानल्ड देश की आन्तरिक दशा में भी अनेक नये सुधार करना चाहता था, पर यह समय संसार के इतिहास में बड़े विकट आर्थिक संकट का था। १९३०-३१ में पदार्थों की कीमतें बहुत नीची हो गई थीं। खेती व कल-कारखानों के मुनाफे बहुत कम रह गये थे। टैक्स कम वसूल होता था। सरकार के लिये बजट को पूरा करना भी कठिन था। इसी दशा में यह कैसे सम्भव था, कि बेकार मजदूरों को भरपूर मात्रा में निर्वाह-खर्च दिया जा सके, या मजदूरों की भलाई के लिये अन्य उपयोगी काम हाथ में लिये जा सकें। इससे मजदूर दल में बहुत बेचैनी होने लगी। वे अनुभव करते थे, कि उनके नेता ठीक रास्ते पर नहीं हैं। उनमें फूट पड़ गई, और

मजदूर दल के बहुसंख्यक सदस्यों ने अपने नेता का साथ देना बन्द कर दिया।

राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल—पर मैकडानल्ड का कहना था, कि आर्थिक संकट के कारण यह समय राष्ट्रीय विपत्ति का है। पार्टीबाजी के विचारों को छोड़कर इस समय सब दलों को राष्ट्रीय हित की दृष्टि में रखकर काम करना चाहिये। उसने कन्जर्वेटिव और लिबरल दलों के नेताओं को एक मिली-जुली राष्ट्रीय सरकार बनाने का निमन्त्रण दिया। अगस्त, १९३१ में यह राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल बन गया, जिसमें प्रधान मन्त्री के पद पर श्री मैकडानल्ड रहे। पर मन्त्रियों की बहुसंख्या कन्जर्वेटिव लोगों की थी, जिनमें बाल्डविन और नेविल चेम्बरलेन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अगले चुनाव में सम्मिलित राष्ट्रीय दल ने असाधारण विजय प्राप्त की। उसके अनुयायी उम्मीदवारों ने ८८ फी सदी से भी अधिक स्थान प्राप्त कर लिये। १९३१ से १९३९ तक यह राष्ट्रीय दल ही ब्रिटेन के शासन-सूत्र को सँभाले रहा। १९३५ तक मैकडानल्ड प्रधान मन्त्री के पद पर रहे। फिर १९३७ तक बाल्डविन और १९३९ तक चेम्बरलेन इस पद पर अधिष्ठित रहे। इस राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल की प्रधान शक्ति आर्थिक संकट का मुकाबला करने में लगी रही। इसमें सन्देह नहीं, कि जनता के सहयोग से ब्रिटेन की यह सरकार अपने देश की आर्थिक स्थिति को सँभालने में बहुत कुछ सफल हुई।

१९३६ में राजा जार्ज ५ वें की मृत्यु हो गई, और उसका लड़का एडवर्ड आठवां ब्रिटेन की राजगद्दी पर बैठा। मध्य श्रेणी की एक सुशिक्षित महिला के प्रेम में पड़कर उसने उससे विवाह करना चाहा। पर ब्रिटेन का लोकमत यह नहीं सह सका, कि उनकी रानी के पद पर एक ऐसी स्त्री अधिष्ठित हो, जो राजघराने की न हो। एडवर्ड आठवें ने अपनी प्रेयसी का परित्याग करने के बजाय राजगद्दी का परित्याग करना पसन्द किया, और उसका छोटा भाई जार्ज छठे के नाम से राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

इस समय ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत विविध उपनिवेशों, अधीनस्थ राज्यों और छोटे द्वीपों व अन्य प्रदेशों में परस्पर सहयोग स्थापित करने का भी प्रयत्न किया गया। साम्राज्य के विविध अंगों के प्रतिनिधि अनेक बार साम्राज्य की नीति का निर्णय करने के लिये एकत्र हुए और यह अनुभव किया गया, कि विशाल ब्रिटिश साम्राज्य को एक ऐसी बिरादरी के रूप में परिवर्तित कर देना चाहिये, जिसमें कि सब अंग अपने को एक समान व एक स्थिति के समझ सकें। इस प्रकार की बिरादरी के लिये 'ब्रिटिश कामनवेल्थ' नाम दिया गया।

१९३१ से ब्रिटेन में जिस राष्ट्रीय दल का प्राधान्य था, उसमें कन्जर्वेटिव

दल की प्रधानता थी। महायुद्ध से पहले ब्रिटेन में लिबरल दल का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। पर अब उसका स्थान मजदूर दल ने ले लिया था। यदि मजदूर दल में फूट न पड़ जाती, तो वह इस समय इतना निर्बल न होता। रामजे मेकडानल्ड ने विश्वव्यापी आर्थिक संकट को एक राष्ट्रीय विपत्ति मानकर, यह आवश्यक समझा था, कि अपने दल के संकुचित हितों की उपेक्षा कर अन्य दलों के साथ मिलकर राष्ट्रीय सरकार का निर्माण किया जाय। सम्पूर्ण कन्जर्वेटिव दल ने उसका साथ दिया और लिबरल दल के भी बहुत बड़े भाग ने इस राष्ट्रीय विपत्ति के समय में राष्ट्रीय दल में सम्मिलित होना स्वीकार किया।

राष्ट्रीय दल के शासनकाल में जो महत्त्वपूर्ण कार्य हुए, वे निम्नलिखित थे—(१) दिसम्बर, १९३१ में 'स्टेट्यूट आफ वेस्टमिन्स्टर' स्वीकृत किया गया, जिसके अनुसार औपनिवेशिक राज्यों की स्वाधीन सत्ता मान ली गई। इस विधान पर हम अगले प्रकरण प्रकाश में डालेंगे। (२) संरक्षण-नीति का अनुसरण किया गया। कपास, ऊन, मांस, मछली और गेहूं के अतिरिक्त अन्य सब माल पर १० प्रति शत आयात-कर लगाने की व्यवस्था की गई। (३) ब्रिटेन में उत्पन्न होनेवाले अनाज की कीमत को कायम रखने के लिये बाहर से आनेवाले अनाज पर भी कर लगाया गया। (४) यूरोप की बिगड़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को दृष्टि में रखकर सेना के खर्च में वृद्धि की गई। १९१० में ब्रिटेन सेना पर कुल ६,८०,००,००० पौंड प्रति वर्ष खर्च करता था। १९३५ में यह खर्च बढ़कर ११,५०,००,००० पौंड तक पहुंच गया था। (५) सेना के खर्च में वृद्धि और बेकार लोगों को दिये जानेवाले भत्ते के कारण ब्रिटेन का सरकारी खर्च बहुत बढ़ गया था। इस खर्च को पूरा करने के लिये अमेरिका को अदा की जाने वाली कर्ज की किस्तों की अदायगी स्थगित कर दी गई, और पौंड सिक्के का सम्बन्ध सुवर्ण से तोड़ दिया गया। सुवर्ण से सिक्के का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने से ब्रिटेन में पत्रमुद्रा की मात्रा में बहुत वृद्धि हुई।

यूरोप की राजनीति का भी इस समय ब्रिटेन पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस काल में यूरोप में कम्युनिस्ट और फैसिस्ट दल जोर पकड़ रहे थे। उनकी विचारधारायें यूरोप के सभी देशों पर अपना प्रभाव डाल रही थीं। ब्रिटेन भी उनसे अछूता नहीं बच सका। वहां भी कम्युनिस्ट और फैसिस्ट पार्टियों का प्रादुर्भाव हुआ। सर ओस्वाल्ड मोस्ले के नेतृत्व में ब्रिटिश फैसिस्ट पार्टी का संगठन हुआ, जिसके स्वयं-सेवक 'काली कुड़ती' (ब्लैक शर्ट) पहनकर बाकायदा कवायद करते थे, और यहूदियों के खिलाफ आन्दोलन में तत्पर थे।

७. औपनिवेशिक राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता

महायुद्ध से पूर्व ही ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका आदि औपनिवेशिक राज्य स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त कर चुके थे। उनका ब्रिटेन के साथ क्या सम्बन्ध हो, इस विषय पर विचार करने के लिये जिन साम्राज्य-सम्मेलनों (इम्पीरियल कान्फरेन्स) की व्यवस्था १९०७ में की गई थी, उन पर हम इस इतिहास के चौंतीसवें अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। इन सम्मेलनों में ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका और न्यूफाउण्डलैण्ड के प्रधान मन्त्री सम्मिलित हुआ करते थे, और साम्राज्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों पर विचार किया करते थे। साम्राज्य-सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों का स्वरूप कानून का नहीं होता था। इन्हें क्रिया में परिणत करने के लिये प्रत्येक औपनिवेशिक राज्य अपनी-अपनी पार्लियामेण्ट में प्रस्ताव व विधान उपस्थित किया करता था। वहां स्वीकृत होने के बाद ही ये अपने-अपने क्षेत्र में लागू हो सकते थे।

महायुद्ध के बाद औपनिवेशिक राज्यों की स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। युद्ध में सब उपनिवेशों ने दिल खोलकर ब्रिटेन की सहायता की थी। इसीलिये पेरिस की शान्ति-परिषद् में उनके प्रतिनिधि पृथक् रूप से शामिल हुए थे, और वर्साय आदि के सन्धि-पत्रों पर उन्होंने पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों के प्रतिनिधि के रूप में अपने पृथक् हस्ताक्षर किये थे। राष्ट्रसंघ की सदस्यता का भी अधिकार उन्हें पृथक् रूप से प्राप्त हुआ था। इन सब बातों ने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक पृथक् स्थिति प्रदान कर दी थी, और धीरे धीरे उन्होंने इस ढंग से आचरण शुरू कर दिया था, मानो वे पूर्णतया स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य हों। १९२३ में और उसके बाद कनाडा ने संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ अनेक ऐसी सन्धियां कीं, जिन पर केवल इन दो राज्यों ने ही हस्ताक्षर किये थे। ब्रिटेन का उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। कतिपय उपनिवेशों ने अन्य राज्यों में अपने राजदूत भी स्वतन्त्र रूप से नियुक्त किये। राष्ट्रसंघ द्वारा जर्मनी से प्राप्त अनेक प्रदेशों का शासन सीधा दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के सुपुर्द किया गया। राष्ट्रसंघ की दृष्टि में इन औपनिवेशिक राज्यों की वही स्थिति थी, जो फ्रांस, ब्रिटेन, आदि स्वतन्त्र राज्यों की थी। १९३० में आस्ट्रेलिया ने यह चाहा, कि ब्रिटिश राजा द्वारा ऐसे व्यक्ति को ही उसका गवर्नर-जनरल नियुक्त किया जाय, जिसे वहां की सरकार चाहती हो। आस्ट्रेलिया की इस मांग को ब्रिटिश सरकार ने

स्वीकृत भी कर लिया, और एक ऐसा व्यक्ति वहां का गवर्नर-जनरल नियत हुआ, जो स्वयं आस्ट्रेलियन था।

वस्तुतः, महायुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के विविध औपनिवेशिक राज्यों ने क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र राज्यों की स्थिति प्राप्त कर ली थी। पर कानून की दृष्टि में वे अब तक भी ब्रिटेन के अधीन थे। परिणाम यह हुआ, कि १९२९ में एक कमेटी की नियुक्ति की गई, जिसमें ब्रिटेन और विविध औपनिवेशिक राज्यों के प्रतिनिधियों को सदस्य बनाया गया। इस समिति को यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वह ऐसी व्यवस्था प्रस्तावित करे, जिसके अनुसार क्रिया और कानून—दोनों में औपनिवेशिक राज्यों की स्थिति एक सदृश हो जाय। इस कमेटी की रिपोर्ट को १९३० के साम्राज्य-सम्मेलन ने स्वीकृत किया, और उसके अनुसार ब्रिटेन व विविध औपनिवेशिक राज्यों ने कानून बनाये। दिसम्बर, १९३१ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने औपनिवेशिक राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता के सम्बन्ध में उस विधान को पास किया, जो, 'स्टेट्यूट आफ वेस्टमिन्स्टर' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस विधान द्वारा यह स्वीकृत किया गया, कि औपनिवेशिक राज्यों की स्थिति ग्रेट ब्रिटेन के बराबर है, और वे स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य हैं। भविष्य में किसी भी औपनिवेशिक राज्य की पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत किसी कानून को केवल इसलिये अवैध नहीं माना जायगा, क्योंकि वह कानून ब्रिटेन के कानून के प्रतिकूल जाता है। उपनिवेशों की पार्लियामेण्टों को यह अधिकार प्राप्त है, कि वे अपने देश के नागरिकों के लिये सब प्रकार के कानूनों का निर्माण कर सकें, ऐसे कानून भी जो प्रवासी नागरिकों पर लागू हो सकें। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत कोई भी कानून तब तक किसी भी उपनिवेश पर लागू नहीं होगा, जब तक कि कोई औपनिवेशिक सरकार स्वयं ही उसे अपने क्षेत्र में अपने देश के विधान के अनुसार लागू न करना चाहे। किसी औपनिवेशिक राज्य की पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत किसी कानून को ब्रिटेन का राजा अपने ब्रिटिश मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार वीटो करने का अधिकार नहीं रखेगा और ब्रिटेन में राजगद्दी के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून में तब तक कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकेगा, जब तक कि ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के साथ-साथ औपनिवेशिक राज्यों की पार्लियामेण्टों द्वारा भी उस परिवर्तन को स्वीकृत न कर लिया जाय।

इस प्रकार 'स्टेट्यूट आफ वेस्टमिन्स्टर' द्वारा 'स्वतन्त्र राष्ट्रों की ब्रिटिश कामनवेल्थ' (ब्रिटिश कामन वेल्थ आफ इन्डिपेन्डेन्ट नेशन्स) का निर्माण हुआ, जिसके अन्तर्गत सब राज्य पूर्णतया स्वाधीन होते हुए भी एक राजा के प्रति

भक्ति रखते हैं। ब्रिटिश राजा इन स्वतन्त्र राज्यों की एकता व एकानुभूति का प्रतीक है। इस समय ब्रिटिश कामनवेल्थ का जो स्वरूप विकसित हो गया है, उसमें विविध स्वतन्त्र राज्य अपनी स्वाधीन सत्ता को कायम रखते हुए भी एक ऐसे संगठन में संगठित हैं, जिसकी सामूहिक शक्ति उन सबके लिये हितकर व सहायक है। ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्तर्गत ये विविध औपनिवेशिक राज्य, नसल, भाषा, धर्म आदि की दृष्टियों से भी एकता रखते हैं। यह बात भी उनमें एकानुभूति कायम रखने में सहायक है।

उनचासवाँ अध्याय

फ्रांस का उत्कर्ष

१. आन्तरिक शासन

महायुद्ध में जर्मनी के परास्त हो जाने के बाद यूरोप में फ्रांस सबसे शक्तिशाली देश हो गया था। आस्ट्रिया-हंगरी और रूस के साम्राज्यों के भग्नावशेषों पर जिन नये राज्यों का निर्माण हुआ था, वे सब फ्रांस को अपना परम सहायक व मित्र मानते थे। फ्रांस उनका नेतृत्व करता था, कर्ज आदि द्वारा आर्थिक सहायता देकर उनके आर्थिक पुन:निर्माण में सहायता करता था, और अपने सैनिक अफसरों को भेज कर उनकी नई राष्ट्रीय सेनाओं का संगठन करता था। ये सब नये राज्य अपनी रक्षा के लिये फ्रांस पर भरोसा रखते थे। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और हंगरी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूरी तरह से फ्रांस के अनुयायी थे।

पर फ्रांस की प्रधान समस्या आन्तरिक थी। युद्ध के समय में उसे भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। उसके जिन उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर जर्मनी ने कब्जा कर लिया था, उनकी जन-संख्या ४८ लाख के लगभग थी। लड़ाई के बाद यह जन-संख्या घटकर केवल बीस लाख रह गई थी। इस प्रदेश में जितनी इमारतें, कारखाने व अन्य मकान थे, उनमें से एक-तिहाई बिलकुल नष्ट हो गये थे। इस इलाके की कोयले व लोहे की सब खानों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। खेती की जमीनें पड़ती पड़ गई थीं, उन पर जंगली घास-फूस उग आये थे। खेती में काम आनेवाले पशुओं का नाम व निशान भी नहीं बचा था। जिस आदमी ने इस प्रदेश को १९१४ के शुरू में देखा होगा, वह अब १९१८ में उसकी दशा को देखकर यह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था, कि यह वही इलाका है, जो केवल चार साल पहले कितना हरा-भरा, समृद्ध व वैभवपूर्ण था। युद्ध के समय में जर्मन सेनाओं ने उसे बुरी तरह उजाड़ दिया था। अब फ्रेंच सरकार के सम्मुख सबसे बड़ा प्रश्न यही था, कि इस प्रदेश को किस प्रकार फिर से बसाया जाय, और इसकी उजड़ी हुई दशा को फिर से ठीक किया जाय। फ्रेंच लोग जो जर्मनी से हरजाना

वस्तूल करने के लिये इतने अधिक बेचैन थे, उसका कारण यही था, कि महायुद्ध में उन्होंने भारी नुकसान उठाया था। फ्रेंच सरकार को इस प्रदेश का पुनरुद्धार करने के लिये बहुत अधिक रुपया लगाना पड़ा।

फ्रांस की पार्लियामेण्ट में इङ्गलैण्ड के समान दो या तीन राजनीतिक दल नहीं होते। वहां बहुत-से छोटे-छोटे दल होते हैं, जो परस्पर मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाते रहते हैं। महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर उनमें मतभेद हो जाता है, कुछ दल मन्त्रिमण्डल की नीति से असहमत होने के कारण उसका साथ छोड़ देते हैं। वह मन्त्रिमण्डल गिर जाता है, और राजनीतिक दलों में नई गुटबन्दी होकर नया मन्त्रिमण्डल कायम हो जाता है। फ्रेंच लोग इसको बुरा नहीं मानते। इसके विपरीत वे इसे ब्रिटिश पद्धति के मुकाबले में अच्छा समझते हैं। १९१६ से १९२० तक महायुद्ध के समय में फ्रांस के प्रधान मन्त्री के पद पर श्री क्लीमांशो विराजमान रहे। क्लीमांशो बहुत ही जबर्दस्त और शक्तिशाली राजनीतिज्ञ था। उसने युद्ध का बड़ी योग्यता से संचालन किया था। पेरिस की सन्धि-परिषद् का वही अध्यक्ष था, और वर्साय की सन्धि उसी की कृति थी। पर १९२० में वह अपने पद से पृथक् हो गया, और श्री मिय्यरां प्रधान मन्त्री पद पर अधिष्ठित हुए।

राष्ट्रीय गुट का शासन—१९१९ से १९२४ तक फ्रांस में जो मन्त्रिमण्डल कायम हुए, उनमें उसके विविध दलों ने मिलकर एक राष्ट्रीय गुट बना रखा था, जो आपस के मतभेदों को भुलाकर राष्ट्रीय दृष्टि से परस्पर सहयोग द्वारा कार्य कर रहे थे। इस राष्ट्रीय गुट (नेशनल ब्लाक) के समय में फ्रांस की आन्तरिक समृद्धि पर बहुत ध्यान दिया गया। अनेक नये कारखाने कायम किये गये, जिनमें नई से नई मशीनें लगाई गईं। बिजली की शक्ति को उत्पन्न करने और उसका सर्वत्र प्रसार करने का विशेष रूप से उद्योग किया गया। कपड़ा, लोहा और अन्य धातुओं के कारोबार में फ्रांस ने विशेष उन्नति की, और कुछ ही समय में इस क्षेत्र में वह ब्रिटेन का मुकाबला करने लगा। जिस प्रकार महायुद्ध के बाद ब्रिटेन में एकदम बेकारी बढ़ी और लाखों मजदूर बेकार हुए, वैसा फ्रांस में नहीं हुआ। कारण यह, कि वहां कल-कारखानों का नये सिरे से विकास किया गया, और युद्ध के कारण जो प्रदेश सर्वथा उजड़ गये थे, उन्हें फिर से बसाने में मजदूरों और सब प्रकार के सामान की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ी। यही कारण है, कि फ्रांस में बेकारी की समस्या ने अधिक उग्र रूप धारण नहीं किया। १९२२ में श्री मिय्यरां राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये, और प्रधान मन्त्री का पद श्री पायन्कारे ने ग्रहण किया। पायन्कारे जर्मनी से हरजाना वसूल करने के

सम्बन्ध में कठोर नीति का अनुसरण करने का पक्षपाती था। उसी के निर्णयानुसार १९२३ में फ्रेंच सेनाओं ने रूर के प्रदेश पर कब्जा कर लिया था। ब्रिटेन इससे बहुत असन्तुष्ट हुआ, पर पायन्कारे ने इसकी कोई परवाह नहीं की। पायन्कारे की यह भी कोशिश थी, कि राइनलैण्ड को जर्मनी से पृथक् करके एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय। जर्मनी और फ्रांस एक दूसरे से शत्रुता रखते थे। पायन्कारे चाहता था, कि उनके बीच में एक कमजोर राज्य की स्थापना हो जाय, ताकि युद्ध के अवसर पर फ्रांस उसे ढाल के रूप में बरत सके। पर इस प्रयत्न में फ्रांस को सफलता नहीं हुई। राइनलैण्ड के निवासियों ने इस विचार को जरा भी पसन्द नहीं किया।

वामपक्षी गुट—राष्ट्रीय गुट १९२४ में भंग हो गया। इस समय सारे यूरोप में साम्यवाद की लहर जोर पकड़ रही थी। फ्रांस पर भी उसका प्रभाव पड़ा। १९२४ के निर्वाचन में साम्यवादी व वामपक्षी दलों के उम्मीदवार बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। विभिन्न साम्यवादी दलों ने मिलकर वामपक्ष के एक नये गुट का निर्माण किया। पायन्कारे को त्यागपत्र देने के लिये विवश होना पड़ा, और रेडिकल पार्टी के नेता श्री हेरियो ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया। इस समय ब्रिटेन में भी मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल कायम हो गया था। हेरियो का मत था, कि विदेशी राजनीति में फ्रांस को ब्रिटेन के साथ सहयोग से काम करना चाहिये। यह तभी सम्भव था, जब कि जर्मनी के साथ कठोर बरताव की नीति का परित्याग किया जाय। पायन्कारे के समय में रूर के प्रदेश पर फ्रेंच सेनाओं के कब्जा कर लेने के कारण जर्मनी में बेचैनी बहुत बढ़ गई थी। वहां की सरकार ने हरजाने की रकम को अदा करना बिलकुल स्थगित कर दिया था। हेरियो की सरकार ने अनुभव किया, कि जर्मनी के साथ नरम नीति का अनुसरण करना ही अधिक उपयोगी है। इसी का परिणाम यह हुआ, कि पहले रूर के प्रदेश से फ्रेंच सेनायें वापस बुला ली गईं, और बाद में अन्य जर्मन प्रदेशों से भी धीरे-धीरे सेनायें हटायी जानी शुरू की गईं। लोकार्नो की सन्धि द्वारा जर्मनी के साथ नया समझौता किया गया, और जर्मनी राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। इन सब बातों से यूरोप में शान्ति का वातावरण तैयार होने में बहुत सहायता मिली। इसी के कारण आगे चलकर १९२७ में फ्रांस में बाधित सैनिक सेवा का काल एक साल घटा दिया गया। हेरियो की साम्यवादी सरकार यूरोप में स्थिर शान्ति की स्थापना के लिये गम्भीरता से प्रयत्न कर रही थी।

विदेशी राजनीति के क्षेत्र में वामपक्षी गुट की सरकार को बहुत सफलता हुई,

ग्रेट ब्रिटेन के समान फ्रांस में भी इस समय आर्थिक संकट के चिन्ह प्रगट होने लगे थे। महायुद्ध में फ्रांस को बहुत खर्च करना पड़ा था। उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में खेती, कल-कारखाने, इमारत आदि के पुनःनिर्माण में सरकार का करोड़ों रुपया खर्च हो रहा था। फ्रेंच सरकार अपनी आमदनी के लिये जर्मनी से वसूल होनेवाली हर्जाने की रकम पर बहुत कुछ निर्भर रहती थी। पर लोकानों के समझौते द्वारा इस रकम की मात्रा बहुत कुछ कम हो गई थी। सरकार को अपना खर्च पूरा करना कठिन हो रहा था। इस समय में बजट को पूरा करने के दो ही तरीके थे, खर्च को कम करना और टैक्सों को बढ़ाना। पर ये दोनों बातें सुगम नहीं थीं। परिणाम यह हुआ, कि सरकार ने अधिक मात्रा में पत्र-मुद्रा जारी करनी शुरू की। फ्रांक की कीमत निरन्तर गिरने लगी। फ्रांस के धनिकों को अपने देश के सिक्के में विश्वास नहीं रहा। वे अपने रुपयों को दूसरे देशों में भेजने लगे। विदेशी सिक्कों की मांग बहुत बढ़ गई, और फ्रांक की कीमत लगातार गिरती गई। फ्रांक की कीमत गिरने से चीजों की कीमतें बढ़ने लगीं। आम जनता में इससे बहुत असन्तोष हुआ। स्थिति को काबू न कर सकने के कारण हेरियो ने त्यागपत्र दे दिया। वामपक्ष के विभिन्न साम्यवादी दलों ने नये-नये ग्रुप बनाकर एक के बाद एक कई मन्त्रिमण्डल बनाये, पर किसी को भी आर्थिक संकट का सामना करने में सफलता नहीं हुई।

संयुक्त राष्ट्रीय दल (१९२६-३२)—आखिर, हेरियो और उसके रेडिकल साथियों ने साम्यवादियों का साथ छोड़ दिया, और श्री पोयन्कारे के नेतृत्व में नया मन्त्रिमण्डल बना। दक्षिण, मध्य और वामपक्षों के अनेक दल अपने भेदभावों को भुलाकर इस मन्त्रिमण्डल में शामिल हुए। इस समय घोर आर्थिक संकट का सामना करने के लिये यह आवश्यक था, कि एक संयुक्त राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जाय। श्री पोयन्कारे के नेतृत्व में विभिन्न दल इस समय एक हो गये थे, और उन्होंने अपना एक राष्ट्रीय संयुक्त दल बना लिया था। श्री पोयन्कारे को आर्थिक संकट का सामना करने में बहुत सफलता मिली। फ्रांक की कीमत का गिरना बन्द हो गया। महायुद्ध से पहले वह बारह आने के बराबर होता था। अब उसकी कीमत ढाई आने के बराबर रह गई थी। पर उसे और अधिक नीचे गिरने से रोक दिया गया। टैक्सों को बढ़ाने और सरकारी खर्चों को कम करने में राष्ट्रीय सरकार को अच्छी सफलता मिली। उत्पत्ति को बढ़ाने के लिये पोयन्कारे की सरकार ने बड़ा उद्योग किया। १९२८ के चुनाव में राष्ट्रीय दल को बहुत सफलता हुई। उसके उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। पर

पोयन्कारे का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। १९२९ में उसने त्यागपत्र दे दिया। पर राष्ट्रीय दल अपने पद पर आरूढ़ रहा। १९३२ तक इसी दल का शासन जारी रहा। इसमें सन्देह नहीं, कि आर्थिक संकट का सामना करके फ्रांस में शान्ति और सुव्यवस्था कायम करने में राष्ट्रीय दल को अच्छी सफलता मिली।

वामपक्षी गुट——१९३२ के चुनाव में साम्यवादी दल फिर सफल हुए। दक्षिण और मध्य पक्ष के दलों की इस बार पराजय हुई। इसका परिणाम यह हुआ, कि श्री हेरियो के नेतृत्व में रेडिकल पार्टी ने फिर मन्त्रिमण्डल बनाया। पर इस बार हेरियो की स्थिति सुरक्षित नहीं थी। वाम पक्ष में कम्युनिस्ट दल भी अच्छी संख्या में निर्वाचित हुआ था, और इस दल की सहायता के बिना हेरियो का अपने पद पर रह सकना सम्भव नहीं था। हेरियो कम्युनिस्टों के विचारों को बहुत उग्र समझता था, और उनके साथ उसका निर्वाह हो सकना कठिन था। दिसम्बर, १९३२ में उसने त्यागपत्र दे दिया। अगले चौदह महीनों में वामपक्ष के पांच मन्त्रिमण्डल एक के बाद एक करके बने और बिगड़े। पर आपस के मतभेदों के कारण कोई भी स्थिर रूप से अपने पद पर नहीं रह सका।

राष्ट्रीय सम्मिलित दल——अन्त में परेशान होकर रेडिकल पार्टी के नेता दक्षिण और मध्य पक्ष के दलों में मिल गये, और १९३४ में श्री दूमेर्ग के नेतृत्व में नया मन्त्रिमण्डल कायम किया गया। उसने पोयन्कारे के राष्ट्रीय सम्मिलित दल के पद-चिन्हों का अनुसरण करने का प्रयत्न किया। पर शीघ्र ही रेडिकल पार्टी का उससे मतभेद हो गया। दूमेर्ग चाहता था, कि फ्रांस में मन्त्रिमण्डल को स्थिरता मिले। यदि कोई मन्त्रिमण्डल यह समझे, कि देश का लोकमत उसके पक्ष में है, तो पार्लियामेण्ट का विरोध होने की दशा में उसे यह अधिकार हो, कि वह पार्लियामेण्ट को भंग करके नया चुनाव करा सके। ब्रिटेन में यही होता है। पर रेडिकल लोग इसके लिये तैयार नहीं हुए। १९३५ में दूमेर्ग ने भी त्यागपत्र दे दिया।

पोपुलर फ्रन्ट——१९३६ के चुनाव में वामपक्ष की पार्टियों ने मिलकर काम किया। वाम पक्ष में इस समय तीन मुख्य दल थे—रेडिकल, सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट। ये तीनों मिलकर परस्पर एक हो गये, और इन्होंने पोपुलर फ्रन्ट नाम से एक सम्मिलित मोरचे का निर्माण किया। इस समय यूरोप में फैसिस्ट दल जोर पकड़ रहा था। इटली और जर्मनी में फैसिज्म कायम हो चुका था। इङ्गलैण्ड और फ्रांस में भी फैसिज्म का सूत्रपात होने लगा था। पोपुलर फ्रन्ट के रूप में फ्रांस के वामपक्षी दलों की यही कोशिश थी, कि फैसिज्म को अपने देश में न आने दिया जाय, फ्रांस में लोकतन्त्रवाद को कायम रखा जाय, और ऐसे सामाजिक सुधारों को

प्रारम्भ किया जाय, जिनसे कि सर्वसाधारण जनता में सन्तोष रहे। चुनाव में पोपुलर फ्रन्ट की शानदार विजय हुई। पार्लियामेण्ट में ६० फी सदी सदस्य इस दल के निर्वाचित हो गये। सोशलिस्ट दल के नेता श्रीयुत ब्लम प्रधान मन्त्री पद पर अधिष्ठित हुए, और पोपुलर फ्रन्ट के मन्त्रिमण्डल ने बड़े उत्साह के साथ अपना कार्य प्रारम्भ किया ।

मजदूरों को नई सरकार से यही आशा थी, कि वह उनकी दशा में सुधार करने के लिये विशेष रूप से उद्योग करेगी। फ्रांस के मजदूरों में इस समय बहुत अशान्ति और बेचैनी थी। वे जगह-जगह पर हड़तालें कर रहे थे। साम्यवादी दल का मन्त्रिमण्डल बन जाने से उनका हौसला बहुत बढ़ गया था। इस समय श्रीयुत ब्लम ने बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया। पूंजीपतियों और मजदूरों में समझौता कराने के लिये उसने जो प्रयत्न किये, वे वस्तुतः सराहनीय थे। इस समझौते के अनुसार यह निश्चय किया गया, कि (१) मजदूर एक सप्ताह में चालीस घण्टे काम करें, (२) साल में दो सप्ताह की सवैतनिक छुट्टी प्रत्येक मजदूर को दी जाय और (३) मजदूरी की दर में वृद्धि की जाय। ब्लम की सरकार ने देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये और भी अनेक यत्न किये। बैंक आफ फ्रांस को सरकार के अधीन कर दिया गया। अब तक इसका संचालन पूंजीपतियों के हाथों में था। पर अब यह व्यवस्था की गई, कि बैंक के २३ डाइरेक्टरों में १२ की नियुक्ति सरकार की ओर से हो, २ को बैंक के हिस्सेदार चुनें और शेष ९ को व्यवसाय, व्यापार और उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि मनोनीत करें। इन सब उपयोगी कार्यों के बावजूद भी ब्लम का मन्त्रिमण्डल देर तक स्थिर नहीं रह सका। फ्रांस की आर्थिक दशा इस समय फिर बिगड़ने लगी थी। साम्यवादी सरकार के कायम हो जाने से पूंजीपति लोग बहुत चिन्तित थे। उनका खयाल था, कि अब फ्रांस में भी साम्यवादी व्यवस्था स्थापित होनेवाली है। उन्होंने अपनी पूंजी को फ्रांस से बाहर ब्रिटेन, अमेरिका आदि में भेजना शुरू कर दिया। इससे फ्रांक की कीमत फिर एक बार गिरने लग गई, और आर्थिक संकट को सँभालना कठिन हो गया। मजदूरों को अत्यधिक सुविधायें मिल जाने से आर्थिक उत्पत्ति कम होने लगी और पैदावार के घटने से कीमतें अधिक-अधिक बढ़ती गईं।

पोपुलर फ्रन्ट का पतन—१९३७ में ब्लम ने त्यागपत्र दे दिया। पर पोपुलर फ्रन्ट अभी कायम रहा। रेडिकल पार्टी के नेतृत्व में कई मन्त्रिमण्डल बने, पर कोई भी देर तक अपने पद पर नहीं रह सका। आखिर, १९३८ में रेडिकल पार्टी पोपुलर फ्रंट से अलग हो गई। इस समय यूरोप के क्षितिज में महायुद्ध के बादल फिर

मंडराने लगे थे। फ्रांस के लोग अनुभव करने लगे थे, कि सामाजिक व्यवस्था के विवादग्रस्त प्रश्नों की उपेक्षा कर एक ऐसी सरकार का निर्माण करना चाहिए, जो देश की इस भयंकर संकट के समय में रक्षा कर सके। ये मध्य और दक्षिण पक्ष के साथ रेडिकल पार्टी के मिल जाने से श्री दलादिये के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। महायुद्ध के समय में इस नई सरकार और नये प्रधान मन्त्री ने असाधारण शक्ति और क्षमता का परिचय दिया।

२. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

१९१४-१८ के महायुद्ध में जर्मनी और उसके साथी राज्यों को परास्त कर देने के बाद फ्रांस यूरोप का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य हो गया था। सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में फ्रांस की शक्ति यूरोप में अद्वितीय थी। नैपोलियन के युद्धों के समय तक फ्रांस की यह शक्ति कायम रही। १८१५ में जब नैपोलियन यूरोप के विविध राज्यों द्वारा परास्त हो गया, तब भी फ्रांस की शक्ति कम नहीं हुई। नैपोलियन की सैनिक पराजय का एकमात्र कारण यही था, कि यूरोप के प्रायः सभी राज्यों की सम्मिलित शक्ति उसके खिलाफ उठ खड़ी हुई थी। पर उन्नीसवीं सदी में संगठित जर्मनी का विकास यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। जर्मनी न केवल क्षेत्रफल और जनसंख्या में फ्रांस से बड़ा था, अपितु कोयले, लोहे आदि प्राकृतिक साधनों में भी फ्रांस उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। सैनिक संगठन की दृष्टि से भी जर्मन लोग फ्रेञ्च लोगों से उत्कृष्ट थे। यही कारण है, कि १८७०-७१ के फ्रैंको-पर्शियन युद्ध में फ्रांस जर्मनी से बुरी तरह से परास्त हुआ था, और १९१४-१८ के महायुद्ध में भी उसके लिये जर्मनी से अपनी रक्षा कर सकना सम्भव न होता, यदि ब्रिटेन आदि अन्य मि राष्ट्र उसकी सहायता के लिये रणक्षेत्र में न उतर पड़ते।

सुरक्षितता की खोज—यही कारण है, कि महायुद्ध की समाप्ति पर फ्रांस इस बात के लिये उत्सुक था, कि जर्मनी को इतना कमजोर बना दिया जाय, कि भविष्य में वह उसके लिये खतरे का कारण न रहे। इसीलिये उसने पेरिस की शान्ति-परिषद् में यह मांग की थी, कि र्‌हाइन नदी के बांये तट के प्रदेश को जर्मनी से पृथक् करके एक पृथक् राज्य बना दिया जाय और यह राज्य फ्रांस के प्रभाव में रहे। पर अन्य मित्रराष्ट्र फ्रांस की इस मांग को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं हुए। उनका कहना था, कि र्‌हाइनलैण्ड को जर्मनी से पृथक् करने का परिणाम

यह होगा, कि पचास लाख के लगभग जर्मन लोग अपने राष्ट्र से अलग हो जायेंगे, और यह बात राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के विपरीत होगी। राइनलैण्ड को जर्मनी से पृथक् करने की बात से निराश होकर फ्रांस ने वर्साय की सन्धि में यह व्यवस्था करवाई थी, कि १५ साल तक राइन के बायें तट के प्रदेश पर मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का कब्जा रहे, और जब विदेशी सेनायें इस प्रदेश को खाली कर दें, तब भी जर्मनी वहां कोई किलाबन्दी न कर सके। पर फ्रांस की दृष्टि में जर्मनी से अपनी रक्षा करने के लिये केवल यह बात पर्याप्त नहीं थी। उसने ब्रिटेन और अमेरिका से यह गारण्टी भी प्राप्त करनी चाही, कि यदि भविष्य में कभी जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण करे, तो वे उसकी सहायता करेंगे और उसकी राष्ट्रीय सीमाओं की रक्षा के लिये धन और जन से पूरा-पूरा सहयोग देंगे। पर अमेरिका का लोकमत इस प्रकार की गारण्टी के विरुद्ध था, और इसी कारण फ्रांस ब्रिटेन और अमेरिका के साथ यह सन्धि कर सकने में समर्थ नहीं हुआ। इससे फ्रांस को बहुत निराशा हुई, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी स्थिति बहुत निर्बल व अरक्षित होगई।

यद्यपि इस समय राष्ट्रसंघ का संगठन हो चुका था, और उसमें यह व्यवस्था भी की गई थी, कि किसी भी बाह्य आक्रमण से विविध राज्यों की राष्ट्रीय सीमाओं की रक्षा करना राष्ट्र संघ का कर्तव्य है, पर फ्रांस की दृष्टि में राष्ट्रसंघ के संविधान में उस प्रक्रिया को भलीभांति स्पष्ट नहीं किया गया था, जिसके अनुसार वह विभिन्न राज्यों की बाह्य आक्रमण से रक्षा करने का उद्योग करेगा। फ्रांस के राजनीतिज्ञ इस बात के लिये उत्सुक थे, कि वे कोई ऐसी पक्की व्यवस्था करने में समर्थ हों, जिससे भविष्य में उन्हें जर्मनी के आक्रमण का भय न रहे। महायुद्ध में सबसे अधिक नुकसान फ्रांस को ही उठाना पड़ा था। वह यह भी समझता था, कि यदि १८७०-७१ की पराजय का प्रतिशोध करने में वह अब समर्थ हुआ है, तो भविष्य में जर्मनी भी १९१८ की पराजय का बदला उतारने का प्रयत्न कर सकता है। इसीलिये वह अपनी रक्षा के लिये सब सम्भव उपायों का अवलम्बन करने के लिये कटिबद्ध था।

पोलैण्ड के साथ सन्धि—ब्रिटेन और अमेरिका से सहायता की गारण्टी प्राप्त करने में असमर्थ होने के कारण फ्रांस का ध्यान यूरोप के उन राज्यों की ओर आकृष्ट हुआ, जिनका निर्माण महायुद्ध में जर्मनी व उसके साथियों की पराजय के कारण हुआ था। इनमें सर्वप्रधान पोलैण्ड था। नवनिर्मित पोलैण्ड की जनसंख्या तीन करोड़ के लगभग थी, और उसमें जर्मन-जाति के लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। पोलैण्ड का निर्माण करते हुए मित्रराष्ट्रों ने राष्ट्रीयता

उनचासवां अध्याय

फ्रांस का उत्कर्ष

१. आन्तरिक शासन

महायुद्ध में जर्मनी के परास्त हो जाने के बाद यूरोप में फ्रांस सबसे शक्तिशाली देश हो गया था। आस्ट्रिया-हंगरी और रूस के साम्राज्यों के भग्नावशेषों पर जिन नये राज्यों का निर्माण हुआ था, वे सब फ्रांस को अपना परम सहायक व मित्र मानते थे। फ्रांस उनका नेतृत्व करता था, कर्ज आदि द्वारा आर्थिक सहायता देकर उनके आर्थिक पुनःनिर्माण में सहायता करता था, और अपने सैनिक अफसरों को भेज कर उनकी नई राष्ट्रीय सेनाओं का संगठन करता था। ये सब नये राज्य अपनी रक्षा के लिये फ्रांस पर भरोसा रखते थे। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और हंगरी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूरी तरह से फ्रांस के अनुयायी थे।

पर फ्रांस की प्रधान समस्या आन्तरिक थी। युद्ध के समय में उसे भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। उसके जिन उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर जर्मनी ने कब्जा कर लिया था, उनकी जन-संख्या ४८ लाख के लगभग थी। लड़ाई के बाद यह जन-संख्या घटकर केवल बीस लाख रह गई थी। इस प्रदेश में जितनी इमारतें, कारखाने व अन्य मकान थे, उनमें से एक-तिहाई बिलकुल नष्ट हो गये थे। इस इलाके की कोयले व लोहे की सब खानों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। खेती की जमीनें पड़ती पड़ गई थीं, उन पर जंगली घास-फूस उग आये थे। खेती में काम आनेवाले पशुओं का नाम व निशान भी नहीं बचा था। जिस आदमी ने इस प्रदेश को १९१४ के शुरू में देखा होगा, वह अब १९१८ में उसकी दशा को देखकर यह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था, कि यह वही इलाका है, जो केवल चार साल पहले कितना हरा-भरा, समृद्ध व वैभवपूर्ण था। युद्ध के समय में जर्मन सेनाओं ने उसे बुरी तरह उजाड़ दिया था। अब फ्रेंच सरकार के सम्मुख सबसे बड़ा प्रश्न यही था, कि इस प्रदेश को किस प्रकार फिर से बसाया जाय, और इसकी उजड़ी हुई दशा को फिर से ठीक किया जाय। फ्रेंच लोग जो जर्मनी से हरजाना

वसूल करने के लिये इतने अधिक बेचैन थे, उसका कारण यही था, कि महायुद्ध में उन्होंने भारी नुकसान उठाया था। फ्रेंच सरकार को इस प्रदेश का पुनरुद्धार करने के लिये बहुत अधिक रुपया लगाना पड़ा।

फ्रांस की पार्लियामेण्ट में इङ्गलैण्ड के समान दो या तीन राजनीतिक दल नहीं होते। वहां बहुत-से छोटे-छोटे दल होते हैं, जो परस्पर मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाते रहते हैं। महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर उनमें मतभेद हो जाता है, कुछ दल मन्त्रिमण्डल की नीति से असहमत होने के कारण उसका साथ छोड़ देते हैं। वह मन्त्रिमण्डल गिर जाता है, और राजनीतिक दलों में नई गुटबन्दी होकर नया मन्त्रिमण्डल कायम हो जाता है। फ्रेंच लोग इसको बुरा नहीं मानते। इसके विपरीत वे इसे ब्रिटिश पद्धति के मुकाबले में अच्छा समझते हैं। १९१६ से १९२० तक महायुद्ध के समय में फ्रांस के प्रधान मन्त्री के पद पर श्री क्लीमांशो विराजमान रहे। क्लीमांशो बहुत ही जबर्दस्त और शक्तिशाली राजनीतिज्ञ था। उसने युद्ध का बड़ी योग्यता से संचालन किया था। पेरिस की सन्धि-परिषद् का वही अध्यक्ष था, और वर्साय की सन्धि उसी की कृति थी। पर १९२० में वह अपने पद से पृथक् हो गया, और श्री मिय्यरां प्रधान मन्त्री पद पर अधिष्ठित हुए।

राष्ट्रीय गुट का शासन—१९१९ से १९२४ तक फ्रांस में जो मन्त्रिमण्डल कायम हुए, उनमें उसके विविध दलों ने मिलकर एक राष्ट्रीय गुट बना रखा था, जो आपस के मतभेदों को भुलाकर राष्ट्रीय दृष्टि से परस्पर सहयोग द्वारा कार्य कर रहे थे। इस राष्ट्रीय गुट (नेशनल ब्लाक) के समय में फ्रांस की आन्तरिक समृद्धि पर बहुत ध्यान दिया गया। अनेक नये कारखाने कायम किये गये, जिनमें नई से नई मशीनें लगाई गईं। बिजली की शक्ति को उत्पन्न करने और उसका सर्वत्र प्रसार करने का विशेष रूप से उद्योग किया गया। कपड़ा, लोहा और अन्य धातुओं के कारोबार में फ्रांस ने विशेष उन्नति की, और कुछ ही समय में इस क्षेत्र में वह ब्रिटेन का मुकाबला करने लगा। जिस प्रकार महायुद्ध के बाद ब्रिटेन में एकदम बेकारी बढ़ी और लाखों मजदूर बेकार हुए, वैसा फ्रांस में नहीं हुआ। कारण यह, कि वहां कल-कारखानों का नये सिरे से विकास किया गया, और युद्ध के कारण जो प्रदेश सर्वथा उजड़ गये थे, उन्हें फिर से बसाने में मजदूरों और सब प्रकार के सामान की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ी। यही कारण है, कि फ्रांस में बेकारी की समस्या ने अधिक उग्र रूप धारण नहीं किया। १९२२ में श्री मिय्यरां राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये, और प्रधान मन्त्री का पद श्री पायन्कारे ने ग्रहण किया। पायन्कारे जर्मनी से हरजाना वसूल करने के

सम्बन्ध में कठोर नीति का अनुसरण करने का पक्षपाती था। उसी के निर्णया-नुसार १९२३ में फ्रेंच सेनाओं ने रूर के प्रदेश पर कब्जा कर लिया था। ब्रिटेन इससे बहुत असन्तुष्ट हुआ, पर पायन्कारे ने इसकी कोई परवाह नहीं की। पायन्कारे की यह भी कोशिश थी, कि र्‌हाइनलैण्ड को जर्मनी से पृथक् करके एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय। जर्मनी और फ्रांस एक दूसरे से शत्रुता रखते थे। पायन्कारे चाहता था, कि उनके बीच में एक कमजोर राज्य की स्थापना हो जाय, ताकि युद्ध के अवसर पर फ्रांस उसे ढाल के रूप में बरत सके। पर इस प्रयत्न में फ्रांस को सफलता नहीं हुई। र्‌हाइनलैण्ड के निवासियों ने इस विचार को जरा भी पसन्द नहीं किया।

वामपक्षी गुट—राष्ट्रीय गुट १९२४ में भंग हो गया। इस समय सारे यूरोप में साम्यवाद की लहर जोर पकड़ रही थी। फ्रांस पर भी उसका प्रभाव पड़ा। १९२४ के निर्वाचन में साम्यवादी व वामपक्षी दलों के उम्मीदवार बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। विभिन्न साम्यवादी दलों ने मिलकर वामपक्ष के एक नये गुट का निर्माण किया। पायन्कारे को त्यागपत्र देने के लिये विवश होना पड़ा, और रेडिकल पार्टी के नेता श्री हेरियो ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया। इस समय ब्रिटेन में भी मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल कायम हो गया था। हेरियो का मत था, कि विदेशी राजनीति में फ्रांस को ब्रिटेन के साथ सहयोग से काम करना चाहिये। यह तभी सम्भव था, जब कि जर्मनी के साथ कठोर बरताव की नीति का परित्याग किया जाय। पायन्कारे के समय में रूर के प्रदेश पर फ्रेंच सेनाओं के कब्जा कर लेने के कारण जर्मनी में बेचैनी बहुत बढ़ गई थी। वहां की सरकार ने हरजाने की रकम को अदा करना बिलकुल स्थगित कर दिया था। हेरियो की सरकार ने अनुभव किया, कि जर्मनी के साथ नरम नीति का अनुसरण करना ही अधिक उपयोगी है। इसी का परिणाम यह हुआ, कि पहले रूर के प्रदेश से फ्रेंच सेनायें वापस बुला ली गई, और बाद में अन्य जर्मन प्रदेशों से भी धीरे-धीरे सेनायें हटायी जानी शुरू की गई। लोकार्नो की सन्धि द्वारा जर्मनी के साथ नया समझौता किया गया, और जर्मनी राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। इन सब बातों से यूरोप में शान्ति का वातावरण तैयार होने में बहुत सहायता मिली। इसी के कारण आगे चलकर १९२७ में फ्रांस में बाधित सैनिक सेवा का काल एक साल घटा दिया गया। हेरियो की साम्यवादी सरकार यूरोप में स्थिर शान्ति की स्थापना के लिये गम्भीरता से प्रयत्न कर रही थी।

विदेशी राजनीति के क्षेत्र में वामपक्षी गुट की सरकार को बहुत सफलता हुई,

पर ब्रिटेन के समान फ्रांस में भी इस समय आर्थिक संकट के चिन्ह प्रगट होने लगे थे। महायुद्ध में फ्रांस को बहुत खर्च करना पड़ा था। उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में खेती, कल-कारखाने, इमारत आदि के पुनःनिर्माण में सरकार का करोड़ों रुपया खर्च हो रहा था। फ्रेंच सरकार अपनी आमदनी के लिये जर्मनी से वसूल होनेवाली हर्जाने की रकम पर बहुत कुछ निर्भर रहती थी। पर लोकार्नो के समझौते द्वारा इस रकम की मात्रा बहुत कुछ कम हो गई थी। सरकार को अपना खर्च पूरा करना कठिन हो रहा था। इस समय में बजट को पूरा करने के दो ही तरीके थे, खर्च को कम करना और टैक्सों को बढ़ाना। पर ये दोनों बातें सुगम नहीं थीं। परिणाम यह हुआ, कि सरकार ने अधिक मात्रा में पत्र-मुद्रा जारी करनी शुरू की। फ्रांक की कीमत निरन्तर गिरने लगी। फ्रांस के धनिकों को अपने देश के सिक्के में विश्वास नहीं रहा। वे अपने रुपयों को दूसरे देशों में भेजने लगे। विदेशी सिक्कों की मांग बहुत बढ़ गई, और फ्रांक की कीमत लगातार गिरती गई। फ्रांक की कीमत गिरने से चीजों की कीमतें बढ़ने लगीं। आम जनता में इससे बहुत असन्तोष हुआ। स्थिति को काबू न कर सकने के कारण हेरियो ने त्यागपत्र दे दिया। वामपक्ष के विभिन्न साम्यवादी दलों ने नये-नये ग्रुप बनाकर एक के बाद एक कई मन्त्रिमण्डल बनाये, पर किसी को भी आर्थिक संकट का सामना करने में सफलता नहीं हुई।

संयुक्त राष्ट्रीय दल (१९२६-३२)—आखिर, हेरियो और उसके रेडिकल साथियों ने साम्यवादियों का साथ छोड़ दिया, और श्री पोयन्कारे के नेतृत्व में नया मन्त्रिमण्डल बना। दक्षिण, मध्य और वामपक्षों के अनेक दल अपने भेदभावों को भुलाकर इस मन्त्रिमण्डल में शामिल हुए। इस समय घोर आर्थिक संकट का सामना करने के लिये यह आवश्यक था, कि एक संयुक्त राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जाय। श्री पोयन्कारे के नेतृत्व में विभिन्न दल इस समय एक हो गये थे, और उन्होंने अपना एक राष्ट्रीय संयुक्त दल बना लिया था। श्री पोयन्कारे को आर्थिक संकट का सामना करने में बहुत सफलता मिली। फ्रांक की कीमत का गिरना बन्द हो गया। महायुद्ध से पहले वह बारह आने के बराबर होता था। अब उसकी कीमत ढाई आने के बराबर रह गई थी। पर उसे और अधिक नीचे गिरने से रोक दिया गया। टैक्सों को बढ़ाने और सरकारी खर्चों को कम करने में राष्ट्रीय सरकार को अच्छी सफलता मिली। उत्पत्ति को बढ़ाने के लिये पोयन्कारे की सरकार ने बड़ा उद्योग किया। १९२८ के चुनाव में राष्ट्रीय दल को बहुत सफलता हुई। उसके उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। पर

पोयन्कारे का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। १९२९ में उसने त्यागपत्र दे दिया। पर राष्ट्रीय दल अपने पद पर आरूढ़ रहा। १९३२ तक इसी दल का शासन जारी रहा। इसमें सन्देह नहीं, कि आर्थिक संकट का सामना करके फ्रांस में शान्ति और सुव्यवस्था कायम करने में राष्ट्रीय दल को अच्छी सफलता मिली।

वामपक्षी गुट—१९३२ के चुनाव में साम्यवादी दल फिर सफल हुए। दक्षिण और मध्य पक्ष के दलों की इस बार पराजय हुई। इसका परिणाम यह हुआ, कि श्री हेरियो के नेतृत्व में रेडिकल पार्टी ने फिर मन्त्रिमण्डल बनाया। पर इस बार हेरियो की स्थिति सुरक्षित नहीं थी। वाम पक्ष में कम्युनिस्ट दल भी अच्छी संख्या में निर्वाचित हुआ था, और इस दल की सहायता के बिना हेरियो का अपने पद पर रह सकना सम्भव नहीं था। हेरियो कम्युनिस्टों के विचारों को बहुत उग्र समझता था, और उनके साथ उसका निर्वाह हो सकना कठिन था। दिसम्बर, १९३२ में उसने त्यागपत्र दे दिया। अगले चौदह महीनों में वामपक्ष के पांच मन्त्रिमण्डल एक के बाद एक करके बने और बिगड़े। पर आपस के मतभेदों के कारण कोई भी स्थिर रूप से अपने पद पर नहीं रह सका।

राष्ट्रीय सम्मिलित दल—अन्त में परेशान होकर रेडिकल पार्टी के नेता दक्षिण और मध्य पक्ष के दलों में मिल गये, और १९३४ में श्री दूमेर्ग के नेतृत्व में नया मन्त्रिमण्डल कायम किया गया। उसने पोयन्कारे के राष्ट्रीय सम्मिलित दल के पद-चिन्हों का अनुसरण करने का प्रयत्न किया। पर शीघ्र ही रेडिकल पार्टी का उससे मतभेद हो गया। दूमेर्ग चाहता था, कि फ्रांस में मन्त्रिमण्डल को स्थिरता मिले। यदि कोई मन्त्रिमण्डल यह समझे, कि देश का लोकमत उसके पक्ष में है, तो पार्लियामेण्ट का विरोध होने की दशा में उसे यह अधिकार हो, कि वह पार्लियामेण्ट को भंग करके नया चुनाव करा सके। ब्रिटेन में यही होता है। पर रेडिकल लोग इसके लिये तैयार नहीं हुए। १९३५ में दुमेर्ग ने भी त्यागपत्र दे दिया।

पोपुलर फ्रन्ट—१९३६ के चुनाव में वामपक्ष की पार्टियों ने मिलकर काम किया। वाम पक्ष में इस समय तीन मुख्य दल थे—रेडिकल, सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट। ये तीनों मिलकर परस्पर एक हो गये, और इन्होंने पोपुलर फ्रन्ट नाम से एक सम्मिलित मोरचे का निर्माण किया। इस समय यूरोप में फैसिस्ट दल जोर पकड़ रहा था। इटली और जर्मनी में फैसिज्म कायम हो चुका था। इङ्गलैण्ड और फ्रांस में भी फैसिज्म का सूत्रपात होने लगा था। पोपुलर फ्रन्ट के रूप में फ्रांस के वामपक्षी दलों की यही कोशिश थी, कि फैसिज्म को अपने देश में न आने दिया जाय, फ्रांस में लोकतन्त्रवाद को कायम रखा जाय, और ऐसे सामाजिक सुधारों को

प्रारम्भ किया जाय, जिनसे कि सर्वसाधारण जनता में सन्तोष रहे। चुनाव में पोपुलर फ्रन्ट की शानदार विजय हुई। पार्लियामेण्ट में ६० फी सदी सदस्य इस दल के निर्वाचित हो गये। सोशलिस्ट दल के नेता श्रीयुत ब्लम प्रधान मन्त्री पद पर अधिष्ठित हुए, और पोपुलर फ्रन्ट के मन्त्रिमण्डल ने बड़े उत्साह के साथ अपना कार्य प्रारम्भ किया।

मजदूरों को नई सरकार से यही आशा थी, कि वह उनकी दशा में सुधार करने के लिये विशेष रूप से उद्योग करेगी। फ्रांस के मजदूरों में इस समय बहुत अशान्ति और बेचैनी थी। वे जगह-जगह पर हड़तालें कर रहे थे। साम्यवादी दल का मन्त्रिमण्डल बन जाने से उनका हौसला बहुत बढ़ गया था। इस समय श्रीयुत ब्लम ने बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया। पूंजीपतियों और मजदूरों में समझौता कराने के लिये उसने जो प्रयत्न किये, वे वस्तुतः सराहनीय थे। इस समझौते के अनुसार यह निश्चय किया गया, कि (१) मजदूर एक सप्ताह में चालीस घण्टे काम करें, (२) साल में दो सप्ताह की सवैतनिक छुट्टी प्रत्येक मजदूर को दी जाय और (३) मजदूरी की दर में वृद्धि की जाय। ब्लम की सरकार ने देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये और भी अनेक यत्न किये। बैंक आफ फ्रांस को सरकार के अधीन कर दिया गया। अब तक इसका संचालन पूंजीपतियों के हाथों में था। पर अब यह व्यवस्था की गई, कि बैंक के २३ डाइरेक्टरों में १२ की नियुक्ति सरकार की ओर से हो, २ को बैंक के हिस्सेदार चुनें और शेष ९ को व्यवसाय, व्यापार और उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि मनोनीत करें। इन सब उपयोगी कार्यों के बावजूद भी ब्लम का मन्त्रिमण्डल देर तक स्थिर नहीं रह सका। फ्रांस की आर्थिक दशा इस समय फिर बिगड़ने लगी थी। साम्यवादी सरकार के कायम हो जाने से पूंजीपति लोग बहुत चिन्तित थे। उनका खयाल था, कि अब फ्रांस में भी साम्यवादी व्यवस्था स्थापित होनेवाली है। उन्होंने अपनी पूंजी को फ्रांस से बाहर ब्रिटेन, अमेरिका आदि में भेजना शुरू कर दिया। इससे फ्रांक की कीमत फिर एक बार गिरने लग गई, और आर्थिक संकट को सँभालना कठिन हो गया। मजदूरों को अत्यधिक सुविधायें मिल जाने से आर्थिक उत्पत्ति कम होने लगी और पैदावार के घटने से कीमतें अधिक-अधिक बढ़ती गई।

पोपुलर फ्रन्ट का पतन—१९३७ में ब्लम ने त्यागपत्र दे दिया। पर पोपुलर फ्रन्ट अभी कायम रहा। रेडिकल पार्टी के नेतृत्व में कई मन्त्रिमण्डल बने, पर कोई भी देर तक अपने पद पर नहीं रह सका। आखिर, १९३८ में रेडिकल पार्टी पोपुलर फ्रंट से अलग हो गई। इस समय यूरोप के क्षितिज में महायुद्ध के बादल फिर

मंडराने लगे थे। फ्रांस के लोग अनुभव करने लगे थे, कि सामाजिक व्यवस्था के विवादग्रस्त प्रश्नों की उपेक्षा कर एक ऐसी सरकार का निर्माण करना चाहिए, जो देश की इस भयंकर संकट के समय में रक्षा कर सके। ये मध्य और दक्षिण पक्ष के साथ रेडिकल पार्टी के मिल जाने से श्री दलादिये के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। महायुद्ध के समय में इस नई सरकार और नये प्रधान मन्त्री ने असाधारण शक्ति और क्षमता का परिचय दिया।

२. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

१९१४-१८ के महायुद्ध में जर्मनी और उसके साथी राज्यों को परास्त कर देने के बाद फ्रांस यूरोप का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य हो गया था। सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में फ्रांस की शक्ति यूरोप में अद्वितीय थी। नैपोलियन के युद्धों के समय तक फ्रांस की यह शक्ति कायम रही। १८१५ में जब नैपोलियन यूरोप के विविध राज्यों द्वारा परास्त हो गया, तब भी फ्रांस की शक्ति कम नहीं हुई। नैपोलियन की सैनिक पराजय का एकमात्र कारण यही था, कि यूरोप के प्रायः सभी राज्यों की सम्मिलित शक्ति उसके खिलाफ उठ खड़ी हुई थी। पर उन्नीसवीं सदी में संगठित जर्मनी का विकास यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। जर्मनी न केवल क्षेत्रफल और जनसंख्या में फ्रांस से बड़ा था, अपितु कोयले, लोहे आदि प्राकृतिक साधनों में भी फ्रांस उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। सैनिक संगठन की दृष्टि से भी जर्मन लोग फ्रेञ्च लोगों से उत्कृष्ट थे। यही कारण है, कि १८७०-७१ के फ्रैंको-प्रशियन युद्ध में फ्रांस जर्मनी से बुरी तरह से परास्त हुआ था, और १९१४-१८ के महायुद्ध में भी उसके लिये जर्मनी से अपनी रक्षा कर सकना सम्भव न होता, यदि ब्रिटेन आदि अन्य मि राष्ट्र उसकी सहायता के लिये रणक्षेत्र में न उतर पड़ते।

सुरक्षितता की खोज—यही कारण है, कि महायुद्ध की समाप्ति पर फ्रांस इस बात के लिये उत्सुक था, कि जर्मनी को इतना कमजोर बना दिया जाय, कि भविष्य में वह उसके लिये खतरे का कारण न रहे। इसीलिये उसने पेरिस की शान्ति-परिषद् में यह मांग की थी, कि र्‌हाइन नदी के बांये तट के प्रदेश को जर्मनी से पृथक् करके एक पृथक् राज्य बना दिया जाय और यह राज्य फ्रांस के प्रभाव में रहे। पर अन्य मित्रराष्ट्र फ्रांस की इस मांग को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं हुए। उनका कहना था, कि र्‌हाइनलैण्ड को जर्मनी से पृथक् करने का परिणाम

यह होगा, कि पचास लाख के लगभग जर्मन लोग अपने राष्ट्र से अलग हो जायेंगे, और यह बात राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के विपरीत होगी। राइनलैण्ड को जर्मनी से पृथक् करने की बात से निराश होकर फ्रांस ने वर्साय की सन्धि में यह व्यवस्था कराई थी, कि १५ साल तक राइन के बायें तट के प्रदेश पर मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का कब्जा रहे, और जब विदेशी सेनायें इस प्रदेश को खाली कर दें, तब भी जर्मनी वहां कोई किलाबन्दी न कर सके। पर फ्रांस की दृष्टि में जर्मनी से अपनी रक्षा करने के लिये केवल यह बात पर्याप्त नहीं थी। उसने ब्रिटेन और अमेरिका से यह गारण्टी भी प्राप्त करनी चाही, कि यदि भविष्य में कभी जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण करे, तो वे उसकी सहायता करेंगे और उसकी राष्ट्रीय सीमाओं की रक्षा के लिये धन और जन से पूरा-पूरा सहयोग देंगे। पर अमेरिका का लोकमत इस प्रकार की गारण्टी के विरुद्ध था, और इसी कारण फ्रांस ब्रिटेन और अमेरिका के साथ यह सन्धि कर सकने में समर्थ नहीं हुआ। इससे फ्रांस को बहुत निराशा हुई, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी स्थिति बहुत निर्बल व अरक्षित होगई।

यद्यपि इस समय राष्ट्रसंघ का संगठन हो चुका था, और उसमें यह व्यवस्था भी की गई थी, कि किसी भी बाह्य आक्रमण से विविध राज्यों की राष्ट्रीय सीमाओं की रक्षा करना राष्ट्र संघ का कर्तव्य है, पर फ्रांस की दृष्टि में राष्ट्रसंघ के संविधान में उस प्रक्रिया को भलीभांति स्पष्ट नहीं किया गया था, जिसके अनुसार वह विभिन्न राज्यों की बाह्य आक्रमण से रक्षा करने का उद्योग करेगा। फ्रांस के राजनीतिज्ञ इस बात के लिये उत्सुक थे, कि वे कोई ऐसी पक्की व्यवस्था करने में समर्थ हों, जिससे भविष्य में उन्हें जर्मनी के आक्रमण का भय न रहे। महायुद्ध में सबसे अधिक नुकसान फ्रांस को ही उठाना पड़ा था। वह यह भी समझता था, कि यदि १८७०-७१ की पराजय का प्रतिशोध करने में वह अब समर्थ हुआ है, तो भविष्य में जर्मनी भी १९१८ की पराजय का बदला उतारने का प्रयत्न कर सकता है। इसीलिये वह अपनी रक्षा के लिये सब सम्भव उपायों का अवलम्बन करने के लिये कटिबद्ध था।

पोलैण्ड के साथ सन्धि—ब्रिटेन और अमेरिका से सहायता की गारण्टी प्राप्त करने में असमर्थ होने के कारण फ्रांस का ध्यान यूरोप के उन राज्यों की ओर आकृष्ट हुआ, जिनका निर्माण महायुद्ध में जर्मनी व उसके साथियों की पराजय के कारण हुआ था। इनमें सर्वप्रधान पोलैण्ड था। नवनिर्मित पोलैण्ड की जन-संख्या तीन करोड़ के लगभग थी, और उसमें जर्मन-जाति के लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। पोलैण्ड का निर्माण करते हुए मित्रराष्ट्रों ने राष्ट्रीयता

के सिद्धान्त का पूर्ण रूप से अनुसरण नहीं किया था, और उसमें अनेक ऐसे प्रदेशों को शामिल कर दिया था, जिन्हें वस्तुतः जर्मनी का अंग होना चाहिये था। पोलैण्ड की कुल आबादी में २५ प्रतिशत के लगभग ऐसे लोग थे, जो पोल जाति के नहीं थे। उसके लिये यह भी सुगम नहीं था, कि वह अपने क्षेत्र में बसनेवाले जर्मन लोगों को सन्तुष्ट रख सके व उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचल सके। अतः फ्रांस के समान उसे भी जर्मनी का डर बना हुआ था। जर्मनी के बीच में से जो गलियारा उसने समुद्रतट तक पहुंचने के लिये प्राप्त किया था, वह राष्ट्रीयता की दृष्टि से पोलैण्ड की सबसे बड़ी निर्बलता थी। इससे जर्मनी दो भागों में विभक्त हो गया था और यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि उसे जर्मनी के आक्रमण की आशंका हमेशा बनी रहे। यही कारण है, कि फरवरी, १९२१ में उसने फ्रांस के साथ एक सन्धि की, जिसमें दोनों देशों ने न केवल राजनीतिक क्षेत्र में परस्पर सहयोग का वचन दिया, अपितु गुप्त रूप से यह भी तय किया, कि सैनिक दृष्टि से भी वे एक दूसरे के साथ सहयोग करें। फ्रांस पोलैण्ड की सेना का आधुनिक ढंग से संगठन करे और युद्ध-सामग्री द्वारा पूर्णतया उसकी सहायता करे। इस सन्धि के कारण फ्रांस और पोलैण्ड एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र बन गये और दोनों को यह भरोसा होगया, कि जर्मनी के खिलाफ वे एक दूसरे की सहायता प्राप्त कर सकेंगे। १९२१ की इस सन्धि को १९३२ में एक बार फिर दस साल के लिये दोहराया गया।

ब्रिटेन से सन्धि—पोलैण्ड के साथ राजनीतिक व सैनिक सन्धि करने के बाद फ्रांस ने प्रयत्न किया, कि वह ब्रिटेन के साथ भी इसी ढंग की सन्धि कर ले। ब्रिटेन फ्रांस को सैनिक सहायता देने की सन्धि करने को तैयार था, पर केवल उसी दशा में, जबकि जर्मनी बिना पर्याप्त कारण के सीधा उस पर आक्रमण करे। पर फ्रांस का खयाल था, कि यदि जर्मनी के साथ लड़ाई शुरू हुई, तो वह पोलैण्ड के प्रश्न पर होगी। जर्मनी यह यत्न करेगा, कि पोलैण्ड की अधीनता में विद्यमान जर्मन प्रदेशों को अपनी अधीनता में ले आवे। इस दशा में जर्मनी और पोलैण्ड में युद्ध हुए बिना न रहेगा और १९२१ की सन्धि के अनुसार फ्रांस को पोलैण्ड की सैनिक सहायता करनी अनिवार्य होगी। फ्रांस चाहता था, कि पोलैण्ड के प्रश्न पर जर्मनी के साथ युद्ध छिड़ने की दशा में भी ब्रिटेन उसकी सहायता करे। पर ब्रिटेन इसके लिये उद्यत नहीं हुआ। उसने १९२२ में फ्रांस के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार वह इस बात के लिये तैयार हो गया, कि अगर अगले दस सालों में जर्मनी ने कभी अकारण फ्रांस पर आक्रमण किया, तो वह फ्रांस की सहायता करेगा।

रूर पर कब्जा—पर फ्रांस इस समझौते को पर्याप्त नहीं समझता था। साथ ही इस समय (१९२२ के बाद) जर्मनी के सम्बन्ध में अपनाई जानेवाली नीति के प्रश्न पर भी फ्रांस और ब्रिटेन में मतभेद उत्पन्न होने शुरू हो गये थे। इसका प्रधान कारण फ्रांस द्वारा रूर के प्रदेश पर कब्जा था। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी पर हर्जाने की भारी रकम लाद दी गई थी, और इसे नियमपूर्वक समय पर दे सकना उसके लिये कठिन था। सन् १९२२ की हर्जाने की किस्त के समय पर न दे सकने को निमित्त बनाकर जनवरी, १९२३ में फ्रेंच, बेल्जियन और इटालियन सेनाओं ने रूर के प्रदेश पर कब्जा कर लिया। यह प्रदेश राइन नदी के दायें तट पर स्थित है, और जर्मन व्यवसायों का सर्वप्रधान केन्द्र है। इस पर सैनिक कब्जा कर लेने में फ्रांस का यह उद्देश्य था, कि जर्मनी से हर्जाने की किस्त को वसूल करने में कठिनाई न हो। पर ब्रिटेन को यह बात पसन्द नहीं थी। इसीलिये इस समय फ्रांस और ब्रिटेन के पारस्परिक सम्बन्धों में मृदुता नहीं रह गई थी, और फ्रांस यह अनुभव करने लगा था, कि यूरोप में अपनी शक्ति बनाये रखने के लिये व जर्मनी के सम्भावित आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिये वह ब्रिटेन पर भरोसा नहीं रख सकता। अत: अब उसने यूरोप के अन्य राज्यों के साथ राजनीतिक व सैनिक सन्धि करना प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे यूरोपियन राजनीति में अपनी स्थिति सुरक्षित बना ली।

चेकोस्लोवाकिया के साथ सन्धि—ब्रिटेन से निराश होकर फ्रांस ने मध्य और पूर्वी यूरोप के उन राज्यों की ओर ध्यान दिया, जिनका निर्माण महायुद्ध के बाद हुआ था, और जो जर्मनी व आस्ट्रिया-हंगरी के खण्डहरों पर स्थापित हुए थे। इनमें या तो जर्मन जाति के लोग अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान थे, या अन्य अल्पसंख्यक जातियों की सत्ता के कारण इनकी अपनी राजनीतिक स्थिति सुरक्षित नहीं थी। १९२४ के शुरू में फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया के साथ सन्धि की, जिसका प्रयोजन यह था कि (१) यदि इन दोनों राज्यों में किसी प्रश्न पर झगड़ा हो, तो उसका निबटारा शान्तिमय उपायों से किया जाय। (२) यदि जर्मनी और आस्ट्रिया परस्पर मिलकर एक होने का प्रयत्न करें, तो फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया इस समस्या पर एक साथ विचार-विमर्श करें और एक नीति का अनुसरण करें। (३) यदि जर्मनी और हंगरी में राजसत्ता के पुनरुद्धार का प्रयत्न हो, तो इस समस्या पर भी दोनों राज्य एक नीति का अनुसरण करें। (४) दोनों राज्य अपनी सुरक्षितता और पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा निर्णीत सन्धियों को क्रिया में परिणत करने के लिये एक

दूसरे को सहयोग दें। यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में १९२४ की इस सन्धि का बहुत महत्त्व था, क्योंकि इससे फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। विदेशी मामलों में एक सदृश नीति का अनुसरण करने की बात उन्होंने स्वीकार कर ली थी।

रूमानिया और युगोस्लाविया के साथ सन्धि—दो साल बाद १९२६ में फ्रांस ने रूमानिया के साथ भी इसी ढंग की सन्धि की। इस सन्धि में उन्होंने यह भी तय किया, कि यदि उनमें से किसी एक पर किसी अन्य राज्य ने आक्रमण किया, तो वे परस्पर मिलकर यह फैसला करेंगे, कि दूसरे राज्य को अपने मित्र की सहायता के लिये किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिये। १९२७ में फ्रांस ने युगोस्लाविया के साथ भी इसी ढंग की सन्धि कर ली।

छोटे राज्यों का गुट—इन सन्धियों से पूर्व १९२१ में ही चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया ने परस्पर मिलकर एक गुट का निर्माण कर लिया था, जिसे 'छोटे राज्यों का गुट' (लिटल आंतांत) कहा जाता था। इस गुट के उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) त्रियानों की सन्धि को पूर्णरूप से क्रिया में परिणत होने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न होने पावे। त्रियानों की सन्धि हंगरी के साथ हुई थी, और इस सन्धि के कारण अनेक ऐसे प्रदेश इन छोटे नये राज्यों को प्राप्त हुए थे, जिनमें हंगेरियन लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। (२) यदि अपने क्षेत्र में बसनेवाले हंगेरियन लोग विद्रोह करके हंगरी के साथ मिलने का प्रयत्न करें, तो तीनों राज्य मिलकर उनके इस प्रयत्न को सफल न होने दें। (३) हंगरी में फिर से राजसत्ता स्थापित न हो सके। (४) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तीनों राज्य परस्पर परामर्श और सहयोग से काम करें। इसके लिये यह भी व्यवस्था की गई थी, कि तीनों राज्यों के विदेश-मन्त्री समय-समय पर मिलकर उस नीति का निर्माण करते रहें, जिसका उन सबको अनुसरण करना चाहिये।

छोटे राज्यों के गुट में सम्मिलित तीनों राज्यों के साथ पृथक्-पृथक् सन्धि करके फ्रांस ने अपनी शक्ति को अच्छी तरह से विकसित कर लिया था, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी स्थिति बहुत कुछ सुरक्षित हो गई थी। अब उसे यह भरोसा हो गया था, कि जर्मनी के खिलाफ युद्ध छिड़ने की दशा में पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया की सहायता उसे प्राप्त हो सकेगी और जर्मनी के लिये इतने राज्यों की सम्मिलित शक्ति का मुकाबला कर सकना सुगम नहीं होगा।

राष्ट्रसंघ भी इस समय विश्व में शान्ति की स्थापना और सब राज्यों की सुरक्षितता के लिये प्रयत्नशील था। उसकी ओर से इस बात का यत्न किया गया, कि विविध राज्य अपनी सैन्य-शक्ति व अस्त्र-शस्त्रों में कमी करें और यदि कोई राज्य युद्ध की नीति को अपनावे, तो राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य मिलकर उसका मुकाबला करें। फ्रांस इन सब प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण भाग लेता था, क्योंकि यूरोप की राजनीति में उसका स्थान प्रमुख था। फ्रांस ने किस प्रकार राष्ट्रसंघ की नीति के निर्धारण में भाग लिया, इस पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

३. आल्सेस-लारेन की समस्या

महायुद्ध की समाप्ति के ग्यारह दिन बाद ही १९१८ में फ्रांस ने आल्सेस-लारेन के प्रदेश पर अपना कब्जा कर लिया था। १८७० तक यह प्रदेश फ्रांस के अन्तर्गत था, और इसमें जर्मन और फ्रेञ्च दोनों जातियों के लोग साथ-साथ निवास करते थे। एक बार फिर फ्रांस के साथ मिल जाने से आल्सेस-लारेन में बहुत प्रसन्नता अनुभव की गई। फ्रेञ्च सेनाओं का वहां के लोगों ने बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत किया। पर यह दशा देर तक नहीं रह सकी। शीघ्र ही वहां के लोग फ्रेञ्च शासन से असन्तोष अनुभव करने लगे। इसके कारण निम्नलिखित थे—

(१) आधी सदी के लगभग तक जर्मनी के अन्तर्गत रहने के कारण आल्सेस-लारेन में ऐसे लोगों की आबादी बहुत बढ़ गई थी, जो फ्रेञ्च भाषा से अनभिज्ञ थे और जर्मन बोलते थे। १९१८ में इस प्रदेश में फ्रेञ्च भाषा बोलनेवाले लोगों की संख्या २५ प्रतिशत से अधिक नहीं थी। यह स्वाभाविक था, कि जर्मन भाषाभाषी लोग फ्रांस के शासन को विदेशी अनुभव करें। उनमें उस समय असन्तोष और भी अधिक बढ़ गया, जब कि फ्रेञ्च सरकार ने यह व्यवस्था की, कि आल्सेस-लारेन के सब शिक्षणालयों में शिक्षा का माध्यम फ्रेञ्च भाषा हो और जर्मन को कोई स्थान न दिया जाय। फ्रेञ्च भाषा को यह स्थिति देने पर आल्सेस-लारेन के लोगों में बहुत असन्तोष हुआ, और अन्त में फ्रेञ्च सरकार को यह व्यवस्था करने के लिये विवश होना पड़ा, कि आल्सेस-लारेन के शिक्षणालयों में फ्रेञ्च भाषा केवल प्रारम्भ के दो सालों तक ही पढ़ाई जाय। बाद में वहां जर्मन भाषा भी पढ़ाई जा सके।

(२) आल्सेस-लारेन में फ्रेञ्च लोग बहुत बड़ी संख्या में आने लग गये थे। सब राजकीय पद और कारखानों में इञ्जीनियर, मुनीम, शिल्पी आदि के महत्त्वपूर्ण पद भी फ्रेञ्च लोगों को प्राप्त करा दिये गये थे। आल्सेस-लारेन के लोग इससे

भी बहुत असन्तुष्ट हुए। उन्होंने समझा, कि परदेसी फ्रेञ्च लोग न केवल उन पर राज्य कर रहे हैं, अपितु सब ऊँचे स्थान भी प्राप्त करते जा रहे हैं। इस बात को लेकर वहां के मजदूरों ने कई बार हड़ताल भी की, और अन्त में फ्रेञ्च सरकार को उनके सम्मुख झुकना पड़ा।

(३) जर्मनी के शासनकाल में आल्सेस-लारेन को स्थानीय स्वतन्त्रता प्राप्त थी। १९११ से उनकी अपनी पृथक् पार्लियामेण्ट भी थी, जो अपने प्रदेश के लिये कानून बनाती थी। कुछ वर्षों तक फ्रांस ने भी इस स्थानीय स्वतन्त्रता को कायम रखा। पर फ्रांस का शासन संघात्मक (फिडरल) न होकर एकात्मक (युनिटरी) था। अतः वहां की सरकार यह पसन्द नहीं करती थी, कि उसका कोई प्रदेश अपना पृथक् शासन रखे। इसलिये १९२५ में आल्सेस-लारेन की पार्लियामेण्ट के बहुत से अधिकारों व शक्तियों को उससे छीन लिया गया और फ्रांस के अन्य प्रदेशों के समान आल्सेस-लारेन का शासन-सूत्र भी पूर्णतया पेरिस की केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। इस बात से आल्सेस-लारेन के लोग बहुत असन्तुष्ट हुए। वे अनुभव करने लगे, कि फ्रांस के साथ मिलने का परिणाम केवल यह हुआ है, कि उनकी अन्तःस्वतन्त्रता नष्ट हो गई है।

इन सब कारणों से १९२६ में आल्सेस-लारेन में एक नई सभा का संगठन हुआ, जिसका उद्देश्य यह आन्दोलन करना था, कि (१) आल्सेस-लारेन में फिर से स्थानीय स्वतन्त्रता की स्थापना की जाय, और (२) शिक्षणालयों में जर्मन भाषा को प्रमुख स्थान दिया जाय। कुछ लोगों ने तो यहां तक कहना शुरू किया, कि फिर से जर्मनी के साथ मिल जाने में ही आल्सेस-लारेन का हित है। जर्मन भाषा में प्रकाशित होनेवाले अनेक समाचारपत्र इस आन्दोलन में तत्पर थे। फ्रेञ्च सरकार ने ऐसे पत्रों के खिलाफ सख्त कार्रवाई की, और बहुत-से लोगों को गिरफ्तार भी किया। पर इन सब बातों से आल्सेस-लारेन की स्थिति अधिक गम्भीर रूप धारण करती गई, और कुछ लोगों ने राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर फ्रेञ्च शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र भी प्रारम्भ कर दिये। १९३३ के बाद जब जर्मनी में नाजी पार्टी का संगठन हुआ, तो आल्सेस-लारेन में रहनेवाले जर्मन लोगों की सहानुभूति नाजी पार्टी के साथ हो गई। जर्मन नाजी पार्टी का मुख्य उद्देश्य यही था, कि यूरोप के जिन किन्हीं प्रदेशों में भी जर्मन लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं, उन सबको साथ मिलाकर एक विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण किया जाय। आल्सेस-लारेन को भी वह फिर से जर्मनी के अन्तर्गत करना चाहती थी। अतः यह स्वाभाविक था, कि आल्सेस-लारेन के निवासी जर्मनी की

इस आकांक्षा को सहानुभूति की दृष्टि से देखें। इसी कारण १९३९ तक इस प्रदेश में फ्रेञ्च शासन के विरुद्ध असन्तोष कायम रहा।

८. सीरिया

साम्राज्य के नये प्रदेश—जर्मनी और टर्की की अधीनता से मुक्त हुए जिन प्रदेशों का शासन राष्ट्रसंघ के मैन्डेट (आदेश) द्वारा फ्रांस को प्राप्त हुआ था, वे निम्नलिखित थे—

(१) कैमरून—अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित यह प्रदेश पहले जर्मनी के अधीन था। इसका बड़ा भाग (८८ प्रतिशत से कुछ अधिक) फ्रांस को दिया गया।

(२) तोगोलैण्ड—यह अफ्रीकन प्रदेश भी पहले जर्मनी के अधीन था। इसका दो तिहाई भाग अब फ्रांस को प्राप्त हुआ।

ये दोनों प्रदेश फ्रांस के विशाल अफ्रीकन साम्राज्य के साथ लगते थे, और इनकी प्राप्ति से फ्रांस ने अफ्रीका में कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रदेशों को अपने साम्राज्य में जोड़ लिया था। इनके निवासी अफ्रीकन लोग सभ्यता की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए थे, अतः उनका शासन करने में फ्रेञ्च लोगों को किसी परेशानी का अनुभव नहीं करना पड़ा।

लेबेनोन का निर्माण—पर टर्की के अरब साम्राज्य का जो प्रदेश राष्ट्रसंघ द्वारा फ्रांस को प्राप्त हुआ, उस पर शासन करने की समस्या बहुत जटिल थी। तुर्की साम्राज्य की अधीनता से मुक्त करके सीरिया का प्रदेश फ्रांस को दिया गया था। सीरिया के बहुसंख्यक निवासी जाति से अरब थे और धर्म से मुसलमान थे। स्वाधीनता की भावना उनमें उग्र रूप से विद्यमान थी। पर इसमें ईसाई लोग भी अल्पसंख्या में निवास करते थे, और इनकी आबादी प्रधानतया बैरूत में और उसके चारों ओर के प्रदेश में थी। बैरूत एशिया माइनर के समुद्र-तट पर बन्दरगाह है, और व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। फ्रेञ्च सरकार ने बैरूत और उसके समीपवर्ती प्रदेश को सीरिया से पृथक् करके एक नये राज्य का निर्माण किया, जिसका नाम लेबेनोन था। इसकी बहुसंख्यक आबादी ईसाई थी, और इस पर शासन करना फ्रांस के लिये अधिक कठिन नहीं था। फ्रांस ने उसे आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दी, और उसे यह अधिकार दिया कि वह अपने राष्ट्रपति का निर्वाचन कर सके। कानून बनाने के लिये वहां एक व्यवस्थापिका सभा की भी रचना की गई, जिसके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। इस प्रकार फ्रांस की अधीनता और संरक्षण में स्वतन्त्र लेबेनोन रिपब्लिक का निर्माण हुआ।

सीरिया की समस्या—शेष सीरिया का शासन फ्रांस ने सीधा अपने हाथों में लिया, और उसकी राजधानी दमास्कस नियत की गई। फ्रेञ्च सरकार द्वारा

नियुक्त हाई कमिश्नर वहाँ के शासन-सूत्र का संचालन करने लगा। पर सीरिया के निवासी अरब लोग इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं थे। वे फ्रेञ्च अधीनता से मुक्त होकर अपने देश में राष्ट्रीय लोकतन्त्र राज्य की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे। १९२५ में उन्होंने विद्रोह कर दिया। इस समय सीरिया के हाई कमिश्नर पद पर जनरल सरैल विद्यमान थे। उन्होंने अरब लोगों के प्रति बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का अनुसरण नहीं किया। अरब-विद्रोह में ड्रूस लोगों का बड़ा हाथ था। ड्रूस लोग पहाड़ियों में निवास करते थे और स्वतन्त्रता के बड़े प्रेमी थे। जनरल सरैल ने कुछ ड्रूस नेताओं को गिरफ्तार करके गोली से उड़ा दिया और दमास्कस के लोगों को सबक सिखाने के लिये सार्वजनिक रूप से इन ड्रूस नेताओं की लाशों का प्रदर्शन किया। इससे दमास्कस के निवासी भड़क गये और उन्होंने खुल्लमखुल्ला फ्रेञ्च सिपाहियों व कर्मचारियों पर आक्रमण शुरू कर दिये। जनरल सरैल इस बात से आपे से बाहर होगया, और उसने फ्रेञ्च लोगों को दमास्कस से बाहर करके शहर पर गोलाबारी शुरू कर दी। अड़तालीस घण्टे तक दमास्कस पर बम्ब-वर्षा होती रही। इसके लिये सरैल ने वायुयानों का भी प्रयोग किया। बम्ब-वर्षा से दमास्कस की बहुत-सी इमारतें तबाह होगईं, और उसके बहुत-से निवासी मारे गये। जनरल सरैल को इतने से भी सन्तोष नहीं हुआ, और उसने नगर-निवासियों से बीस लाख रुपया जुरमाना भी वसूल किया।

दमास्कस पर बम्ब-वर्षा के कारण स्थिति इतनी गम्भीर हो गई, कि फ्रेञ्च सरकार को विवश होकर जनरल सरैल को सीरिया के हाई कमिश्नर पद से पृथक् करना पड़ा। इस बीच में ड्रूस लोगों का विद्रोह पूर्ववत् जारी था। ड्रूस लोग न केवल फ्रेञ्च-शासन का विरोध कर रहे थे, अपितु सीरिया के ईसाई निवासियों से भी लड़ने में व्यापृत थे। फ्रेञ्च सरकार ने अरबों के ख़िलाफ़ ईसाइयों की सहायता की, और उन्हें अस्त्र-शस्त्रों द्वारा सज्जित करने का प्रयत्न किया। इस कारण ड्रूस विद्रोह का स्वरूप और भी अधिक भयंकर होगया। नये फ्रेञ्च हाई कमिश्नर ने एक बार फिर दमास्कस पर बम्ब-वर्षा की। यद्यपि फ्रांस की सैन्य-शक्ति दमास्कस में स्थिति को काबू में लाने में समर्थ हुई, पर सीरिया के देहातों में विद्रोह जारी रहा, और फ्रेञ्च सरकार के लिये यह सम्भव नहीं हुआ, कि उसे पूर्णतया कुचल सके।

संविधान-परिषद्—१९२८ में श्री ऑरी पोंसों को सीरिया का फ्रेञ्च हाई कमिश्नर नियत किया गया। उन्होंने अनुभव किया, कि सीरिया में स्वाधीनता की आकांक्षा अत्यन्त प्रबल रूप से विद्यमान है, और स्वराज्य स्थापित किये बिना उसकी समस्या हल नहीं हो सकेगी। इसलिये उन्होंने यह व्यवस्था की, कि सीरिया

के लिये एक संविधान-परिषद् का निर्वाचन किया जाय, जो देश के लिये शासन-विधान का निर्माण करे। संविधान-परिषद् में राष्ट्रीय स्वाधीनता के पक्षपाती अरब लोग बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। उन्होंने मांग की, कि सीरिया को पूर्णतया स्वाधीन व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य बनाया जाना चाहिये। फ्रेञ्च सरकार इसके लिये तैयार नहीं थी। वह सीरिया में स्वायत्त-शासन अवश्य स्थापित करना चाहती थी, पर वह पूर्ण स्वाधीनता स्थापित करने की कल्पना को भी सहने के लिये उद्यत नहीं थी। उसने १९२८ की संविधान-परिषद् को बर्खास्त कर दिया, और सीरिया की समस्या पहले के समान ही जटिल बनी रही।

१९३० का शासन-विधान—दो वर्ष की अव्यवस्था और अशान्ति के बाद सीरिया के फ्रेञ्च हाई कमिश्नर ने अनुभव किया, कि लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना के बिना वहां शान्ति स्थापित रख सकना असम्भव है। अतः उसने स्वयं एक संविधान की रचना की। इसके अनुसार सीरिया में एक पार्लियामेण्ट की व्यवस्था की गई, जिसके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। सीरिया को एक रिपब्लिक के रूप में परिगणित किया गया, जिसका राष्ट्रपति भी पार्लियामेण्ट द्वारा चुना जाता था। संविधान में यह भी स्पष्टतया लिख दिया गया था, कि राष्ट्रपति पद पर ऐसा ही व्यक्ति चुना जा सकेगा, जो कि धर्म से इस्लाम का अनुयायी हो। सीरिया की यह रिपब्लिक आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में पूर्णतया स्वतन्त्र थी, पर विदेशी मामलों में इस पर फ्रांस का आधिपत्य कायम रखा गया था।

१९३२ में इस संविधान के अनुसार सीरिया की प्रथम पार्लियामेण्ट का चुनाव हुआ, इसमें राष्ट्रीय अरब दल के १५ और नरम दल के ५४ सदस्य निर्वाचित हुए। अरब के राष्ट्रीय दल के लोग कहते थे, कि फ्रेञ्च सरकार ने चुनाव में अनुचित रूप से हस्तक्षेप किया है, और इसी कारण नरम दल की चुनाव में विजय हुई है। राष्ट्रीय दल के लोग नई सरकार से सहयोग करने के लिये तैयार नहीं हुए। उन्होंने फिर हिंसात्मक व उग्र उपायों का अवलम्बन करना शुरू कर दिया, और १९३० का संविधान भी सीरिया की समस्या को हल कर सकने में असमर्थ रहा।

१९३६ की सन्धि—सीरिया में राष्ट्रीय दल ने जिस प्रकार हिंसात्मक उपायों का आश्रय लेकर सरकार के कार्य को कठिन बना रखा था, उससे १९३६ में फ्रेञ्च सरकार ने यह आवश्यक समझा, कि राष्ट्रीय नेताओं के साथ एक ऐसी सन्धि कर ली जाय, जिससे कि सीरिया की समस्या का सन्तोषजनक रूप से हल कर सकना सम्भव हो। इसलिये उसने सीरिया के प्रतिनिधियों से एक सन्धि (१९३६) की, जिसमें यह निर्णय किया कि तीन साल बाद सीरिया को पूर्णरूप

से स्वाधीन कर दिया जायगा, और सब फ्रेञ्च सेनायें वहां से हटा ली जायंगी। साथ ही, फ्रांस यह भी प्रयत्न करेगा, कि सीरिया को राष्ट्रसंघ की सदस्यता का अधिकार प्राप्त हो जाय।

फ्रांस का निरंकुश शासन—१९३६ की सन्धि से सीरिया के देशभक्त नेता सन्तुष्ट थे। पर जब उसे फ्रांस की पार्लियामेण्ट में स्वीकृति के लिये पेश किया गया, तो वहां वह स्वीकृत नहीं हुई। इसका कारण यह था, कि फ्रेञ्च राजनीतिज्ञ यह आवश्यक समझते थे, कि भूमध्यसागर के पूर्वी क्षेत्र में उनकी शक्ति का यह केन्द्र कायम रहे, ताकि इटली की बढ़ती हुई ताकत का मुकाबला कर सकना उनके लिये सम्भव रहे। इस समय तक इटली अबीसीनिया पर अपना कब्जा कायम कर चुका था, और मुसोलिनी के नेतृत्व में फैसिस्ट लोग भूमध्यसागर में अपनी सत्ता का विस्तार करने में तत्पर थे। इस दशा में फ्रांस यह उचित नहीं समझता था, कि सीरिया से उसके आधिपत्य का अन्त हो जाय। फ्रांस द्वारा १९३६ की सन्धि के अस्वीकृत हो जाने पर सीरिया में एक बार फिर विद्रोह की अग्नि प्रचण्ड होगई। अब फ्रांस ने अधिक साहस से काम लिया, और १९३० के संविधान का अन्त कर सम्पूर्ण राजशक्ति फ्रेञ्च हाई कमिश्नर ने अपने हाथों में ले ली। १९३९ में जब द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो सीरिया पर फ्रांस का निरंकुश शासन कायम था, और फ्रेञ्च सेनायें पूर्णशक्ति के साथ सीरियन देशभक्तों के स्वातन्त्र्य-युद्ध को कुचल देने में तत्पर थीं।

हेयती की स्वतन्त्र रिपब्लिक—१९३६ में जब सीरिया और फ्रांस में सन्धि की बातचीत चल रही थी, टर्की ने फ्रांस से यह मांग की, कि अलेक्जेण्ड्रेटा और उसके समीपवर्ती प्रदेश को सीरिया से पृथक् करके एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिणत कर दिया जाय। इस प्रदेश में तुर्क लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, और टर्की का यह खयाल था, कि इसका अरब-प्रधान सीरिया के अन्तर्गत रहना उचित नहीं होगा। यह मामला राष्ट्रसंघ के सम्मुख उपस्थित हुआ। विचार-विमर्श के बाद फ्रांस ने १९३८ में यह निर्णय किया, कि अलेक्जेण्ड्रेटा और उसके समीपवर्ती प्रदेश को एक पृथक् रिपब्लिक के रूप में परिणत कर दिया जाय, जिसका अपना राष्ट्रपति और अपनी पार्लियामेण्ट हो। इस रिपब्लिक का नाम हेयती रखा गया। पर इस रिपब्लिक की पृथक् सत्ता देर तक कायम नहीं रही। १९३९ में इसका वह भाग टर्की ने प्राप्त कर लिया, जिसमें तुर्क लोगों की बहुसंख्या थी, और शेष भाग सीरिया के अन्तर्गत कर दिया गया। १९३९ में यूरोप में युद्ध के बादल घिरने शुरू होगये थे, और फ्रांस टर्की के साथ मित्रता स्थापित करने के लिये बहुत उत्सुक था।

पचासवाँ अध्याय

आर्थिक संकट

१. हरजाने की समस्या

हरजाने का प्रश्न---महायुद्ध के कारण मित्रराष्ट्रों की धन व जन की जो भारी हानि हुई थी, उसका उत्तरदायी जर्मनी और उसके साथियों को ठहराया गया था। फ्रांस, बेल्जियम, ब्रिटेन व अन्य राज्य, जिन्हें लड़ाई के कारण बहुत नुकसान उठाना पड़ा था, यह समझते थे, कि उन्हें अपनी क्षति की पूर्ति के लिये जिस रकम की आवश्यकता है, वह सब जर्मनी और उसके साथियों से वसूल की जानी चाहिये। साथ ही, लड़ाई के समय में यूरोप के विविध राज्यों को बहुत बड़ी रकमें दूसरे देशों से कर्ज लेनी पड़ी थीं। पहले अमेरिका लड़ाई में शामिल नहीं था, पर वह मित्रराष्ट्रों को भारी रकमें कर्ज में दे रहा था। शुरू-शुरू में ब्रिटेन ने भी अन्य देशों को कर्ज दिये, पर ज्यों-ज्यों लड़ाई अधिक उग्र रूप धारण करती गई, ब्रिटेन के लिये किसी अन्य राज्य को कर्ज दे सकना सम्भव नहीं रहा। वह स्वयं अमेरिका से भारी रकमें कर्ज में लेने को विवश हुआ। लड़ाई के समाप्त होने पर स्थिति यह थी, कि यूरोप के बहुत-से राज्य अमेरिका और ब्रिटेन के कर्जदार थे, और स्वयं ब्रिटेन अमेरिका का ऋणी था। इस कर्ज को कैसे अदा किया जाय? फ्रांस, बेल्जियम, इटली व अन्य राज्य कहते थे, कि हम कर्ज की अपनी जिम्मेदारियों को तभी पूरा कर सकते हैं, जब हमें जर्मनी व उसके साथियों से हरजाना वसूल करने का अवसर मिले। इसी कारण पेरिस की शान्ति-परिषद् के बाद जर्मनी, हंगरी, आस्ट्रिया और बल्गेरिया पर हरजाने की बड़ी भारी रकमें लादी गई थीं, और इनकी अदायगी की बात उन्हें स्वीकार करनी पड़ी थी। पर सवाल यह था, कि पराजित राज्यों से यह रकम वसूल कैसे की जाय? आस्ट्रिया, हंगरी और बल्गेरिया लड़ाई के बाद बिलकुल निर्बल हो गये थे, और उनके प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र उनके हाथ से निकलकर नये स्वतन्त्र राज्यों के अधीन कर दिये गये थे। इन निर्बल राज्यों से कोई अच्छी रकम वसूल करने की आशा सर्वथा निरर्थक थी। उनकी आर्थिक

व्यवस्था संभल जाय, उसके लिये तो उन्हें स्वयं कर्ज की आवश्यकता थी। इस दशा में हरजाने की अदायगी का सब बोझ जर्मनी पर पड़ गया था। जर्मनी से जो कुछ वसूल हो सके, उसे किस प्रकार मित्रराष्ट्र आपस में बांटें, इसका फैसला कर सकना कठिन नहीं था। १९२० में स्पा में हुई एक कान्फ्रेन्स में मित्रराष्ट्र इस समझौते पर पहुंच गये थे, कि जर्मनी से जो कुछ मिले, उसका ५२ फी सदी फ्रांस को, २२ फीसदी ब्रिटेन को, ८ फीसदी बेल्जियम को, १० फीसदी इटली को और शेष ८ फीसदी अन्य मित्र-राष्ट्रों में बांट दिया जाय। पर असली प्रश्न यह था, कि जर्मनी से क्या कुछ और किस प्रकार वसूल किया जाय। जर्मनी से वसूल की जानेवाली हरजाने की मात्रा और उसे वसूल करने के ढंग का निर्णय करने के लिये पेरिस की शान्ति-परिषद् ने एक 'हरजाना कमीशन' (रिपेरेशन कमीशन) की नियुक्त किया था, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, इटली, ब्रिटेन और फ्रांस का एक-एक प्रतिनिधि लिया गया था। इन चार प्रमुख राज्यों के चार प्रतिनिधियों के अतिरिक्त हरजाना कमीशन में अन्य मित्रराष्ट्रों की तरफ से भी एक प्रतिनिधि लेने की व्यवस्था की गई थी। जब तक यह कमीशन जर्मनी से वसूल किये जानेवाले हरजाने की पूरी रकम निश्चित न कर दे, तब तक जर्मनी १५०० करोड़ रुपया हरजाना खाते जमा कर दे, यह व्यवस्था भी शान्ति-परिषद् ने कर दी थी। बाद में हरजाना कमीशन ने हरजाने की कुल मात्रा दस हजार करोड़ रुपया नियत की थी।

हरजाने की अदायगी में कठिनाइयां—सबसे पहले यह कोशिश की गई, कि जर्मनी माल की शकल में हरजाना अदा करे। वह अपने इंजन, कल-कारखानों की मशीनें, कोयला, लोहा और इसी प्रकार का अन्य व्यावसायिक माल देकर हरजाने की अच्छी-खासी रकम अदा कर सकता था। जर्मनी ने इस तरह से बहुत-सा माल दिया भी। पर इसका परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी के माल से फ्रांस, ब्रिटेन व अन्य देशों के बाजार भर गये। जर्मनी से मुफ्त में आया हुआ यह माल बाजार में बहुत सस्ती कीमत पर बिकने लगा। इसके मुकाबले में अपने देश के माल का बिकना मुश्किल हो गया। परिणाम यह हुआ, कि पूंजीपतियों ने इस तरह माल की शकल में हरजाना वसूल करने के खिलाफ आवाज उठाई, और मित्रराष्ट्रों ने यह तय किया, कि हरजाना माल की शकल में न लेकर नकद लिया जाय। पर जर्मनी नकदी तभी दे सकता था, जब उसके निर्यात माल की मात्रा आयात माल के मुकाबले में ज्यादा रहे। इसके बिना और कोई उपाय नहीं था, जिससे जर्मनी हरजाने की इतनी भारी रकम को अदा कर सके। पर प्रश्न यह था, कि जर्मनी अपने माल को

कहां बेचे ? लड़ाई से पहले जर्मनी के मुख्य बाजार रूस व मध्य यूरोप के विविध देश थे। रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हो चुकी थी। वह देश इस स्थिति में नहीं था, कि जर्मनी वहां अपना माल भेज सके। मध्य और पूर्वी यूरोप में जो नये राज्य लड़ाई के बाद कायम हुए थे, वे सब अपनी व्यावसायिक उन्नति में व्यग्र थे। विदेशी माल के मुकाबले में अपनी व्यावसायिक पैदावार की रक्षा के लिये वे संरक्षण-नीति का अनुसरण कर रहे थे, और भारी आयात-करों के कारण जर्मनी के लिये यह सम्भव नहीं था, कि उन राज्यों में अपने माल को बेच सके। चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, रूमानिया आदि ये देश उग्र राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर अपनी व्यावसायिक उन्नति में तत्पर थे, और इसी कारण संरक्षण-नीति का अनुसरण कर रहे थे। जर्मनी के सब उपनिवेश उससे छिन चुके थे, इसलिये वे बाजार भी उसके हाथ से निकल गये थे। इस दशा में अधिक मात्रा में अपने माल को विदेशों में बेच कर जर्मनी के लिये हर्जाना अदा करना सम्भव नहीं रह गया था। अब उसके पास यही उपाय था, कि टैक्स अधिक बढ़ाये, सरकारी खर्च में कमी करे और मुद्रा का प्रसार करे। मुद्रा के प्रसार से विदेशी विनिमय में जर्मनी के सिक्के की कीमत गिरेगी, सिक्के की कीमत गिरने से दूसरे देशों में जर्मनी का माल सस्ता पड़ेगा, और इस प्रकार जर्मनी के लिये यह सम्भव हो जायगा, कि वह अपना माल अधिक से अधिक मात्रा में दूसरे देशों को बेच सके, और उससे जो धन उसे प्राप्त हो, उसे हरजाने की अदायगी के लिये प्रयुक्त कर सके। जर्मनी ने इसी नीति का अनुसरण किया। जर्मनी के सिक्के मार्क की कीमत गिरने लगी, जर्मनी का माल अन्य देशों में सस्ते दाम पर बिकने लगा। हालत यहां तक पहुंच गई, कि ब्रिटेन, फ्रांस व अमेरिका में इतनी दूर से आया हुआ जर्मनी का माल अपने देश के माल के मुकाबले में सस्ता बिकने लगा। कल-कारखानों के मालिकों को फिर शिकायत का मौका हुआ, उन्होंने अपने देशों की सरकारों को इस बात के लिये विवश किया, कि संरक्षण-नीति का अनुसरण किया जाय और बाहर से आनेवाले माल पर आयात-कर लगाये जायं। संरक्षण-कर की इस दीवार के कारण जर्मन माल का विदेशों में बिकना बन्द हो गया, और पैदावार बढ़ाकर व माल को दूसरे देशों में बेचकर हरजाने की अदायगी की सब आशा नष्ट हो गई।

अब जर्मनी के पास केवल यह उपाय शेष रहा, कि वह कर्ज ले और मुद्रा का और अधिक प्रसार करे। परिणाम यह हुआ, कि मार्क की कीमत लगातार गिरती गई, और जर्मनी का आर्थिक जीवन बिलकुल अस्तव्यस्त हो गया। सिक्के की कीमत गिरने का असर किसी भी देश के आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा पड़ता है।

लोग अपने धन को, अपनी बचत को बैंकों में जमा करते हैं। बैंक उसी रकम का देनदार होता है, जो उसके पास जमा की गई हो। यदि उसके पास किसी के एक हजार मार्क जमा हैं, तो वह एक हजार मार्कों का ही देनदार है। बैंक को इस बात से कोई वास्ता नहीं, कि जब उसके पास रकम जमा कराई गई थी, तो उससे कितना माल खरीदा जा सकता था, और अब वह रकम वापस दे रहा है, तो उससे क्या कुछ माल खरीदा जा सकता है। यही हालत बीमा-कम्पनियों द्वारा दी जाने-वाली रकमों, सरकारी कर्ज की रकमों और अन्य देनदारियों के बारे में समझी जा सकती है। मार्क की कीमत में किस तरह कमी हुई, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। एक पौंड के पहले २० मार्क आते थे, १९२० के बीच में उनकी कीमत गिरकर २५० पहुंच गई थी। १९२२ में एक पौंड के बदले ३४,००० मार्क खरीदे जा सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि लोगों का जो कुछ रुपया पावना था, वह सब मिट्टी हो गया। कीमतें बेहद बढ़ गईं। आम मजदूरों को जो दैनिक मजदूरी मिलती है, उसमें तो कीमतों के बढ़ने के साथ-साथ वृद्धि भी हो जाती है। पर मध्य श्रेणी के लोगों को जो वेतन मिलते हैं, वे प्रायः निश्चित होते हैं। यदि सिक्के की कीमत गिरे और चीजों की कीमतें बढ़ें, तो निश्चित वेतन पानेवाले लोगों के वेतनों में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पाती। जर्मनी के मध्य श्रेणी के लोगों को इस दशा से बहुत कष्ट उठाना पड़ा। उनकी आमदनी तो अब आम गरीब मजदूरों के बराबर रह गई थी, पर उनका रहन-सहन ऊंचा था। उनमें बहुत बेचैनी और असन्तोष था। विदेशी लोगों के लिये जर्मनी अब स्वर्ग के समान था। कोई भी आदमी पौंड, रुपया, फ्रांक या डालर जेब में डालकर जर्मनी में आनन्द का जीवन बिता सकता था। कुछ रुपयों में सारे जर्मनी की यात्रा की जा सकती थी। कुछ आने प्रतिदिन पर अच्छे-से-अच्छे होटल में टिका जा सकता था। कुछ सौ रुपयों से अच्छी जायदाद खरीदी जा सकती थी। पर जर्मनी के लोग आर्थिक दुर्दशा से परेशान थे। उनके लिये यह असम्भव था, कि हरजाने की अदायगी में कुछ भी दे सकें। नकद कुछ भी दे सकना उनके लिये नामुमकिन था। उनके सिक्के की कीमत धूल में मिल गई थी, उनसे किसी भी विदेशी सिक्के को खरीद सकना उनके लिये कठिन था। यही समय था, जब हरजाने को न दे सकने को निमित्त बनाकर फ्रांस ने रूर के प्रदेश पर कब्जा कर लिया था।

डावस-योजना—हरजाने की अदायगी की समस्या को सम्मुख रखकर १९२३ के अन्त में विशेषज्ञों की एक कमेटी नियत की गई, जिसके प्रधान श्री डावस थे। इस कमेटी ने एक नई योजना तैयार की, जो डावस-योजना कहाती है। डावस-

कमेटी की रिपोर्ट और उस द्वारा प्रस्तुत योजना पर हम पहले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। डावस-योजना द्वारा जर्मनी को अनेक सहूलियतें प्राप्त हुईं। हरजाने के रूप में दी जानेवाली वार्षिक किस्त में कमी की गई, जर्मनी आर्थिक व्यवस्था को ठीक करने के लिये जर्मनी अन्य देशों से कर्ज प्राप्त कर सके, यह प्रबन्ध किया गया, और मार्क की कीमत को संभालने के लिये नई मुद्रापद्धति का सूत्रपात किया गया ।

यद्यपि डावस-योजना के अनुसार जर्मनी को बहुत-सी सुविधायें दी गई थीं, और उससे जर्मनी की आर्थिक दशा को संभलने में बहुत सहायता मिली थी, पर उससे सब कठिनाइयां दूर नहीं हुईं। हरजाना कमीशन ने जर्मनी द्वारा वसूल की जानेवाली हरजाने की रकम दस हजार करोड़ रुपया नियत की थी, और डावस-योजना ने इस रकम में कोई कमी नहीं की थी। यह सन्दिग्ध था, कि जर्मनी कभी भी इतनी रकम को अदा कर सकने में समर्थ हो पायगा। यह हरजाना जर्मनी ने वार्षिक किस्तों में अदा करना था, और डावस-योजना के अनुसार यह किस्त ८० करोड़ रुपया प्रति वर्ष थी। साथ ही, डावस-योजना द्वारा यह भी व्यवस्था की गई थी, कि चार वर्ष तक ८० करोड़ रुपया वार्षिक देकर बाद में जर्मनी २०० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष दिया करे। जर्मन लोग अनुभव करते थे, कि इतनी भारी रकम को प्रतिवर्ष देते रहने पर भी वे शीघ्र हरजाने के बोझ से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकेंगे। हरजाने की दस हजार करोड़ रुपये की रकम पर जर्मनी ने सूद भी देना था। सूद के साथ मूलधन की अदायगी में कितना समय लगता, इसकी कल्पना सहज में ही जा सकती है।

यंग-कमीशन की योजना—धीरे-धीरे यूरोप की राजनीति में परिवर्तन हो रहा था, और ब्रिटेन, फ्रांस आदि के राजनीतिज्ञ यह अनुभव करने लगे थे, कि जर्मनी को सर्वथा कुचल देने की अपेक्षा उसके साथ सहयोग की नीति को अपनाना अधिक श्रेयस्कर है। डावस-योजना द्वारा जर्मनी के साथ सहयोग की जिस भावना का प्रारम्भ हुआ था, वह निरन्तर विकसित होती जा रही थी। १९२९ में ग्रेट ब्रिटेन में श्री रामजे मेकडानल्ड के नेतृत्व में मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल बन गया था, और फ्रांस में भी वामपक्ष के दलों ने अच्छा जोर पकड़ लिया था। १९२६ में यद्यपि वहां श्री पोयन्कारे का मन्त्रिमण्डल कायम हुआ था, पर श्री हेरियो और उनकी रेडिकल पार्टी इस मन्त्रिमण्डल के साथ सहयोग कर रही थी। श्री पोयन्कारे का यह मन्त्रिमण्डल संयुक्त राष्ट्रीय दल का था। और अनेक वामपक्षी दल भी उसमें

सम्मिलित थे। इस समय फ्रांस भी जर्मनी के प्रति सहयोग की नीति के लिये उद्यत था। इस दशा में हरजाने की समस्या पर विचार करने के लिये एक नये कमीशन की नियुक्ति फरवरी, १९२९ में की गई। सतरह सप्ताह तक निरन्तर परिश्रम करने के बाद इस कमीशन ने एक नई योजना पेश की, जिसकी मुख्य बातें निम्न-लिखित थीं—(१) जर्मनी को हरजाने के रूप में जो कुल रकम प्रदान करनी है, उसे घटाकर २५०० करोड़ रुपया निश्चित किया जाय। (२) इस रकम को जर्मनी ५८ सालाना किस्तों में अदा करे। (३) जर्मनी के आर्थिक जीवन पर कोई विदेशी नियन्त्रण न रहे। (४) पहले ३७ वर्षों में सालाना किस्त की रकम १५० करोड़ रुपया और बाद में किस्त की मात्रा को घटाकर १२० करोड़ रुपया वार्षिक कर दिया जाय।

हेग की सन्धि—यंग-कमीशन की इस योजना को हरजाना कमीशन और सम्बन्धित राज्यों की सरकारों के सम्मुख उपस्थित किया गया। बाद में इस पर विचार करने के लिये हेग में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में जो निर्णय हुए, वे निम्नलिखित थे—(१) फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, बेल्जियम, इटली और जापान—इन पांच राज्यों में से कोई से भी चार राज्य जब इस योजना को स्वीकृत कर लें, तब इसे क्रिया में परिणत कर दिया जाय। (२) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिये एक 'अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक' (बैंक आफ इन्टरनेशनल सेटलमेन्ट्स) का संगठन किया जाय, जिसका प्रमुख कार्य यह हो, कि वह जर्मनी से हरजाने की सालाना किस्त को वसूल करके उसे अन्य राज्यों को यथोचित रूप से प्रदान करे। (३) राइनलैण्ड के प्रदेश को मित्रराष्ट्रों की सेनायें शीघ्र ही खाली कर दें। (४) यदि किन्हीं कारणों से यह उचित समझा जाय, कि जर्मनी से वसूल होनेवाली सालाना किस्तों को सामयिक रूप से स्थगित करना आवश्यक है, तो उन्हें अधिक से अधिक दो वर्षों तक स्थगित किया जा सके। पर किसी भी अवस्था में सालाना किस्त को पूर्ण रूप से स्थगित न किया जाय। उसका एक तिहाई भाग अनिवार्य रूप से जर्मनी से प्रतिवर्ष अवश्य ही वसूल किया जाया करे, और जब कभी सालाना किस्त की वसूली को स्थगित करना जरूरी समझा जाय, तो उसका जो एक तिहाई भाग अनिवार्य रूप से वसूल हो, उसका ७५ प्रतिशत फ्रांस को प्रदान किया जाय। यह अन्तिम व्यवस्था इसलिये की गई थी, क्योंकि फ्रांस किसी भी ऐसी बात को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं होता था, जिससे उसे मिलनेवाली हरजाने की रकम में कमी होती हो। उसे सन्तुष्ट करने के लिये ही यह व्यवस्था की गई थी।

१९३० में हेग-सम्मेलन ने यंग-योजना को कुछ परिवर्तनों के साथ स्वीकृत कर लिया। इस समय तक जर्मनी में राष्ट्रीय भावना और पकड़ने लग गई थी, और वहां की जनता मित्रराष्ट्रों के सम्मुख झुककर प्रत्येक बात को सुगमता से स्वीकृत कर लेने के लिये तैयार नहीं हो जाती थी। अतः जर्मन सरकार को यंग-योजना के स्वीकृत करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जर्मन लोग समझते थे, कि इस नई योजना के अनुसार दी जाने वाली हरजाने की किस्तों का समय पर अदा कर सकना भी सुगम नहीं है।

यंग-योजना का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि मित्रराष्ट्र राइन-लैण्ड से अपनी सेनाओं को हटाने के लिये तैयार हो गये। जर्मनी की राष्ट्रीय भावना की यह असाधारण सफलता थी, और इसके कारण वहां नई आशा और नव उत्साह का संचार हुआ।

लोजान कान्फरेन्स—यंग-योजना को स्वीकृत हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था, कि संसार-व्यापी आर्थिक संकट का प्रारम्भ हो गया। १९२९ में सब जगह कीमतें गिरनी शुरू हो गई थीं। यह प्रक्रिया १९३० और १९३१ में जारी रही। १९३१ तक कीमतें इस हद तक गिर गई थीं, कि कारखानों को भारी नुकसान होने लग गया था। व्यापार, व्यवसाय और सब प्रकार के कारोबार में नुकसान ही नुकसान नजर आता था। कारखाने धड़ाधड़ बन्द हो रहे थे। लाखों मजदूर बेकार हो गये थे। इस विश्वव्यापी आर्थिक संकट पर हम इसी अध्याय के एक पृथक् प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। जर्मनी भी आर्थिक संकट के इस तूफान में फंस गया। डावस-योजना के बाद जर्मनी के व्यवसाय संभलने शुरू हो गये थे। १९२९ में जर्मनी से जो माल अन्य देशों में बिक्री के लिये गया था, उसकी कीमत ९०० करोड़ रुपये के लगभग थी। १९३२ में जर्मनी के निर्यात माल की कीमत घटकर ४०० करोड़ रुपये से भी कम रह गई थी। १९२९ में जर्मनी में बेकारों की संख्या २० लाख थी, १९३२ में वह बढ़कर ६० लाख हो गई। इससे जर्मनी के आर्थिक संकट का भली भांति अन्दाज लगाया जा सकता है। संसार के सब देशों में मन्दी के कारण अब लोगों की आमदनी इतनी नहीं रह गई थी, कि वे जर्मनी के तैयार माल को अच्छी बड़ी मात्रा में खरीद सकें। यंग-योजना द्वारा हरजाने की जो वार्षिक किस्त तय हुई थी (यह किस्त शुरू के सालों के लिये १५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष रखी गई थी), उसे अदा कर सकना उसके लिये असम्भव हो गया। जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों से प्रार्थना की, कि हरजाने की सालाना किस्त की अदायगी को स्थगित कर दिया जाय। आर्थिक संकट को दृष्टि में रखते हुए

मित्रराष्ट्रों को उसकी यह बात माननी पड़ी। हरजाने के सम्बन्ध में विचार करने के लिये मित्रराज्यों के प्रतिनिधि फिर एक बार १९३२ में एकत्र हुए। इस बार उनकी कान्फरेन्स लोजान में हुई। सब लोग यह बात भली भांति अनुभव करते थे, कि जर्मनी के लिये हरजाने को अदा कर सकना असम्भव है। एक प्रस्ताव यह उपस्थित हुआ, कि हरजाने की कुल रकम को घटाकर २१० करोड़ रुपया तय कर दिया जाय। फ्रांस आदि विविध राज्य इसके लिये तैयार थे, पर वे यह कहते थे, कि उन्होंने स्वयं जो रकम अमेरिका व ब्रिटेन को देनी है, उसमें भी इसी हिसाब से कमी कर दी जाय। अमेरिका इसके लिये तैयार नहीं हुआ। लोजान की कान्फरेन्स असफल हो गई।

हरजाने की अदायगी का अन्त—पर इसके बाद न जर्मनी ने कोई हरजाना मित्रराष्ट्रों को दिया, और न अमेरिका अपने कर्ज की कोई रकम अन्य राज्यों से वसूल कर सका। जर्मनी में अब नाजी पार्टी जोर पकड़ रही थी। हिटलर ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी थी, कि वह हरजाने की कोई भी रकम अदा करने को तैयार नहीं है। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी ने जो कुछ हरजाना मित्रराष्ट्रों को देना था, उसका कोई भी अंश १९३२ के बाद जर्मन सरकार ने नहीं दिया। साथ ही, अमेरिका और ब्रिटेन ने यूरोप के विविध राज्यों से जो कुछ प्राप्त करना था, वह भी उन्हें प्राप्त नहीं हो सका। हरजाने की समस्या स्वयमेव हल हो गई, और जर्मनी व यूरोप के अन्य राज्य अपनी-अपनी देनदारी से मुक्त हो गये। यूरोप की आर्थिक अवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थिति इस समय इतनी जटिल होती जा रही थी, कि हरजाने और राष्ट्रीय देनदारियों की समस्या उनके सम्मुख अब उपेक्षणीय प्रतीत होती थी।

२. अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियाँ

लोजान की कान्फरेन्स की असफलता का प्रधान कारण यह था, कि संयुक्त राज्य अमेरिका उस रकम में कमी करने को तैयार नहीं हुआ था, जो उसे ब्रिटेन, फ्रांस आदि मित्रराष्ट्रों से प्राप्त करनी थी। महायुद्ध में जब तक अमेरिका मित्र-राष्ट्रों का पक्ष लेकर शामिल नहीं हुआ था, फ्रांस, इटली, रूस, बेल्जियम आदि मित्र पक्ष के राज्यों ने अरबों रुपया ब्रिटेन से कर्ज लिया था। यद्यपि अमेरिका युद्ध में तटस्थ था, पर उसकी सहानुभूति मित्रराष्ट्रों के साथ थी। इसीलिये यूरोप के अनेक राज्यों को उसने भी कर्ज देने में संकोच नहीं किया था। जब वह महायुद्ध में शामिल हो गया, तो उसने जी खोलकर मित्रराष्ट्रों की आर्थिक

सहायता करनी प्रारम्भ कर दी। अमेरिकन कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास किया, जिसके अनुसार ५ प्रतिशत सूद पर १००० करोड़ रुपया मित्रराष्ट्रों को कर्ज देने की व्यवस्था की गई। युद्ध की समाप्ति से पूर्व और बाद भी अमेरिका निरन्तर मित्रराष्ट्रों को कर्ज देता रहा। इस कर्ज की कुल मात्रा १०,३३,८०,००,००० डालर (३२ अरब रुपये के लगभग) तक पहुंच गई थी। इस कर्ज का सबसे बड़ा भाग ब्रिटेन को दिया गया था, फ्रांस और इटली का नम्बर ब्रिटेन के बाद में आता था। ब्रिटेन, फ्रांस और इटली अमेरिका के प्रमुख अधमर्ण थे, और थोड़ी-थोड़ी देनदारी बेल्जियम, रूस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रुमानिया, युगोस्लाविया, आस्ट्रिया, ग्रीस, एस्थोनिया, आर्मीनिया, क्यूबा, फिनलैण्ड, लैटविया, लिथुएनिया, हंगरी, निकार्गुआ और लाइबीरिया की भी थी।

पर अमेरिका के लिये यह सुगम नहीं था, कि अपने कर्जदारों से इस भारी रकम को वसूल कर सके। १९२२ तक अमेरिका न तो कर्ज के मूलधन का ही कोई अंश अपने कर्जदारों से प्राप्त कर सका था, और न ही उसका सूद ही उसे मिला था। १९२२ में अमेरिकन सरकार ने अपने कर्जदार राज्यों पर कर्ज की वसूली के लिये जोर देना शुरू किया। इस पर फ्रांस का यह कहना था, कि जर्मनी से हरजाने की रकम वसूल होने पर ही वह अपने कर्ज को अदा कर सकता है। यदि परास्त जर्मनी अपनी देनदारी अदा नहीं करता, तो विजयी फ्रांस कैसे कर्ज की रकम दे सकता है। ब्रिटेन ने यदि अमेरिका को कर्ज की रकम लौटानी थी, तो अन्य मित्र-राष्ट्रों से कर्ज की रकम वसूल भी करनी थी। उसकी देनदारी और लेनदारी करीब-करीब एक बराबर थी। इस हालत में उसका यह विचार था, कि मित्रराष्ट्रों की सब पारस्परिक देनदारियों को रद्द कर दिया जाय। अगस्त, १९२२ में उसकी तरफ से एक नोट अपने कर्जदारों को भेजा गया, जिसमें यह कहा गया था, कि उसे जितनी रकम अमेरिका को कर्ज की अदायगी में देनी होगी, उतनी रकम को ही वह अपने कर्जदारों से वसूल करने का प्रयत्न करेगा। यह नोट 'बाल्फोर नोट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका परिणाम यह हुआ, कि अन्य मित्रराष्ट्र यह समझने लगे, कि अमेरिका के आग्रह के कारण ही वे ब्रिटेन को कर्ज की रकम देने के लिये विवश किये जा रहे हैं। पर इस समय अमेरिका अपने अधमर्ण राज्यों से कर्ज वसूल करने के लिये तुला हुआ था, अतः दिसम्बर, १९२२ में ब्रिटेन ने उसके साथ यह फैसला किया, कि ४० करोड़ रुपयों की ६२ वार्षिक किस्तों में वह अमेरिका का सारा कर्ज चुका देगा। ब्रिटेन १९२२ के बाद इन किस्तों को नियमपूर्वक अदा करता रहा, पर उसे इस बीच में अपने कर्जदारों से कुछ भी वसूल नहीं हो सका।

डावस-योजना की स्वीकृति के बाद १९२६ में फ्रांस, इटली, रूमानिया, युगोस्लाविया और ग्रीस ने ब्रिटेन के साथ पृथक्-पृथक् समझौते किये, जिनमें इन राज्यों ने ब्रिटेन को प्रदान की जानेवाली सालाना किस्तों का फैसला किया। ये राज्य ब्रिटेन को तभी कोई रुपया दे सकते थे, जब वे जर्मनी से हरजाने की रकम की किस्त को प्राप्त कर पाते। जर्मनी से हरजाना वसूल करने में जो कठिनाई उन्हें अनुभव हो रही थी, उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। पर इन राज्यों को इस समय नये कर्ज प्राप्त करने में कोई भी परेशानी नहीं हो रही थी। डावस-योजना की स्वीकृति के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका जिस प्रकार जर्मनी को बहुत बड़ी मात्रा में कर्ज दे रहा था, उसी प्रकार यूरोप के विविध राज्य भी उससे निरन्तर कर्ज प्राप्त कर रहे थे। फ्रांस, इटली आदि देश अमेरिका से नये कर्ज लेकर ब्रिटेन के कर्ज की किस्तें चुका रहे थे, और अमेरिका के पुराने कर्ज की किस्तें भी नियमपूर्वक अदा कर देते थे। नये कर्जों के कारण अमेरिका का रुपया प्रचुर परिमाण में यूरोप आ रहा था, और इनसे यूरोपियन राज्यों में एक प्रकार की समृद्धि सी नजर आने लगी थी। महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर अमेरिका के व्यवसाय और व्यापार ने असाधारण उन्नति कर ली थी, और वहां की सरकार के पास अनन्त धनराशि एकत्र हो गई थी। इस धन का प्रयोग अब यूरोप को कर्ज देने में किया जा रहा था, और यूरोप के विविध राज्य इसे प्राप्त कर अपनी आर्थिक उन्नति में तत्पर हो रहे थे।

१९३०-३१ में यूरोप में घोर आर्थिक संकट का प्रारम्भ हुआ। इसके कारणों पर हम अगले एक प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। इस विश्वव्यापी अर्थ-संकट के कारण न केवल जर्मनी के लिये हरजाने की सालाना किस्तों को अदा कर सकना कठिन हो गया, अपितु अन्य राज्य भी अपनी देनदारियों को अदा कर सकने में असमर्थता अनुभव करने लगे थे। नाजी पार्टी के अभ्युदय के बाद जब जर्मनी ने हरजाने की रकम को अदा करने से एकदम इनकार कर दिया, तो अन्तर्राष्ट्रीय देनदारी को निभा सकना किसी भी राज्य के लिये सम्भव नहीं रहा।

३. अन्य आर्थिक समस्यायें

हरजाने और अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियों के अतिरिक्त जो अन्य बहुत-सी आर्थिक समस्यायें महायुद्ध के बाद यूरोप में उत्पन्न हुईं, उनका भी संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है। संसारव्यापी आर्थिक संकट को समझने में उससे सहायता मिलेगी। युद्ध के समय में करोड़ों आदमी अपने साधारण पेशों को छोड़कर सेना में भरती

हुए थे, या युद्ध-सम्बन्धी अन्य कार्यों में लग गये थे। लड़ाई के खतम होने पर ये सब बेकार हो गये। न अब दफ्तरों में काम करनेवाले उन क्लर्कों की आवश्यकता थी, जो बहुत बड़ी संख्या में लड़ाई के दिनों में भरती किये गये थे। सेनायें युद्ध-क्षेत्र से वापस लौट आई थीं, उनके सैनिकों को बहुत बड़ी संख्या में छुट्टी दी जा रही थी। लड़ाई के लिये सब प्रकार का सामान जुटाने के लिये जो ठेकेदार, मिस्त्री व मजदूर काम कर रहे थे, वे सब अब बेकार हो गये थे। जिन कारखानों में अस्त्र-शस्त्र, बारूद, फौजी कपड़े व अन्य युद्ध-सामग्री तैयार होती थी, उनके पास अब काम की बहुत कमी हो गई थी। इनमें काम करनेवाले मजदूरों को छुट्टी दी जा रही थी, और पूंजीपतियों के मुनाफे घटने शुरू हो गये थे। लड़ाई के कारण सब प्रकार के कारोबार में जो एक तरह की समृद्धि हो गई थी, वह अब नष्ट हो रही थी। सब ओर नुकसान, बेकारी और असन्तोष के चिन्ह प्रगट होने लगे थे। महायुद्ध से पूर्व ब्रिटेन, फ्रांस आदि उन्नत यूरोपियन देश अपनी व्यावसायिक पैदावार का बड़ा भाग अन्य देशों में भेजते थे। एशिया, पूर्वी यूरोप और अफ्रीका के बाजार इस माल से भरे रहते थे, और इनकी बिक्री से जो रुपया प्राप्त होता था, उसके कारण ये देश बड़े अमीर और समृद्ध बने हुए थे। पर अब इन बाजारों पर फिर से कब्जा कर सकना सुगम काम नहीं था। इसके अनेक कारण थे। (१) पूर्वी व मध्य यूरोप में जो नये राज्य कायम हुए थे, उनमें राष्ट्रीयता की भावना बड़ी प्रबल थी। वे स्वयं अपने देश की व्यावसायिक उन्नति के लिये प्रयत्न कर रहे थे। अपने व्यवसायों की रक्षा के लिये उन्होंने संरक्षण-नीति का अवलम्बन किया था। लड़ाई से पहले जर्मनी का बहुत-सा माल उन प्रदेशों के बाजारों में खपता था, जिनमें कि बाद में पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया आदि राज्य कायम हुए थे। ब्रिटेन और फ्रांस भी इनमें काफी माल भेजते थे। पर अब इनके बाजार पश्चिमी यूरोप के देशों के लिये प्रायः बन्द हो गये थे। (२) बोल्शेविक क्रान्ति के कारण रूस का बाजार भी पश्चिमी यूरोप के देशों के लिये खुला नहीं रहा था। (३) भारत में राष्ट्रीय-आन्दोलन का सूत्रपात हो गया था। विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के आन्दोलन ने वहां जनता में जागृति उत्पन्न कर दी थी, और ब्रिटिश माल की खपत बहुत कम हो गई थी। (४) महायुद्ध के समय में जापान ने एशिया के बाजारों पर कब्जा कर लिया था। जापान का माल यूरोपियन माल के मुकाबले में बहुत सस्ता था। यूरोप के लिये यह सम्भव नहीं था, कि जापान के मुकाबले में एशिया के बाजारों में खड़ा हो सके। (५) महायुद्ध के समय में भारत में भी अच्छी व्यावसायिक उन्नति हुई थी।

डावस-योजना की स्वीकृति के बाद १९२६ में फ्रांस, इटली, रूमानिया, युगोस्लाविया और ग्रीस ने ब्रिटेन के साथ पृथक्-पृथक् समझौते किये, जिनमें इन राज्यों ने ब्रिटेन को प्रदान की जानेवाली सालाना किस्तों का फैसला किया। ये राज्य ब्रिटेन को तभी कोई रुपया दे सकते थे, जब वे जर्मनी से हरजाने की रकम की किस्त को प्राप्त कर पाते। जर्मनी से हरजाना वसूल करने में जो कठिनाई इन्हें अनुभव हो रही थी, उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। पर इन राज्यों को इस समय नये कर्ज प्राप्त करने में कोई भी परेशानी नहीं हो रही थी। डावस-योजना की स्वीकृति के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका जिस प्रकार जर्मनी को बहुत बड़ी मात्रा में कर्ज दे रहा था, उसी प्रकार यूरोप के विविध राज्य भी उससे निरन्तर कर्ज प्राप्त कर रहे थे। फ्रांस, इटली आदि देश अमेरिका से नये कर्ज लेकर ब्रिटेन के कर्ज की किस्तें चुका रहे थे, और अमेरिका के पुराने कर्ज की किस्तें भी नियमपूर्वक अदा कर देते थे। नये कर्जों के कारण अमेरिका का रुपया प्रचुर परिमाण में यूरोप आ रहा था, और उससे यूरोपियन राज्यों में एक प्रकार की समृद्धि सी नजर आने लगी थी। महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर अमेरिका के व्यवसायों और व्यापार ने असाधारण उन्नति कर ली थी, और वहां की सरकार के पास अतुल धनराशि एकत्र हो गई थी। इस धन का प्रयोग अब यूरोप को कर्ज देने में किया जा रहा था, और यूरोप के विविध राज्य इसे प्राप्त कर अपनी आर्थिक उन्नति में तत्पर हो रहे थे।

१९३०-३१ में यूरोप में घोर आर्थिक संकट का प्रारम्भ हुआ। इसके कारणों पर हम अगले एक प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। इस विश्वव्यापी अर्थ-संकट के कारण न केवल जर्मनी के लिये हरजाने की सालाना किस्तों को अदा कर सकना कठिन हो गया, अपितु अन्य राज्य भी अपनी देनदारियों को अदा कर सकने में असमर्थता अनुभव करने लगे थे। नाजी पार्टी के अभ्युदय के बाद जब जर्मनी ने हरजाने की रकम को अदा करने से एकदम इनकार कर दिया, तो अन्तर्राष्ट्रीय देनदारी को निभा सकना किसी भी राज्य के लिये सम्भव नहीं रहा।

३. अन्य आर्थिक समस्यायें

हरजाने और अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियों के अतिरिक्त जो अन्य बहुत-सी आर्थिक समस्यायें महायुद्ध के बाद यूरोप में उत्पन्न हुईं, उनका भी संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है। संसारव्यापी आर्थिक संकट को समझने में उससे सहायता मिलेगी। युद्ध के समय में करोड़ों आदमी अपने साधारण पेशों को छोड़कर सेना में भरती

हुए थे, या युद्ध-सम्बन्धी अन्य कार्यों में लग गये थे। लड़ाई के खतम होने पर ये सब बेकार हो गये। न अब दफ्तरों में काम करनेवाले उन क्लर्कों की जरूरत थी, जो बहुत बड़ी संख्या में लड़ाई के दिनों में भरती किये गये थे। सेनायें युद्ध-क्षेत्र से वापस लौट आई थीं, उनके सैनिकों को बहुत बड़ी संख्या में छुट्टी दी जा रही थी। लड़ाई के लिये सब प्रकार का सामान जुटाने के लिये जो ठेकेदार, शिल्पी व मजदूर काम कर रहे थे, वे सब अब बेकार हो गये थे। जिन कारखानों में अस्त्र-शस्त्र, बारूद, फौजी कपड़े व अन्य युद्ध-सामग्री तैयार होती थी, उनके पास अब काम की बहुत कमी हो गई थी। इनमें काम करनेवाले मजदूरों को छुट्टी दी जा रही थी, और पूंजीपतियों के मुनाफे घटने शुरू हो गये थे। लड़ाई के कारण सब प्रकार के कारोबार में जो एक तरह की समृद्धि हो गई थी, वह अब नष्ट हो रही थी। सब ओर नुकसान, बेकारी और असन्तोष के चिन्ह प्रगट होने लगे थे। महायुद्ध से पूर्व ब्रिटेन, फ्रांस आदि उन्नत यूरोपियन देश अपनी व्यावसायिक पैदावार का बड़ा भाग अन्य देशों में भेजते थे। एशिया, पूर्वी यूरोप और अफ्रीका के बाजार इस माल से भरे रहते थे, और इनकी बिक्री से जो रुपया प्राप्त होता था, उसके कारण ये देश बड़े अमीर और समृद्ध बने हुए थे। पर अब इन बाजारों पर फिर से कब्जा कर सकना सुगम काम नहीं था। इसके अनेक कारण थे। (१) पूर्वी व मध्य यूरोप में जो नये राज्य कायम हुए थे, उनमें राष्ट्रीयता की भावना बड़ी प्रबल थी। वे स्वयं अपने देश की व्यावसायिक उन्नति के लिये प्रयत्न कर रहे थे। अपने व्यवसायों की रक्षा के लिये उन्होंने संरक्षण-नीति का अवलम्बन किया था। लड़ाई से पहले जर्मनी का बहुत-सा माल उन प्रदेशों के बाजारों में खपता था, जिनमें कि बाद में पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया आदि राज्य कायम हुए थे। ब्रिटेन और फ्रांस भी इनमें काफी माल भेजते थे। पर अब इनके बाजार पश्चिमी यूरोप के देशों के लिये प्रायः बन्द हो गये थे। (२) बोलशेविक क्रान्ति के कारण रूस का बाजार भी पश्चिमी यूरोप के देशों के लिये खुला नहीं रहा था। (३) भारत में राष्ट्रीय-आन्दोलन का सूत्रपात हो गया था। विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के आन्दोलन ने वहां जनता में जागृति उत्पन्न कर दी थी, और ब्रिटिश माल की खपत बहुत कम हो गई थी। (४) महायुद्ध के समय में जापान ने एशिया के बाजारों पर कब्जा कर लिया था। जापान का माल यूरोपियन माल के मुकाबले में बहुत सस्ता था। यूरोप के लिये यह सम्भव नहीं था, कि जापान के मुकाबले में एशिया के बाजारों में खड़ा हो सके। (५) महायुद्ध के समय में भारत में भी अच्छी व्यावसायिक उन्नति हुई थी।

अपनी आवश्यकता का कपड़ा भारत बहुत कुछ स्वयं बनाने लगा था, और अंगरेजी कपड़े की मांग बहुत घट गई थी। (६) एशिया के अन्य देशों में भी राष्ट्रीय-आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। विदेशी माल पर निर्भर रहने के बजाय सब देश अपनी आवश्यकतायें स्वयं पूर्ण करने के लिये उत्सुक थे। आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त ने विदेशी व्यापार के मार्ग में बहुत-सी बाधायें उपस्थित कीं, और उन देशों के लिये एक बड़ी समस्या उत्पन्न कर दी, जिनकी समृद्धि का मुख्य आधार ही विदेशी व्यापार था।

महायुद्ध के समय में धन-सम्पत्ति का जो विनाश हुआ, उसके कारण भी यूरोप में अनेक आर्थिक समस्यायें उत्पन्न हुईं। बेल्जियम और फ्रांस के बहुत बड़े इलाके लड़ाई के कारण बरबाद हो गये थे। इनके पुनरुद्धार का मतलब था, रुपये का बहुत बड़ी मात्रा में व्यय होना। यह रुपया कहां से आता? जो सम्पत्ति एक बार नष्ट हो जाती है, वह अपने स्वामियों के लिये एक चिन्ता की बात बन जाती है। उसे फिर से कमाने का यत्न तो किया ही जाता है, पर मानव-समाज की सामूहिक दृष्टि से एक बार नष्ट हुई सम्पत्ति फिर लौटकर वापस नहीं मिल सकती। फ्रांस और बेल्जियम ने जर्मनी से हरजाना वसूल करके अपने नुकसान को पूरा करना चाहा, पर युद्ध ने जो विनाश किया, उसका असर मानव-समाज पर पड़ना अवश्यम्भावी था।

८. आर्थिक संकट का प्रादुर्भाव

आर्थिक संकट के कारण——१९२९ में न केवल यूरोप अपितु सम्पूर्ण संसार में आर्थिक संकट के चिन्ह प्रगट होने लगे। सिक्का सब जगह कम हो गया, कीमतें गिरने लगीं, बैंकों के लिये रुपया अदा करना कठिन हो गया। अनेक बैंक फेल हो गये, कारखानों और अन्य कारोबारों में नुकसान रहने लगा। बहुत-सी कम्पनियां फेल हो गईं, लाखों मजदूर बेकार हो गये। माल से बाजार भरे पड़े थे, पर उन्हें खरीदने वाला कोई न था। लोगों को सब तरह के सामान की जरूरत थी, पर उनकी जेब में उसे खरीदने के लिये पैसा नहीं था। सरकारी आमदनी कम हो गई थी, टैक्स वसूल नहीं होते थे। सरकारी खर्च के लिये धन कहां से आता, राजकीय बजट सब जगह नुकसान दिखाते थे। आर्थिक संकट का यह भयावह रूप था। यह संकट किन कारणों से उपस्थित हुआ, इस पर संक्षेप से प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है। आर्थिक संकट के कारण निम्नलिखित थे——

(१) व्यावसायिक क्रान्ति के कारण कल-कारखानों का जो बड़े पैमाने पर

विकास हुआ था, उससे छोटे कारोबारों का बड़े कारोबारों के मुकाबले में टिकना कठिन हो गया था। बड़े कारोबारों के लिये बड़ी पूंजी चाहिये। यह बड़ी पूंजी हर एक आदमी के पास नहीं होती। या तो यह कुछ खास बड़े पूंजीपतियों के पास होती है, या इसकी व्यवस्था बड़े बैंक करते है। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में सब कारोबार, सब आर्थिक उत्पत्ति और सब व्यवसाय एक केन्द्र में केन्द्रित होने की प्रवृत्ति रखते हैं। राज्यों की आन्तरिक आर्थिक व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा या मुकाबले (कम्पिटीशन) की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। सारा व्यावसायिक जीवन कुछ थोड़े से लोगों के हाथ में आ जाता है, और वे मनमाने तरीके से काम कर सकते है, विशेषतया उस दशा में, जबकि राज्य उनकी स्वच्छन्दता में किसी प्रकार का नियन्त्रण न रखता हो, और 'खुली आजादी' के उसूल का अनुसरण करता हो। इस दशा में राज्यों के आन्तरिक मुकाबले का तो अन्त हो जाता है, पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मुकाबला जारी रहता है। राष्ट्रसंघ ने राजनीतिक क्षेत्र में तो विविध राज्यों में परस्पर सहयोग के लिये प्रयत्न किया, पर आर्थिक क्षेत्र में सहयोग की किसी प्रकार की कोशिश उस द्वारा नहीं की गई। परिणाम यह हुआ, कि प्रत्येक देश स्वतन्त्र रूप से अपनी आर्थिक उन्नति के लिये तत्पर रहा। दूसरे देशों का माल अपने व्यवसायों को नुकसान न पहुंचाये, इसके लिये संरक्षण-कर लगाये गये। दूसरे देशों में अपना माल सस्ता बिक सके, इसके लिये मुद्रा का प्रसार किया गया, या कारखानों को आर्थिक मदद दी गई, ताकि वे अपना माल लागत से भी कम खर्च पर बेचकर दूसरे देशों का मुकाबला कर सकें। इन सब बातों से खुले विदेशी व्यापार में अनेक बाधायें उपस्थित हुईं, और एक देश से दूसरे देश में माल का आना-जाना रुक गया। आर्थिक दृष्टि से यह बात उचित नहीं थी। इस दशा को ठीक करने के दो ही उपाय थे, या तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में परस्पर सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता और या देशों के आन्तरिक कारोबार को इस तरह सरकार की ओर से नियन्त्रित किया जाता, जिससे आर्थिक उत्पत्ति देश की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर होती और थोड़े-से पूंजीपतियों को मनमानी करने का अवसर न मिलता। पर ये दोनों ही बातें नहीं की गईं।

(२) महायुद्ध के बाद संसार का बहुत अधिक सोना दो देशों में एकत्र होने लगा, अमेरिका और फ्रांस में। लड़ाई के समय में अमेरिका को व्यावसायिक उन्नति का अपूर्व अवसर हाथ लगा था। पहले सालों में वह लड़ाई में शामिल नहीं हुआ, पर अपना माल और अस्त्र-शस्त्र आदि युद्ध-सामग्री मित्रराष्ट्रों को

देता रहा। जब वह लड़ाई में शामिल हो गया, तो भी युद्ध के क्षेत्र से बहुत दूर रहा। लड़ाई का कोई ध्वंसकारी असर उस पर नहीं पड़ा। उसके कल-कारखाने पूरे जोर के साथ काम करते रहे, और वह अन्य देशों को बहुत बड़ी मात्रा में माल देता रहा। अन्य देश उसके कर्जदार होते गये। इस कर्ज की मात्रा बहुत अधिक थी। मित्रराष्ट्रों को जो कर्ज अमेरिका को अदा करना था, वह ३००० करोड़ रुपये से भी अधिक था। इस सारे कर्ज को अन्य राज्य अदा नहीं कर सके। बाद में इसका बड़ा अंश रद्द कर दिया गया। पर १९३१ तक कर्ज की अदायगी से जो धन अमेरिका पहुंचा, उसकी मात्रा भी पर्याप्त थी। यह धन माल की शकल में अमेरिका को नहीं दिया जा सकता था, क्योंकि अमेरिकन व्यवसायों का मुकाबला कर सकना अन्य देशों के लिये सुगम नहीं था। जर्मनी और जापान के सस्ते माल से अपने देश के व्यवसायों की रक्षा करने के लिये अमेरिका ने भी आयात-करों का आश्रय लिया था। यह रकम अमेरिका ने सोने के रूप में ही प्राप्त की थी। फ्रांस ने लड़ाई में बहुत नुकसान उठाया था, पर जर्मनी से जो कुछ भी हरजाना वसूल हो सका, उसका आधे से अधिक भाग फ्रांस ने ही प्राप्त किया। यही कारण है, कि संसार भर का सोना खिच-खिचकर अमेरिका और फ्रांस के पास एकत्र हो गया था। अनुमान किया गया है, कि १९३० के अन्त में रूस के अतिरिक्त संसार के अन्य सब देशों में जितना भी कुल सोना था, उसका ६० फी सदी अमेरिका और फ्रांस के पास था। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है, कि अन्य सब देशों के पास सोने की बहुत कमी थी। सोना मुद्रा-पद्धति का आधार होता है, और कीमतें उसी से मापी जाती हैं। सोने के कम होने का मतलब यह था, कि सिक्के की कीमत बढ़ जाय, और अन्य सब माल की कीमतें गिर जायं। १९२९ में संसार में जो आर्थिक संकट उपस्थित हुआ, उसका एक बड़ा कारण सोने और सिक्के की यह कमी भी थी।

(३) डावस-योजना के बाद जर्मनी को और देशों से कर्ज लेने का अवसर दिया गया था। अनुमान किया गया है, कि डावस-योजना के स्वीकृत होने के बाद पांच सालों में जर्मनी ने १३५० करोड़ रुपया विदेशों से कर्ज में प्राप्त किया था। इसका बड़ा हिस्सा अमेरिका द्वारा दिया गया था। न केवल जर्मन सरकार अपितु जर्मन म्यूनिसिपैलिटियों, कम्पनियों और बैंकों ने भी इस अवसर से लाभ उठाकर विदेशों से कर्ज लिया था। इस कर्ज के कारण जर्मनी में पूंजी व सिक्के की कोई कमी नहीं रह गई थी। जर्मनी के व्यवसाय और व्यापार में एक तरह की

समृद्धि इस पूंजी से पैदा हो गई थी। इन पांच सालों में १३५० करोड़ रुपया जर्मनी ने अन्य देशों से प्राप्त किया, और केवल ६०० करोड़ रुपया हरजाने के तौर पर मित्रराष्ट्रों को अदा किया। ७५० करोड़ की उसे बचत रही। पर १९२९ में अमेरिका ने फैसला किया, कि जर्मनी को अब भविष्य में कोई कर्ज न दिया जाय। इस नीति-परिवर्तन के कई कारण थे। अमेरिका को अपने पहले कर्जों को वसूल करने में दिक्कतें पेश आ रही थीं। यूरोप के विभिन्न देशों में राजनीतिक परिस्थिति ऐसी थी, कि उनकी साख पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता था। इस समय तक कीमतें गिरनी शुरू हो गई थीं, सब जगह सिक्के की कमी अनुभव होने लगी थी। अमेरिका को स्वयं इस बात की आवश्यकता थी, कि अपने व्यवसायों की रक्षा के लिये संरक्षण-नीति का अवलम्बन करे। इस दशा में यह कैसे सम्भव था, कि वह यूरोप के विभिन्न राज्यों को कर्जा देता रहे। अमेरिका के इस नीति परिवर्तन का परिणाम जर्मनी के लिये बड़ा भयंकर हुआ। वहां की आर्थिक व्यवस्था एकदम छिन्न-भिन्न हो गई। सिक्के व पूंजी में एकदम कमी आ गई। सरकार को अपना बजट पूरा करना मुश्किल हो गया। उसके बजट में ९० करोड़ रुपये का घाटा रहा। हरजाने की जो सालाना किस्त उसे अदा करनी थी, वह १५० करोड़ थी। विदेशी कर्ज पर जो सूद उसे देना था, वह भी १०० करोड़ से ऊपर था। इतनी भारी रकमों का इन्तजाम वह कहां से करता? जर्मनी में घोर आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। सिक्के की कमी से कीमतें बुरी तरह गिरने लगीं। कारखानों में घाटा होने लगा। १९२९ से पहले जर्मनी से जो माल बाहर जाता था, उसकी कीमत ९०० करोड़ रुपये से अधिक थी। आर्थिक संकट के परिणामस्वरूप १९३२ में जर्मनी के निर्यात-माल की कीमत ४०० करोड़ रुपया रह गई। इस दशा में बहुत से कारोबारों का बन्द हो जाना बिलकुल स्वाभाविक था। १९३२ में जर्मनी में बेकारों की संख्या ६० लाख तक पहुंच गई थी। इस भयंकर बेकारी की समस्या का हल किस प्रकार किया जाय, जर्मन सरकार के सम्मुख यह जटिल प्रश्न था। जर्मनी के समान अन्य देशों में भी बेकारी की समस्या विकट रूप धारण कर रही थी।

(४) इस स्थिति को संभालने का एक इलाज यह हो सकता था, कि आर्थिक क्षेत्र में भी संसार के विविध राज्य परस्पर सहयोग से काम करते। फ्रांस के विदेशमन्त्री श्री ब्रियां ने इस समय यह विचार पेश किया, कि यूरोप के सब राज्यों को मिलकर एक संघ बना लेना चाहिये। यह संघ न केवल राजनीतिक जीवन को नियन्त्रित करे, अपितु आर्थिक जीवन पर भी निरीक्षण रखे। इसमें सन्देह

नहीं, कि इस समय संसार की जो आर्थिक दशा थी, उसमें यह आवश्यक था, कि श्रम विभाग के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जाय। कौन देश क्या माल उत्पन्न करे, उसकी मात्रा कितनी हो और उसका किस आधार पर विनिमय किया जाय—यह सब यदि एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ द्वारा निश्चय हो सकता, तो यह आर्थिक संकट उपस्थित न होता। पर इस समय अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की तो बात ही क्या, राष्ट्रीय क्षेत्र में भी राजकीय नियन्त्रण का अभाव था। पूंजीपति लोग मनमानी कर रहे थे, और उनके हितों की रक्षा के लिये सरकारें संरक्षण-नीति का अनुसरण कर रही थीं। ब्रियां की बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया, और यूरोपियन संघ की बात एक स्वप्न ही रह गई।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का इस समय इतना अभाव था, कि जब यूरोप में लाखों आदमी बेकार थे, अमेरिका ने अपने देश में आकर बसनेवाले लोगों के मार्ग में बाधा उपस्थित कर दी। १९०१ से १९१० तक दस सालों में ९० लाख के लगभग आदमी यूरोप से अमेरिका में बसने के लिये गये थे। अगले दस सालों में (१९२० तक) इस तरह से अमेरिका में बसनेवाले लोगों की संख्या ६० लाख थी। १९२१ के बाद यह संख्या निरन्तर घटती गई। अमेरिकन सरकार ने अनेक कानून पास किये, जिनसे अमेरिका जाकर बसनेवालों की संख्या १,५०,००० वार्षिक नियत कर दी गई। परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी, इटली आदि से बहुत कम लोग अमेरिका जा सके। यदि यह कानून न बने होते, तो यूरोप के लाखों बेकार इस समय अमेरिका चले जाते। इससे दो लाभ होते—(क) अमेरिका के कारखाने जो माल बहुत बड़ी मात्रा में तैयार कर रहे थे, उसके खरीदार उन्हें वहीं मिल जाते, और वहां आर्थिक संकट बहुत उग्र रूप धारण न कर पाता। (ख) यूरोप में बेकारों की संख्या कम हो जाती। वहां न केवल आर्थिक संकट कम उग्र होता, अपितु इटली आदि में उपनिवेशों की स्थापना के लिये जो घोर बेचैनी पैदा हो रही थी, वह भी न होती। इन लाखों बेकार आदमियों को काम चाहिये था। यूरोप के देश सोचते थे, इसका सबसे अच्छा उपाय यह है, कि हमारे अपने उपनिवेश हों। वहां न केवल हमारे बेकार आदमी बस सकते हैं, अपितु अपनी व्यावसायिक पैदावार के लिये बाजार भी मिल सकता है।

(६) अमेरिका में सिक्के व सोने की कोई कमी नहीं थी। वहां तो इनकी अत्यधिक प्रचुरता थी। अमेरिका के सरकारी खजाने व बैंक सोने से भरपूर थे। वहां सिक्के की कीमत बढ़ने का कोई प्रश्न नहीं था। पर महायुद्ध के समय में अमेरिका की उत्पादन-क्षमता में जो असाधारण वृद्धि हुई थी, उससे तैयार हुए

माल को खपाया कहां जाय, यह सवाल बड़ा विकट था। यह सब माल अमेरिका में नहीं खप सकता था, क्योंकि वह उसकी जरूरतों से बहुत अधिक था। इसे दूसरे देशों में ही खपाया जा सकता था। पर और देशों के पास इसे खरीदने के लिये सिक्का होना चाहिये था। वह सिक्का उनके पास था नहीं। वे अमेरिका के माल को खरीदते, तो किस प्रकार? साथ ही, राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर अन्य सब देश अपनी व्यावसायिक पैदावार को बढ़ाने में तत्पर थे। अपने व्यवसायों की रक्षा के लिये वे संरक्षण-नीति का अवलम्बन कर रहे थे। इस दशा में अमेरिका के माल की खपत मुश्किल हो गई। वहां आर्थिक संकट उपस्थित हुआ, सिक्के की कमी से नहीं, अपितु माल की अधिकता से। चीजों की कीमतें गिरने लगीं। १९२९ में अमेरिका में विविध चीजों की कीमतें आधी रह गई थीं। कारखानों को जबर्दस्त घाटे का सामना करना पड़ा। शेयर बाजार में कीमतें गिरने लग गईं, अच्छे से अच्छे शेयर का मूल्य कायम नहीं रह सका। लोगों को जबर्दस्त नुकसान उठाना पड़ा, और बहुत-सी कम्पनियों व धनिकों का तो दिवाला ही निकल गया। अमेरिका और जर्मनी में जो प्रक्रिया शुरू हुई, अन्य देश भी उससे बचे नहीं रहे। ब्रिटेन पर इस आर्थिक संकट का क्या प्रभाव पड़ा, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि १९३२ में वहां बेकारों की संख्या ३० लाख के लगभग पहुंच गई थी!

आर्थिक संकट को दूर करने के प्रयत्न—यूरोप के अनेक राजनीतिज्ञ इस प्रश्न पर विचार करने में तत्पर थे, कि विविध राज्य किस प्रकार परस्पर सहयोग द्वारा इस आर्थिक संकट को दूर कर सकते हैं। १९३० की ग्रीष्म-ऋतु में फ्रांस के श्री ब्रियां ने घोषित किया, कि अब वह समय आ गया है, जब कि यूरोप के सब राज्यों को मिलकर अपना एक संघ (युनाइटेड स्टेट्स आफ यूरोप) बना लेना चाहिये, जो न केवल उनके राजनीतिक जीवन को नियन्त्रित करे, अपितु उनमें आर्थिक सहयोग भी स्थापित करे। श्री ब्रियां के इस प्रस्ताव का उल्लेख हम इसी प्रकरण में ऊपर कर चुके हैं। श्री ब्रियां के इस विचार को राष्ट्रसंघ ने एक उपसमिति के सुपुर्द कर दिया, पर उसका कोई परिणाम नहीं निकला।

पर श्री ब्रियां के प्रस्ताव से निर्देश लेकर जर्मनी ने यह योजना बनाई, कि आस्ट्रिया के साथ मिलकर वह एक आर्थिक संघ बना ले, जिसमें ये दोनों राज्य राजनीतिक दृष्टि से पृथक् सत्ता रखते हुए भी एक आर्थिक नीति का अनुसरण कर सकें। दोनों राज्य अपने पारस्परिक व्यापार में रियायती आयात-कर की नीति को अपनावें, और पड़ोस के अन्य राज्यों को भी इस आर्थिक संघ में सम्मि-

लित हो जाने के लिये निमन्त्रित करें। चेकोस्लोवाकिया इस संघ में शामिल होने को तैयार था, क्योंकि उसका विदेशी व्यापार मुख्यतया जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ ही था। डैन्यूब के तटवर्ती अन्य राज्य भी इस संघ में सम्मिलित होना अपने लिये हितकर समझते थे, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से वे जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे। पर फ्रांस ने जर्मन आर्थिक संघ की योजना का घोर विरोध किया, क्योंकि इससे उसे यह नजर आता था, कि जर्मनी अपने राजनीतिक उत्कर्ष के लिये मैदान तैयार कर रहा है। फ्रांस के विरोध के कारण जर्मन आर्थिक संघ का विचार क्रिया में परिणत नहीं हो सका। इससे जर्मनी में बहुत असन्तोष हुआ, और नाजी पार्टी के विकसित होने और जनता में उसके प्रभाव की वृद्धि होने में इससे बहुत सहायता मिली।

जून, १९३१ में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने यूरोप के आर्थिक संकट को दूर करने के लिये यह प्रस्ताव किया, कि (१) १ जुलाई, १९३१ से ३० जून, १९३२ तक अन्तर्राष्ट्रीय देनदारी की सब किस्तों की अदायगी को स्थगित रखा जाय। (२) इस एक साल में जर्मनी से भी हरजाने की वार्षिक किस्त वसूल न की जाय। (३) वार्षिक किस्त का जो अंश यंग-योजना के अनुसार जर्मनी को अनिवार्य रूप से प्रदान करना है, उसे भी 'बैंक आफ इन्टरनेशनल सेटलमेन्ट्स' जर्मनी में ही लगा दे। पर जर्मन सरकार इस रुपये को आर्थिक प्रयोजनों के लिये ही प्रयुक्त करे, सैनिक कार्यों में नहीं। राष्ट्रपति हूवर के प्रस्ताव द्वारा आर्थिक संकट को दूर होने में कुछ सहायता अवश्य मिलती थी, पर उससे समस्या का पूर्ण रूप से हल हो सकना सम्भव नहीं था। अतः राष्ट्रसंघ द्वारा यह निश्चय किया गया, कि संसार के सब राज्यों का एक विश्व-सम्मेलन लण्डन में बुलाया जाय, जिसमें आर्थिक संकट को दूर करने के उपायों पर सब राज्य परस्पर मिलकर विचार करें।

लण्डन कान्फरेन्स—यह सम्मेलन १९३३ में लण्डन में हुआ, और इसमें ६४ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। सम्मेलन के प्रारम्भ होने के समय विविध राज्यों में आर्थिक संकट ने कितना उग्र रूप धारण कर लिया था, इसका अनुमान राष्ट्रसंघ द्वारा तैयार की गई उस रिपोर्ट से भलीभांति किया जा सकता है, जो सम्मेलन के प्रतिनिधियों के सम्मुख उपस्थित की गई थी। इस रिपोर्ट की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) संसार के विविध राज्यों में बेकार मजदूरों की संख्या कम से कम ३,००,००,००० है। इसमें मजदूरों के परिवारों के सदस्यों की संख्या शामिल नहीं की गई थी। (२) दुनिया के बाजारों में कच्चे माल की कीमत में

५० से ६० प्रतिशत तक की कमी आ गई है। १९२९ में कच्चे माल की जो कीमतें थीं, १९३२ तक वे ५० से ६० प्रतिशत तक घट गई थीं। तैयार माल की कीमतों में भी प्रायः इतनी ही कमी हो गई थी। (३) कारखानों में इतना तैयार माल एकत्र हो गया था, कि उसे बेच सकना सम्भव नहीं रहा था। इसीलिये बहुत से कारखाने बन्द हो गये थे, और बहुत-से ऐसी दशा में थे, कि वे बहुत थोड़ा उत्पादन-कार्य कर रहे थे। (४) विविध देशों की मुद्रा-पद्धतियों के अस्त-व्यस्त हो जाने और अनेक राज्यों द्वारा संरक्षण-कर की नीति को अपना लेने के कारण विदेशी व्यापार की मात्रा में भारी कमी हो गई थी। १९२९ के मुकाबले में विदेशी व्यापार १९३२ में एक तिहाई रह गया था। (५) माल की कीमतें गिरने से उत्पादकों को भारी नुकसान पहुंच रहा था, और इस कारण सरकारी आमदनी भी बहुत घट गई थी। विविध राज्यों के लिये अपने बजट को सन्तुलित रख सकना सम्भव नहीं रहा था, क्योंकि आमदनी के घटने के साथ-साथ खर्च में कमी कर सकना सम्भव नहीं था। (६) संसार के बहुसंख्यक राज्यों ने अपनी मुद्रा-पद्धति का सुवर्ण से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया था, ताकि वे अपने खर्च को मुद्रा-प्रसार द्वारा पूरा कर सकें। जिन राज्यों ने अभी तक अपनी मुद्रापद्धति को सुवर्ण पर आश्रित भी रखा हुआ था, उनमें भी बहुसंख्यक राज्यों ने विदेशी विनिमय को सरकार द्वारा नियन्त्रित करने की व्यवस्था की हुई थी। (७) अन्तर्राष्ट्रीय देनदारी की समस्या ने विविध राज्यों की सरकारों को परेशान कर रखा था। अनेक राज्य तो ऐसे भी थे, जिनके निर्यात माल की कीमत उस रकम से भी कम बैठती थी, जिसे उन्हें प्रतिवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय देनदारी की किस्त के रूप में अदा करना होता था।

लण्डन-कान्फरेन्स में यह विचार किया गया, कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से किस प्रकार आर्थिक संकट का मुकाबला किया जा सकता है। सम्मेलन के सामने यह विचार पेश किये गये—(१) विदेशी व्यापार के क्षेत्र में संरक्षण-नीति का अन्त कर परस्पर सहयोग की नीति को प्रारम्भ किया जाय, ताकि विविध देशों के माल को सुगमता से खपाया जा सके। (२) सिक्के की कमी को दूर करने के लिये विविध राज्य मुद्रा-प्रसार की नीति का अनुसरण करें, ताकि कीमतें ऊंची उठ सकें, और कारखानों के नुकसान का अन्त होने से बेकारी की भी समाप्ति की जा सके। सम्मेलन में दोनों विचारों पर खूब बहस हुई, पर परिणाम कुछ न निकला। लण्डन में एकत्रित ६४ राज्यों के प्रतिनिधि किसी एक नतीजे पर नहीं पहुंच सके। सम्मेलन भंग हो गया।

पर इस समय तक आर्थिक संकट दूर होना प्रारम्भ हो गया था। जर्मनी में नाजी सरकार की स्थापना हो गई थी। हिटलर ने घोषणा कर दी थी, कि जर्मनी को हरजाने की कोई भी रकम अदा नहीं करनी है। अनेक देशों ने मुद्रा-प्रसार की नीति का अवलम्बन कर अपने सिक्के की कीमत को गिरा लिया था। कागज़ की मुद्रा का सोने के साथ कोई सम्बन्ध न रखकर उन्होंने अपने यहां सिक्के की कीमत गिरा दी थी। इससे वस्तुओं की कीमत बढ़ने लगी थी। इतने दिनों तक जो बहुत-से कल-कारखाने बन्द रहे, उसके कारण माल की तादाद भी अब कम रह गई थी। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि आर्थिक संकट की उग्रता कम होने लगी, और कुछ समय बाद जब नाजी और फैसिस्ट पार्टियों के विकास से यूरोप में युद्ध के बादल फिर मंडराने लगे, तो विविध राज्यों की ताकत अस्त्र-शस्त्र की वृद्धि और अन्य युद्ध-सामग्री के उत्पादन में लग गई। सेनाओं की संख्या भी बढ़ाई जाने लगी। अब कल-कारखानों के पास बहुत काम हो गया, और बेकारी भी दूर हो गई।

उन्नीसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या

१. राष्ट्रसंघ की निर्बलता

महायुद्ध में धन और जन का विनाश इतना अधिक हुआ था, कि विविध राज्यों की सरकारों को यह आवश्यक प्रतीत होता था, कि युद्धों का अन्त कर, चिर शान्ति की स्थापना का उद्योग किया जाय। राष्ट्रसंघ का संगठन इसी उद्देश्य से किया गया था। महायुद्ध के बाद यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रसंघ का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। कुछ समय के लिये मानव-समाज ने परस्पर विचार विनिमय और आपस के सहयोग से अपने झगड़ों को निबटाने का गम्भीरता के साथ प्रयत्न किया। इस उद्देश्य में उसे पूरी तरह सफलता नहीं हो सकी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि महायुद्ध के बाद की यूरोपियन राजनीति को भलीभाँति समझने के लिये राष्ट्रसंघ के इन कार्यों व प्रयत्नों पर प्रकाश डालना बहुत उपयोगी है।

युद्धों को रोकने के लिये राष्ट्रसंघ ने यह व्यवस्था की थी, कि जब विभिन्न राज्यों में किसी प्रश्न पर झगड़ा हो, तो उसे संघ की कौंसिल के सम्मुख उपस्थित किया जाय। झगड़े को कौंसिल की तरफ से निष्पक्ष पंचायत के सामने पेश किया जाय, और यह पंचायती फैसला दोनों पक्षों को मान्य हो। जिस मामले का फैसला पंचायती तरीके से न हो सके, उस पर कौंसिल स्वयं विचार करे। यदि कौंसिल सर्वसम्मति से कोई निर्णय करे, तो उसे मानना दोनों पक्षों के लिये आवश्यक हो। यदि कोई राज्य कौंसिल के इस सर्वसम्मत निर्णय के खिलाफ लड़ाई शुरू करे, तो यह समझा जाय, कि उसने राष्ट्रसंघ के सब सदस्य-राज्यों के विरुद्ध लड़ाई प्रारम्भ की है। ऐसे समय में उस 'विद्रोही' राज्य को काबू करने के लिये राष्ट्रसंघ के पास ये उपाय थे—(१) उस विद्रोही राज्य के साथ जो भी आर्थिक या व्यापारिक सम्बन्ध अन्य राज्यों के हों, उन्हें भंग कर दिया जाय। न उसके साथ व्यापार किया जाय, न उसे कोई कर्ज दिया जाय, और न उसे कोई भी माल दिया जाय। (२) यदि इतने से भी काम न चले, तो कौंसिल का यह कर्तव्य हो,

कि वह उस विद्रोही राज्य के खिलाफ सैनिक कार्रवाई करे, और इस बात की योजना तैयार करे, कि राष्ट्रसंघ में सम्मिलित विविध राज्य किस प्रकार इस सैनिक कार्रवाई में हाथ बंटा सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं, कि छोटे राज्यों के आपसी झगड़ों को निबटाने में राष्ट्रसंघ ने बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया। इनमें से कुछ का उल्लेख उपयोगी है। (१) बाल्टिक सागर में आलण्ड नाम के द्वीप हैं, उन पर किसका प्रभुत्व हो, इस सम्बन्ध में स्वीडन और फिनलैण्ड में झगड़ा हुआ। १९२० में यह मामला राष्ट्रसंघ के सम्मुख पेश हुआ, और उसकी कौंसिल ने अपना फैसला फिनलैण्ड के पक्ष में दिया। इसे दोनों पक्षों ने स्वीकार कर लिया। (२) अपर साइलीसिया का प्रदेश पोलैण्ड को मिले या जर्मनी को, यह मामला १९२१ में राष्ट्रसंघ के सामने पेश हुआ। कौंसिल ने इस बारे में समझौता करा दिया, और अपर साइलीसिया के क्षेत्र में जर्मनी और पोलैण्ड की सीमा तय कर दी। (३) १९२५ में ग्रीस ने बल्गेरिया के ऊपर हमला किया। इस हमले का कारण सीमा सम्बन्धी कुछ झगड़े थे। राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने इस पर अपना रोष प्रगट किया, और ग्रीस को आर्थिक बहिष्कार की धमकी दी। इस पर ग्रीस ने युद्ध बन्द कर दिया, और बल्गेरिया पर हमला करनेवाली सेनाओं को वापस बुला लिया। (४) १९३२ में कोलम्बिया और पेरू (अमेरिका में) में झगड़ा हुआ। पेरू की सेनाओं ने कोलम्बिया की सीमा पर विद्यमान एक नगर पर कब्जा कर लिया। राष्ट्रसंघ ने इस मामले में हस्तक्षेप किया। वह नगर कोलम्बिया को वापस दिला दिया गया, और पेरू ने अपनी अनुचित हरकत के लिये बाकायदा क्षमा मांग ली। इस प्रकार राष्ट्रसंघ ने विविध राज्यों के आपसी झगड़ों को निबटाने के सम्बन्ध में उपयोगी कार्य किया।

पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इन झगड़ों में दोनों पक्षों के राज्य छोटे-छोटे थे। उनका यह साहस नहीं हो सकता था, कि वे राष्ट्रसंघ का विरोध कर सकें। यदि राष्ट्रसंघ बड़े राज्यों के आपसी झगड़ों को भी इसी तरह से निबटा सकता, तो अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या सदा के लिये हल हो जाती। राज्यों को लड़ने की आवश्यकता न रहती, और संसार के इतिहास में एक नवयुग का प्रारम्भ हो जाता। पर जब कभी बड़े शक्तिशाली राज्यों में किसी सवाल पर झगड़ा हुआ, तो राष्ट्रसंघ ने अपने को असहाय पाया। १९२३ में पोलैण्ड ने लिथुएनिया के प्रसिद्ध नगर विल्ना पर कब्जा कर लिया। लिथुएनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की। पर फ्रांस पोलैण्ड की पीठ पर था। ब्रिटेन और इटली भी उसके खिलाफ कोई

कार्रवाई नहीं करना चाहते थे। लिथुएनिया को मन मारकर चुप रह जाना पड़ा, और पोलैण्ड ने विल्ना पर अपना कब्जा कायम रखा। १९२३ में फिर इटली और ग्रीस में झगड़ा हो गया। अल्बेनिया और ग्रीस की सीमा को निश्चित करने के लिये एक कमीशन काम कर रहा था, जिसके कतिपय सदस्य इटालियन थे। कुछ ग्रीक क्रान्तिकारियों ने इनकी हत्या कर दी। इस पर इटली ने कोर्फू के टापू पर हमला कर दिया, और ग्रीक सरकार को हरजाने की एक बड़ी रकम अदा करने के लिये विवश किया। ग्रीस ने राष्ट्रसंघ से अपील की। पर इस मामले में इटली राष्ट्रसंघ की कोई भी बात सुनने के लिये तैयार नहीं था। उसका कहना था, कि यह इटली की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का प्रश्न है। आखिर फ्रांस और ब्रिटेन ने बीच में पड़कर समझौता कराया। इटली ने फ्रांस और ब्रिटेन के बीच-बचाव को इसलिये मान लिया, क्योंकि वे उसके समकक्ष राज्य थे, और उनके साथ उसका मैत्री-सम्बन्ध था। पर राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप को सहने के लिये वह किसी भी तरह तैयार नहीं था।

मंचूरिया का प्रदेश चीन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें जापान के पूंजीपतियों ने बहुत-सा रुपया लगा रखा था। जापान चाहता था, कि यह प्रदेश उसके प्रभाव में रहे। पर चीन में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो रही थी, और चीनी लोग यह नहीं चाहते थे, कि जापान किसी भी तरह उनके प्रदेश में हस्तक्षेप करे। यह झगड़ा इतना बढ़ा, कि १९३१ में जापानी सेनाओं ने मंचूरिया पर हमला कर दिया और उसकी राजधानी मुकदन पर अपना कब्जा कर लिया। इस पर चीन ने राष्ट्रसंघ से अपील की। राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने जांच के लिये एक कमीशन भेजा, और जापान को यह आदेश दिया, कि वह अपनी सेनायें मंचूरिया से वापस बुला ले। जापान ने राष्ट्रसंघ के आदेश पर कोई ध्यान नहीं दिया। मंचूरिया को जीत कर उसे चीन से अलग कर दिया गया, और मंचूकुओ के नाम से उसे एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित किया गया। यह राज्य नाम को तो स्वतन्त्र था, पर असल में जापान के अधीन था। राष्ट्रसंघ ने अपने सदस्य-राज्यों को यह आदेश दिया, कि मंचूकुओ की सत्ता को स्वीकार न करें। इस पर जापान राष्ट्रसंघ से अलग हो गया। यदि राष्ट्रसंघ अपने उद्देश्यों को पूर्ण करने का उद्योग करता, तो उसे पहले जापान का आर्थिक बहिष्कार करना चाहिये था, और यदि बहिष्कार से जापान काबू न आता, तो उसके खिलाफ सैनिक कार्रवाई की व्यवस्था करनी थी। पर राष्ट्रसंघ जापान जैसे शक्तिशाली देश के विरुद्ध कदम उठाने में संकोच करता था। असली बात तो यह है, कि बड़े राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र

में अकेले राष्ट्रसंघ पर निर्भर नहीं रहना चाहते थे। वे राष्ट्रसंघ की उपेक्षा कर आपस में मैत्री व गुप्त सन्धियां स्थापित करने में तत्पर थे। इसी कारण बड़े अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निबटाने में राष्ट्रसंघ सर्वथा असहाय रहता था। १९२८ में पेरेगुए और बोलिविया में लड़ाई हो गई। दोनों राज्य राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। लड़ाई में दोष पेरेगुए का था। जब राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने उससे जवाब तलब किया, तो जापान के समान वह भी संघ से पृथक् हो गया।

१९३५ में इटली ने अबीसीनिया पर हमला किया। दोनों राज्य राष्ट्र-संघ के सदस्य थे। इधर संघ की कौंसिल में इसी बात पर बहस हो रही थी, कि इस समस्या का हल किस प्रकार किया जाय, उधर इटली ने अबीसीनिया को खतम भी कर दिया। ये सब बातें स्पष्ट करती हैं, कि राष्ट्रसंघ युद्धों को रोक कर चिर शान्ति की स्थापना के अपने उद्देश्य में सर्वथा असफल रहा। कोई राज्य केवल राष्ट्रसंघ के भरोसे अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में निश्चिन्त नहीं रह सकता था। राष्ट्रसंघ की यह निर्बलता १९२३ में ही प्रगट होनी शुरू हो गई थी, जब कि पोलैण्ड और लिथुएनिया के झगड़े को निबटाने में वह असफल रहा था। साथ ही, राष्ट्र-संघ ने विविध राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को निबटाने के सम्बन्ध में जो व्यव-स्थायें की थीं, फ्रांस आदि देश उन्हें अपर्याप्त समझते थे। राष्ट्रसंघ के रूप में संसार ने अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कदम अवश्य उठाया था, पर किसी राज्य को पूर्णतया यह भरोसा नहीं था, कि वह केवल राष्ट्रसंघ पर आश्रित रहकर अपनी सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध कर सकता है। यही कारण है, कि यूरोप के विविध राज्य अपनी सुरक्षा के लिये अन्य उपायों की ढूंढ़ में तत्पर थे।

राष्ट्रसंघ की इस निर्बलता और असफलता का एक मुख्य कारण यह था, कि संयुक्तराज्य अमेरिका शुरू से ही उसमें सम्मिलित नहीं हुआ था। राष्ट्रसंघ की स्थापना का प्रधान श्रेय अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन को था। महायुद्ध में शामिल होते हुए जिन चौदह सिद्धान्तों का उन्होंने प्रतिपादन किया था, राष्ट्रसंघ की स्थापना उनमें अन्तर्गत थी। पेरिस की शान्ति-परिषद् में विलसन ने प्रमुख भाग लिया था, और राष्ट्रसंघ के विधान को तैयार करने में उसका बड़ा हाथ था। पर अमेरिका की जनता ने उसके कार्य को पसन्द नहीं किया। अमेरिका में दो बड़े राजनीतिक दल हैं—डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन। विलसन डेमोक्रेटिक पार्टी का नेता था। रिपब्लिकन पार्टी विलसन की नीति पर भयंकर रूप से आक्षेप करने में लगी थी। उसका कहना था, कि वर्साय की सन्धि उन चौदह सिद्धान्तों के विपरीत है, जिनके लिये अमेरिका लड़ाई में शामिल हुआ था। विलसन यूरोप

की कूटनीति के सम्मुख झुक गया है, और इसी का यह परिणाम हुआ है, कि वर्साय की सन्धि न्याय और औचित्य के सब सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। विल्सन के विरोधी यह भी कहते थे, कि राष्ट्रसंघ में शामिल होने का मतलब है, यूरोप के आन्तरिक झगड़ों में फंसना, और उनके लिये अमेरिका के धन और जन का विनाश करना। यूरोप के लोग तो साम्राज्यवाद के झगड़े में पड़े हैं। ब्रिटेन और फ्रांस ने महायुद्ध के बाद नये प्रदेशों को प्राप्त कर लिया है। क्या अमेरिका के धन-जन का प्रयोग इसी प्रकार के साम्राज्य-विस्तार के लिये किया जाना उचित है? अमेरिका को यूरोप के झगड़ों से अलग रहना चाहिये, और राष्ट्रसंघ में सम्मिलित नहीं होना चाहिये।

दो साल तक यह झगड़ा जारी रहा। अमेरिका की सीनेट में रिपब्लिकन दल का बहुमत था। अमेरिका के शासन-विधान के अनुसार सब विदेशी सन्धियों व समझौतों का सीनेट द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक है। सीनेट राष्ट्रसंघ के विधान और वर्साय की सन्धि को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं होती थी। वह उसमें संशोधन करना चाहती थी, और ये संशोधन विल्सन को स्वीकार्य नहीं थे।

नवम्बर, १९२० में अमेरिका में राष्ट्रपति का नया निर्वाचन हुआ। इसमें रिपब्लिकन दल की विजय हुई, और उसका उम्मीदवार वारेन हार्डिंग राष्ट्रपति-पद पर निर्वाचित हुआ। रिपब्लिकन दल की यह नीति थी, कि राष्ट्रसंघ में शामिल न हुआ जाय। मार्च, १९२१ में कांग्रेस के सम्मुख भाषण देते हुए हार्डिंग ने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी, कि अमेरिका राष्ट्रसंघ से पृथक् रहेगा।

अमेरिका संसार के सबसे शक्तिशाली राज्यों में से एक है। महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय का प्रधान कारण अमेरिका का उनके पक्ष में शामिल हो जाना ही था। यदि वह राष्ट्रसंघ में भी शामिल रहता, और अपनी शक्ति व प्रभाव का प्रयोग यूरोप के आपसी झगड़ों को निबटाने में करता, तो सम्भवतः राष्ट्र-संघ अपने उद्देश्यों में सफल हो सकता। पर रिपब्लिकन पार्टी की विजय से अमेरिका राष्ट्रसंघ से पृथक् रहा, और अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में मानव-समाज का यह पहला महत्त्वपूर्ण प्रयास यथोचित बल नहीं प्राप्त कर सका। रूस भी १९३४ तक राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बना। वहां की कम्युनिस्ट व्यवस्था यूरोप के अन्य देशों को पसन्द नहीं थी। उन्होंने रूस का बहिष्कार किया हुआ था। रूस का राष्ट्रसंघ से बाहर रहना इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की बड़ी भारी कमजोरी थी। फिर राष्ट्र-संघ के पास कोई ऐसा उपाय नहीं था, जिससे वह राज्यों को अपनी बात मनवाने

के लिए विवश कर सके। राज्यों के लिये यह बहुत सुगम था, कि वे मतभेद होने पर राष्ट्रसंघ का परित्याग कर दें। जापान, इटली और जर्मनी इसी तरह संघ से पृथक् हो गये। इस दशा में यह बिल्कुल स्वाभाविक था, कि यूरोप के विविध राज्य अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में अकेले राष्ट्रसंघ पर निर्भर न रहें।

२. सुरक्षा के साधनों की खोज

महायुद्ध में सबसे अधिक नुकसान फ्रांस को हुआ था। लड़ाई मुख्यतया उसी के प्रदेश में लड़ी गई थी। उसके कल-कारखाने, खानें, इमारतें और खेतीयोग्य जमीनें—सब जर्मनी के आक्रमणों का शिकार हुए थे। फ्रांस को फिकर यह थी, कि ऐसे कौन-से उपाय किये जायं, जिनसे भविष्य में उसे इस तरह के संकट का सामना न करना पड़े। उसे यह भय था, कि जर्मनी फिर उस पर हमला कर सकता है। इसके लिये वह यह आवश्यक समझता था, कि (१) जर्मनी को इतना कमजोर कर दिया जाय, कि वह फिर कभी फ्रांस पर हमला करने का साहस न कर सके। यह तभी सम्भव था, जब जर्मनी अपनी सेना न बढ़ा सके। उसके अस्त्र-शस्त्र एक निश्चित सीमा तक सीमित रहें, और वह अपनी दक्षिणी सीमा पर किलाबन्दी न कर सके। इसी उद्देश्य से फ्रांस ने र्‌हाइनलैण्ड पर मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का कब्जा करवाया था, और यह स्वीकृत कराया था, कि जब र्‌हाइनलैण्ड से विदेशी सेनाएं वापस भी आ जावें, तब भी जर्मनी इस प्रदेश में कोई किलाबन्दी न कर सके। (२) राष्ट्रसंघ के पास अपनी सेना रहे, ताकि यदि कोई राज्य उसके निर्णय के खिलाफ लड़ाई के लिये उतारू हो, तो राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय सेना उसे काबू में ला सके। विल्सन और लायड जार्ज इससे सहमत नहीं हुए। इस पर फ्रांस ने यह पेश किया, कि अमेरिका और ब्रिटेन फ्रांस को यह गारन्टी दें, कि यदि कोई अन्य राज्य उस पर हमला करेगा, तो वे उसकी पूरी तरह से सहायता करेंगे, और उसकी राष्ट्रीय सीमाओं की रक्षा के लिये धन और सेना से पूरा-पूरा सहयोग देंगे। ब्रिटेन और अमेरिका इसके लिये तैयार हो गये। समझौते पर पेरिस में बाकायदा हस्ताक्षर भी हो गये। पर अमेरिका का लोकमत राष्ट्रसंघ में शामिल होने के लिये भी तैयार न था। वह यह कैसे स्वीकार कर सकता था, कि फ्रांस की रक्षा के लिये अमेरिका की सेना की सहायता की गारन्टी दे दी जाय। यह सन्धि अमेरिका की सीनेट ने अस्वीकृत कर दी। ब्रिटेन ने भी यह कहकर अपने को पीछे हटा लिया, कि जब अमेरिका ही इस प्रकार की सन्धि के लिये तैयार नहीं है, तो ब्रिटेन का किसी प्रकार की गारन्टी देना व्यर्थ है।

फ्रांस का गुट--अब यह स्पष्ट हो गया था, कि फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिये अमेरिका व ब्रिटेन पर निर्भर नहीं रह सकता। उसके नीतिज्ञों ने दूसरी व्यवस्था शुरू की। यूरोप में जो नये राज्य महायुद्ध के बाद कायम हुए थे, उन सबको यह भय था, कि जर्मनी और आस्ट्रिया फिर प्रबल न हो जायं। उनके लिये सुरक्षा का प्रश्न उतने ही महत्त्व का था, जितना कि फ्रांस के लिये। फ्रांस ने सोचा, कि यूरोप के इन नये व परिवर्तित राज्यों के साथ सैनिक सन्धि करके एक ऐसा गुट बनाया जा सकता है, जो जर्मनी के सम्भावित भय का सामना कर सके, और जिससे यूरोप में फ्रांस की स्थिति मजबूत हो जाय। इसीलिये १९२० में बेल्जियम से, १९२१ में पोलैण्ड से और १९२४ में चेकोस्लोवाकिया के साथ सन्धि की गई। इस बीच में चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया ने मिलकर अपना त्रिगुट बना लिया था, जिसका उद्देश्य ही पारस्परिक सहयोग से आत्मरक्षा करना था। फ्रांस इस त्रिगुट का संरक्षक था। १९२४ में चेको-स्लोवाकिया के साथ सैनिक सन्धि करने के बाद फ्रांस ने १९२६ में रूमानिया से और १९२७ में युगोस्लाविया से भी सैनिक सन्धि की। इन सन्धियों पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

इन सन्धियों से फ्रांस की स्थिति बहुत सुरक्षित हो गई। पर फ्रांस अपनी रक्षा के लिये केवल इन पर ही निर्भर नहीं रह सकता था। इस व्यवस्था में अनेक कमजोरियां थीं। महायुद्ध के बाद स्थापित हुए इन नये राज्यों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। ये अपनी शक्ति को तभी बढ़ा सकते थे, जब आर्थिक दृष्टि से इनकी भरपूर सहायता की जाय। फ्रांस इन्हें कर्ज देने के लिये विवश था। उसकी ओर से बड़ी रकमें इन्हें कर्ज के रूप में दी गईं, ताकि ये राज्य अपने खर्च को चला सकें, और अच्छी शक्तिशाली सेनायें तैयार कर सकें। फ्रांस ने अपने अफसरों को भी इनके पास इसलिये भेजा, ताकि वे इनकी सेनाओं को भलीभांति शिक्षा दे सकें। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि इन राज्यों की सीमायें फ्रांस से नहीं छूती थीं। पूर्वी यूरोप के ये राज्य भौगोलिक दृष्टि से बहुत दूर थे। युद्ध के समय यह सुगम नहीं था, कि इनकी सेनायें फ्रांस की सहायता के लिये एकदम आ सकें। फिर, इन राज्यों की अपनी भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें थीं। अपने पड़ोसी राज्यों से इनके झगड़े बने रहते थे। सैनिक सन्धि द्वारा फ्रांस ने यह भी जिम्मा लिया था, कि इन झगड़ों में वह इन राज्यों का साथ देगा। इस कारण फ्रांस की सैनिक जिम्मेवारियां बहुत बढ़ गई थीं। अपनी सुरक्षा के लिये फ्रांस ने मध्य और पूर्वी यूरोप के जिन राज्यों के साथ मिलकर अपना गुट

बनाया था, उसमें अन्य भी अनेक कमजोरियां थीं। उनमें ऐसी जातियों के लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, जो राष्ट्रीय दृष्टि से भिन्न थे। विशेषतया पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया में जर्मन लोगों का निवास उन राज्यों के लिये बहुत खतरे की बात थी। किसी भी समय जर्मनी अपने सजातीय लोगों द्वारा आबाद प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने की मांग कर सकता था। इस दशा में पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि राज्यों के सम्मुख अपनी सुरक्षा की समस्या और भी अधिक विकट हो जाती थी। फ्रांस ने इन राज्यों को सैनिक सहायता देने का वचन देकर अपनी सैनिक जिम्मेवारियों को बहुत बढ़ा लिया था। पर मध्य और पूर्वी यूरोप के इतने राज्यों के साथ सन्धि कर लेने के कारण यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस का महत्त्व और बल बहुत बढ़ गये थे। वह एक ऐसा गुट बनाने में समर्थ हुआ था, जो किसी भी संकट के समय में उसकी सहायता करने को उद्यत था।

इटली का गुट——इस काल में इटली की राष्ट्रीय आकांक्षायें भी निरन्तर बढ़ रही थीं। महायुद्ध के बाद पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हो पाई थी। १९२४ में जब मुसोलिनी के नेतृत्व में फैसिस्ट दल ने इटली का शासन-सूत्र संभाल लिया, तो इटली भी यूरोप की राजनीति में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाने के लिये तत्पर हुआ। फ्रांस की बढ़ती हुई शक्ति से वह बहुत चिन्तित था। अतः उसने भी फ्रांस का अनुसरण कर अपना पृथक् गुट बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। १९२४ में उसने चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया के साथ सन्धियां कीं। १९२६ में उसने रूमानिया और स्पेन के साथ सन्धियां कीं। इसी साल में अल्बेनिया और इटली की सन्धि हुई। अगले वर्ष १९२७ में इटली ने हंगरी के साथ सन्धि कर ली। १९२८ में टर्की और ग्रीस और १९३० में आस्ट्रिया इटली के साथ सन्धि के सूत्र में बंध गये। इन सन्धियों का स्वरूप भी प्रायः उसी ढंग था, जैसा कि फ्रांस द्वारा पोलैण्ड आदि के साथ की गई सन्धियों का था। इन सन्धियों द्वारा इटली को भरोसा हो गया था, कि यदि वह पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा की गई व्यवस्था की उपेक्षा कर अपने उत्कर्ष व साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रयत्न करे, तो पड़ोस के राज्य उसके मार्ग में बाधक नहीं होंगे। इटली ने जिन राज्यों के साथ सन्धियां की थीं, उनमें से कतिपय राज्य इसी ढंग की सन्धियां फ्रांस के साथ भी कर चुके थे। पर १९१४-१८ के महायुद्ध से पूर्व भी यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यही ढंग था। कोई राज्य किसी एक शक्तिशाली राज्य के ही गुट में रहे, यह बात अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आवश्यक नहीं समझी जाती थी।

जर्मनी और रूस की सन्धि---एप्रिल, १९२२ में जर्मनी और रूस ने रापालो (इटली में) नामक स्थान पर एक सन्धि की, जिसका यूरोप के इतिहास में बहुत महत्त्व है। इस समय जर्मनी और रूस दोनों ही यूरोप की राजनीति में अछूत-से माने जाते थे। उन्हें राष्ट्रसंघ की सदस्यता का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था। महायुद्ध में पराजित होने के कारण जर्मनी को मित्रराष्ट्र अपने दल में सम्मिलित करने के लिये तैयार नहीं थे, और रूस में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो जाने के कारण ब्रिटेन, फ्रांस आदि देश उससे विद्वेष रखते थे। फ्रांस और पोलैण्ड ने १९२१ में जो सन्धि की थी, उसे जर्मनी और रूस दोनों ही समान रूप से चिन्ता की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि इन दोनों राज्यों का पोलैण्ड के साथ विरोध था। पोलैण्ड का निर्माण करते हुए अनेक ऐसे प्रदेश उसे दे दिये गये थे, जिन पर रूस या जर्मनी अपना अधिकार रखना चाहते थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि ये दोनों देश एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हों। रापालो में उन्होंने जो सन्धि की, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं---(१) जर्मनी रूस की कम्युनिस्ट सरकार को वहां की वैध सरकार स्वीकार करे। (२) दोनों राज्य एक दूसरे के साथ राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्धों को स्थापित करें। दोनों के राजदूत एक दूसरे की राजधानी में रहें। (३) युद्ध से पूर्व जर्मनी या रूस की एक दूसरे को जो कुछ भी देनदारी हो, उसे रद्द समझा जाय। रापालो की इस सन्धि द्वारा यूरोप में रूस की राजनीतिक स्थिति सुदृढ़ हो गई। कम से कम एक शक्तिशाली राज्य ऐसा हो गया, जो उसकी कम्युनिस्ट सरकार की वैध सत्ता को स्वीकृत करने व उससे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने को उद्यत था।

१९२५ में रूस ने टर्की के साथ सन्धि की। उस समय टर्की में कमाल पाशा के नेतृत्व में रिपब्लिकन सरकार की स्थापना हो चुकी थी, और ब्रिटेन, फ्रांस आदि राज्य नवीन टर्की को अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। अतः रूस का ध्यान उसकी ओर गया और उसने टर्की के साथ यह सन्धि की, कि (१) दोनों में से कोई भी राज्य दूसरे पर आक्रमण न करे। (२) यदि दोनों में से किसी पर कोई तीसरा राज्य या राज्यों का गुट आक्रमण करे, तो दूसरा राज्य उस युद्ध में तटस्थ रहे। (३) यदि कोई अन्य राज्य उन दोनों में से किसी के खिलाफ कोई राजनीतिक व आर्थिक कार्रवाई करे, तो दूसरा राज्य उसमें सहयोग न दे। अगले साल १९२६ में इसी ढंग की सन्धि रूस ने जर्मनी के साथ भी कर ली। १९२६ समाप्त होने से पूर्व ही रूस ने अफगानिस्तान और लिथुएनिया से और १९२७ में ईरान से इसी ढंग की सन्धियां कीं। इन सब राज्यों की सीमायें रूस के साथ

मिलती थीं, और इनके साथ अनाक्रमण की सन्धियां करके रूस ने अपनी स्थिति को बहुत मजबूत बना लिया था ।

तीन विभिन्न गुट—इस प्रकार १९२७ तक यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तीन पृथक्-पृथक् गुट स्पष्ट रूप से नजर आने लगे थे, जिनके नेता क्रमशः फ्रांस, इटली और रूस थे । ये तीनों गुट प्रायः उसी ढंग के थे, जैसे कि महायुद्ध से पूर्व फ्रांस और जर्मनी के नेतृत्व में बने हुए गुट थे । इटली और रूस ने विविध राज्यों के साथ जो सन्धियां की थीं, उनके कारण अब फ्रांस का यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पर्याप्त महत्त्व व बल नहीं रह गया था । वह अनुभव करता था, कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से उसकी स्थिति पर्याप्त सुरक्षित नहीं रही है । १९२४ तक रूस जर्मनी के साथ सन्धि कर चुका था, और इटली ने अपने पृथक् गुट का निर्माण प्रारम्भ कर दिया था । फ्रांस के राजनीतिज्ञ इससे सतर्क हो गये, और उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिये अन्य साधनों की खोज प्रारम्भ कर दी ।

जिनीवा प्रोटोकोल—अब फ्रांस के नीतिज्ञों का ध्यान फिर राष्ट्रसंघ की ओर गया । वे समझते थे, कि संघ के विधान में दो बड़ी कमियां हैं—(१) उसमें यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं किया गया, कि किस राज्य को 'विद्रोही' करार दिया जायगा, और (२) विद्रोही राज्य को काबू में रखने के लिये किन उपायों का निश्चित रूप से अवलम्बन किया जा सकेगा । फ्रांस के नीतिज्ञ समझते थे, कि यदि इन बातों को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया जाय, तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी स्थिति सुरक्षित हो सकती है । इसी उद्देश्य से उन्होंने संघ के अन्य राज्यों के साथ बातचीत शुरू की, और जिनीवा प्रोटोकोल का निर्माण हुआ । इस प्रोटोकोल द्वारा यह स्पष्ट किया गया, कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े में जब कोई राज्य पंचायती फैसले को मानने से इनकार करे, या संघ की कौंसिल द्वारा किये गये सर्वसम्मत निर्णय के खिलाफ चले, तो उसे 'विद्रोही' समझा जायगा, और प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करनेवाले प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य होगा, कि विविध राज्यों की भौगोलिक स्थिति व सैनिक क्षमता को दृष्टि में रखते हुए जिस राज्य को सैनिक कार्रवाई के सम्बन्ध में जो काम सुपुर्द किया जाय, वह उसे बिना किसी ननु नच के पूरा करे । जिनीवा प्रोटोकोल तैयार तो हो गया, पर ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली देश उससे सन्तुष्ट नहीं हुए । ब्रिटेन समझता था, कि इस प्रोटोकोल से उसे यूरोप के झगड़ों में व्यर्थ ही अपने धन व जन का विनाश करना होगा । यूरोप में फ्रांस की प्रभुता है । राष्ट्रसंघ में भी उसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । बेल्जियम, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि राज्य हर मामले में उसका साथ देते हैं । यदि फ्रांस

के नेतृत्व में राष्ट्रसंघ ने किसी राज्य को 'विद्रोही' ठहरा दिया, तो ब्रिटेन को उसके खिलाफ सैनिक कार्रवाई करने के लिये विवश किया जायगा। ब्रिटेन इसके लिये तैयार नहीं था। उसने प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया, और फ्रांस का यह सब प्रयत्न धूल में मिल गया।

लोकार्नो की सन्धि—राष्ट्रसंघ द्वारा अपनी सुरक्षा के प्रयत्न में निराश होकर फ्रांस ने एक बिल्कुल नई नीति का आश्रय लिया। १९२५ में फ्रांस के पर-राष्ट्र सचिव श्री ब्रियां थे। ब्रियां बहुत ही कुशल व बुद्धिमान् व्यक्ति था। उसने सोचा, कि फ्रांस को सबसे अधिक खतरा जर्मनी से ही है। उसी के भय से उसे इतना अधिक चिन्तित रहना होता है। क्यों न जर्मनी के साथ ही एक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि कर ली जाय, जिससे दोनों राज्य एक दूसरे की सीमा को स्वीकार करने और एक दूसरे पर आक्रमण न करने के बारे में समझौता कर लें। इस समय इस प्रकार की सन्धि के लिये वातावरण अनुकूल था। हरजाने की अदायगी के बारे में डावस-योजना के अनुसार जर्मनी से समझौता हो चुका था, और रूर के प्रदेश से फ्रेंच सेनायें वापस बुलाई जा चुकी थीं। जर्मनी और फ्रांस के सम्बन्धों की कटुता बहुत कुछ कम हो चुकी थी। इस समय फ्रांस के प्रधान मन्त्री श्री हेरियो थे। वे और ब्रियां दोनों इस बात के लिये उत्सुक थे, कि देश की सुरक्षा के लिये जर्मनी के साथ समझौता कर लिया जाय। उनके प्रयत्नों का परिणाम लोकार्नो की सन्धि थी। यह सन्धि १९२५ में हुई थी, और इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

कैलोग पैक्ट—लोकार्नो की सन्धि से फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्ध पहले की अपेक्षा बहुत अधिक मधुर हो गये थे। दोनों देशों ने यह समझौता कर लिया था, कि वे एक दूसरे की सीमाओं को स्वीकार करते हैं, और एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे। यह समझौता फ्रांस और जर्मनी में तो हो गया था, पर जर्मनी और पोलैण्ड और जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया के बीच में नहीं हुआ था। यदि जर्मनी अपनी पूर्वी सीमा को अनुचित समझकर पोलैण्ड व चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करे, तो सैनिक सन्धियों के आधार पर फ्रांस के लिये उनकी सहायता करना आवश्यक था। लड़ाई शुरू होने की अधिक सम्भावना जर्मनी की पूर्वी सीमा पर ही थी। ऐसे किसी युद्ध में फ्रांस के लिये तटस्थ रह सकना असम्भव था। इस दृष्टि से लोकार्नो की सन्धि से फ्रांस की सुरक्षा की समस्या हल नहीं हो पाती थी। अतः श्री ब्रियां ने सुरक्षा की खोज को जारी रखा, और एप्रिल, १९२७ में अमेरिका के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा, कि वे दोनों देश आपस में

चिरमैत्री की सन्धि कर लें। फ्रांस और अमेरिका के पारस्परिक सम्बन्ध बिलकुल मधुर थे, उनमें आपस में किसी भी प्रश्न पर झगड़ा होने की कोई सम्भावना नहीं थी। इस दशा में यह मैत्री की सन्धि व्यर्थ-सी थी। अतः अमेरिका के विदेश-मन्त्री श्री कैलोग ने फ्रांस को यह परामर्श दिया, कि संसार के सब प्रमुख राज्य परस्पर मिलकर एक स्थान पर एकत्र हों, और यह निश्चय करें, कि वे आपस के झगड़ों को निबटाने के लिये कभी युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे। फ्रांस के लिये यह प्रस्ताव बहुत आकर्षक था। इससे उसकी सुरक्षा की समस्या बहुत कुछ हल हो जाती थी।

कैलोग के प्रस्ताव के अनुसार अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और जापान के प्रतिनिधि २७ अगस्त, १९२८ को पेरिस में एकत्र हुए। इन छः प्रमुख राज्यों के अतिरिक्त बेल्जियम, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधि भी इस सम्मेलन में शामिल हुए। इन नौ राज्यों ने मिलकर एक पैक्ट (समझौता) पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार उन्होंने निश्चय किया, कि वे अपनी राष्ट्रीय नीति में युद्ध को कोई स्थान नहीं देंगे, और अपने झगड़ों को निबटाने के लिये युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे। यह पैक्ट इतिहास में पेरिस पैक्ट या ब्रियां-कैलोग पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर हस्ताक्षर करने के लिये अन्य राज्यों को भी निमन्त्रण दिया गया, और धीरे-धीरे ६५ राज्यों के इस पर हस्ताक्षर हो गये। उस समय (१९२८ में) राष्ट्रसंघ के कुल सदस्यों की संख्या ५८ थी। पेरिस पैक्ट पर हस्ताक्षर करनेवाले राज्यों की संख्या राष्ट्रसंघ के सदस्यों से भी अधिक थी। कुछ समय के लिये इस पैक्ट से संसार में आशा का बहुत संचार हुआ। लोग समझने लगे, अब युद्धों का अन्त होकर चिरशान्ति का युग आ गया है।

पर प्रश्न यह था, कि पेरिस पैक्ट में संसार के विविध राज्यों ने युद्ध के बहिष्कार का संकल्पमात्र किया था। यदि कोई राज्य युद्ध शुरू करे, तो उसे रोका कैसे जाय, इस सम्बन्ध में पेरिस पैक्ट द्वारा कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। राष्ट्रसंघ ने अपनी नीति में युद्ध का सर्वथा बहिष्कार बेशक नहीं किया था, पर उसके विधान में इस बात की व्यवस्था अवश्य विद्यमान थी, कि युद्ध शुरू करने वाले राज्य के खिलाफ अन्य राज्य मिलकर कार्रवाई कर सकें। उचित तो यह था, कि जिनीवा प्रोटोकोल द्वारा दिखाये गये मार्ग के अनुसार इस व्यवस्था को अधिक दृढ़ और स्पष्ट किया जाता। केवल संकल्प से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल नहीं किया जा सकता। कुछ राज्यों ने यह प्रयत्न फिर शुरू किया, कि पेरिस पैक्ट के निर्णयों के अनुसार राष्ट्रसंघ के विधान में संशोधन किया जाय,

और युद्ध का सर्वथा बहिष्कार करते हुए लड़ाई शुरू करने वाले राज्य को यथोचित दण्ड देने की भी समुचित व्यवस्था की जाय। १९२९ में इसके लिये एक प्रस्ताव भी राष्ट्रसंघ के सम्मुख उपस्थित किया गया। उस पर बहस तो बहुत हुई, पर निर्णय कुछ नहीं हुआ।

इस बीच में जर्मनी में राष्ट्रीय चेतना फिर उत्पन्न होने लग गई थी। घायल जर्मनी बहुत कुछ स्वस्थ हो गया था, और उसके नेता अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण करने का फिर से स्वप्न लेने लगे थे। नाजी दल जोर पकड़ रहा था, और हिटलर वर्साय की सन्धि के धुर्रे उड़ा देने की बात खुले तौर पर कहने लग गया था। फ्रांस के कूटनीतिज्ञ भली भांति अनुभव करने लगे थे, कि राष्ट्रसंघ द्वारा वे अपनी सुरक्षा की समस्या का हल नहीं कर सकते। वे लोकार्नो की सन्धि और पेरिस पैक्ट के शुभ संकल्पों पर निर्भर रहने की अपेक्षा सैनिक सन्धियों को अधिक महत्त्व देने लगे। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया से दुबारा सैनिक सन्धियां की गई, और यह प्रयत्न किया गया कि इटली भी उनके साथ शामिल हो जाय। इटली के अबीसीनिया पर आक्रमण के समय फ्रांस जो उसके खिलाफ किसी प्रकार की कार्रवाई करने के लिये तैयार नहीं हुआ, उसका यही मूल कारण था। १९२९ के बाद यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जो परिवर्तन हुए, और जिस प्रकार विविध राज्य अपनी सुरक्षा के लिये साधन जुटाने में तत्पर हुए, उस पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

३. निःशस्त्रीकरण की समस्या

महायुद्ध के बाद सब राज्यों ने यह अनुभव किया था, कि अस्त्र-शस्त्रों और सेना में वृद्धि से न केवल सरकारी आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा लड़ाई की तैयारी में खर्च हो जाता है, अपितु चिरशान्ति का वातावरण उत्पन्न होने में भी बड़ी बाधा उपस्थित होती है। इसलिये पेरिस की शान्ति-परिषद (१९१९) में उन्होंने यह व्यवस्था की थी, कि (१) जर्मनी और उसके साथियों की सेना में कमी की जाय, और यह तय कर दिया जाय, कि जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और बल्गेरिया अधिक से अधिक कितनी सेना रख सकें। (२) परास्त राज्यों की सेनाओं को कम करने का प्रयोजन यह है, कि अन्य राज्य भी अपनी सेनायें कम कर सकें। जब जर्मनी और उसके साथियों की तरफ से लड़ाई का खतरा कम हो जायगा, तो फ्रांस, पोलैण्ड, ब्रिटेन आदि के लिये यह सम्भव हो जायगा, कि वे आपस में सहयोग से अपनी सेनाएं भी कम करने का निश्चय कर सकें। (३) स्थायी शान्ति के लिये

यह आवश्यक है, कि विविध राज्य अपनी सेनायें केवल उतनी ही रखें, जितनी कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये अनिवार्य हों। राष्ट्रसंघ इस सम्बन्ध में योजना तैयार करे, कि विविध राज्यों की अधिकतम सेनायें कितनी हों।

अब प्रश्न यह था, कि सेनाओं की कमी के इस उद्देश्य को पूरा कैसे किया जाय ? सब राज्य यह समझते थे, कि उनकी सेना राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये अनिवार्य है, उसमें किसी भी प्रकार से कमी नहीं की जा सकती। पर दूसरे राज्य की सेना आवश्यकता से अधिक है। ब्रिटेन कहता था, फ्रांस और पोलैण्ड को अपनी सेनाओं में कमी करनी चाहिये। फ्रांस इसका उत्तर यह देता था, हम सेना में कमी करने को तैयार हैं, पर ब्रिटेन को पहले यह गारन्टी देनी चाहिये, कि यदि जर्मनी फ्रांस या पोलैण्ड पर हमला करे, तो ब्रिटेन उनकी मदद करेगा। फ्रांस यह भी कहता था, कि ब्रिटेन को इतनी बड़ी नौसेना की क्या आवश्यकता है ? सेनाएं शान्ति के लिये बेशक खतरनाक हैं, पर उनका अभाव या कमी राष्ट्रीय दृष्टि से और भी अधिक खतरनाक है। यदि फ्रांस और पोलैण्ड अपनी सेनाएं कम कर लें, तो इसका क्या भरोसा है, कि जर्मनी वर्साय की सन्धि को ठुकरा नहीं देगा ? राष्ट्रीय सुरक्षा की इससे ज्यादा अच्छी गारन्टी क्या हो सकती है, कि प्रत्येक राज्य अपनी सेना को सदा तैयार रखे, और उसके ऊपर यदि कोई अन्य राज्य हमला करे, तो हथियार से उसका मुकाबला करे ?

वाशिंगटन कान्फरेन्स——इस मनोवृत्ति के होते हुए भी अस्त्र-शस्त्रों और सेना में कमी करने के लिये अनेक उद्योग हुए। १९२१-२२ में वाशिंगटन में नौ-सेना के सम्बन्ध में एक कान्फरेन्स हुई, जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसमें इस बात पर विचार हुआ, कि जंगी जहाजों की संख्या को किस प्रकार नियन्त्रित किया जाय। वाशिंगटन कान्फरेन्स में यह निर्णय किया गया, कि अगले दस साल तक विविध राज्यों के बड़े जंगी जहाजों में यह अनुपात कायम रखा जाय——अमेरिका ५, ब्रिटेन ५, जापान ३, फ्रान्स १.६७ और इटली १.६७। बड़े जंगी जहाजों के बारे में सब राज्यों में फैसला हो गया। अमेरिका चाहता था, कि इसी तरह का फैसला छोटे जंगी जहाजों के सम्बन्ध में भी हो जाय। पर ब्रिटेन इसके लिये तैयार नहीं था। उसका कहना था, कि सातों समुद्रों में विस्तीर्ण विशाल ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिये छोटे जंगी जहाजों के विषय में किसी भी प्रकार की मर्यादा को स्वीकार कर सकना उसके लिये सम्भव नहीं है। ब्रिटेन चाहता था, कि पनडुब्बियों और सामुद्रिक सुरंगों का प्रयोग बिलकुल रोक दिया जाय; पर

फ्रान्स इसके लिये तैयार नहीं था। पिछले महायुद्ध में जर्मनी की पनडुब्बियों की असाधारण क्षमता को दृष्टि में रखते हुए फ्रान्स उनका परित्याग करने के लिये उद्यत नहीं था। वाशिंगटन कान्फरेन्स से यह लाभ अवश्य हुआ, कि नौसेना में वृद्धि करने की जो होड़ राज्यों में चल रही थी, वह कम से कम दस साल के लिये बन्द हो गई। पर ब्रिटेन ने छोटे जंगी जहाजों को बनाना बन्द नहीं किया। अन्य राज्यों को उससे यह सख्त शिकायत थी।

जिनीवा कान्फरेन्स––१९२७ में जिनीवा में दूसरी नौसेना कान्फरेन्स हुई। इसमें यह सवाल पेश हुआ, कि ब्रिटेन जिस प्रकार अपने छोटे जंगी जहाजों में निरन्तर वृद्धि कर रहा है, उसे रोकना चाहिये। पर ब्रिटेन का विचार था, कि उसके सुविशाल साम्राज्य की विशेष परिस्थिति के कारण यह कर सकना सम्भव नहीं होगा। परिणाम यह हुआ, कि जिनीवा कान्फरेन्स सफल नहीं हो पाई। अस्त्र-शस्त्रों की कमी के लिये किया गया यह प्रयत्न निरर्थक हो गया।

लण्डन कान्फरेन्स––१९३० में अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रान्स और इटली के प्रतिनिधि तीसरी बार लण्डन में एकत्र हुए। इसमें ये निर्णय किये गये कि (१) वाशिंगटन में जो समझौता १९२१-२२ में दस साल के लिये किया गया था, उसकी मियाद १९३७ तक बढ़ा दी जाय, और (२) ब्रिटेन के छोटे जंगी जहाज अमेरिका के मुकाबले में जिस हद तक अधिक हों, उसी हद तक अमेरिका अपने बड़े जंगी जहाज ब्रिटेन के मुकाबले में अधिक रख सके। लण्डन कान्फरेन्स में जापान ने यह मांग पेश की, कि उसे अपनी नौसेना को ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर करने का अधिकार दिया जाय। अन्य राज्य इसके लिये तैयार नहीं हुए। इस सवाल पर बहुत बहस हुई। अन्त में, यह स्वीकार किया गया कि यदि कोई राज्य अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए नौसेना में वृद्धि करना चाहे, तो उसे यह करने का अधिकार है। इसका मतलब यह था, कि राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर प्रत्येक राज्य अपनी नौसेना को मनमानी तरीके से बढ़ा सकता था। जापान इस समय अपनी शक्ति को बड़ी तेजी के साथ बढ़ा रहा था। १९३४ में उसने अन्य राज्यों को साफ-साफ कह दिया, कि या तो सब राज्य यह स्वीकार कर लें, कि जापान को ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर नौसेना रखने का अधिकार है, अन्यथा वह अपने को इस सम्बन्ध में किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अधीन नहीं समझेगा। जापान के इस नोटिस का परिणाम यह हुआ, कि नौसेना के सम्बन्ध में विविध राज्यों में कोई समझौता कायम नहीं रहा। सब यथेष्ट रूप से अपने जंगी जहाजों को बढ़ाने में लग गये। इस सम्बन्ध

में उनमें एक प्रतिस्पर्धा-सी उत्पन्न हो गई। १९३७ के बाद तो ब्रिटेन, अमेरिका, जापान, फ्रान्स और इटली अपनी राष्ट्रीय आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा जंगी जहाजों के निर्माण में खर्च करने लग गये। इस काल में विविध राज्यों की नौ-सेना इतनी अधिक बढ़ गई, जितनी कि पहले कभी नहीं थी।

स्थल-सेनाओं में कमी करने का प्रश्न––स्थल-सेना में कमी करने के प्रश्न पर विचार करने के लिये १९२५ में राष्ट्रसंघ ने एक कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन को यह काम सुपुर्द किया गया था, कि राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से किस राज्य को कितनी सेना और अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता है, और किस राज्य के पास कितनी सैनिक शक्ति विद्यमान है, इस सम्बन्ध में रिपोर्ट तैयार करे, ताकि इस रिपोर्ट के तैयार होने पर निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स की आयोजना की जा सके। पांच साल तक कमीशन अपना काम करता रहा। यह निश्चय कर लेना तो बहुत सुगम था, कि किस राज्य के पास कितनी सेना व कितने अस्त्र-शस्त्र विद्यमान हैं। पर प्रश्न यह था, कि स्थिर सेना के अतिरिक्त राज्यों के पास सम्भावित सेनाएं भी तो हैं। बाधित सैनिक-शिक्षा और बाधित सैनिक सेवा की पद्धतियों के कारण फ्रान्स और पोलैण्ड जैसे राज्य युद्ध के समय पर लाखों आदमियों को बात की बात में लड़ाई के मैदान में ला सकते थे। जो हवाई जहाज अब सवारी ले जाने या माल ढोने के काम में आ रहे थे, उन्हें थोड़े से समय में जंगी हवाई जहाजों के रूप में परिवर्तित किया जा सकता था। कितने ही कारखाने सुगमता से अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिये भी प्रयुक्त किये जा सकते थे। कमीशन को इन बातों पर भी विचार करना था। राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से किस राज्य के पास कितनी सेना होनी चाहिये, इसका निर्णय करना भी आसान नहीं था। अनेक राज्यों की राष्ट्रीय आकांक्षायें उग्र रूप धारण कर रही थीं। उन सबको दृष्टि में रखते हुए यह समस्या अधिक जटिल हो गई थी।

पांच साल की निरन्तर मेहनत के बाद इस कमीशन की रिपोर्ट तैयार हुई। इसमें यह सिफारिश की गई, कि स्थल, जल और वायु की सेनाओं में कितने आदमी अधिक से अधिक होने चाहियें, यह बात प्रत्येक राज्य के लिये तय कर दी जाय। कौन राज्य अधिक से अधिक कितना खर्च अस्त्र-शस्त्रों पर कर सके, यह भी निश्चित हो जाय। जहरीली गैसों और रासायनिक द्रव्यों को लड़ाई में इस्तेमाल न किया जाय और एक स्थिर कमीशन इस उद्देश्य से बना दिया जाय, जो निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में विविध राज्यों की गतिविधि का निरीक्षण करता रहे। पर किस राज्य की सेना कितनी रहे, इस सम्बन्ध में इस कमीशन ने

कोई बात तय नहीं की। इसने केवल उन सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया, जिनका अनुसरण करके विविध राज्य निःशस्त्रीकरण के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं।

६ जिनीवा कान्फरेन्स (१९३२)—१९३२ में राष्ट्रसंघ की ओर से निःशस्त्रीकरण कान्फरेन्स का आयोजन किया गया। यह कान्फरेन्स जिनीवा में हुई, और इसमें राष्ट्रसंघ के सब सदस्य राज्यों ने अपने-अपने प्रतिनिधि भेजे। अमेरिका और रूस राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे, पर उनके प्रतिनिधि भी इस कान्फरेन्स में सम्मिलित हुए। इङ्गलैण्ड के प्रतिनिधि श्री हैन्डरसन ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया। निःशस्त्रीकरण की समस्या पर विचार शुरू हुआ। फ्रान्स का कहना था, कि सेना व हथियारों में कमी तभी की जा सकती है, जब राष्ट्रसंघ एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना व पुलीस का संगठन करे, जिसके हाथों में विविध राज्यों की सुरक्षा की जिम्मेवारी रहे। ब्रिटेन और अमेरिका इससे सहमत नहीं हो सके। ब्रिटेन ने प्रस्ताव किया, कि जिन अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग केवल आत्मरक्षा के लिये किया जाता है, उनके सम्बन्ध में कोई मर्यादा निश्चित न की जाय। पर जो हथियार दूसरे देशों पर हमला करने के लिये प्रयोग में आते हैं, उनकी मात्रा कम कर दी जाय। अब सवाल यह था, कि कौन से हथियार आत्मरक्षा के लिये हैं, और कौन से आक्रमणकारी। ब्रिटेन और अमेरिका कहते थे, पनडुब्बियां आक्रमणकारी हथियार हैं, और जंगी जहाज रक्षा करनेवाले। दूसरे देश कहते थे, यह बिलकुल गलत है। आखिर, इसका फैसला करने के लिये विशेषज्ञों की उपसमितियां नियत की गईं। पर वे किसी भी प्रश्न पर सहमत नहीं हो सकीं। बहुत वाद-विवाद के बाद २० जुलाई, १९३२ को जिनीवा कान्फरेन्स में एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया, जिसमें यह कहा गया था कि (१) हवाई गोलाबारी को रोका जाय। किस देश के पास कितने हवाई जंगी जहाज हों, यह परस्पर समझौते से तय किया जाय और सवारी आदि के काम आनेवाले हवाई जहाजों की संख्या पर भी नियन्त्रण रखा जाय। (२) भारी तोपों और टैंकों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की जाय, कि एक खास वजन से ज्यादा की तोपें व टैंक न बनाये जा सकें। (यह खास वजन क्या हो, यह तय नहीं किया गया) (३) रासायनिक लड़ाई को बन्द किया जाय। ४१ राज्यों के प्रतिनिधियों ने इस प्रस्ताव के पक्ष में वोट दिया। आठ राज्यों ने विपक्ष में वोट दिया और दो राज्य (जर्मनी और रूस) तटस्थ रहे। जर्मनी के प्रतिनिधि का कहना था, कि जिस प्रकार वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी की सेना पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे, उसी प्रकार और

उसी हिसाब से अन्य राज्यों की सेना और हथियारों पर भी प्रतिबन्ध लगने चाहियें, और जर्मनी को भी सेना व अस्त्र-शस्त्र बढ़ा सकने की खुली छुट्टी मिल जानी चाहिये ।

निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रयत्नों की असफलता---इसी बीच में जर्मनी में नाजी सरकार कायम हो गई, हिटलर डिक्टेटर हो गया । उसने उद्घोषणा की, कि जर्मनी का जिनीवा की कान्फरेन्स से कोई सम्बन्ध नहीं है, और जर्मनी की सरकार को यह पूर्ण अधिकार है, कि वह अपने राष्ट्रीय गौरव और सुरक्षा को दृष्टि में रखकर स्वच्छन्द रूप से सेना और अस्त्र-शस्त्र में वृद्धि कर सके। जर्मनी ने जिनीवा कान्फरेन्स का जो बहिष्कार किया, उससे निःशस्त्रीकरण के प्रश्न को बहुत धक्का लगा । इस सारे सवाल की जड़ ही जर्मनी और फ्रान्स की प्रतिस्पर्धा और विद्वेष भावना थी । जब जर्मनी कान्फरेन्स से अलग हो गया, तो बाकी सब बातों पर विचार व्यर्थ हो गया । जिनीवा कान्फरेन्स के अधिवेशन १९३४ के अन्त तक होते रहे । उनमें लम्बे-चौड़े विवाद भी चलते रहे । पर परिणाम कुछ नहीं हुआ । इटली और जर्मनी इस समय सेनाएं बढ़ाने और युद्ध की तैयारी में तत्पर थे । उनकी देखादेखी फ्रान्स, पोलैण्ड और यूरोप के अन्य छोटे राज्य भी लड़ाई की तैयारी में लग गये थे । प्रशान्त महासागर में सम्भावित संघर्ष को दृष्टि में रखकर जापान और अमेरिका अपनी नौशक्ति को बढ़ाने की फिकर में थे । इस वातावरण में निःशस्त्रीकरण पर बात करना भी बेकार था । ऐसे समय में राष्ट्रीय सुरक्षा का एक ही साधन था, लड़ाई की तैयारी और शस्त्रों में वृद्धि । संसार के सब राज्य इसी उपाय की साधना में जी जान से लग गये थे ।

राष्ट्रसंघ की शक्ति अब क्षीण हो गई थी। मंचूरिया पर जापान ने अपना कब्जा कर लिया था, और अबीसीनिया पर इटली ने। राष्ट्रसंघ इन्हें इस कार्य से नहीं रोक सका। अन्य सब राज्यों को अब यह समझ में आ गया था, कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या बहुत विकट हो गई है । यही कारण है, कि १९३६ में ब्रिटेन की सरकार ने घोषणा की थी---"संसार की वर्तमान दशा में इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है, कि ब्रिटेन भी आत्मरक्षा के अपने साधनों पर विचार करे, और यह व्यवस्था करे, कि ये साधन इतने मजबूत हो जावें, कि उनसे न केवल आत्मरक्षा की जा सके, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ब्रिटेन की जो जिम्मेवारियां हैं, उन्हें भी पूरा किया जा सके ।"

यूरोप के इतिहास में पारस्परिक सहयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने का जो प्रयत्न राष्ट्रसंघ द्वारा शुरू हुआ था, अब उसकी इतिश्री हो

गई थी। इस स्थिति के आने में जो कारण सहायक हुए, उनका यहाँ संक्षिप्त रूप से पुनः उल्लेख करना उपयोगी होगा—

(१) पेरिस की शान्ति-परिषद् में जर्मनी के साथ न्याय नहीं किया गया था। यदि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर जर्मनी का पुनः निर्माण किया जाता, तो हिटलर को अपनी शक्ति के विकास का अवसर न मिलता। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया का निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को दृष्टि में रखा गया था, पर यह करते हुए महायुद्ध में पराजित राज्यों के साथ न्याय नहीं किया गया था।

(२) ब्रिटेन, फ्रान्स और इटली विशाल साम्राज्यों के स्वामी थे। बेल्जियम और हालैण्ड के भी अच्छे बड़े साम्राज्य थे। इसके विपरीत जर्मनी का कोई साम्राज्य नहीं था। इटली और जापान की साम्राज्य विषयक भूख भी पूरी तरह से शान्त नहीं हुई थी। ब्रिटेन और फ्रान्स अपनी असाधारण शक्ति को कायम रखने के लिये कटिबद्ध थे और जर्मनी, इटली और जापान साम्राज्य-विस्तार की चिन्ता में थे। उनके प्रयत्न तभी सफल हो सकते थे, जब कि उनकी सैन्य शक्ति उन्नत हो। फ्रान्स और ब्रिटेन अपनी सैन्यशक्ति को इसलिये बढ़ाना चाहते थे, ताकि कोई अन्य राज्य उनके साम्राज्यों को किसी प्रकार का नुकसान न पहुंचा सके।

(३) राष्ट्रीयता की भावना से उत्पन्न हुई आकांक्षाएं यूरोप के सब छोटे-बड़े राज्यों को परेशान कर रही थीं। मध्य और पूर्वी यूरोप का कोई भी राज्य अपनी राष्ट्रीय सीमा से सन्तुष्ट नहीं था।

(४) अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स, रूस और जापान जैसे विशाल व शक्तिशाली राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किसी ऐसी नीति को अपना सकने में असमर्थ रहे थे, जो उन सबको स्वीकार्य हो।

बावनवाँ अध्याय

इटली में फैसिज्म का प्रारम्भ

१. फैसिज्म से पूर्व इटली की दशा

महायुद्ध में इटली मित्रराष्ट्रों के पक्ष में सम्मिलित हुआ था। वर्साय की सन्धि द्वारा ब्रिटेन और फ्रान्स को अनेक नये प्रदेश प्राप्त हुए थे। उनके साम्राज्य-विस्तार में इससे बहुत सहायता मिली थी। इटली को भी यह आशा थी, कि युद्ध की समाप्ति पर वह न केवल आस्ट्रियन साम्राज्य के उन प्रदेशों को प्राप्त करेगा, जिन पर वह राष्ट्रीयता की दृष्टि से अपना अधिकार समझता था, अपितु अफ्रीका में अपने साम्राज्य के विस्तार की भी उसे पूरी आशा थी। पर उसे निराशा हुई। यूरोप में कुछ नये प्रदेश उसे अवश्य मिले, पर अफ्रीका में साम्राज्य-विस्तार करने की जो उसकी हार्दिक आकांक्षा थी, वह पूर्ण नहीं हो सकी। इस कारण इटली की जनता में बहुत असन्तोष था। लीबिया और सोमालीलैण्ड अफ्रीका में पहले से ही इटली के अधीन थे। अब उनके साथ लगते हुए कुछ थोड़े से प्रदेश उसे और मिल गये थे। फ्रान्स और ब्रिटेन के मुकाबले में इटली को प्राप्त हुए ये अफ्रीकन प्रदेश बहुत ही कम थे। इनसे इटली का साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी स्वप्न पूरा नहीं होता था। इटली के राष्ट्रवादी दल पेरिस की शान्ति-परिषद् के निर्णयों से बहुत असन्तुष्ट थे।

युद्ध के बाद इटली की सरकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसकी आर्थिक दशा बिगड़ गई। इटली फ्रान्स व ब्रिटेन के समान समृद्ध कभी भी नहीं था। लड़ाई में उसे सेना व अस्त्र-शस्त्रों पर बहुत खर्च करना पड़ा था। वह कर्ज के भार से लद गया था। अब युद्ध की समाप्ति पर उसके लिये अपने आय-व्यय को बराबर करना कठिन हो गया। साम्यवाद की जो लहर रूस से शुरू होकर पोलैण्ड, हंगरी, जर्मनी और मध्य यूरोप के अन्य राज्यों को व्याप्त कर रही थी, इटली पर भी उसका प्रभाव पड़ा। शहरों में काम करनेवाले मजदूर इस समय बड़ी संख्या में बेकार थे। कार्ल मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों

को उन्होंने बड़े शौक से सुना, और साम्यवादी दल इटली में जोर पकड़ने लगा। नवम्बर, १९१९ के चुनाव में उनके १५६ सदस्य पार्लियामेण्ट में चुने गये। कुल सदस्यों की संख्या ५७४ थी। २५ फीसदी से अधिक स्थानों पर अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण पार्लियामेण्ट में उनका जोर बहुत बढ़ गया। पर साम्यवादी लोग केवल वैधानिक आन्दोलन को ही पर्याप्त नहीं समझते थे। उन्होंने कारखानों में काम शुरू किया। जगह-जगह पर हड़तालों का आयोजन किया गया। कई स्थानों पर कल-कारखानों को नुकसान पहुँचाने की भी कोशिश की गई। कुछ कारखानों पर तो उन्होंने कब्जा भी कर लिया, और मजदूरों की समितियों द्वारा उनके संचालन का प्रयत्न किया। साम्यवादी चाहते थे, कि इटली में भी रूस के समान कम्युनिस्ट क्रान्ति हो जाय, और सर्वसाधारण किसान-मजदूर जनता का शासन स्थापित किया जाय।

पर इटली के भाग्य में कम्युनिस्ट क्रान्ति नहीं लिखी थी। वहां एक नये आन्दोलन का सूत्रपात हो रहा था, जिसे फैसिज्म कहते हैं। यह आन्दोलन केवल इटली तक ही सीमित नहीं रहा। धीरे-धीरे इसने यूरोप के बड़े भाग को व्याप्त कर लिया। इस आन्दोलन का प्रमुख नेता मुसोलिनी था। मुसोलिनी ने फैसिस्ट पार्टी का संगठन कर किस प्रकार इटली के शासन-सूत्र को सन् १९२२ में अपने हाथों में ले लिया था, इस पर हम अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। पर यहां यह आवश्यक है, कि हम महायुद्ध के बाद की इटली की विविध राजनीतिक पार्टियों के सम्बन्ध में कुछ परिचय दें।

महायुद्ध की समाप्ति के समय इटली की पार्लियामेण्ट में लिबरल दल का प्राधान्य था और इस दल का नेता जिओलित्ती प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्त था। लिबरल दल के लोग लोकतन्त्रवाद के पक्षपाती थे, और कानून का आश्रय लेकर देश की उन्नति कर सकने में विश्वास रखते थे। यदि महायुद्ध के बाद इटली को असाधारण रूप से आर्थिक कठिनाइयों का सामना न करना पड़ता, और पेरिस की शान्ति-परिषद द्वारा उसकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को जबर्दस्त धक्का न लगता, तो यह दल अपनी राजनीतिक स्थिति को कायम रखने में अवश्य समर्थ हो सकता था।

पर इटली की विशेष परिस्थितियों के कारण वहां एक तरफ साम्यवादी लोग जोर पकड़ रहे थे, जो रूस का अनुसरण कर कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे, और साथ ही दूसरी तरफ ऐसी राजनीतिक पार्टियों का प्रादुर्भाव हो रहा था, जो साम्यवाद के विरुद्ध थीं। इन पार्टियों में दो मुख्य

थीं, फैसिस्ट पार्टी और कैथोलिक पोपुलर पार्टी। फैसिस्ट पार्टी का नेता मुसोलिनी था और कैथोलिक पार्टी का लुइजी स्तूर्जो। कैथोलिक पोपुलर पार्टी के लोग जहां रोमन कैथोलिक चर्च को इटली के सामाजिक व राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कराने के पक्ष में थे, वहां गरीब किसानों की स्थिति को सुधारने के लिये यह भी चाहते थे, कि बड़े जमींदारों की जागीरों को किसानों में विभक्त कर दिया जाय। इस पार्टी के लोग लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए सामाजिक और आर्थिक सुधारों को करना चाहते थे। १९१९ के निर्वाचन में कैथोलिक पोपुलर पार्टी के १०१ उम्मीदवार पार्लियामेण्ट में निर्वाचित हुए थे।

१९१९ में निर्वाचित हुई पार्लियामेण्ट में साम्यवादी और कैथोलिक दलों के प्रतिनिधि अच्छी बड़ी संख्या में चुने गये थे। लिबरल दल की बहुसंख्या उसमें नहीं थी। अत: १९२०-२१ में जब सरकार के विरुद्ध आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया, तो एप्रिल, १९२१ में जिओलित्ती ने पार्लियामेण्ट को भंग कर नया चुनाव कराया। इसमें साम्यवादी दल के १२२, कैथोलिक दल के १०७, फैसिस्ट दल के ३५ और कम्युनिस्ट दल के १६ प्रतिनिधि निर्वाचित हुए। लिबरल दल के सदस्यों की संख्या और भी कम हो गई। इस पर जिओलित्ती ने प्रधान मन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया। उसके उत्तराधिकारी (लिबरल दल के) इस स्थिति में नहीं थे, कि पार्लियामेण्ट के बहुमत को अपने साथ में रख सकें। अत: मन्त्रि-मण्डल में जल्दी-जल्दी परिवर्तन होते रहते थे। अक्तूबर, १९२२ में जब मुसोलिनी के फैसिस्ट दल ने सरकार का संचालन अपने हाथों में लिया, तो इटली का प्रधान मन्त्री लुइजी फाक्ता था।

२. मुसोलिनी

बेनितो मुसोलिनी का जन्म १८८३ में हुआ था। उसका पिता लुहार का काम करता था, और विचारों की दृष्टि से क्रान्तिकारी व साम्यवादी था। मुसोलिनी स्वयं भी शुरू में साम्यवादी था। अपनी युवावस्था के कई वर्ष उसने स्विट्जरलैण्ड में बिताये, जहां वह श्रमी संघों की स्थापना में लगा रहा। निर्वाह के लिये उसने पत्रकार का पेशा अपनाया था, और इस कार्य में उसने अच्छी निपुणता प्राप्त की थी। क्रान्तिकारी विचारों के कारण वह देर तक स्विट्जरलैण्ड में नहीं रह सका। सरकार की आज्ञा से उसे स्विट्जरलैण्ड छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा, और वह इटली वापस आ गया। वहां भी उसने अपने क्रान्तिकारी कार्यों को जारी रखा। १९०८ में वह गिरफ्तार कर लिया गया। जेल

से छूटने पर वह इटली छोड़कर ट्रेन्ट में चला गया। यह प्रदेश उस समय आस्ट्रिया के अधीन था। यहां उसने एक नया समाचारपत्र जारी किया। यह पत्र न केवल साम्यवादी विचारों का प्रचार करता था, पर साथ ही यह भी आन्दोलन करता था, कि राष्ट्रीयता की दृष्टि से ट्रेन्ट इटली का एक हिस्सा है, और उसे इटली में ही शामिल होना चाहिये। आस्ट्रिया की सरकार ने उसके पत्र को जब्त कर लिया, और मुसोलिनी को आस्ट्रियन साम्राज्य की सीमा से बाहर चले जाने की आज्ञा दी। अब वह फिर इटली वापस आया, और एक बार फिर साम्यवाद के प्रचार में लग गया। वह कहता था, कि लोकतन्त्रवाद से सर्वसाधारण जनता का कोई भला नहीं होता। साम्यवादी व्यवस्था ही उनकी समस्याओं का एक-मात्र हल है। १९१२ में वह फिर गिरफ्तार कर लिया गया। जेल से छूटने पर उसकी स्थिति साम्यवादी दल में बहुत ऊँची हो गई, और वह साम्यवादी दल के प्रमुख पत्र का प्रधान सम्पादक बन गया।

१९१४ में महायुद्ध का प्रारम्भ होने पर साम्यवादी दल से उसका मतभेद होना शुरू हुआ। इटली का साम्यवादी दल कहता था, कि महायुद्ध में इटली को शामिल नहीं होना चाहिये। पर मुसोलिनी का विचार था, कि युद्ध में शामिल होकर इटली न केवल अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण कर सकता है, (यथा आस्ट्रिया के अधीन इटालियन प्रदेशों को पुनः प्राप्त करना) अपितु साम्यवादी व्यवस्था को भी कायम कर सकता है। वह कहता था, यह युद्ध जनता का अपना युद्ध है। यही भविष्य में एक क्रान्ति के रूप में परिवर्तित हो जायगा। साम्यवादी नेताओं की बहुसंख्या को वह अपने विचारों का अनुयायी नहीं बना सका। उसे साम्यवादी पत्र के सम्पादक का पद छोड़ना पड़ा। अब 'इटालियन जनता' नाम से नये पत्र का प्रकाशन उसने प्रारम्भ किया। यह पत्र मिलान से प्रकाशित होना शुरू हुआ। इसकी नीति यह थी, कि इटली को महायुद्ध में शामिल होना चाहिये, और मजदूर व सर्वसाधारण जनता को उसमें उत्साह के साथ भाग लेना चाहिये। जब इटली लड़ाई में शामिल हो गया, तो मुसोलिनी स्वयं सेना में भरती हुआ, और एक साधारण सिपाही के रूप में उसने युद्ध में भाग लिया। १९१७ में वह घायल होकर वापस आया, और अपने पत्र का सम्पादन फिर से प्रारम्भ किया। इस समय रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हो चुकी थी। इटली के अनेक साम्यवादी इस क्रान्ति को संसारव्यापी क्रान्ति का श्रीगणेश समझ रहे थे। मुसोलिनी ने उनका विरोध शुरू किया। वह कहता था, इटली को लड़ाई में पूरे उत्साह से भाग लेना चाहिये, और इस महायुद्ध के समय में साम्य-

वादी व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न इटली के राष्ट्रीय हितों के सर्वथा प्रतिकूल है।

धीरे-धीरे मुसोलिनी की शक्ति बढ़ने लगी। उसने एक राजनीतिक नेता का रूप धारण करना शुरू किया। बहुत से लोग उसके अनुयायी होने लगे। मार्च १९१९ में उसने अपने अनुयायियों की एक सभा या क्लब संगठित की। इसे फैसिओ कहते थे। इटालियन भाषा में फैसिओ का अर्थ है, क्लब, सभा या समाज। इस फैसिओ का उद्देश्य यह था, कि रूस के जो कम्युनिस्ट विचार इटली में फैल रहे थे, उनका विरोध किया जाय, और एक ऐसे साम्यवाद का प्रचार किया जाय, जो कि राष्ट्रीय हितों को सबसे अधिक महत्त्व देता हो। इस समय रूस का साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय था। मुसोलिनी कहता था, यह इटली के राष्ट्रीय हितों के लिए विघातक है। हमें अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की जगह राष्ट्रीय साम्यवाद की आवश्यकता है। पहला फैसिओ मिलान में कायम हुआ था। अगले दो सालों में इटली के प्रायः सभी बड़े शहरों व व्यावसायिक केन्द्रों में इसी प्रकार के फैसिओ की स्थापना की गई। इन फैसिओ में सम्मिलित मुसोलिनी के अनुयायी सब जगह कम्युनिस्टों का विरोध करते थे। यही उनका मुख्य कार्य था। फैसिओ के सदस्य फैसिस्ट और उनका मत 'फैसिज्म' कहाता था। फैसिस्ट दल इटली के राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर रहा था। यही कारण है, कि एप्रिल, १९२१ में जब इटालियन पार्लियामेण्ट का नया निर्वाचन हुआ, तो उसमें फैसिस्ट दल के भी ३५ सदस्य निर्वाचित हुए। मुसोलिनी केवल एक राजनीतिक दल का संगठन करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिये उसने एक स्वयंसेवक दल का भी संगठन किया, जिसके सदस्य एक खास पोशाक पहनते थे, सैनिक कवायद करते थे, और कठोर नियन्त्रण में रहते थे। उनका अपना झण्डा होता था, काली कमीज पहनने के कारण वे 'ब्लैक शर्ट' या काली कुड़ती कहे जाते थे। मुसोलिनी न केवल इसका नेता था, पर प्रधान सेनापति भी था। सैनिक कवायद के समय वे उसे खास फौजी तरीके से सलाम भी करते थे।

मुसोलिनी बड़े जोश से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में लगा था। वह कहता था---आज फैसिज्म एक पार्टी है, एक फौज है, एक संस्था है। पर यह काफी नहीं है। यह इटली की आत्मा बन जानी चाहिये। फैसिस्टों को सम्बोधन करके वह कहा करता था---तुम खतरनाक बनकर जीवन बिताओ। अगर मैं आगे बढ़ता हूँ, तो मेरा अनुसरण करो। यदि मैं पीछे हटता हूँ, तो मुझे गोली

मार दो, मैं शान्ति में विश्वास नहीं करता। जिस प्रकार माता को गर्भ धारण का कष्ट उठाना पड़ता है, वैसे ही पुरुषों को युद्ध का कष्ट उठाना चाहिये।

मुसोलिनी के शक्तिशाली नेतृत्व में फैसिस्ट पार्टी की शक्ति निरन्तर बढ़ती गई। १९१९ में इटली भर में केवल २७ फेसिओ थे। १९२० में उनकी संख्या बढ़कर ११८ हो गई। तीसरे साल १९२१ में इटली में फेसिओं का जाल-सा बिछ गया। उनकी संख्या २२०० तक पहुंच गई। इसी तरह की उन्नति फैसिस्ट पार्टी के सदस्यों की संख्या में भी हुई। १९१९ में फैसिस्ट पार्टी के कुल सदस्य १७,००० थे। १९२० में वे बढ़कर ३०,००० हो गये। १९२१ में उनकी संख्या ३,००,००० तक पहुँच गई। मुसोलिनी के अद्भुत साहस और संगठन का ही यह परिणाम था, कि तीन साल के थोड़े से अरसे में उसकी पार्टी इटली की सर्वप्रधान राजनीतिक शक्ति बन गई थी।

अक्टूबर, १९२२ में फैसिस्ट पार्टी की एक कांग्रेस नेपल्स में हुई। इसमें ४० हजार से भी अधिक फैसिस्ट स्वयंसेवक सैनिक पोशाक में एकत्र हुए। ये सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे। नेपल्स में इन्होंने बड़ा भारी शानदार जलूस निकाला। कांग्रेस के खुले अधिवेशन में मुसोलिनी ने गरजकर घोषणा की—"या तो इटली की सरकार हमारे हाथ में आ जायगी, और नहीं तो हमें रोम के ऊपर चढ़ाई करनी होगी।" २७ अक्टूबर, १९२२ को लिबरल मन्त्रि-मण्डल के वृद्ध नेता जिओलित्ती ने इस्तीफा दे दिया था। उसने भलीभांति अनुभव कर लिया था, कि परिस्थिति उसके काबू से बाहर हो गई है, और मुसोलिनी का मुकाबला करना असम्भव है। अब इटली में कोई भी ऐसा मन्त्रिमण्डल नहीं बन सका, जो शक्तिशाली हो। मुसोलिनी ने अपनी फैसिस्ट सेना के साथ रोम की तरफ प्रस्थान कर दिया। इटली के राजा विक्टर एमेनुएल तृतीय ने भलीभांति अनुभव कर लिया, कि मुसोलिनी का मुकाबला करना बेकार है। उसने उसे ही मन्त्रिमण्डल का निर्माण करने के लिये आमन्त्रित किया।

अब मुसोलिनी इटली का प्रधान मन्त्री हो गया। पर फैसिस्ट पार्टी के संगठन-कार्य को जारी रखा गया। अब भी फैसिस्ट सेना उसी प्रकार स्वयंसेवक भरती करती थी, और उनके जलूस सैनिक कवायद करते हुए सब जगह दृष्टि-गोचर होते थे। मुसोलिनी भलीभांति जानता था, कि उसकी शक्ति का मुख्य आधार फैसिस्ट पार्टी ही है। उसके संगठन व विस्तार को वह बहुत महत्त्व देता था। इसमें उसने जरा भी शिथिलता नहीं आने दी। प्रधान मन्त्री बनकर मुसोलिनी ने साम्यवादियों के साथ बड़ा कड़ा बरताव

किया। हड़तालों की जो बीमारी कारखानों में शुरू हो रही थी, उसे उसने शान्त किया। शासन में सुधार करके इटली की सरकार को उसने बहुत उन्नत और समर्थ बनाने का प्रयत्न किया।

३. फैसिस्ट शासन

चुनाव का नया ढंग—नवम्बर, १९२३ में मुसोलिनी ने इटली की पार्लियामेण्ट में निर्वाचन सम्बन्धी एक नया कानून पेश किया। इसके अनुसार, चुनाव में जिस पार्टी को सबसे अधिक वोट मिलें, उसके पार्लियामेण्ट में दो तिहाई सदस्य रहें, बाकी एक तिहाई सदस्य उन पार्टियों में उसी अनुपात से बांट दिये जावें, जिस अनुपात में कि उन्हें वोट मिले हों। इस कानून के अनुसार पहला चुनाव एप्रिल, १९२४ में हुआ। अब तक फैसिस्ट पार्टी इटली में बहुत शक्तिशाली हो चुकी थी। चुनाव में कुल वोट ७५ लाख के लगभग पड़े, इनमें से ४५ लाख के लगभग वोट फैसिस्ट पार्टी को मिले। पार्लियामेण्ट के दो तिहाई सदस्य फैसिस्ट पार्टी के हो गये। बाकी एक तिहाई सदस्य साम्यवादी, लिबरल व अन्य दलों के हुए।

मुसोलिनी का एकाधिपत्य—अब मुसोलिनी का पार्लियामेण्ट में एकाधिपत्य था। विरोधी दलों के लोग उसके सम्मुख सर्वथा असहाय थे। पर मुसोलिनी को इससे भी सन्तोष नहीं था। वह फैसिस्ट पार्टी के विरोधी लोगों को एकदम कुचल देना चाहता था। अपने विरोधियों के साथ उसने बड़ा कठोर बरताव किया। अनेक विरोधी नेता गिरफ्तार किये गये, बहुत से इटली से बाहर चले जाने को विवश हुए। विरोधी दलों के समाचारपत्रों पर कड़ी निगाह रखी गई। अनेक प्रेस और पत्र बन्द हो गये। इस समय यह असम्भव हो गया था, कि कोई व्यक्ति मुसोलिनी के खिलाफ उंगली भी उठा सकता। वह इटली का डिक्टेटर बन गया था।

१९२५ से १९२८ तक इटली में अनेक नये कानून बनाये गये। इनका उद्देश्य यह था, कि फैसिस्ट सरकार और उसके नेता के हाथ में अपरिमित शक्ति दे दी जाय, वे जो कुछ चाहें कर सकें। इन्हीं कानूनों के अनुसार उन सब राजकर्मचारियों व अफसरों को बर्खास्त किया गया, जो फैसिस्ट नहीं थे। साम्यवादी, लिबरल व राजनीतिक पार्टियों को तोड़ दिया गया। राजनीतिक अपराधियों के ऊपर मुकदमा चलाने और शीघ्र ही उनका फैसला कर देने के लिये विशेष न्यायालयों की स्थापना की गई। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से षड्यंत्रकारी

साबित हों, उनकी सम्पत्ति का जब्त किया जाना शुरू हुआ। विरोधी समाचार-पत्रों और पुस्तकों का प्रचार रोका गया। मुसोलिनी के हाथ में सारी राजशक्ति दे दी गई। प्रान्तीय शासक सीधे उसके प्रति उत्तरदायी थे। प्रान्तीय शासकों और अन्य उच्च राजकर्मचारियों की नियुक्ति वह स्वयं करता था।

चुनाव के ढंग में पुनःपरिवर्तन—१९२८ में निर्वाचन के सम्बन्ध में एक और नया कानून बनाया गया। इसके अनुसार पार्लियामेण्ट के सम्पूर्ण सदस्यों की सूची फैसिस्ट पार्टी द्वारा तैयार कर ली जाती थी। मतदाताओं को केवल यह अवसर दिया जाता था, कि वे इस सम्पूर्ण सूची के पक्ष या विपक्ष में वोट दें। लोकतन्त्र शासन का अब इटली में अन्त हो गया था। उसका स्थान अब फैसिस्ट शासन ने ले लिया था, जिसका प्रथम सिद्धान्त यह था, कि मुसोलिनी देश का डिक्टेटर या प्रधान नेता है, और उसकी आज्ञाओं को आंख मींचकर स्वीकार कर लेना सबका सर्वप्रधान कर्तव्य है। नाम को अब भी इटली में लोकतन्त्र शासन विद्यमान था। वंशक्रमानुगत राजा अब भी इटली का वैध शासक था, जो पार्लियामेण्ट के बहुमत के नेता को प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्त करता था। इटली में पार्लियामेण्ट अब भी बाकायदा काम कर रही थी। उसकी दोनों सभाओं—सीनेट और प्रतिनिधि सभा—के अब भी नियमपूर्वक अधिवेशन होते थे। पर वास्तविक राजशक्ति फैसिस्ट पार्टी के हाथ में थी। जिस प्रकार रूस में कम्युनिस्ट पार्टी ही वास्तविक सरकार थी, वैसे ही इटली के शासन का संचालन असल में फैसिस्ट पार्टी द्वारा होता था।

फैसिस्ट पार्टी—१९३२ में फैसिस्ट पार्टी के सदस्यों की संख्या साढ़े बारह लाख से भी अधिक हो गई थी। कोई व्यक्ति तब तक फैसिस्ट पार्टी का सदस्य नहीं बन सकता था, जब तक कि वह उसके प्रति अपनी भक्ति और निष्ठा का पूरी तरह प्रमाण न दे दे। इसीलिये पार्टी की सदस्यता के प्रार्थनापत्रों पर बड़े ध्यान से विचार किया जाता था। बहुत से प्रार्थनापत्र अस्वीकृत कर दिये जाते थे। १९३३ में फैसिस्ट पार्टी की सदस्यता के लिये ६,००,००० प्रार्थनापत्र आये, पर उनमें से केवल दो लाख स्वीकृत किये गये। शेष सबको अस्वीकृत कर दिया गया।

फैसिस्ट पार्टी की शाखायें सब जगह विद्यमान थीं। फैसिओं की कुल संख्या अब दस हजार के लगभग पहुँच गई थी। स्थानीय फैसिओ प्रान्तीय फैसिओ के सदस्यों का चुनाव करती थीं। ये प्रान्तीय शाखायें अखिल इटालियन फैसिस्ट ग्रान्ड कौंसिल में अपने प्रतिनिधि भेजती थीं। फैसिस्ट पार्टी का वास्तविक

संचालन एक कार्यकारिणी समिति के हाथ में था, जिसके कुल सदस्यों की संख्या बीस थी। इसमें मुसोलिनी के वे साथी प्रमुख स्थान रखते थे, जिन्होंने दस साल पहले रोम के ऊपर 'आक्रमण' में उसका साथ दिया था। मुसोलिनी स्वयं इस समिति का अध्यक्ष था। इटली के शासनसूत्र का संचालन यह समिति ही करती थी। पार्लियामेन्ट के सदस्यों की सूची इसी में तैयार होती थी। शासन, सेना व न्याय के विविध उच्च पदों पर किन लोगों की नियुक्ति की जाय, यह भी इसी समिति द्वारा तय होता था। इस समय इटली की असली राजशक्ति इसी समिति के हाथ में थी।

४. फैसिस्ट सिद्धान्त

इटली में जो फैसिस्ट शासन स्थापित हुआ था, उसका यूरोप के इतिहास में बड़ा महत्त्व है। रूस के कम्युनिस्ट यह आशा करते थे, कि उनके विचार शीघ्र ही सारे यूरोप को व्याप्त कर लेंगे। पर वे निराश हुए। इसके विपरीत, इटली में जिस फैसिस्ट व्यवस्था की स्थापना हुई, धीरे-धीरे यूरोप के बहुसंख्यक देश उसके प्रभाव में आ गये। जर्मनी, स्पेन आदि अनेक महत्त्वपूर्ण देशों में फैसिस्ट सरकारें कायम हुईं, और अन्य देशों में भी इस विचार-धारा का जोर बढ़ गया। फ्रान्स, इङ्गलैण्ड, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि कोई भी देश फैसिज्म की लहर से अछूता नहीं रहा। अतः यह आवश्यक है, कि यहां फैसिस्ट सिद्धान्त पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया जाय।

फैसिज्म के अनुसार फ्रान्स की राज्यक्रान्ति द्वारा लोकतन्त्रवाद की जो लहर प्रारम्भ हुई, वह संसार में सच्चे अर्थों में जनता का राज्य नहीं कायम कर सकी। उसने राजाओं व कुलीन श्रेणियों के स्वेच्छाचारी व एकतन्त्र शासन का अन्त अवश्य किया, पर राजशक्ति जनता के हाथ में न आकर शिक्षित मध्यश्रेणी के हाथ में आ गई। इस श्रेणी ने जो नये शासन-विधान कायम किये, उनसे जनता को वोट का अधिकार जरूर मिल गया, पर अकेले वोट के अधिकार से राजशक्ति जनता के हाथ में नहीं आ जाती। शिक्षित लोगों में मतभेदों का विकास बहुत सुगम होता है, अतः सब देशों में विभिन्न पार्टियों का निर्माण हो गया। ये पार्टियां मतदाताओं को अपने काबू में करके विविध उपायों से उनके वोट प्राप्त कर लेती हैं, और फिर राजशक्ति प्राप्त करके उसका उपयोग केवल अपने स्वार्थसाधन के लिये करती हैं। इनके शासन से मध्य श्रेणी को अवश्य लाभ हुआ है, पर सर्व-साधारण जनता इनसे सन्तुष्ट नहीं हो सकती। यही कारण है, कि किसानों

और मजदूरों में बेचैनी निरन्तर बढ़ रही है, और कम्युनिज्म की लहर का प्रारम्भ हुआ है। किसान और मजदूर राजशक्ति को प्राप्त करने के लिये उठ खड़े हुए हैं, और धनियों व गरीबों में एक श्रेणी-संघर्ष का प्रारम्भ हुआ है, जो राज्य की स्थिरता और शक्ति के लिये अत्यन्त हानिकारक है। यदि यह संघर्ष बढ़ता गया, तो प्रत्येक राष्ट्र को इससे नुकसान उठाना पड़ेगा। लोकतन्त्र शासन में इस संघर्ष को दूर करने का कोई उपाय नहीं है। लोकतन्त्रवाद में व्यक्तियों को जिस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है, उसका यही परिणाम हो सकता है, कि पूंजीपति अधिक-अधिक अमीर होते जावें, और गरीबों का शोषण करने का उन्हें खुला अवसर प्राप्त होता रहे। केवल राजनीतिक समानता व कानून के सम्मुख सबके बराबर होने से गरीबों की समस्या हल नहीं हो जाती। अतः अब वैयक्तिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद का अन्त करके ऐसी व्यवस्था कायम करनी चाहिये, जिसमें सब लोगों को परस्पर सहयोग द्वारा राष्ट्रीय, सामाजिक व सामूहिक उन्नति करने का अवसर मिले। कोई किसी का शोषण न कर सके और न ही श्रेणी-युद्ध की आवश्यकता हो। यह समझा जाय, कि अमीर व गरीब, पूंजीपति व मजदूर—सब एक समाज के अंग हैं। समाज के हितों के सम्मुख सबके हित गौण हैं। समूह की उन्नति में ही सबकी उन्नति है। विभिन्न श्रेणियों व विभिन्न व्यक्तियों के हितों को सामूहिक हित के लिये कुर्बान किया जा सकता है। पर इस व्यवस्था की स्थापना सबको स्वेच्छापूर्वक कार्य करने की खुली छुट्टी देकर नहीं की जा सकती। इसकी स्थापना तभी हो सकती है, जब देश में केवल एक पार्टी हो, एक नेता हो। वह सबके लाभ को दृष्टि में रखकर आज्ञा प्रदान करे, सब उसे आंख मींच कर स्वीकार करें। यह एक पार्टी व एक नेता देश की सामूहिक इच्छा, सामूहिक आकांक्षा और सामूहिक शक्ति का प्रतिनिधि हो। उसके अबाधित शासन में ही कोई देश ठीक प्रकार उन्नति कर सकता है। उसके बिना विभिन्न श्रेणियों के आपस के संघर्ष को किसी भी प्रकार रोका नहीं जा सकता।

फैसिज्म व्यक्तिवाद के विरुद्ध है। राज्य व्यक्ति के लिये नहीं है, अपितु व्यक्ति राज्य के लिये है। मुसोलिनी कहा करता था—'सब चीजें राज्य में हैं, कोई चीज राज्य से बाहर नहीं है, कोई चीज या सत्ता राज्य के खिलाफ नहीं हो सकती।' राज्य को अधिकार है, कि सामूहिक हित के लिये व्यक्तियों के हित को कुर्बान कर दे। इसीलिये किसी व्यक्ति, समूह या पार्टी को यह अधिकार नहीं है, कि वह केवल अपने हित के लिये राज्य के सामूहिक हित की उपेक्षा कर सके। इसी सिद्धान्त के कारण फैसिस्ट लोग यह स्वीकार नहीं करते थे, कि मजदूरों को

अपना वेतन बढ़ाने या अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने के लिये हड़ताल करने का हक है। पूँजीपति अपने रुपये की अधिक आमदनी प्राप्त करने के लिये जिस देश में चाहें या जिस प्रकार चाहें लगा सकते हैं, यह बात भी फैसिस्टों को स्वीकार नहीं थी।

फैसिज्म लोकतन्त्रवाद के भी विरुद्ध है। १७८९ में यूरोप में जिस लोक-तन्त्रवाद का प्रारम्भ हुआ था, वह बहुमत पर आश्रित था। जिस ओर बहुसंख्यक लोग हों, वही ठीक है। इसीलिये प्रत्येक राजनीतिक दल अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने और उचित-अनुचित—सब प्रकार के उपायों से वोट बटोरने का प्रयत्न करता है। पर फैसिस्ट सिद्धान्त के अनुसार संख्या की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व देना चाहिये। यदि हजार मूर्ख एक बात कहते हों, तो वह मान्य नहीं हो सकती। एक ज्ञानी आदमी जो बात कहे, वह मान्य होनी है। देश का सर्वमान्य नेता, जिस पर जनता का पूर्ण विश्वास हो, जो जनता की आत्मा और आकांक्षा का प्रतिनिधि हो, जो बात कहेगा, उसके मुकाबले में मूर्ख जनता की राय कोई महत्त्व नहीं रख सकती। फैसिस्ट लोग लोकमत की अपेक्षा नेता की आज्ञा को अधिक महत्त्व देते थे। पार्टीबाजी व दलबन्दी के कीचड़ से देश को मुक्त कराने का वे यही एकमात्र उपाय समझते थे, कि एक नेता का पूर्णतया अनुगमन किया जाय।

फैसिज्म साम्यवाद के विरुद्ध है। कार्ल मार्क्स ने श्रेणि-संघर्ष के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, मुसोलिनी उससे सहमत नहीं था। फैसिस्टों के मतानुसार विभिन्न श्रेणियों में संघर्ष की बजाय परस्पर सहयोग होना चाहिये। यदि पूँजीपति और मजदूर परस्पर सहयोग से काम करें, तो उसमें राज्य की भलाई है, और राज्य की भलाई से गरीब और अमीर सबका फायदा है। यह ठीक है, कि सर्वसाधारण जनता की गरीबी दूर होनी चाहिये। पर मनुष्य का सुख-दुःख केवल पैसे पर ही निर्भर नहीं है। यदि सब लोग परस्पर मिलकर राष्ट्रीय उन्नति के लिये प्रयत्न करेंगे, तो उससे सबको समान रूप में लाभ पहुँचेगा, और गरीब से गरीब आदमी भी समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा। फैसिस्ट लोग यह भी नहीं चाहते, कि लोगों को आर्थिक-क्षेत्र में पूरी आजादी हो। इससे तो पूंजीपतियों को गरीबों का शोषण करने की खुली छुट्टी मिल जायगी। इसके विपरीत फैसिस्ट लोग यह मानते हैं, कि व्यक्तियों की आर्थिक स्वतन्त्रता पूरी तरह से राज्य के नियन्त्रण में होनी चाहिये। यदि सरकार राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रखकर पूँजीपति व मजदूर, जमींदार और किसान—सब पर समान रूप से नियन्त्रण रखे, तो ही सबका समान रूप से उत्कर्ष हो सकता है।

फैसिज्म शान्ति के भी विरुद्ध है। महायुद्ध के बाद चिरशान्ति की स्थापना के जो प्रयत्न हो रहे थे, फैसिस्ट लोग उन्हें पसन्द नहीं करते थे। वे कहते थे, शान्ति एक ऐसे तालाब के समान है, जहां पानी ठहरा रहता है। उन्नति का मतलब है, आगे बढ़ना और आगे बढ़ने का मतलब है, दूसरों को अपने पैरों के नीचे रौंदना। बिना लड़ाई के कोई जाति, समाज या राज्य अपना उत्कर्ष नहीं कर सकता। इटली बहुत लम्बे समय तक विदेशी शासन के अधीन रहा था। उसे अपना साम्राज्य बनाने का अवसर नहीं मिला था। ब्रिटेन और फ्रांस उन्नति की दौड़ में बहुत आगे बढ़ गये थे। उनकी बराबरी करने या उनसे आगे निकलने के लिये लड़ाई के सिवाय अन्य रास्ता ही कौन सा था? इसीलिये फैसिस्ट कहते थे, हमें खतरनाक तरीके से रहने की जरूरत है। हमें सब प्रकार की कुर्बानी के लिये और सब तरह के खतरों का मुकाबला करने के लिये तैयार होना चाहिये।

शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से इटली के ये फैसिस्ट सिद्धान्त सही नहीं कहे जा सकते। पर महायुद्ध के बाद वर्साय की सन्धि द्वारा अपनी आकांक्षायें पूर्ण न हो सकने पर वहां की जनता में जो एक तरह की बेचैनी थी, उसके कारण फैसिज्म वहां जंगल की आग की तरह फैल गया। मुसोलिनी ने किसी सैनिक आक्रान्ता के रूप में इटली को अपने शिकंजे में नहीं कस लिया था। उसकी स्थिति एक राष्ट्रीय वीर की, एक लोकप्रिय नेता की थी, जिसकी वाणी में जादू था, और जिसके विचारों से इटालियन जनता के हृदय की तन्त्री के तार झंकृत हो उठते थे। जनता उसे अपना सच्चा नेता मानती थी। वह जो बात कहता था, वह इटालियन लोगों के हृदय में घर कर लेती थी। मुसोलिनी और उसके फैसिस्ट सिद्धान्त की सफलता व लोकप्रियता का यही रहस्य था। कुछ समय के लिये इटली के लोगों की आशाएं मुसोलिनी में केन्द्रित हो गई थीं।

५. नई आर्थिक व्यवस्था

अपने सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर फैसिस्टों ने नई आर्थिक व्यवस्था का प्रारम्भ किया। वे आर्थिक क्षेत्र में पूंजीपतियों को मनमानी नहीं करने देना चाहते थे। उनका विचार था, कि प्रत्येक आर्थिक मामले में हस्तक्षेप करने व उत्पत्ति पर नियन्त्रण रखने का राज्य को पूरा-पूरा अधिकार है। कम्युनिस्टों के समान सब व्यवसायों को सीधा राज्य के अधीन कर लेना उन्हें पसन्द नहीं था। पर जो व्यवसाय देश की रक्षा के लिये उपयोगी हैं, उन पर राज्य का सीधा अधिकार होना वे आवश्यक समझते थे। इसीलिये रेलवे, लोहे के कारखाने

व इसी तरह के बड़े व्यवसाय सीधे राज्य के नियन्त्रण में कर लिये गये। उनकी आधी से अधिक पूंजी राज्य ने अपने स्वत्व में कर ली। बैंकों व विदेशी व्यापार पर भी राज्य ने अपना पूरा अधिकार जमा लिया। अन्य व्यवसायों का संचालन पूँजीपति करते थे, पर उनके लिये यह आवश्यक कर दिया गया था, कि वे मजदूरों का सहयोग पूरी तरह प्राप्त करें, और इस उद्देश्य से नीति के निर्धारण व महत्त्वपूर्ण बातों का फैसला करने के लिये मजदूरों के प्रतिनिधियों से परामर्श करते रहें। फैसिस्ट लोग श्रेणी-संघर्ष के अत्यन्त विरुद्ध थे। इसलिये उन्होंने यह व्यवस्था की, कि पूँजीपति अपनी एक सिण्डीकेट बनावें और मजदूर लोग दूसरी। जब कारखाने के मालिकों और मजदूरों में कोई मतभेद हो, किसी बात पर झगड़ा हो, तो दोनों सिण्डीकेटों का सम्मिलित अधिवेशन हो। दोनों पक्षों के लोग खुल कर सब बातों पर विचार करें, और इस प्रकार फैसला करने का प्रयत्न करें। पूंजीपतियों और मजदूरों की सिण्डीकेटें मिलकर यह तय करती थीं, कि मजदूरी की दर क्या रहे, काम करने के घंटे कितने हों, सवैतनिक छुट्टियां कितनी और कब दी जावें, साप्ताहिक अवकाश का समय कितना हो, और चोट लग जाने, बीमारी व अपाहिज हो जाने की दशा में मजदूरों को क्या निर्वाह-खर्च दिया जाय। फैसिस्ट-व्यवस्था में मजदूरों को हड़ताल करने की आवश्यकता नहीं थी। वे अपने लिये सब आवश्यक सुविधायें सिण्डीकेट द्वारा प्राप्त करा सकते थे। कारखानों की पृथक्-पृथक् सिण्डीकेटों के अतिरिक्त १३ केन्द्रीय सिण्डीकेटें थीं। इनमें से ६ पूंजीपतियों की, ६ मजदूरों की और १ विविध स्वतन्त्र पेशा करनेवाले लोगों की थीं। ये केन्द्रीय सिण्डीकेटें व्यवसाय सम्बन्धी सब महत्त्वपूर्ण मामलों को तय करती थीं। इनकी अधीनता में कुछ विशेष न्यायालय बनाये गये थे। यदि कोई मामले ऐसे हों, जिन्हें पूंजीपति और मजदूर मिलकर तय न कर सकें, तो उन्हें इन न्यायालयों के सम्मुख पेश किया जाता था। इनका फैसला सबके लिये मान्य होता था।

फैसिस्ट आर्थिक व्यवस्था में पूँजीपतियों और मजदूरों के प्रतिनिधि केवल आपस के झगड़ों को ही मिलकर नहीं निबटाते थे, अपितु परस्पर सहयोग द्वारा यह भी निश्चय करते थे, कि आर्थिक उत्पत्ति के कार्य को किस प्रकार अधिक से अधिक राष्ट्रीय हित के लिये प्रयुक्त किया जाय। साधारणतया, पूंजीपति जो भी कारोबार करते हैं, उसका उद्देश्य मुनाफा कमाना होता है। पर फैसिस्ट कहते थे, कि आर्थिक उत्पत्ति का उद्देश्य मुनाफा कमाना न होकर राष्ट्रीय हित का सम्पादन करना है। अतः उत्पत्ति के लिये ऐसी योजना बनानी चाहिये, जिससे

राष्ट्र का हित हो। इन योजनाओं को तैयार करने के लिये पूंजीपतियों और मजदूरों के प्रतिनिधि एक स्थान पर एकत्र होते थे। फैसिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि उनके साथ बैठते थे और ये सब मिलकर यह निर्णय करते थे, कि देश के हित को दृष्टि में रखते हुए कौन से कारोबार की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये, कौन सी फसल बोनी चाहिये, और कौन से कारखाने में कौन सा और किस प्रकार का माल तैयार होना चाहिये। पूंजीपति मुनाफे के ख्याल से जो अन्धाधुन्ध काम करते हैं, वह फैसिस्ट व्यवस्था में सम्भव नहीं था। वहां सब काम योजना के अनुसार होता था, और इन योजनाओं को तैयार करने में मजदूरों का भी पूरा सहयोग रहता था। फैसिस्ट लोग समझते थे, कि उन्होंने आर्थिक समस्या का एक ऐसा हल निकाल लिया है, जो सब देशों के लिये आदर्श है। इस समय यूरोप में सब जगह पूंजीपतियों और मजदूरों में जो संघर्ष चल रहा था, उसे दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है, कि फैसिस्ट लोग अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफल हुए थे।

१९२८ में इटली में एक नया कानून पास किया गया, जिसके अनुसार प्रतिनिधि सभा के लिये सदस्यों को मनोनीत करने का काम भी इन तेरह केन्द्रीय सिण्डीकेटों के सुपुर्द कर दिया गया। ये सिण्डीकेटें उन सदस्यों की एक सूची तैयार करती थीं, जिन्हें कि ये प्रतिनिधि सभा का सदस्य होने के लिये उपयुक्त समझतीं थीं। बाद में फैसिस्ट पार्टी की ग्रांड कौंसिल इस सूची को स्वीकार करती थी, और ये ही लोग मतदाताओं द्वारा चुन लिये जाते थे।

६. फैसिस्ट शासन में इटली की उन्नति

व्यावसायिक उन्नति—मुसोलिनी के सुयोग्य नेतृत्व में फैसिज्म ने इटली में बहुत उन्नति की। मजदूरों की समस्या फैसिस्टों ने अच्छी तरह हल कर दी थी। यह तय कर दिया गया था, कि वे एक दिन में आठ घण्टे से अधिक काम नहीं करेंगे, सप्ताह में एक दिन उन्हें छुट्टी दी जायगी। बीमारी की दशा में उन्हें निर्वाह का खर्च मिलेगा। चोट लग जाने, अपाहिज हो जाने या बुढ़ापे की दशा में उन्हें खर्च चलाने में तकलीफ न हो, इसके लिये उनका आवश्यक रूप से बीमा किया जायगा। मजदूर इससे सन्तुष्ट थे। व्यवसायों के संचालन में उनका भी उतना ही हाथ था, जितना कि पूंजीपतियों का। इसलिये वे अपने को पूंजीपतियों का विरोधी न समझकर सहयोगी मानते थे। इस सबका परिणाम यह हुआ, कि इटली में व्यावसायिक उन्नति खूब अच्छी तरह हुई।

शिक्षा का प्रसार—फैसिस्ट सरकार ने शिक्षा के प्रसार पर भी बहुत ध्यान दिया। मुसोलिनी के शक्ति प्राप्त करने के पहले १९२१ में इटली में निरक्षर लोगों की संख्या २५ फीसदी से अधिक थी। १९३५ में वह घटकर २० फी सदी से भी कम रह गई। इसी समय में स्कूलों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या तीस लाख से बढ़कर ४५ लाख हो गई। बच्चों की शिक्षा में फैसिज्म के सिद्धान्तों को बहुत महत्त्व दिया जाता था। इटली के बालक-बालिकाओं को यह सिखाया जाता था, कि बड़े होकर उन्हें उत्तम फैसिस्ट बनना है। पाठ्य-पुस्तकें फैसिज्म की विचारधारा से परिपूर्ण थीं। देशभक्ति और राष्ट्र-प्रेम पर भी फैसिस्ट लोग बहुत जोर देते थे। वे कहते थे, कि किसी समय इटली संसार का सबसे उन्नत और समृद्ध देश था। रोम के नागरिक सारे सभ्य संसार पर शासन करते थे। प्राचीन इटली की गौरव-गाथायें सुनाकर नवयुवकों को कहा जाता था, कि एक बार फिर इटली को गौरवपूर्ण स्थिति में लाना उनका कर्त्तव्य है। इसके लिये उन्हें अपने तन-मन और धन को कुर्बान कर देने के लिये उद्यत हो जाना चाहिये। देश के लिये बलिदान करने की शिक्षा इटली के बालकों को बचपन से ही दी जाती थी। उन्हें शुरू से ही सैनिक बनाने का प्रयत्न किया जाता था। इस उद्देश्य से ६ से ८ साल तक की आयु के बच्चों का पृथक् संगठन था, जिसे 'भेड़ियों की सन्तान' कहा जाता था। ८ से १४ साल तक के बालक अपना पृथक् संगठन रखते थे, और नियमित रूप से सैनिक शिक्षा प्राप्त करते थे। १४ से १८ वर्ष की आयु के नवयुवकों और १८ से २१ वर्ष के युवकों के अपने पृथक्-पृथक् संगठन थे। १९३९ में इन विविध बाल-संघों व युवकसंघों के सदस्यों की संख्या ५०,००,००० के लगभग हो गई थी, जो सब फैसिस्ट सिद्धान्तों का अनुसरण कर अपने देश की राष्ट्रीय उन्नति के लिये उतावले हो रहे थे। मुसोलिनी ने इटली के नवयुवकों में अपूर्व उत्साह का संचार कर दिया था।

पोप के साथ समझौता—इटली के निवासी रोमन कैथोलिक चर्च के अनुयायी थे। पोप के प्रति उनके हृदयों में अपार श्रद्धा थी। कावूर ने जब इटली को एक राष्ट्र के रूप में संगठित किया था, तो रोम पर भी आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कावूर से पहले रोम और उसके चारों ओर के प्रदेश पर पोप का शासन था, और पोप इस राज्य पर एक स्वतन्त्र राजा के समान शासन किया करता था। पोप के राज्य की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता इटली की राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध थी। इसीलिये कावूर ने रोम को इटली के साथ मिलाकर उसे सुसंगठित इटालियन राष्ट्र की राजधानी बनाया था। वैटिकन प्रासाद और उसके समीप की कुछ

अन्य इमारतों पर अब भी पोप का अक्षुण्ण शासन कायम रखा गया था। पर पोप इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं थे, और इटली की पोप-भक्त जनता भी पोप की इस हीन स्थिति को अनुचित समझती थी। मुसोलिनी चाहता था, कि इटालियन जनता की सहानुभूति फैसिस्ट शासन के लिये प्राप्त करे। अतः उसने पोप को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। इस समय पोप के पद पर पायस ग्यारहवां विराजमान था, जो स्वयं इटली के साथ समझौता करने के लिये उत्सुक था। १९२६ में मुसोलिनी ने पोप पायस के साथ समझौते की बातचीत शुरू की और फरवरी, १९२९ में दोनों पक्षों में सब विवादग्रस्त विषयों पर समझौता हो गया। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गयी, कि (१) पोप इटली की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करे, और इटली वैटिकन प्रासाद, सेण्ट पीटर्स के गिरजे और कैसल गांदोल्फो पर पोप के स्वतन्त्र शासन को स्वीकार करे। इस प्रदेश पर पोप का अबाधित शासन हो, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसे एक स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य माना जाय। पोप विदेशों में अपने राजदूत नियत कर सकें, और अन्य राज्यों के राजदूत अपने यहां रख सकें। सब देशों के लोग पोप के इस राज्य के साथ पत्र-व्यवहार कर सकें, और युद्ध के समय में भी सब राज्यों को पोप के इस राज्य के साथ सम्बन्ध रखने का अधिकार हो। युद्ध में सम्मिलित राज्यों को भी यह अवसर हो, कि उनके बिशप पोप के इस राज्य में स्वच्छन्द रूप से आ-जा सकें। इटली इसमें किसी प्रकार की बाधा न डाले। (२) जिस समय इटली ने रोम पर अपना अधिकार किया था, वहां की सरकार ने हरजाने के रूप में पोप को प्रति वर्ष एक निश्चित रकम देनी स्वीकार की थी। पर पोप अब तक इस रकम को लेने से इनकार करते रहे थे। अब इस रकम के बदले में इटालियन सरकार ३०,००,००,००० रुपया पोप को प्रदान करे। (३) इटली के सब बिशपों की नियुक्ति पोप द्वारा की जाय, पर पोप बिशपों की नियुक्ति करते हुए पहले यह इटालियन सरकार से जान लें, कि राजनीतिक दृष्टि से इटालियन सरकार को इन नियुक्तियों के विषय में कोई एतराज तो नहीं है। (४) पोप द्वारा नियुक्त इटालियन बिशपों का वेतन इटली की सरकार द्वारा दिया जाय। (५) इटली के शिक्षणालयों में धार्मिक शिक्षा देने के लिये जिन शिक्षकों को नियत किया जाय, वे पोप द्वारा स्वीकृत हों। (६) चर्च की सेवा में नियुक्त कोई व्यक्ति राजनीतिक दलबन्दी में हिस्सा न ले सके। १९२९ के इस समझौते को, जिसे 'लेतेरन अकोर्ड' कहते हैं, इटली की जनता में बहुत सन्तोष हुआ, और इसके कारण फैसिस्ट दल और मुसोलिनी की लोकप्रियता में बहुत सहायता मिली।

राष्ट्रीय उन्नति——सम्पूर्ण शासन-शक्ति को अपने हाथों में लेकर मुसोलिनी जिस ढंग से राज्य का संचालन कर रहा था, उससे देश की चौमुखी उन्नति हुई। जनता में अपने अतीत गौरव की स्मृति को ताजा रखने के लिये पुराने ऐतिहासिक स्मारकों का पुनरुद्धार किया गया। जूलियस सीजर और आगस्तस जैसे प्राचीन रोमन वीरों की स्मृति में नये स्मारकों का निर्माण किया गया। रेलवे-पद्धति का पुनः संगठन किया गया। सामुद्रिक शक्ति की वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया। १९१३ में इटली के जहाज जर्मनी के मुकाबले में एक चौथाई और फ्रांस के मुकाबले में आधे से अधिक नहीं थे। मुसोलिनी के प्रयत्न से १९३५ में इटली की सामुद्रिक शक्ति फ्रांस और जर्मनी के समकक्ष हो गई। इटली के व्यापारिक जहाज महासमुद्रों के पार विविध देशों में आने-जाने लगे। रेडियो और वायुयानों की उन्नति पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया। इटली में कोयले और लोहे की कमी थी। पर इससे मुसोलिनी निराश नहीं हुआ। उसने जल के प्रपातों से बिजली उत्पन्न कर कोयले की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया। १९३५ में जलप्रपातों द्वारा बिजली की जो शक्ति इटली में उत्पन्न की जा रही थी, वह ५५ लाख अश्वशक्ति (हार्स पावर) के बराबर थी। इस क्षेत्र में कोई अन्य देश इटली का मुकाबला नहीं कर सकता था। मुसोलिनी की यह नीति थी, कि आर्थिक दृष्टि से इटली किसी अन्य देश पर आश्रित न रहे, आर्थिक क्षेत्र में वह आत्म-निर्भर हो जाय।

सैनिक उन्नति——मुसोलिनी भली भांति अनुभव करता था, कि इटली अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को तभी पूर्ण कर सकता है, जब कि सैनिक उन्नति में वह किसी अन्य राज्य से पीछे न रहे। इसीलिये उसने बाधित सैनिक सेवा की पद्धति का अनुसरण किया, और सेना को सब प्रकार के नवीन अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करने का यत्न किया।

विदेशी राजनीति——अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इटली की स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये मुसोलिनी की फैसिस्ट सरकार ने जिस प्रकार अपना पृथक् गुट बनाने का प्रयत्न किया, उसका उल्लेख हम पहले एक अध्याय में विशद रूप से कर चुके हैं। १९२४ में इटली ने चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया के साथ सन्धियाँ कीं। १९२६ में वह रूमानिया और स्पेन के साथ मित्रता के सम्बन्ध को स्थापित करने में समर्थ हुआ। इसी साल उसने अल्बेनिया के साथ भी सन्धि की। १९२७ में इटली ने हंगरी के साथ सन्धि कर ली। १९२८ में टर्की और ग्रीस और १९३० में आस्ट्रिया इटली के साथ सन्धि के सूत्र में बंध गये। इन सब सन्धियों

का प्रयोजन यह था, कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इटली की स्थिति सुदृढ़ हो जाय, और वह निश्चिन्त होकर अपने राष्ट्रीय उत्कर्ष में तत्पर हो सके।

साम्राज्य-प्रसार का प्रयत्न—मुसोलिनी के नेतृत्व में फैसिस्ट सरकार देश की उन्नति के लिये निःसन्देह उपयोगी व महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही थी। देश-प्रेम और राष्ट्र-भक्ति बहुत अच्छी बातें हैं, पर जब उनका अतिशय हो जाता है, तो उनका परिणाम साम्राज्यवाद होता है। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली के लोग भी साम्राज्य-विस्तार की उत्कट भावना से ओतप्रोत हो गये थे। वे चाहते थे, कि फ्रांस और ब्रिटेन के समान उनका भी विशाल साम्राज्य हो। प्राचीन रोमन साम्राज्य का पुनरुद्धार उनका आदर्श था। इसीलिये इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया। अफ्रीका में एक विशाल राज्य को जीत कर उसने साम्राज्य-विस्तार की अपनी भूख को शान्त कर लिया, पर इससे जो विकट अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें उठ खड़ी हुईं, उन्होंने मुसोलिनी और उसके फैसिस्ट अनुयायियों को खाक में मिला दिया। इटली के साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी प्रयत्न पर हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे। पर यहां हमें यह ध्यान में रखना चाहिये, कि मुसोलिनी ने जिस नये सिद्धान्त का विकास किया था, उसकी अतिशयता ही उसके पतन का कारण हुई।

तिरपनवां अध्याय

नाजी जर्मनी

१. हिटलर का उदय

महायुद्ध में परास्त होने के बाद जर्मनी में किस प्रकार होहेन्ट्सोलर्न राजवंश के शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई, और इस नई सरकार को किन विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा, इस पर हम पहले विचार कर चुके हैं। जिस समय जर्मनी के रिपब्लिकन और साम्यवादी नेता वर्साय की सन्धि के अनुसार दी जानेवाली हरजाने की रकमों की अदायगी के बारे में सहूलियतें प्राप्त करने के लिये मित्रराष्ट्रों से समझौते कर रहे थे, जर्मनी में एक नई शक्ति का अभ्युदय हो रहा था। इस शक्ति ने न केवल वर्साय की सन्धि को पैरों तले कुचल दिया, अपितु कुछ समय के लिये सम्राट् विलियम द्वितीय के महान् जर्मनी के स्वप्न को भी क्रिया में परिणत करके दिखा दिया। यह शक्ति हिटलर था।

प्रारम्भिक जीवन—हिटलर का जन्म सन् १८८९ में आस्ट्रिया में हुआ था। उसके माता-पिता निम्न श्रेणी के थे। बचपन में हिटलर को उचित शिक्षा नहीं मिल सकी। उसकी आकांक्षायें महान् थीं, पर उसके पिता के पास इतना धन नहीं था, कि उन्हें पूरा किया जा सकता। उसे चित्रकला का बड़ा शौक था। उसकी इच्छा थी, कि साधारण स्कूल की शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद आस्ट्रिया की चित्रकला एकेडेमी में प्रवेश किया जाय। पर वह अपनी यह इच्छा पूर्ण नहीं कर सका। कुछ समय तक वह वियेना में रहा। वहां उसने इमारत बनानेवाले एक शिल्पी के यहां नौकरी कर ली। १९१२ में वह म्यूनिच चला आया, और चित्र बनाकर अपना निर्वाह करने लगा। जिस समय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, वह म्यूनिच में ही था। उसका जन्म आस्ट्रिया में हुआ था, और राष्ट्रीयता की दृष्टि से वह आस्ट्रियन था, पर युद्ध के शुरू होने पर वह जर्मन सेना में भर्ती हो गया। लड़ाई में उसने बड़ी योग्यता दिखाई। वीर-कृत्यों के कारण उसे अनेक उच्च सैनिक सम्मान भी प्राप्त हुए। जब लड़ाई में जर्मनी की पराजय हो गई और उसके

नेताओं ने मित्रराष्ट्रों के साथ सन्धि कर ली, तो वह आपे से बाहर हो गया। उसका खून खौलने लगा। वह कहता था, कि जर्मनी की पराजय का कारण उसके नेताओं की बुजदिली है। जर्मन सेना में अब भी इतनी शक्ति है, कि वह अपने शत्रुओं को नीचा दिखा सकती है। पर उसके नेता हिम्मत हार गये हैं। युद्ध की समाप्ति पर हिटलर ने राजनीति में प्रवेश करने का निश्चय किया। जर्मन जाति का जो घोर अपमान युद्ध में पराजय के कारण हुआ था, उसका प्रतिशोध करने के लिये एक भयंकर ज्वाला हिटलर के हृदय में जल रही थी।

नाजी पार्टी––१९१९ में हिटलर ने एक नई पार्टी का निर्माण किया। सेना में अनेक सिपाहियों के साथ उसकी मैत्री हो गई थी। इनके विचार हिटलर से मिलते-जुलते थे। नई पार्टी का नाम नाजी (राष्ट्रीय साम्यवादी) रक्खा गया। नाजी पार्टी ने अपने कार्यक्रम में निम्नलिखित बातों को प्रमुख स्थान दिया––(१) वर्साय की सन्धि को रद्द किया जाय। (२) जर्मन भाषा बोलने वाले जर्मन जाति के लोग जिन प्रदेशों में रहते हैं, उन सबको मिलाकर एक विशाल जर्मन राज्य की स्थापना की जाय। (३) जर्मनी के उपनिवेश उसे वापस दिये जायं। (४) सैनिक उन्नति के मार्ग में जो बाधायें वर्साय की सन्धि द्वारा उत्पन्न की गई हैं, उन्हें हटा दिया जाय; और जर्मनी अपनी सारी शक्ति सैनिक उन्नति में लगा दे। (५) यहूदी लोग जर्मन नहीं हैं। युद्ध में जर्मनी की पराजय का मुख्य कारण इन यहूदियों की सत्ता है। जर्मनी में रहते हुए भी ये जर्मन नहीं हैं। जब इन्होंने देखा कि युद्ध को जारी रखने से इनके वैयक्तिक स्वार्थों को क्षति पहुंचती है, इन्होंने अपने प्रभाव से युद्ध को बन्द करवा दिया। यहूदियों से नागरिकता के सब अधिकार छीन लेने चाहियें। अच्छा तो यह है, कि उन्हें जर्मनी से बाहर निकाल दिया जाय। (६) जो विदेशी लोग बाहर से आकर जर्मनी में बसते हैं, उन्हें रोका जाय। (७) जो समाचारपत्र व संस्थायें देश-भक्ति की भावना के विपरीत प्रचार करती हैं उन्हें बन्द किया जाय। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की लहर यूरोप में बहुत प्रबल हो रही थी। जर्मनी में भी अनेक ऐसी संस्थायें व पत्र विद्यमान थे, जो अन्तर्राष्ट्रीयता पर बहुत बल देते थे। नाजी पार्टी इनके खिलाफ थी। (८) कम्युनिज्म व कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त राष्ट्रीय उन्नति के लिये हानिकारक हैं। देश की आर्थिक नीति का निर्णय करते हुए राष्ट्रीयता को सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिये।

हिटलर की गिरफ्तारी––हिटलर ने अपने विचारों का प्रचार बड़ी तत्परता

के साथ शुरू किया। वह भाषण करने में बहुत प्रवीण था। उसकी वाणी में एक खास तरह का जादू था, जिससे सर्वसाधारण जनता बहुत प्रभावित होती था। उसके व्याख्यानों को सुनने के लिये जनता बड़े शौक से एकत्र होती थी। जब वह वर्साय की सन्धि के खिलाफ जहर उगलता था, तो जनता में जोश फैल जाता था। लोग कहते थे, कि उन नेताओं को धिक्कार है, जिनके कारण जर्मनी को इतना अपमान सहना पड़ा है। हिटलर के इस प्रचार को जर्मन सरकार नहीं सह सकी। १९२३ में उसे गिरफ्तार कर लिया गया, और एक साल कैद की सजा दी गई। जेल में रहते हुए उसने अपनी वह प्रसिद्ध पुस्तक 'मेरा संघर्ष' (माइन काम्प्फ) लिखी जो आगे चलकर नाजियों की धर्म पुस्तक बन गई।

नाजी पार्टी का संगठन—जेल जाने से हिटलर का नाम जर्मनी भर में फैल गया। मुकदमे के समय में अपनी सफाई देते हुए हिटलर ने अपने विचारों को बड़े विशद रूप में प्रतिपादित किया था। समाचारपत्रों में इनका विवरण बड़े विस्तार के साथ छपता था। जेल के समय में नाजी लोग उसके मन्तव्यों का बड़े उत्साह के साथ प्रचार कर रहे थे। जब वह जेल से छूटा, तो उसकी शक्ति और भी बढ़ गई। सब जगह नाजी पार्टी की शाखायें स्थापित की गईं। स्थानीय नाजी सभायें प्रान्तीय सभाओं के लिये प्रतिनिधि चुनती थीं, और प्रान्तीय सभायें केन्द्रीय नाजी कौंसिल में अपने प्रतिनिधि भेजती थीं। नाजी पार्टी का सब जगह जाल-सा बिछ गया था। एक स्वयंसेवक सेना का भी संगठन किया गया, जो सैनक पोशाक में रहती थी। नाजी स्वयंसेवक भूरे रंग की पोशाक पहनते थे, उनकी बाहों पर लाल रंग की एक पट्टी रहती थी, जिस पर स्वस्तिक का चिन्ह अंकित होता था। हिटलर को यहूदियों से अपार द्वेष था। वह कहता था, जर्मन लोग शुद्ध आर्य जाति के हैं, यहूदी सैमेटिक जाति के हैं। आर्यों को सेमेटिक यहूदियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। प्राचीन आर्यों का जातीय चिन्ह स्वस्तिक था। यह न केवल भारत के आर्यों में, अपितु यूरोप के आर्यों में भी प्रचलित था। इसीलिये यहूदियों के खिलाफ आर्य-आन्दोलन के लिये हिटलर ने स्वस्तिक को अपना चिन्ह चुना था। नाजी स्वयंसेवक दल का एक अन्य अंग था, जो पार्टी के लिये अपने प्राणों तक की आहुति देने के लिये सदा उद्यत रहता था। वे लोग काली पोशाक पहनते थे, और मनुष्य की खोपड़ी का चित्र उनकी पोशाक पर बना रहता था। ये लोग तूफानी सैनिक (स्टार्म ट्रूपर्स) कहाते थे। हिटलर व अन्य नाजी नेताओं की रक्षा के लिये वे सदा उनके साथ रहते थे, और अपने विरोधियों को सबक सिखाने के लिये भी वे सदा उत्सुक रहते थे।

नाजी पार्टी का उत्कर्ष—१९३० में सारे यूरोप में आर्थिक संकट उपस्थित हुआ। जर्मनी भी इसके प्रभाव से नहीं बच सका। बहुत से कल-कारखाने बन्द हो गये, और पचास लाख के लगभग मजदूर बेकार हो गये। इन बेकारों में नाजियों ने अपने सिद्धान्तों का खूब प्रचार किया। उनका कहना था, कि जर्मनी की सब समस्याओं और संकटों का मूल कारण वहां का लोकतन्त्र शासन है, जिसमें सब प्रकार के स्वार्थों और दलबन्दियों को मनमानी करने का यथेष्ट अवसर मिलता है। साम्यवाद का जो असर जर्मनी पर पड़ रहा है, वह राष्ट्रीय दृष्टि से विघातक है। जब तक जर्मन जनता वर्साय की सन्धि के खिलाफ विद्रोह करने के लिये न उठ खड़ी होगी, और सम्पूर्ण जर्मनों को एक सूत्र में संगठित नहीं कर लेगी, जर्मनी की समस्या हल न हो सकेगी। मुसोलिनी ने किस प्रकार इटली में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न कर दी थी, यह उदाहरण हिटलर के सामने था। जर्मनी में वह मुसोलिनी का सब प्रकार से अनुसरण करना चाहता था। धीरे-धीरे उसकी शक्ति बढ़ती गई। १९३० के चुनाव में नाजी पार्टी के १०७ सदस्य पार्लियामेण्ट में निर्वाचित हुए। कुल सदस्यों की संख्या ५७६ थी। एक नई पार्टी के लिये २० फी सदी के लगभग स्थान प्राप्त कर लेना बहुत बड़ी बात थी। इससे नाजियों की हिम्मत बहुत बढ़ गई। १९३२ में राष्ट्रपति का पुनः निर्वाचन होना था। हिटलर हिन्डनबर्ग के मुकाबले में खड़ा हुआ। कुल मिलाकर जितने वोट पड़े, उनमें से ५३ फीसदी हिन्डनबर्ग को मिले, और ३७ फीसदी हिटलर को। हिन्डनबर्ग जैसे प्रतिष्ठित और सर्वमान्य नेता के मुकाबले में ३७ फीसदी वोट प्राप्त कर लेना हिटलर के लिये बहुत बड़ी बात थी। जर्मन जनता पर उसका प्रभाव कितनी तेजी से बढ़ रहा था, यह इसका ठोस प्रमाण है। १९३२ में ही पार्लियामेण्ट का फिर चुनाव हुआ। इस चुनाव में नाजियों के २३० सदस्य निर्वाचित हुए। यद्यपि पार्लियामेण्ट में उनकी बहुसंख्या अब भी नहीं हुई थी, पर अन्य पार्टियों के मुकाबले में नाजी लोग सबसे अधिक निर्वाचित हुए थे। इस समय जर्मनी में नाजी पार्टी का जोर बहुत बढ़ गया था। परिणाम यह हुआ, कि हिटलर को प्रधान मन्त्री के पद पर नियत किया गया। पर हिटलर इतने से सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह चाहता था, कि पार्लियामेण्ट में उसका कोई विरोधी न रहे। नाजी पार्टी की अभी बहुसंख्या नहीं थी। अन्य पार्टियां मिलकर हिटलर के प्रस्तावों को अस्वीकृत कर सकती थीं। इस कारण हिटलर ने पार्लियामेण्ट को बरखास्त करके नये निर्वाचन की व्यवस्था की। पार्लियामेण्ट के भंग होने से पहले एक ऐसी घटना हुई, जिससे हिटलर को अपने विरोधियों को

बदनाम करने और कुचलने का सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया। पार्लियामेण्ट का अधिवेशन अभी समाप्त नहीं हुआ था, कि उसकी इमारत में आग लग गई। हिटलर का कहना था, कि यह आग कम्युनिस्टों की करतूत है। पार्लियामेण्ट में कम्युनिस्ट पार्टी के १०० सदस्य थे। हिटलर कहता था, कि ये कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी उपायों से राज्य पर कब्जा कर लेना चाहते हैं। इसीलिये उन्होंने इस भयंकर उपाय का प्रयोग किया। बहुत से कम्युनिस्टों को गिरफ्तार कर लिया गया, सब जगह उनकी बदनामी की गई। परिणाम यह हुआ, कि नये चुनाव में ४४ फीसदी सदस्य नाजी पार्टी के चुने गये। अन्य राष्ट्रीय विचारों के सदस्यों के साथ मिलकर उनकी बहुसंख्या हो जाती थी। अब हिटलर का मार्ग साफ हो गया था। वह अब साम्यवादियों और कम्युनिस्टों का आसानी से दमन कर सकता था।

अगस्त, १९३४ में राष्ट्रपति हिन्डनबर्ग की मृत्यु हो गई। उसका स्थान हिटलर ने ले लिया। अब हिटलर जर्मनी का प्रधान मन्त्री भी था, और राष्ट्रपति भी। सब राजशक्ति उसके हाथ में आ गई थी। म्यूनिच का यह साधारण सा चित्रकार, जो गरीबी से अपने दिन काटा करता था, अब जर्मनी का सर्वेसर्वा बन गया था। उसके हाथ में इतनी शक्ति आ गई थी, जितनी कि होहन्ट्सोलर्न वंश के सम्राटों के हाथ में भी नहीं थी।

२. नाजीज्म की सफलता के कारण

नाजी पार्टी की इस असाधारण सफलता के क्या कारण थे? वर्साय की सन्धि ने जर्मनी में एक प्रकार के असन्तोष और बेचैनी का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। जनता में यह भावना विद्यमान थी, कि उसका घोर अपमान हुआ है। जर्मन लोग चाहते थे, कि उनका देश फिर से वही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करे, जो महायुद्ध से पहले जर्मनी को प्राप्त था। पर महायुद्ध में परास्त होने के कारण जर्मनी के जिम्मेवार नेता अपने को असहाय अनुभव करते थे। वे भी देशभक्त थे, जर्मनी के राष्ट्रीय गौरव के पुनरुद्धार के लिये उनका हृदय भी उत्सुक था। पर नीति से काम लेने के अतिरिक्त उनके सम्मुख कोई उपाय नहीं था। उनके प्रयत्नों का ही यह परिणाम था, कि रूर को फ्रांस की सेनाओं ने खाली कर दिया था, र्हाइनलैण्ड से मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ वापस बुला ली गई थीं, और हरजाने की रकम की अदायगी बहुत कुछ स्थगित कर दी गई थी। जर्मनी राष्ट्रसंघ का भी सदस्य हो गया था, और यूरोप की राजनीति में उसे सम्मानास्पद स्थान मिलने

लग गया था। पर जर्मन जनता का घायल हृदय इतने से सन्तुष्ट नहीं था। जब हिटलर और उसके साथी आवेश में गरजकर यह कहते थे, कि हमें वर्साय की सन्धि के धुर्रे उड़ा देने हैं, सारे जर्मन लोगों को एक सूत्र में बांधकर विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण करना है, और अपने खोये हुए उपनिवेशों को फिर से प्राप्त करके जर्मन साम्राज्य का पुनरुद्धार करना है, तो जर्मन जनता खुशी और जोश के मारे उछल पड़ती थी। वह समझती थी, कि जर्मनी का पुनरुद्धार हिटलर और उसके नाजी अनुयायी ही कर सकते हैं।

नाजी शक्ति के विकास का दूसरा कारण कम्युनिज्म का खतरा था। रूस से कम्युनिज्म की जो लहर प्रारम्भ हुई थी, जर्मनी पर भी उसका प्रभाव पड़ा था। वहां कम्युनिस्ट पार्टी का बाकायदा संगठन हो गया था, और यह पार्टी पार्लियामेण्ट के चुनाव में बाकायदा हिस्सा लेती थी। १९३० के चुनाव में ८९ कम्युनिस्ट जर्मन पार्लियामेण्ट में निर्वाचित हुए थे। अगले चुनाव में उनकी संख्या बढ़कर १०० हो गई थी। हिटलर जर्मन जनता से कहता था, ये कम्युनिस्ट राष्ट्रीयता के लिए सबसे अधिक खतरनाक हैं। यदि नाजी पार्टी का अभ्युदय नहीं हुआ, तो कम्युनिस्टों की शक्ति बढ़ जायगी, और वे राज्य पर अपना कब्जा कर लेंगे। कम्युनिस्ट लोग रूस के हाथ में कठपुतली के समान हैं। उनके हाथ में शक्ति होने का मतलब होगा, जर्मनी का रूस के अधीन हो जाना। कम्युनिज्म अन्तर्राष्ट्रीयता को बहुत महत्त्व देता था। संसार भर के मजदूरों के हित एक हैं, यह उनका सिद्धान्त था। हिटलर कहता था, यह सिद्धान्त राष्ट्रीयता का विघातक है। जर्मन मजदूरों को जर्मनी के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिये तैयार होना चाहिये। पूंजीपतियों को उसकी यह बात अच्छी लगती थी। कारखानों के मालिक समझते थे, नाजी पार्टी के विकास से कम्युनिस्टों से उनकी रक्षा हो जायगी। उन्होंने हिटलर को सब प्रकार से सहायता दी। नाजी पार्टी को अपने प्रचार-कार्य के लिये रुपये की कोई कमी नहीं रही।

आर्थिक संकट और सर्वसाधारण जनता की बेकारी ने नाजी पार्टी के उत्कर्ष में बहुत सहायता दी। हिटलर कहता था, कि जर्मन जनता की इस दुर्दशा का कारण वह सरकार है, जो साम्राज्यवादी देशों के सामने घुटने टेक चुकी है। जर्मनी के राष्ट्रीय गौरव के पुनरुत्थान के बिना यह दशा ठीक नहीं हो सकती। हिटलर कहता था, जर्मनों को अपने जीने के लिये स्थान की जरूरत है। राष्ट्रों की सीमाएँ राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार नहीं बना करतीं। राष्ट्रीयता की अपेक्षा भी एक ऊँचा सिद्धान्त है, जिसे मानवीय न्याय का सिद्धान्त कहा जा सकता

है। जर्मन लोग ब्रिटिश व फ्रेंच लोगों से किस बात में कम हैं। यदि इन लोगों को अपनी समृद्धि के लिये साम्राज्य की आवश्यकता है, तो जर्मनी को क्यों नहीं है? नाजी लोगों का उद्देश्य यह है, कि वे जर्मन लोगों के लिये निवास-स्थान का विस्तार करें। यूराल की पर्वतमाला सब प्रकार के खनिज पदार्थों से भरपूर है, युक्रेनिया की उपजाऊ जमीन पर अनाज की वर्षा होती है, साइबीरिया के जंगल और मैदान खाली पड़े हैं। जर्मन लोग क्यों न इन पर कब्जा करें, क्यों न इनका प्रयोग अपनी समृद्धि और उत्कर्ष के लिये करें। बेकार जर्मन मजदूर यह सुनकर खुशी के मारे नाच उठते थे। न केवल मजदूर, पर मध्यश्रेणी की सर्वसाधारण जनता भी इन विचारों में आशा की एक किरण देखती थी।

नाजी लोग यहूदियों के बहुत खिलाफ थे। उनका कहना था, कि जर्मनी के पतन का कारण यहूदी लोग हैं। महायुद्ध के समय में जर्मनी के बड़े कल-कारखाने यहूदियों के हाथ में थे। बड़े-बड़े पूंजीपति प्रायः यहूदी जाति के थे। राज्य पर भी उनका बड़ा प्रभाव था। सर्वसाधारण जर्मन लोग उन्हें शोषक-वर्ग में शामिल करते थे। जनता उनसे घृणा करती थी। हिटलर ने कहा, इन यहूदियों को देश निकाला मिलना चाहिये, ताकि जर्मन जाति अपने देश के आर्थिक जीवन में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर सके। यह बात भी जर्मन लोगों को बहुत पसन्द आती थी। नाजी पार्टी के उत्कर्ष से उन्हें यह अनुभव होता था, कि वे घृणित यहूदियों को नीचा दिखा सकेंगे।

नाजी लोगों ने जिस स्वयंसेवक सेना का संगठन किया था, वह भी जर्मन लोगों को बहुत अच्छी मालूम होती थी। जर्मन लोग स्वभाव से वीर हैं, वे सैनिक जीवन को पसन्द करते हैं। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी की सेना बहुत कम कर दी गई थी। बहुत से जर्मन सिपाही बेकार हो गये थे। उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे किसी अन्य पेशे से अपना गुजर कर सकें। वे सैनिक होने के लिये उत्सुक थे। नाजियों की प्राइवेट सेना में वे बड़े उत्साह के साथ शामिल हुए, और उन्हें यह अनुभव हुआ, कि नाजी पार्टी के उत्कर्ष से उन्हें फिर से सैनिक जीवन प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। सैनिकों के सहयोग के कारण नाजियों को बहुत शक्ति प्राप्त हो गई थी, और उन्हें अपने विचारों को फैलाने का अनुपम अवसर हाथ लग गया था।

३. नाजी व्यवस्था

शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद हिटलर ने जर्मनी में जिस नई व्यवस्था का

आरम्भ किया, उसका आधारभूत तत्त्व एक पार्टी और उसके एक नेता का एकतन्त्र और अबाधित शासन था। हिटलर लोकतन्त्र शासन के खिलाफ था। नाजी पार्टी के अतिरिक्त जो अन्य राजनीतिक दल जर्मनी में विद्यमान थे, अतः उन सबको कुचल दिया गया। हिटलर की आज्ञा थी—'जर्मनी में केवल एक राजनीतिक पार्टी रहेगी, और वह पार्टी है, नाजी या राष्ट्रीय साम्यवादी पार्टी। अन्य किसी भी पार्टी को अपने विचारों को प्रकट करने, सभाएँ करने व किसी भी प्रकार से अपने मन्तव्यों का प्रचार करने का अधिकार नहीं था। प्रेस की स्वाधीनता जर्मनी में नष्ट कर दी गई। समाचारपत्रों व पुस्तकों द्वारा कोई व्यक्ति सरकार की आलोचना नहीं कर सकता था। यूनिवर्सिटियों व अन्य शिक्षणालयों पर कड़ी निगाह रखी जाती थी, ताकि वहां कोई अध्यापक ऐसे विचारों को प्रकट न करे, जो नाजी सिद्धान्तों के विपरीत हों। इसी प्रकार सिनेमाओं, नाटकों और आमोद-प्रमोद के अन्य साधनों पर नियन्त्रण रखा जाता था। रेडियो द्वारा केवल नाजी विचारों का प्रचार होता था। जिस आदमी पर नाजी-विरोधी होने का सन्देह हो, उसे तुरन्त गिरफ्तार कर लिया जाता था। उस पर बाकायदा मुकदमा चलाने की भी आवश्यकता नहीं थी। जब तक नाजी नेता चाहें, उसे जेल में रखा जाता था। अनेक विशेष जेलखाने बनाये गये थे, जहां राजनीतिक कैदियों को बन्द किया जाता था। यहां इन पर भयंकर अत्याचार किये जाते थे। जिन्हें अधिक खतरनाक समझा जाता था, उन्हें गोली मार दी जाती थी। नाजी पार्टी का भी कोई सदस्य यदि हिटलर व उसकी नीति की आलोचना करे, तो उससे भी कठोर बरताव किया जाता था। १९३४ में नाजी पार्टी के ७७ सदस्यों को केवल इसलिये गोली से उड़ा दिया गया, क्योंकि उनका हिटलर से मतभेद था। इन लोगों में एक ऐसा व्यक्ति भी था, जो पहले जर्मनी का प्रधान मन्त्री रह चुका था। उसे और उसकी पत्नी को उसके घर में ही गोली मार दी गई थी। नाजी लोग अपने विरोधियों के साथ किसी भी प्रकार की रियायत करने के लिये तैयार नहीं थे। वे कहते थे, उनके विरोधी जर्मन राष्ट्र के शत्रु हैं। उनके विनाश में ही देश और मातृभूमि का हित है।

पार्लियामेण्ट अब भी विद्यमान थी, पर उसके सदस्य केवल नाजी पार्टी के थे। नाजियों की तरफ से उन सदस्यों की एक सूची तैयार कर ली जाती थी, जिन्हें पार्लियामेण्ट का सदस्य बनाया जाना चाहिये। अन्य कोई राजनीतिक दल था ही नहीं, जो उनके मुकाबले में कोई उम्मीदवार खड़ा कर सके। नाजी पार्टी के सब उम्मीदवार सर्वसम्मति से निर्वाचित हो जाते थे। पार्लियामेण्ट के अधिवेशन बाकायदा होते थे। पर उनका मुख्य कार्य यह था, कि नेता की

वक्तृता सुनें, और उन सब प्रस्तावों व कानूनों को उत्साह के साथ स्वीकार कर लें, जिन्हें सरकार की ओर से पेश किया गया हो। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद जिस प्रकार के लोकतन्त्र शासनों का यूरोप में प्रारम्भ हुआ था, उनका नाम व निशान भी जर्मनी में नहीं रहा था। समझा यह जाता था, कि हिटलर जर्मनी का एकमात्र नेता, अधिनायक व डिक्टेटर है। वह भलीभांति जानता है, कि जर्मन राष्ट्र के लिये कौन सी बात हितकर है। उसे आंख मीचकर स्वीकार कर लेने में ही जर्मनी का लाभ है। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मन जनता में जो एक प्रकार का असन्तोष व बेचैनी हो गई थी, उसके कारण जर्मन लोगों की सब आशाएं हिटलर पर केन्द्रित थीं। उसके कथन को वे ईश्वरीय वाणी के समान स्वीकार करते थे।

शिक्षणालयों पर नाजी पार्टी का विशेष रूप से कब्जा था। बच्चों को जैसी शिक्षा दी जायगी, वैसा ही उनका विकास होगा। जर्मन बालक व बालिकाएं शुरू से ही यह सीखते थे कि, जर्मन जाति संसार की सर्वोत्कृष्ट जाति है, वह संसार पर राज्य करने के लिये पैदा हुई है। वह अपना मिशन तभी पूरा कर सकती है, जब सब जर्मन लोग एक नेता के पीछे चलें, और एक पार्टी के रूप में संगठित होकर रहें। जर्मन नसल की उत्कृष्टता और यहूदियों की नीचता का भाव उनमें कूट-कूटकर भर दिया जाता था। यही कारण है, कि जर्मनी के लोगों में यह विचार पूरी तरह से घर कर गया था, कि उन्हें अपने देश की उन्नति के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देना है। एक जाति, एक भाषा, एक संस्कृति और एक नेता—यह भाव उनके जीवन का आवश्यक अंग बन गया था।

यहूदियों के साथ नाजियों ने बड़ा क्रूर बरताव किया। यहूदियों को न वोट देने का अधिकार था, और न वे किसी राजकीय पद पर रह सकते थे। शिक्षणालयों में अध्यापक के पद पर वे काम नहीं कर सकते थे। उन्हें यह भी इजाजत नहीं थी, कि वे वकील, चिकित्सक या वैज्ञानिक के रूप में काम कर सकें। उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था, और उनके कार्यों पर कड़ी निगाह रखी जाती थी। बाद में नाजी लोगों का यहूदियों के प्रति बरताव और भी कड़ा हो गया। हजारों-लाखों की संख्या में यहूदी लोग गिरफ्तार किये जाने लगे। बहुत से यहूदी लोग जान-माल की रक्षा के लिये जर्मनी छोड़कर विदेशों में आश्रय लेने के लिये विवश हुए। जर्मनी से भागकर शरण लेनेवालों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई, कि ये शरणार्थी लोग अन्य देशों के लिये एक विकट समस्या बन गये। इन लोगों का दोष केवल यह था, कि ये जर्मन आर्य जाति के नहीं थे। हो सकता

है, कि जर्मनी के अधःपतन में कुछ यहूदियों का हाथ रहा हो। महायुद्ध में जर्मनी की जो पराजय हुई, और बाद में जो संकट जर्मन लोगों को झेलने पड़े, उनमें यहूदी लोगों का हाथ अवश्य था। पर कुछ लोगों के अपराध के लिये एक नसल को, एक सम्पूर्ण जाति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

नाजियों ने केवल यहूदियों पर ही अत्याचार नहीं किये, अपितु रोमन-कैथोलिक लोग भी उनकी क्रूर-दृष्टि के शिकार हुए। जर्मनी के रोमन कैथोलिक लोग रोम के पोप को अपना गुरु समझते थे। उनके अपने पृथक् शिक्षणालय थे। कम्युनिज्म के समान रोमन-कैथोलिक चर्च भी अन्तर्राष्ट्रीय है। इस चर्च के पादरियों को नाजी विचार-धारा पसन्द नहीं थी। विविध शिक्षणालयों में जिस प्रकार नाजी विचारों की शिक्षा दी जाती थी, वे उसे उचित नहीं समझते थे। इन्होंने अपनी आवाज नाजियों के खिलाफ बुलन्द की। परिणाम यह हुआ, कि हिटलर ने उनके साथ भी वही बरताव किया, जो यहूदियों के साथ किया जाता था। बहुत से कैथोलिक पादरी गिरफ्तार किये गये। जिस प्रकार इटली में फैसिज्म ने और रूस में कम्युनिज्म ने एक नये सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया था, वैसे ही जर्मनी में नाजीज्म भी एक प्रकार का नया धर्म था। ईसाई पादरी इसे पसन्द नहीं करते थे। ये पादरी, चाहे रोमन कैथोलिक हों और चाहे प्रोटेस्टेण्ट, नाजियों के खिलाफ थे। हिटलर ने उन्हें बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया, और जेलों में बन्द कर दिया।

आर्थिक क्षेत्र में नाजियों ने फैसिस्टों का अनुसरण किया। उनका मत था, कि पूंजीपतियों और मजदूरों में विरोध के स्थान पर सहयोग और समन्वय होना चाहिये। अमीर और गरीब सबको राष्ट्रीय हित के लिये उद्योग करना है। अतः सरकार को चाहिये, कि वे कारखानों के मालिकों और मजदूरों—दोनों पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखे। जर्मनी में भी दोनों की अलग-अलग सिण्डीकेट बनाई गईं, और विवादग्रस्त मामलों का निर्णय ये सिण्डीकेटें परस्पर विचार-विनिमय द्वारा करने लगीं। वस्तुतः, इस समय जर्मनी में सब शक्ति सरकार के हाथ में थी। सरकार ही यह फैसला करती थी, कि मजदूरों को कितनी मजदूरी मिले, वे कितने घण्टे काम करें, उन्हें कब छुट्टी मिले और उनके आराम के लिये क्या कुछ इन्तजाम किये जावें। मजदूरों को हड़ताल करने का हक नहीं था। जर्मनी की उन्नति के लिये यह आवश्यक था, कि राष्ट्र की सारी शक्ति आर्थिक उत्पत्ति में लगे। यदि मजदूर पूरी तरह काम नहीं करेंगे, तो यह उत्पत्ति किस प्रकार बढ़ सकेगी। पर पूंजीपतियों को भी मुनाफा कमाने की स्वच्छन्दता नहीं थी। पूंजीपतियों का

विनाश जो नहीं किया गया था, उसका कारण केवल यह था, कि राष्ट्रीय दृष्टि से उनकी सत्ता उपयोगी थी। पर वे कितना मुनाफा कमावें, और क्या कुछ उत्पत्ति करें, इस सब पर सरकार का पूरा-पूरा नियन्त्रण था।

जर्मनी की राष्ट्रीय एकता को भलीभांति स्थापित करने के लिये जनवरी, १९३४ में हिटलर ने एक नया कानून पास किया, जिसके अनुसार प्रशिया, बवेरिया, सैक्सनी आदि विभिन्न राज्यों की पृथक् पार्लियामेण्टों का अन्त कर दिया गया। होहेन्ट्सोलर्न राजवंश के शासन-काल में जर्मनी के साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक छोटे-बड़े राज्य थे। रिपब्लिक की स्थापना के बाद भी इन राज्यों की सत्ता पृथक् रूप से कायम रही। जर्मन रिपब्लिक एक प्रकार का संघराज्य था, जिसमें विविध राज्यों की अपनी-अपनी सरकारें व पार्लियामेण्ट विद्यमान थीं। अब हिटलर ने उन सबका अन्त कर दिया, और इन राज्यों को जर्मन राष्ट्र के विविध प्रान्तों के रूप में परिवर्तित कर दिया। इसके कारण जर्मनी के केन्द्रीय शासन में कई परिवर्तन किये गये, और जर्मनी पूरी तरह से राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बँध गया।

नाजी सरकार ने जर्मनी की चौमुखी उन्नति के लिये विशेष रूप से प्रयत्न किया। शिक्षा, श्रम, नवयुवक, राजनीति, प्रचार, व्यवसाय, शिल्प आदि सबके लिये अलग-अलग मोरचे कायम किये गये। ये मोरचे पृथक् विभागों के रूप में थे, और नाजी पार्टी के विविध नेता अपने-अपने क्षेत्र में उन्नति के काम में लगे हुए थे। क्योंकि जर्मनी में अन्य कोई राजनीतिक दल नहीं रहा था, अतः नाजी पार्टी और नाजी सरकार एक ही चीज समझी जाती थी।

४. जर्मनी की सर्वतोमुखी उन्नति

हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी ने असाधारण उन्नति की। वर्साय की सन्धि द्वारा यह प्रयत्न किया गया था, कि जर्मनी भविष्य में फिर कभी इतनी शक्ति प्राप्त न कर सके, कि वह यूरोप के लिये एक खतरा बन जाय। मित्रराष्ट्रों ने न केवल जर्मनी की सैनिक शक्ति को मर्यादित करने का प्रयत्न किया था, पर इस बात का भी प्रबन्ध किया था, कि व्यावसायिक और आर्थिक क्षेत्र में भी जर्मनी बहुत उन्नति न कर सके। पर नाजी पार्टी के शासन में जर्मनी न केवल सैनिक दृष्टि से ही अपितु व्यावसायिक और आर्थिक दृष्टि से भी यूरोप का प्रमुख राज्य बन गया। जर्मनी की इस सर्वतोमुखी उन्नति पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालना यूरोपियन इतिहास की भावी घटनाओं को समझने के लिये आवश्यक है।

आर्थिक उन्नति---जिस समय हिटलर ने जर्मनी का शासन-सूत्र संभाला, वहां बेकारों की संख्या साठ लाख से भी अधिक थी। नाजी सरकार ने बेकारी की समस्या को हल करने के लिये निम्नलिखित उपायों का अनुसरण किया---(१) बेकार मजदूरों को 'मजदूर स्वयंसेवक सेना' में संगठित किया गया। मजदूर सेना के सैनिकों को राज्य की ओर से भोजन और निवासस्थान दिया जाता था, और साथ ही कुछ वेतन भी मिलता था। इन मजदूर सैनिकों से राज्य की ओर से कार्य लिया जाता था। ऊजड़ पड़ी हुई जमीनों को खेती के योग्य बनाना, नई सड़कें तैयार करना और इसी प्रकार के अन्य उपयोगी कार्य इनसे लिये जाते थे। मजदूर स्वयं-सेवक सेना में लाखों की संख्या में बेकार युवकों को भरती किया गया। (२) कार-खानों में काम करनेवाले मजदूरों के काम करने के घण्टों को कम किया गया। यह व्यवस्था की गई, कि कोई मजदूर प्रति सप्ताह ४० घण्टे से अधिक काम न करे। इससे कारखानों में मजदूरों की मांग बढ़ गई, और बहुत से बेकारों को काम मिला। (३) रूर की कोयले की खानों से अधिक कोयला निकालने की व्यवस्था की गई, ताकि उन खानों में अधिक मजदूर कार्य कर सकें। इसी प्रकार अन्य व्यवसायों को भी यह आदेश दिया गया, कि वे अधिक मात्रा में उत्पत्ति करें, ताकि जहां देश की आर्थिक समृद्धि में सहायता मिले, वहां साथ ही बेकार मजदूरों को भी काम प्राप्त करने का अवसर मिल सके। (४) विवाहित स्त्रियों को मजदूरी करने से रोका गया, क्योंकि नाजी पार्टी के अनुसार विवाहित स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर होना चाहिये। स्त्रियों को काम से अलग कर देने के कारण बेकार मजदूरों को काम मिल सकना सम्भव हो गया। हिटलर की इस नीति का परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी में बेकारी की समस्या प्रायः दूर हो गई, और बेकारों की संख्या न के बराबर पहुंच गई।

कारखानों की पैदावार बढ़ाने के लिये नाजी लोग यह आवश्यक समझते थे, कि पूंजीपतियों और मजदूरों में परस्पर सहयोग हो। इसलिये १९३३ में मजदूरसंघों (ट्रेड यूनियन) को तोड़ दिया गया और अगले साल १९३४ में मिल-मालिकों के संगठनों को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। इन दोनों का स्थान लेने के लिये जर्मन लेबर फ्रन्ट (मजदूर मोरचा) का संगठन किया गया, जिसका उद्देश्य श्रमिकों और मिल-मालिकों में सहयोग स्थापित करना था। इसके लिये सम्पूर्ण जर्मनी को तेरह क्षेत्रों में विभक्त किया गया, और प्रत्येक क्षेत्र में मजदूर मोरचे का संगठन किया गया। जिस किसी कारखाने में बीस से अधिक मजदूर काम करते हों, उसमें पूंजीपतियों और मजदूरों की एक संयुक्त सभा बनाई गई। पूंजी-

पति मजदूरों को इस सभा के लिये मनोनीत करता था, और फिर सब मजदूर मिल कर पूंजीपति द्वारा मनोनीत किये हुए व्यक्तियों में से कुछ को इस सभा की सदस्यता के लिये निर्वाचित कर लेते थे। यदि सभा के सदस्यों के चुनाव के सम्बन्ध में मिल-मालिकों और मजदूरों में मतभेद हो, तो सरकार द्वारा नियुक्त 'मजदूर-अफसर' इस विवाद का फैसला करते थे। कारखानों की ये सभायें न केवल यह निर्णय करती थीं, कि व्यवसाय के संचालन में किस नीति का अनुसरण किया जाय, अपितु साथ ही वेतन, काम करने के घण्टे आदि का भी फैसला करती थीं। इन सभाओंका यह भी कार्य होता था, कि वे मजदूरों को अधिक श्रम करने के लिये प्रेरणा करें। इस प्रकार नाजी व्यवस्था के अनुसार कारखानों का संचालन पूंजीपति और मजदूर—दोनों के हाथों से सम्मिलित रूप से होता था। मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये नाजी सरकार द्वारा यह व्यवस्था भी की गई थी, कि उन्हें समय-समय पर स्वास्थ्यप्रद स्थानों पर निवास के लिये भेजा जाय और उन्हें नाम-मात्र खर्च पर देश-दर्शन, पर्यटन और यात्रा का अवसर दिया जाय। मजदूरों के साथ-साथ उनके परिवारों को भी यह अवसर प्रदान किया जाता था।

नाजी सरकार का यह प्रयत्न था, कि आर्थिक दृष्टि से जर्मनी किसी अन्य देश पर आश्रित न रहकर आत्मनिर्भर हो जाय। इस नीति को 'ओटार्की' कहते थे। इसके अनुसार यह कोशिश होती थी, कि जर्मनी के निर्यात माल की मात्रा अधिक से अधिक हो, और उसे बहुत कम माल अन्य देशों से मंगाना पड़े। आयात माल पर संरक्षण-कर लगाये जाते थे, और जनता से यह प्रेरणा की जाती थी, कि वह स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करे। जो वस्तुएं जर्मनी में उपलब्ध नहीं हो सकती थीं, उनके लिये स्थानापन्न वस्तुओं का आविष्कार किया गया था। जर्मनी में मट्टी के तेल की कमी थी, उसके स्थान पर नकली तेल तैयार किया गया, जो मोटरों व कारखानों आदि में प्रयुक्त किया जा सकता था। नकली मट्टी के तेल, पेट्रोल आदि की तरह नकली रेशम, नकली मक्खन आदि उपयोगी पदार्थ भी जर्मनी में भारी परिमाण में बनाये जाने लगे थे। जर्मन मुद्रापद्धति का इस ढंग से संगठन किया गया था, कि विदेशों में जर्मन माल सस्ता पड़े, और जर्मनी में विदेशी माल महंगा। यदि कोई विदेशी व्यक्ति विदेश में जर्मन मार्क को क्रय करे, तो उसे अपने सिक्के के बदलेमें अधिक मार्क मिलते थे, ताकि वह जर्मन माल को सस्ती कीमत में प्राप्त कर सके या कम खर्च में जर्मनी में रह सके। इस के विपरीत यदि जर्मनी में मार्क के बदले में किसी विदेशी राज्य का सिक्का खरीदना हो, तो वह महंगा पड़ता था। इस व्यवस्था के कारण जर्मन व्यापारी विदेशी माल को सस्ती कीमत

अडाल्फ हिटलर

पर नहीं मंगा सकते थे, और विदेशी लोगों के लिये जर्मनी से माल मंगाने या वहां जाकर अपना रुपया खर्च करने में सुविधा होती थी। नाजी सरकार का यह भी प्रयत्न था, कि जर्मनी के व्यापारिक जहाजों की खूब उन्नति हो। मुद्रा-पद्धति की विशेष व्यवस्था के कारण विदेशी यात्री जर्मन जहाजों में यात्रा करना सस्ता समझते थे और उनसे अपने व्यापारिक माल को ढोने में भी सुविधा मानते थे।

इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि मई, १९३८ में जर्मनी में बेकार लोगों की संख्या केवल ३,३८,००० रह गई थी। जर्मन सरकार के पास इनके लिये भी काम का अभाव नहीं था, पर अपाहिज व वृद्ध होने के कारण ये लोग काम करने के योग्य नहीं थे। १९३८ के बाद तो जर्मनी में मजदूरों की कमी अनुभव होने लगी थी, और सरकार को यह व्यवस्था करने के लिये विवश होना पड़ा था, कि प्रत्येक जर्मन को साल में कुछ न कुछ समय के लिये मजदूरी करना अनिवार्य हो, चाहे उसे मजदूरी करने की आवश्यकता न भी हो।

जिस प्रकार नाजी सरकार ने बेकारी की समस्या को हल करने में असाधारण सफलता प्राप्त की, वैसे ही उसने पूंजी की कमी को पूरा करने के लिये भी अनेक उपायों का अवलम्बन किया। व्यवसाय और व्यापार की उन्नति के लिये पूंजी की आवश्यकता थी, और जर्मनी जिस ढंग से तेजी के साथ अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ा रहा था, उसके लिये भी सरकार की आमदनी में वृद्धि होना आवश्यक था। इसके लिये नाजी सरकार ने जिन उपायों का अनुसरण किया, वे निम्नलिखित थे—(१) यहूदियों की सब सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया। रोमन कैथोलिक चर्च और उसके साथ सम्बद्ध विविध सम्प्रदायों के पास जो अपार सम्पत्ति संचित चली आती थी, उसे राष्ट्रीय आवश्यकताओं के नाम पर सरकार ने अपने अधिकार में कर लिया। (२) जुलाई, १९३८ में यह व्यवस्था की गई, कि बड़े कारखानों व कम्पनियों से उनके मुनाफे का ३५ प्रतिशत भाग विशेष टैक्स के रूप में ले लिया जाय। इस टैक्स को देने के बाद जो मुनाफा उनके पास बचे, उसे ही वे अपने हिस्सेदारों में विभक्त कर सकें। (३) जो पुरुष व स्त्री अविवाहित रहें व जिनकी सन्तान न हो, उन पर अतिरिक्त टैक्स लगाये गये। (४) देश-भक्ति और राष्ट्रीय भावना के नाम पर जनता से अपील की गई, कि वह स्वेच्छा पूर्वक सरकार को रुपया दे, जिसका प्रयोग वह सार्वजनिक हित के लिये कर सके। (५) राष्ट्रीय ऋण बड़ी मात्रा में जारी किये गये। राष्ट्रभक्ति और देश-प्रेम से प्रेरित होकर जनता ने इन सरकारी कर्जों में उत्साहपूर्वक अपने धन को लगाया।

वर्सायि की सन्धि को ठुकराकर नाजी पार्टी ने जर्मन जनता में अपूर्व उत्साह और आशा का संचार कर दिया था। उसने लोकतन्त्रवाद की उपेक्षा अवश्य की थी, पर राष्ट्रीय उन्नति के लिये वह जिस ढंग से प्रयत्नशील थी, उसके कारण जनता उसके पक्ष में थी।

नई शिक्षा—हिटलर और उसके अनुयायी नाजी लोग यह भली भांति अनुभव करते थे, कि देश का भविष्य बच्चों और नवयुवकों पर निर्भर करता है। वे यह भी समझते थे, कि यदि देश के बालकों को शुरू से ही नाजी सिद्धान्तों की शिक्षा दी जायगी, तो वे भविष्य में ऐसे नागरिक बन सकेंगे जो राष्ट्रीय साम्य-वाद के अनुसार राष्ट्रीय उन्नति में तत्पर होंगे। अतः जर्मनी के शिक्षणालयों को उन्होंने अपना विशेष कार्यक्षेत्र बनाया। स्कूलों और कालिजों की पाठविधि में संशोधन किया गया, जिसके उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) आर्य नसल की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में जो विचार नाजी लोगों के थे, उन्हें देश के सब विद्यार्थी स्वयंसिद्ध तथ्य के रूप में मानने लगें। (२) जर्मन जाति सबसे उत्कृष्ट है, उसका इतिहास, संस्कृति और परम्परायें सर्वोत्कृष्ट हैं—ये विचार नवयुवकों में कूट-कूट कर भर दिये जावें। (३) जर्मन नवयुवक सैनिक जीवन को गौरवमय समझने लगें, और सैनिक बनकर अपने देश की उन्नति में तत्पर हो जावें। (४) वे शरीर के स्वास्थ्य, बल और सौन्दर्य को विशेष महत्त्व दें। इसके लिये वे न केवल अनेक प्रकार के व्यायाम करें, खेल-कूद में भाग लें, अपितु साथ ही खेतों में भी नियमित रूप से श्रम करें। नाजी लोगों ने जिस ढंग से जर्मनी के शिक्षणालयों का पुनःसंगठन किया, उसके कारण जर्मन नवयुवकों और नवयुवतियों में एक नई स्फूर्ति उत्पन्न हो गई, और वे देश-सेवा को अपना पुनीत कर्तव्य मानने के लिये प्रेरित हुए।

जनसंख्या में वृद्धि—नाजी सरकार इस बात के लिये भी उत्सुक थी, कि विशुद्ध जर्मन नसल की वृद्धि हो, ताकि जर्मनी संसार में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सके। इसलिये उसने जनता में यह प्रचार किया, कि लोग अधिक से अधिक सन्तान उत्पन्न करें, और अधिक बच्चों का होना गौरव व गर्व की बात मानें। इसीलिये यह भी प्रचार किया गया, कि कानीन सन्तान का होना कोई बुरी बात नहीं है। नाजी लोगों की दृष्टि में जर्मन नसल की उन्नति के लिये यह आवश्यक था, कि ऐसे लोग सन्तान उत्पन्न न करें, जिन्हें कोई वंशक्रमानुगत रोग हो, जो हलके दिमाग के हों या जिन्हें अत्यधिक मात्रा में शराब पीने की आदत हो। इस उद्देश्य से जनवरी, १९३४ में एक कानून बनाया गया, जिसके अनुसार वंशक्रमानुगत

रोगों से पीड़ित लोगों को नपुंसक व सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ कर देने की व्यवस्था की गई थी। इस कानून के अनुसार ऐसे स्त्री-पुरुषों को विवाह करने की अनुमति प्रदान करने से इनकार भी किया जा सकता था, जो स्वस्थ न हों।

५. विदेशी राजनीति

जर्मनी के शासनसूत्र को अपने हाथों में लेकर हिटलर ने जिस विदेशी राजनीति को अपनाया, उस पर यहां संक्षेप से प्रकाश डालना इसलिये बहुत उपयोगी है, क्योंकि उसकी यह नीति ही बाद में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के श्रीगणेश में प्रधान कारण हुई। १९३३ के प्रारम्भ में हिटलर ने जर्मनी के प्रधान मन्त्री (चांसलर) के पद को ग्रहण किया था। उसी साल अक्टूबर में जर्मनी ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया, ताकि राष्ट्रसंघ के रूप में अन्य राज्यों का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण उसके ऊपर न रह जाय। इसके बाद जर्मन सरकार ने वर्साय की सन्धि की स्पष्ट रूप से उपेक्षा करनी प्रारम्भ कर दी। वर्साय की सन्धि द्वारा यह निश्चित किया गया था, कि जर्मनी की सेना में अधिक से अधिक कितने सैनिक रखे जा सकें। हिटलर ने इसकी सर्वथा उपेक्षा कर बाधित सैनिक सेवा की पद्धति को फिर से जारी किया। १९३५ में सब जर्मन युवकों के लिये सैनिक शिक्षा प्राप्त करना व बाधित रूप से सैनिक सेवा करना अनिवार्य कर दिया गया। हिटलर ने स्पष्ट शब्दों में यह भी घोषित किया, कि वह वर्साय की सन्धि की किसी भी शर्त को मानने के लिये उद्यत नहीं है, और भविष्य में जर्मनी अपने को इस सन्धि से मुक्त समझेगा। फ्रांस, ब्रिटेन और इटली नाजी सरकार के इस रुख से बहुत उद्विग्न हुए। उन्होंने उसका विरोध करना चाहा, पर इस समय वे परस्पर मिलकर कोई ऐसा कदम नहीं उठा सके, जिससे हिटलर की स्वच्छन्द व उच्छृंखल विदेशी नीति का सफल प्रतिरोध हो सके।

पोलैण्ड से सन्धि—हिटलर अपने देश के उत्कर्ष के लिये केवल अपनी सैनिक शक्ति पर ही भरोसा नहीं रखता था, अपितु साथ ही अन्य राज्यों के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध भी स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील था, जो जर्मनी की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक हो सकें। इसलिये उसने जनवरी, १९३४ में पोलैण्ड के साथ सन्धि की, जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने यह वायदा किया, कि वे दस सालों तक एक दूसरे की वर्तमान सीमाओं का किसी भी प्रकार से उल्लंघन व अतिक्रमण नहीं करेंगे। पोलैण्ड के साथ की गई इस जर्मन सन्धि से फ्रांस को बहुत आश्चर्य हुआ। फ्रांस के राजनीतिज्ञ पोलैण्ड से पहले ही सन्धि

कर चुके थे, और पोलैण्ड फ्रांस के गुट का महत्त्वपूर्ण अंग था। जर्मनी की राष्ट्रीय आकांक्षायें तभी पूर्ण हो सकती थीं, जब कि वह उन जर्मन प्रदेशों को पुनः प्राप्त कर ले, जो कि पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा पोलैण्ड के अन्तर्गत कर दिये गये थे। जर्मनी और पोलैण्ड की यह सन्धि यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से वस्तुतः आश्चर्यजनक थी। पर हिटलर चाहता था, कि सबसे पहले वह आस्ट्रिया (जहां के निवासी जर्मन जाति के हैं) को विशाल जर्मन राष्ट्र का अंग बना ले। पर यह करने से पूर्व वह पोलैण्ड की ओर से निश्चिन्त हो जाना चाहता था। जर्मनी और पोलैण्ड की सन्धि का यही मुख्य प्रयोजन था।

आस्ट्रिया में षड्यन्त्र—पोलैण्ड की तरफ से निश्चिन्त होकर नाजी पार्टी ने आस्ट्रिया में नाजी दल का संगठन शुरू कर दिया। शीघ्र ही यह संगठन इतना पूर्ण हो गया, कि जुलाई, १९३४ में आस्ट्रिया की नाजी पार्टी ने एक षड्यन्त्र द्वारा यह प्रयत्न किया, कि सरकार को पदच्युत करके वहां भी जर्मन ढंग की नाजी सरकार की स्थापना कर ली जाय। इसी उद्देश्य से आस्ट्रियन सरकार के प्रधान डालफस की हत्या भी कर दी गई। पर नाजी लोगों का यह षड्यन्त्र सफल नहीं हो सका। इसके दो कारण थे—(१) अभी आस्ट्रिया में नाजी पार्टी की शक्ति भलीभांति सुदृढ़ नहीं हो पाई थी। (२) इटली की फैसिस्ट सरकार यह किसी भी दशा में सहने को तैयार नहीं थी, कि जर्मनी और आस्ट्रिया मिलकर एक विशाल व शक्तिशाली राष्ट्र बन सकें। आस्ट्रिया और इटली की सीमायें एक साथ लगती थीं, और अपने पड़ोस में विशाल जर्मन राष्ट्र का हो जाना मुसोलिनी को अपने देश के लिये भयप्रद मालूम होता था। उसने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी थी, कि यदि जर्मनी ने आस्ट्रिया को अपने साथ मिलाकर एक राष्ट्र बनाने का प्रयत्न किया, तो इटली शस्त्र-शक्ति का प्रयोग कर इस बात का विरोध करेगा। चेकोस्लोवाकिया इटली की इस नीति का पक्षपोषक था।

फ्रांस और इटली की सन्धि—जर्मनी जिस प्रकार अपनी शक्ति के विस्तार के लिये प्रयत्नशील था, उससे फ्रांस का चिन्तित होना सर्वथा स्वाभाविक था। पोलैण्ड और जर्मनी में सन्धि हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस की स्थिति बहुत निर्बल हो गई थी। इटली के समान फ्रांस का हित भी इस बात में था, कि जर्मनी और आस्ट्रिया मिलकर एक राष्ट्र न बन सकें। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इटली और फ्रांस एक दूसरे के विरोधी थे, पर नाजी दल के नेतृत्व में जर्मन सरकार जिस ढंग से अपनी शक्ति को बढ़ा रही थी और आस्ट्रिया को अपने साथ मिलाने के लिये उद्योग कर रही थी, उससे ये दोनों राज्य एक दूसरे के बहुत समीप आ गये।

जनवरी, १९३५ में फ्रांस और इटली ने एक समझौता किया, जिसके अनुसार उन्होंने यह निश्चय किया, कि वे परस्पर मिलकर आस्ट्रिया की स्वाधीन सत्ता की रक्षा करेंगे। और यदि जर्मनी ने आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता को नष्ट करने का प्रयत्न किया, तो उसका विरोध करने में इटली फ्रांस का साथ देगा। साथ ही, फ्रांस ने इस समझौते द्वारा इटली को यह आश्वासन दिया, कि यदि इटली अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के प्रयत्न में अबीसीनिया पर आक्रमण करेगा, तो फ्रांस इस मामले में तटस्थ रहेगा। मुसोलिनी को जो इस समय अफ्रीका में अपने साम्राज्य का प्रसार करने का अवसर मिल गया, उसमें फ्रांस का यह आश्वासन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण था।

सार की उपलब्धि—हम पहले लिख चुके हैं, कि पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा सार के प्रदेश का शासन राष्ट्रसंघ की अधीनता में रखा गया था, और यह व्यवस्था की गई थी, कि १५ साल बाद वहां इस प्रश्न पर लोकमत लिया जायगा, कि यह प्रदेश जर्मनी के अन्तर्गत किया जाय या फ्रांस के। जनवरी, १९३५ में राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में सार में लोकमत लिया गया। ९० प्रतिशत के लगभग सार-निवासियों ने जर्मनी के पक्ष में वोट दिया। हिटलर की यह भारी विजय थी, और इसने यह बात भली भांति स्पष्ट कर दी थी, कि विविध प्रदेशों में निवास करनेवाले जर्मन लोग नाजी आकांक्षाओं के पक्षपोषक हैं।

स्ट्रेसा का समझौता—सार की उपलब्धि के कारण जर्मन लोगों में अद्भुत उत्साह का संचार हुआ। अब उन्होंने यह अन्दोलन शुरू किया, कि डान्टिसग, मेमल आदि जिन प्रदेशों में जर्मन लोगों का निवास है, वे भी सार के समान जर्मनी को प्राप्त हो जाने चाहियें। इन सब प्रदेशों में नाजी पार्टी के संगठन को बहुत महत्त्व दिया गया। सर्वत्र नाजी पार्टी के संगठन के कारण हिटलर की हिम्मत इतनी बढ़ गई, कि १६ मार्च, १९३५ को उसने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी, कि भविष्य में जर्मनी वर्साय की सन्धि की किसी भी शर्त को मानने के लिये बाधित नहीं रहेगा। वह अपनी सैनिक शक्ति के विकास पर विशेष ध्यान देगा, और जर्मनी में बाधित सैनिक सेवा की पद्धति को फिर से जारी किया जायगा।

हिटलर की इस घोषणा से ब्रिटेन, फ्रांस और इटली बहुत उद्विग्न हुए। उनकी सरकारों के प्रतिनिधि एप्रिल, १९३५ में स्ट्रेसा में एकत्र हुए और उन्होंने परस्पर मिलकर यह समझौता किया, कि वे सब क्रियात्मक उपायों का अनुसरण इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर करेंगे, कि कोई राज्य पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा कायम की गई व्यवस्था का प्रतिरोध न कर सके। स्ट्रेसा के इस

समझौते का प्रयोजन जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला करना ही था।

रूस और फ्रांस का समझौता—स्ट्रेसा में जो समझौता हुआ था, वह भी फ्रांस की दृष्टि में पर्याप्त नहीं था। फ्रांस के राजनीतिज्ञ जर्मनी की शक्ति से बहुत चिन्तित थे, और राष्ट्रसंघ द्वारा वे अपने देश की रक्षा करने में समर्थ होंगे, इसका भरोसा उन्हें नहीं रहा था। अतः वे महायुद्ध (१९१४-१८) से पूर्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अनुसरण कर इस बात के लिये तत्पर हो गये थे, कि रूस के साथ फिर सन्धि की जाय, ताकि फ्रांस और रूस दोनों मिलकर जर्मनी का मुकाबला कर सकें। इस सन्धि (मई, १९३५) द्वारा फ्रांस और रूस ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक दूसरे के साथ सहयोग करने और युद्ध की दशा में परस्पर सहायता करने का समझौता किया। कुछ समय बाद रूस ने चेकोस्लोवाकिया के साथ भी इसी ढंग की सन्धि कर ली। फ्रांस पहले ही १९२४ में चेकोस्लोवाकिया के साथ सन्धि कर चुका था।

ब्रिटेन और जर्मनी की सन्धि—रूस और फ्रांस में सन्धि हो जाने की बात ब्रिटेन को अच्छी नहीं लगी। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ इस समय यह अनुभव करते थे, कि यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस की स्थिति बहुत प्रबल हो गई है। मध्य और पूर्वी यूरोप के छोटे राज्यों के अतिरिक्त इटली और रूस के साथ भी सन्धि कर लेने के काण फ्रांस का गुट बहुत शक्तिशाली हो गया है। जर्मनी ने ब्रिटेन की इस मानसिक दशा से लाभ उठाया, और दोनों राज्यों ने जून, १९३५ में एक सन्धि कर ली, जिसके अनुसार ब्रिटेन ने यह स्वीकार कर लिया, कि जर्मनी अपनी सैन्यशक्ति में वृद्धि कर सके, बशर्ते कि वह अपनी नौसेना को ब्रिटेन की नौसेना से ३५ प्रतिशत से अधिक न बढ़ावे। ब्रिटेन का विचार था, कि जर्मनी की स्थल व वायुशक्ति उसके अपने हितों के लिये विघातक नहीं है। यदि जर्मनी की जलशक्ति अधिक न बढ़े, तो वह ब्रिटेन के लिये खतरा साबित नहीं हो सकता।

र्‌हाइनलैंड की किलाबन्दी—फ्रांस के तटस्थ रहने का आश्वासन पाकर १९३५ में इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया था। अफ्रीका में इटली के साम्राज्य-विस्तार से ब्रिटेन बहुत उद्विग्न हुआ। उसे यह प्रतीत होने लगा, कि इटली जिस ढंग से भूमध्यसागर के क्षेत्र में अपनी शक्ति बढ़ा रहा है, वह ब्रिटेन के एशियन व अफ्रीकन साम्राज्यों के लिये अत्यन्त घातक है। उसकी प्रेरणा से अबीसीनिया के मामले पर राष्ट्रसंघ ने हस्तक्षेप करना शुरू किया और अक्टूबर, १९३५ में राष्ट्रसंघ ने यह घोषणा की, कि इटली ने अकारण अबीसीनिया पर

आक्रमण किया है, और सब सदस्य-राष्ट्रों को मिलकर उसका विरोध करना चाहिये। फ्रांस के सम्मुख अब यह समस्या थी, कि वह इटली का साथ दे या ब्रिटेन का। ब्रिटेन चाहता था, कि इटली अफ्रीका में अपने साम्राज्य के प्रसार का जो प्रयत्न कर रहा है, राष्ट्रसंघ के सदस्य-राष्ट्र उसका प्रतिरोध करें। यदि फ्रांस इस समय ब्रिटेन का साथ न देता, तो जर्मनी और ब्रिटेनकी मैत्री और अधिक दृढ़ हो जाती। अतः उसने विवश होकर इटली के विरोध में ब्रिटेन का साथ देने का निश्चय किया।

राष्ट्रसंघ को किन कारणों से इटली को वश में लाने में सफलता नहीं हुई, इस विषय पर हम आगे चलकर यथास्थान प्रकाश डालेंगे। पर इटली के अबीसीनियन आक्रमण और राष्ट्रसंघ की निर्बलता से जर्मनी ने यह लाभ उठाया, कि मार्च, १९३६ में हिटलर की नाजी सेनाओं ने र्‌हाइनलैण्ड में प्रवेश कर लिया और वहां किलाबन्दी शुरू कर दी। पेरिस की शान्ति-परिषद् के निर्णयों के अनुसार जर्मनी ने यह स्वीकार किया था, कि र्‌हाइनलैण्ड में न वह किलाबन्दी कर सकेगा और न उसकी सेनाएं ही वहां प्रवेश कर सकेंगी। पर हिटलर ने इस समय इस व्यवस्था की सर्वथा उपेक्षा कर दी।

रोम-बर्लिन-एक्सिस का निर्माण––इटली और अबीसीनिया के युद्ध का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी और इटली अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक दूसरे के घनिष्ट मित्र बन गये। राज्य-व्यवस्था की दृष्टि से ये दोनों राज्य एक सदृश थे। इटली का फैसिज्म और जर्मनी का नाजीज्म एक ही नीति और व्यवस्था के अनुयायी थे। पर विदेशी राजनीति में वे दोनों एक दूसरे के विरोधी थे। अबीसीनियन युद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों ने इसमें भी उन्हें परस्पर सहयोगी बना दिया। राष्ट्रसंघ की प्रेरणा से अबीसीनियन युद्ध के समय ब्रिटेन, फ्रांस आदि राज्यों ने इटली का आर्थिक बहिष्कार कर दिया था। जर्मनी राष्ट्रसंघ का न सदस्य था, और न ही उसके आदेशों की कोई परवाह करता था। उसने इस अवसर पर इटली की सब प्रकार से सहायता की। युद्ध के लिये आवश्यक अस्त्रशस्त्रों को प्राप्त करने में ही इटली ने जर्मनी का सहयोग नहीं प्राप्त किया, अपितु वस्त्र आदि अन्य सामग्री भी इस समय उसने जर्मनी से प्राप्त की। अबीसीनियन युद्ध के समय फ्रांस को विवश होकर ब्रिटेन का साथ देना पड़ा था, अतः इटली ने यह भली भांति अनुभव कर लिया था, कि जर्मनी ही उसका असली मित्र है। अक्टूबर, १९३६ में जर्मनी और इटली ने मिल एक समझौता किया, जो इतिहास में 'रोम-बर्लिन-एक्सिस' के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते द्वारा ये दोनों

राज्य परस्पर घनिष्ट मित्र बन गये, और १९३९-४५ के महायुद्ध में भी वे साथ रहे।

फ्रांको की सहायता––१९३६ में स्पेन में जनरल फ्रांको के नेतृत्व में जिस फैसिस्ट विद्रोह का सूत्रपात हुआ था, उस पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे। इस समय रूस, ब्रिटेन और फ्रांस स्पेन की लोकतन्त्र सरकार के पक्षपाती थे और जर्मनी व इटली फ्रांकों के समर्थक थे। स्पेन में भी फैसिस्ट व्यवस्था स्थापित हो जाय, यह बात जर्मनी और इटली दोनों के लिये ही वाञ्छनीय थी। स्पेन के गृह-कलह में जर्मनी ने फ्रांकों की धन और जन से सहायता की।

एण्टि-कम्युनिस्ट पैक्ट––रूस और फ्रांस की सन्धि (१९३५) का उल्लेख हम इसी अध्याय में ऊपर कर चुके हैं। नवम्बर, १९३६ में जर्मनी ने जापान के साथ सन्धि की, जिसको एण्टि-कम्युनिस्ट पैक्ट कहा जाता है। इस पैक्ट द्वारा जर्मनी और जापान ने परस्पर मिलकर कम्युनिस्ट रूस का प्रतिरोध करने के सम्बन्ध में समझौता किया था। उत्तरी चीन के मञ्चूरिया प्रदेश में जापान जिस ढंग से अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहा था, उससे जापान और रूस के हित आपस में टकराते थे। इसी प्रकार रूस के फ्रांस के गुट में शामिल हो जाने के कारण यूरोप में जर्मनी और रूस में विरोध उत्पन्न हो गया था। जापान के साथ सन्धि कर लेने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। अब विविध राज्य एक बार फिर दो शक्तिशाली व परस्पर विरोधी गुटों में विभक्त हो गये थे। एक गुट के प्रधान राज्य फ्रांस, ब्रिटेन और रूस थे और दूसरे गुट में जर्मनी, इटली और जापान सम्मिलित थे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप एक बार फिर प्रायः उसी ढंग का बन गया था, जैसा कि १९१४-१८ के महायुद्ध से पहले था।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी स्थिति को सुरक्षित करके जर्मनी किस प्रकार अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण करने में तत्पर हुआ, इस पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे।

चौवनवां अध्याय

लोकतन्त्रवाद का ह्रास और फैसिज्म का उत्कर्ष

१. लोकतन्त्रवाद का ह्रास

फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा यूरोप के इतिहास में राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की जिन नई प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ था, महायुद्ध (१९१४-१८) द्वारा उन्हें बहुत बल मिला था। रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी आदि के प्राचीन व गौरवशाली राजवंशों का अन्त होकर उन द्वारा शासित देशों में लोकतन्त्र गणराज्यों की स्थापना हुई थी, और जिन राज्यों में वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन कायम भी रहा था, वहां भी लोकतन्त्र संस्थाओं की शक्ति में वृद्धि हुई थी। पर मानव समाज किसी नई बात को शीघ्रता के साथ नहीं अपना सकता। फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति के कारण फ्रांस आदि राज्यों में जब लोकतन्त्रवाद का प्रारम्भ हुआ था, तो उनमें भी इस नई प्रवृत्ति को सफलता प्राप्त करने में समय लगा था। महायुद्ध के बाद पोलैण्ड, आस्ट्रिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया आदि राज्यों में जो लोकतन्त्र सरकारें कायम हुई थीं, उन्हें भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इन राज्यों में लोकतन्त्रवाद देर तक कायम नहीं रह सका, और शीघ्र ही वहां ऐसी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ, जो पुराने जमाने की संस्थाओं का आंशिक रूप में पुनरुद्धार करने में समर्थ हुईं। लोकतन्त्रवाद की सफलता में जिन बातों ने विघ्न उपस्थित किया, वे निम्नलिखित थीं—(१) पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया सदृश राज्यों में ऐसे प्रदेशों को अन्तर्गत किया गया था, जो १९१८ तक विभिन्न राज्यों के अधीन थे। पोलैण्ड के अन्तर्गत वे प्रदेश थे, जो पहले रूस, जर्मनी व आस्ट्रिया की अधीनता में थे। चेकोस्लोवाकिया में आस्ट्रिया, हंगरी और जर्मनी द्वारा शासित प्रदेशों को शामिल किया गया था। इसी प्रकार रूमानिया और युगोस्लाविया का पुनःनिर्माण करते हुए इनमें अनेक ऐसे प्रदेश अन्तर्गत कर दिये गये थे, जो पहले किसी अन्य राज्य के अधीन थे। इन विभिन्न प्रदेशों की राजनीतिक संस्थायें व सांस्कृतिक परम्परायें एक दूसरे से भिन्न थीं।

इसीलिये इनमें राष्ट्रीय एकता विकसित करना सुगम बात नहीं थी। (२) लोकतन्त्रवाद इन राज्यों के लिये नई बात थी। यह स्वाभाविक था, कि जिस प्रकार ब्रिटेन और फ्रांस में लोकतन्त्र संस्थाओं को भलीभांति विकसित होने के लिये समय लगा था, वैसे ही इनमें भी समय लगता, और नये संविधान इन राज्यों में तुरन्त ही सफल न होने पाते। (३) आर्थिक दुर्दशा ने इन राज्यों की लोकतन्त्र सरकारों के सम्मुख विकट समस्या उपस्थित की हुई थी। जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और बल्गेरिया परास्त देश थे, जिन्हें मित्रराष्ट्रों को भारी रकमें हरजाने के रूप में प्रदान करनी थीं। चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, युगोस्लाविया व रूमानिया को हरजाना तो नहीं देना था, पर महायुद्ध के कारण इनका आर्थिक जीवन बिलकुल अस्तव्यस्त दशा में पहुंच गया था। अपने व्यवसायों का पुनःनिर्माण करके और नष्ट हुई इमारतों को फिर से बनाने के लिये इन्हें रुपये की बहुत आवश्यकता थी, और रुपये के प्रश्न को हल कर सकना इनके लिये सुगम नहीं था। (४) रूस में कम्युनिज्म के रूप में जिस नये आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ था, वह मध्य और पूर्वी यूरोप के विविध राज्यों पर असर डाल रहा था। जनता अनुभव करती थी, कि राजनीतिक लोकतन्त्रवाद मानव समाज की समस्याओं को हल कर सकने के लिये अपर्याप्त है। राजनीतिक स्वतन्त्रता और समानता के लिये आर्थिक क्षेत्र में भी लोकतन्त्रवाद का प्रयोग होना जरूरी है।

यही कारण है, कि महायुद्ध के बाद स्थापित हुए प्रायः सभी नये लोकतन्त्र राज्यों में अनेक परस्पर-विरोधी विचारधारायें चल रही थीं, और उनके कारण इन राज्यों में अनेक प्रकार के राजनीतिक दलों का संगठन हो गया था। इन दलों को हम निम्नलिखित विभागों में बांट सकते हैं---(१) दक्षिण पक्ष के दल---ये लोकतन्त्रवाद के विरुद्ध थे, और पुराने युग के पक्षपाती थे। इनका यह प्रयत्न था, कि पुराने राजवंशों के शासन की पुनःस्थापना हो। जो दल राजसत्ता के पुनरुद्धार के पक्षपाती नहीं थे, वे भी लोकतन्त्रवाद और साम्यवाद के विरोधी होने के कारण अपने देशों में ऐसी सरकार को स्थापित करना चाहते थे, जिसमें कुलीन श्रेणी और धनिक वर्ग की सत्ता कायम रहे। (२) वाम पक्ष के दल---विविध साम्यवादी दल इस विभाग के अन्तर्गत थे। सबसे उग्र वामपक्षी लोग कम्युनिस्ट थे, जो रूस के मार्ग का अनुसरण कर आर्थिक क्षेत्र में क्रान्ति करके समाज का नया संगठन करना चाहते थे। कम्युनिस्टों के अतिरिक्त वामपक्ष में साम्यवाद के विविध सम्प्रदायों के अनुयायी अन्य दल भी शामिल थे, जो क्रान्ति के पक्षपाती न होते हुए वैध उपायों द्वारा समाज को नये रूप में संगठित हुआ देखना चाहते

थे। (३) मध्य पक्ष के दल--इसमें वे दल सम्मिलित थे, जो फ्रांस, ब्रिटेन व संयुक्त राज्य अमेरिका के समान लोकतन्त्रवाद के अनुयायी थे, और जो राजनीतिक क्रान्ति से सन्तुष्ट थे। इनका विश्वास था, कि राजनीतिक स्वाधीनता के भलीभांति स्थापित हो जाने पर आर्थिक सुधार भी धीरे-धीरे स्वयमेव हो जायंगे।

महायुद्ध के बाद यूरोप के बहुसंख्यक राज्यों में सरकार का संचालन मध्यपक्ष के दलों के हाथ में था। पर दक्षिण पक्ष और वामपक्ष के दलों के कारण उन्हें अपने कार्य में सफलता नहीं हो रही थी। इस दशा में इटली और जर्मनी में जब फैसिज्म और नाजीज्म के रूप में एक नई प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ, तो उसका असर इन राज्यों पर भी पड़ा। इस नई प्रवृत्ति के कारण लोकतन्त्रवाद का सर्वत्र ह्रास हुआ, और फैसिज्म के रूप में जो नई लहर यूरोप में शुरू हुई, उसने न केवल लोकतन्त्रवाद का अन्त किया, अपितु कम्युनिज्म के प्रसार को भी कुछ समय के लिये रोक दिया। इस अध्याय में हम इसी प्रक्रिया पर प्रकाश डालेंगे।

२. स्पेन में राज्यक्रान्ति

इटली और जर्मनी में लोकतन्त्र शासनों का अन्त होकर जो एक पार्टी व एक नेता का शासन प्रारम्भ हुआ, उसका असर यूरोप के अन्य देशों पर भी पड़ा। इस समय यूरोप में दो नई विचारधाराएं चल रही थीं, एक कम्युनिज्म और दूसरी फैसिज्म की। इन दोनों लहरों का प्रयत्न यह था, कि पुराने किस्म के लोकतन्त्र राज्यों का अन्त कर एक नई व्यवस्था सर्वत्र कायम की जाय। फैसिज्म की लहर स्पेन में भी सफल हुई, और यह देश भी एक नेता के शासन में आ गया। स्पेन का यह नेता फ्रांको था, और वह १९३७ में स्पेन का अधिनायक या डिक्टेटर बन गया था।

राजनीतिक दशा--महायुद्ध में स्पेन तटस्थ रहा था। वहां का शासन वैध राजसत्तात्मक था। वहां वंशक्रमानुगत राजा पार्लियामेण्ट की सहायता से शासन करता था। पार्लियामेण्ट में जिस दल का बहुमत हो, उसके नेता को प्रधान-मन्त्री बनाया जाता था, और मन्त्रिमण्डल तब तक अपने पद पर रहता था, जब तक पार्लियामेण्ट के बहुमत का विश्वास उसे प्राप्त रहे। वैध राजसत्ता के होते हुए भी स्पेन का शासन सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र नहीं था। वहां की सरकार पर राजा और उसके पार्श्वचरों का अच्छा प्रभाव था, और विविध राजनीतिज्ञ व सैनिक अफसर शासन को अपने हित के लिये प्रयोग में लाने में समर्थ रहते थे। सर्वसाधारण जनता देश के शासन में विशेष दिलचस्पी नहीं लेती थी। एक तरफ जहां स्पेन में

उग्र क्रान्तिकारी लोग राजसत्ता का अन्त करने के लिये प्रयत्नशील थे, दूसरी तरफ प्रतिक्रियावादी लोग सब राजशक्ति को राजा के हाथ में केन्द्रित करने के भी पक्षपाती थे। महायुद्ध के समय स्पेन को व्यावसायिक उन्नति का अपूर्व अवसर मिला था। उसे सेना पर खर्च करने की आवश्यकता नहीं थी, और उसका माल सुगमता से यूरोप के बाजारों में बिक सकता था। पर लड़ाई के समाप्त हो जाने पर उसके माल की मांग कम हो गई, बेकारी बढ़ने लगी, कारखानों में काम कम हो गया और पूंजीपति लोग मजदूरी की दर को कम करने के लिये विवश हुए। इस पर मजदूरों में असन्तोष बढ़ा। हड़तालें शुरू हो गईं, और कम्युनिस्ट विचारों का प्रचार होने लगा। स्पेन में भी बाकायदा कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो गई, जो अन्य साम्यवादी दलों के साथ मिलकर देश के लिबरल व लोकसत्तात्मक शासन का अन्त करने के लिये उद्यत थी।

मोरक्को में विद्रोह---पर स्पेन के भाग्य में कुछ और ही लिखा था। अफ्रीका के उत्तर में मोरक्को का प्रदेश है, जिसका बड़ा भाग स्पेन के अधीन था। वहां के लोग समय-समय पर स्पेनिश शासन के विरुद्ध विद्रोह करते रहते थे। महायुद्ध के समय मोरक्कन लोगों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना बहुत प्रबल हो गई थी। उन्होंने विद्रोह कर दिया था। इसे शान्त करने के लिये स्पेन को एक बड़ी सेना मोरक्को में रखने की आवश्यकता रहती थी, और इस सेना पर बड़ा भारी खर्च करना पड़ता था। अनुमान किया गया है, कि १९१६ से १९२६ तक दस सालों में मोरक्को पर अपना कब्जा कायम रखने के लिये स्पेन को ३०० करोड़ के लगभग रुपया खर्च करना पड़ा था। जिन स्पेनिश सिपाहियों की इस कब्जे के लिये आहुति दी जाती थी, उनकी संख्या भी १३,००० वार्षिक से कम न थी। १९२१ में मोरक्को के विद्रोह ने बड़ा भारी भयंकर रूप धारण कर लिया। विद्रोहियों ने स्पेन की एक पूरी फौज का सफाया कर दिया। इससे स्पेन में बड़ी बेचैनी हुई। स्पेनिश देशभक्तों ने समझा, इस सबकी जिम्मेदारी राजा अलफान्सो १२ वें पर है, जिसके कुप्रबन्ध और अनुचित नीति के परिणामस्वरूप स्पेन को इस तरह नीचा देखना पड़ा है। देशभक्तों के इस असन्तोष को साम्यवादियों और कम्युनिस्टों ने और भी बढ़ाया, और ऐसा प्रतीत होने लगा, कि स्पेन में भी राजा के खिलाफ क्रान्ति होकर रहेगी।

प्रीमो दी रिवेरा का एकाधिपत्य----पर अलफान्सो ने इस विद्रोह-भावना का बुरी तरह से दमन किया। सितम्बर, १९२३ में उसने प्रीमो दी रिवेरा नाम के कुलीन सरदार की सहायता से अपने विरोधियों को वश में कर लिया। पार्लिया-

मेण्ट भंग कर दी गई। शासन-विधान को रद्द कर दिया गया। प्रेस पर कड़ा नियन्त्रण किया गया, ताकि कोई आदमी राजा के कार्यों की प्रतिकूल आलोचना न कर सके। सारी राजशक्ति राजा और प्रीमो दी रिवेरा के हाथ में आ गई। प्रीमो दी रिवेरा एक बड़ा कुलीन जमींदार था, वह सेना का एक उच्च सेनापति था और मोरक्को के युद्धों में अपूर्व वीरता प्रदर्शित कर चुका था। उसका प्रयत्न यह था, कि इटली के समान स्पेन में भी एक पार्टी और एक नेता का प्रभुत्व कायम किया जाय। उसे अपने प्रयत्न में सफलता हुई। १९२३ से १९३० तक पूरे सात साल उसने स्पेन पर स्वेच्छापूर्वक शासन किया। इटली की फैसिस्ट व्यवस्था का अनुसरण कर उसने एक राष्ट्रीय दल का संगठन किया, और पूंजीपतियों व मजदूरों के झगड़े निबटाने के लिये सरकार के अधीन सिण्डीकेटों का निर्माण किया। मोरक्को की समस्या को हल करने के कार्य में भी उसे अच्छी सफलता मिली। फ्रेञ्च सेनाओं की सहायता से उसने मोरक्को के विद्रोह को पूर्ण रूप से कुचल दिया, और वहां के विद्रोही नेता उसके सम्मुख घुटने टेक देने के लिये विवश हुए। फ्रांस के अफ्रीकन साम्राज्य के प्रदेश स्पेनिश मोरक्को के साथ लगते थे, अतः उसने मोरक्को के विद्रोह को शान्त करने के कार्य में स्पेन की सहायता करने में संकोच नहीं किया। प्रीमो दी रिवेरा ने देश का शासन करने के लिये एक नया शासन-विधान तैयार कराया, जिसके अनुसार पार्लियामेण्ट की पुनः स्थापना की गई। पर यह प्रबन्ध पहले ही कर लिया गया, कि पार्लियामेण्ट में सदा राष्ट्रीय दल का प्रभुत्व रहे, जो प्रीमो दी रिवेरा के शासन का सदा समर्थन करता रहे। पर स्पेन में वे परिस्थितियां नहीं थीं, जो इटली व जर्मनी में थीं। वहां एक नेता की अतुल शक्ति का कारण वह उग्र राष्ट्रीय भावना थी, जिसकी पूर्ति व सफलता की आशा एक शक्तिशाली, साहसी व वीर नेता द्वारा ही हो सकती थी। प्रीमो दी रिवेरा में वह जादू भी नहीं था, जो जनता को अपने पीछे लगा सकता है। गुप्त रीति से साम्यवाद की प्रवृत्तियां स्पेन में प्रबल हो रही थीं। समय-समय पर हड़तालें, दंगे और विद्रोह होते रहते थे। राजा भी प्रीमो दी रिवेरा की इस सत्ता से असन्तुष्ट था। वह भी साजिश में लगा था। इस बीच में प्रीमो दी रिवेरा का स्वास्थ्य खराब हो गया। जनवरी, १९३० में उसने स्वयं अपने पद का परित्याग कर दिया। उसके उत्तराधिकारी, राष्ट्रीय दल के नेता न उसके समान योग्य थे, और न पार्टी पर प्रभाव ही रखते थे।

रिपब्लिक की [illegible] कि उन पार्टियों ने जोर पकड़ना शुरू किया, जिन [illegible] था। जमोरा नामक साहसी नेता

के नेतृत्व में इन पार्टियों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया, और अलफान्सो १२ वें को राजगद्दी का परित्याग करने के लिये विवश किया। जमोरा ने स्पेन में रिपब्लिक की स्थापना की घोषणा कर दी। एक सामयिक सरकार बना ली गई, जमोरा उसका अध्यक्ष बना। एक संविधान-परिषद् के चुनाव की व्यवस्था की गई, और नये शासन-विधान को तैयार किया गया। नये शासन-विधान का निर्माण लोकतन्त्र शासन के सिद्धान्तों के अनुसार किया गया था। नागरिकों के आधारभूत अधिकार पृथक् रूप से प्रतिपादित किये गये, और राज्य को चर्च से पृथक् कर दिया गया। यह भी व्यवस्था की गई, कि चर्च की सब सम्पत्ति को उससे छीनकर राज्य के स्वामित्व में ले आया जाय। चर्च की जो सम्पत्ति इस समय जब्त की गई, उसका मूल्य १५० करोड़ रुपये से भी अधिक था। नई पार्लियामेण्ट में रैडिकल और साम्यवादी दलों का बहुमत था। रैडिकल और साम्यवादी दलों ने मिलकर अपना मन्त्रिमण्डल बनाया, जिसके प्रधान मन्त्री श्री अजाना थे। जमोरा स्पेनिश रिपब्लिक के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। राष्ट्रीय दृष्टि से स्पेन में पूर्ण एकता नहीं थी, अतः कैटेलोनिया, गेलिसिया आदि अनेक प्रान्तों को स्थानीय स्वतन्त्रता प्रदान की गई, और उनमें पृथक् विधान-सभाओं का निर्माण हुआ। चर्च की शक्ति को नष्ट करने के लिये इस रिपब्लिकन सरकार ने न केवल उसकी सब सम्पत्ति ही जब्त की, अपितु उसके विरुद्ध अनेक नये कानूनों का भी निर्माण किया। १९३२ में एक कानून द्वारा जेसुएट सम्प्रदाय को गैरकानूनी करार कर दिया गया, और उसकी भी सब सम्पत्ति जब्त कर ली गई। यह भी नियम बनाया गया, कि कोई कैथोलिक पादरी किसी राजकीय पद पर नियुक्त न हो सके। १९३३ में एक कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि कैथोलिक चर्च की धार्मिक सभाओं पर टैक्स लगाये जावें, और कैथोलिक संस्थायें शिक्षा, व्यापार व व्यवसाय का कोई कार्य न कर सकें। पोप ने इन सब कानूनों का घोर विरोध किया, पर स्पेन की रिपब्लिकन सरकार ने उसके विरोध पर कोई ध्यान नहीं दिया। पर स्पेन की सर्वसाधारण जनता अभी क्रान्तिकारी विचारों की नहीं थी। कैथोलिक चर्च के प्रति उसके हृदय में भक्ति थी। अतः कैथोलिक चर्च के नेताओं ने वैध उपायों का आश्रय लेकर जनता को अपने पक्ष में करना शुरू किया और यह प्रयत्न किया, कि अगले चुनाव में लोग अपने वोट रैडिकल व सोशलिस्ट पार्टियों के पक्ष में न दें।

१९३३ में स्पेन की पार्लियामेण्ट के जब नये चुनाव हुए, तो रैडिकल और साम्यवादी दलों को अधिक सफलता नहीं मिली। इन दलों की सरकार ने

कैथोलिक चर्च के सम्बन्ध में जिस नीति को अपनाया था, उससे जनता बहुत असन्तुष्ट थी। इस चुनाव के अवसर पर कैथोलिक पादरियों की कोशिश से एक नये दल का संगठन हुआ था, जिसे 'कैथोलिक पोपुलर एक्शन पार्टी' कहते थे। इसका नेता जोसे गिल रोबल्स था। इस दल के उम्मीदवार अच्छी बड़ी संख्या में पार्लियामेण्ट में निर्वाचित हुए। और इस प्रकार के दल, जो रिपब्लिकन के पक्षपाती होते हुए साम्यवाद के विरोधी थे, बहुसंख्या में निर्वाचित हुए। इस दिशा में रैडिकल और साम्यवादी दलों के संयुक्त मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया और गिल रोबल्स के सहयोग से रिपब्लिकन दल के नेता लेरू ने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया।

सोशलिस्ट विद्रोह—नई सरकार ने उन सब कानूनों को क्रिया में लाना स्थगित कर दिया, जो पिछली सरकार ने रोमन कैथोलिक चर्च व बड़े जागीरदारों के खिलाफ बनाये थे। अजाना के मन्त्रिमण्डल ने कैथोलिक चर्च की सम्पत्ति को जब्त करने के साथ-साथ यह भी व्यवस्था की थी, कि बड़े जागीरदारों की जागीरें भी राज्य के स्वामित्व में ले आई जावें। लेरू की सरकार ने जब यह निश्चय किया, कि चर्च और जागीरदारों की सम्पत्ति अभी जब्त न की जाय, तो सर्वसाधारण जनता में इससे बहुत असन्तोष हुआ। रैडिकल और सोशलिस्ट दलों के नेतृत्व में लोग सरकार के खिलाफ आन्दोलन करने में तत्पर हो गये। यह आन्दोलन शान्तिमय और अहिंसात्मक नहीं रह सका। मजदूरों ने आम हड़ताल की घोषणा कर दी, और भूतपूर्व प्रधान मन्त्री अजाना के नेतृत्व में अनेक स्थानों पर विद्रोह शुरू हो गये। अक्टूबर, १९३४ में इस विद्रोह ने भयंकर रूप धारण कर लिया, और सरकार व विद्रोहियों में खुल्लमखुल्ला युद्ध शुरू हो गया।

पोपुलर फ्रन्ट का निर्माण—लेरू की सरकार जिस ढंग से विद्रोहियों को कुचलने में तत्पर थी, उससे बहुत से राजनीतिक नेता असन्तोष अनुभव करने लगे। इस समय रैडिकल, सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट पार्टियों ने मिलकर 'पोपुलर फ्रन्ट' का संगठन किया, और जनता की सहानुभूति इस दल के साथ हो गई। १९३६ में जब स्पेनिश पार्लियामेण्ट का नया चुनाव हुआ, तो इस फ्रन्ट ने सम्मिलित रूप से निर्वाचन में भाग लिया। इसके उम्मीदवार बड़ी संख्या में पार्लियामेण्ट के सदस्य निर्वाचित हुए। जमोरा को इस समय राष्ट्रपति पद से पृथक् होना पड़ा, क्योंकि वे उग्र वामपक्ष के साथ सहानुभूति नहीं रखते। उनके स्थान पर अजाना राष्ट्रपति निर्वाचित हुए, और पोपुलर फ्रन्ट का मन्त्रिमण्डल कायम हुआ।

पर हिंसा और विद्रोह की जो प्रवृत्ति स्पेन में १९३४ में शुरू हुई थी, पोपुलर फ्रन्ट का निर्माण हो जाने से भी वह शान्त नहीं हो गई। नये मन्त्रिमण्डल ने

घोषणा की, कि रोमन कैथोलिक चर्च और बड़े जागीरदारों के खिलाफ जिन कानूनों के प्रयोग को पिछली सरकार ने स्थगित कर दिया था, उन्हें अब शीघ्र ही क्रिया में परिणत किया जायगा। पर यह घोषणा भी उन कम्युनिस्टों को सन्तुष्ट करने के लिये पर्याप्त नहीं थी, जो १९३४ में स्पेन में बहुत प्रबल हो गये थे। कम्युनिस्टों ने अपने विद्रोह को जारी रखा। बहुत से गिरजों और मठों को आग लगा दी गई, अनेक पादरियों और जागीरदारों पर हमले किये गये। ऐसा प्रतीत होता था, कि स्पेन में अराजकता छा गई है, और कोई व्यवस्थित सरकार कायम नहीं रही है।

३. फ्रांको का उत्कर्ष

इस समय मोरक्को की स्पेनिश सेना का प्रधान सेनापति जनरल फ्रांसिस्को फ्रांको था। वह कम्युनिज्म का प्रबल विरोधी था। स्पेन में जो स्थिति थी, उससे वह बहुत बेचैन था। १९ जुलाई, १९३६ को उसने स्पेन की सरकार के खिलाफ विद्रोह कर दिया, और बहुत बड़ी मोरक्कन सेना को साथ लेकर अफ्रीका से स्पेन के लिये प्रस्थान कर दिया। स्पेन में जो लोग साम्यवादियों के विरोधी थे, दक्षिण पक्ष के थे, उन सबको उसने सरकार के खिलाफ बगावत करने के लिये आह्वान किया। तीन चौथाई स्थल-सेना और आधी नौसेना ने उसका साथ दिया। विद्रोह की अग्नि शीघ्र ही सम्पूर्ण दक्षिण-पश्चिमी स्पेन में फैल गई। इटली के फैसिस्ट और जर्मनी के नाजी फ्रांको की पीठ पर थे। इस समय यूरोप में विचार-धारा की एकता के कारण एक प्रकार की भ्रातृत्व की अनुभूति होने लग गई थी। फैसिस्ट और नाजी लोग समझते थे, कि स्पेन में भी यदि एक नेता का शासन स्थापित होगा, तो उसकी सहानुभूति उनके साथ रहेगी। यूरोप में एक नये प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में इससे सहायता मिलेगी, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फैसिस्टों व नाजियों का प्रभाव अधिक बढ़ जायगा। अबीसीनिया की विजय के बाद पूर्वी भूमध्यसागर में इटली का प्रभुत्व बढ़ गया था, और मुसोलिनी एक बार फिर इस सागर को इटालियन झील के रूप में परिवर्तित कर देने का स्वप्न देखने लगा था। उसका खयाल था, कि यदि स्पेन में भी फैसिस्ट शासन की स्थापना हो जाय, तो वह शासन सदा इटली के अनुकूल रहेगा, और पश्चिमी भूमध्य सागर भी उसके प्रभाव में आ जायगा।

जैसे फैसिस्ट और नाजी लोग फ्रांको का समर्थन कर रहे थे, वैसे ही रूस के कम्युनिस्ट स्पेन की साम्यवादी सरकार की सहायता कर रहे थे। अन्य देशों से भी

स्वयंसेवक एकत्र होकर अपने-अपने विचारों के अनुसार फ्रांको या स्पेनिश सरकार का पक्ष लेकर लड़ने के लिये अपनी सेवाएं अर्पण करने को उद्यत हो रहे थे। संसार के इतिहास में अब एक नई प्रवृत्ति प्रादुर्भूत हो रही थी। दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ—फैसिज्म और कम्युनिज्म—एक दूसरे के साथ टकराने को उद्यत थीं। ऐसा प्रतीत होता था, कि स्पेन के सवाल को लेकर सारे यूरोप में युद्ध की अग्नि भड़क उठेगी। इस दशा में १५ अगस्त, १९३६ को ब्रिटेन ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया, कि ब्रिटेन से कोई भी युद्ध-सामग्री स्पेन न जा सके, जिससे कि वह देश स्पेन के गृह-कलह में किसी भी प्रकार हिस्सा न लेने पावे। फ्रांस ने ब्रिटेन का अनुसरण किया। ब्रिटेन और फ्रांस ने अन्य राज्यों से भी यह निवेदन किया, कि वे स्पेन में किसी भी पार्टी का पक्ष न लें, और किसी को युद्ध-सामग्री न दें। इसके लिये एक समझौता कर लिया जाय, और लन्दन में एक कमेटी इस उद्देश्य से बना ली जाय, कि इस समझौते का पालन सब देश भली भांति कर रहे हैं, इस बात पर वह निगाह रख सके। अनेक राज्य इस प्रस्ताव से सहमत हो गये। पर इसे सफलता नहीं मिल सकी। कारण यह था, कि इटली और जर्मनी खुले तौर पर फ्रांको की सब तरह से सहायता कर रहे थे, और रूस ने स्पेनिश सरकार की सहायता में कोई कसर उठा नहीं रखी थी।

स्पेन में प्रवेश करके फ्रांको निरन्तर आगे बढ़ता गया। शीघ्र ही पश्चिमी स्पेन पर उसने अधिकार कर लिया। फ्रांको की सेनाएँ आगे बढ़ती हुई मैड्रिड (स्पेन की राजधानी) तक पहुँच गईं। नवम्बर, १९३६ में ऐसा प्रतीत होता था, कि शीघ्र ही मैड्रिड पर फ्रांको का कब्जा हो जायगा। इस दशा में जर्मनी और इटली ने घोषणा की, कि स्पेन की असली सरकार फ्रांको की है, और वे उसकी वैध व न्याय्य सत्ता को स्वीकृत करते हैं। बहुत सी जर्मन व इटालियन सेनाएँ अब तक फ्रांको की मदद के लिये पहुँच गई थीं। इसी तरह रूस और यूरोप के अन्य देशों में बहुत सी स्वयंसेवक सेनाएँ इस उद्देश्य से संगठित की जा रही थीं, कि वे स्पेन पहुंचकर वहां की रिपब्लिकन सरकार की सहायता करें। यूरोप भर में एक प्रकार का गृह-युद्ध शुरू हो गया था, जो स्पेन की भूमि पर लड़ा जा रहा था। रूस, फ्रांस आदि देशों के स्वयंसेवकों की सहायता के कारण मैड्रिड की पोपुलर फ्रन्ट सरकार की स्थिति भी अच्छी मजबूत हो गई थी। पर फ्रांको की सेनाएं स्पेन में निरन्तर आगे बढ़ती जाती थीं। मैड्रिड को जीत सकने में असमर्थ होकर भी उन्होंने उत्तरी स्पेन में बास्क और गैलीसिया के प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था।

१९३९ के शुरू तक सम्पूर्ण कैटोलोनिया पर फ्रांको ने अपना अधिकार कर लिया था। रिपब्लिकन सरकार की स्थिति अब इतनी कमजोर हो गई थी, कि राष्ट्रपति अजाना ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। २९ मार्च, १९३९ को मैड्रिड पर भी फ्रांको का कब्जा हो गया। रिपब्लिकन सरकार के लिये अब युद्ध को जारी रखना बेकार था। फ्रांको को अपने प्रयत्न में सफलता हो गई थी, और स्पेन में भी जर्मनी और इटली के समान फैसिस्ट शासन कायम हो गया था, जिसका संचालन पूर्णतया फ्रांको के हाथ में था।

४. आस्ट्रिया

महायुद्ध में आस्ट्रिया-हंगरी के परास्त होने पर हाप्सबुर्ग वंश के शासन का अन्त हुआ, आस्ट्रिया और हंगरी पृथक् हो गये, और आस्ट्रिया में लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना हुई। ११ नवम्बर, १९१८ को हाप्सबुर्ग वंश के सम्राट् चार्ल्स ने अपने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया, और आस्ट्रिया के विविध राजनीतिक दलों ने परस्पर मिलकर एक संयुक्त सामयिक सरकार का निर्माण किया। फरवरी, १९१९ में आस्ट्रिया में संविधान-परिषद् का निर्वाचन हुआ, जिसके सदस्यों को चुनने के लिये सब बालिग स्त्री-पुरुषों को वोट का अधिकार दिया गया था। संविधान-परिषद् ने आस्ट्रिया के लिये नये शासन-विधान का निर्माण किया, जिसके अनुसार वहां लोकतन्त्र शासन की स्थापना की गई।

इस समय आस्ट्रिया में दो प्रमुख राजनीतिक दल थे, क्रिश्चियन सोशलिस्ट और सोशल डेमोक्रेट। दोनों दल लोकतन्त्रवाद के पक्षपाती थे, पर उनमें गहरा मतभेद था। क्रिश्चियन सोशलिस्टों का प्रभाव मुख्यतया देहातों में था। ये लोग कैथोलिक धर्म के कट्टर अनुयायी थे, और कम्युनिज्म के विरोधी थे। इसके विपरीत सोशल डेमोक्रेट पार्टी का प्रभाव मुख्यतया नगरों में था, और मजदूर श्रेणी के लोग उसके अनुयायी थे। वीएना इस पार्टी की शक्ति का प्रधान केन्द्र था, और ये लोग कम्युनिज्म को देश की आर्थिक समस्या को हल करने के लिये अनिवार्य मानते थे। सोशल डेमोक्रेट दल यह भी चाहता था, कि सम्पूर्ण आस्ट्रिया का शासन वीएना में केन्द्रित रहे, ताकि सरकार पर कम्युनिस्ट विचारों का असर बना रहे। क्रिश्चियन सोशलिस्ट दल आस्ट्रिया को एक संघराज्य के रूप में परिवर्तित करना चाहता था, ताकि वीएना के अतिरिक्त अन्य प्रदेश कम्युनिस्ट प्रभाव से बचे रहें। इन दो दलों के अतिरिक्त आस्ट्रिया में इस समय एक अन्य पार्टी भी थी, जिसे नेशनलिस्ट या राष्ट्रीय दल कहते थे। कुछ नेशनलिस्ट लोग आस्ट्रिया में फिर से

हाप्सबुर्ग राजवंश की शक्ति को स्थापित करने के पक्षपाती थे, और कुछ यह समझते थे, कि आस्ट्रिया का हित इस बात में है, कि वह जर्मनी के साथ मिलकर एक विशाल जर्मन राष्ट्र का अंग बन जाय। इसी विचारसरणी ने आगे चलकर आस्ट्रिया में नाजी पार्टी के विकास में बहुत सहायता दी, और न केवल राष्ट्रीय दल के, अपितु अन्य भी अनेक दलों के लोग आस्ट्रिया और जर्मनी को मिलाकर एक करने की बात के पक्षपाती हो गये।

१९२०-२१ में आस्ट्रिया को घोर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। युद्ध के कारण उसका आर्थिक जीवन बहुत अस्तव्यस्त दशा में था। सरकार के लिये अपने खर्च को पूरा कर सकना कठिन होता जाता था। आस्ट्रियन सिक्के की कीमत निरन्तर गिर रही थी। वहां का सिक्का (क्राउन) पहले बारह आने के बराबर होता था। १९२१ में उसकी कीमत गिरकर एक पाई से भी कम रह गई थी। भोजन-सामग्री की कमी के कारण हजारों नर-नारी भूख से तड़प-तड़प कर प्राण देने के लिये विवश होने लगे थे। इस दशा में क्रिश्चियन सोशलिस्ट और सोशल डेमोक्रेट पार्टियों के लिये सरकार का संचालन कर सकना कठिन होता जा रहा था। लोग कहते थे, जर्मनी के साथ मिलकर एक हो जाने में ही आस्ट्रिया का कल्याण है। फरवरी, १९२१ में इस आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ लिया। पर मित्रराष्ट्रों के विरोध के कारण आस्ट्रियन लोग अपनी आकांक्षा को पूर्ण करने में सफल नहीं हो सके।

आस्ट्रिया की रिपब्लिकन सरकार जहां एक तरफ आर्थिक संकट से परेशान थी, वहां साथ ही सोशल डेमोक्रेट और क्रिश्चियन सोशलिस्ट दलों में विरोध भी निरन्तर बढ़ता जाता था। १९२२ में सरकार का संचालन क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी के हाथ में आ गया था, जो राष्ट्रीय दल के सहयोग से पार्लियामेण्ट में अपना बहुमत स्थापित करने में समर्थ हो गई थी। सीपल नाम का क्रिश्चियन सोशलिस्ट नेता आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री पद पर नियुक्त था। यद्यपि देश की सरकार क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी के हाथों में थी, पर वीएना पर सोशल डेमोक्रेट लोगों का आधिपत्य था। वहां के म्युनिसिपल कार्पोरेशन में इस दल का बहुमत था, और वह अपने कम्युनिस्ट विचारों को क्रिया में परिणत करने के लिये सब सम्भव व क्रियात्मक उपायों का प्रयोग कर रहा था। मकानों के किराये कानून द्वारा निश्चित कर दिये गये थे, और मकान-मालिकों पर एक विशेष टैक्स लगाने की व्यवस्था की गई थी, जिसकी आमदनी का उपयोग मजदूरों के लिये नये मकान बनाने में किया जाता था। कार्लमार्क्स के नाम पर एक विशाल इमारत का निर्माण

किया गया था, जिसमें १८०० के लगभग मजदूर-परिवार आराम के साथ निवास कर सकते थे। वीएना के बहुत से व्यवसायों का संचालन म्युनिसिपल कार्पोरेशन ने अपने अधिकार में ले लिया था, और अमीरों के प्रासादों को उनसे छीनकर सरकारी दफ्तरों के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा था। वीएना में सोशल डेमोक्रेट पार्टी की यह कोशिश थी, कि इस विशाल नगरी में पूर्णतया कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित कर दिया जाय।

वीएना की इन घटनाओं से क्रिश्चियन सोशलिस्ट लोग बहुत उद्विग्न हुए। उन्होंने अनुभव किया, कि वह समय दूर नहीं है, जब कि कम्युनिस्ट व साम्यवादी दलों से उनका संघर्ष शुरू हो जायगा। इस दशा में उन्होंने अपनी स्वयंसेवक सेनाओं को संगठित करना शुरू कर दिया। क्रिश्चियन सोशलिस्टों के मुकाबले में वीएना के सोशल डेमोक्रेट दल ने भी अपनी पृथक् स्वयंसेवक सेना संगठित करनी प्रारम्भ कर दी। क्रिश्चियन सोशलिस्टों की स्वयंसेवक सेना 'हाइमवेहर' कहाती थी, और इसका यह उद्देश्य था, कि वीएना से कम्युनिस्ट लोगों के प्रभाव का अन्त कर आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिलाकर एक कर दिया जाय। सोशल डेमोक्रेट पार्टी की स्वयंसेवक सेना का नाम 'शुट्ज बुन्ड' था, और वह शक्ति के प्रयोग द्वारा सम्पूर्ण आस्ट्रिया में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थी। १९२७ के बाद दोनों दलों में संघर्ष का प्रारम्भ हो गया। वैध आन्दोलन को ताक में रखकर उन्होंने हिंसा और आक्रमण के उपायों का आश्रय लिया, और अनेक स्थानों पर विद्रोह शुरू हो गये। आस्ट्रियन सरकार के लिये इस समय यह सुगम नहीं रह गया था, कि वह इन दो सुसंगठित 'सेनाओं' को काबू में रख सके। पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा आस्ट्रियन सरकार को यह अधिकार नहीं था, कि वह अपनी सेना में तीस हजार से अधिक सैनिकों को रख सके। यह छोटी सी सेना उन 'सेनाओं' को कैसे काबू में रख सकती थी, जिनके सैनिकों की संख्या लाख से भी ऊपर थी। इस दशा का परिणाम यह था, कि आस्ट्रिया में अव्यवस्था और अशान्ति निरन्तर बढ़ती जाती थी।

१९३३ में जब हिटलर जर्मनी का शासन-सूत्र अपने हाथों में लेने में समर्थ हो गया, तो आस्ट्रिया की राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। आस्ट्रिया में नाजी पार्टी का संगठन १९३० से भी पहले शुरू हो चुका था। पर १९३३ से पूर्व आस्ट्रियन नाजी पार्टी की शक्ति अधिक नहीं थी। जर्मनी में नाजी शासन के स्थापित हो जाने पर आस्ट्रिया के नाजियों को बहुत बल मिला। हिटलर ने उनकी दिल खोलकर सहायता की। बहुत से जर्मन नाजी स्वयंसेवक आस्ट्रिया

में आ गये और उनके प्रयत्न से वहां नाजी पार्टी की शक्ति बहुत बढ़ गई। इन लोगों की कोशिश यह थी, कि आस्ट्रियन पार्लियामेण्ट के नये चुनाव में नाजी पार्टी की विजय हो, और जर्मनी और आस्ट्रिया को मिलकर एक हो जाने में जो रुकावटें हैं, उन्हें दूर कर दिया जाय।

इस समय (१९३४ में) आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री डाक्टर डाल्फस था। अस्वस्थ रहने के कारण जब सीपल ने प्रधान मन्त्री-पद से त्यागपत्र दे दिया था, तो उसका स्थान डाल्फस ने ग्रहण किया था। वह क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी का प्रधान नेता था, और आस्ट्रिया की आन्तरिक परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर यह अनुभव करने लगा था, कि वहां लोकतन्त्रवाद का सफल हो सकना सम्भव नहीं है। नाजी पार्टी की शक्ति के बढ़ जाने के कारण उसका यह विश्वास और भी अधिक दृढ़ हो गया था, कि आस्ट्रिया में एक ऐसी सरकार ही सफल हो सकती है, जो लोकतन्त्रवाद की उपेक्षा कर सम्पूर्ण राजशक्ति को अपने हाथों में ले ले। डाल्फस ने अपनी नीति को क्रिया में परिणत करने के लिये कठोर उपायों का प्रयोग किया। पार्लियामेण्ट की सर्वथा उपेक्षा कर उसने आज्ञा प्रकाशित की, कि विविध राजनीतिक दलों को भंग कर दिया जाय। सोशलिस्ट डेमोक्रेट पार्टी ने इस आज्ञा का प्रतिरोध किया। परिणाम यह हुआ, कि डाल्फस के आदेश से 'हाइम वेहर' सेना ने सोशल डेमोक्रेट पार्टी के प्रधान केन्द्र पर आक्रमण कर दिया। दोनों पक्षों में खुलकर लड़ाई हुई। कार्ल मार्क्स भवन में एकत्रित मजदूर लोगों ने चार दिन तक डटकर डा० डाल्फस की सैन्य शक्ति का मुकाबला किया। पर अन्त में उनकी पराजय हुई। डाल्फस की सरकार ने सोशल डेमोक्रेट दल को बुरी तरह से कुचला, कितने ही साम्यवादी नेताओं को प्राणदण्ड दिया गया, हजारों की संख्या में सोशलिस्ट लोग कैद किये गये, और बहुत से नेताओं ने आस्ट्रिया से भाग कर अपनी जान बचाई। सोशल डेमोक्रेट पार्टी की शक्ति को तोड़ने के लिये डाल्फस ने वीएना के म्युनिसिपल कार्पोरेशन का भी अन्त कर दिया, और यह व्यवस्था की, कि भविष्य में इस विशाल नगरी का शासन एक मेयर के अधीन हो, जिसकी नियुक्ति आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री द्वारा की जाया करे। डा० डाल्फस की कठोर नीति सोशल डेमोक्रेट पार्टी की शक्ति को नष्ट कर देने में सफल हुई, पर इससे आस्ट्रिया में नाजी दल के उत्कर्ष में बहुत सहायता मिली। जनता में क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी के विरुद्ध भावना उत्पन्न हो गई, और कितने ही सोशल डेमोक्रेट लोग अब नाजी पार्टी के प्रति सहानुभूति रखने लगे।

डा० डाल्फस ने केवल सोशल डेमोक्रेट पार्टी का ही अन्त नहीं किया, अपितु

उस लोकतन्त्र शासन-विधान की भी इतिश्री कर दी, जिसकी स्थापना महायुद्ध की समाप्ति पर आस्ट्रिया में हुई थी। मई, १९३४ में उसने देश के लिये एक नये संविधान का निर्माण किया, जिसके अनुसार कानून बनाने का कार्य एक संघ-सभा (फिडरल डीट) और चार परामर्शदात्री सभाओं के सुपुर्द किया गया था। परामर्शदात्री सभाओं में केन्द्रीय सरकार, सांस्कृतिक संस्थाओं, आर्थिक संस्थाओं और प्रान्तीय सरकारों के प्रतिनिधि रहते थे, जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती थी। संघ-सभा के सदस्यों की संख्या ६० थी, जिन्हें ये चार परामर्शदात्री सभायें निर्वाचित करती थीं। इस प्रकार डा० डाल्फस द्वारा जारी किये गये संविधान में जनता के वोटों द्वारा निर्वाचित पार्लियामेण्ट का कोई स्थान नहीं था, और सब राजशक्ति आस्ट्रिया की केन्द्रीय व संघ-सरकार के हाथों में केन्द्रित थी।

डा० डाल्फस जिस प्रकार सम्पूर्ण राजशक्ति को अपने हाथों में ले रहा था, उससे आस्ट्रिया के नाजी लोग बहुत चिन्तित थे। वे अनुभव करते थे, कि जिस प्रकार सोशल डेमोक्रेट दल को कुचल दिया गया है, वैसे ही शीघ्र ही उन्हें भी नष्ट करने का प्रयत्न किया जायगा। हिटलर से प्रोत्साहन पाकर वे विद्रोह के लिये तैयार हो गये, और जुलाई, १९३४ में उन्होंने षड्यन्त्र करके डाल्फस की हत्या कर दी। कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा, कि जर्मनी के समान आस्ट्रिया में भी नाजी लोग सरकार पर कब्जा कर लेंगे। पर 'हाइमवेह्र' सेना की शक्ति का मुकाबला करने में नाजी लोग इस समय असमर्थ रहे, और नाजी विद्रोह को कुचल दिया गया।

डाल्फस की जगह पर शुशनिग आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री-पद पर नियत हुआ, और उसने डाल्फस की नीति का पूर्ण रूप से अनुसरण किया। लोकतन्त्रवाद का इस समय आस्ट्रिया से अन्त हो गया था, और सब राजशक्ति स्वेच्छाचारी सरकार के हाथों में केन्द्रित हो गई थी। इस समय हिटलर यह यत्न कर सकता था, कि आस्ट्रिया के नाजी दल को सहायता देकर उसे जर्मनी के साथ मिला ले। पर इटली इस बात का विरोधी था। उसे अनुभव होता था, कि आस्ट्रिया और जर्मनी के मिल जाने से शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र की सीमा इटली से आ मिलेगी, और यह बात उसके अपने लिये बहुत हानिकारक होगी। केवल इटली ही नहीं, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि राज्य भी जर्मनी और आस्ट्रिया के मिल जाने के विरोधी थे। हिटलर अनुभव करता था, कि इतने राज्यों के विरोध में विशाल जर्मन राष्ट्र के निर्माण का उपयुक्त समय अभी नहीं आया है। पर

आस्ट्रिया में नाजी दल निरन्तर उन्नति करता गया, और केवल चार साल बाद वहां इस दल की शक्ति इतनी प्रबल हो गई, कि हिटलर ने बिना किसी कठिनता के आस्ट्रिया को जर्मनी के अन्तर्गत कर लिया। 'आन्श्लुश' (जर्मनी और आस्ट्रिया का एकीकरण) की इस सफलता के सम्बन्ध में हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे ।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि आस्ट्रिया में लोकतन्त्रवाद का ह्रास और एक दल व एक व्यक्ति के स्वेच्छाचारी शासन का प्रारम्भ वहां नाजीज्म के विकास से पूर्व ही हो चुका था। डाल्फस की सरकार लोकतन्त्रवाद के विरुद्ध थी, और आस्ट्रिया को इस योग्य नहीं समझती थी, कि वहां लोकतन्त्र संस्थायें सफल हो सकें। लोकतन्त्रवाद की जिस प्रवृत्ति को १९१४-१८ के महा-युद्ध द्वारा बल मिला था, वह आस्ट्रिया में सफल नहीं हो सकी थी ।

५. अन्य राज्यों में लोकतन्त्रवाद का ह्रास

जिस प्रकार स्पेन और आस्ट्रिया में लोकतन्त्रवाद का ह्रास होकर फैसिस्ट प्रवृत्तियां प्रबल हुई, वैसे ही मध्य और पूर्वी यूरोप के अन्य भी बहुत से राज्यों में हुआ। केवल मध्य और पूर्वी यूरोप में ही नहीं, अपितु अन्यत्र भी १९३० के बाद लोकतन्त्र संस्थाओं का निरन्तर ह्रास होता गया। इस इतिहास में हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम यूरोप के सब राज्यों के इस काल के इतिहास का विशदरूप से उल्लेख कर सकें। पर कतिपय महत्त्वपूर्ण राज्यों में फैसिस्ट व एकाधिपत्य की प्रवृत्तियों के विकास पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालना उपयोगी होगा—

चेकोस्लोवाकिया—महायुद्ध की समाप्ति पर आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के भग्नावशेषों को लेकर चेकोस्लोवाकिया के राज्य का किस प्रकार निर्माण किया गया था, इस पर हम पहले विचार कर चुके हैं। इस राज्य की समस्यायें निम्नलिखित थीं—(१) चेक और स्लोवाक लोग नसल व जाति की दृष्टि से एक होते हुए भी अनेक भिन्नताएं रखते थे। चेक लोगों का निवास बोहेमिया और मोरेविया के प्रदेशों में था, और ये प्रदेश महायुद्ध के अन्त तक आस्ट्रिया के अधीन थे। इन पर जर्मन प्रभाव बहुत अधिक था और सभ्यता व संस्कृति के क्षेत्र में ये अच्छे उन्नत थे। इसके विपरीत स्लोवाक लोगों द्वारा आबाद प्रदेश महायुद्ध तक हंगरी की अधीनता में थे, और इन पर जर्मन सभ्यता का कोई असर नहीं पड़ा था। चेक और स्लोवाक लोग एक राज्य के नागरिक होते हुए भी अपने को पृथक् अनुभव करते थे, और स्लोवाक लोगों में यह आन्दोलन निरन्तर

प्रबल हो रहा था, कि वे अपना पृथक् राज्य बनावें। यदि उनका राज्य पृथक् रूप से न भी बन सके, तो कम से कम उन्हें प्रादेशिक स्वतन्त्रता तो अवश्य प्राप्त हो। (२) चेकोस्लोवाकिया में ऐसे लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, जो जातीय दृष्टि से चेक या स्लोवाक नहीं थे। जर्मन, पोल और रुथेनियन (युक्रेनियन) लोगों के अच्छी बड़ी संख्या में होने के कारण चेकोस्लोवाकिया में अल्पसंख्यक जातियों की समस्या निरन्तर उग्र रूप धारण करती जाती थी। (३) यूरोप के अन्य देशों के समान चेकोस्लोवाकिया में भी साम्यवाद की लहर जोर पकड़ रही थी, और ये साम्यवादी लोग राजनीतिक स्वतन्त्रता को अपर्याप्त समझते हुए इस बात के लिये उत्सुक थे, कि अपने देश में भी साम्यवादी व्यवस्था को कायम किया जाय।

१९२० से १९३५ तक चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति-पद पर प्रोफेसर मैसेरिक विराजमान रहे। जनता उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखती थी, और अपने 'राष्ट्र का पिता' मानती थी। उनके वैयक्तिक प्रभाव के कारण चेकोस्लोवाकिया में लोकतन्त्र शासन को अच्छी सफलता मिली, और देश ने सभी क्षेत्रों में अच्छी उन्नति की। पर १९३५ के बाद वहां भी नाजी पार्टी ने जोर पकड़ना शुरू कर दिया। विशेषतया, चेकोस्लोवाकिया में बसनेवाले जर्मन लोगों में नाजी विचारधारा बहुत प्रबल हो गई। जर्मनों के आन्दोलन की देखादेखी अन्य अल्पसंख्यक जातियों ने भी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष शुरू कर दिया, और चेकोस्लोवाकिया की सरकार के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह देश में शान्ति और व्यवस्था को कायम रख सके। मार्च, १९३८ में जब हिटलर की नाजी सेनाओं ने आस्ट्रिया पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया, तो चेकोस्लोवाकिया के नाजियों की हिम्मत बहुत बढ़ गई। इस स्थिति का यह परिणाम हुआ, कि सितम्बर, १९३८ में चेकोस्लोवाकिया का भी अंग-भंग हुआ, और मार्च, १९३९ तक चेकोस्लोवाकिया के स्वतन्त्र लोकतन्त्र राज्य का सर्वथा अन्त हो गया। इन घटनाओं पर हम अगले एक अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

युगोस्लाविया—पुराने सर्बिया में अनेक नये प्रदेशों (क्रोटिया, मान्टिनिग्रो, स्लोवेनिया, डाल्मेटिया, बोस्निया और हर्जेगोविना) को अन्तर्गत कर महायुद्ध की समाप्ति पर युगोस्लाविया का निर्माण किया गया था। इस राज्य का शासन-विधान लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुकूल था, यद्यपि इसमें वंशक्रमानुगत राजा की सत्ता कायम रखी गई थी। युगोस्लाविया के सम्मुख निम्नलिखित

समस्यायें थीं—(१) वहां ऐसे राजनीतिक दल जोर पकड़ रहे थे, जो राजसत्ता का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना करना चाहते थे। (२) कम्युनिस्ट विचार-धारा भी वहां प्रवेश कर रही थी, और इसके अनुयायी आर्थिक क्षेत्र में साम्यवादी व्यवस्था को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। (३) क्रोशिया का जो प्रदेश इस समय युगोस्लाविया के अन्तर्गत किया गया था, उसके निवासी अपने को सर्ब लोगों से भिन्न समझते थे। क्रोट लोग चाहते थे, कि उनका पृथक् राज्य कायम हो या कम से कम उन्हें अपनी पृथक् प्रादेशिक स्वतन्त्रता तो अवश्य प्राप्त हो। इसके विपरीत सर्बिया के राजदरबार में सर्ब लोगों का बहुत जोर था, और उनकी यह कोशिश थी, कि सम्पूर्ण युगोस्लाविया के शासन में सर्ब लोगों का प्रभुत्व अक्षुण्ण रहे। क्रोट और सर्ब लोगों के इस विरोध ने जो उग्र रूप धारण किया, उसका उल्लेख हम इतिहास में पहले कर चुके हैं। (४) क्रोट लोगों के समान स्लोवन (स्लोवानिया के निवासी) लोग भी अपने पृथक्त्व के लिये प्रयत्नशील थे, और सर्ब लोगों के साथ राष्ट्रीय एकता को पसन्द नहीं करते थे।

इस स्थिति में युगोस्लाविया में लोकतन्त्रवाद सफल नहीं हो सका। १९२९ में राजा अलेक्जेण्डर ने पार्लियामेण्ट को भंग कर दिया और सब अधिकारों को अपने हाथों में ले लिया। उसने संविधान की सर्वथा उपेक्षा कर एकाधिपति (डिक्टेटर) के रूप में शासन करना शुरू किया। सेना उसके साथ थी, और एकतन्त्र शासन की पुरानी परम्परा के कारण ऐसे लोगों की भी युगोस्लाविया में कमी नहीं थी, जो राजा के एकाधिपत्य के पक्षपाती थे। सब राजशक्ति को अपने हाथों में लेकर राजा अलेक्जेण्डर ने मन्त्रियों और राजकर्मचारियों की नियुक्ति भी स्वयं शुरू कर दी, और युगोस्लाविया पूर्ण रूप से राजा के एकाधिपत्य में आ गया।

१९३१ में राजा अलेक्जेण्डर ने अपनी इच्छा के अनुसार देश के लिये एक नये शासन-विधान का निर्माण किया। इस संविधान की मुख्य बातें ये थीं—(१) युगोस्लाविया की पार्लियामेण्ट में दो सभायें हों, सीनेट और लोकसभा। सीनेट के आधे सदस्य निर्वाचित हों, और आधे राजा द्वारा मनोनीत। वे छः साल तक अपने पद पर रहें। लोकसभा के सब सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित हों, और २१ साल से अधिक आयु के प्रत्येक स्त्री और पुरुष को उन्हें चुनने के लिये वोट का अधिकार प्राप्त हो। जिस दल के उम्मीदवारों को सबसे अधिक वोट मिलें, उसे यह अधिकार दिया जाय, कि वह लोकसभा में दो तिहाई स्थान अपने लिये रख सके। अन्य दलों को जिस अनुपात में वोट प्राप्त हों, लोकसभा के शेष एक

तिहाई सदस्य उसी अनुपात से उन दलों के रहा करें। (२) केवल उन्हीं राजनीतिक दलों की सत्ता को स्वीकार किया जाय, जिनका संगठन धर्म या प्रादेशिक विभिन्नता के आधार पर न किया गया हो। (३) क्रोट, सर्ब और स्लोवन भाषाओं को राज्य में समान स्थिति दी जाय। (४) युगोस्लाविया के विभिन्न प्रान्तों के शासकों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाया करे।

युगोस्लाविया का यह नया शासन-विधान फैसिस्ट सिद्धान्तों के अनुसार बनाया गया था। जिस किसी पार्टी को चुनाव में सबसे अधिक वोट प्राप्त हों (चाहे उसे आधे से भी कम वोट मिले हों), उसे इससे यह अवसर मिल जाता था, कि वह लोकसभा में दो तिहाई सदस्य अपने रख सके। अन्य सब राजनीतिक दल उसके सम्मुख अगण्य हो जाते थे। १९३१ में जब नये शासन-विधान के अनुसार लोकसभा का चुनाव हुआ, तो उसमें सबसे अधिक वोट युगोस्लाव नेशनल पार्टी को प्राप्त हुए, यह पार्टी सर्ब लोगों की थी, और क्रोटिया व स्लोवानिया की प्रादेशिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध थी। इससे क्रोट और स्लोवन लोगों में असन्तोष बहुत अधिक बढ़ गया। वैध उपायों द्वारा अपनी मांगों को पूरा कर सकने के सम्बन्ध में निराश होकर उन्होंने हिंसात्मक उपायों का आश्रय लिया। उनके क्रान्तिकारी आन्दोलन ने इतना उग्र रूप धारण किया, कि अक्टूबर, १९३४ में राजा अलेक्जेण्डर की मार्सेय्य (फ्रांस) में हत्या कर दी गई। यह हत्या क्रोट षड्यन्त्रकारियों द्वारा की गई थी।

राजा अलेक्जेण्डर की हत्या के बाद उसका लड़का पीटर द्वितीय के नाम से युगोस्लाविया के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इस समय उसकी आयु केवल ग्यारह साल की थी। अतः उसके चाचा प्रिन्स पोल के नेतृत्व में एक रीजेन्सी कौंसिल देश का शासन चलाने के लिये बनाई गई। नई सरकार ने यह अनुभव किया, कि क्रोट विद्रोहियों को सन्तुष्ट किये बिना देश में शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं रह सकेगी। अतः उसने क्रोट और स्लोवन लोगों की आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये अनेक उद्योग किये। अगस्त, १९३९ में क्रोटिया के प्रदेश में स्थानीय स्वराज्य की स्थापना कर दी गई, जिससे वहां के लोगों ने बहुत कुछ सन्तोष अनुभव किया।

१९३४ के बाद जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में नाजी पार्टी जिस प्रकार उत्कर्ष कर रही थी, उससे यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक प्रकार का तूफान सा आ गया था। १९३८ में जब आस्ट्रिया पर और १९३९ में जब चेकोस्लोवाकिया के बड़े भाग पर जर्मनी ने कब्जा कर लिया, तो मध्य और

पूर्वी यूरोप के राज्यों में बहुत बेचैनी उत्पन्न हो गई। इसी परिस्थिति से विवश होकर युगोस्लाविया की सरकार ने क्रोटिया की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण करने का प्रयत्न किया था।

रूमानिया—महायुद्ध की समाप्ति पर रूमानिया में रिपब्लिकन शासन स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। वहां पुराने राजवंश का शासन कायम रहा, यद्यपि लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति ने वहां भी असर डाला और रूमानिया के शासन में पार्लियामेण्ट का महत्त्व पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया। पर मध्य और पूर्वी यूरोप के अन्य राज्यों के समान रूमानिया में भी लोकतन्त्र-वाद को अधिक सफलता नहीं हो सकी। वहां दो राजनीतिक दल प्रधान थे, लिबरल और कन्जर्वेटिव। लिबरल दल के अनुयायी मुख्यतया मध्य श्रेणी के लोग थे, जो अपने देश में ब्रिटेन के समान वैध राजसत्ता के स्थापित करने के पक्ष-पाती थे। कन्जर्वेटिव दल के अनुयायी कुलीन व जागीरदार श्रेणियों के थे, जो न केवल लोकतन्त्र शासन के विरोधी थे, अपितु साथ ही महायुद्ध के समय में जर्मनी के साथ भी सहानुभूति रखते थे। महायुद्ध में रूमानिया मित्रराष्ट्रों के पक्ष में था, अतः कन्जर्वेटिव दल का प्रभाव वहां बहुत कम हो गया था। राजशक्ति का संचालन लिबरल दल के हाथों में आ गया था, जो सब प्रकार के उचित व अनु-चित उपायों का प्रयोग कर जनता के वोटों को प्राप्त कर अपनी शक्ति को कायम रखने में समर्थ था। रूमानिया के लिबरल नेता चुनाव के समय पर धन को पानी की तरह बहाते थे और अपने सरकारी प्रभाव को प्रयुक्त करने में संकोच नहीं करते थे। महायुद्ध के बाद रूमानिया में दो अन्य राजनीतिक दलों का विकास हुआ। इनमें प्रमुख राष्ट्रीय किसान दल था, जो अपने देश में वास्तविक लोकतन्त्र शासन को स्थापित करने के पक्ष में था। इस दल के लोग कहते थे, कि पार्लियामेण्ट का चुनाव बिना किसी सरकारी दबाव के होना चाहिये और सब राजनीतिक दलों को अपने विचारों का स्वतन्त्र रूप से प्रचार करने का अवसर मिलना चाहिये। दूसरा दल साम्यवादियों का था, जो रूमानिया में भी साम्य-वादी व्यवस्था स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील था।

१९२७ में रूमानिया के राजा फर्डिनन्ड की मृत्यु हो गई। उसका लड़का कैरोल सच्चरित्र नहीं था। अपनी विवाहिता पत्नी का परित्याग कर वह एक अन्य महिला के प्रेमपाश में फंसा हुआ था। इसीलिये फर्डिनन्ड के जीवनकाल में ही यह व्यवस्था कर दी गई थी, कि उसकी मृत्यु के बाद कैरोल राजगद्दी पर न बैठ सके, और उसका पौत्र प्रिंस माइकेल रूमानिया का राजा बने। १९२७

में राजा फर्डिनन्ड की मृत्यु के समय प्रिंस माइकेल की आयु केवल पांच साल की थी। अतः शासन का संचालन करने के लिये एक रीजेन्सी कौंसिल का निर्माण किया गया, जिसका अध्यक्ष उसकी माता महारानी मेरी को नियत किया गया। १९२८ में जब रूमानिया की पार्लियामेण्ट का नया चुनाव हुआ, तो राष्ट्रीय किसान दल के उम्मीदवार बहुत बड़ी सख्या में निर्वाचित हुए। लिबरल दल के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया, और राष्ट्रीय किसान दल का नेता मानिओ रूमानिया का प्रधान मन्त्री बना।

१९३० में प्रिंस कैरोल (माइकेल का पिता) रूमानिया लौट आया, और अपने लड़के को राजगद्दी से च्युत कर सेना की सहायता से स्वयं रूमानिया का राजा बन गया। राजा कैरोल लोकतन्त्रवाद का विरोधी था, और निरंकुश रूप से देश का शासन करना चाहता था। राष्ट्रीय किसान दल के मन्त्रिमण्डल के साथ उसका निर्वाह हो सकना असम्भव था। उसने मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया, और प्रोफेसर जोर्गा को अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। कैरोल और जोर्गा ने एक नये राजनीतिक दल का संगठन किया, जिसका नाम 'नेशनल यूनियन पार्टी' था। यह पार्टी राजा के अबाधित शासन की पक्षपाती थी, और लोकतन्त्रवाद को रूमानिया के लिये उपयुक्त नहीं समझती थी। एप्रिल, १९३१ में जब पार्लियामेण्ट का नया निर्वाचन हुआ, तो प्रोफेसर जोर्गा ने राजशक्ति का स्वच्छन्द रूप से नेशनल यूनियन पार्टी की सफलता के लिये उपयोग किया, और चुनाव में इस पार्टी को सफलता प्राप्त हो गई। इस कारण राजा कैरोल और प्रोफेसर जोर्गा को लोकतन्त्रवाद की सर्वथा उपेक्षा कर स्वेच्छाचारी रूप से रूमानिया का शासन करने का सुअवसर प्राप्त हो गया।

१९३१ के बाद रूमानिया के शासन में जो परिवर्तन हुए, उनका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। अन्य देशों के समान रूमानिया में भी इस समय एक नाजी पार्टी का संगठन हुआ, जिसे 'आयरन गार्ड' (लौह रक्षक) कहते थे। १९३७ तक रूमानिया की इस नाजी पार्टी की शक्ति इतनी अधिक बढ़ गई थी, कि राजा कैरोल को विवश होकर उसके नेता आक्टेवियन गोगा को अपना प्रधान मन्त्री बनाना पड़ा था। एक साल बाद १९३८ में राजा कैरोल ने लोकतन्त्र-वाद पर आश्रित शासन-विधान का अन्त कर सब राजशक्ति अपने हाथों में ले ली, और उसने एक स्वेच्छाचारी निरंकुश राजा के समान देश का शासन करना प्रारम्भ कर दिया। यूरोप के अन्य बहुत-से राज्यों के समान अब

रूमानिया में भी लोकतन्त्रवाद का ह्रास होकर एकाधिपत्य की स्थापना हो गई थी।

हंगरी—महायुद्ध की समाप्ति के बाद हंगरी के नवस्थापित रिपब्लिकन राज्य को किन विपत्तियों का सामना करना पड़ा, इसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। बेलाकुन के नेतृत्व में वहां रूस के ढंग की जिस कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न हुआ था, वह सफल नहीं हो सकी थी। पर साथ ही हंगरी में लोकतन्त्रवाद पर आश्रित रिपब्लिकन शासन का सफल हो सकना भी सुगम नहीं था। बेलाकुन की पराजय के कारण वहां कम्युनिस्ट लोग तो निर्बल हो गये थे, पर ऐसे राजनीतिक दलों का विकास भलीभांति नहीं हुआ था, जो लोकतन्त्रवाद के पक्षपाती हों। हंगरी में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो अपने देश में फिर से हाप्सबुर्ग राजवंश के शासन को स्थापित करने के लिये उत्सुक थे। इन लोगों ने कई बार यह प्रयत्न किया, कि हाप्सबुर्ग राजवंश के प्रिन्स कार्ल को हंगरी का राजा बना दें। दो बार कार्ल हंगरी आया भी, पर अन्य राज्यों के हस्तक्षेप के कारण ये प्रयत्न सफल नहीं हो सके। हंगरी की रिपब्लिक के राष्ट्रपति-पद पर एड्मिरल होर्थी को निर्वाचित किया गया था। पर उसका शासन किसी भी अर्थ में लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर आश्रित नहीं था। हंगरी में अब भी जागीरदारों और प्रतिक्रियावादी लोगों का प्रभुत्व था, जो मनमानी तरीके से सरकार का संचालन किया करते थे। हंगरी की आधी से अधिक भूमि ऐसे बड़े जागीरदारों की सम्पत्ति थी, जो १४०० एकड़ या इससे भी अधिक भूमि के स्वामी थे। ७५ प्रतिशत से अधिक किसान वहां ऐसे थे, जो अपने खेतों के मालिक नहीं थे। एक तरफ हंगरी में जहां कुलीन और जागीरदार लोग राजसत्ता का पुनरुद्धार करने के लिये प्रयत्नशील थे, वहां साथ ही नाजी पार्टी का संगठन भी वहां शुरू हो गया था। हंगरी में निवास करने वाले जर्मन लोग जर्मनी के अन्तर्गत रहकर विशाल जर्मन राष्ट्र के निर्माण के लिये इच्छुक थे, और गरीब हंगेरियन जनता पर उनका प्रभाव कम नहीं था। इस परिस्थिति में यदि हंगरी में लोकतन्त्रवाद को जरा भी सफलता न मिल सकी हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

पोलैण्ड—पेरिस की शान्ति-परिषद् के निर्णयों के अनुसार पोलैण्ड को एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिणत किया गया था, और वहां लोकतन्त्र रिपब्लिकन शासन का सूत्रपात किया गया था। जनता के वोटों द्वारा, देश का शासन-विधान तैयार करने के लिये एक संविधान-परिषद् का निर्वाचन हुआ था,

जिसने फ्रांस के संविधान को आदर्श बनाकर पोलैण्ड के लिये नये संविधान की रचना की थी। यह रिपब्लिकन शासन पोलैण्ड में सन् १९२१ में लागू कर दिया गया था। पर यूरोप के अनेक राज्यों के समान पोलैण्ड में भी लोकतन्त्रवाद के मार्ग में अनेक कठिनाइयां थीं। महायुद्ध के बाद उत्पन्न हुआ आर्थिक संकट जहां एक तरफ पोलैण्ड के राजनीतिक नेताओं को परेशान कर रहा था, वहां साथ ही उसके राजनीतिक दल वैध उपायों का आश्रय लेकर अपने कार्यक्रम व नीति को क्रिया में परिणत करने के लिये अभ्यस्त नहीं थे। पोलैण्ड के कन्जर्वेटिव और लिबरल दल एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये सब प्रकार के उपायों का प्रयोग करते थे, और इस कारण वहां पार्लियामेण्टरी शासन सफल नहीं होने पाता था।

इस दशा में पोलैण्ड के वीर सेनापति पिल्सुद्स्की ने संविधान की उपेक्षा कर सब राजशक्ति को अपने हाथों में ले लिया। मई, १९२६ में उसने अपनी एक सेना के साथ वारसा की ओर प्रस्थान किया, और तीन दिन की लड़ाई के बाद पोलैण्ड की राजधानी पर कब्जा कर लिया। पिल्सुद्स्की ने संविधान को नष्ट नहीं किया, अपितु पार्लियामेण्ट से यह मांग की, कि वह प्रोफेसर मोस्कोकी को राष्ट्रपति-पद पर निर्वाचित करे। पार्लियामेण्ट पिल्सुद्स्की की सैन्य शक्ति के सम्मुख असहाय थी। मोस्कोकी को राष्ट्रपति चुन लिया गया, और प्रधान मन्त्री के पद पर काशिमीर बार्टेल को नियुक्त किया गया, क्योंकि पिल्सुद्स्की उसी को इस पद पर नियुक्त कराना चाहता था। यद्यपि इस समय पोलैण्ड की सरकार का संचालन पूर्ण रूप से मार्शल पिल्सुद्स्की के हाथों में था, पर पार्लियामेण्ट की सत्ता पूर्ववत् कायम थी। नियमपूर्वक पार्लियामेण्ट के अधिवेशन होते थे, और मन्त्रिमण्डल अपने प्रस्तावित कानूनों को उसके सम्मुख विचारार्थ उपस्थित किया करता था। पर पार्लियामेण्ट में यह साहस नहीं था, कि वह पिल्सुद्स्की की किसी भी बात का विरोध कर सके। यदि कोई व्यक्ति उसका विरोध करने का साहस करता था, तो उसे बुरी तरह से कुचल दिया जाता था। १९३० में पिल्सुद्स्की के आदेश पर पार्लियामेण्ट के ९० सदस्यों को इसलिये गिरफ्तार किया गया, क्योंकि वे सरकार के कार्य में 'बाधा' उपस्थित करते थे। १९२८ से १९३५ तक पोलैण्ड में आठ मन्त्रिमण्डल कायम हुए, पर ये सब पिल्सुद्स्की के हाथों में कठपुतली के समान थे। वह जिसे चाहता, मन्त्री बनाता और जिसे चाहता, मन्त्रिपद से पृथक् कर देता।

१९३४ में पिल्सुद्स्की ने पोलैण्ड के लिये नये शासन-विधान का निर्माण

किया। उसकी सम्मति में १९२१ का शासन-विधान दोषपूर्ण था, क्योंकि उसमें राजनीतिक दलों व उनके नेताओं को सरकार की नुकताचीनी व विरोध करने का अवसर मिलता था, जो बात कि पोलैण्ड के हितों के विरुद्ध थी। नये शासन-विधान में सीनेट के सदस्यों की संख्या ९० नियत की गई। इनमें से ३० राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाते थे और शेष ६० को तीस साल से अधिक आयु के ऐसे व्यक्ति चुनते थे, जो या तो सरकार व सेना की सर्विस में हों और या जो शिक्षा, आर्थिक आमदनी आदि की दृष्टि से विशेष स्थिति रखते हों। प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों की संख्या २०८ नियत की गई, और यह व्यवस्था की गई, कि प्रतिनिधि-सभा की सदस्यता के उम्मीदवार केवल ऐसे व्यक्ति हो सकें, जिन्हें स्थानीय स्वशासन की संस्थायें, व चैम्बर आफ कामर्स आदि सरकार द्वारा स्वीकृत संस्थायें मनोनीत करें। २४ वर्ष से अधिक आयु के नागरिकों को इन्हें चुनने का अधिकार दिया गया। सीनेट और प्रतिनिधि-सभा के अधिकारों को एक समान रखा गया। १९३४ का यह शासन-विधान लोकतन्त्रवाद के अनुकूल नहीं था, और १९२१ में पोलैण्ड में लोकतन्त्र शासन की स्थापना का जो प्रयत्न हुआ था; वह इस नये शासन-विधान के कारण अब अन्तिम रूप से विफल हो गया था। मई, १९३५ में मार्शल पिल्सुद्स्की की मृत्यु हो गई, पर उसने लोकतन्त्रवाद का अन्त कर जिस ढंग के शासन का पोलैण्ड में प्रारम्भ किया था, वह उसके बाद भी जारी रहा।

बल्गेरिया—महायुद्ध में बल्गेरिया ने जर्मनी का साथ दिया था। अतः न्वीय्यी की सन्धि के अनुसार मित्रराष्ट्रों ने उसके अनेक प्रदेशों को उससे पृथक् कर दिया, और उसे एक छोटे से राज्य के रूप में परिणत कर दिया था। महायुद्ध के समय बल्गेरिया का राजा फर्डिनन्ड था। १९१८ में उसने अपना राजसिंहासन छोड़ दिया और बोरिस द्वितीय बल्गेरिया का राजा बना। न्वीय्यी की सन्धि के बाद भी बल्गेरिया में राजसत्ता कायम रही, यद्यपि पार्लियामेण्ट द्वारा उसकी शक्ति को मर्यादित करने का प्रयत्न किया गया। पर वैध राजसत्ता का बल्गेरिया में सफल हो सकना सुगम नहीं था। वहां की जनता कुलीन जागीरदारों की सत्ता का अन्त कर भूमि सम्बन्धी सुधारों के लिये आन्दोलन करने में तत्पर थी। बल्गेरिया का प्रधान मन्त्री इस समय स्ताम्बुलिन्स्की था, जो सुधार-आन्दोलन के साथ सहानुभूति रखता था। १९२३ में उसकी हत्या कर दी गई, और षड्यन्त्रकारियों की सहायता से प्रोफेसर त्सान्कोव ने नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। यद्यपि त्सान्कोव के शासन-काल में बल्गेरिया में पार्लियामेण्ट कायम

रही, पर वह स्वेच्छाचारी रूप से शासन करता था और किसी भी विरोधी दल को सिर नहीं उठाने देता था। सरकार के स्वेच्छाचार के कारण बल्गेरिया में भी सुधारवादी और कम्युनिस्ट दल निरन्तर जनता की सहानुभूति प्राप्त करते जाते थे, और वैध उपायों द्वारा सरकार में परिवर्तन करना असम्भव समझ कर क्रान्ति और हिंसा के मार्ग का अनुसरण करने के लिये प्रयत्नशील थे। पर बल्गेरिया में इन दलों को सफलता नहीं हो सकी। यूरोप के अन्य राज्यों के समान बल्गेरिया में भी १९३० के बाद फैसिस्ट व नाजी प्रवृत्तियों ने प्रबल होना शुरू किया, और मई, १९३४ में कतिपय सैनिक अफसरों ने शक्ति का प्रयोग कर सरकार पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। नवम्बर, १९३५ में एक बार फिर बल्गेरिया में षड्यन्त्र द्वारा सरकार में परिवर्तन किया गया और राजा बोरिस ने अपने कुछ सहयोगियों की सहायता से सम्पूर्ण राजशक्ति को अपने हाथों में ले लिया। महायुद्ध के बाद लोकतन्त्रवाद की जो प्रवृत्ति यूरोप में प्रबल हो रही थी, अन्य राज्यों के समान बल्गेरिया में भी वह असफल हो गई।

अल्बेनिया, ग्रीस, पोर्तुगाल, लिथुएनिया, लैटविया, एस्थोनिया आदि अन्य यूरोपियन राज्यों में भी प्रायः इसी ढंग से लोकतन्त्रवाद असफल हुआ, और धीरे-धीरे इन राज्यों में ऐसी सरकारें कायम हुईं, जो लोकतन्त्र सिद्धान्तों पर आश्रित न होकर फैसिस्ट और नाजी प्रवृत्तियों को क्रिया में परिणत करने के लिये प्रयत्नशील थीं।

पचपनवां अध्याय

बोल्शेविक रूस

१. स्टालिन का उदय

कामिन्टर्न की स्थापना—लेनिन और अन्य बोल्शेविक नेताओं का विश्वास था, कि रूस में साम्यवादी क्रान्ति की जो लहर प्रारम्भ हुई है, वह केवल रूस तक ही सीमित नहीं रहेगी, अपितु शीघ्र ही सारे यूरोप को व्याप्त कर लेगी। लेनिन का कहना था, कि वैज्ञानिक रूप से यह भविष्यवाणी पूरे भरोसे के साथ की जा सकती है, कि वह समय दूर नहीं है, जब सारा संसार साम्यवादी क्रान्ति के प्रभाव में आ जायगा। इस विश्वव्यापी क्रान्ति के लिये मैदान तैयार करने के उद्देश्य से १९१९ में 'थर्ड इन्टर्नेशनल' (साम्यवादियों का तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय संघ) या कामिन्टर्न की स्थापना की गई। यह व्यवस्था की गई, कि इस संघ में सब देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के प्रतिनिधि शामिल हों, और सब कम्युनिस्ट पार्टियों को एक सूत्र में संगठित कर दिया जाय। कामिन्टर्न के विधान में इसके उद्देश्यों को निम्नलिखित रीति से प्रकट किया गया था—"श्रमिकों के इस नये अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृसंघ की स्थापना इस उद्देश्य से की गई है, कि विविध देशों की सर्वसाधारण जनता आपस के सहयोग से पूंजीवाद का नाश कर सके, और किसान-मजदूर जनता का एकाधिपत्य कायम कर सके। समाज में जो विविध श्रेणियां हैं, उनका अन्त करके साम्यवाद की स्थापना सम्भव हो सके, और इस प्रकार संसार भर के राज्यों की एक अन्तर्राष्ट्रीय सोवियट रिपब्लिक स्थापित होने के लिये मैदान तैयार हो जाय।" कामिन्टर्न का पहला अध्यक्ष जिनोवीव था। उसने घोषणा की, कि एक साल के अन्दर-अन्दर सारा यूरोप कम्युनिस्ट हो जायगा। सब बोल्शेविक लोगों की यही आशा थी।

पर उनकी यह आशा पूरी नहीं हो सकी। महायुद्ध की समाप्ति पर जर्मनी, आस्ट्रिया, पोलैण्ड आदि अनेक देशों में बोल्शेविकों ने क्रान्ति की कोशिश की। बेलाकुन के नेतृत्व में कुछ समय के लिये हंगरी में बोल्शेविक शासन स्थापित

भी हो गया। जर्मनी में रोजा लुक्समबुर्ग और लीब्कनेख्ट के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने बहुत जोर पकड़ा, पर वे अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुए। कुछ ही समय बाद रूस के अतिरिक्त अन्य सब देशों में बोल्शेविक क्रान्ति की लहर उतर गई, और लोकतन्त्र शासनों की स्थापना हुई। अन्य देशों में जो बोल्शेविक लोग सफल नहीं हुए, उसका कारण यह था, कि वहां शिक्षित मध्य श्रेणी बहुत शक्तिशाली थी। रूस में इस श्रेणी की संख्या बहुत कम थी, और वहां जमींदारी को नष्ट कर देने की बात उठाकर बोल्शेविकों ने किसानों को अपने पक्ष में कर लिया था।

ट्राटस्की का मत—बोल्शेविक क्रान्ति संसार भर को अपने असर में नहीं ला सकी, इसका परिणाम बोल्शेविक पार्टी पर बड़े महत्व का हुआ। उसमें नीति और कार्यक्रम के सम्बन्ध में मतभेद प्रकट होने लगे। जब तक लेनिन जीवित रहा, ये मतभेद ज्यादा प्रबल रूप धारण नहीं कर सके। पर उसकी मौत होते ही बोल्शेविक पार्टी दो भागों में विभक्त हो गई। एक पक्ष का नेता ट्राटस्की था। उसका मत यह था, कि बोल्शेविकों को विश्व भर में साम्यवादी क्रान्ति के लिये अपने प्रयत्नों को जारी रखना चाहिये। ट्राटस्की कहता था, कि पूंजीवाद की परिस्थितियों में अकेले रूस में बोल्शेविक व्यवस्था का फलना-फूलना सम्भव नहीं है। दूसरे पूंजीवादी देश सैनिक हस्तक्षेप या आर्थिक बहिष्कार द्वारा रूस के बोल्शेविक राज्य को सुगमता से नष्ट कर सकते हैं। ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, पोलैण्ड आदि ने किस प्रकार पुराने जमाने के पक्षपाती रशियन विद्रोहियों की सहायता की थी, और स्वयं भी अपनी सेनाएं भेजकर उस पर हमला किया था, यह उदाहरण उसके सामने था। ट्राटस्की यह भी कहता था, कि संसार के सब राज्य एक दूसरे पर आश्रित हैं। इस समय दुनिया का बाजार एक है, कोई देश कोई सा माल तैयार करता है, और अन्य देश दूसरा माल तैयार करते हैं। इस युग में कोई भी देश ऐसा नहीं रहा है, जो आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया अपने आप में परिपूर्ण हो। इस दशा में यह कैसे सम्भव है, कि एक देश में तो बोल्शेविक व्यवस्था हो, और अन्य सब में पूंजीवाद, और वे सब आपस में सहयोग से व्यापार का संचालन कर सकें। पूंजीवादी देशों के बीच में एक बोल्शेविक देश जीवित नहीं रह सकेगा। उसकी वही दशा हो जायगी, जो कि सब ओर से शत्रुओं से घिरे हुए देश की होती है। ट्राटस्की का मत था, कि रूस से बोल्शेविक क्रान्ति की जो लहर शुरू हुई है, उसे सारे संसार में व्याप्त होना ही चाहिये। जब सब जगह साम्यवाद के अनुसार समाज की रचना हो जायगी, तो आर्थिक दृष्टि से सारा संसार एक हो जायगा।

जिस प्रकार एक देश में जो प्रान्त वस्त्र-व्यवसाय के लिये अनुकूल परिस्थिति रखता है, वहां वस्त्र-व्यवसाय का विकास होता है, दूसरा प्रान्त लोह-व्यवसाय का, तीसरा कोयले का, चौथा रेशम का, और पांचवां चीनी या अनाज का केन्द्र होता है। इसी प्रकार जब सारे विश्व में बोल्शेविक समाज की स्थापना हो जायगी, तो विविध देश भिन्न-भिन्न व्यवसायों के केन्द्र बन जायेंगे, और संसार भर की सर्वसाधारण श्रमिक जनता एक दूसरे के साथ सहयोग द्वारा सबके हित के लिये प्रयत्न करेगी। राज्यों की प्रतिस्पर्धा और ईर्षा-द्वेष का अन्त हो जायगा और स्थिर शान्ति के लिये मार्ग खुल जायगा।

ट्राटस्की और स्टालिन में मतभेद—पर स्टालिन का मत इससे भिन्न था। ट्राटस्की के समान स्टालिन भी लेनिन के प्रधान सहयोगियों में से एक था। स्टालिन कहता था, कि रूस को विश्व भर में बोल्शेविक क्रान्ति करने की फिक्र करने की आवश्यकता नहीं है। हमें यत्न यह करना चाहिये, कि पहले एक देश में बोल्शेविक समाज को स्थापित करके दिखा दें। जब रूस में साम्यवादी व्यवस्था कायम हो जायगी, तो अन्य देश स्वयं उसका अनुसरण करने के लिये उत्साहित होंगे। अन्य देशों में बोल्शेविक व्यवस्था के कायम हुए बिना भी रूस में उसे सफल किया जा सकता है। अन्य देशों में क्रान्ति करने के उद्योग का परिणाम यह होगा, कि उनके साथ व्यर्थ में संघर्ष और विद्वेष बढ़ेगा, और रूस को अपनी उन्नति के लिये जिस मशीनरी व अन्य साधनों की आवश्यकता है, वे उसे प्राप्त न हो सकेंगे। अन्य देशों से निरन्तर संघर्ष के कारण रूस में शान्ति और व्यवस्था नहीं रह पायेगी, और बोल्शेविक व्यवस्था कायम होने में बाधा उपस्थित होगी।

स्टालिन और ट्राटस्की में अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के सम्बन्ध में मतभेद थे। स्टालिन चाहता था, कि किसानों के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित किये जायं, ताकि देश में अनाज के उत्पादन में किसी प्रकार की कमी न होने पावे। इसके लिये वह देहातों के लोगों के उनकी सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार व स्वामित्व को भी स्वीकार करने के लिये उद्यत था, चाहे यह बात कम्युनिज्म के सिद्धान्तों के विपरीत ही क्यों न हो। स्टालिन की सम्मति में यह सम्भव नहीं था, कि देहातों में निवास करनेवाले करोड़ों किसानों को एकदम कम्युनिज्म का अनुयायी बनाया जा सके। अतः वह चाहता था, कि अभी वे अपने खेतों, कृषि के उपकरणों आदि के स्वामी बने रहें, ताकि रूस का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त न होने पावे। इसके विपरीत ट्राटस्की कृषि को भी कम्युनिस्ट सिद्धान्तों के अनुसार संगठित करने के पक्ष में था, और उसका यह मत था, कि सम्पूर्ण

भूमि पर तुरन्त राज्य का स्वामित्व स्थापित कर देना चाहिये, और मजदूरों के समान किसानों को भी राज्य का वेतनभोगी होकर कार्य करना चाहिये।

रूस की आर्थिक उन्नति के लिये स्टालिन यह चाहता था, कि विदेशों से पूंजी प्राप्त करने में रूस की कम्युनिस्ट सरकार किसी प्रकार का संकोच न करे। देश के व्यवसायों और आवागमन के साधनों को उन्नत करने के लिये विदेशों से मशीनरी व सुयोग्य शिल्पी प्राप्त करना स्टालिन को अनिवार्य प्रतीत होता था। इसके विपरीत ट्राटस्की का यह मत था, कि रूस को पूंजीवादी देशों से किसी भी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखना चाहिये।

स्टालिन की विजय—ट्राटस्की और स्टालिन के इस मतभेद ने बहुत उग्र रूप धारण किया। पर अन्त में स्टालिन की विजय हुई। सोवियटों में उन लोगों का बहुमत था, जो स्टालिन के अनुयायी थे, और कम्युनिस्ट पार्टी में भी स्टालिन का जोर था। ट्राटस्की को देशनिकाला दिया गया, और वह १९२९ में रूस छोड़कर बाहर चले जाने को विवश हुआ। उसके सब अनुयायी गिरफ्तार किये गये और बहुतों को तो प्राण-दण्ड तक दिया गया। स्टालिन के अनुसार ट्राटस्की के विचार बोल्शेविक सिद्धान्तों के प्रतिकूल थे, और उसके कार्य नई क्रान्ति के लिये हानिकारक थे। उसे देशद्रोही और कम्युनिज्म का शत्रु समझा गया, और उसके अनुयायियों के साथ अत्यन्त कठोर बर्ताव किया गया। यह कह सकना कठिन है, कि ट्राटस्की कम्युनिज्म का शत्रु था। क्रान्ति के तुरन्त बाद सभी बोल्शेविक लोग यह समझते थे, कि विश्व भर में साम्यवादी समाज की स्थापना करना परम आवश्यक है। इसी के लिये कामिन्टर्न का संगठन किया गया था। पर जब हंगरी, पोलैण्ड, जर्मनी आदि में बोल्शेविक क्रान्ति की पहली लहर सफल नहीं हुई, तो स्टालिन व उसके साथियों ने विश्व-क्रान्ति का स्वप्न छोड़कर अपने देश में बोल्शेविक व्यवस्था को सफल बनाने का काम हाथ में लिया। परिस्थितियों को देखते हुए यह उचित ही था, पर मतभेदों के कारण ट्राटस्की व उसके अनुयायियों को कम्युनिज्म का शत्रु समझना कहां तक उचित है, इस पर ऐतिहासिकों में मतभेद ही रहेगा।

पर अब बोल्शेविक रूस की सब शक्ति स्टालिन के हाथ में आ गई थी। १९२४ के शुरू में लेनिन की मृत्यु के बाद अपने प्रतिस्पर्धियों को परास्त कर वह कम्युनिस्ट पार्टी का प्रधान नेता बन गया था।

२. नई आर्थिक नीति

कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्थापना—नवम्बर, १९१७ में जब बोल्शेविकों

ने क्रान्ति द्वारा राजशक्ति प्राप्त की, तो जल्दी-जल्दी जिन आज्ञाओं को प्रचारित किया, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वह समय भारी परिवर्तन का था। अन्दर और बाहर, दोनों ओर शत्रुओं का भय नई बोल्शेविक सरकार के सामने था। वह परिस्थिति युद्ध की थी। उस दशा में बोल्शेविकों ने शीघ्रता में जो नई आर्थिक व्यवस्थाएं कीं, उनके ये परिणाम हुए— (१) सब कारखानों पर राज्य का अधिकार हो गया। (२) आर्थिक उत्पत्ति और सम्पत्ति के विनिमय के सब साधनों पर राज्य ने अपना अधिकार कर लिया। व्यक्तियों द्वारा संचालित सब व्यवसाय बन्द कर दिये गये। (३) बैंक बन्द हो गये, और रुपये के लेन-देन का सब काम सरकार की ओर से होने लगा। (४) श्रमिकों को पारिश्रमिक रुपये में नहीं अपितु पदार्थों की शकल में मिलने लगा। उन्हें काम के बदले में कार्ड मिलते थे, जिन्हें दिखाकर वे मुफ्त सवारी व मकान प्राप्त कर सकते थे। रुपये का चलन प्रायः बन्द कर दिया गया था, और इसीलिये महाजनों व बैंकों की कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी। (५) जमीनें जमींदारों से छीन ली गईं। यह घोषणा कर दी गई, कि जमीन राज्य की है। पर खेती का काम किसानों के ही हाथों में रहा। किसान अपने-अपने खेतों में उसी तरह खेती करते रहे, जैसे पहले करते थे। सरकार स्वयं अपनी ओर से खेती की व्यवस्था करे, इसका उद्योग नहीं किया गया। पर सरकार को यह हक था, कि वह किसान के पास उसके खाने लायक अनाज को छोड़कर बाकी अनाज को उससे प्राप्त कर सके।

इस नई व्यवस्था के कारण बहुत से कारोबार बन्द हो गये। लाखों-करोड़ों आदमी बेकार हो गये। सारे कारखानों को व आर्थिक उत्पत्ति के सब साधनों को सरकार एकदम पूरी तरह नहीं संभाल सकी। पैदावार बहुत घट गई। किसानों ने जब देखा, कि सरकारी अफसर उनके अनाज को मनमानी तरीके से ले जाते हैं, तो वे बहुत असन्तुष्ट हुए। जगह-जगह किसानों के विद्रोह हुए। सब जगह अशान्ति और विद्रोह के चिन्ह प्रकट होने लगे। रूस के जंगी जहाजों के बेड़े में मल्लाहों तक ने विद्रोह कर दिया। इस दशा में (१९२१ में) लेनिन ने अनुभव किया, कि आर्थिक नीति में परिवर्तन की आवश्यकता है। एक बार अपनी सारी शक्तियों को एकत्र करके जोर के साथ हमला किया जा सके, इसके लिये सेना को पीछे हटने की भी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार बोल्शेविक पार्टी को भी चाहिये, कि अपने आदर्शों के अनुसार व्यवस्था कायम करने के लिये एक बार कुछ पीछे हट जाय, और फिर पूरी तैयारी करके आगे बढ़े।

नई व्यवस्था की असफलता के कारण—१९१७ में कम्युनिस्ट आदर्शों और सिद्धान्तों को अविकल रूप से क्रिया में परिणत करने का प्रयत्न जो रूस में सफल नहीं हो सका, उसके कारण निम्नलिखित थे—(१) कम्युनिस्ट पार्टी ने रूस में जिस समय अपना कार्य शुरू किया, तब यूरोप में महायुद्ध जारी था। युद्ध की परिस्थिति के कारण सम्पूर्ण यूरोप की आर्थिक अवस्था अस्त-व्यस्त दशा में थी। यद्यपि रूस युद्ध से पृथक् हो गया था, पर वहां भी शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं हुई थी। महायुद्ध के कारण रूस का आर्थिक जीवन अव्यवस्थित हो गया था, सैनिक आक्रमणों द्वारा उसके कल-कारखाने नष्टप्राय हो गये थे और देहातों में निवास करनेवाले बहुत से किसान भी प्रतिवर्ष नियमपूर्वक खेती कर सकने में असमर्थ हो गये थे। (२) कम्युनिस्ट नेता इस स्थिति में नहीं थे, कि वे अपनी पूर्ण शक्ति नई आर्थिक व्यवस्था को कायम करने में लगा सकें। एक तरफ उन्हें देश के अन्दर के शत्रुओं का मुकाबला करना था, जिन्हें कम्युनिज्म से सरासर नुकसान था, और जो कम्युनिस्ट सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह में तत्पर थे। दूसरी तरफ उन्हें यूरोप के उन राज्यों के सैनिक आक्रमण से अपने देश की रक्षा करनी थी, जिन्होंने कम्युनिस्ट रूस के खिलाफ जिहाद की घोषणा कर दी थी। (३) रूस की बहुसंख्यक जनता अभी अशिक्षित थी। उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह कम्युनिज्म के सिद्धान्तों को भली भांति समझ सके। जब जमींदारों से जमीनें छीनकर राज्य की सम्पत्ति बना ली गईं, तब रूस के किसान बहुत प्रसन्न हुए। पर जब शहरों में निवास करनेवाले लोगों को भोजन देने के लिये सरकार ने किसानों से बलपूर्वक अनाज लेना शुरू किया, तो किसान इससे बहुत असन्तुष्ट हुए। उन्होंने कम्युनिस्ट सरकार का विरोध शुरू कर दिया और अधिक अनाज पैदा करने में उन्हें जरा भी दिलचस्पी नहीं रही।

इन परिस्थितियों का यह परिणाम हुआ, कि १९२१ में रूस में बहुत कम अनाज पैदा हुआ। १९१३ में रूस में कुल मिलाकर जितना अनाज पैदा हुआ था, १९२१ में उसके मुकाबले में केवल ४० प्रतिशत अनाज पैदा हुआ। अनाज की कमी से १९२१ और १९२२ में जो भयंकर अकाल रूस में पड़ा, उसमें ५० लाख के लगभग मनुष्य भूख से पीड़ित होकर मृत्यु के ग्रास बने। भोजन की कमी से जिन लोगों को घोर कष्ट उठाना पड़ा, उनकी संख्या तो करोड़ों में थी। न केवल देहातों में अनाज की पैदावार में इस समय भारी कमी हुई, अपितु कल-कारखानों की पैदावार पर भी इस आर्थिक संकट का बहुत असर पड़ा। पूंजी की

कमी के कारण सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह कारखानों के लिये नई मशीनें विदेशों से मंगा सके ।

नई नीति---अब कम्युनिस्ट नेताओं के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था, कि सबसे पूर्व रूस की आर्थिक व्यवस्था को ठीक किया जाय । इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर लेनिन ने जिस नई आर्थिक नीति को प्रारम्भ किया, उसकी मुख्य बातें ये थीं---(१) किसानों को यह अनुमति दी गई, कि वे अपनी पैदावार को खुले बाजार में बेच सकें । (२) लोगों को यह अनुमति दी गई, कि वे छोटे पैमाने के व्यवसाय, व्यापार व अन्य कारोबार स्वतन्त्र रूप से चला सकें, और अपनी पैदावार को खुले बाजार में बेच सकें। (३) दूकानदारों को यह अनुमति दी गई, कि वे एक जगह से माल खरीद कर दूसरी जगह पर बेच सकें, और इस प्रकार मुनाफा कमा सकें। (४) साहूकारों और बैंकों को फिर से रुपये का लेन-देन करने का अवसर दिया गया। (५) रुपये का इस्तेमाल फिर शुरू हो गया। मजदूरी मुद्रा की शकल में दी जाने लगी। रेलवे, मोटर और मकान के किराये, वेतन---सब रुपये-पैसे में दिये जाने लगे। (६) बड़े-बड़े कारखाने राज्य के स्वामित्व में रहे, पर उनका हिसाब भी मुद्रा में रखा जाने लगा, और उनमें काम करनेवाले कर्मचारियों को वेतन रुपये की शकल में दिये जाने शुरू हुए। बड़े-बड़े कारखानों, रेलवे, डाक, तार, खानों आदि पर राज्य का स्वामित्व जारी रखा गया। छोटे पैमाने के जिन कारोबारों का संचालन करने की स्वतन्त्रता व्यक्तियों को दी गई थी, उनके विषय में बोल्शेविक नेताओं का यह विचार था, कि ज्यों-ज्यों साम्यवादी समाज सुदृढ़ नींव पर कायम होता जायगा, इन सबको राज्य की अधीनता में कर लिया जायगा। केवल सामयिक रूप से छोटे कारोबारों को व्यक्तियों के हाथ में दिया गया है। इस समय भी उनके काम-काज पर निगाह रखी जायगी, और धीरे-धीरे उन्हें पूरी तरह राज्य के नियन्त्रण में कर लिया जायगा। बोल्शेविक लोग अपनी योजना पर दृढ़ रहे, और १९३१ तक बहुत से स्वतन्त्र व्यापारियों और धनी किसानों का अन्त करके उनके कारोबार राज्य की अधीनता में ले लिये गये।

३. कृषि-सम्बन्धी क्रान्ति

रूस कृषिप्रधान देश है। १९१७-१८ में वहां की जनता का बहुत बड़ा भाग कृषि पर आश्रित था। बोल्शेविक क्रान्ति ने देहातों में रहनेवाले और खेती पर आश्रित करोड़ों आदमियों की स्थिति पर जो असर डाला, उसका विशेष

रूप से विवेचन करने की आवश्यकता है। १९१७ के अन्त में बोल्शेविक सत्ता के स्थापित होते ही जमींदारी प्रथा का अन्त कर दिया गया। सरकारी आज्ञा से बात की बात में जमींदारों का अपनी जमीनों पर से स्वत्व नष्ट हो गया, और यह व्यवस्था की गई, कि खेत किसानों में बांट दिये जायं। जमींदारों की जमीनें दो प्रकार की थीं। एक पर जमींदार लोग खुद खेती कराते थे। उनके अपने बड़े-बड़े फार्म थे। बाकी जमीन किसानों को खेती के लिये दी गई थी, जिसके बदले में वे जमींदार को लगान देते थे। अब नई बोल्शेविक व्यवस्था में जमींदारों के जो फार्म बहुत बड़े-बड़े थे, वे तो राज्य के स्वामित्व में आ गये, और उन पर खेती का काम सरकार की ओर से होने लगा। जिन खेतों पर पहले से किसान लोग खेती करते थे, वे अब भी उन्हीं किसानों के पास रहे। जमींदारों के फार्मों की व खाली पड़ी हुई कुछ जमीन नये किसानों को दे दी गई, या पहले से खेती करनेवाले किसानों में बांट दी गई। खेती का काम किसानों के ही हाथ में रहा। उनके अपने औजार रहे। रूस में खेती बैलों से नहीं होती। वहां इसके लिये घोड़े काम आते हैं। घोड़े भी किसानों की अपनी सम्पत्ति रहे। बोल्शेविकों के शासन में सर्वसाधारण किसान की स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आया। जैसे वे पहले जमींदार की जमीन जोतते थे, अब सरकारी जमीन जोतने लगे। उनके खेतों के साइज छोटे-छोटे थे। औसतन एक किसान-परिवार के पास कुल जमीन ग्यारह एकड़ से अधिक नहीं थी। जमींदारी प्रथा के अन्त से किसानों की संख्या भी बढ़ गई थी, और उन्हें खेती करने के लिये जमीन भी ज्यादा मिल गई थी। १९१७ में एक करोड़ अस्सी लाख ऐसे परिवार थे, जिनके पास अपने अलग-अलग खेत थे। दस साल बाद १९२७ में ऐसे परिवारों की संख्या बढ़कर दो करोड़ पचास लाख हो गई थी। इससे स्पष्ट है, कि दस साल में ७० लाख के लगभग नये परिवारों को खेती के लिये जमीन प्राप्त हो गई थी। जमींदारी प्रथा के अन्त से सर्वसाधारण देहाती जनता को यह बड़ा भारी लाभ पहुँचा था। वे जमींदारों के अत्याचारों से भी बच गये थे, और यह अनुभव करने लगे थे, कि उनकी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है, और उनका सम्बन्ध सीधा राज्य के साथ है।

१९१८ से १९२१ तक रूस में जो गृह-कलह हुआ, और जिस प्रकार विदेशी सेनाओं ने उस पर आक्रमण किये, उससे किसानों को बहुत नुकसान पहुँचा। दोनों पक्षों को अपनी-अपनी सेनाओं के लिये अनाज की आवश्यकता थी। इस अनाज को प्राप्त करने का सबसे सुगम तरीका यह था, कि किसानों से उसे जबर्दस्ती ले लिया जाय। इससे किसान बहुत परेशान हुए। उन्होंने तंग आकर

खेती करना ही छोड़ दिया। बहुत से किसानों ने खेत जोते ही नहीं। परिणाम यह हुआ, कि १९२१ में बड़ा घोर अकाल पड़ा। आम तौर पर जितनी पैदावार रूस में होती थी, १९२१ में उसकी कुल ४० फीसदी हुई। अनाज की कमी बुरी तरह अनुभव होने लगी। अब सरकार को होश आया। उन्होंने इस नीति को छोड़ दिया, कि किसान के पास अपने खाने लायक अनाज को छोड़कर शेष सब उससे जबर्दस्ती ले लिया जाय। उसे कीमत भी वह दी जाय, जो सरकार निश्चित करे। अब नई आर्थिक नीति के अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि किसान अपनी जमीन को जोतने-बोने के लिये लगान की एक निश्चित मात्रा सरकार को अदा करें। लगान की अदायगी के बाद जो अनाज उनके पास बाकी बचे, उसे वे खुले तौर पर बाजार में बेच सकें। अब ठीक वही हालत आ गई, जो बोल्शेविक क्रान्ति से पहले थी। फर्क यह था, कि किसान लगान जमींदार को न देकर सरकार को देता था। बाकी सब कुछ वही था, जो पूंजीवादी देशों में होता था। किसान के अपने घोड़े, अपने हल व अपने औजार थे। वह अपनी पैदावार का खुद मालिक था, और स्वतन्त्रता के साथ अपना कारोबार करता था। सर्वसाधारण जनता स्वभाव से ही अपरिवर्तनशील होती है। विशेषतया, देहात के निवासी अशिक्षित किसान लोग अपने घोड़ों व हल-औजारों से विशेष रूप से प्यार करते हैं। उनकी अपरिवर्तनशीलता के सम्मुख बोल्शेविकों के सिद्धान्त परास्त हो गये। लेनिन को विवश होकर यह व्यवस्था करनी पड़ी, कि किसान लोग अपने सब मामलों का स्वयं निर्णय करें, और अपने विचारों के अनुसार अपने समाज का विकास करें।

अब बोल्शेविक सरकार की सारी ताकत बड़े-बड़े कल-कारखानों के विकास पर लग गई। देश की व्यावसायिक उन्नति को उन्होंने महत्त्व दिया, और देहातों में खेती का काम किसानों के हाथ में छोड़ दिया। किसान यह बात पसन्द करते थे, अपनी स्वतन्त्रता उन्हें बहुत अच्छी मालूम होती थी। पर इस समय भी एक बात उन्हें बहुत परेशान कर रही थी। अनाज की कीमतें सस्ती थीं, और दूसरे माल मुकाबले में बहुत महंगे थे। महायुद्ध के कुछ साल बाद सारी दुनिया में यह हालत थी, कि अनाज का दाम बहुत गिर गया था, और अपनी पैदावार को बेचकर किसान को जो कुछ मिलता था, उससे वह कपड़ा, औजार या पशु मुनासिब कीमत पर नहीं खरीद सकता था। किसान इससे बहुत तंग थे। रूस के एक किसान ने अपनी परेशानी को इन शब्दों में प्रकट किया था—"सोवियत सरकार ने मुझे जमीन दे दी है। पर मैं जमीन का क्या करूँ? क्या मैं जमीन

से पेट भर सकता हूं ? मेरे पास घोड़ा नहीं है, घोड़े के बिना मैं जमीन पर कर ही क्या सकता हूँ । पुराने जमाने में हमारे देश में सम्राट् था, जमींदार थे, हमारा शोषण करनेवाले लोग भी थे, पर फिर भी यदि मेरा घोड़ा मर जाता था, तो मैं नया घोड़ा खरीद सकता था । अब न कोई सम्राट् है, न कोई जमींदार है और न कोई शोषण करनेवाला है । पर हमारे पास घोड़ा खरीद सकने की ताकत ही नहीं है ।" इस दशा का परिणाम फिर यह हुआ, कि अनाज की पैदावार कम हो गई, और दुर्भिक्ष के काले बादल आसमान में मँडराने लगे । बोल्शेविक सरकार के लिये यह आवश्यक था, कि इस परिस्थिति को संभालने के लिये कुछ उद्योग करे ।

इस समय रूस के देहातों में किसानों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता था—(१) कुलक—ये बड़े किसान थे, जिनके पास खेती के लिये खासी बड़ी जमीनें थीं, और जो मजदूरों को नौकरी में रखकर अच्छे बड़े पैमाने पर खेती करते थे । ये किसान खुशहाल थे । जमींदारी प्रथा के विनाश के कारण देहातों का नेतृत्व इनके हाथ में आ गया था, और ये खूब आराम के साथ जीवन व्यतीत करते थे । (२) छोटे किसान—इनके पास खेती के लिये इतनी जमीन नहीं थी, कि ये आराम के साथ अपना निर्वाह कर सकें । घोड़े और खेती के अन्य उपकरणों की प्राप्ति भी इनके लिये समस्या की बात थी । ये प्रायः कर्ज से लदे हुए रहते थे । इस प्रकार अब रूस के देहात में स्पष्टतया दो श्रेणियां विकसित होने लगी थीं, एक समृद्ध मध्य श्रेणी और दूसरी गरीब जनता ।

ट्राटस्की का मत था, कि मध्य श्रेणी के समृद्ध किसानों का विकास बोल्शेविक व्यवस्था के लिये बहुत खतरे की बात है । इससे एक नये पूंजीवाद का प्रादुर्भाव हो सकता है । उसकी राय यह थी, कि देहातों में खेती का काम भी किसानों के हाथ में न रखकर सरकार को अपने हाथ में लेना चाहिये और जिस प्रकार व्यवसायों का संचालन राज्य की ओर से हो रहा है, वैसे ही खेती का संचालन भी राज्य को करना चाहिये । स्टालिन यह स्वीकार नहीं करता था । पर ट्राटस्की के पतन के बाद स्टालिन ने स्वयं अनुभव किया, कि खेती पर भी राज्य के नियन्त्रण के बिना अनाज की समस्या हल नहीं की जा सकती । रूस के बहुसंख्यक किसान गरीब थे, उनके खेत छोटे-छोटे थे । उनके पास इतना भी रुपया नहीं था, कि अपने घोड़े खरीद सकें । तिहाई किसानों के पास तो लोहे के हल तक नहीं थे । उन्हें विवश होकर लकड़ी के पुराने किस्म के हलों से काम चलाना पड़ता था । इस दशा में यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि रूस अनाज-सम्बन्धी अपनी

सब आवश्यकताओं को स्वयं पूरा कर सके। गरीब किसान काफी अनाज नहीं पैदा कर सकते थे। यह एक ऐसी हालत थी, जिसका इलाज करना आवश्यक था। साथ ही, नगरनिवासी लोगों में इस बात से बड़ा असन्तोष था, कि उनके कारोबार तो निरन्तर राज्य के हाथ में चले जा रहे हैं, पर देहातों की जनता अपने कारोबार की स्वयं मालिक है। नगरों और देहातों में एक ही प्रकार की व्यवस्था रह सकती थी। इसलिये अब यह आवश्यक हो गया था, कि देहातों में खेती को भी सरकार अपने हाथ में ले। इससे दो लाभ होते थे। पहला यह कि छोटे-छोटे खेतों का अन्त कर देने से बड़े फार्मों में यन्त्रों द्वारा खेती होने से पैदावार बढ़ती थी और दूसरा यह कि देहातों में भी बोल्शेविक व्यवस्था को कायम करने का अवसर मिलता था।

१९२९ में स्टालिन ने यह फैसला कर लिया, कि खेती भी राज्य की ओर से होनी चाहिये। जब बोल्शेविक लोग किसी बात का निश्चय कर लेते थे, तो उसे क्रिया में परिणत करने के लिये देर नहीं लगाते थे। उसके लिये चाहे कितने ही भयंकर विरोध का सामना करना पड़े, वे उसे करके ही रहते थे। यह आज्ञा प्रकाशित की गई, कि सब खेत सरकार के हो गये हैं, और किसानों के पास जो भी घोड़े, बैल, गाय, हल या अन्य उपकरण हैं, वे सब सरकार की सम्पत्ति हैं। छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर बड़े फार्म बनाये जायंगे, और उन सब पर सरकार की ओर से खेती होगी। किसानों में इस आज्ञा से बड़ा असन्तोष फैला। विशेषतया, बड़े किसान (कुलक) इससे बहुत असन्तुष्ट हुए। वे अपने खेतों और जानवरों को प्राणों से भी ज्यादा प्यार करते थे। वे इसके लिये तैयार नहीं हुए, कि उनकी सब सम्पत्ति इस तरह उनसे छीन ली जाय। उन्होंने विद्रोह किया, पर उनके विद्रोह को बुरी तरह से कुचला गया। लाखों कुलक गिरफ्तार किये गये, हजारों को गोली से उड़ा दिया गया। बोल्शेविक सरकार का काम इतनी तेजी से हो रहा था, कि केवल एक साल में १९३० तक आधे से अधिक खेत किसानों से छीन कर बड़े फार्मों में परिवर्तित कर दिये गये। पर इस तेजी का परिणाम अच्छा नहीं हुआ। इतनी मशीनें व ट्रैक्टर विद्यमान नहीं थे, कि इतनी बड़ी जमीन पर सामूहिक रूप से खेती की जा सकती। इस भय से कि पशु उनसे छीन लिये जायंगे, बहुत से किसानों ने अपने घोड़ों और गौवों को मार दिया, ताकि खाने के लिये मांस तो उनके पास रह जाय। रूस में खेती के पशुओं की इससे बहुत कमी हो गई। मशीनें इतनी थीं नहीं, कि सारी जमीन पर उनसे खेती हो सके। बहुत सी जमीन पड़ती पड़ी रह गई। अनाज की पैदावार कम हो गई, और एक बार

फिर घोर दुर्भिक्ष के चिन्ह प्रकट होने लगे। पर स्टालिन व उसके साथी इससे घबराये नहीं। उन्होंने अपने कार्यक्रम को जारी रखा। सन् १९३७ तक यह हालत हो गई थी, कि खेती के योग्य ९२ फीसदी जमीन बड़े फार्मों में परिवर्तित कर ली गई थी। दो करोड़ बीस लाख किसान-परिवारों से उनके खेत लेकर सरकार ने अपने कब्जे में कर लिये थे। ढाई लाख के लगभग बड़े फार्म इस समय तक रूस में बन गये---और उनमें यान्त्रिक शक्ति से खेती होने लग गई थी। कुछ लाख किसान-परिवार ही ऐसे शेष रह गये थे, जो अपने-अपने खेतों में स्वतन्त्र रूप से खेती करते थे।

निःसन्देह, यह रूस की महान् कृषि-सम्बन्धी क्रान्ति थी। इससे वहां के देहातों की दशा, सामाजिक जीवन और आर्थिक व्यवस्था में बड़ा भारी परिवर्तन आ गया था। बोल्शेविकों ने रूस में जो फार्म बनाये, वे तीन प्रकार के थे---(१) सहकारी फार्म---इनमें बहुत से किसान मिलकर परस्पर सहयोग से खेती करते थे। किसानों के पशु, हल व अन्य उपकरण अपने-अपने होते थे। इन पर किसानों का स्वामित्व स्वीकृत किया जाता था। पर जमीन सबकी सम्मिलित रहती थी। सब मिलकर इस जमीन पर मेहनत करते थे, और जो पैदावार होती थी, वह श्रम के अनुपात से सबमें बांट ली जाती थी। (२) दूसरे किस्म के फार्मों में जहां जमीन सबकी सम्मिलित रहती थी, वहां पशु, हल व कृषि के अन्य उपकरण भी सबके सम्मिलित होते थे। जमीन, पूंजी व श्रम सबके साझे में रहते थे, पर रहने के मकान, गौवें, भेड़, बकरी, मुर्गी आदि किसानों के अपने-अपने होते थे। (३) कम्यून---इसमें न केवल उत्पत्ति के साधन सबके सम्मिलित होते थे, पर रहने के मकान व अन्य सब पदार्थ सम्मिलित सम्पत्ति माने जाते थे, और भोजन भी सबका एक जगह बनता था। सब लोग इस सम्मिलित भोजनालय में भोजन करते थे, और जिसे जिस चीज की आवश्यकता हो, उसे वह सम्मिलित निधि से प्राप्त कर लेता था।

बोल्शेविक लोगों का आदर्श तो यह है, कि सारी खेती कम्यूनों द्वारा हो। किसी के पास कोई वैयक्तिक सम्पत्ति रहे ही नहीं। जहां आर्थिक उत्पत्ति में सब लोग सम्मिलित होकर उद्योग करें, वहां उसका उपभोग भी वे आपस में मिलकर साझे में करें। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार सम्पत्ति उपभोग के लिये मिलती रहे। कोई अपने पास संग्रह न कर सके, क्योंकि संग्रह का उद्देश्य केवल यही हो सकता है, कि मनुष्य श्रम किये बिना अपना गुजारा करना चाहे। पर बोल्शेविक लोग सारे खेतों को कम्यूनों के रूप में परिवर्तित नहीं कर सके।

यह बात क्रियात्मक दृष्टि से सरल व सम्भव नहीं थी। रूस में दूसरे प्रकार के फार्मों का प्रचार अधिक हुआ। किसानों ने इन्हें ज्यादा पसन्द किया, क्योंकि इनमें दूध, अण्डा व अन्य छोटी-छोटी चीजें वे स्वयं पृथक् रूप से पैदा कर सकते थे, और सम्पत्ति के उपभोग में वे स्वतन्त्र रहते थे। इन सामूहिक फार्मों के सम्बन्ध में सरकार की ओर से पहले ही यह तय कर दिया जाता था, कि कितना अनाज सरकार को दिया जाना है। सरकार को पैदावार का पूर्व-निश्चित अंश दे चुकने के बाद फार्म को यह अधिकार था, कि वह अपने शेष बचे हुए अनाज को अपने उपभोग के लिये रख ले, और उससे भी बचे हुए अनाज को खुले बाजार में बेच सके। उससे जो धन प्राप्त हो, उसका उपयोग अन्य आवश्यक वस्तुओं को क्रय करने या फार्म की उन्नति के लिये किया जा सकता था। फार्म का इन्तजाम उन सब किसानों के हाथ में था, जो उसमें सम्मिलित थे। इन किसानों की एक सार्वजनिक सभा रहती थी, और यह सभा एक कार्यकारिणी समिति को चुन लेती थी। दैनिक मामले कार्यकारिणी समिति तय करती थी, पर महत्त्वपूर्ण विषय और नीति सम्बन्धी विषय किसानों की सार्वजनिक सभा में तय होते थे। पैदावार का कितना हिस्सा किस किसान को मिले, इसका फैसला उसके श्रम के अनुसार किया जाता था। जो किसान जितना काम करता था, उसका सही-सही हिसाब रखा जाता था, और पैदावार को उसी हिसाब से बांट लिया जाता था।

इसमें सन्देह नहीं, कि सामूहिक फार्मों के अनेक लाभ हैं। सरकार के हाथ में खेती का नियन्त्रण और संचालन होने से यह तय किया जा सकता है, कि देश की दृष्टि से किस फसल की कितनी आवश्यकता है, और कौन से फार्म की जमीन किस फसल के लिये उपयुक्त है। सरकार यह आदेश दे सकती है, कि अमुक फार्म अमुक फसल पैदा करे। इससे जहां सब अनाज उचित परिमाण में पैदा होंगे, वहां उपज की मात्रा भी बढ़ जायगी, क्योंकि प्रत्येक फार्म वही अनाज बोयेगा, जिसके लिये उसकी जमीन अधिक उपयुक्त है। बड़े-बड़े फार्म होने से किसान लोग ट्रैक्टर आदि मशीनों का उपयोग भी खेती के लिये कर सकते हैं। छोटे-छोटे खेतों में न मशीनरी का प्रयोग सम्भव होता है, और न जमीन की पैदावार बढ़ाने के लिये वैज्ञानिक तरीकों का अनुसरण किया जा सकता है। बड़े फार्मों में विशेषज्ञों की राय से लाभ उठाया जा सकता है, निपुण कारीगर रखे जा सकते हैं और अच्छे खादों का उपयोग भी किया जा सकता है। वस्तुतः बड़े फार्मों में खेती का संगठन भी वैसे ही हो सकता है, जैसे कि बड़े कारखानों द्वारा व्यवसायों का। जैसे कि छोटे-छोटे कारीगरों के लिये यह सुगम नहीं है, कि वे बड़े कारखानों का

सुगमता के साथ मुकाबला कर सकें, ऐसे ही बड़े फार्मों के मुकाबले में छोटे-छोटे किसानों का टिक सकना कठिन है।

पर यह ख्याल में रखना चाहिये, कि रूस में खेती के सम्बन्ध में जो नई व्यवस्था बोल्शेविकों ने कायम की, उससे खेती पूरी तरह राज्य के हाथ में नहीं आ गई। सरकार ने अपनी तरफ से भी कुछ बड़े-बड़े फार्म खोले, जिनमें काम करने वाले किसानों की हालत ठीक मजदूरों की सी थी। इन फार्मों में काम करनेवालों को मजदूरी दी जाती थी, और सारी पैदावार राज्य की सम्पत्ति होती थी। उपज चाहे कम हो या ज्यादा, कर्मचारियों को निश्चित वेतन मिलता था। पर ऐसे राजकीय फार्मों की संख्या रूस में अधिक नहीं है। अधिक फार्म ऐसे हैं, जहां राज्य को अंश देने के बाद जो कुछ बचता है, उसे किसान लोग आपस में बांट लेते हैं। पर सब फार्म पैदावार की दृष्टि से एक हैसियत नहीं रखते। कहीं पर जमीन अधिक उपजाऊ है, और कहीं पर कम। कोई फार्म शहरों या मण्डियों के नजदीक हैं। इन भेदों से विविध फार्मों की आमदनी में बहुत अन्तर पड़ जाता है, और इसीलिये उनमें काम करनेवाले किसानों की आर्थिक दशा भी एक दूसरे से बहुत भिन्न रहती है। अर्थशास्त्र के अनुसार लगान की भिन्नता का कारण भी यही जमीन की उपज-शक्ति व अन्य अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियां ही हैं। जो जमीन अधिक उपजाऊ है, या जिसकी स्थिति अधिक अनुकूल है, उसके स्वामी को बिना कुछ किये कतिपय लाभ प्राप्त हो जाते हैं, जिन्हें लगान कहते हैं, जो उसकी बिना कमाई, बिना मेहनत की आमदनी होती है। रूस के विविध फार्मों में भी उपज व अन्य परिस्थितियों के भेद विद्यमान हैं, जिनके कारण उनके स्वामियों व कर्मचारियों को बिना कुछ किये, बिना मेहनत के अतिरिक्त लाभ प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि कृषि-सम्बन्धी क्रान्ति द्वारा बोल्शेविक लोग रूस के देहातों के सामाजिक व आर्थिक जीवन में बड़ा भारी परिवर्तन लाने में समर्थ हुए। उनकी नई व्यवस्था के कारण रूस का स्वरूप ही बदल गया। आज जो रूस में बहुत अधिक अनाज पैदा होता है, वहां की जनता की आवश्यकताओं को पूरा करके इतना अनाज रूस में बच रहता है, कि दूसरे देशों को वह बहुत बड़ी मात्रा में भेजा जा सकता है, इन सबका श्रेय कृषि-सम्बन्धी क्रान्ति को ही है। प्रारम्भ में यह क्रान्ति बहुत ही कष्टप्रद हुई। इसके कारण लाखों आदमियों को अपार कष्ट उठाना पड़ा। पर अन्त में इसका परिणाम सुखकर हुआ। अब रूस का किसान बहुत ही समृद्ध व सुखी है।

४. व्यवसायों का संचालन

१९१७ के नवम्बर मास में शक्ति प्राप्त करते ही बोल्शेविक सरकार ने यह आज्ञा प्रकाशित की थी, कि कारखानों पर से पूंजीपतियों के स्वत्व का अन्त किया जाता है, और उनका संचालन मजदूरों की एक प्रबन्ध-समिति द्वारा किया जायगा। उत्पत्ति, कच्चे माल का क्रय, तैयार माल का विक्रय, माल की संभाल और धन का प्रबन्ध—ये सब काम कारखाने में काम करनेवाले मजदूरों द्वारा निर्वाचित कमेटियों के हाथ में रहेंगे। जो लोग इन कमेटियों के सदस्यों को चुनेंगे, उनमें मजदूरों के अतिरिक्त वे क्लार्क, मुनीम, इंजीनियर और वैज्ञानिक भी होंगे, जो कि उन कारखानोंमें काम करते हैं। बोल्शेविक सरकार की इस एक आज्ञा से उन लाखों पूंजीपतियों का अन्त हो गया, जो कि अपने हिस्सों (शेयरों) द्वारा अब तक कारखानों से न केवल मुनाफा प्राप्त करते थे, पर निर्वाचित डायरेक्टरों द्वारा उनका संचालन भी करते थे। पूंजीपतियों को अपने हिस्सों के बदले में कोई कीमत व हर्जाना नहीं दिया गया। जिस तरह जमीनों पर से जमींदारों के स्वामित्व का अन्त कर दिया गया था, वैसे ही व्यवसायों और कल-कारखानों पर से पूंजीपतियों के स्वत्व की इतिश्री कर दी गई। कारखानों का इन्तजाम मजदूरों की जिन निर्वाचित कमेटियों को दिया गया था, वे सफलता से उनका संचालन नहीं कर सकीं। यह परीक्षण नाकामयाब रहा। कुछ ही महीनों बाद, जून १९१८ में बोल्शेविक सरकार ने यह अनुभव किया, कि व्यवसायों का राष्ट्रीय-करण जितना आसान है, उनका इन्तजाम व संचालन उतना सुगम नहीं है। मजदूर लोग पूंजीपतियों के खिलाफ आन्दोलन तो कर सकते हैं, पर उनकी जगह आसानी से नहीं ले सकते। अब बोल्शेविकों ने राष्ट्र के अधीन इन व्यवसायों का संचालन करने की यह व्यवस्था की, कि प्रत्येक कारखाने का सरकार की ओर से एक-एक मैनेजर नियत किया गया। एक किस्म के कारखानों को एक सूत्र में संगठित किया गया। उदाहरण के लिये, कपड़े की सब मिलों को मिलाकर एक केन्द्रीय संस्था के अधीन किया गया, जिसे सिण्डीकेट या ट्रस्ट कहते थे। इस सिण्डीकेट की तरफ से प्रत्येक मिल के पास यह सूचना भेज दी जाती थी, कि उसे कितनी कपास दी जायगी, उस कपास की कीमत क्या होगी, मजदूरों को कितनी मजदूरी दी जायगी और उसे क्या माल तैयार करना होगा। यह माल किस कीमत पर बिकेगा, यह भी सिण्डीकेट द्वारा निश्चित कर दिया जाता था।

जब सारे देश की सब कपड़े की मिलें एक संस्था के नियन्त्रण में हो जावें, तो उनमें प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही नहीं रहता। वे ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने के लिये मजदूरों का पेट काटें, उन्हें समुचित मजदूरी न दें—यह समस्या भी उनके सम्मुख पेश नहीं होती। जिस करखाने की परिस्थितियां जिस तरह के कपड़े के लिये अनुकूल हैं, वह वही तैयार करेगा। मजदूर समुचित वेतन प्राप्त करेंगे, और मिल को सारे खर्च अदा करने के बाद मुनासिब मुनाफा बच रहेगा। जिस तरह कपड़े के व्यवसाय की सिण्डीकेट बनाई गई, वैसे ही लोहा, इस्पात, कागज, चीनी, रासायनिक द्रव्य और अन्य विभिन्न व्यवसायों के लिये भी सिण्डीकेटों का निर्माण किया गया। विभिन्न सिण्डीकेटों को मिलाकर केन्द्रीय व्यवसाय-संस्था की भी रचना की गई, ताकि विविध व्यवसाय आपस में सहयोग के साथ अपना विकास कर सकें, किसी में आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति न हो जाय, और किसी में आवश्यकता से कम उत्पत्ति की सम्भावना न रहे। व्यवसायों के लिये रुपये की व्यवस्था तीन साधनों द्वारा की जाती थी—(१) मुनाफे में से जो रकम रिजर्व फण्ड में डाली जाय, उसे व्यवसाय की उन्नति के लिये प्रयोग में लाया जा सकता था। (२) सरकारी बैंक से कर्ज कारखानों को दिया जा सकता था। (३) राज्य की ओर से सहायता।

कारखानों को जो मुनाफा होता था, उसका एक निश्चित हिस्सा सरकार प्राप्त करती थी। एक हिस्सा कारखाने के अपने रिजर्व फण्ड में जाता था, और शेष मजदूरों की शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य भलाई के लिये व्यय किया जाता था। साथ ही, बोल्शेविक सरकार ने यह भी व्यवस्था की थी, कि यदि एक व्यवसाय में मुनाफा अधिक हो, तो उसका इस्तेमाल उन दूसरे व्यवसायों की मदद के लिये किया जा सके, जिनमें अभी काफी मुनाफा नहीं है, या नुकसान है। अब रूस में व्यवसायों का संचालन मुनाफे के उद्देश्य से नहीं होता था, अपितु देश की उन्नति, सार्वजनिक हित और श्रमिकों के कल्याण को ही लक्ष्य में रखा जाता था। इसलिये यह भी सम्भव था, कि किसी कारखाने की पैदावार को लागत से भी कम कीमत पर बेचा जाय, और किसी में काफी ज्यादा मुनाफे पर उसका विक्रय किया जाय। सब व्यवसाय एक ही केन्द्रीय संस्था के अधीन थे, अतः नफे या नुकसान का हिसाब अलग-अलग कारखानों की दृष्टि से नहीं किया जाता था। सब व्यवसायों को सम्मिलित रूप से देखा जाता था, और उसी लिहाज से मजदूरी की दर, कीमत आदि का निर्धारण किया जाता था।

पृथक्-पृथक् कारखानों का प्रबन्ध करने के लिये यह व्यवस्था थी, कि सरकार की ओर से प्रत्येक कारखाने का एक मैनेजर नियत किया जाता था, जो कि उसके सुप्रबन्ध और संचालन के लिये जिम्मेदार होता था। कारखाने में काम करने वाले सब मजदूर व अन्य कर्मचारी एक कमेटी का चुनाव करते थे, जो मैनेजर को उसके काम में मदद देती थी। मजदूर व अन्य कर्मचारी मिलकर एक ट्रेड यूनियन बनाते थे। यह ट्रेड यूनियन ही वस्तुतः कमेटी का चुनाव करता था। साधारणतया, ट्रेड यूनियन को मजदूरों के हितों की रक्षा करने, उनके अधिकारों के लिये संघर्ष करने और उनका प्रतिनिधित्व करने के लिये संगठित किया जाता है। पर रूस में इन उद्देश्यों के लिये किसी ट्रेड यूनियन व अन्य संस्था की आवश्यकता न थी। वहां कारखानों के मजदूरों को अपने हितों के लिये किसी से लड़ने की कोई जरूरत नहीं थी। वहां ट्रेड यूनियनों का संगठन इसलिये किया गया था, कि उत्पत्ति बढ़ाने, अधिक मेहनत करने और व्यावसायिक उन्नति म पूरा सहयोग देने के लिये मजदूरों को प्रेरणा दे। ट्रेड यूनियन द्वारा निर्वाचित मजदूर-कमेटी कारखाने के प्रबन्ध व संचालन में महत्त्वपूर्ण काम करती थी। उसके अतिरिक्त, कम्युनिस्ट पार्टी की एक शाखा प्रत्येक कारखाने में कायम थी। इस शाखा का काम यह था, कि किसी मजदूर, शिल्पी, इंजीनियर व अन्य कर्मचारी को बोल्शेविक सिद्धान्तों के खिलाफ कोई हरकत न करने दे। उत्पत्ति की वृद्धि के लिये यह आवश्यक है, कि कारखाने के सब कर्मचारी नियन्त्रण में रहें, और अपनी सारी शक्ति उत्पत्ति की वृद्धि में ही लगा दें। कम्युनिस्ट पार्टी की शाखाओं का काम यह था, कि सबको नियन्त्रण में रखें और किसी आदमी को ऐसा काम न करने दें, जो साम्यवाद की व्यवस्था को नुकसान पहुँचानेवाला हो। बोल्शेविक लोग भलीभांति समझते थे, कि उनके सिद्धान्त तभी सफल हो सकते हैं, जब कि आम किसान-मजदूर जनता की समृद्धि हो, उन्हें पेट भर खाना और पहनने को कपड़ा मिले, उनके आराम में वृद्धि हो और वे अपने को प्रसन्न व सन्तुष्ट अनुभव करें। पर इस सबके लिये यह परम आवश्यक था, कि पैदावार अधिक हो। कम्युनिज्म का आदर्श तो यह है, कि "सबको उनकी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त हो।" यह आदर्श तभी पूरा हो सकता है, जब कि अधिक से अधिक सम्पत्ति पैदा होने लगे। यद्यपि अभी रूस के कम्युनिस्ट "सबको आवश्यकतानुसार" देने की स्थिति में नहीं थे, पर उनका यत्न यही था, कि उत्पत्ति की वृद्धि से एक समय ऐसा आ जाय, जब किसी मनुष्य को किसी चीज की कमी न रह जाय।

पर यह नहीं समझना चाहिये, कि रूस में सब व्यवसाय राज्य के अधीन हो गये थे। बड़े-बड़े कारखाने, रेलवे, खानें आदि वहां राज्य की सम्पत्ति हैं। नगरों की म्युनिसिपैलिटियां बिजली-घर, जल-कल आदि का प्रबन्ध भी स्वयं करती हैं। पर ऐसे बहुत से छोटे-छोटे व्यवसाय हैं, जो अब भी व्यक्तियों के अधीन हैं। छोटे-छोटे कारीगर अब भी लाखों की संख्या में विद्यमान हैं, जो अपना रोजगार स्वतन्त्र रूप से करते हैं। इन कारीगरों के पास अपने औजार रहते हैं, ये स्वयं कच्चा माल खरीदते हैं, और माल तैयार करके स्वयं उसे बाजार में बेच देते हैं। बोल्शेविक सिद्धान्त यह है, कि कोई किसी दूसरे के श्रम का फल प्राप्त न कर सके। छोटे कारीगर अपनी मेहनत से जो कमाते हैं, वह उनकी अपनी सम्पत्ति होती है, अतः उन्हें बने रहने देने में कोई हानि नहीं। बहुत से स्वतन्त्र कारीगरों ने मिलकर अपने को सहकारी समितियों में भी संगठित कर लिया है, और इन समितियों के कारण उन्हें वे बहुत से लाभ प्राप्त हो जाते हैं, जो अकेले कारीगर को नहीं मिल सकते।

रूस में सब श्रमिक लोग एक ही हैसियत के नहीं हैं। उनके कार्य का स्वरूप भी एक दूसरे से भिन्न है। कुछ लोग बड़े सरकारी कारखानों में काम करते हैं, और उन्हें निश्चित मजदूरी मिलती है। दूसरे लोग स्वतन्त्र कारीगरों की सहकारी समितियों द्वारा संचालित छोटे-बड़े कारखानों में काम करते हैं, और उन्हें भी मजदूरी मिलती है। तीसरे प्रकार के श्रमिक स्वतन्त्र रूप से अपना रोजगार करते हैं। दर्जी, मोटर,-ड्राइवर, कोचवान, मछियारे, पत्रकार आदि की गिनती इनमें की जा सकती है।

व्यापार के क्षेत्र में भी यही दशा है। तैयार हुए माल को बेचने के लिये जहां बड़े-बड़े विशाल स्टोर हैं, वहां सहकारी समितियों द्वारा स्थापित दूकानें भी हैं। अनेक छोटे कारीगर अपना माल स्वयं भी मण्डी में लाकर बेच देते हैं। फेरीवाले भी विद्यमान हैं, क्योंकि बोल्शेविक लोग उनकी सत्ता को हानिकारक नहीं समझते।

५. पंचवार्षिक योजनाएं

बोल्शेविक पार्टी के सम्मुख सबसे बड़ा कार्य रूस के व्यवसायों और पैदावार को तरक्की देना था। इसी से वे अपने आदर्शों के अनुसार व्यवस्था कायम कर सकते थे। इसके लिये उन्होंने एक पंचवार्षिक योजना तैयार की, जिसे १९२८ में शुरू किया गया। इस योजना को तैयार करने का काम एक कमीशन के सुपुर्द

किया गया था, जिसके ७०० सदस्य थे। ये सब अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ थे। इस कमीशन को 'गोस्प्लैन' कहते थे। जब गोस्प्लैन ने अपनी योजना तैयार कर ली, तो उसे अन्तिम स्वीकृति के लिये सर्वोपरि इकोनोमिक कौंसिल के सम्मुख पेश किया गया। यह योजना बहुत विशाल थी, और इसका प्रमुख प्रयोजन यह था, कि देश की आर्थिक उन्नति के लिये जिस मशीनरी, यान्त्रिक शक्ति और अन्य साधनों की जरूरत है, उन्हें अधिक से अधिक परिमाण में रूस में ही तैयार किया जाय। अन्य देशों ने रूस का जिस प्रकार आर्थिक बहिष्कार किया था, उससे यह बात बहुत महत्त्व की हो गई थी। इस योजना के अनुसार ६०० मील लम्बी एक पाइप-लाइन तैयार की गई, जो बाकू से शुरू होकर बाटम तक जाती थी। बाकू में मिट्टी के तेल के कुएं हैं, और यह रूस का सबसे बड़ा तैल-क्षेत्र है। तेल को ढोकर अन्य स्थानों पर पहुँचाने का सवाल बड़ा महत्त्वपूर्ण था। रेल या मोटर से तेल को ढोने में बड़ा खर्च पड़ता था। पाइप-लाइन द्वारा तेल को नाममात्र के खर्च से समुद्र-तट तक पहुँचाया जा सकता था, और वहां से जहाजों द्वारा उसे थोड़े खर्च पर यथास्थान भेजा जा सकता था। नेप्रोस्ट्रोई नामक जगह पर नदी के विशाल प्रवाह को रोककर एक डाम बनाया गया, ताकि उससे पानी को गिराकर बिजली पैदा की जा सके। इसका उद्देश्य यह था, कि सस्ती बिजली तैयार हो, और व्यवसायों के लिये सस्ते रेट पर बिजली मिल सके। यूराल पर्वत-माला में मैग्निटोगोर्स्क नामक स्थान पर लोहे का एक विशाल कारखाना खोला गया। यहां लोहे की कच्ची धात बड़ी मात्रा में उपलब्ध थी। पर कोयला १५०० मील की दूरी पर ही मिलता था। कोयले के बिना लोहे की खानें बेकार थीं, और उनका कोई इस्तेमाल नहीं था। यह इन्तजाम किया गया, कि कोयले जैसी भारी चीज को बड़ी मात्रा में वहां पहुँचाया जाय, और मैग्निटोगोर्स्क में लोहे के व्यवसाय का विकास किया जाय। मजदूरों के रहने के लिये अच्छे मकान बड़ी संख्या में बनाये गये। बाकू के तैल-कूपों में काम करनेवाले मजदूरों के लिये पहाड़ी के ऊपर एक नये नगर का निर्माण किया गया। इस नगर को एक उद्यान के रूप में बनाया गया था, और मजदूरों के आने-जाने के लिये बिजली की रेलवे चलाई गई थी। बाकू के इस नये उद्यान-नगर में मजदूरों के आराम के लिये क्लब, स्कूल, अस्पताल और पुस्तकालय---सब बनाये गये। यह भी व्यवस्था की गई, कि मजदूर और उनके परिवार अपनी छुट्टियां दक्षिण के स्वास्थ्यप्रद स्थानों पर बिता सकें। इसके लिये उन्हें सब खर्च

सरकार की ओर से दिया जाता था । इसी प्रकार की सुविधाएं अन्य भी अनेक व्यावसायिक केन्द्रों में दी गईं । बोल्शेविक सरकार का उद्देश्य यही था, कि कल-कारखानों की उन्नति हो, उनमें काम करनेवाले मजदूर सन्तुष्ट रहें और रूस कृषि-प्रधान देश न रहकर व्यवसाय-प्रधान बन जाय। कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों के लिये अनाज और कपड़ा भी सस्ते दामों पर दिया जाता था, ताकि वे सर्वथा सन्तुष्ट और सुखी रहें ।

कृषि के क्षेत्र में बड़े-बड़े फार्मों का निर्माण भी इस पंचवार्षिक योजना का एक अंग था। स्वतन्त्र किसानों से खेतों, पशुओं और हल आदि उपकरणों को छीनकर बोल्शेविक सरकार ने जिस प्रकार बड़े फार्मों का निर्माण किया, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । इस समय (१९२९ में) दुनिया में कीमतें निरन्तर नीचे जा रही थीं । विशेषतया, अनाज का दाम बहुत गिर रहा था। १९३० में तो खेती की पैदावार की कीमत बहुत ही नीची हो गई थी। रूस को अपने व्यावसायिक प्रोग्राम को पूरा करने के लिये विदेशों से मशीनरी को खरीदना अनिवार्य था। तेल, लोहा, बिजली आदि के व्यवसायों के लिये जिस जटिल और वैज्ञानिक मशीनरी की आवश्यकता थी, वह अभी रूस में नहीं बनती थी । मशीनरी के व्यवसाय को शुरू करने के लिये भी पहले मशीनों की आवश्यकता थी । ये सब विदेशों से ही खरीदी जा सकती थीं । पर विदेशों को इनकी कीमत कैसे अदा की जाय, यह समस्या बड़ी विकट थी। रूस के पास अनाज ही ऐसी वस्तु थी, जिसे वह बदले में दे सकता था। अनाज के दाम अब बहुत नीचे थे । अतः अनाज के रूप में मशीनरी की कीमत अदा करने का मतलब यह था, कि बहुत बड़ी मात्रा में अनाज विदेशों को दिया जाय। यह तभी सम्भव था, जब कि रूस अपने खर्च के लिये कम से कम अनाज इस्तेमाल करे । सर्वसाधारण जनता इसे पसन्द नहीं करती थी । सरकार खेतों और फार्मों से जिस प्रकार बहुत बड़ी तादाद में अनाज ले रही थी, उससे देहात के लोग बहुत तंग थे । उन्होंने विद्रोह कर दिया । विद्रोही किसानों की एक सेना मास्को की तरफ चल पड़ी। ऐसा प्रतीत होता था, कि अब फिर रूस में गृह-युद्ध प्रारम्भ हो जायगा। पर स्टालिन ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ इस स्थिति को संभाला। जहां उसने विद्रोहियों का दमन करने के लिये कठोर उपायों का प्रयोग किया, वहां किसानों को सन्तुष्ट करने के लिये बड़े सामूहिक फार्मों में सिनेमा, क्लब आदि का भी निर्माण कराया, ताकि किसान नई व्यवस्था के प्रति आकृष्ट हों, और उसके फायदों को भलीभांति समझ जावें ।

इसमें सन्देह नहीं, कि कुछ समय तक पंचवार्षिक योजना के कारण रशियन जनता को बहुत तकलीफें उठानी पड़ीं। पर जब यह योजना पूर्ण हो गई, और नये-नये कल-कारखानों का विकास हो गया, तो लोगों ने इसकी उपयोगिता को अनुभव किया, और इसके कारण उनकी आर्थिक समृद्धि बहुत बढ़ गई।

सन् १९३३ में रूस में द्वितीय पंचवार्षिक योजना शुरू की गई। इससे मुख्यतया आने-जाने और माल ढोने के साधनों का विकास किया गया। रूस जैसे विशाल देश में खेती, व्यवसाय और व्यापार का तब तक भलीभांति विकास नहीं हो सकता था, जब तक कि रेलवे और सड़कों का अच्छी तरह विस्तार न हो जाय। दूसरी पंचवार्षिक योजना में प्रधानतया इसी के लिये उद्योग किया गया, और इसके परिणामस्वरूप रूस में रेलवे और सड़कों का जाल सा बिछ गया। इस योजना द्वारा एक प्रयत्न यह किया गया, कि शहरों और व्यवसाय-केन्द्रों में मशीनों का बड़ी संख्या में निर्माण हो। व्यावसायिक उन्नति के कारण लाखों मजदूर गांवों से शहरों में आ बसे थे। पर इनके रहने के लिये मकानों की बहुत कमी थी। मास्को जैसे शहर में ३० फीसदी से अधिक आबादी बहुत ही तंगी के साथ रहती थी। मकानों की कमी का यह हाल था, कि एक-एक कमरे में पांच-पांच व उससे भी अधिक आदमी निवास करते थे। इस दशा को ठीक किया गया। लाखों की संख्या में मकान बनाये गये। परिणाम यह हुआ, कि रूस में मजदूरों के निवास के लिये स्थान की तंगी नहीं रही, और वहां की सर्वसाधारण जनता आराम से स्वच्छ और सुन्दर मकानों में रहने लग गई। दूसरी पंचवार्षिक योजना में व्यवसायों और खेती की उन्नति के उस प्रोग्राम को जारी रखा गया, जिसका प्रारम्भ १९२८ में पहली योजना द्वारा किया गया था।

इन्हीं योजनाओं का यह परिणाम था, कि जिस समय संसार के अन्य देशों में बेकारी की समस्या से वहां की सरकारें परेशान थीं, रूस में बेकारी का सर्वथा अभाव था। जिस तरह की योजनाओं से रूस ने अपनी आर्थिक समस्या को हल किया, वे लोकतन्त्र राज्यों में सम्भव नहीं हो सकतीं। उनकी सफलता के लिये बोल्शेविक व्यवस्था का होना अनिवार्य है।

६. बहिष्कार का अन्त

ट्राटस्की के पतन और स्टालिन के उदय के बाद रूस की बोल्शेविक सरकार ने विश्व भर में साम्यवादी क्रान्ति के स्वप्न का परित्याग कर दिया था। स्टालिन

की नीति यह थी, कि पूंजीवादी देशों के साथ राजनीतिक व आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किये जावें, और रूस अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्य देशों के साथ सहयोग से काम करे। स्टालिन के उदय से बहुत पहले लेनिन के समय में भी एक बार बोल्शेविकों ने अन्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया था। एप्रिल, १९२२ में लेनिन ने चिचरिन को जिनोवा कान्फरेन्स में इसलिये भेजा, कि वह रूस के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का आयोजन करे। चिचरिन को यह काम भी सुपुर्द किया गया, कि रूस के आर्थिक बहिष्कार की नीति परित्याग कर देने के लिये मित्रराष्ट्रों को प्रेरित करे। जिनोवा कान्फरेन्स के सदस्य चिचरिन को देखने के लिये बहुत उत्सुक थे। उनका खयाल था, कि बोल्शेविक क्रान्ति के नेता अत्यन्त बर्बर और असभ्य हैं। उन्होंने रूस में जो क्रान्ति की है, वह सभ्यता और संस्कृति के सब सिद्धान्तों के विपरीत है। उसके नेता भी सभ्यता के क्षेत्र से सर्वथा बाहर होंगे। उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब चिचरिन कान्फरेन्स के सम्मुख उपस्थित हुआ, और उसने विशुद्ध फ्रेंच भाषा में अपना भाषण प्रारम्भ किया। वह ठीक उस प्रकार से अपनी वक्तृता दे रहा था, जैसे कि किसी सुसंस्कृत से सुसंस्कृत राजनीतिज्ञ से आशा की जा सकती है। फ्रेंच में भाषण समाप्त कर उसने अंगरेजी में वक्तृता दी, और चिचरिन के विचारों को सुनकर कान्फरेन्स के सब सदस्य आश्चर्यचकित रह गये। जिस बोल्शेविक व्यवस्था के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों ने एक प्रकार का जिहाद सा शुरू कर रखा था, उसके एक जिम्मेवार प्रतिनिधि से सम्पर्क प्राप्त कर यूरोप के राजनीतिज्ञों ने पहली बार यह अनुभव किया, कि बोल्शेविक लोग जंगली और बर्बर नहीं हैं। वे भी उन्हीं के समान सभ्य व सुसंस्कृत हैं। खेद है, कि यूरोप के राजनीतिज्ञों ने अभी अपनी नीति में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा। चिचरिन का मिशन असफल रहा, और रूस का आर्थिक बहिष्कार जारी रहा। पर जिनोवा कान्फरेन्स में शामिल होकर रूस को जर्मनी और इटली के प्रतिनिधियों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर मिला। जर्मनी युद्ध की समाप्ति के बाद धीरे-धीरे अपना पुनःसंगठन कर रहा था। वह अन्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उत्सुक था। यही दशा इटली की भी थी। यद्यपि इटली मित्रराष्ट्रों में से एक था, और युद्ध में उसके पक्ष की विजय हुई थी, पर सन्धि की शर्तों से उसे पूरा सन्तोष नहीं हुआ था। साम्राज्य-विस्तार की उसकी भूख अभी शान्त नहीं हुई थी। वह भी राष्ट्रसंघ के क्षेत्र के बाहर अपने राजनीतिक सम्बन्धों को स्थापित करने के लिये उत्सुक था। सबसे

पहले जर्मनी ने रूस से राजनीतिक सम्बन्ध कायम किया। मई, १९२२ में रूस और जर्मनी के प्रतिनिधि इटली के समुद्र-तट पर रापालो नामक स्थान पर एकत्र हुए। वहां उन्होंने आपस में एक सन्धि की, जिसमें जर्मनी ने बोल्शेविक सरकार को रूस की कानूनी सरकार स्वीकृत किया। रापालो की यह सन्धि बड़े महत्त्व की थी। इससे पूर्व रूस के फिनलैण्ड, एस्थोनिया, लैटविया, टर्की, लिथुएनिया, ईरान और अफगानिस्तान के साथ राजनीतिक सम्बन्ध विद्यमान थे, पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इन छोटे राज्यों का कोई महत्त्व नहीं था। रूस की सीमा पर स्थित होने के कारण ये राज्य रूस जैसे विशाल देश के साथ शत्रुता का सम्बन्ध नहीं रख सकते थे। पर किसी बड़े यूरोपियन राज्य ने बोल्शेविक सरकार को अभी तक स्वीकृत नहीं किया था। रापालो की सन्धि द्वारा जब जर्मनी ने रूस की बोल्शेविक सरकार के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया, तो अन्य राज्यों के लिये रास्ता खुल गया। फरवरी, १९२४ में ब्रिटेन में मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल बना। श्री रामजे मैकडानल्ड प्रधान मन्त्रीपद पर अधिष्ठित हुए। मजदूर दल की सरकार की यह नीति थी, कि रूस के बहिष्कार का अन्त कर उसके साथ भी राजनीतिक सम्बन्ध कायम किये जायं, ताकि यूरोप में चिरशान्ति के लिये मैदान तैयार हो जाय। १९२४ की ग्रीष्म ऋतु में लण्डन में इस सुलहनामे के लिये बातचीत जारी रही, और उसी साल ब्रिटेन और रूस में समझौते पर दस्तखत हो गये।

इसके बाद इटली, फ्रांस और जापान ने भी रूस के साथ सन्धियां कीं। स्टालिन की नीति के कारण अन्य यूरोपियन राज्यों के लिये यह सम्भव हो गया था, कि वे रूस के साथ मैत्री सम्बन्ध का विकास कर सकें। १९२७ में रूस के प्रतिनिधियों ने राष्ट्रसंघ की आर्थिक परिषदों में उपस्थित होना शुरू किया। वह अभी तक राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बना था। पर अमेरिका के समान (अमेरिका भी राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था) रूस के प्रतिनिधि भी राष्ट्रसंघ के विविध कार्यों में सहयोग देने लग गये। निःशस्त्रीकरण आदि विविध राजनीतिक उद्देश्यों से जिन अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्सों का आयोजन राष्ट्रसंघ की ओर से किया गया, उनमें रूस के प्रतिनिधि भी शामिल होने लगे, और अन्त में १९३४ में रूस राष्ट्रसंघ में पूरी तरह हाथ बंटाने लग गया था। प्रायः सभी राज्यों ने उसके राजनीतिक सम्बन्ध कायम हो गये थे। १९१८ में उसका जो बहिष्कार किया गया था, वह अब समाप्त हो गया था।

७. शासन-विधान

सन् १९२३ में रूस का नया शासन-विधान बनकर तैयार हुआ। बाद में

१९३६ में उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। नये शासन-विधान के अनुसार रूस एक संघराज्य (फिडरेशन) है, जिसमें ग्यारह रिपब्लिक शामिल हैं। इनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) ग्रेट रशियन रिपब्लिक—राजधानी, मास्को। (२) व्हाइट रशियन रिपब्लिक—राजधानी, मिन्क। (३) युक्रेनिया—राजधानी, कीव। (४) आर्मीनियन रिपब्लिक, राजधानी, इरीवन। (५) ज्योर्जिया—राजधानी, टिलफस (६) अजरबैजान—राजधानी, बाकू (७) तुर्कोमान—राजधानी, अश्काबाद। (८) उजबेक रिपब्लिक—राजधानी, ताशकन्द। (९) ताजिकस्तान—राजधानी, स्तालिनाबाद। (१०) खिरगिज—राजधानी, फ्रुन्ज। (११) काजकस्तान—राजधानी, अल्मा-आता।

इन ग्यारह राज्यों में ग्रेट रशियन रिपब्लिक सबसे बड़ी है। सम्पूर्ण संघराज्य का तीन चौथाई प्रदेश उसके अन्तर्गत है, वहां की आबादी भी सारे रूस की आबादी की दो तिहाई है। यह ग्रेट रशियन रिपब्लिक स्वयं एक प्रकार का संघ है, जिसमें अनेक उपराज्य अन्तर्गत हैं। इसमें अनेक नसलों की ऐसी बहुत सी जातियां बसती हैं, जिनकी भाषा व संस्कृति अलग-अलग हैं। उन्हें पृथक् राष्ट्र कहा जा सकता है। ग्रेट रशियन रिपब्लिक द्वारा इन सब जातियों व राष्ट्रीयताओं को मिलाकर संघ बनाया गया है। आर्मीनिया, ज्योर्जिया और अजरबैजान—ये तीन रिपब्लिक ट्रांस-कोकेशिया के प्रदेश में हैं। तुर्कोमान, उजबेक और ताजिक दक्षिणी तुर्किस्तान में हैं। खिरगिज पूर्वी तुर्किस्तान में है, और काजक उत्तरी तुर्किस्तान और दक्षिण-पश्चिमी साइबीरिया में है। काजक रिपब्लिक कैस्पियन सागर से मंगोलिया तक फैली हुई है। रूस के संघराज्य के अन्तर्गत इन ग्यारहों रिपब्लिक राज्यों को यह अधिकार है, कि वे स्वेच्छापूर्वक संघ से पृथक् होकर स्वतन्त्र हो सकते हैं।

सोवियट यूनियन की संघ-पार्लियामेण्ट में दो सभाएं होती हैं। दोनों के सदस्यों की संख्या प्रायः एक बराबर है, और उनके अधिकार भी एक समान हैं। सदस्यों का चुनाव चार साल के लिये होता है। दोनों सभाओं के अधिवेशन साल में दो बार नियमपूर्वक किये जाते हैं। प्रत्येक सभा का पृथक्-पृथक् अध्यक्ष होता है। यह पार्लियामेंण्ट या सोवियट यूनियन की सुप्रीम कौंसिल रूस की प्रधान राजशक्ति है। कानून बनाने, सरकार पर नियन्त्रण रखने और देश की समृद्धि के लिये सब प्रकार की समुचित व्यवस्था करने का सब अधिकार इसी में निहित है। एक सभा को यूनियन की कौंसिल कहते हैं, और दूसरी को 'राष्ट्रीयताओं की कौंसिल'। जैसा कि इनके नामों से स्पष्ट है, राष्ट्रीयताओं की कौंसिल में

रशियन यूनियन के अन्तर्गत विविध जातियों, राष्ट्रों व राज्यों के प्रतिनिधि रहते हैं। यूनियन की कौंसिल का चुनाव जाति व राष्ट्र के भेद-भाव की उपेक्षा कर सीधा जनता करती है। तीन लाख व्यक्तियों का एक प्रतिनिधि रहता है। यूनियन की कौंसिल के सदस्यों की संख्या ५७० के लगभग रहती है। दूसरी सभा में भी लगभग इतने ही सदस्य होते हैं। पार्लियामेण्ट की कार्य-कारिणी समिति को 'प्रेसिडियम' कहते ह। इसका एक अध्यक्ष, ग्यारह उपाध्यक्ष, एक मन्त्री और चौबीस सदस्य होते हैं। जिस समय पार्लियामेण्ट का अधिवेशन न हो रहा हो, यह 'प्रेसिडियम' ही रूस की सर्वोपरि सत्ता होता है। मन्त्रिमण्डल को 'पीपल्स कमीशार की कौंसिल' कहते हैं। यह मन्त्रिमण्डल पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी होता है। जब पार्लियामेण्ट का अधिवेशन न हो रहा हो, तो मन्त्रिमण्डल प्रेसिडियम के निरीक्षण में काम करता है, और उसी के प्रति उत्तरदायी होता है।

रूस के शासन-विधान में नागरिकों के आधारभूत अधिकारों का बड़े विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। उसके अनुसार प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार है, कि वह श्रम करे, आराम के लिये काफी समय पाये, बीमारी की दशा में मुफ्त चिकित्सा करा सके, बुढ़ापा, बीमारी व अपाहिज हो जाने की दशा में निर्वाहयोग्य खर्च प्राप्त कर सके, शिक्षा पा सके और जीवन-संघर्ष में किसी भी भेद-भाव के बिना समान रूप से आगे बढ़ सके। सबको यह अधिकार है, कि वे अपने विश्वासों के अनुसार किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का अनुसरण कर सकें या धर्म के विरुद्ध प्रचार कर सकें। सबको भाषण करने, लिखने, सभाएं करने जलूस निकालने, अपने संगठन बनाने और अन्य प्रकार से अपने विचारों को प्रगट करने या प्रचलित करने की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता है। जाति, धर्म, वर्ण, नसल, लिंग आदि का भेद-भाव किये बिना सब नागरिक एक समान हैं, और सबको उन्नति का समान अधिकार और समान अवसर है।

जिस प्रकार सोवियट यूनियन का विधान लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर आश्रित है, उसी प्रकार यूनियन के अन्तर्गत विविध राज्यों के विधान भी लोक-तन्त्रवाद के अनुसार बनाये गये हैं। शासन की इकाई सोवियट (पंचायत) है, जिसमें सर्वसाधारण जनता एकत्र होकर अपना शासन स्वयं करती है। जैसा कि पहले प्रदर्शित किया जा चुका है, ये सोवियटें सब जगह विद्यमान हैं, और विशाल रशियन यूनियन के आधार हैं।

रूस के शासन में कम्युनिस्ट (बोल्शेविक) पार्टी का बड़ा महत्त्व है। इस

पार्टी का सदस्य वही बन सकता है, जो कार्ल मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों का अनुयायी हो, जो पार्टी के नियन्त्रण और अनुशासन का पालन करने के लिये तैयार हो, और जिसने अपने उत्साह और लगन द्वारा यह सिद्ध कर दिया हो, कि वह पार्टी का सदस्य होने के लिये उपयुक्त है। कम्युनिस्ट पार्टी का बाकायदा सदस्य बन सकने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को कुछ समय के लिये अन्तेवासी रूप में रहना पड़ता है। जब पार्टी को विश्वास हो जाता है, कि वह व्यक्ति इस योग्य है, कि बाकायदा पार्टी में शामिल किया जा सके, तब उसे कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य बनाया जाता है। कम्युनिस्ट लोग यह आवश्यक नहीं समझते, कि उनकी पार्टी के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक हो। १९३५ में उनके कुल सदस्य २५ लाख के लगभग थे। अब भी उनकी संख्या ४० लाख के लगभग है। रूस की जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों की यह संख्या अधिक नहीं है। पर उसका प्रभाव अतुल है, और उसके सब सदस्य अपने विश्वासों में कट्टर हैं। कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन प्रायः वैसा ही है, जैसा कि सोवियट सरकार का है। प्रत्येक कारखाने, गांव व दफ्तर में पार्टी की शाखा विद्यमान है। ये शाखाएं या स्थानीय सभाएं अपने प्रतिनिधि प्रान्तीय या प्रादेशिक सभाओं के लिये चुनती हैं। प्रान्तीय सभाओं के प्रतिनिधि अखिल रशियन पार्टी कांग्रेस में एकत्र होते हैं। कांग्रेस की एक कार्यकारिणी समिति है, जिसके सदस्यों की संख्या ७० के लगभग है। इस समिति की एक उपसमिति है, जिसे पोलिट-ब्यूरो कहते हैं। इसके कुल ९ सदस्य होते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी का संचालन यह ब्यूरो ही करता है। सरकार पर कम्युनिस्ट पार्टी का अनुपम प्रभाव है। किसी ऐसे व्यक्ति का, जो कम्युनिस्ट दल का विरोधी हो, उच्च सरकारी पद पर रहना सम्भव नहीं है। क्रियात्मक दृष्टि से कम्युनिस्ट पार्टी और सरकार में भेद कर सकना भी सुगम नहीं है। वस्तुतः कम्युनिस्ट पार्टी ही रशियन सरकार का संचालन करती है।

कम्युनिज्म के विरोधियों पर कड़ी निगाह रखने के लिये और साम्यवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह को दबाये रखने के लिये रूस में एक खुफिया पुलीस का संगठन किया गया है, जिसे संक्षेप में 'ओगपू' कहा जाता है। इसके गुप्तचर सब जगह पर विद्यमान हैं, और उन लोगों पर कड़ी निगाह रखते हैं, जिन पर कम्युनिज्म के विरोधी होने का लेशमात्र भी सन्देह हो। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हो सकता, जो सन्देह से परे हो। कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों व नेताओं पर भी कड़ी निगाह रखी जाती है, और यदि वे कोई भी षड्यन्त्र

करें या कोई भी ऐसी हरकत करें, जिससे साम्यवादी व्यवस्था को खतरा हो, तो ओगपू के गुप्तचर उसका तुरन्त पता लगा लेते हैं। ओगपू को अपने कार्य के के सम्बन्ध में बहुत अधिक अधिकार दिये गये हैं। उसकी आज्ञा से किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार किया जा सकता है, और बाकायदा मुकदमा चलाये बिना भी देर तक जेल में रखा जा सकता है।

८. विरोधियों का विनाश

ट्राटस्की को देश से बहिष्कृत करके स्टालिन रूस का प्रधान भाग्यविधायक बन गया था। पर अब भी उसके विरोधियों की कमी नहीं थी। कम्युनिस्ट पार्टी में ही ऐसे लोग विद्यमान थे, जो ट्राटस्की के विचारों से सहानुभूति रखते थे, या स्टालिन के कार्यक्रम को पसन्द नहीं करते थे। दिसम्बर, १९३४ में किरोव की हत्या हो गई। वह स्टालिन का प्रधान साथी था, और लेनिनग्राड में हाई कमिश्नर के पद पर नियुक्त था। उसकी हत्या निकोलयेव नाम के नवयुवक ने की थी, जिसकी पत्नी किरोव की प्राइवेट सेक्रेटरी थी। शुरू में यह समझा गया, कि यह हत्या वैयक्तिक कारणों से की गई है। पर बाद में जांच के अनन्तर स्टालिन को यह निश्चय हो गया, कि किरोव की हत्या एक अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र का परिणाम है, जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी के भी अनेक प्रमुख सदस्य शामिल हैं। इन सबको गिरफ्तार किया गया। १९३६ में उन मुकदमों का प्रारम्भ किया गया, जिनमें रूस के अत्यन्त प्रमुख व्यक्ति अभियुक्त के रूप में उपस्थित किये गये थे। जिनोवीव और कामनेव, जो पहले स्टालिन के परम मित्रों में गिने जाते थे, और जो उसी के समान लेनिन के प्रधान शिष्य थे, अब अभियुक्त के रूप में पेश किये गये। उन्हें दोषी पाया गया, और गोली से उड़ा दिया गया। कुछ महीने बाद राडक (एक प्रसिद्ध बोल्शेविक पत्रकार), प्याटकोव (रशियन व्यवसाय का प्रमुख संचालक), सोकोलिनकोव (प्रसिद्ध नीतिज्ञ), और करखान (विदेशी राजनीति का विशेषज्ञ) को गिरफ्तार किया गया और उन्हें देशद्रोह का दोषी पाया गया। जून, १९३७ में आठ प्रमुख सेनापतियों की गिरफ्तारी हुई, जिनमें मार्शल तुखचेवस्की, जनरल डवोरेविच (जिसने गृह-युद्ध में जनरल डेनिकिन को परास्त किया था) और जनरल कार्क (मास्को के सैनिक कालिज का अध्यक्ष) भी शामिल थे। इन सब पर मुकदमा चलाया गया। सब दोषी पाये गये, और सबको गोली से उड़ा दिया गया। इस समय जिन लोगों को साम्यवादी व्यवस्था के विरोधी होने के अपराध में गिरफ्तार करके

प्राणदण्ड दिया गया, उनकी संख्या सैकड़ों में है। वे सब रशियन सरकार के उच्च पदाधिकारी थे, और कम्युनिस्ट पार्टी में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। आश्चर्य की बात यह है, कि सब अभियुक्तों ने न्यायालय में उपस्थित होकर अपने अपराधों को खुले तौर पर स्वीकार किया, और बड़े विशद रूप से उन षड्यन्त्रों का बयान किया, जिनमें वे शामिल हुए थे।

उच्च कम्युनिस्ट अधिकारियों पर चलाये गये इन मुकदमों से संसार भर में बड़ी सनसनी फैल गई थी। ऐसा प्रतीत होता था, कि रूस में कोई भी व्यक्ति पूर्णतया विश्वसनीय नहीं समझा जा सकता। लोग समझते थे, कि स्टालिन अपने प्रतिद्वन्द्वियों का विनाश करने के लिये यह कार्रवाई कर रहा है। कुछ लोगों का यह भी खयाल था, कि साम्यवादी व्यवस्था रूस में अब देर तक नहीं रह सकेगी। ये मुकदमे इस बात को सूचित करते हैं, कि रूस के बड़े से बड़े नेता कम्युनिज्म के विरोधी हैं। पर अन्य देशों की यह आशा पूर्ण नहीं हो सकी। इन मुकदमों के बाद न केवल स्टालिन की स्थिति रूस में अधिक मजबूत हो गई, अपितु बोल्शेविक व्यवस्था की जड़ें भी वहां अधिक मजबूती के साथ जम गईं।

९. रूस की उन्नति

बोल्शेविक शासन में रूस ने असाधारण उन्नति की है। यह उन्नति शिक्षा, आर्थिक समृद्धि, विज्ञान और सैन्यशक्ति आदि सभी क्षेत्रों में हुई है।

शिक्षा—१९१४ में रूस के स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों की कुल संख्या केवल ८०,००,००० थी। कम्युनिस्ट सरकार के प्रयत्न से रूस के स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या ३,३०,००,००० तक पहुंच गई थी। जिन प्रदेशों में पहले शिक्षा का कोई भी प्रबन्ध नहीं था, कम्युनिस्ट सरकार ने वहां अच्छी बड़ी संख्या में स्कूलों की स्थापना की। पिछड़े हुए लोगों को शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ाने के लिये कम्युनिस्टों ने विशेष रूप से प्रयत्न किया। रूस के विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक ऐसी जातियों का भी निवास था, जो किसी भी वर्णमाला या लिपि से अपरिचित थीं। कम्युनिस्टों ने इनकी भाषा को लेखबद्ध करने के लिये उन्हें वर्णमाला और लिपि का प्रदान किया, जिससे ये अपनी भाषा को लिखकर साहित्य का निर्माण करने में समर्थ हुईं। परिणाम यह हुआ, कि उजबेक, काजक आदि भाषाओं के साहित्य का विकास शुरू हुआ और धीरे-धीरे ये भाषाएं इतनी अधिक विकसित हो गईं, कि इनके माध्यम से उच्च शिक्षा का प्राप्त कर सकना

भी सम्भव हो गया। १९३६ में रूसी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में (जो कि रूसी सोवियट संघ के अन्तर्गत विविध जातियों द्वारा प्रयुक्त होती थीं) जो पुस्तकें प्रकाशित हुईं, उनकी मुद्रित प्रतियों की संख्या १८,३०,००,००० थी। रूस में १११ विभिन्न भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशन शुरू हुआ, और विविध जातियों के लोगों को यह अवसर मिला, कि वे अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त कर सकें। इस प्रयत्न का यह परिणाम हुआ, कि १९४१ में रूस में अशिक्षितों की संख्या केवल १० प्रतिशत रह गई। १९४१ के बाद इस संख्या में और भी कमी हुई। और अब यह कहा जा सकता है, कि रूस में प्रायः सभी व्यक्ति शिक्षित हैं। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व रूस की ७३ प्रतिशत जनता सर्वथा अशिक्षित थी। चौथाई सदी के स्वल्प-काल में पन्द्रह करोड़ से भी अधिक नर-नारियों को शिक्षित कर देना कम्युनिस्ट व्यवस्था की शानदार सफलता है।

कम्युनिस्ट सरकार ने केवल शिक्षा के प्रसार पर ही ध्यान नहीं दिया, अपितु साथ ही उच्च शिक्षा के लिये भी प्रयत्न किया। १९३९ में रूस के जो विद्यार्थी विविध विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, उनकी संख्या ६०,००,००० थी। १९१६ में यह संख्या केवल एक लाख थी। बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व रूस के उस प्रदेश में जहां अब ग्रेट रशियन रिपब्लिक स्थापित है, उच्च शिक्षा देनेवाली संस्थाओं की कुल संख्या ७० थी। १९३७ में इन संस्थाओं की संख्या बढ़कर ४३५ हो गई थी। विशाल रशियन सोवियट संघ के अन्तर्गत अन्य रिपब्लिकों में बोल्शेविक क्रान्ति के बाद उच्च शिक्षा देनेवाले विश्वविद्यालयों की संख्या में किस प्रकार वृद्धि हुई, यह निम्नलिखित आंकड़ों से स्पष्ट हो जायगा—

रिपब्लिक	क्रान्ति से पूर्व	१९३७ में
युक्रेनिया	१९	१२३
ज्योर्जिया	१	१९
अन्य रिपब्लिकों में	०	१००

१९३९ में रूस की सब प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की कुल संख्या ४,७५,००,००० से भी अधिक थी। इतने अधिक विद्यार्थियों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करके कम्युनिस्ट सरकार ने निःसन्देह अद्भुत कार्य किया था।

आर्थिक जीवन—कम्युनिस्ट सरकार ने जो पंचवार्षिक योजनाएं बनाईं

थीं, उनका उद्देश्य यह था, कि आर्थिक क्षेत्र में रूस उन्नति कर सके। इस उद्देश्य में उसे असाधारण सफलता हुई। प्रथम पंचवार्षिक योजना १९२८ में शुरू की गई थी। इस योजना के तीसरे साल (१९३१) में जो पूंजी रूस के विविध कारखानों व सामूहिक फार्मों में लगी हुई थी, उसकी मात्रा १७,००,००,००,००० रूबल थी। इतनी बड़ी पूंजी की सहायता से रूस के व्यवसायों और अन्य आर्थिक क्षेत्रों में नव जीवन का संचार हो गया था। खेती की उन्नति के लिये ट्रैक्टरों के निर्माण पर सरकार का विशेष ध्यान था। फरवरी, १९३१ में रूस में पहला ट्रैक्टर बनकर तैयार हुआ था, और बाद में वहां के कारखाने बहुत बड़ी संख्या में ट्रैक्टरों को तैयार करने में व्यापृत हो गये थे। बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व रूस में एक भी कारखाना ऐसा नहीं था, जहां मोटर-गाड़ियां बन सकती हों। प्रथम पंच-वार्षिक योजना द्वारा वहां ऐसे कारखाने भी स्थापित किये गये थे, जो सब प्रकार की मोटर-गाड़ियों को तैयार करते थे। धीरे-धीरे रूस अपने देश में आवश्यक सब प्रकार की मोटरों को अपने ही कारखानों में तैयार करने लग गया। कम्युनिस्ट सरकार ने मशीनें तैयार करनेवाले कारखानों के विकास पर विशेष ध्यान दिया। अनेक ऐसे नये कारखाने कायम किये गये, जो सब प्रकार की मशीनों को बनाते थे। इस समय रूस में जो विविध प्रकार के नये कारखाने स्थापित हुए, उनकी संख्या २८०० थी। लोहा, कोयला, रासायनिक द्रव्य, वायुयान आदि सब प्रकार के व्यवसायों को प्रथम पंचवार्षिक योजना द्वारा विकसित किया गया। बिजली की शक्ति को उत्पन्न करने के लिये अनेक विशालकाय कारखाने कायम किये गये, जो १,००,००० किलोवाट से भी अधिक विद्युत्-शक्ति को उत्पन्न करने में समर्थ थे। इन सब प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि शीघ्र ही रूस एक व्यवसाय-प्रधान देश बन गया।

द्वितीय पंचवार्षिक योजना (१९३३-३७) के परिणाम और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हुए। विद्युत्-शक्ति की दृष्टि से १९१३ में रूस का स्थान संसार के देशों में १५ वां था। कम्युनिस्ट सरकार के प्रयत्नों से इस क्षेत्र में अब उसका स्थान दूसरे नम्बर पर हो गया। सम्पूर्ण यूरोप में कोई भी अन्य देश ऐसा नहीं रहा, जहां रूस के मुकाबले में अधिक विद्युत्-शक्ति उत्पन्न होती हो। मशीनों के निर्माण में पहले रूस बहुत पिछड़ा हुआ था। १९१३ में इस व्यवसाय में उसका स्थान जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका के मुकाबले में बहुत पीछे था। रूस ब्रिटेन के मुकाबले में केवल १० प्रतिशत और जर्मनी के मुकाबले में केवल ६ प्रतिशत मशीनें तैयार करता था। पर द्वितीय पंचवार्षिक योजना के बाद रूस

मशीन-व्यवसाय के क्षेत्र में यूरोप के सब देशों से आगे बढ़ गया था, और संसार में केवल संयुक्त राज्य अमेरिका ही ऐसा देश रह गया था, जो उसकी अपेक्षा अधिक मशीनें तैयार करता था। इसी प्रकार की उन्नति रूस ने अन्य व्यवसायों में भी की थी, और कल-कारखानों की दृष्टि से उसका स्थान संसार में दूसरे नम्बर पर हो गया था। चौथाई सदी से भी कम समय में रूस ने व्यावसायिक क्षेत्र में जो इतनी अधिक उन्नति कर ली, उसका श्रेय कम्युनिस्ट व्यवस्था को अवश्य मिलना चाहिये।

कृषि के क्षेत्र में इस समय रूस ने जो उन्नति की, उसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि १९१३ में रूस में केवल १०,५०,००,००० हेक्टर भूमि पर खेती होती थी। १९३७ में खेती की भूमि का क्षेत्रफल १३,५०,००,००० हेक्टर हो गया था। ३,५०,००,००० हेक्टर नई भूमि को कृषि-योग्य बना लेना कम्युनिस्ट सरकार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था। रूस में जो अनाज व अन्य खाद्य सामग्री में अत्यधिक वृद्धि हुई, उसका एक बड़ा कारण यह था, कि वहां की सरकार ने परती पड़ी हुई जमीन को कृषि-योग्य बनाने पर विशेष ध्यान दिया था। साथ ही, कम्युनिस्ट सरकार का यह भी प्रयत्न था, कि धीरे-धीरे सम्पूर्ण खेतों को सामूहिक फार्मों (कोलखोज) व राजकीय फार्मों (सोवखोज) के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, ताकि ट्रैक्टर आदि नये कृषि-उपकरणों का उनमें भलीभांति प्रयोग किया जा सके। १९३७ तक रूस की ९३ प्रतिशत कृषि-योग्य भूमि इन विशालकाय खेतों की अधीनता में आ चुकी थी, और केवल ७ प्रतिशत भूमि ही ऐसी रह गई थी, जो छोटे-छोटे खेतों में विभक्त थी, और जिस पर किसान लोग स्वतन्त्र व पृथक् रूप से खेती करते थे। सामूहिक व राजकीय फार्मों में नये साधनों द्वारा बड़े पैमाने पर खेती करने का यह परिणाम था, कि १९३७ में रूस में १९१३ के मुकाबले में ६५,००,००० टन अधिक अनाज उत्पन्न किया जा सका था। १९१७ में जब रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हुई, तो शुरू में कम्युनिस्ट नेताओं को कृषि के क्षेत्र में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित करने में सफलता नहीं हो सकी थी, पर १९३७ तक वे इस क्षेत्र में भी कम्युनिस्ट आदर्शों के अनुसार नई व्यवस्था स्थापित कर सकने में समर्थ हो गये थे।

कम्युनिस्ट व्यवस्था के कारण रूस में लोगों की आमदनियों में विषमता बहुत कुछ दूर हो गई है। यह तो नहीं कहा जा सकता, कि आर्थिक दृष्टि से वहां सब लोग एक समान हैं, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को वहां उसकी आवश्यकतानुसार नहीं, अपितु काम के अनुसार वेतन मिलता है, पर इसमें सन्देह नहीं, कि लोगों की

आमदनियों व आर्थिक स्थिति के रूप में उतना भेद नहीं है, जितना कि पूंजीवादी देशों में है।

बोल्शेविक व्यवस्था द्वारा रूस ने जो उन्नति की, अन्य देश उसे बहुत सन्देह की दृष्टि से देखते थे। पर द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) में रूस ने जो अद्भुत वीरता व सामर्थ्य प्रदर्शित की, उससे संसार उसका सिक्का मान गया है, और अब वह दुनिया की सर्वप्रधान शक्तियों में गिना जाता है। यदि अब उसका प्रतिद्वन्द्वी कोई है, तो वह केवल अमेरिका है। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि अन्य यूरोपियन राज्यों के मुकाबले में वह बहुत आगे बढ़ गया है।

१०. रूस में धर्म का स्थान

बोल्शेविक लोग धर्म के बहुत खिलाफ हैं। रूस का पुराना ईसाई चर्च राजा के दैवी अधिकार में विश्वास रखता था। चर्च के बड़े पादरी स्वयं धनी कुलीन जमींदारों के समान सुख और समृद्धि से जीवन बिताते थे। चर्च के पास अपनी अपार सम्पत्ति थी। जब रूस में क्रान्ति हुई, तो जो बोल्शेविक लोग राजा और कुलीन श्रेणी के स्वच्छन्द शासन के खिलाफ उठ खड़े हुए, उन्हें चर्च के विरोध का भी जबर्दस्त सामना करना पड़ा। कार्ल मार्क्स पक्का भौतिकवादी था। धर्म के कर्मकाण्ड, विधि-विधान या अध्यात्म पर उसे जरा भी विश्वास न था। उसके अनुयायी बोल्शेविक लोग भी भौतिकवाद के पक्षपाती हैं। जब उन्हें अपनी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों में पादरियों व अन्य धर्माचार्यों के विरोध का सामना करना पड़ा, तो वे धर्म के एकदम विरुद्ध हो गये। क्रान्ति के बाद यह घोषणा की गई, कि चर्च का राज्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, शिक्षा को चर्च के प्रभाव से मुक्त कर दिया जाता है, और चर्च की तरफ से जितने भी शिक्षणालय हैं, वे सब बन्द कर दिये जाते हैं। साथ ही, चर्च की सब जायदाद भी जब्त कर ली गई। पादरियों को वोट का अधिकार नहीं दिया गया। जब पादरी लोग बोल्शेविकों के खिलाफ उठ खड़े हुए, और जनता को उनके विरुद्ध भड़काने लगे, तो बहुत से पादरियों को गिरफ्तार किया गया। अनेकों को फांसी की सजा दी गई। बहुत से पादरी अपनी जान बचाने के लिये रूस से भाग निकले। चर्च की बहुत सी इमारतें सार्वजनिक पुस्तकालयों, संग्रहालयों व विश्रामगृहों के रूप में परिवर्तित कर दी गईं। यह व्यवस्था की गई, कि कोई आदमी सार्वजनिक रूप से धर्म का प्रचार न कर सके।

१९२९ में बोल्शेविकों ने धर्म के सम्बन्ध में अपने रुख में कुछ परिवर्तन

किया। लोगों को यह स्वतन्त्रता दी गई, कि वे अपने घर में या चर्च में पूजा-पाठ कर सकें। पर इसका कड़े तरीके से इन्तजाम किया गया, कि चर्चों का उपयोग पूजा-पाठ के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिये न किया जा सके। साथ ही, बोल्शेविकों ने धर्म के खिलाफ अपने प्रचार को जारी रखा। नास्तिकों की एक सोसायटी कायम की गई, और बोल्शेविकों ने धर्म के विरुद्ध अपने मोरचे को बहुत जबर्दस्त बना दिया। जगह-जगह ऐसी नुमाइशें की गईं, जिनमें चित्रों, कार्टूनों और अन्य तरीकों से धर्म का मजाक उड़ाया जाता था। बच्चों की शिक्षा में धर्म को कोई स्थान नहीं था, इसलिये बोल्शेविक प्रभाव में जिन बच्चों ने शिक्षा प्राप्त की, बड़े होने पर उन्हें धर्म से जरा भी प्रेम नहीं था। पुराने लोग अभी तक ईश्वर से डरते थे। विविध विधि-विधानों व पूजा-पाठ द्वारा वे अपनी धार्मिक तृष्णा को पूर्ण करते थे। पर धीरे-धीरे रूस की आम जनता में धर्म-भावना बिलकुल नष्ट होती जाती थी। ईसाई धर्म का असर उन पर निरन्तर क्षीण होता गया। अब स्थिति यह है, कि रूस में ईसाई धर्म प्रायः नष्ट हो गया है। ईसा का स्थान मार्क्स व लेनिन ने ले लिया है। अदने से अदने मजदूर व किसान के घर में इन महापुरुषों के चित्र विद्यमान हैं। उनके प्रति अपनी श्रद्धा को प्रगट करने के लिये वे उन चित्रों के सम्मुख दीपक भी जलाते हैं। सब बड़े-बड़े शहरों में सबसे प्रमुख स्थान पर लेनिन की विशाल मूर्तियां स्थापित हैं। जनता उन्हें अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखती है, और यह समझती है, कि वह ही उनका उद्धारकर्ता था।

छप्पनवां अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय मात्स्यन्याय

१. जापान और चीन

उग्र राष्ट्रीयता, आर्थिक संकट और नाजी शक्ति के विकास से राष्ट्रसंघ किस प्रकार निर्बल होता जा रहा था, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर अग्रसर होने का जो प्रयत्न संसार के विविध राज्यों ने किया था, वह असफल हो गया, और एक बार फिर संसार अन्तर्राष्ट्रीय मात्स्यन्याय का अनुसरण करने लगा। आपस के झगड़ों का निर्णय परस्पर विचार-विनिमय और सहयोग द्वारा करने के स्थान पर शक्तिशाली राज्यों ने सैनिक कार्रवाई का आश्रय लिया, और जगह-जगह पर युद्ध की अग्नि भड़क उठी। यही अग्नि धीरे-धीरे सुलगती हुई आगे चलकर एक ऐसे विश्व-संग्राम में परिणत हो गई जिसके प्रभाव से संसार का कोई भी देश पूरी तरह से नहीं बच सका। इस अध्याय में हम इसी 'मात्स्यन्याय' पर प्रकाश डालेंगे।

जापान का साम्राज्यवाद---चीन के विभिन्न प्रदेश अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान के प्रभाव-क्षेत्रों के अन्तर्गत थे। इन देशों ने चीन के प्रदेशों को किस प्रकार अपने प्रभाव-क्षेत्र में किया, इस पर हम पहले विचार कर चुके हैं। उत्तरी चीन में मंचूरिया का प्रदेश जापान के प्रभाव में था। वहां की रेलवे जापान के पास ठेके पर थी, और वहां जापानियों ने करोड़ों रुपया लगाकर अनेक कल-कारखानों का विकास किया था। जापान चाहता था, कि मंचूरिया में ऐसी सरकार कायम रहे, जो उसके खिलाफ न जाय और उसके प्रभाव में रहे। पर इस समय चीन में राष्ट्रीयता की भावना बहुत प्रबल थी, चियांग-काई शेक के नेतृत्व में चीन का राष्ट्रीय दल अपने देश की एकता और राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिये प्रयत्नशील था। चीनी लोग चाहते थे, कि मंचूरिया विशाल चीन का एक अंग बना रहे और किसी भी प्रकार का विदेशी प्रभाव वहां पर न रह जाय। पर जापान मंचूरिया पर कब्जा रखना अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से आवश्यक समझता था। करोड़ों रुपयों की जो जापानी पूंजी वहां लगी हुई थी, उसकी रक्षा का सवाल

उसके लिये अत्यन्त महत्त्व का था। साथ ही, अपने माल को खपाने के लिये जापान एक ऐसे बाजार की जरूरत समझता था, जहां उसे आयात-करों और संरक्षण-नीति का डर न हो। ब्रिटेन, भारत, यूरोप, अमेरिका---सब जगह इस समय संरक्षण-नीति का अनुसरण किया जा रहा था। इससे जापान का माल बिक सकने में दिक्कतें उपस्थित हो रही थीं। जापान के कल-कारखाने बन्द होने लगे थे, और वहां के मजदूर बेकार हो रहे थे। जापान की आबादी में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। १८८६ में उसकी आबादी ३,६०,००,००० थी। १९२० में वह बढ़कर ५,६०,००,००० पहुंच गई थी। इसके बाद भी वह निरन्तर बढ़ती जा रही थी। हर साल ९ लाख के लगभग मनुष्य जापान में बढ़ जाते थे। १९३१ में जापान के निवासियों की संख्या ६,५०,००,००० से भी ऊपर पहुंच गई थी। इस बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिये जापान को जगह चाहिये थी। अमेरिका में जापानियों का अच्छी संख्या में बसना रोक दिया गया था। जापानी नेता कहते थे, मंचूरिया पर कब्जा कर लेने से ये सब समस्याएँ हल हो जायेंगी।

मंचूरिया पर आक्रमण---१८ सितम्बर, १९३१ को जापान ने मंचूरिया पर हमला कर दिया। चीन उसका मुकाबला नहीं कर सका। शीघ्र ही मंचूरिया विजय कर लिया गया, और मंचूकुओ के नाम से वहां एक नया राज्य स्थापित किया गया। चीन के पदच्युत प्राचीन राजवंश के अन्तिम राजा को इसका सम्राट् बनाया गया, और नाम को यद्यपि मंचूकुओ एक पृथक् और स्वतन्त्र राज्य था, पर वस्तुतः वह पूरी तरह जापान के अधीन था। चीन ने राष्ट्रसंघ से अपील की। लार्ड लिटन के नेतृत्व में एक कमीशन की नियुक्ति हुई, और उसे यह कार्य दिया गया, कि सारे मामले की जांच करके अपनी रिपोर्ट पेश करे। कमीशन की रिपोर्ट यह थी, कि जापान ने बिना उपयुक्त कारण के मंचूरिया पर हमला किया था। इस समय राष्ट्रसंघ के लिये उचित यह था, कि जापान के खिलाफ आर्थिक बहिष्कार की नीति का अनुसरण करता। रूस इस बात से चिन्तित था, कि जापान ने चीन के उत्तरी प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया है। अमेरिका भी प्रशान्त महासागर में बढ़ती हुई जापान की शक्ति को चिन्ता की दृष्टि से देखता था। इस दशा में राष्ट्रसंघ की बहिष्कार की नीति अवश्य सफल हो सकती थी। पर ब्रिटेन सुदूरपूर्व में जापान से झगड़ा मोल लेना नहीं चाहता था। राष्ट्रसंघ ने जापान के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की। केवल एक प्रस्ताव द्वारा जापान के कार्य की निन्दा कर दी गई, जिसका उत्तर जापान ने यह दिया, कि उसने राष्ट्र-

संघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रसंघ की यह बड़ी भारी कमजोरी थी। छोटे राज्यों के झगड़ों को वह निबटा सकता था, पर जब जापान-जैसे शक्तिशाली देश को काबू करने का प्रश्न आया, तो वह सर्वथा असमर्थ पाया गया।

चीन और जापान का युद्ध--जापान केवल मंचूरिया पर कब्जा करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह भली भांति समझ गया था, कि राष्ट्रसंघ उसके मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकता। चीन का विशाल प्रदेश उसके सामने विद्यमान था। वह उसके विभिन्न प्रदेशों पर अधिकार करके साम्राज्यवाद की अपनी भूख को शान्त करना चाहता था। ८ जुलाई, १९३७ को उसने चीन के साथ लड़ाई छेड़ दी। इस लड़ाई के शुरू होने का कारण क्या था, यह प्रश्न महत्त्व का नहीं है। जब कोई देश लड़ने के लिये तुला हुआ हो, तो कारण ढूंढ़ लेना जरा भी कठिन नहीं होता। लुकूचिआओ नाम के स्थान पर जापान और चीन के सैनिकों में एक साधारण मुठभेड़ हो गई। इसे निमित्त बनाकर जापानी सेनाओं ने, चीन के ऊपर हमला कर दिया। १९३७ का अन्त होने से पहले ही नानकिंग पर जापान का अधिकार हो गया, और पूर्वी चीन जापानियों के कब्जे में चला गया। इस समय चीन दो भागों में विभक्त हो गया--स्वतन्त्र चीन और जापान द्वारा अधिकृत चीन। उत्तर में पेकिंग से शुरू कर मध्य में हैन्को होती हुई दक्षिण में कैन्टन तक यदि एक रेखा खींची जाय, तो इस रेखा के पश्चिमी प्रदेश स्वतन्त्र चीन में थे, और इस रेखा के पूर्व की ओर के प्रदेश जापान द्वारा अधिकृत थे। चीनी सेनाओं के लिये जापान की शक्ति का मुकाबला कर सकना सुगम नहीं था। पर जापानी आक्रमण का यह लाभ अवश्य हुआ, कि कुछ समय के लिये चीनी लोग आपस के झगड़ों को भुलाकर चियांग काई शेक के नेतृत्व में एक हो गये, और उनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो उठी।

राष्ट्रसंघ की असमर्थता--चीन ने फिर राष्ट्रसंघ से अपील की। पर इस समय तक राष्ट्रसंघ की स्थिति बिलकुल बलहीन हो चुकी थी। एक प्रस्ताव द्वारा संघ के सदस्यों ने जापान के कार्य की निन्दा अवश्य कर दी, पर प्रस्ताव-मात्र से चीन की रक्षा नहीं हो सकती थी, और इससे अधिक कुछ कर सकना राष्ट्रसंघ की ताकत में नहीं था। जापान ने चीन के खिलाफ लड़ाई जारी रखी। उसकी सेनाएँ निरन्तर आगे बढ़ती गईं। समुद्रतट के सब महत्त्वपूर्ण चीनी नगरों पर उसका कब्जा हो गया, और चीनी सेनाएँ गुरीला-युद्ध का आश्रय लेकर संघर्ष को जारी रखने के लिये विवश हो गईं।

इसी बीच में जापान ने जर्मनी और इटली के साथ एक सन्धि की, जिसका उद्देश्य परस्पर मिलकर रूस के कम्युनिज्म का मुकाबला करना था। जापान के साथ सन्धि कर लेने के कारण यूरोप में जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत मजबूत हो गई थी। अब जापान ने यह भी कहना शुरू कर दिया था, कि सुदूरपूर्व की सुरक्षा के लिये उसकी जिम्मेवारी विशेष है, और पृथ्वी के इस क्षेत्र में शान्ति कायम रखना उसका प्रथम कर्तव्य है।

२. इटली का साम्राज्य-विस्तार

अबीसीनिया पर आक्रमण—महायुद्ध के बाद वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी के अफ्रीकन उपनिवेशों का जिस प्रकार बँटवारा हुआ था, उससे इटली बहुत असन्तुष्ट था। वह समझता था, कि फ्रांस और ब्रिटेन ने तो अफ्रीका में अनेक नये प्रदेश प्राप्त कर लिये हैं, पर उसे अफ्रीका में अपने साम्राज्य-विस्तार का कोई अवसर नहीं दिया गया। मुसोलिनी के उत्कर्ष से इटली में जिस नई शक्ति और राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा का संचार हुआ था, उस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। अफ्रीका के विशाल महाद्वीप में केवल दो स्वतन्त्र राज्य थे, अबीसीनिया और लिबेरिया। मुसोलिनी समझता था, अबीसीनिया पर उसे कब्जा कर लेना चाहिये। इसके दोनों ओर के प्रदेश, सोमालीलैण्ड और अरिट्रिया इटली के अधीन थे। यदि अबीसीनिया पर भी उसका कब्जा हो जाय, तो अफ्रीका में इटली का अच्छा बड़ा साम्राज्य कायम हो जायगा, और उसे न केवल अपने तैयार माल को बेच सकने का बाजार हाथ लग जायगा, अपितु उसकी बढ़ती हुई आबादी को बसने के लिये बहुत बड़ा क्षेत्र भी प्राप्त हो जायगा। मुसोलिनी अबीसीनिया से झगड़ा मोल लेने के लिये तुला हुआ था। दिसम्बर, १९३४ में अबीसीनिया की सीमा पर इटालियन और अबीसीनियन सेनाओं में मुठभेड़ हो गई। कुछ इटालियन सैनिक मारे गये। मुसोलिनी तो इस प्रकार के मौके की प्रतीक्षा में ही था। उसने तुरन्त अबीसीनिया पर हमला कर दिया।

इटली राष्ट्रसंघ का प्रमुख सदस्य था। उसका एक प्रतिनिधि अपने अधिकार से संघ की कौंसिल का सदस्य होता था। उसे चाहिये यह था, कि अपने झगड़े का निबटारा राष्ट्रसंघ द्वारा कराता। अबीसीनिया भी राष्ट्रसंघ में शामिल था। जब संघ के दो सदस्यों में कोई झगड़ा हो, तो उसका निबटारा पंचायती तरीके से कराना उनका कर्तव्य था। पर इटली ने अपनी जिम्मेवारियों की कोई परवाह नहीं की। वह साम्राज्य-विस्तार के लिये अवसर ढूंढ़ रहा था, उसकी

सेनाएँ बड़ी संख्या में भूमध्यसागर को पार कर आस्ट्रिया और सोमालीलैण्ड पहुँचने लगीं। शीघ्र ही इन सेनाओं ने अबीसीनिया में प्रवेश शुरू कर दिया।

राष्ट्रसंघ द्वारा हस्तक्षेप—अबीसीनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की। मामला संघ की कौंसिल के सम्मुख पेश हुआ। बहुत विवाद के बाद यह तय हुआ, कि (१) कोई राज्य इटली को अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री न बेचे। (२) इटली के तैयार माल का बहिष्कार किया जाय, और (३) इटली को कर्ज के रूप में कोई रकम न दी जाय। इसमें सन्देह नहीं, कि राष्ट्रसंघ ने आर्थिक बहिष्कार के शस्त्र का प्रयोग करके इटली को काबू करने का प्रयत्न सच्चाई के साथ किया। पर अबीसीनिया जैसे निर्बल देश को विजय करने के लिये इटली को न और देशों से हथियार खरीदने की जरूरत थी, और न उसे रुपया कर्ज पर लेने की ही कोई आवश्यकता थी। उसका माल अन्य देश न खरीदें, इसकी भी वह उपेक्षा कर सकता था। उसने निश्चय किया, कि अपनी सारी शक्ति को अबीसीनिया के ऊपर आक्रमण करने में लगा दिया जाय, ताकि इस मामले का जल्दी ही निबटारा हो जाय। यदि इस समय राष्ट्रसंघ यह निर्णय करता, कि इटली को विद्रोही मानकर उसके खिलाफ सैनिक कार्रवाई की जाय, तो उसे अवश्य काबू किया जा सकता था। पर इतना साहस राष्ट्रसंघ में नहीं था।

अबीसीनिया का विजय—इटली की सेनाएं अबीसीनिया में निरन्तर आगे बढ़ती गईं। इटली की उन्नत और नये अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सेनाओं के सामने अबीसीनियन सेनाओं का टिक सकना असम्भव था। कुछ ही समय में अदिस अबाबा (अबीसीनिया की राजधानी) पर कब्जा कर लिया गया, और वहां का सम्राट् आत्मरक्षा के लिये राजधानी से भाग जाने को विवश हुआ। मई, १९३६ तक इटली ने सम्पूर्ण अबीसीनिया पर अपना अधिकार कायम कर लिया था, और विशाल अफ्रीकन साम्राज्य का मुसोलिनी का स्वप्न सर्वांश में पूर्ण हो गया था। अब इटली का आर्थिक बहिष्कार व्यर्थ था। अपने आप ही उसकी समाप्ति हो गई।

राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण—राष्ट्रसंघ इटली के खिलाफ सैनिक कार्रवाई नहीं कर सका, इसके कई कारण थे। जर्मनी और जापान इस समय तक राष्ट्रसंघ से अलग हो चुके थे। रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य था, पर अपनी भौगोलिक परिस्थिति के कारण सैनिक कार्रवाई में हिस्सा नहीं ले सकता था। केवल ब्रिटेन और फ्रांस ऐसे देश थे, जो इस मामले में हस्तक्षेप कर सकते थे। पर फ्रांस ने कुछ ही समय पहले इटली के साथ घनिष्ठ मित्रता की सन्धि की थी। नाजी शक्ति के विकास के कारण जर्मनी इस समय बहुत प्रबल हो गया था। हिटलर की योजना यह

थी, कि आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का अन्त कर उसे विशाल जर्मन राज्य का अंग बना लिया जाय। इसके लिये यत्न शुरू हो चुका था, और आस्ट्रिया में बाकायदा नाजी पार्टी का संगठन कर लिया गया था। ये आस्ट्रियन नाजी अपनी लोकतन्त्र सरकार की उपेक्षा कर स्वच्छन्द वृत्ति पर उतरे हुए थे। ऐसा प्रतीत होता था, कि आस्ट्रिया देर तक जर्मनी से अलग नहीं रह सकेगा। चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में निवास करनेवाले जर्मन लोगों में भी नाजीज्म का प्रचार तेजी से बढ़ रहा था। फ्रांस इसलिये चिन्तित था, क्योंकि जर्मनी की सेनाएं यदि यूरोप में फिर से प्रबल हो गईं, तो उनका सबसे पहला हमला उसी पर होगा। हिटलर ने अपनी पुस्तक 'मेरा संघर्ष' में स्पष्ट कर दिया था, कि फ्रांस जर्मनी का प्रधान शत्रु है। इटली नाजीज्म के इस उत्कर्ष से इसलिये चिन्तित था, कि यदि आस्ट्रिया और जर्मनी एक हो गये, तो दक्षिण ताइरल पर इटली का कब्जा नहीं रह सकेगा। इस प्रदेश की बहुसंख्या जर्मन जाति की थी। महायुद्ध के पहले यह आस्ट्रिया का अंग था। पर सैनिक व व्यापारिक दृष्टि से इटली इस पर अपना कब्जा चाहता था, और महायुद्ध के बाद वह अपने उद्देश्य में सफल हुआ था। इस समय फ्रांस और इटली दोनों का हित इसमें था, कि वे नाजियों को आस्ट्रिया पर कब्जा न करने दें। इसीलिये उन्होंने परस्पर मित्रता की सन्धि की थी। फ्रांस के विदेश-मन्त्री श्री लवाल ने मुसोलिनी को गुप्त रूप से यह आश्वासन भी दे दिया था, कि इटली के साम्राज्य-विस्तार में फ्रांस किसी प्रकार की बाधा नहीं डालेगा। इस दशा में यह कैसे सम्भव था, कि फ्रांस इटली के खिलाफ सैनिक कार्रवाई में शामिल हो सकता। यदि ब्रिटेन इस समय इटली के साथ उलझता, तो स्वेज कैनाल का मार्ग उसके लिये अवश्य अवरुद्ध हो जाता। स्वेज का खुले रहना ब्रिटेन के लिये कितना जरूरी है, इस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं। इटली के साम्राज्य-विस्तार से ब्रिटेन के अपने हितों को कोई विशेष नुकसान नहीं पहुंचता था। कम से कम, उस समय के ब्रिटिश राजनीतिज्ञ यही समझते थे। उन्होंने भी यही उचित समझा, कि अबीसीनिया का पक्ष लेकर इटली का अकेले विरोध न किया जाय। पर फ्रांस और ब्रिटेन के इस रुख का परिणाम यह हुआ, कि राष्ट्रसंघ की शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। अब यह बिलकुल स्पष्ट हो गया, कि संघ में इतना दम नहीं है, कि वह किसी भी 'विद्रोही' राज्य के खिलाफ कोई भी सैनिक कार्रवाई कर सके।

३. आस्ट्रियन रिपब्लिक का अन्त

आन्तरिक राजनीति—आस्ट्रिया की एक तिहाई आबादी वीएना में बसती

थी । इनमें मजदूरों की संख्या बहुत अधिक थी, और राजनीतिक दृष्टि से ये साम्यवाद के अनुयायी थे । वीएना में साम्यवाद का जोर था, और इसीलिये वहां की म्यूनिसिपैलिटी पर साम्यवादियों का कब्जा था । पर आस्ट्रिया के शेष प्रदेशों के निवासी मुख्यतया कृषिजीवी और पुराने विचारों के थे । रोमन कैथोलिक धर्म का उन पर बड़ा असर था, और वे साम्यवादियों की नास्तिकता को बिलकुल पसन्द नहीं करते थे । इस दशा में आस्ट्रिया में दो मुख्य राजनीतिक पार्टियां थीं, साम्यवादी और क्रिश्चयन सोशलिस्ट पार्टी । दोनों पार्टियों के अपने-अपने स्वयंसेवक दल थे । ये फौजी पोशाक पहनते थे, और हथियार बांधकर रहते थे । वीएना पर साम्यवादियों का कब्जा था, पर रिपब्लिक का शासन क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी के हाथ में था । दोनों पार्टियों में घोर संघर्ष रहता था, और उनके स्वयंसेवक दल भी समय-समय पर आपस में टकराते रहते थे । आस्ट्रिया की राजनीति में इटली को बहुत दिलचस्पी थी । दोनों देशों की सीमायें आपस में मिलती थीं, और आस्ट्रिया में किस दल का शासन है, इटली इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था । मुसोलिनी क्रिश्चियन सोशलिस्ट दल का पक्षपाती था, और इस दल के लोग इटली की सहायता का पूरी तरह से भरोसा रखते थे । पर जर्मनी में नाजी पार्टी के अभ्युदय के साथ-साथ आस्ट्रिया में भी नाजी पार्टी का संगठन हुआ । जर्मन राष्ट्रीयता की भावना उग्र रूप धारण करने लगी, और आस्ट्रिया में उन लोगों का जोर बढ़ने लगा, जो जर्मन जाति को एक सूत्र में संगठित करके एक विशाल जर्मन राज्य का स्वप्न देखते थे ।

डालफस का उत्कर्ष—२० मई, १९३२ को डा० डालफस आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री बना । वह क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी का था और फैसिस्ट विचारधारा का अनुयायी था । मुसोलिनी का अनुसरण कर उसने आस्ट्रियन पार्लियामेण्ट को बर्खास्त कर दिया, और स्वयं कानून बनाकर देश का शासन शुरू किया । उसकी आकांक्षा यह थी, कि इटली के समान आस्ट्रिया में भी फैसिस्ट व्यवस्था की स्थापना कर दी जाय । साम्यवादियों से उसका विरोध होना स्वाभाविक था । फरवरी, १९३४ में इस विरोध ने बड़ा उग्र रूप धारण किया । डालफस की सरकार ने वीएना के साम्यवादियों के खिलाफ लड़ाई छेड़ दी । मजदूरों ने डटकर सरकार का मुकाबला किया । एक हजार से अधिक साम्यवादी इस लड़ाई में मारे गये । उनके नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया । बहुतों पर मुकदमे चलाये गये । अदालत ने ९ साम्यवादी नेताओं को फांसी की सजा दी, जेल की सजा पानेवाले साम्यवादियों की संख्या सैकड़ों में थी । डालफस अपने विरोधी

साम्यवादी दल को कुचलने में सफल हो गया, पर अन्त में यही बात उसके पतन का कारण हुई। डालफस नहीं समझता था, कि नाजी पार्टी के रूप में जिस नई शक्ति का आस्ट्रिया में उदय हो रहा है, वह उसकी अपनी पार्टी के लिये साम्यवादियों की अपेक्षा बहुत अधिक भयंकर है। यदि वह साम्यवादियों के सहयोग से आस्ट्रियन स्वतन्त्रता और रिपब्लिक की रक्षा के लिये उद्योग करता, तो अपने देश की बहुत भलाई कर सकता। पर उसमें इतनी दूर-दृष्टि नहीं थी।

नाजियों द्वारा डालफस की हत्या—साम्यवादियों को कुचल कर डालफस ने नाजी पार्टी के खिलाफ कार्रवाई शुरू की। नाजी दल को गैर-कानूनी उद्घोषित कर दिया गया। पर जर्मन नाजी अपने आस्ट्रियन साथियों की हर प्रकार से सहायता करने को उद्यत थे। वे उन्हें अस्त्र-शस्त्र और युद्ध-सामग्री भेजते रहे। नाजी पार्टी गुप्त रूप से अपना काम करती रही। जुलाई, १९३४ में कुछ नाजी वीएना के सरकारी दफ्तर में घुस गए और वहां उन्होंने डालफस को कतल कर दिया। आस्ट्रिया के घायल प्रधान मन्त्री पर इन नाजियों ने इसलिये पहरा दिया, कि कोई चिकित्सक उसके इलाज के लिये न आ सके, और वह अपने जख्मों से कराह-कराह कर मर जाय। जिन लोगों ने डालफस का कतल किया था, आगे चलकर नाजियों ने उन्हें शहीद बना दिया, और उन्हें जर्मन राष्ट्र का सच्चा सेवक उद्घोषित किया।

नाजी दल का उत्कर्ष—डालफस के बाद शुशनिग आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री बना। वह भी क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी का था, और मुसोलिनी के फैसिस्ट सिद्धान्तों पर विश्वास रखता था। उसने डालफस की नीति को जारी रखा। पर इस समय आस्ट्रियन नाजी दल निरन्तर जोर पकड़ रहा था। नाजी लोग अब खुले तौर पर सैनिक कवायद करते थे। समय-समय पर उनके जलूस निकलते थे, और अपने विरोधियों पर हमला करने में भी वे संकोच नहीं करते थे। जर्मनी और आस्ट्रिया की सीमा इन नाजियों का प्रधान गढ़ थी; वहां से निकलकर नाजी लोग आस्ट्रिया के सरकारी अफसरों व पुलीस पर आक्रमण करते रहते थे। स्थिति शुशनिग के काबू से बाहर होती जाती थी। आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिलकर एक विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण होना चाहिये, यह विचार निरन्तर जोर पकड़ता जा रहा था। आखिर, ९ मार्च, १९३८ को शुशनिग ने घोषणा की, कि इस सवाल पर लोकमत लिया जायगा, और यदि लोकमत द्वारा यही तय हुआ, कि आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिल जाना चाहिये, तो वह इसे सहर्ष स्वीकार कर लेगा। पर हिटलर इसके लिये तैयार नहीं हुआ। उसका

कहना था, कि इस प्रश्न पर लोकमत लेना बिलकुल व्यर्थ है। जर्मन सेनाएँ सदलबल आस्ट्रिया की सीमा पर एकत्र हो रही थीं। शुशनिग ने परेशान होकर ११ मार्च, १९३८ को त्यागपत्र दे दिया। नाजी पार्टी के नेता डा० सेस्स-इन्कुअर्ट ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया, और हिटलर के पास एक तार भेजा, जिसमें कहा गया था, कि आस्ट्रिया में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने के लिये जर्मन सेनाओं की सहायता की तुरन्त आवश्यकता है। इस समय आस्ट्रिया में न कहीं विद्रोह हो रहे थे, और न किसी अन्य प्रकार की ही अव्यवस्था थी। पर नाजियों को आस्ट्रिया पर कब्जा करने के लिये एक बहाने की आवश्यकता थी। १२ मार्च, १९३८ को जर्मन सेनाओं के साथ हिटलर ने आस्ट्रिया में प्रवेश किया। इस सेना के साथ-साथ आकाश में जंगी हवाई जहाज चल रहे थे। किसकी हिम्मत हो सकती थी, कि जर्मन सेनाओं का मुकाबला कर सके। बिना किसी विरोध के हिटलर की नाजी सेनाओं ने आस्ट्रिया में प्रवेश कर लिया। बीस साल की आयु की आस्ट्रियन रिपब्लिक का अन्त हो गया।

क्रिश्चियन सोशलिस्ट और साम्यवादी दलों के सब प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिये गये। शुशनिग और उसके साथी अन्य मन्त्रियों को कैद कर लिया गया। नाजी पार्टी के नवयुवक वीएना के बाजारों में चक्कर काटते हुए फिरने लगे। वे जिसे चाहते थे, पकड़ लेते थे। जिस किसी पर भी उन्हें नाजी विरोधी होने का सन्देह होता था, उन सबको पकड़कर वह जेल में बन्द कर रहे थे। वीएना में हाहाकार मच गया था। यहूदियों के साथ नाजियों ने बड़ा क्रूर बरताव किया। उनके घरों को लूट लिया गया। बहुतों को पकड़कर बाजार में पीटा गया। सात हजार के लगभग यहूदियों ने आत्महत्या करके घोर अपमान से अपनी रक्षा की।

जर्मनी और आस्ट्रिया की एकता—हिटलर का कहना था, कि आस्ट्रिया और जर्मनी को मिलाकर एक होना चाहिये या नहीं, इस प्रश्न पर लोकमत लेने का उपयुक्त समय अब है। शुशनिग ने जिस लोकमत का प्रस्ताव किया था, वह कभी निष्पक्ष नहीं हो सकता था। इसीलिये उस समय लोकमत लेना बिलकुल व्यर्थ था। १० एप्रिल, १९३८ को लोकमत लिया गया। ९९ फीसदी वोट नाजियों के पक्ष में आये। यहूदियों को वोट का अधिकार नहीं दिया गया था। अन्य लोगों के लिये भी नाजियों के खिलाफ वोट देने का मतलब था, मौत या जेल। इस दशा में एक फी सदी वोट भी नाजियों के विरुद्ध आ सके, यही आश्चर्य की बात है। अब हिटलर यह कह सकता था, कि आस्ट्रियन जनता जर्मन एकता के पक्ष में थी, और शुशनिग का शासन सब लोकतन्त्र सिद्धान्तों के खिलाफ था।

मुसोलिनी यह नहीं चाहता था, कि आस्ट्रिया और जर्मनी मिलकर एक हो जायं। इसीलिये वह डाल्फस और शुशनिग का समर्थक था। पर हिटलर ने उसे यह कहकर सन्तुष्ट कर दिया, कि राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से आस्ट्रिया और जर्मनी का एक होना ही ठीक है, और जर्मनी इटली की सीमा में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करने का इरादा नहीं रखता। यूरोप की राजनीति में इटली और जर्मनी इस समय एक दूसरे के बहुत नजदीक आ गये थे, और उनका एक जबर्दस्त गुट बन गया था। मुसोलिनी ने आस्ट्रिया के प्रश्न पर चुप रहना ही उचित समझा। पर यूरोप के अन्य राज्यों में इससे एक बेचैनी सी फैल गई, और भावी भयंकर युद्ध के चिन्ह सबको स्पष्ट रूप में दिखाई देने लगे। हिटलर अब इस स्थिति में था, कि मध्य यूरोप में अपनी मनमानी कर सके।

४. चेकोस्लोवाकिया का अन्त

आन्तरिक समस्या—महायुद्ध के बाद यूरोप में जिन नये राज्यों की स्थापना हुई थी, चेकोस्लोवाकिया उनमें प्रमुख था। इस नई रिपब्लिक में मुख्यतया तीन जातियों का निवास था, चेक, स्लोवाक और जर्मन। चेक और स्लोवाक नसल की दृष्टि से एक थे, उनकी भाषा भी एक दूसरे से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। पर सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से उनमें बहुत भिन्नता थी। स्लोवाक लोग जिन प्रदेशों में रहते थे, वे पहले हंगरी के अधीन थे। उनमें व्यवसायों का विकास बहुत कम हुआ था। चेक लोगों का प्रदेश आस्ट्रिया के अधीन था, जर्मन जाति के सम्पर्क से वे विज्ञान और व्यवसाय में अच्छी उन्नति कर चुके थे। चेकोस्लोवाकियन सरकार में चेक लोगों की प्रभुता थी। पर स्लोवाक चेक लोगों की प्रभुता को पसन्द नहीं करते थे। उनकी आकांक्षा यह थी, कि उनका अपना पृथक् स्वतन्त्र राज्य कायम हो जाय, या कम से कम चेकोस्लोवाकिया के राज्य के अन्तर्गत ही उनकी पृथक् आन्तरिक स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली जाय। पर स्लोवाक लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक जटिल समस्या जर्मनों की थी। चेकोस्लोवाकिया में बसनेवाले जर्मनों की संख्या ३२ लाख के लगभग थी। वे सारे राज्य में फैले हुए थे, पर उनका मुख्य निवास-स्थान सुडटनलैण्ड था। यह प्रदेश जर्मनी के साथ लगता था, और इसमें जर्मनों की संख्या ५० फी सदी के लगभग थी। पुराने जमाने में जर्मन लोग इस देश के शासन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। आस्ट्रियन लोग स्वयं जर्मन जाति के हैं, अतः इन प्रदेशों पर शासन करने के लिये वे जिन लोगों को नियत करते थे, वे मुख्यतया जर्मन जाति के ही होते थे। चेक

राष्ट्रीयता के विकास के कारण अब देश के शासन में जर्मनों का प्रमुख स्थान नहीं रह गया था। वे लोग इस बात से बहुत असन्तुष्ट थे। चेकोस्लोवाकिया में बसने वाले जर्मन लोग विद्या और विज्ञान की दृष्टि से बहुत उन्नत थे। उनके अपने विद्यालय और विश्वविद्यालय थे, जहां सब शिक्षा जर्मन भाषा के माध्यम द्वारा दी जाती थी। खास प्राग (चेकोस्लोवाकिया की राजधानी) में उनकी अपनी अलग यूनिवर्सिटी थी। जर्मन साहित्य बहुत उन्नत है। चेक और स्लोवाक भाषाओं का साहित्य जर्मन साहित्य की अपेक्षा बहुत पिछड़ा हुआ था। अतः जर्मन लोग चेकों और स्लोवाकों के मुकाबले में अपने को बहुत ऊँचा समझते थे। वे अनुभव करते थे, कि चेकोस्लोवाकिया का पृथक् राज्य बन जाने के कारण उनकी स्थिति बहुत हीन हो गई है।

नाजी पार्टी का संगठन---जब जर्मनी में नाजी पार्टी ने जोर पकड़ा, तो उसका असर चेकोस्लोवाकिया के जर्मनों पर भी पड़ा। उनमें यह इच्छा प्रबल होने लगी, कि हमें भी विशाल जर्मन राज्य का एक अंग बनकर रहना चाहिये। अतः सुडटनलैण्ड में नाजी पार्टी का संगठन किया गया। इसका जर्मनी की नाजी पार्टी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। सुडटन जर्मनों के आन्दोलन का सरकार पर बहुत असर पड़ा। १९३७ में चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने यह घोषणा की, कि वह सुडटन जर्मनों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूरा करने के लिये निम्नलिखित बातों को स्वीकार करती है---(१) सरकारी नौकरियों में जर्मनों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से स्थान दिये जायं। (२) जर्मन भाषा को चेकोस्लोवाकिया की अन्यतम सरकारी भाषा स्वीकार किया जाय। (३) सुडटनलैण्ड की शिक्षा तथा संस्कृति-सम्बन्धी संस्थाओं को सरकारी सहायता दी जाय, और यह सहायता उनकी आबादी के अनुपात से हो। (४) सुडटनलैण्ड में सार्वजनिक हित के कार्यों पर भरपूर खर्च किया जाय। पर इस घोषणा से सुडटन जर्मनों को सन्तोष नहीं हुआ। इस समय उनकी मांग यह थी, कि सुडटनलैण्ड को चेकोस्लोवाकिया के अन्तर्गत एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, जो आन्तरिक शासन में पूरी तरह स्वतन्त्र हो, और चेकोस्लोवाकिया के अन्तर्गत एक नया पृथक् नाजी राज्य कायम हो जाय।

नाजी पार्टी के साथ संघर्ष---इस समय तक आस्ट्रिया पर हिटलर का कब्जा हो चुका था। इससे नाजियों की हिम्मत बहुत बढ़ गई थी। सुडटन नाजी पार्टी भी बहुत जोर पकड़ रही थी, और उसका नेता हेनलाइन अपने आन्दोलन को बहुत उग्र करता जाता था। १२ सितम्बर, १९३८ को हिटलर ने एक भाषण

देते हुए कहा—"जैसे सब जातियों और राष्ट्रों को स्वभाग्यनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार अपने बारे में स्वयं फैसला करने का अधिकार होता है, वैसे ही सुडटन-लैण्ड को भी होना चाहिये। यदि सुडटन लोग अपनी ताकत से अपना यह अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते, तो हम इस बारे में उनकी मदद करने को तैयार हैं।" दो दिन बाद १४ सितम्बर, १९३८ को हेनलाइन ने उद्घोषित किया, कि उसकी पार्टी का उद्देश्य सुडटनलैण्ड को जर्मनी के साथ सम्मिलित करना है। प्रत्येक सुडटन का कर्तव्य है, कि वह जर्मन सरकार को अपनी न्याय्य सरकार समझे, और चेको-स्लोवाकिया के प्रति कोई भक्ति न रखे। हिटलर के भाषण से प्रोत्साहित होकर ही हेनलाइन ने यह घोषणा की थी। चेकोस्लोवाकियन सरकार ने इस पर कड़ी कार्रवाई करने का निश्चय किया। हेनलाइन की नाजी पार्टी को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया, और उसके अनेक अनुयायियों को गिरफ्तार किया गया। सरकार की इस कार्रवाई का अच्छा फल हुआ। नाजी पार्टी दब गई, और हेनलाइन ने अपनी यह राय प्रकट की, कि सुडटनलैण्ड के नाजियों को उग्र नीति का परित्याग कर समझौते की नीति का अनुसरण करना चाहिये, और चेको-स्लोवाकिया से पृथक होने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

हिटलर द्वारा सुडटनलैण्ड के नाजियों का समर्थन—पर हिटलर इस समय चुप नहीं बैठा था। जर्मनी में नाजी समाचार-पत्रों, सभाओं और रेडियो द्वारा चेकोस्लोवाकिया के खिलाफ जहर उगला जा रहा था। जर्मन लोग कहते थे, सुडटनलैण्ड की बहुसंख्या जर्मन है, वे जर्मनी से मिलना चाहते हैं, चेकोस्लोवाकियन सरकार उनकी राष्ट्रीय आकांक्षा का जबर्दस्ती दमन कर रही है, सुडटन जर्मनों पर घोर अत्याचार किये जा रहे हैं। जर्मनी के लिये यह असम्भव है, कि अपने राष्ट्र-बन्धुओं पर इस प्रकार के अत्याचार होते हुए देख सके। यूरोप में युद्ध के बादल तेजी से घिर रहे थे। वातावरण में एक बेचैनी सी पैदा हो गई थी। ऐसा प्रतीत होता था, कि हिटलर की सेनाएं शीघ्र ही चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर देंगी। फ्रांस और रूस की चेकोस्लोवाकिया के साथ सैनिक सन्धि विद्यमान है, इस सन्धि के अनुसार फ्रांस और रूस सैनिक कार्रवाई द्वारा उसकी सहायता करेंगे। यूरोप में युद्ध का ज्वालामुखी फिर एक बार आग उगलने लगेगा।

समझौते का प्रयत्न—इस स्थिति में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्रीयुत चेम्बरलेन ने यह उचित समझा, कि वे जर्मनी जाकर स्वयं हिटलर से बातचीत करें। यदि कोई समझौता हो सके, शान्तिमय उपायों द्वारा सुडटनलैण्ड का फैसला किया जा सके, तो अच्छा है। १५ सितम्बर, १९३८ को बरख्टेसगाडन नामक स्थान पर

हिटलर और चेम्बरलेन की भेंट हुई। हिटलर ने कहा—"जर्मनी केवल यह चाहता है, कि सुडटनलैण्ड के निवासियों को अपने भाग्य का निर्णय स्वयं करने का अवसर दिया जाय। यदि वे बहुमत से यही फैसला करें, कि उन्हें जर्मनी के साथ मिलना है, तो सुडटनलैण्ड को जर्मनी के साथ मिला दिया जाय।" साथ ही हिटलर ने यह भी कहा, कि सुडटन लोगों की समुचित और न्याय्य राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये जर्मनी सब प्रकार से उनकी सहायता करने को तैयार है। हिटलर के दृष्टिकोण को भली भांति समझकर चेम्बरलेन इङ्गलैण्ड वापस लौट आया। उसने अपनी राय कायम कर ली थी। उसका विचार था, कि सुडटनलैण्ड का जर्मनी से मिल जाना ही उचित है। जर्मन लोगों की इतनी बड़ी संख्या में सत्ता चेकोस्लोवाकिया के लिये सदा निर्बलता का निमित्त रहेगी। यदि इन जर्मन प्रदेशों को अलग कर दिया जाय, तो यह बात चेकोस्लोवाकिया के लिये भी हितकर होगी। फ्रेंच सरकार से भी इस बारे में बातचीत की गई। ब्रिटेन और फ्रांस ने मिल कर एक नई योजना तैयार की, जिसके अनुसार यह फैसला किया गया, कि (१) चेकोस्लोवाकिया के अन्तर्गत जिन प्रदेशों में जर्मनों की आबादी ५० फी सदी से अधिक हो, उन सबको जर्मनी को दे दिया जाय। (२) फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया और रूस और चेकोस्लोवाकिया के बीच में जो सैनिक सन्धियां विद्यमान हैं, उन्हें रद्द करके एक नया अन्तर्राष्ट्रीय समझौता किया जाय, और सब राज्य मिलकर यह गारण्टी दें, कि चेकोस्लोवाकिया की नई सीमाएँ अनुल्लंघनीय समझी जायंगी। ब्रिटेन इस गारण्टी में फ्रांस और रूस के साथ सम्मिलित होने को उद्यत था। यह योजना चेकोस्लोवाकिया की सरकार के सम्मुख पेश की गई। रात के दो बजे वहां के राष्ट्रपति डा० बेनस को सोते से जगाया गया। सुबह होने से पहले मन्त्रिमण्डल की बैठक बुलाई गई। चेकोस्लोवाकियन सरकार के सम्मुख अन्य उपाय ही क्या था? जिन मित्रों की सहायता का वह भरोसा कर सकती थी, वे ही उसे नई योजना को स्वीकार करने के लिये विवश कर रहे थे। उसने फ्रांस और इङ्गलैण्ड की योजना को स्वीकार कर लिया, और चेम्बरलेन बड़ी आशा के साथ एक बार फिर हिटलर से मिलने के लिये जर्मनी गया। गोडसबर्ग नामक स्थान पर दोनों की भेंट हुई। पर इस मुलाकात से चेम्बरलेन की सब आशाएँ धूल में मिल गई। हिटलर फ्रांस और ब्रिटेन की नई योजना को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था। उसका कहना था, कि जिन प्रदेशों में जर्मन लोगों की आबादी ५० फी सदी से अधिक है, केवल उनको ही जर्मनी को देने से काम नहीं चलेगा। ऐसा प्रदेश तो केवल सुटडनलैण्ड है। पर उससे भी

आगे जिन प्रदेशों में जर्मन लोग काफी संख्या में बसते हैं, वे सब जर्मनी को मिलने चाहियें। साथ ही, इन सब प्रदेशों में चेकोस्लोवाकिया ने जो किलाबन्दी कर रखी है, जो अस्त्र-शस्त्र व युद्ध-सामग्री विद्यमान है, जो कल-कारखाने व मशीनरी हैं, वह सब भी पूर्ण रूप से जर्मनी को प्राप्त होनी चाहियें। चेम्बरलेन ने हिटलर की मांग चेकोस्लोवाकियन सरकार तक पहुँचा दी। पर डा० बेनस और उसके साथियों का कहना था, कि यह मांग तो फ्रांस और ब्रिटेन की योजना से बहुत अधिक है। जर्मनी की सीमा पर चेकोस्लोवाकिया ने जबर्दस्त किलाबन्दी कर रखी थी। इसमें उसने करोड़ों रुपये खर्च किये थे, उसके सब अस्त्र-शस्त्र वहीं पर विद्यमान थे। चेकोस्लोवाकिया के सब बड़े कारखाने इन्हीं प्रदेशों में थे। स्कोडा का प्रसिद्ध कारखाना, जो बहुत बड़ी मात्रा में हथियार तैयार करता था, इसी प्रदेश में स्थित था। ये सब जर्मनी को सुपुर्द कर देने के बाद चेकोस्लोवाकिया के पास क्या बचता था, जिस पर वह आत्मरक्षा के लिये भरोसा कर सके। हिटलर की इस नई मांग को स्वीकार करने का मतलब यह था, कि जर्मन सेनाएं चेकोस्लोवाकिया में उस हद तक बढ़ आवें, कि आगे उन्हें रोकने के लिये चेक लोगों के पास कोई साधन न रहे। उन्होंने इसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया। चेक सेनाओं को युद्ध के लिये तैयार होने का हुक्म दे दिया गया। सारे यूरोप में सनसनी फैल गई। ऐसा प्रतीत होने लगा, कि अब युद्ध की आग भड़कने ही वाली है। ब्रिटेन में आत्मरक्षा की तैयारी शुरू हो गई। लण्डन के पार्कों में खाइयां खुदने लग गई, और लोग बड़े शौक से रेत भरने के थैले और जहरीली गैस से बचाव करने की नकाबें खरीदने लगे। इन चीजों की कीमतें बाजार में एकदम चार-पांच गुना बढ़ गईं।

म्यूनिच का समझौता—इस बीच में जर्मन लोग भी चुप नहीं बैठे थे। नाजी सैनिकों की टोलियां सुडटनलैण्ड में घुसनी शुरू हो गई थीं। ये जहां भी जाती थीं, यहूदियों को पकड़ती थीं, और अपने विरोधियों पर क्रूर से क्रूर अत्याचार करती थीं। बर्लिन की एक सभा में भाषण करते हुए हिटलर ने गरजकर कहा था—"चेकोस्लोवाकिया एक धोखा है, झूट है, इस सब धोखे की जड़ बेनस है। हजारों जर्मन वहां जेल में पड़े सड़ रहे हैं, उन पर जुल्म किये जा रहे हैं। बेनस झूठा है, दगाबाज है।" फ्रांस और ब्रिटेन समझ रहे थे, कि अब हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किये बिना नहीं रहेगा। फ्रांस को चेक लोगों की मदद के लिये लड़ाई में आना पड़ेगा, और ब्रिटेन भी युद्ध से अलग नहीं रह सकेगा। सेनाओं को तैयार रहने का आदेश दे दिया गया था। पर चेम्बरलेन को आशा थी, कि अब भी हिटलर

से समझौता हो सकता है। उसने मुसोलिनी से सम्पर्क कायम किया, और एक कान्फरेन्स की आयोजना की। २९ सितम्बर, १९३८ को चेम्बरलेन, हिटलर, मुसोलिनी और दिलादियें (फ्रांस का प्रधान मन्त्री) म्यूनिच में एकत्र हुए, और चेकोस्लोवाकिया की समस्या पर विचार करना प्रारम्भ हुआ। इस कान्फरेन्स में हिटलर की उन सब मांगों को पूर्ण रूप से स्वीकृत कर लिया गया, जिन्हें कि उसने गोडसबर्ग में चेम्बरलेन के सम्मुख प्रस्तुत किया था। चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधियों को कान्फरेन्स में सम्मिलित नहीं किया गया था। जब सब बातों पर फैसला हो गया, तो उन्हें बुलाया गया और फैसला सुना दिया गया। डा० बेनस की सरकार के लिये यह असम्भव था, कि अपने देश के लिये इतने अपमानजनक निर्णय को स्वीकार कर ले। विरोध की शक्ति उसमें नहीं थी, उसने त्यागपत्र दे दिया। जनरल सिरोवी के नेतृत्व में नई चेक सरकार का निर्माण हुआ। १ अक्टूबर, १९३८ को जर्मन सेनाएँ चेकोस्लोवाकिया में प्रविष्ट होनी शुरू हो गईं। इन सेनाओं का उद्देश्य यह था, कि उन सब प्रदेशों पर जल्दी से जल्दी कब्जा कर लें, जिन्हें म्यूनिच के फैसले के अनुसार जर्मनी को दिया गया था।

चेकोस्लोवाकिया का अंगभंग—हिटलर कहता था, अब विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण हो गया है। विविध देशों में बसनेवाले जर्मन लोग एक सूत्र में संगठित हो गये हैं, और वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी के साथ जो अन्याय हुआ था, उसका प्रतिशोध हो गया है। अब जर्मनी को यूरोप में किसी अन्य प्रदेश को प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं है। जर्मनी किसी ऐसे प्रदेश पर अपना कब्जा नहीं करना चाहता, जहां जर्मन-भिन्न लोगों का निवास हो। अपने एक भाषण में उसने कहा था—"मैंने श्री चेम्बरलेन को यह भरोसा दिया है, और इसे मैं यहां फिर दोहराता हूं, कि ज्यों ही यह (चेकोस्लोवाकिया की) समस्या हल हो जायगी, जर्मनी के सम्मुख यूरोप में किसी अन्य प्रदेश की समस्या शेष नहीं रहेगी। इसके बाद चेक लोगों के राज्य में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं रहेगी, इस बात की मैं गारण्टी देता हूँ। चेक लोगों से अब मेरा कोई विरोध नहीं रहेगा।"

अब चेकोस्लोवाकिया का राज्य घटकर बहुत छोटा रह गया था। सुडटन-लैण्ड और उसके साथ के प्रदेश जर्मनी के हाथ में आ गये थे। पूर्व में टेशन का प्रदेश पोलैण्ड ने ले लिया था। टेशन में पोल लोग काफी संख्या में बसते थे। पोलैण्ड का दावा था, कि इस पर उसका अधिकार होना चाहिये। चेकोस्लोवाकियन सरकार की यह हिम्मत नहीं थी, कि पोलैण्ड का विरोध कर सके। उसने सिर झुका दिया। टेशन में कोयले की बहुत सी खानें हैं। व्यवसाय का यह महत्त्वपूर्ण केन्द्र अब चेक

लोगों के हाथ से निकल गया। दक्षिण की ओर रुथेनिया के प्रदेश में दस लाख के लगभग मगयार लोग बसते थे। हंगरी का दावा था, कि यह सारा प्रदेश उसे मिलना चाहिये। चेकोस्लोवाकिया ने हंगरी के सम्मुख भी घुटने टेक दिये। रुथेनिया पर हंगरी ने कब्जा कर लिया। स्लोवाक लोग शुरू से यह चाहते थे, कि उनके प्रदेश को एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, चेकों के साथ रहना उन्हें पसन्द नहीं था। अब उनकी भी मांग स्वीकार कर ली गई, और स्लोवाकिया को चेकोस्लोवाकिया के अन्तर्गत एक पृथक् राज्य बना दिया गया। जर्मन नाजियों ने इसमें अपना प्रचार जारी रखा, और धीरे-धीरे इसे जर्मनी के प्रभाव में कर लिया।

चेकोस्लोवाकिया की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त—म्यूनिच में हिटलर की सब मांगें मंजूर कर ली गई थीं। पर यह फैसला नहीं किया गया था, कि जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया के बीच में नई सीमा कौन सी हो। यह काम एक कमीशन के सुपुर्द किया गया था, जिसमें फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, इटली और चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधि रखे गये थे। यह कमीशन अपना काम कर रहा था। पर जर्मनी को इसकी कोई परवाह नहीं थी। उसकी सेनाएँ चेकोस्लोवाकिया में निरन्तर आगे बढ़ती जाती थीं। उन्होंने बहुत से ऐसे प्रदेशों व नगरों पर भी कब्जा कर लिया था, जिनकी आबादी प्रधानतया चेक जाति की थी। पर हिटलर इतने से भी सन्तुष्ट नहीं था। मार्च, १९३९ में स्लोवाकिया के मन्त्रिमण्डल को केन्द्रीय चेकोस्लोवाकियन सरकार ने बर्खास्त कर दिया। कारण यह था, कि स्लोवाकिया का यह मन्त्रिमण्डल अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र राज्य कायम करने का उद्योग कर रहा था। स्लोवाकिया के पदच्युत प्रधान मन्त्री ने हिटलर से अपील की। जर्मनी को और चाहिये ही क्या था? तुरन्त स्लोवाकिया पर कब्जा कर लिया गया। चेकोस्लोवाकिया का राष्ट्रपति हिटलर से मिलने के लिये बर्लिन गया। वहां उसके सामने यह बात रखी गई, कि प्राग और अन्य नगरों में बसनेवाले जर्मनों की जान व माल सुरक्षित नहीं हैं। अतः सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिया का शासन जर्मनी के नियन्त्रण में कर लिया जाना आवश्यक है। इस बीच में जर्मन सेनाएँ प्राग की ओर बढ़नी शुरू हो गई थीं। राष्ट्रपति हचा विवश था। उसने हिटलर के सम्मुख घुटने टेक दिये, और सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिया पर जर्मनी का कब्जा कायम हो गया। लगभग बीस साल पूर्व जिस स्वतन्त्र चेकोस्लोवाकियन रिपब्लिक की स्थापना हुई थी, अब उसकी इतिश्री हो गई।

चेकोस्लोवाकिया का इस दुर्दशा के साथ अन्त बहुत खेदजनक था। महायुद्ध के समय में चेक लोगों ने अनुपम देशभक्ति का परिचय दिया था। जर्मनी और आस्ट्रिया के पराजय में उनका कर्तृत्व महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने अपने राज्य में लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुसार शासन करने का प्रयत्न किया। इसमें उन्हें सफलता भी हुई। पर उनके राज्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी, कि उसमें अनेक जातियों के लोग बसते थे। जर्मन राष्ट्रीयता के सम्मुख चेकों का यह राज्य नहीं टिक सका।

५. अल्बेनिया पर इटली का कब्जा

राष्ट्रसंघ की सर्वथा उपेक्षा कर इटली ने अबीसीनिया को अपने अधीन कर लिया था। पर मुसोलिनी को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। जब उसने देखा, कि जर्मनी आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा कर चुका है, और यूरोप के अन्य राज्य उसके सम्मुख सर्वथा असहाय हैं, तो उसकी भी हिम्मत बढ़ी। १९३९ के शुरू में ही इटली ने अल्बेनिया के बन्दरगाहों पर हमला शुरू कर दिया, और थोड़े से समय में सारे देश पर कब्जा कर लिया। अब एड्रियाटिक सागर के पूर्वी तट पर भी इटली का अधिकार हो गया था, और मुसोलिनी को प्राचीन रोमन साम्राज्य के विलुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने का अपना स्वप्न पूरा हुआ होता प्रतीत होता था।

महायुद्ध के बाद मेमल का बन्दरगाह (बाल्टिक समुद्रतट पर) लिथुएनिया को मिला था। यहां भी जर्मन लोग बड़ी संख्या में बसते थे। चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा करने के कुछ ही दिन पीछे जर्मनी ने इस पर भी अपना अधिकार कर लिया।

अब यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई नियम व मर्यादा बाकी नहीं रही थी। राष्ट्रसंघ बिलकुल निर्बल हो गया था। इस अन्तर्राष्ट्रीय 'मात्स्य न्याय' में शक्तिशाली राज्य निर्बल राज्यों को हड़पने के लिये उद्यत थे, और उनके मार्ग में बाधा डालने की शक्ति किसी में नहीं थी।

सतावनवां अध्याय

विश्व-संग्राम का श्रीगणेश

१. युद्ध की तैयारी

फैसिस्ट और नाजी शक्तियों के अभ्युदय के बाद यह स्पष्ट हो गया था, कि वर्साय की सन्धि पर आश्रित यूरोप की व्यवस्था कायम नहीं रह सकेगी। राष्ट्र-संघ सर्वथा बलहीन हो गया था, और शक्तिशाली राज्य उसके आदेशों की जरा भी परवाह किये बिना अपने साम्राज्य-विस्तार में लगे थे। इस दशा में यूरोप के विविध राज्यों के लिये यह अनिवार्य हो गया था, कि वे आत्मरक्षा के लिये अन्य उपायों का अवलम्बन करें। ये उपाय दो ही हो सकते थे। वे युद्ध की तैयारी करें, अस्त्र-शस्त्रों को बढ़ावें, सम्पूर्ण जनता को सैनिक शिक्षा दें, और सब प्रकार की युद्ध-सामग्री को अधिक से अधिक मात्रा में एकत्र करें। दूसरा उपाय यह था, कि विविध राज्य आपस में मिलकर गुट बनावें, ताकि उनमें से किसी पर हमला होने पर अन्य राज्य उसकी सहायता के लिये लड़ाई में शामिल होने के लिये विवश हों।

फ्रांस की मैगिनो लाइन—राष्ट्रसंघ युद्धों को रोकने में असमर्थ था, इसीलिये निःशस्त्रीकरण के लिये जो भी प्रयत्न हुए, इस उद्देश्य से जो अनेक सम्मेलन किये गये, वे पूर्णतया सफल नहीं हो सके। विविध राज्यों ने युद्ध की तैयारी के अपने प्रयत्नों को जारी रखा, और अस्त्र-शस्त्रों की वृद्धि के लिये राज्यों में होड़ चलती रही। गत महायुद्ध (१९१४-१८) में बेल्जियम और फ्रांस की सीमा को जर्मनी ने बड़ी सुगमता से पार कर लिया था, अतः भावी आक्रमणों से अपनी सीमा को सुरक्षित रखने के लिये इन देशों ने भारी किलाबन्दी की। फ्रांस ने अपनी उत्तरी सीमा पर करोड़ों रुपया खर्च करके किलों की एक शृंखला तैयार की, जो 'मैगिनो लाइन' कहाती है। यह लाइन स्विट्जरलैण्ड की सीमा पर बास्ल नामक नगर से शुरू होकर जर्मनी की सीमा के साथ-साथ इङ्गलिश चैनल के तट पर डनकर्क तक चली गई थी। इस सीमा पर जहां कहीं टीले व पहाड़ियां थीं, उनके साथ सैनिक इंजी-

नियरों ने बड़ी कुशलता के साथ अनेक प्रकार की किलाबन्दियां तैयार की थीं। खुले मैदानों में भी जमीन की सतह से १०० से १५० फुट तक नीचे विशाल किले बनाये गये थे। इनमें सैनिकों के निवास, भोजन आदि का समुचित प्रबन्ध था। बड़ी-बड़ी पलटनें जमीन के नीचे बने हुए इन किलों में रह सकती थीं। वहां आने-जाने के लिये सड़कें मौजूद थीं। सब जगह बिजली की रोशनी व शक्ति विद्यमान थी। बड़ी-बड़ी तोपें, अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री वहां भारी मात्रा में एकत्र की गई थी। घायल सैनिकों के इलाज के लिये जमीन के नीचे ही बड़े-बड़े अस्पताल बनाये गये थे। ऊपर से देखकर कोई यह नहीं कह सकता था, कि जमीन के नीचे इतने बड़े दुर्ग व छावनियां विद्यमान हैं। ऊपर से केवल कांटेदार तारों के ढेर व कहीं-कहीं टीले ही नजर पड़ते थे। यदि शत्रु आक्रमण करे, और ऊपर के प्रदेश पर कब्जा कर ले, तो भी जमीन के नीचे बसनेवाली ये सेनाएं उससे महीनों तक लड़ सकती थीं। वहां उनके लिये न केवल युद्ध-सामग्री अपितु भोजन-सामग्री भी इतनी अधिक मात्रा में एकत्र कर दी गई थी, कि वह महीनों तक खतम नहीं हो सकती थी। जमीन के नीचे के इन किलों को इस्पात, सीमेण्ट और कंक्रीट से इतना मजबूत बनाया गया था, कि तोपों व बम्बों से उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता था। १९१४-१८ के महायुद्ध में फ्रांस और जर्मनी में जो लड़ाई हुई थी, उसमें सेना खाइयों व खन्दकों में बैठकर लड़ाई लड़ती थीं। पर उसे अपर्याप्त समझकर संसार के सर्वोत्कृष्ट व सर्वाधिक कुशल सैनिक इंजीनियरों ने बहुत सोच-समझकर मैगिनो लाइन की यह किलाबन्दी तैयार की थी। बेल्जियम ने भी अपनी सीमा पर इसी तरह की किलाबन्दी बनाई थी। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद सेनाध्यक्षों ने अपने देश की रक्षा के लिये इस प्रकार की किलाबन्दियों को सर्वोत्तम साधन माना था। इसीलिये न केवल फ्रांस और बेल्जियम ने, अपितु फिनलैण्ड व चेकोस्लोवाकिया आदि अन्य देशों ने भी सम्भावित आक्रमणों से अपनी राष्ट्रीय सीमाओं की रक्षा के लिये इसी प्रकार की किलाबन्दियां की थीं।

जर्मनी की सीगफ्रीड लाइन—हिटलर ने जर्मनी में शक्ति प्राप्त करके मैगिनो लाइन के साथ-साथ प्रायः समानान्तर रूप से किलाबन्दियों की एक शृंखला तैयार कराई थी, जिसे सीगफ्रीड लाइन कहा जाता है। मैगिनो लाइन और सीगफ्रीड लाइन के बीच में तीन मील से दस मील तक का अन्तर था, और मध्यवर्ती प्रदेश सर्वथा गैर आबाद था। कोई भी मनुष्य इस प्रदेश में निवास करने का साहस नहीं कर सकता था। दोनों पक्षों ने अपने देशों की रक्षा के लिये हजारों एकड़ जमीन को कांटेदार तार के ढेरों से ढक दिया था, और बीच-बीच में बारूदी सुरंगों का जाल

सा बिछा दिया था, जिससे बचकर किसी टैंक या मोटर आदि का जा सकना कठिन था ।

हिटलर का युद्ध प्रयत्न---शक्ति प्राप्त करने के बाद हिटलर ने वर्साय की सन्धि को ठुकरा दिया था । वह जानता था, कि जर्मनी तब तक अपना उत्कर्ष नहीं कर सकता, जब तक कि वर्साय की सन्धि के सब अन्यायों का प्रतिशोध न हो जाय । उसकी सम्मति में इसका केवल एक उपाय था, और वह था युद्ध । इसीलिये उसने अपनी सब शक्ति को युद्ध की तैयारी में लगा दिया था । उसका विचार था, कि लड़ाई में विजय के लिये यह आवश्यक है, कि आर्थिक दृष्टि से जर्मनी को पूर्णतया आत्मनिर्भर बना दिया जाय । उसने खेती की उन्नति पर विशेष ध्यान दिया, ताकि भोजन-सम्बन्धी अपनी आवश्यकताओं को जर्मनी स्वयं उत्पन्न कर सके, बाहर से अनाज बिलकुल न मँगाना पड़े । जो चीजें जर्मनी में नहीं पैदा होतीं, विज्ञान की सहायता से उनके स्थानापन्न तैयार किये गये । रबर, कपास, पेट्रोल आदि बहुत सी वस्तुएँ जर्मनी में नहीं होतीं । जर्मनी के वैज्ञानिक इस काम में जुट गये, कि ऐसी वस्तुएँ तैयार करें, जो रबर आदि की जगह प्रयुक्त हो सकें । उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता हुई, और हिटलर ने जर्मनी को इस स्थिति में पहुँचा दिया, कि विश्व-संग्राम के समय में विदेशी व्यापार के रुक जाने से उसे कोई विशेष नुकसान नहीं हुआ । युद्ध-सामग्री को तैयार करने के लिये हिटलर ने विशेष उद्योग किया । वह कहा करता था—जर्मनी को मक्खन या रोटी की अपेक्षा अस्त्र-शस्त्रों की अधिक आवश्यकता है । इसीलिये उसने जर्मनी की सारी शक्ति अस्त्र-शस्त्रों को तैयार कराने में लगा दी । परिणाम यह हुआ,कि विश्व-संग्राम के शुरू होने पर जर्मनी के पास दस हजार से ऊपर जंगी हवाई जहाज और अनगिनत टैंक विद्यमान थे । ब्रिटेन, फ्रांस और उनके साथियों के पास सबके मिलाकर भी इतने हवाई जहाज या टैंक नहीं थे । सड़कों और यातायात के साधनों पर भी हिटलर ने विशेष ध्यान किया, ताकि लड़ाई के समय सेनाओं व युद्ध-सामग्री के आने-जाने में सुविधा रहे । जर्मनी की ये सड़कें असाधारण रूप से चौड़ी व उत्कृष्ट थीं, और यूरोप का अन्य कोई देश इस विषय में उसका मुकाबला नहीं कर सकता था । हिटलर न केवल बड़ी संख्या में सैनिकों की भरती में लगा था, अपितु सारी जनता को सैनिक शिक्षा देना उसने अपना ध्येय बना लिया था । छोटे-छोटे जर्मन बालक भी सैनिक कवायद करते थे, और लड़ाई में हाथ बटाने के लिये अपने को तैयार कर रहे थे ।

विविध राज्यों की युद्ध के लिए तत्परता---वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी को सर्वथा कुचल कर भी फ्रांस ने कभी यह नहीं समझा था, कि आत्मरक्षा के लिये

अस्त्र-शस्त्रों व सैनिक शक्ति की वह उपेक्षा कर सकता है। इसीलिये वह अस्त्र-शस्त्रों की तैयारी में व्यस्त रहा। १९३१ में यह स्थिति थी, कि वायुसेना में वह संसार में सर्वप्रथम स्थान रखता था। अमेरिका, जापान, इटली और ब्रिटेन इस क्षेत्र में उससे पीछे थे। वायुशक्ति की दृष्टि से ब्रिटेन का स्थान पांचवां था। न केवल वायुशक्ति में, अपितु सैनिक तैयारी के अन्य क्षेत्रों में भी ब्रिटेन बहुत पीछे था। १९२६-२७ में ब्रिटेन ने सैन्यशक्ति पर १७५ करोड़ के लगभग रुपया खर्च किया था। आगामी वर्षों में इसे बढ़ाने के स्थान पर उसने इसमें कमी कर दी थी। १९३०-३१ में सैन्यशक्ति पर ब्रिटेन का वार्षिक खर्च १७५ करोड़ से घटकर १५० करोड़ के लगभग रह गया था। नाजी शासन के स्थापित हो जाने के बाद सैनिक तैयारी में जर्मनी सबसे आगे बढ़ गया। १९३५ में यह स्थिति थी, कि जर्मनी १५०० हवाई जहाज प्रति वर्ष नये तैयार करने लगा था। इस साल में ब्रिटेन ने केवल १०० नये हवाई जहाज तैयार किये थे। पर १९३६ में ब्रिटेन ने इस कमी को पूरा करने के लिये विशेष रूप से ध्यान देना शुरू किया। सैनिक खर्च को बढ़ाया गया, और जब यह अनुभव किया गया, कि सालाना बजट में टैक्सों की आमदनी से इतनी गुंजाइश नहीं है, कि सैन्यशक्ति पर भरपूर खर्च किया जा सके, तो राष्ट्रीय ऋण द्वारा रुपया प्राप्त करने की कोशिश की गई। सेना पर किये जाने वाले इस खर्च की मात्रा निरन्तर बढ़ती गई। १९३७-३८ में ब्रिटेन ने युद्ध की तैयारी पर ३२० करोड़ के लगभग रुपया खर्च किया। १९३८-३९ में यह रकम बढ़ाकर ६०० करोड़ कर दी गई। १९३९-४० में इसमें और भी वृद्धि हुई, और ब्रिटेन का सैनिक व्यय ७५० करोड़ रुपये तक पहुँच गया।

ब्रिटेन और जर्मनी के समान यूरोप के अन्य देश भी इस समय सैन्यवृद्धि और युद्ध की तैयारी में जी-जान से लग गये थे। उन्हें स्पष्ट नजर आने लगा था, कि युद्ध अवश्यम्भावी है, और उसके लिये तैयार रहने में ही उनका हित है।

२. नई गुटबन्दियां

गुटबन्दियों का प्रारम्भ—१९१९ में पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा यूरोप का जिस प्रकार पुनःनिर्माण किया गया था, उससे जर्मनी, इटली और जापान विशेष रूप से असन्तुष्ट थे। उन्होंने वर्साय की सन्धि की उपेक्षा कर किस प्रकार अन्य प्रदेशों को अधिगत करना व अस्त्र-शस्त्र में वृद्धि करना शुरू कर दिया था, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से यूरोप के विविध राज्यों में तहलका सा मच गया था। पश्चिम में फ्रांस और पूर्व में रूस जर्मनी की

शक्ति से विशेषतया चिन्तित थे। दोनों का हित इस बात में था, कि जर्मनी के विस्तार का मिलकर मुकाबला करें। इसीलिये फ्रांस ने यह कोशिश की, कि रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य हो जाय। १९३४ में रूस राष्ट्रसंघ में शामिल हो गया। पर इससे जर्मनी के खिलाफ अपनी रक्षा करने का सवाल हल नहीं हुआ। फ्रांस और रूस ने यह भी कोशिश की, कि वे मिलकर आपस में एक समझौता कर लें, जिसके अनुसार उनमें से किसी पर यदि जर्मनी हमला करे, तो दूसरा उसका साथ दे। वे चाहते थे, कि ब्रिटेन भी इस समझौते में शामिल हो जाय। ब्रिटेन को राजी करने के लिये उन्होंने समझौते को इस रूप में पेश किया, कि फ्रांस, रूस, ब्रिटेन और जर्मनी मिलकर यह समझौता करें, कि यदि उनमें से किसी पर कोई अन्य राज्य हमला करे, तो वे मिलकर उसका मुकाबला करेंगे। उन दिनों ब्रिटेन जर्मनी के प्रति मित्रता का भाव रखने के लिये बहुत उत्सुक था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का विचार था, कि यूरोप में राजशक्तियों का समुचित समुत्तुलन कायम रखने के लिये जर्मनी का शक्तिशाली होना आवश्यक है। समझौते का जो रूप रखा गया था, जर्मनी उससे अनेक अंशों में असहमत था। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटेन और जर्मनी उसमें शामिल नहीं हुए। मई, १९३५ में फ्रांस और रूस ने मिलकर इस समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। इन दोनों शक्तिशाली राज्यों का गुट बन गया, और बढ़ती हुई नाजी शक्ति का मुकाबला करने के लिये ये दोनों राज्य परस्पर संगठित हो गये। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया की पहले ही फ्रांस से पारस्परिक सहायता की सन्धि थी। अब फ्रांस के इस गुट में रूस भी शामिल हो गया।

फ्रांस और जर्मनी के गुट—१९३६ तक जर्मनी, जापान और इटली में भी परस्पर एक दूसरे की सहायता करने के लिये समझौता हो गया। इस रोम-बर्लिन और बर्लिन-टोकियो गुट की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इस समय संसार के प्रमुख राज्य दो गुटों में बंट गये थे। एक गुट का नेता जर्मनी था, और दूसरे का फ्रांस। इन गुटों का आधार दो बातें थीं। एक तो विचारों व आदर्शों की समानता, और दूसरी हितों की एकता। इटली, जर्मनी और जापान फैसिज्म के अनुयायी थे। उनमें एक ग्रुप व एक पार्टी का प्रभुत्व था, वे अपने साम्राज्यों के विस्तार के लिये उत्सुक थे। उनको वर्साय की सन्धि से समान रूप से शिकायत थी, और उसका उल्लंघन करके अपनी शक्ति को बढ़ाने में उनका एक समान हित था। इसके विपरीत फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि राज्यों को पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा किये गये निर्णयों से बहुत लाभ पहुंचा था। उन निर्णयों को कायम रखने में

उन सबका फायदा था। साथ ही, वे सब लोकतन्त्र शासन के पक्षपाती थे। रूस में कम्युनिस्ट शासन होने के कारण उसकी सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था लोकतन्त्र राज्यों से भिन्न थी। पर उसका हित इसी बात में था, कि जर्मनी, इटली व जापान का उत्कर्ष न होने पावे। इसीलिये उसने फैसिस्ट शक्तियों के खिलाफ फ्रांस व उसके साथियों के पक्ष में होना स्वीकार किया। १९३६ के अन्त तक ब्रिटेन और अमेरिका इन गुटों में शामिल नहीं हुए थे। पर ब्रिटेन के लिये देर तक यूरोप की राजनीति के दांव-पेंचों से अलग रहना सम्भव नहीं रहा। १९३६-३७ में यूरोप में युद्ध के बादल घिरने शुरू हो गये थे। स्पेन में फ्रांको के उत्थान के कारण सम्पूर्ण यूरोप में सनसनी फैल गई थी। फ्रेंच लोगों की आकांक्षा थी, कि स्पेन के गृह-कलह में फ्रांको के विरुद्ध वहां की रिपब्लिकन सरकार की सहायता करें। जर्मनी और इटली खुले तौर पर फ्रांको की मदद कर रहे थे। पर ब्रिटेन यही उचित समझता था, कि इस झगड़े में तटस्थता की नीति का अनुसरण किया जाय। फ्रांस के प्रधान मन्त्री श्री ब्लम ने इस मामले में ब्रिटेन का अनुसरण करना उचित समझा। १९३७ और १९३८ में ब्रिटेन की यही कोशिश रही, कि यूरोप के किसी गुट में शामिल न हुआ जाय। पर जर्मनी और इटली की नीति जो रूप धारण करती जाती थी, उससे ब्रिटेन का रुख फ्रांस की तरफ होना स्वाभाविक था। अबीसीनिया के विजय के बाद इटली की यह आकांक्षा थी, कि पूर्वी भूमध्यसागर पर उसका प्रभुत्व हो जाय और स्वेज की नहर के इन्तजाम में भी उसका हाथ रहे। ब्रिटेन यह सहन नहीं कर सकता था। भूमध्यसागर व स्वेज की नहर पर किसी अन्य राज्य का कब्जा वह किसी भी दशा में स्वीकार नहीं कर सकता था। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटेन का रुख इटली के खिलाफ हो गया। इसी बीच में जर्मनी ने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया का विजय किया। गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद यूरोप में जो व्यवस्था कायम हुई थी, उसके अनुसार फ्रांस और ब्रिटेन का कर्तव्य था, कि जर्मनी के चेकोस्लोवाकिया का विजय करने में बाधा उपस्थित करें। पर ब्रिटेन की नीति यही थी, कि मध्य यूरोप के झगड़ों में उसे नहीं पड़ना चाहिये। श्री चेम्बरलेन ने यही यत्न किया, कि फ्रांस भी इस मामले में हस्तक्षेप न करे। परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी अपना विस्तार करता गया और किसी यूरोपियन राज्य ने उसके मार्ग में बाधा नहीं डाली।

ब्रिटेन का रुख—पर ब्रिटेन के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह देर तक यूरोप के झगड़ों में तटस्थता की नीति पर स्थिर रह सके। आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया का अन्त करके भी हिटलर की साम्राज्य-पिपासा शान्त नहीं हुई थी।

उसने शीघ्र ही लिथुएनिया और पोलैण्ड की तरफ कदम बढ़ाया। अब स्थिति ऐसी हो गई थी, कि ब्रिटेन को अपनी तटस्थता की नीति का परित्याग कर जर्मनी के खिलाफ फ्रांस के पक्ष में शामिल होने के लिये विवश होना पड़ा।

चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा करने के कुछ ही दिन बाद हिटलर ने लिथुएनिया को यह अल्टिमेटम दिया, कि मेमल के बन्दरगाह और उसके समीपवर्ती प्रदेश को जर्मनी के सुपुर्द कर दे। २१ मई, १९३९ को इस प्रदेश पर जर्मनी का अधिकार हो गया। बाल्टिक सागर के तट पर विद्यमान इस बन्दरगाह की किलाबन्दी शुरू कर दी गई, और जर्मनी ने वहां अपना सैनिक कब्जा कायम कर लिया। मेमल के बाद अब पोलैण्ड की बारी थी। हिटलर की तरफ से पोलैण्ड की सरकार के सम्मुख यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया, कि डान्सिग का बन्दरगाह जर्मनी को दे दिया जाय, और पोलैण्ड के पास समुद्रतट तक पहुँचने के लिये जो गलियारा है, और जिसके कारण जर्मनी दो टुकड़ों में विभक्त हो गया है, उसके बीच में से एक प्रदेश जर्मनी को दे दिया जाय, ताकि जर्मनी के दोनों खण्ड आपस में सम्बद्ध हो जावें। पोल सरकार ने इन प्रस्तावों को मानने से इनकार कर दिया।

अब ब्रिटेन को इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा था, कि हिटलर की जबान की कोई कीमत नहीं है। आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा करके ही उसकी भूख शान्त नहीं हो गई है। शीघ्र ही पोलैण्ड की भी वही गति होगी, जो कुछ दिन पहले चेकोस्लोवाकिया की हुई थी। अब ब्रिटिश सरकार ने दुविधा का परित्याग कर स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की, कि यदि कोई ऐसी कार्रवाई की गई, जिससे पोलैण्ड की स्वाधीनता और स्वतन्त्र सत्ता खतरे में पड़ती हो, तो ब्रिटेन अपनी सब शक्ति पोलैण्ड की सहायता में लगा देगा। यह घोषणा ३१ मार्च, १९३९ को की गई थी। फ्रांस पहले ही पोलैण्ड की सहायता के लिये वचनबद्ध था। जर्मनी के अनुकरण में इटली ईजियन सागर को पार करके अपनी शक्ति का विस्तार करने में लगा था। अल्बेनिया पर उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। अब उसकी इच्छा यह थी, कि और आगे बढ़कर रूमानिया और ग्रीस को भी अपने कब्जे में किया जाय। १३ एप्रिल, १९३९ को ब्रिटेन ने रूमानिया और ग्रीस को भी यह गारण्टी दी, कि यदि कोई देश उनकी स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट करने का प्रयत्न करेगा, तो ब्रिटिश सेना उसका मुकाबला करेगी। अब यह स्पष्ट था, कि जर्मनी या इटली के किसी भी सैनिक कार्रवाई के शुरू करने पर ब्रिटेन लड़ाई में शामिल होने से बच नहीं सकेगा। फ्रांस भी इस गारण्टी में ब्रिटेन के साथ था।

रूस का रुख—पर प्रश्न यह है, कि ब्रिटेन और फ्रांस पोलैण्ड व रूमानिया की

सहायता किस प्रकार कर सकते थे ? भौगोलिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं था, कि स्थल व जल-सेनाओं द्वारा इन राज्यों को सहायता पहुँचाई जा सके। ग्रीस की सहायता के लिये जलमार्ग द्वारा सेनाएँ अवश्य भेजी जा सकती थीं, पर पोलैण्ड व रूमानिया की रक्षा के लिये वायुमार्ग के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। हां, यदि रूस भी इस गारण्टी में ब्रिटेन व फ्रांस से साथ सम्मिलित होता, तो उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी, कि उसकी सेनाएँ तुरन्त इन राज्यों की रक्षा के लिये पहुँच सकती थीं। फ्रांस और रूस में घनिष्ठ मित्रता थी। दोनों को नाजी जर्मनी का समान रूप से भय था। १९३५ में उनमें यह सन्धि भी हो चुकी थी, कि किसी अन्य राज्य द्वारा आक्रमण किये जाने की दशा में वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। अतः फ्रांस की यह कोशिश थी, कि पोलैण्ड की रक्षा करने की गारण्टी में रूस भी शामिल हो जाय। ब्रिटेन भी यही चाहता था। १५ एप्रिल, १९३९ को ब्रिटिश सरकार ने रूस से यह प्रश्न किया, कि क्या वह पोलैण्ड और रूमानिया की रक्षा की गारण्टी में शामिल होने को तैयार है ? रूस ने यह जवाब दिया, कि इस प्रकार की गारण्टी में उसके सम्मिलित होने के दो परिणाम होंगे। पहला यह, कि पोलैण्ड और रूमानिया की रक्षा का सब भार उसी के ऊपर आ जायगा। दूसरा यह, कि केवल दो राज्यों की रक्षा की गारण्टी का मतलब यह समझा जायगा, कि यूरोप के कतिपय राज्यों ने मिलकर गुटबन्दी कर ली है, और इस प्रकार की गुटबन्दी से यूरोप की राजनीतिक स्थिति अधिक जटिल हो जायगी। अतः उत्तम यह होगा, कि फ्रांस, ब्रिटेन और रूस मिलकर एक ऐसा समझौता करें, जिससे वे न केवल पोलैण्ड और रूमानिया की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लें, अपितु अन्य छोटे राज्यों को भी इस गारण्टी में शामिल करें। रूस विशेष रूप से इस बात के लिये उत्सुक था, कि लिथुएनिया, लैटविया और एस्थोनिया की रक्षा का भार भी तीनों देश अपने ऊपर लें, और साथ ही काला सागर के तटवर्ती जो अनेक छोटे राज्य हैं, उन सबकी रक्षा की भी उत्तरदायिता ली जाय। पर ब्रिटेन को रूस का यह प्रस्ताव पसन्द नहीं था। उसका खयाल था, कि रूस की इच्छा बाल्टिक और काला सागर के तटवर्ती राज्यों को अपने प्रभाव में ले आने की है, और इसी-लिये उसने यह प्रस्ताव पेश किया है।

रूस और जर्मनी की सन्धि---इसी बीच में जर्मनी की कूटनीति भी अपना काम कर रही थी। हिटलर ने बाल्टिक सागर के तटवर्ती चारों राज्यों—लिथुएनिया, लैटविया, एस्थोनिया और फिनलैण्ड को यह विश्वास दिलाया, कि जर्मनी का इरादा उनकी स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट करने का नहीं है। वह उनके साथ ऐसा सम-

झौता करने को तैयार है, जिससे जर्मनी उन्हें इस बात का पूरा भरोसा दिला देगा, कि उन पर कोई आक्रमण नहीं किया जायगा। अगस्त, १९३९ में जर्मनी का कुशल विदेश-मन्त्री रिबनट्राप रूस गया, और वहां जाकर उसने यह प्रयत्न किया, कि सोवियट यूनियन के साथ भी इसी प्रकार का समझौता कर लिया जाय। अब तक रूस को यह विश्वास हो चुका था, कि ब्रिटेन के साथ उसकी कोई सन्धि सुगमता से नहीं हो सकती। ब्रिटेन रूस की प्रत्येक बात को सन्देह की दृष्टि से देखता था, और ब्रिटिश जनता के हृदय में यह बात बैठी हुई थी, कि सोवियट यूनियन की कम्युनिस्ट सरकार यूरोप व संसार की शान्ति व व्यवस्था के लिये बाधक है। विशेषतया, ब्रिटेन की कन्जर्वेटिव पार्टी के नेता रूस को अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। चेम्बरलेन और उनके साथियों का अब तक भी यह विचार था, कि हिटलर जर्मनी में जो कुछ कर रहा है, उसे सर्वथा न्याय-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। नाजी लोगों को अपने देश की राष्ट्रीय उन्नति का पूरा अधिकार है, और हिटलर के नेतृत्व में जो शक्तिशाली जर्मनी विकसित हो रहा है, वह न केवल यूरोप के शक्तिसंतुलन में सहायक होगा, अपितु रूस के कम्युनिस्ट खतरे से भी पश्चिमी दुनिया का बचाव कर सकेगा। अतः ब्रिटिश राजनीतिज्ञ रूस के साथ समझौता करने में टालमटोल करते रहे। जर्मनी ने इस स्थिति से फायदा उठाया, और २३ अगस्त, १९३९ को रूस और जर्मनी में सन्धि हो गई। इस सन्धि द्वारा दोनों देशों ने यह वायदा किया, कि वे एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे। रूस के साथ इस सन्धि को कर लेने के बाद जर्मनी को यह भरोसा हो गया था, कि यदि उसने पोलैण्ड पर आक्रमण किया, तो उसके मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकेगी। वह अपनी पूर्वी सीमा की तरफ से सर्वथा निश्चिन्त हो गया था। ब्रिटेन जर्मनी के खिलाफ पोलैण्ड की सहायता करने के लिये तो उद्यत था, पर रूस के साथ कोई समझौता करते हुए उसे उत्साह नहीं होता था। वह जर्मनी की अपेक्षा रूस को अपने लिये अधिक खतरनाक समझता था। ब्रिटेन की इसी दुविधा-पूर्ण नीति का यह परिणाम हुआ, कि जर्मनी और रूस ने परस्पर मिलकर अनाक्रमण की सन्धि कर ली।

रूस और जर्मनी में सन्धि हो जाने पर ब्रिटेन ने एक बार फिर यह कोशिश की, कि पोलैण्ड के प्रश्न को हल करने के लिये शान्तिमय उपायों का अवलम्बन किया जाय। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन ने हिटलर को पत्र लिखा, कि पोलैण्ड का कोई ऐसा सवाल नहीं है, जिसे परस्पर बातचीत करके हल न किया जा सके। चेम्बरलेन के बहुत जोर देने पर २८ अगस्त, १९३९ को हिटलर इस

बात के लिये तैयार हो गया, कि पोलैण्ड के प्रतिनिधियों से बातचीत करे, और सब विवादग्रस्त मामलों को विचार-विनिमय द्वारा निबटाने का प्रयत्न करे। पर उसने यह शर्त साथ लगा दी, कि पोल सरकार के प्रतिनिधियों को ३० अगस्त तक बर्लिन पहुँच जाना चाहिये। पर यह सम्भव नहीं था, कि इतनी जल्दी पोल प्रतिनिधि पूर्ण अधिकारों को लेकर बर्लिन आ सकते। वस्तुतः हिटलर पोलैण्ड के सम्बन्ध में उसी नीति का अनुसरण करना चाहता था, जो उसने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया के सम्बन्ध में बरती थी। शान्तिमय उपायों से पोलैण्ड के सवाल को हल कर सकना सम्भव नहीं था। यह स्पष्ट था, कि जर्मनी पोलैण्ड पर आक्रमण करेगा। इस स्थिति में ब्रिटेन और फ्रांस उसकी सहायता के लिये वचनबद्ध थे। रूस के प्रति ब्रिटेन में जो सन्देह व विरोध की भावना थी, उसके कारण विशाल सोवियट शक्ति जर्मनी के विस्तार के विरुद्ध ब्रिटेन और फ्रांस के साथ शामिल नहीं हो सकी थी। जर्मनी की कूटनीति ब्रिटेन पर विजय पा गई थी।

३. युद्ध का श्रीगणेश

हिटलर ने पोलैण्ड से जो मांगें की थीं, पोल सरकार ने उन्हें स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। हिटलर का कहना था, कि डान्सिग राष्ट्रीयता और भूगोल की दृष्टि से जर्मनी का अंग है। वहां के बहुसंख्यक निवासी जर्मन हैं, और वह चिरकाल से जर्मनी के अन्तर्गत रहा है। उसे जर्मनी से पृथक् रखना सर्वथा अनुचित और न्याय-विरुद्ध है। साथ ही, डान्सिग तक पहुंचने के लिये जर्मनी के बीच में से एक गलियारा पोलैण्ड को दे देना किसी भी प्रकार न्याय्य नहीं समझा जा सकता। गलियारे का यह प्रदेश जर्मनी का अंग है, और उसे पोलैण्ड को दे देने से जर्मनी दो टुकड़ों में विभक्त हो गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने के लिये सुविधा मिलनी चाहियें। पर यह सुविधा देने के लिये जर्मनी का अंगभंग कर देना किसी भी प्रकार उचित नहीं माना जा सकता। निःसन्देह, हिटलर की युक्ति में बल था। वर्साय की सन्धि द्वारा की गई यह व्यवस्था उचित नहीं थी, और इसका प्रतिशोध होना आवश्यक था। पर अच्छा होता, कि हिटलर इसके लिये बातचीत व शान्तिमय उपायों का अवलम्बन करता। पर पोलैण्ड को अपनी शक्ति पर भरोसा था। उसे यह भी मालूम था, कि फ्रांस और ब्रिटेन उसकी पीठ पर हैं। हिटलर भी शान्तिमय उपायों की अपेक्षा बल-प्रयोग को अधिक महत्त्व देता था। उसे विश्वास था, कि जिस प्रकार आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया शक्ति द्वारा जीत लिये गये हैं, और ब्रिटेन व फ्रांस उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं

डाल सके, वैसे ही अब वह पोलैण्ड को भी घुटने टेक देने के लिये विवश कर सकेगा। उसने पोलैण्ड के प्रति भी उग्र नीति का अवलम्बन किया। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट, रोम के पोप व बेल्जियम के राजा ने हिटलर से अपील की, कि वह युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों से पोलैण्ड की समस्या को हल करे। पर हिटलर ने उनकी एक न सुनी। बर्लिन में स्थित पोल राजदूत ने ३० अगस्त, १९३९ को यह कोशिश की, कि वारसा में पोल सरकार के साथ टेलीफोन पर बातचीत करे। पर टेलीफोन की तार काट दी गई थी। हिटलर ने यह निश्चय कर लिया था, कि पोलैण्ड के साथ शक्ति का प्रयोग किया जाय। १ सितम्बर, १९३९ को जर्मन सेनाओं ने प्रातःकाल ५॥ बजे पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। यह विश्व-संग्राम का श्रीगणेश था।

४. युद्ध के कारण

१९१८ में यूरोप में महायुद्ध की समाप्ति हुई थी। उसके केवल २१ साल बाद १९३९ में युद्ध की अग्नि ने फिर सारे यूरोप को व्याप्त कर लिया। १९३९-४५ का यह युद्ध केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा। धीरे-धीरे इसने विश्वव्यापी संग्राम का रूप धारण कर लिया। इस युद्ध के कारणों पर संक्षेप से प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है।

(१) विश्व-संग्राम का आधारभूत कारण इतिहास की पुरानी और नई प्रवृत्तियों का शाश्वत संघर्ष था। १९१४-१८ के महायुद्ध ने यूरोप से एकतन्त्र शासन और साम्राज्यवाद का अन्त कर लोकतन्त्र शासन और राष्ट्रीयता के आधार पर निर्मित राज्यों की स्थापना कर दी थी। पर मानवजाति किसी नई व्यवस्था को सुगमता से स्वीकार नहीं कर लेती। फ्रांस में राज्यक्रान्ति द्वारा लोकतन्त्र शासन कायम हुआ था, पर उसके खिलाफ कई बार प्रतिक्रिया हुई। पहले नैपोलियन के रूप में, फिर वीएना की कांग्रेस द्वारा और फिर नैपोलियन तृतीय के राजसिंहासनारूढ़ होने से फ्रांस में लोकतन्त्र शासनों का अन्त हुआ। लगभग एक सदी के निरन्तर संघर्ष के बाद फ्रांस में स्थिर रूप से लोकतन्त्र शासन कायम हो सका। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली में महायुद्ध द्वारा एकतन्त्र शासनों का अन्त होकर लोकतन्त्र की स्थापना की गई थी। पर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। यह प्रतिक्रिया नाजीज्म और फैसिज्म के रूप में प्रगट हुई। एक बार फिर इन देशों में एक व्यक्ति या ग्रुप का शासन कायम हुआ। इतिहास की प्रगतिशील प्रवृत्तियां कुछ समय के लिये दब गईं। पर ये सदा के लिये दबी नहीं रह सकती थीं।

विश्व-संग्राम ने इन पुरानी प्रवृत्तियों का अन्त कर इटली, जापान और जर्मनी में एक व्यक्ति या एक ग्रुप के शासन को समाप्त किया और लोकतन्त्रवाद के लिये मार्ग को तैयार कर दिया।

(२) विश्व-संग्राम का दूसरा कारण साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति थी। ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के विशाल साम्राज्यों के मुकाबले में जर्मनी, जापान और इटली अपने को बहुत हीन अनुभव करते थे। ये राज्य विज्ञान, व्यवसाय और सैन्यशक्ति की दृष्टि से ब्रिटेन व फ्रांस की तुलना में कम नहीं थे। पर इनके पास साम्राज्यों का अभाव था। ये अनुभव करते थे, कि हमें भी अपने तैयार माल के लिये बाजार चाहिये, अपनी बढ़ती हुई आबादी के बसने के लिये जगह चाहिये, और ब्रिटेन के समान संसार में हमारा भी प्रभुत्व होना चाहिये। कुछ देशों के पास तो साम्राज्य हों और अन्यों के पास न हों, यह बात स्वाभाविक व उचित नहीं थी। विश्व-संग्राम ने साम्राज्यवाद का अन्त किया। यद्यपि जर्मनी और उसके साथी युद्ध में परास्त हुए, पर इस संग्राम ने संसार में वह शक्ति उत्पन्न कर दी, जिसके कारण साम्राज्यों का टिक सकना सम्भव नहीं रहा।

(३) वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी के साथ अन्याय हुआ था। पेरिस की शान्ति-परिषद् द्वारा यूरोप की जो नई व्यवस्था कायम हुई थी, उसमें १९१४-१८ के परास्त देशों के साथ बहुत कुछ अन्याय किया गया था। इटली और जापान भी उससे असन्तुष्ट थे। वर्साय की इन भूलों का प्रतिशोध शान्तिमय उपायों से नहीं हो सका। उसके लिये युद्ध का आश्रय लेना आवश्यक हो गया।

(४) विश्व-संग्राम का तात्कालिक कारण जर्मनी का पोलैण्ड पर आक्रमण था। पर यदि यह आक्रमण न भी होता, तो भी संसार में लोकतन्त्रवाद और अधिनायकवाद (डिक्टेटरशिप) का साथ-साथ रह सकना सम्भव न होता। किसी न किसी प्रश्न पर उनमें लड़ाई छिड़ती ही। वस्तुतः, विश्व-संग्राम में दो प्रवृत्तियों व दो आदर्शों के बीच में संघर्ष चल रहा था। एक प्रवृत्ति वह थी, जिसे फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने पैदा किया था। दूसरी प्रवृत्ति उसकी प्रतिक्रिया के रूप में थी, जिसके प्रतिनिधि हिटलर और मुसोलिनी थे।

अठावनवां अध्याय

विश्व-संग्राम का इतिवृत्त

१. पोलैण्ड का अन्त

एक सितम्बर, १९३९ को प्रातःकाल विश्व-संग्राम का श्रीगणेश हुआ। जर्मनी के बीच में से, डान्सिग के बन्दरगाह तक पहुँचने के लिये पोलैण्ड को जो गलियारा दिया गया था, उस पर उत्तर और दक्षिण, दोनों ओर से आक्रमण किया गया। वारसा व अन्य पोल नगरों पर हवाई जहाजों द्वारा गोलाबारी की गई। हवाई जहाज के अड्डों, रेलवे स्टेशनों व प्रमुख कारखानों पर वायुमार्ग से हमला किया गया। डान्सिग के बन्दरगाह पर समुद्र द्वारा आक्रमण हुआ। जर्मनी की जल, स्थल व वायुसेना एक साथ मिलकर पोलैण्ड को कुचल डालने के लिये आगे बढ़ने लगी। पोलैण्ड के लिये यह असम्भव था, कि जर्मनी की शक्तिशाली सेनाओं का मुकाबला कर सकता। यद्यपि उसके सैनिकों की संख्या दस लाख से ऊपर थी, पर ये नये वैज्ञानिक साधनों व उत्कृष्ट अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित नहीं थे। पोलैण्ड की सेना जर्मनी के सम्मुख नहीं टिक सकी। चार दिन की लड़ाई के बाद, ५ सितम्बर को सम्पूर्ण साइलीसिया पर जर्मनी का कब्जा हो गया। दो सप्ताह में जर्मन सेनाएँ वारसा तक पहुँच गईं।

फ्रांस और ब्रिटेन ने पोलैण्ड को यह आश्वासन दिया हुआ था, कि जर्मनी द्वारा आक्रमण होने की दशा में ये देश उसकी पूरी तरह सहायता करेंगे। इसी कारण, एक सितम्बर को लड़ाई शुरू होने पर लण्डन और पेरिस से जर्मनी को यह अल्टिमेटम दिया गया था, कि पोलैण्ड पर जिन सेनाओं ने हमला किया है, उन्हें तुरन्त वापस बुला लिया जाय। जर्मनी ने इस अल्टिमेटम की कोई परवाह नहीं की। परिणाम यह हुआ, कि ३ सितम्बर को फ्रांस और ब्रिटेन ने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। पोलैण्ड की सहायता करने के दो ही तरीके थे। एक तो यह, कि हवाई जहाजों द्वारा जर्मनी पर हमला किया जाय, और दूसरा यह, कि जर्मनी की पश्चिमी सीमा पर लड़ाई छेड़ दी जाय। पोलैण्ड को

यही आशा थी, कि फ्रांस और ब्रिटेन तुरन्त ही जर्मनी के खिलाफ सैनिक कार्रवाई शुरू कर देंगे। पर उसे निराश होना पड़ा। ब्रिटेन व फ्रांस की वायुसेना ने किसी भी प्रकार उसकी सहायता नहीं की, और न ही इस पैमाने पर पश्चिमी सीमा पर लड़ाई शुरू हुई, जिससे जर्मन सेनाओं को पोलैण्ड पर हमला करने में कुछ ढील देने की आवश्यकता हो।

इसी बीच में, जब कि जर्मन सेनाएं वारसा को तहस-नहस करने में लगी थीं, १७ सितम्बर को प्रातः ४ बजे रशियन सेनाओं ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। रूस समझता था, कि युक्रेनिया का जो प्रदेश पोलैण्ड की अधीनता में है, वह उसके अधीन नहीं होना चाहिये, और उसे स्वतन्त्र करके युक्रेनिया के साथ मिला देना चाहिये। उसने सोचा, कि पोलैण्ड शीघ्र ही जर्मनी के हाथ में चला जायगा, और फिर इस प्रदेश को प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं रहेगा। पांच दिन में रशियन सेनाओं ने इस सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उधर जर्मन सेनाएं भी निरन्तर आगे बढ़ रही थीं। वारसा देर तक उनके सम्मुख नहीं टिक सका। उसने घुटने टेक दिये, और पोलैण्ड की स्वतन्त्रता का अन्त हो गया।

पर पोल लोगों ने अपनी पराधीनता को स्वीकार नहीं किया। फ्रांस में स्वतन्त्र पोल सरकार का संगठन किया गया। जनरल सिकोर्स्की इसका प्रधान मन्त्री बना। जो पोल सेना नष्ट होने या जर्मनी के हाथ में पड़ने से बच गई थी, उसका फ्रांस में ही पुनःसंगठन किया गया। इसमें एक लाख के लगभग सैनिक थे। परास्त हो जाने के बाद भी पोल लोगों ने जर्मनी से संघर्ष जारी रखा।

पोलैण्ड पर कब्जा कर हिटलर ने फ्रांस और ब्रिटेन से अपील की, कि अब लड़ाई को जारी रखना व्यर्थ है। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी के साथ जो अन्याय हुआ था, अब उसका पूर्णरूप में प्रतिशोध हो गया है, अब युद्ध से किसी को लाभ नहीं है। हालैण्ड की रानी और बेल्जियम के राजा ने भी ब्रिटेन के राजा जार्ज छठे को यह सन्देश भेजा, कि वे लड़ाई को रोकने में मध्यस्थता करने को उद्यत हैं। पर अब फ्रांस और ब्रिटेन को हिटलर का जरा भी विश्वास नहीं रहा था। उन्होंने सन्धि व सुलह की बात सुनने से भी इनकार कर दिया। पोलैण्ड का अन्त तो एक महीने के लगभग समय में ही हो गया था। पर अभी लड़ाई पूरी तरह भड़की नहीं थी। दोनों पक्षों से कभी-कभी हवाई हमले होते रहते थे, और कहीं-कहीं समुद्र में भी मुठभेड़ हो जाती थी। पर जर्मनी की पश्चिमी सीमा पर अभी शान्ति थी, और दोनों पक्ष अपना बल प्रदर्शित करने के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे।

२. फिनलैण्ड पर रशियन आक्रमण

रूस केवल पूर्वी पोलैण्ड पर अपना अधिकार जमा कर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह विश्व-संग्राम की भावी प्रगति को दृष्टि में रखकर अपनी स्थिति को सुरक्षित करना चाहता था। इस समय वह लड़ाई में शामिल नहीं था। पर जर्मनी की नाजी शक्ति जिस प्रकार यूरोप को अपने चंगुल में करती जाती थी, उससे उसका आशंकित होना सर्वथा स्वाभाविक था। बाल्टिक समुद्रतट पर एस्थोनिया, लैटविया, लिथुएनिया और फिनलैंड—ये चार राज्य स्थित थे। रूस की अपनी सुरक्षा की दृष्टि से इनका बड़ा महत्त्व था। पहले ये रशियन साम्राज्य के ही अन्तर्गत थे। पूर्वी पोलैण्ड पर कब्जा कर लेने के बाद, २८ सितम्बर को रूस ने एस्थोनिया के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार एस्थोनिया ने अपने देश के अनेक सामुद्रिक व हवाई अड्डे सैनिक प्रयोग के लिये रूस को देने स्वीकार कर लिये। साथ ही, दोनों देशों ने एक दूसरे के साथ मित्रता बनाये रखने व एक दूसरे के विरुद्ध किसी अन्य देश के साथ समझौता न करने की प्रतिज्ञा की। ५ अक्टूबर को इसी प्रकार की सन्धि लैटविया से और १० अक्टूबर को लिथुएनिया के साथ की गई।

रूस चाहता था, कि फिनलैण्ड से भी इसी प्रकार की सन्धि कर ली जाय। इसके लिये फिन सरकार के प्रतिनिधियों को बातचीत के लिये मास्को निमन्त्रित किया गया। १२ अक्टूबर को दोनों देशों में सन्धि की बात शुरू हुई। रूस चाहता था, कि फिनलैण्ड के कुछ बन्दरगाह व द्वीप सैनिक इस्तेमाल के लिये प्राप्त कर लिये जावें। इनके बदले में वह अपना कुछ प्रदेश भी देने को तैयार था। पर फिनलैण्ड ने रूस की बात नहीं मानी। परिणाम यह हुआ, कि ३० नवम्बर, १९३९ को दोनों देशों में लड़ाई शुरू हो गई। रशियन हवाई जहाजों ने हेलसिन्की व अन्य नगरों पर हमला किया। आत्मरक्षा के लिये फिनलैण्ड ने अपनी पूर्वी सीमा पर जबर्दस्त किलाबन्दी की हुई थी। इसे मैनरहाइम लाइन कहा जाता था। यहां भयंकर लड़ाई हुई। फिनलैण्ड ने डटकर मुकाबला किया, पर अन्त में रूस की विजय हुई। विजयी होकर भी रूस ने यह कोशिश नहीं की, कि सम्पूर्ण फिनलैण्ड को अपने राज्य में शामिल कर ले। फिनलैण्ड की आन्तरिक स्वतन्त्रता को उसने स्वीकार किया। पर सैनिक दृष्टि से जिन प्रदेशों पर कब्जा रखना रूस आवश्यक समझता था, वे सब उसने फिनलैण्ड से लेकर अपने हाथ में कर लिये।

इस प्रकार, चारों बाल्टिक राज्य रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आ गये। ब्रिटेन

में इस बात से बहुत असन्तोष फैला। अमेरिका व ब्रिटेन रूस के कम्युनिज्म को अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। वहां उसकी बड़ी कड़ी आलोचना हुई। कई लोगों ने तो यहां तक कहा, कि फिनलैण्ड का पक्ष लेकर रूस के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर देनी चाहिये। पर वे यह नहीं समझते थे, कि रूस का उद्देश्य नाजी शक्ति के भय से अपनी रक्षा करना है। भविष्य में जब रूस भी जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल हुआ, तो बाल्टिक तट के ये सैनिक अड्डे उसके लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। यदि वह इन पर कब्जा न करता, तो हिटलर से इनका बच सकना असम्भव ही था। फिनलैण्ड के साथ लड़ाई में रूस को धन-जन की बहुत क्षति उठानी पड़ी। इससे अनेक देशों को यह खयाल हो गया, कि रूस अन्दर से बिलकुल खोखला है, और उसकी सैनिक शक्ति बहुत हीन है। पर यह उनका भ्रम था।

जिन दिनों रूस फिनलैण्ड के साथ लड़ाई में उलझा हुआ था, जर्मनी और उसके शत्रु-राज्य युद्ध की तैयारी में व्यापृत थे। ब्रिटेन की सेना इंगलिश चैनल पार कर फ्रांस पहुँच रही थी। मार्च, १९४० तक सवा दो लाख के लगभग ब्रिटिश सैनिक फ्रांस और बेल्जियम की सीमा पर पहुँच चुके थे। युद्ध का संचालन करने के लिये ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाओं का संयुक्त प्रबन्ध कर दिया गया था। फ्रेंच सेनाध्यक्ष जनरल गेमलां को यह काम सुपुर्द किया गया था, कि वह मित्र-राज्यों की सम्मिलित सैन्यशक्ति का संचालन करे। जर्मनी के भी दस लाख से अधिक सैनिक पश्चिमी सीमा पर तैनात हो गये थे।

३. नार्वे और डेनमार्क का अन्त

९ एप्रिल, १९४० को हिटलर ने नार्वे पर हमला शुरू किया। जर्मनी की नार्वे से कोई लड़ाई नहीं थी। उत्तरी ध्रुव के समीपवर्ती यह प्रदेश यूरोप के राजनीतिक दांव-पेंचों में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं लेता था। यूरोप के शक्तिशाली राज्यों के पारस्परिक झगड़ों में यह राज्य सर्वथा तटस्थ था। पर विश्व-संग्राम की झपट से यह अलग नहीं रह सका। कारण यह हुआ, कि नार्वे से लोहे की कच्ची धात बहुत बड़ी मात्रा में जर्मनी जाती थी। जर्मनी में इसे पिघलाकर फौलाद तैयार किया जाता था, और वह अस्त्र-शस्त्र के काम आता था। ब्रिटेन नहीं चाहता था, कि नार्वे का यह लोहा जर्मनी जाय। इसलिये उसने कुछ बारूदी सुरंगें नार्वे के तटवर्ती समुद्र में बिछा दीं, ताकि इनसे टकराकर वे जर्मन जहाज डूब जायं, जो वहां से लोहा ढोने का काम करते हैं। ब्रिटेन का यह कार्य उचित नहीं था। एक उदासीन देश के अपने समुद्र में बारूदी सुरंगें बिछाने का उसे कोई अधिकार नहीं

था। नार्वे और स्वीडन से लोहा प्राप्त करते रहना जर्मनी के लिये आवश्यक था। उसने तुरन्त जल और वायु के मार्ग से नार्वे पर आक्रमण कर दिया। जर्मनी की विशाल शक्ति के सम्मुख नार्वे नहीं टिक सका। ओस्लो, नार्विक, ट्रोन्धाइम आदि सब प्रमुख नगरों व बन्दरगाहों पर जर्मनी का कब्जा हो गया। नार्वे में नाजी पार्टी पहले से विद्यमान थी, उसका नेता था मेजर क्विसलिंग। उसके नेतृत्व में नई सरकार का संगठन किया गया। इस सरकार ने नार्वे पर जर्मनी का संरक्षण स्वीकार कर लिया।

ब्रिटेन इस लड़ाई में भी जर्मनी के खिलाफ कोई विशेष कार्रवाई नहीं कर सका। उसके कुछ जंगी जहाजों ने नार्विक पर कब्जा करने की कोशिश की। नार्विक बड़ा महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह है। वहां से एक पहाड़ी रेलवे तीस मील लम्बी बनी हुई है, जो स्वीडन की लोहे की खानों से कच्ची धात को ढोकर समुद्रतट पर पहुँचाती है। यह लोहा नार्विक के बन्दरगाह से जहाजों पर लदता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है, जहां से यह लोहा बाहर ले जाया जा सके। ब्रिटिश जंगी जहाजों ने कई बार नार्विक को जीतने की कोशिश की, पर वे सफल नहीं हो सके। एक बार तो कुछ ब्रिटिश सेना नार्वे में उतर भी गई, पर वह नार्वे को जर्मन कब्जे से स्वतन्त्र नहीं करा सकी।

डेनमार्क में नाजी पार्टी पहले से विद्यमान थी। इस पार्टी की सहानुभूति जर्मनी के साथ थी, और यह हमेशा ऐसे कार्य करती रहती थी, जिनसे डेनमार्क की तटस्थता कायम न रह सके। ३१ मार्च, १९४० को वहां की पुलीस ने १५० नाजी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। इसमें तीन व्यक्ति ऐसे भी थे, जो डेनमार्क की पार्लियामेण्ट के सदस्य थे। जर्मनी ने डेनमार्क की सरकार की इस कार्रवाई को बहुत आपत्तिजनक समझा, और जिस रात को (८ एप्रिल, १९४०) नार्वे पर आक्रमण शुरू हुआ था, तभी डेनमार्क पर भी हमला बोल दिया गया। ९ एप्रिल को प्रातः ८ बजे तक कोपनहेगन (डेनमार्क की राजधानी) पर जर्मन सेनाओं का कब्जा हो गया। डेन सेनाओं ने कोई विशेष मुकाबला नहीं किया। डेन राजा और उसकी सरकार भली भांति समझती थी, कि जर्मनी से लड़ना व्यर्थ है। साथ ही, जर्मन हवाई जहाज यह विज्ञप्ति भी आकाश से वितरण कर रहे थे, कि जर्मनी केवल यह चाहता है, कि ब्रिटेन और फ्रांस डेनमार्क पर कब्जा न कर सकें। इसी उद्देश्य से उसने अपनी सेनाएँ भेजी हैं, और डेनमार्क को अपने संरक्षण में ले लिया है।

जर्मनी ने जिस सुगमता से नार्वे और डेनमार्क पर अपना कब्जा कर लिया

था, उसके समाचार से ब्रिटेन में बड़ी उत्तेजना उत्पन्न हुई। सरकार की निष्क्रियता से ब्रिटिश जनता बहुत उद्विग्न हो गई। सब लोग यह अनुभव करने लगे, कि अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति जर्मनी को कुचलने में लगा देनी चाहिये, और इसके लिये ऐसी सरकार कायम होनी चाहिये, जो जर्मनी जैसे विकट शत्रु का सामना करने में समर्थ हो। १० मई, १९४० को श्री चेम्बरलेन ने प्रधान मन्त्री के पद से त्याग-पत्र दे दिया, और उनका स्थान श्री चर्चिल ने ग्रहण किया। चर्चिल के नेतृत्व में जो नई सरकार बनी, उसमें सब राजनीतिक दलों के नेता सम्मिलित थे।

४. हालैण्ड और बेल्जियम का अन्त

जिस दिन ब्रिटेन में चर्चिल ने नई सरकार का निर्माण किया, जर्मनी ने हालैण्ड की सीमा को पार कर उस पर आक्रमण कर दिया। हालैण्ड और बेल्जियम लड़ाई में सर्वथा तटस्थ थे। हिटलर ने भी स्पष्ट रूप से यह घोषणा की हुई थी, कि जब तक ब्रिटेन और फ्रांस इन राज्यों की तटस्थता को कायम रखेंगे, जर्मनी इन पर किसी भी प्रकार से आक्रमण नहीं करेगा। हालैण्ड और बेल्जियम की सरकारें इस बात के लिये उत्सुक थीं, कि वे लड़ाई से बची रहें। पर 'सैनिक आवश्यकता' के नाम पर जर्मनी ने उन पर आक्रमण करने में संकोच नहीं किया, और १० मई को हालैण्ड पर जल, स्थल और वायु—सब मार्गों से हमला शुरू हो गया। डच लोगों ने डटकर मुकाबला किया। उनके एक लाख से अधिक सैनिक लड़ाई में मारे गये। जर्मन हवाई जहाजों की बम्बवर्षा से उनके धन-जन का बुरी तरह नाश हुआ। चार दिन की लड़ाई के बाद १४ मई, १९४० को जनरल विकल्मैन ने डच सेनाओं के साथ आत्मसमर्पण कर दिया। हालैण्ड की रानी विल्हल्मिना अपना राज्य छोड़कर ब्रिटेन चली आई। डच साम्राज्य बहुत विस्तृत था, उसके पास जहाजों की प्रचुरता थी। ये सब जहाज हालैण्ड से ब्रिटेन चले आये, और आगे चलकर जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में काम आये।

१० मई को ही बेल्जियम पर भी जर्मनी का आक्रमण शुरू हुआ। अब तक ब्रिटिश सेनाएँ बेल्जियम में प्रविष्ट नहीं हुई थीं। वे उसे एक तटस्थ देश समझती थीं। पर १० मई को दोपहर बाद ब्रिटिश सेनाएं भी बेल्जियम में प्रविष्ट हो गई, ताकि जर्मन सेनाओं का मुकाबला करने में बेल्जियम की सेनाओं की सहायता कर सकें। पर जर्मन सेनाएँ बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ रही थीं। पहले उनके जंगी हवाई जहाज गोलाबारी करते थे, फिर छतरीबाज सेनाएं वायु-मार्ग से नीचे उतर आती थीं। वे छतरीबाज सैनिक सब प्रकार के घातक अस्त्र-शस्त्रों से

सुसज्जित होते थे। इनके पीछे-पीछे टैंक आते थे, और उनके साथ में नई प्रकार की पदाति व घुड़सवार सेना होती थी, जो घोड़ों की बजाय मोटर व मोटर-साइकल इस्तेमाल करती थीं। जर्मनी ने इस समय अपनी सारी शक्ति पश्चिमी रण-क्षेत्र में लगा दी थी। वह न केवल बेल्जियम पर हमला कर रहा था, अपितु फ्रांस पर भी जबर्दस्त आक्रमण प्रारम्भ कर दिया गया था। बेल्जियम और फ्रांस की उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर जो किलाबन्दी की गई थी, वह पुराने किस्म की लड़ाई के लिये तो ठीक थी, पर जर्मनी ने जिस नई वैज्ञानिक युद्ध-पद्धति का आविष्कार किया था, उसके सम्मुख वह विशेष उपयोगी नहीं थी। जर्मन सेना तेजी के साथ बेल्जियम में आगे बढ़ती गई। ब्रिटिश फौजों ने उसे रोकने का प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हो सकीं। फ्रेंच सेनाएँ अपने देश की रक्षा में ही लगी हुई थीं, वे भी बड़ी संख्या में बेल्जियम की मदद के लिये नहीं आ सकीं। इस दशा में बेल्जियम के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह प्रबल नाजी सेनाओं के साथ लड़ाई जारी रख सके। लड़ाई जारी रखने का परिणाम केवल यह होता, कि बेल्जियम के धन-जन का सर्वनाश हो जाता। आखिर, २७ मई, १९४० को बेल्जियम के राजा ने जर्मनी से सन्धि के लिये प्रार्थना की, और बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया।

बेल्जियम के आत्मसमर्पण से ब्रिटिश सेनाएं बड़ी मुसीबत में फँस गईं। ब्रिटेन के तीन लाख से ऊपर सैनिक इस समय बेल्जियम के पश्चिमी प्रदेश में विद्यमान थे। वे तीन तरफ से जर्मन सेनाओं से घिर गये। केवल पश्चिम में समुद्र का मार्ग ऐसा था, जिससे वे अपने देश को वापस लौट सकते थे। यहां डनकर्क के बन्दरगाह को आधार बनाकर यह सम्भव था, कि ब्रिटेन से बड़ी संख्या में जहाज लाये जायं, और इन ब्रिटिश सैनिकों को अपनी युद्ध-सामग्री के साथ जर्मन शिकंजे से छुटकारा दिया जाय। पर यह काम सुगम नहीं था। तीन लाख से ऊपर सैनिकों के लिये जहाजों की बहुत बड़ी संख्या में आवश्यकता थी। साथ ही, यह भय भी बना हुआ था, कि जर्मन सेना जिस वेग से आगे बढ़ रही है, उससे वह शीघ्र ही डनकर्क तक पहुँच जायगी, और जहाजों पर सैनिकों को चढ़ा सकना सम्भव नहीं रहेगा। हवाई हमले की भी प्रबल आशंका थी। जर्मनी से यह छिपा नहीं रह सकता था, कि ब्रिटिश जहाज डनकर्क के बन्दरगाह पर आ रहे हैं, और सैनिकों को बचा ले जाने के यत्न में हैं। जर्मनी अपनी वायुशक्ति तुरन्त भेज देगा, और इन ब्रिटिश जहाजों के लिये बचकर जा सकना कठिन हो जायगा। चर्चिल ने इस समय बड़ी तत्परता से काम किया।

छोटे-बड़े जहाज, मोटर लंच, किश्तियां—सब प्रकार की नौकाओं को यह आज्ञा दी गई, कि वे ब्रिटिश समुद्र-तट पर साउथएण्ड पर एकत्र हों, और वहां अगली आज्ञा की प्रतीक्षा करें। फिर रात के समय अँधेरा होने पर यह व्यवस्था की गई, कि ये सब प्रकार की नौकाएं इँगलिश चैनल पार करके डनकर्क पहुँचें, और वहाँ से सैनिकों को पार उतारने की कोशिश करें। जर्मनी को इस बात की खबर लग गई थी। उसके हवाई जहाज गोलाबारी करने के लिये उद्यत थे। पर ब्रिटिश जंगी जहाज उनका सामना करने के लिये तैनात कर दिये गये थे। हवाई लड़ाई और गोलाबारी के बीच में ब्रिटिश जहाजों ने अपूर्व वीरता और साहस का प्रदर्शन किया। २४,००० टन के लगभग वजन के ब्रिटिश जहाज डूब गये। बहुत से हवाई जहाज भी काम आये। पर डनकर्क में जो ब्रिटिश जहाज एकत्र किये गये थे, उनकी संख्या १,००० के लगभग थी। उनमें से बहुत ही थोड़े जर्मन सेनाओं द्वारा नष्ट किये जा सके। जो ब्रिटिश सैनिक इन जहाजों द्वारा डनकर्क से इङ्गलैण्ड वापस लाये गये, उनकी संख्या ३,३७,१३१ थी। इनके अतिरिक्त जो फ्रेंच सैनिक व अन्य लोग बचाकर इङ्गलैण्ड लाये गये, उनकी संख्या १,१२,५४६ थी। साढ़े चार लाख के लगभग मनुष्यों को जर्मनी के शिकंजे से बचाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देना असाधारण व आश्चर्यजनक घटना है। इसे यदि चमत्कार कहा जाय, तो भी अनुचित नहीं। इस लड़ाई में जो लोग काम आये, उनकी संख्या भी ४० हजार के लगभग थी। दस आदमियों को बचाने के लिये एक आदमी को अपनी जान कुर्बान करनी पड़ी थी।

५. फ्रांस की पराजय

यदि जर्मन सेना इस समय इङ्गलिश चैनल को पार कर ब्रिटेन पर हमला करती, तो सम्भवतः उसे रोकने की शक्ति ब्रिटेन के पास नहीं थी। पर हिटलर ने इस अवसर का उपयोग ब्रिटेन पर आक्रमण करने के लिये नहीं किया। वह फ्रांस को पहले परास्त करना चाहता था। हिटलर की यह भारी भूल थी। ३ जून, १९४० को जर्मनी ने अपनी सारी ताकत फ्रांस पर हमला करने में लगा दी। पेरिस पर भारी संख्या में बम्ब बरसाये गये, और जर्मन स्थल-सेना ने मैजिनो लाइन पर धावा बोल दिया। जर्मनी के सम्भावित आक्रमण से रक्षा करने के लिये ही फ्रांस के सैनिक इंजीनियरों ने इस किलाबन्दी का निर्माण किया था। पर जर्मनी के नये वैज्ञानिक सैन्य-संचालन के सम्मुख यह लाइन टिक नहीं सकी। बेल्जियम की पराजय के कारण जर्मनी के लिये रास्ता खुल गया था। मैजिनो

लाइन के निर्बल स्थलों का भी जर्मनी को पता था। उसने अपनी सारी शक्ति को फ्रांस के खिलाफ लगा दिया, और फ्रेंच सेनाएं उसके सम्मुख नहीं टिक सकीं। जर्मन सेनाएं इस समय तीन ओर से फ्रांस पर आक्रमण कर रही थीं, आमीन से, पेरोन से और सांआस्सों से। उनकी पद्धति यह थी, कि पहले हवाई जहाजों से भारी गोलाबारी की जाती थी, साथ ही दूर गोला फेंकनेवाली तोपें अपना काम करती थीं। जब गोलाबारी के कारण रास्ता साफ हो जाता था, तो टैंक आगे बढ़ते थे। कुल मिलाकर दो हजार से भी अधिक भारी टैंक इस लड़ाई में हिस्सा ले रहे थे। वे दो सौ या तीन सौ की संख्या में एक साथ आगे बढ़ते थे, और उनका मुकाबला कर सकना फ्रेंच लोगों के लिये कठिन था। फ्रेंच सेनाध्यक्षों ने टैंक के महत्त्व को नहीं समझा था। उन्होंने किलाबन्दी पर इतना भारी खर्च कर दिया था, पर टैंक किस प्रकार इन किलाबन्दियों की उपेक्षा कर आगे बढ़ सकता है, इस ओर उनका ध्यान नहीं गया था। जंगी हवाई जहाज और टैंकों की फ्रांस के पास बहुत कमी थी। लड़ाई शुरु होने पर फ्रांस के पास कुल हवाई जहाज दो हजार से भी कम थे। इसके मुकाबले में जंगी जर्मनी के हवाई जहाजों की संख्या दस हजार से भी ऊपर थी। यही अन्तर टैंकों में भी था। स्थिति की गम्भीरता को दृष्टि में रखकर फ्रेंच सेना का संचालन जनरल वेयगां ने अपने हाथ में ले लिया था, और गेमलां उनकी अधीनता में काम करने लगा था। ब्रिटिश सैनिक शक्ति की सहायता इस समय फ्रांस को प्राप्त नहीं थी। उसे अकेले ही जर्मनी का मुकाबला करना था। फ्रांस चाहता था, कि इस समय ब्रिटेन अपने हवाई जहाज अधिक से अधिक संख्या में उसकी सहायता के लिये भेजे। पर ब्रिटेन के लिये भी इस समय किसी प्रकार की सहायता कर सकना सुगम नहीं था।

फ्रांस की इस विकट दशा को देखकर १० जून, १९४० को इटली ने भी उसके खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। ब्रिटेन और अमेरिका ने पूरी कोशिश की, कि इटली लड़ाई में तटस्थ रहे। वे इस बात के लिये तैयार हो गये, कि मुसोलिनी की सब महत्त्वाकांक्षायें वे पूर्ण करेंगे, और युद्ध की समाप्ति पर इटली को भी वही दर्जा दिया जायगा, जो एक विजेता को प्राप्त होता है। पर मुसोलिनी फ्रांस की विषम परिस्थिति से पूरा लाभ उठाना चाहता था। अपनी दुर्दशाग्रस्त दशा में भी फ्रांस ने डटकर इटली का मुकाबला किया, और इटालियन सेनाएं फ्रांस में आगे नहीं बढ़ सकीं। पर जर्मनी की शक्ति को रोक सकना फ्रांस की ताकत से बाहर था। १४ जून, १९४० को जर्मन सेनाएं पेरिस में प्रवेश कर गईं। इससे पहले ही फ्रेंच सरकार तूर में जा चुकी थी। पेरिस का विनाश न केवल

फ्रांस, अपितु सम्पूर्ण संसार के लिये दुर्भाग्य की बात होती। पेरिस संसार की सबसे सुन्दर नगरी है। कला की दृष्टि से अन्य कोई नगर इसका मुकाबला नहीं कर सकता। फ्रेंच सरकार ने निश्चय किया, कि पेरिस को युद्ध-क्षेत्र से अलग रखा जाय। जर्मन सेनाओं ने किसी भी बाधा के बिना पेरिस पर कब्जा कर लिया।

ब्रिटिश सरकार ने इस समय फ्रांस के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा, कि ब्रिटेन और फ्रांस मिलकर एक राज्य बन जावें, और फ्रांस पर जर्मनी का कब्जा हो जाने पर भी वह देश ब्रिटेन में लड़ाई को जारी रखे। पर यह प्रस्ताव फ्रांस को स्वीकार्य नहीं था। यदि लड़ाई शुरू होने पर इस प्रकार का कोई प्रस्ताव रखा जाता, तो उस पर विचार करने का पर्याप्त समय होता। पर इस समय, जब कि फ्रांस की सत्ता ही खतरे में थी, इतने महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करने का उपयुक्त अवसर नहीं था। फ्रांस के प्रधान मन्त्री श्री रेयनो ने ब्रिटेन से सहायता प्राप्त करने के सम्बन्ध में निराश होकर अमेरिका से सहायता के लिये अपील की, पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने केवल यही आश्वासन दिया, कि वे युद्ध-सामग्री को अधिक मात्रा में भेजने का प्रयत्न करेंगे, पर इससे अधिक कर सकना उनकी शक्ति से बाहर की बात है। इससे अधिक करने का मतलब केवल यह है, कि अमेरिका जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दे। यह केवल अमेरिकन कांग्रेस के अधिकार की बात है। फ्रांस की जनता आकाश की ओर आशाभरी निगाहों से देखती रही, पर अमेरिका के हवाई जहाज क्षितिज के पश्चिमी छोर पर नजर नहीं आये। इस बीच में जर्मनी तेजी के साथ फ्रांस में आगे बढ़ रहा था, और फ्रेंच लोगों को तुरन्त ही यह निर्णय करना था, कि धन-जन को नष्ट होने से कैसे बचाया जाय। श्री रेयनो ने इस दशा में प्रधान मन्त्री के पद का त्याग कर दिया, और मार्शल पेतां ने शासन-सूत्र हाथ में लिया। मार्शल पेतां की यह सम्मति थी, कि इस दशा में लड़ाई को जारी रखना व्यर्थ है। उन्होंने जर्मनी से सन्धि के लिये अभ्यर्थना की। २२ जून, १९४० को फ्रांस ने हथियार डाल दिये। तीन सप्ताह के छोटे से काल में फ्रांस को जर्मनी ने परास्त कर दिया।

फ्रांस का इस प्रकार जर्मनी से परास्त हो जाना बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद फ्रांस यूरोप की सबसे जबर्दस्त राजनीतिक शक्ति बन गया था। पर हिटलर के नेतृत्व में जर्मन लोगों ने जिस नई नीति का विकास किया था, उसके सामने फ्रांस की पुराने ढंग की सैन्य-नीति बहुत कमजोर रह गई थी। फिर, फ्रांस में अनेक राजनीतिक दल थे, जिनके आपसी झगड़ों के कारण देश की शक्ति के विकास पर पूरा ध्यान नहीं दिया जा सकता

था। जर्मनी में एक पार्टी थी, एक नेता था। सबका केवल एक उद्देश्य था, जर्मनी को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाया जाय। जिस समय फ्रांस के मजदूर अपनी मजदूरी बढ़वाने और काम करने के घण्टों में कमी कराने के लिये हड़तालें कर रहे थे, जर्मनी की सारी शक्ति राष्ट्रीय उन्नति में लगी हुई थी। साथ ही, यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि फ्रांस के धनी लोग यूरोप में बढ़ती हुई कम्यु-निस्ट शक्ति को बड़ी चिन्ता की दृष्टि से देखते थे। फ्रांस में भी साम्यवादी दल विद्यमान था। धनी लोगों का यह खयाल था, कि साम्यवाद की बाढ़ को रोकने के लिये नाजी विचार-धारा बहुत उत्तम साधन है। वे दिल से नाजियों के साथ सहानुभूति रखते थे। उनकी दृष्टि में नाजीज्म की अपेक्षा कम्युनिज्म अधिक खतरनाक चीज थी। इसीलिये उन्होंने जर्मनी के साथ सुलह कर लेने में संकोच नहीं किया। मार्शल पेतां और लवाल जैसे राजनीतिज्ञ सचमुच यह विश्वास रखते थे, कि जर्मनी के साथ सुलह कर लेने में फ्रांस का कल्याण है।

२१ जून, १९४० को नई फ्रेंच सरकार के प्रतिनिधियों ने हिटलर के साथ मुलाकात की। गोअरिंग, हेस, रिबनट्राप, जनरल ब्रोशिश और कैटल जैसे प्रमुख नाजी नेता इस मुलाकात में हिटलर के साथ थे। १९१४-१८ के महायुद्ध में जर्मनी के परास्त होने पर जिस रेलगाड़ी में सामयिक सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये थे, उसी में अब फ्रांस के पराजित होने पर सन्धि की बातचीत शुरू हुई। जिस कुर्सी पर पिछली बार मार्शल फॉच बैठा था, अब हिटलर आसीन हुआ। फ्रांस को दो टुकड़ों में विभक्त किया गया, जर्मनी के कब्जे में रखा जानेवाला फ्रांस और स्वाधीन फ्रांस। सम्पूर्ण उत्तरी फ्रांस, जिसमें पेरिस भी शामिल था, जर्मनी के कब्जे में रहा। दक्षिणी फ्रांस पर मार्शल पेतां की सरकार स्वतन्त्र रूप से शासन करती रही। इसकी राजधानी विशी बनाई गई। यह भी व्यवस्था की गई, कि फ्रांस के पास जो कुछ भी युद्ध-सामग्री है, वह सब जर्मनी के सुपुर्द कर दी जाय, उसके सब हवाई जहाज जर्मनी को दे दिये जायं। फ्रांस अपनी सब जल, स्थल व वायु-सेना को बर्खास्त कर दे। केवल उतनी सेना स्वतन्त्र फ्रांस के पास रहने दी जाय, जो कि फ्रेंच साम्राज्य की रक्षा के लिये अनिवार्य है। जब इस सन्धि पर फ्रेंच प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिये, तो इस रेलगाड़ी को बर्लिन ले जाया गया, और फ्रांस के जिस स्थल पर मार्शल फॉच के नेतृत्व में जर्मनी को घोर राष्ट्रीय अपमान सहना पड़ा था, उसे हलों से जुतवा दिया गया, ताकि जर्मनी के इस अपमान का निशान भी शेष न रहे। अब हिटलर ने वर्साय की सन्धि का पूर्ण रूप से प्रतिशोध कर लिया था। वह अब पूर्णतया सन्तुष्ट था।

पर सब फ्रेंच लोग मार्शल पेतां की नीति से सन्तुष्ट नहीं थे। जनरल द गॉल ने ब्रिटेन पहुँचकर इन सब लोगों को एकत्र किया, और आजाद फ्रेंच सरकार की स्थापना की। जो फ्रेंच सैनिक डनकर्क से बचकर इङ्गलैण्ड पहुँचे थे, उन्होंने द गॉल का साथ दिया, और बहुत से फ्रेंच देशभक्त भागकर ब्रिटेन पहुँचे, और आजाद फ्रेंच सेना में भरती हुए। इन्होंने यह निश्चय किया, कि जर्मनी के खिलाफ लड़ाई को सब प्रकार से जारी रखेंगे।

फ्रांस जर्मनी के अधिकार में आ गया था, पर उसका विशाल साम्राज्य अभी जर्मनी की पहुँच से बहुत दूर था। द गॉल ने यह कोशिश की, कि फ्रेंच साम्राज्य के ये विविध प्रदेश आजाद फ्रेंच सरकार का साथ दें। पर मार्शल पेतां की सरकार यह नहीं चाहती थी। उसका विचार यह था, कि अब फ्रेंच लोगों को लड़ाई से पूर्णतया तटस्थ रहना चाहिये, और हिटलर के साथ जो सुलह हुई है, उसका सर्वांश में पालन करना चाहिये। इण्डोचायना के गवर्नर-जनरल श्री कार्तू ने द गॉल का साथ देने का फैसला किया। इस पर उन्हें पदच्युत कर दिया गया, और श्री दकू को उनके स्थान पर नियत किया गया। विशी सरकार की ओर से जनरल वेगां को साम्राज्य की सेनाओं का अध्यक्ष नियत किया गया, और उसने अफ्रीका पहुँच-कर यही यत्न किया, कि फ्रेंच अफ्रीका के सब शासक मार्शल पेतां की नीति का अनुसरण करें। पर इसके बावजूद भी, अनेक प्रदेशों ने द गॉल का साथ दिया। इससे उत्साहित होकर द गॉल ने यह कोशिश की, कि कुछ जंगी जहाजों को साथ लेकर डाकर के बन्दरगाह पर उतर जाय, और अफ्रीका में विशी सरकार के खिलाफ विद्रोह का झण्डा खड़ा करे। २३ सितम्बर, १९४० को उसने डाकर के प्रति प्रस्थान किया। पर विशी सरकार के आदेश का पालन करके एडमिरल दार्लों ने उसका मुकाबला किया, और द गॉल को अपने यत्न में सफलता नहीं हो सकी। पर फिर भी उसने अपने प्रयत्न को जारी रखा, और धीरे-धीरे आजाद फ्रेञ्च सेना की शक्ति बढ़ती चली गई।

फ्रांस के परास्त हो जाने के समय उसके जंगी जहाजों का बेड़ा उत्तरी अफ्रीका के समुद्रतट पर विद्यमान था। विशी सरकार ने यह आश्वासन दिया था, कि इस बेड़े का उपयोग ब्रिटेन के खिलाफ नहीं किया जायगा। पर ब्रिटेन को यह भरोसा नहीं था, कि विशी सरकार जर्मनी के दबाव का मुकाबला कर सकेगी। अतः उसने यही उचित समझा, कि इस बेड़े को निकम्मा कर दिया जाय। ब्रिटिश जंगी जहाजों ने ओरन के बन्दरगाह पर स्थित इस फ्रेंच बेड़े पर हमला किया। दोनों ओर से घमासान लड़ाई हुई। अनेक फ्रेंच जहाज डूब गये। पर यह नहीं

समझना चाहिये, कि ओरन की लड़ाई में सारा फ्रेंच जहाजी बेड़ा नष्ट हो गया। अभी अनेक फ्रेंच जंगी जहाज अफ्रीका व इण्डोचायना के विविध बन्दरगाहों में विद्यमान थे। ओरन की लड़ाई के बाद विशी सरकार और ब्रिटेन के सम्बन्ध बहुत कटु हो गये। मार्शल पेतां ने ब्रिटेन के साथ सब सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया।

६. ब्रिटेन पर आक्रमण

फ्रांस के पतन के बाद ब्रिटेन की सैनिक स्थिति बहुत चिन्ताजनक हो गई थी। नार्वे से लगाकर दक्षिणी स्पेन तक, सम्पूर्ण यूरोपियन समुद्रतट अब जर्मनी के कब्जे में था। जर्मन तोपें अब फ्रांस और बेल्जियम से सुगमता के साथ ब्रिटेन पर गोलाबारी कर सकती थीं। जर्मन हवाई जहाज बिना किसी बाधा के यूरोप के विविध प्रदेशों से उड़कर ब्रिटेन पर हमला कर सकते थे। जिस प्रकार पहले फ्रांस को जर्मनी की अपार सैनिक शक्ति का मुकाबला करना पड़ा था, वैसे ही अब ब्रिटेन को भी करना था। भेद यह था, कि फ्रांस और जर्मनी के बीच में समुद्र नहीं था। ब्रिटेन की रक्षा के लिये चैनल विद्यमान थी, और इसे पार कर सकना जर्मन टैंकों के लिये सम्भव नहीं था। जर्मनी के पास दो ही साधन थे, वह जल या वायु के मार्ग से ब्रिटेन पर हमला कर सकता था। जल में ब्रिटेन की शक्ति जर्मनी से अधिक थी। अतः हिटलर ने वायुशक्ति का प्रयोग करने का निश्चय किया। चर्चिल की सरकार ने इसका मुकाबला करने की पूरी तरह तैयारी की। यूरोप से भागकर आये हुए ८१ हजार से लगभग विदेशी लोग इस समय ब्रिटेन में विद्यमान थे। ब्रिटेन को यह खतरा था, कि इनमें से अनेक जर्मनी के जासूस भी होंगे। उस समय यह फैसला करना कठिन था, कि कौन जासूस है, और कौन असल में नाजियों का विरोधी है। अतः यह व्यवस्था की गई, कि १६ साल से अधिक और ६० साल से कम आयु के सब विदेशियों को नजरबन्द कर दिया जाय। इसमें सन्देह नहीं, कि इस आज्ञा से बहुत से निरपराध व्यक्तियों को अपार कष्ट भोगना पड़ा। पर युद्ध की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए यह करना अनिवार्य था। जर्मन लोग अपने छतरीबाज सैनिकों को ब्रिटेन में न उतार सकें, इसके लिये भी इन्तजाम किया गया। शहरों व रेलवे स्टेशनों के नाम के जो भी साइन बोर्ड लगे हुए थे, उन सबको रात रात में उतार दिया गया। रात को कहीं खुले में बिजली की रोशनी न हो, यह व्यवस्था की गई। इँगलिश चैनल के समुद्रतट के साथ-साथ कांटेदार तारें, बारूद की सुरंगें व अन्य रुकावटें स्थापित कर दी गईं। हजारों बैलून लण्डन व अन्य नगरों में उड़ा दिये गये, ताकि शत्रु के हवाई जहाजों के लिये

नीचे उड़ान कर सकना सम्भव न रहे। सड़कों और रास्तों पर ऐसी रुकावटें की गईं, जिनसे शत्रु के टैंकों को आगे बढ़ने में बाधा उपस्थित हो।

सन् १९३९ में लड़ाई के शुरू होने पर ११,६०,००० बालक-बालिकाओं व उनकी माताओं को लण्डन से बाहर सुरक्षित स्थानों पर भेज दिया गया था। पर लण्डन पर अभी कोई हमले नहीं हुए थे, अतः इनमें से बहुसंख्यक स्त्री व बच्चे फिर वापस लौट आये थे। जून, १९४० में उन्हें फिर बाहर भेजा जाना शुरू किया गया। पहले खयाल यह था, कि इन बच्चों व स्त्रियों को अमेरिका व विविध ब्रिटिश उपनिवेशों में भेज दिया जाय। पर अनुभव से यह ज्ञात हुआ, कि समुद्र-यात्रा सुरक्षित नहीं है। जो जहाज बच्चों को लेकर गये, उन पर जर्मनी द्वारा हमला किया गया। बाद में यह योजना रद्द कर दी गई, और ब्रिटेन के देहातों में ही स्त्रियों व बच्चों के निवास का प्रबन्ध किया गया। न केवल स्त्रियों व बच्चों को ही इस समय लण्डन से बाहर भेजा गया, अपितु बहुत से सरकारी दफ्तर भी अन्य स्थानों पर ले जाये गये। इसके लिये हजार से ऊपर होटल सरकार की ओर से कब्जे में कर लिये गये, और उनमें सरकारी दफ्तरों को रखा गया। बहुत से व्यापारी लोग भी इस समय लण्डन से उठकर अन्य छोटे नगरों में चले गये। विशेषतया, बड़ी कम्पनियों ने अपने दफ्तरों के लिये लण्डन से बाहर जगह बना लीं। जर्मन आक्रमण के समय भोजन व वस्त्र आदि की कमी हो जायगी, इस आशंका से राशन का सिस्टम जारी किया गया। सर्वसाधारण लोग भी देश की रक्षा के लिये सेना का हाथ बटावें, इसके लिये 'होम गार्ड्स' का संगठन किया गया। दो महीने के अन्दर-अन्दर दस लाख से अधिक आदमी होमगार्ड्स में शामिल हो गये। स्त्रियां भी लड़ाई के काम में दिलचस्पी लेने लगीं। जल, स्थल और वायु-सेना में सैनिकों को सब प्रकार से मदद पहुंचाने के लिये स्त्रियों की सहायक सेनाओं का संगठन किया गया। विविध व्यवसायों और कारोबार में पुरुषों की कमी पड़ गई थी, क्योंकि पुरुष लोग बड़ी संख्या में सेना व होमगार्ड में भरती किये जा रहे थे। उनका स्थान स्त्रियों ने ले लिया, और वे बड़े उत्साह के साथ युद्ध-संचालन में पुरुषों का हाथ बंटाने लग गईं। यदि डनकर्क की दुर्घटना के बाद हिटलर ब्रिटेन पर हमला कर देता, तो इस सब तैयारी का अँगरेजों को अवसर न मिल सकता। पर नाजी सेनापतियों की यह गलती थी, कि उन्होंने पहले फ्रांस को पराजित करना उचित समझा। इस बीच में ब्रिटिश लोग तैयार हो गये। उन्होंने अपने समय का पूरी तरह उपयोग किया।

८ अगस्त, १९४० को जर्मनी ने वायुमार्ग द्वारा ब्रिटेन पर आक्रमण शुरू

किया। पहले दिन कुल १९० हवाई जहाजों ने हमला किया। बाद में इनकी संख्या निरन्तर बढ़ती गई। शुरू में जर्मन हवाई जहाज समुद्रतट पर स्थित नगरों पर ही हमला करते थे। बाद में वे आगे बढ़ने लगे। २ सितम्बर को वे लण्डन के समीप तक पहुंच गये, और फिर खास लण्डन पर बम्बवर्षा करने लगे। पर ब्रिटिश लोग इनका डटकर मुकाबला करते थे। उनके लड़ाकू हवाई जहाज जर्मनी के बम्ब बरसानेवाले जहाजों का पीछा करते थे, और उन्हें जमीन पर गिरा देने के यत्न में रहते थे। जर्मन के जो लड़ाकू जहाज उन्हें बचाने की कोशिश करते थे, उनके साथ वे जमकर लड़ते थे। इसमें सन्देह नहीं, कि जर्मनी की वायुशक्ति ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक थी। पर इन हमलों में जर्मन हवाई जहाजों को भारी नुकसान पहुँच रहा था। ८ अगस्त से १८ अगस्त तक केवल १० दिनों में ६९७ जर्मन जहाज नष्ट हुए। इस अरसे में ब्रिटिश लोगों के केवल १५३ जहाज काम आये। जर्मनी ने यह भी यत्न किया, कि ब्रिटेन के कल-कारखाने, अस्त्र-शस्त्र व युद्ध-सामग्री के भण्डारों व रेलवे लाइनों पर बम्ब बरसाकर उन्हें नष्ट कर दिया जाय। अगस्त, सितम्बर और अक्टूबर तीन महीनों तक लगातार जर्मन हवाई जहाजों के आक्रमण जारी रहे। पर ब्रिटेन ने हिम्मत नहीं हारी। वह डटकर उनका मुकाबला करता रहा। ८ अगस्त से ३१ अक्तूबर तक जर्मनी के कम से कम २३७५ हवाई जहाज इन हमलों में नष्ट हो गये। इतना अधिक नुकसान बर्दास्त कर सकना जर्मनी के लिये सम्भव नहीं था। अब उसके सम्मुख यह स्पष्ट हो गया, कि ब्रिटेन को परास्त कर सकना सुगम नहीं है। उस पर हमले जारी रखने में लाभ की अपेक्षा नुकसान अधिक होता है। धीरे-धीरे जर्मन हमलों का जोर कम होता गया। ब्रिटेन पर आक्रमण करने में जर्मनी को विफलता रही। यह निश्चित कर सकना कठिन है, कि किस दिन से जर्मनी ने ब्रिटेन पर हमला करने के विचार का परित्याग कर दिया। धीरे-धीरे इन हमलों का जोर बिलकुल घट गया, और ब्रिटेन जर्मनी के शिकंजे में नहीं आ पाया।

ब्रिटेन को परास्त न कर सकना जर्मनी के लिये बहुत घातक सिद्ध हुआ। आगे चलकर जो संसार के इतने अधिक देश उसके विरुद्ध लड़ने के लिये उठ खड़े हुए, सब ब्रिटेन की कार्यशक्ति का ही परिणाम था। एक बार जर्मन हमलों से निश्चिन्त होकर ब्रिटेन ने अपनी सारी शक्ति हिटलर व उसके नाजी दल के खिलाफ संसार के लोकमत को तैयार करने में लगा दी। अमेरिका उसी की प्रेरणा से लड़ाई में शामिल हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य की अपार शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती, यदि हिटलर फ्रांस की तरह ब्रिटेन को भी परास्त कर सकता।

७. युगोस्लाविया और ग्रीस का अन्त

ब्रिटेन को परास्त करने में असमर्थ रहकर हिटलर ने पूर्वी यूरोप को अपना शिकार बनाया। उसका विचार यह था, कि बाल्कन प्रायद्वीप के राज्यों पर कब्जा करके ईरान और मिस्र पर हमला किया जाय। भूमध्यसागर इस समय इटली के प्रभाव में था। अबीसीनिया में इटालियन आधिपत्य के कायम होने के बाद पूर्वी भूमध्यसागर पर इटली का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। फ्रांस के पराजय के बाद पश्चिमी भूमध्यसागर में जर्मनी की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। यदि ब्रिटेन पर कब्जा नहीं हुआ, तो कोई हानि नहीं। ब्रिटिश साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करके भी ब्रिटिश लोगों को घुटने टेक देने के लिये विवश किया जा सकता है। २८ अक्टूबर, १९४० को ग्रीस को यह अल्टिमेटम दिया गया, कि सैनिक दृष्टि से महत्त्व के कुछ प्रदेश जर्मनी के सुपुर्द कर दिये जायं। इस काम के लिये केवल तीन घण्टे का समय दिया गया था। तीन घण्टे बीत जाने पर इटालियन सेनाओं ने ग्रीस पर चढ़ाई कर दी। ग्रीस की विजय करने का काम हिटलर ने मुसोलिनी के सुपुर्द किया था। पर इटली की सेनाएँ जर्मन सेनाओं के समान प्रवीण व शक्तिशाली नहीं थीं। ग्रीक लोगों ने उनका डटकर मुकाबला किया। इसी बीच में ब्रिटिश सेनाएँ भी उनकी सहायता के लिये पहुँच गईं। ग्रीक और ब्रिटिश सेनाओं के सम्मुख मुसोलिनी की एक न चली। उसे कई बार हार खानी पड़ी, और इटली का ग्रीस को परास्त करने का प्रयत्न प्रायः असफल हो गया।

जब जर्मन सेनाध्यक्षों को यह समाचार मिला, तो उन्होंने आवश्यक समझा, कि ग्रीस को परास्त करने के लिये जर्मन सेनाएं भेजनी चाहियें। इसके लिये उन्होंने हंगरी और रूमानिया को अपने साथ किया। नवम्बर, १९४० में उनके साथ सन्धि कर ली गई, और इन राज्यों ने विवश होकर जर्मनी को सब प्रकार से सहायता देना स्वीकार कर लिया। बाद में (मार्च १९४१) बल्गेरिया के साथ भी इसी प्रकार की सन्धि की गई। जर्मनी का यत्न यह था, कि युगोस्लाविया भी उसके साथ सन्धि कर ले, और जर्मन सेनाओं को अपने प्रदेश में आने-जाने की पूरी सुविधा दे दे। ग्रीस पर आक्रमण करने के लिये जर्मन सेनाएं युगोस्लाविया में से ही गुजर कर आगे बढ़ सकती थीं। १० मार्च, १९४१ को जर्मनी की तरफ से युगोस्लावियन सरकार के सम्मुख सन्धि की शर्तें पेश की गईं। सरकार ने उन्हें स्वीकार कर लिया। युगोस्लाविया के मन्त्रिमण्डल का विचार था, कि जर्मनी से लड़ना आग के साथ खेलने के समान है। पर जनता में अभी राष्ट्रीय गौरव की भावना

विद्यमान थी। उन्हें अपनी सरकार का इस प्रकार घुटने टेक देना जरा भी पसन्द नहीं आया। २७ मार्च, १९४१ को उन्होंने विद्रोह कर दिया। राजा पीटर के नेतृत्व में नई सरकार कायम हुई, और उसने जर्मनी का मुकाबला करने का निश्चय किया। पर युगोस्लाविया जैसे छोटे से देश के लिये जर्मनी के सम्मुख टिक सकना असम्भव था। ६ एप्रिल को जर्मन सेनाओं ने युगोस्लाविया पर हमला कर दिया। उसी दिन उसकी राजधानी बलग्रेड पर जबर्दस्त गोलाबारी की गई। कुछ ही दिनों में युगोस्लाविया जर्मनी के अधीन हो गया। पर वहां के देशभक्त नवयुवकों ने जर्मनी के खिलाफ संघर्ष को जारी रखा। वे गुप्त रूप से गुरीला युद्ध-नीति से जर्मन सेनाओं पर हमले करते रहे। 'आजाद युगोस्लाविया' नाम से गुप्त रूप से एक पृथक् सरकार की भी स्थापना कर ली गई।

युगोस्लाविया के बाद जर्मन सेनाओं ने ग्रीस पर हमला किया। एप्रिल, १९४१ के अन्त तक ग्रीस जर्मनी के हाथ में चला गया। उसकी सहायता के लिये जो ब्रिटिश सेनाएं मिस्र व अन्य प्रदेशों से भेजी गई थीं, उन्हें ग्रीस छोड़कर वापस आने के लिये विवश होना पड़ा। एक बार फिर डनकर्क का घटना-क्रम दोहराया गया। जर्मन गोलाबारी के बीच में ४४,८६५ ब्रिटिश सैनिक ग्रीस से बचाकर लाये गये। ग्रीस के युद्ध में जो ब्रिटिश सैनिक काम आये, उसकी संख्या बारह हजार के लगभग थी।

जर्मन आक्रमण से विवश होकर ग्रीस का राजा और सरकार क्रीट के द्वीप में चले आये थे। क्रीट ग्रीस का ही अन्यतम प्रदेश था। पर जर्मनी ने यहां भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। २० मई, १९४१ को १,५०० जर्मन सैनिक छतरियों द्वारा क्रीट में उतर आये। उसी दिन ३,००० जर्मन सैनिक हवाई जहाजों से क्रीट पहुँचाये गये। ब्रिटिश हवाई जहाजों ने यहां भी इनका मुकाबला किया। पर जर्मन हवाई जहाजों की लहर पर लहर क्रीट आ रही थीं, और बड़ी संख्या में जर्मन सैनिकों को वहां उतारती जाती थीं। ब्रिटेन के जिन सामुद्रिक जंगी जहाजों ने जर्मनी का मुकाबला करने का प्रयत्न किया, उनके खिलाफ भी सख्त कार्रवाई की गई। अनेक ब्रिटिश जहाज डुबो दिये गये। मई, १९४१ में क्रीट पर भी जर्मनी का कब्जा हो गया। हवाई जहाजों द्वारा किस प्रकार एक द्वीप पर सेनाएं उतारी जा सकती हैं, जर्मनी ने यह करके दिखा दिया। क्रीट की इस लड़ाई में ब्रिटेन के १५,००० के लगभग सैनिक काम आये।

८. अफ्रीका पर आक्रमण

जिस समय जर्मनी बालकन प्रायद्वीप के विविध राज्यों को अपने अधीन

करने में व्यग्र था, ब्रिटेन अफ्रीका में इटली के साम्राज्य का विध्वंस करने में अपनी शक्ति को लगा रहा था। युद्ध के शुरू होने से पूर्व इटली ने अपना विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था। ब्रिटेन ने इसका अन्त करने का काम अपने हाथ में ले लिया। दक्षिणी अफ्रीका और ब्रिटेन की सेनाओं ने मिलकर इटालियन साम्राज्य पर हमले शुरू किये। लीबिया, सोमालीलैण्ड और अबीसीनिया को इटली के पंजे से मुक्त करा दिया गया। ५ मई, १९४१ को अबीसीनिया का पदच्युत सम्राट् अपनी राजधानी अदीस अबाबा को वापस आया, और ब्रिटेन ने स्वतन्त्र अबीसीनियन राज्य को सब प्रकार से सहायता देना स्वीकार किया।

पर जिस प्रकार ग्रीस में इटली के विफल होने पर जर्मनी ने अपनी सैनिक शक्ति से उसे काबू कर लिया था, वैसे ही अब अफ्रीका में भी किया गया। ग्रीस को परास्त करने के बाद जर्मन सेनाएं अफ्रीका में आ गईं। लीबिया ब्रिटेन के हाथ से निकल गया। जनरल रोमल के सेनापतित्व में जर्मन सेनाएं अफ्रीका में निरन्तर आगे बढ़ती गईं। न केवल उत्तरी अफ्रीका जर्मनी के हाथ में आ गया, अपितु उसकी सेनाओं ने मिस्र की सीमा को भी पार कर लिया। जर्मनी इस समय सीरिया पर कब्जा करके पूर्व में ईरान की तरफ आगे बढ़ने का उद्योग कर रहा था। अफ्रीका के विजय की उसकी इच्छा नहीं थी। रोमल के आक्रमणों का उद्देश्य यही था, कि उत्तरी अफ्रीका ब्रिटेन के कब्जे में न रहने पावे।

९. सीरिया, ईराक और ईरान

जर्मनी चाहता था, कि सीरिया, ईराक और ईरान पर कब्जा करके पूर्व की तरफ आगे बढ़े, और ब्रिटिश साम्राज्य का विध्वंस करे। इसी उद्देश्य से उसने युगोस्लाविया और ग्रीस पर आक्रमण किया था, और इसीलिये जनरल रोमल की सेनाएं उत्तरी अफ्रीका पर अधिकार करती हुई मिस्र की सीमा को पार कर गई थीं। सीरिया फ्रेंच साम्राज्य के अन्तर्गत था। विशी सरकार द्वारा नियुक्त गवर्नर वहां शासन करता था। जर्मन लोग उस पर अपना अधिकार बढ़ा रहे थे। सीरियन प्रदेशों का सैनिक दृष्टि से उपयोग जर्मन सेनाओं ने प्रारम्भ कर दिया था। इस दशा में ब्रिटिश सेनाएं पेलेस्टाइन से सीरिया में घुस गईं। आजाद फ्रांस की कुछ सेनाएं भी उनके साथ थीं। ब्रिटिश लोगों की यह कोशिश थी, कि सीरिया में फ्रेंच शासक उनके साथ मिल जायं, पर इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं हो सकी। जून १९१४ के अन्त तक ब्रिटिश लोगों ने सम्पूर्ण सीरिया पर अपना अधिकार कर लिया।

ईराक पर भी जर्मन लोग अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे। रशीद अली के नेतृत्व में वहां एक नई सरकार कायम हुई थी, जो नाजी पार्टी से सहानुभूति रखती थी। वस्तुतः रशीद अली जर्मनी का प्रबल पक्षपाती था, और उसका ईराक का प्रधान-मन्त्री बनना यह सूचित करता था, कि शीघ्र ही वह राज्य जर्मनी के हाथ में चला जायगा। नाजी लोग निरन्तर ईराक में पहुँच रहे थे। इस दशा में ब्रिटिश सेनाओं ने ईराक पर हमला कर दिया। रशीद अली उनका मुकाबला नहीं कर सका। वह ईराक से भाग जाने को विवश हुआ। जून, १९४१ में ही ब्रिटेन ने ईराक पर भी अपना कब्जा भली भांति मजबूत कर लिया। पूर्व की तरफ बढ़ने का यह मार्ग भी जर्मनी के लिये बन्द हो गया।

जर्मन लोग ईरान में भी अपना जाल फैला रहे थे। वहां की सरकार को उन्होंने अपने प्रभाव में कर लिया था। इस दशा में ब्रिटेन ने दक्षिण की ओर से ईरान पर हमला कर दिया। रूस समझता था, कि ईरान पर किसी विदेशी शक्ति का कब्जा नहीं होना चाहिये। उसकी दक्षिणी सीमा ईरान से लगती थी। अतः उसने भी उत्तरी ईरान पर हमला कर दिया। रूस और ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली राज्यों का मुकाबला कर सकना ईरान के लिये कठिन था। अगस्त, १९४१ में वहां ऐसी सरकार कायम हुई, जो नाजियों के पक्ष में नहीं थी। श्री अल फरूकी नये प्रधानमन्त्री बने। उन्होंने रूस व ब्रिटेन से लड़ाई बन्द करके सुलह कर ली, और यह आश्वासन दिया, कि भविष्य में जर्मनी के गुप्तचरों व पक्षपातियों को ईरान में काम नहीं करने दिया जायगा, और ईरान के मट्टी के तेल को ब्रिटिश लोग अबाधित रूप से प्राप्त करते रहेंगे। इसमें सन्देह नहीं, कि सीरिया, ईराक और ईरान को जर्मन प्रभाव में जाने से रोककर ब्रिटेन ने अपने भावी उत्कर्ष के मार्ग को बहुत कुछ साफ कर लिया। ब्रिटिश साम्राज्य विध्वंस होने से बच गया, और पूर्व की ओर जर्मन आक्रमण का जो भय था, वह दूर हो गया।

पर यहां यह ध्यान रखना चाहिये, कि ब्रिटेन ने पूर्व के देशों के सम्बन्ध में ठीक उसी नीति का अवलम्बन किया था, जिसे रूस ने फिनलैण्ड में और जर्मनी ने नार्वे और डेनमार्क के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया था। ईराक या ईरान की ब्रिटेन से कोई लड़ाई नहीं थी। उन पर आक्रमण करने का केवल यह कारण था, कि जर्मनी उन्हें अपने प्रभाव में लाने की कोशिश कर रहा था। ठीक यही बात जर्मनी नार्वे व डेनमार्क के सम्बन्ध में कह सकता था। वस्तुतः इस विश्व-संग्राम में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, कि तटस्थ राज्यों की स्वतन्त्रता कदापि सुरक्षित नहीं

थी। जो हमारे पक्ष में नहीं है, वह हमारा शत्रु है, इस सिद्धान्त को सब मानने लगे थे।

१०. रूस पर आक्रमण

जून, १९४१ तक विश्व-संग्राम की स्थिति यह थी, कि अकेला ब्रिटेन जर्मनी और इटली का मुकाबला कर रहा था। फ्रांस के पतन के बाद उसका कोई ऐसा साथी नहीं रहा था, जो उसके साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर नाजी शक्ति का सामना कर रहा हो। यूरोप पर जर्मनी का अखण्ड राज्य था। नार्वे से स्पेन तक और अटलाण्टिक समुद्रतट से ईगियन सागर तक सर्वत्र जर्मनी की तूती बोल रही थी। पर ब्रिटेन की सहायता के लिये न केवल उसका विशाल साम्राज्य विद्यमान था, पर साथ ही संयुक्त राज्य अमेरिका भी उसकी पीठ पर था। अमेरिका की यह सहायता शुरू में युद्ध-सामग्री के रूप में थी, यद्यपि इसके लिये समुचित कीमत नकद रखवा ली जाती थी। मार्च, १९४१ से अमेरिका ब्रिटेन को उधार सामान देने लगा। श्री रूजवेल्ट ने यह व्यवस्था की, कि तीन साल में ३७५० करोड़ रुपये का सामान ब्रिटेन को उधार दिया जाय। पर अमेरिका से जो युद्ध-सामग्री ब्रिटेन पहुँचाई जाती थी, जर्मनी उसे रास्ते में डुबा देने की कोशिश करता था। अतः बाद में यह इन्तजाम किया गया, कि अमेरिका के जंगी जहाज युद्ध-सामग्री को ढोनेवाले जहाजों की हिफाजत भी करें। यदि कोई जर्मन जहाज उन्हें डुबाने की कोशिश करे, तो उसका मुकाबला किया जाय। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि अमेरिका लड़ाई में शामिल न होते हुए भी ब्रिटेन की पूरी तरह मदद कर रहा था। १९४२ में वह खुले तौर पर जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल हो गया।

अमेरिका के लड़ाई में शामिल होने से पहले जर्मनी को चाहिये था, कि वह अपनी सारी ताकत ब्रिटेन और उसके साम्राज्य को नष्ट करने में लगाता। हिटलर ने इसके लिये यत्न किया भी। ब्रिटेन पर हवाई हमले किये गये, और पूर्व की तरफ आगे बढ़कर ब्रिटिश साम्राज्य को ध्वंस करने का भी प्रयत्न किया गया। पर इस काम में जर्मनी ने अपनी पूरी ताकत नहीं लगाई। हिटलर के मन में यह था, कि ब्रिटेन से उसका कोई झगड़ा नहीं है। ब्रिटेन का साम्राज्य यूरोप से बाहर है, समुद्र पर उसका प्रभुत्व है। यूरोप में जर्मनी और ब्रिटेन के हितों में कोई विरोध नहीं। सम्पूर्ण यूरोप जर्मनी के कब्जे में आ ही चुका था। यदि रूस के खिलाफ लड़ाई शुरू की जाय, तो जर्मनी को न केवल अपने साम्राज्य को विस्तीर्ण करने का अवसर मिलेगा, अपितु कम्युनिज्म का सर्वनाश करके यूरोपियन सभ्यता

व ईसाई धर्म की रक्षा का गौरव भी उसे प्राप्त होगा । ब्रिटेन और अमेरिका के धनी पूंजीपति लोग रूस के खिलाफ शुरू की गई लड़ाई को पसन्द करेंगे । जर्मनी का यह भी ख़याल था, कि रूस अन्दर से बहुत कमजोर है । कम्युनिज्म के कारण सर्वसाधारण जनता की स्वतन्त्रता बिलकुल नष्ट हो गई है, और मनुष्य दास की स्थिति को पहुँच गया है । रूस के विशाल साम्राज्य व संघ में जिन विभिन्न जातियों का निवास है, उनमें अपनी पृथक् राष्ट्रीयता की भावना अभी विद्यमान है, और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के नाम पर उनमें ऐसे दलों का संगठन किया जा सकता है, जो कम्युनिस्ट रूस के खिलाफ विद्रोह कर देने को उद्यत हों । यदि रूस को परास्त कर दिया जाय, तो युक्रेनिया के विस्तृत उपजाऊ खेत, युराल पर्वतमाला की कीमती खानें और काकेशस के तैलकूप—सब जर्मनी को प्राप्त हो जावेंगे, और सम्पूर्ण यूरोप पर जर्मनी का अखण्ड साम्राज्य व प्रभाव-क्षेत्र स्थापित हो जायगा । हिटलर ने अपने ग्रन्थ 'मेरा संघर्ष' में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया था, कि जर्मनी का ब्रिटेन से कोई हित-विरोध नहीं है । वह अब भी समझता था, कि यदि रूस की कम्युनिस्ट सरकार के खिलाफ लड़ाई शुरू करने के इरादे से ब्रिटेन से सुलह की बातचीत शुरू की जाय, तो वह सफल हो सकेगी ।

१० मई, १९४१ को एक जर्मन उड़ाका स्काटलैण्ड के प्रदेश में अकेला ही हवाई जहाज से नीचे उतरा । वह हैमिलटन के ड्यूक से मिलना चाहता था । उसे गिरफ्तार करके पुलीस के सुपुर्द कर दिया गया । बाद में मालूम हुआ, कि यह व्यक्ति हिटलर का साथी रुडोल्फ हेस है । वह इस उद्देश्य से आया था, कि जर्मनी और ब्रिटेन में सुलह की बातचीत करे । पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई । ब्रिटिश लोग अब भली भांति अनुभव करते थे, कि नाजीज्म संसार की शान्ति के लिये अत्यन्त खतरनाक है, और उसका सर्वनाश होने में ही ब्रिटेन की भलाई है। जब हेस की असफलता का समाचार जर्मनी पहुँचा, तो नाजियों ने उद्घोषित किया, कि उसका दिमाग खराब हो गया है, और इसीलिये वह अपने देश को छोड़कर ब्रिटेन चला गया है। उसके साथ अब जर्मन सरकार का कोई सम्बन्ध नहीं है । हेस को गिरफ्तार करके ब्रिटिश जेलखाने में डाल दिया गया ।

ब्रिटेन और जर्मनी की सुलह नहीं हो सकी, इससे हिटलर ने रूस पर आक्रमण करने की योजना में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं समझी । उसका ख़याल था, कि सर्दियां शुरू होने से पहले ही कुछ महीनों में रूस को परास्त कर दिया जायगा । रूस की विजय के बाद जो अपार सम्पत्ति व युद्ध-सामग्री जर्मनी के हाथ लगेगी, उससे ब्रिटेन व अमेरिका का मुकाबला कर सकना सुगम हो

जायगा। २२ जून, १९४१ को जर्मन सेनाओं ने रूस पर चढ़ाई शुरू कर दी। फिनलैण्ड, हंगरी, रूमानिया आदि अनेक यूरोपियन राज्यों का सहयोग इस लड़ाई में जर्मनी को प्राप्त था। जर्मन सेनाएं निरन्तर आगे बढ़ती गईं। एस्थोनिया, लैटविया, लिथुएनिया और फिनलैण्ड कुछ ही दिनों में रूस के प्रभाव से मुक्त हो गये। पोलैण्ड के जिस पूर्वी प्रदेश पर १९३९ में रूस ने कब्जा कर लिया था, वह भी शीघ्र ही उसकी अधीनता से मुक्त हो गया। जर्मन सेनाएं तीन तरफ से रूस में आगे बढ़ रही थीं। (१) बाल्टिक सागर के तट के साथ-साथ होते हुए लेनिनग्राड की ओर। इस आक्रमण में उत्तर-पूर्व की ओर से फिनलैण्ड की सेनाएं भी जर्मनी की मदद कर रही थीं। (२) स्मोलन्स्क की सड़क से होकर मास्को की ओर। (३) युक्रेनिया की ओर। कुछ ही समय में जर्मन सेनाएं युक्रेनिया में पहुँच गईं। रशियन सेनाएं पीछे हटती गईं। जिस प्रदेश को छोड़कर वे पीछे हटती थीं, उसे सर्वथा उजाड़ देती थीं। देखते-देखते युक्रेनिया के हरे-भरे खेत ऊजड़ मैदान हो गये। उसके सब पुल, कारखाने व इमारतें भस्म-सात् कर दी गईं। जर्मन लोग रूस के जिस किसी भी प्रदेश पर कब्जा करते थे, उसे उजड़ा हुआ पाते थे। रशियन लोगों में देशभक्ति और राष्ट्रीय गौरव इतने उग्र रूप में विद्यमान थे, कि वे यह सहन ही नहीं कर सकते थे, कि शत्रु को उनकी भूमि से कोई भी लाभ उठाने का अवसर मिले। अपने देश व समाज के लिये वे बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को उद्यत थे। युक्रेनिया शीघ्र ही जर्मनी के हाथ में चला गया, और उसकी उत्तरी सेनाएं लेनिनग्राड तक पहुँच गईं। जो जर्मन सेनाएं स्मोलन्स्क होती हुई मास्को की तरफ बढ़ रही थीं, वे भी निरन्तर आगे बढ़ती गईं, और २५ अक्टूबर, १९४१ को मास्को के बिलकुल समीप तक पहुँच गईं। रशियन सरकार मास्को से कुइबिशव चली गई। यह नगर मास्को से ५५० मील दक्षिण-पूर्व की ओर है। लेनिनग्राड और मास्को—दोनों पर जर्मन आक्रमण बड़ी भयंकरता के साथ हो रहे थे। पर रशियन लोगों में इससे कोई भी भय या चिन्ता नहीं थी। कम्युनिज्म के कारण रूस में एक नया जीवन आ गया था। सर्वसाधारण जनता जाग उठी थी। लोग समझते थे, वे न केवल अपने देश की रक्षा के लिय अपितु अपने सिद्धान्तों, अपने अधिकारों और अपनी नई व्यवस्था के लिये युद्ध कर रहे हैं। अब जर्मनी की सेनाओं को जागृत जनता के साथ लड़ना था। लेनिनग्राड और मास्को में डटकर लड़ाई होती रही। जर्मनी ने पूरा जोर लगाया, पर इन नगरों पर कब्जा नहीं कर सका। इसी बीच में सर्दियां आ गईं। नवम्बर में रूस में बरफ पड़नी शुरू हो गई। रूस की सर्दी बहुत भयंकर होती है। रशियन

लोग उसके अभ्यस्त हैं, पर जर्मनी के लोग उसे आसानी से बर्दाश्त नहीं कर सके। हिटलर का खयाल था, कि सर्दी शुरू होने से पहले ही वह रूस को जीत लेगा, उसे निराश होना पड़ा। वह लेनिनग्राड और मास्को को भी नहीं जीत सका। अत्यधिक क्षति के कारण इन क्षेत्रों में लड़ाई को जारी रखना व्यर्थ समझ उसने क्रीमिया की ओर आक्रमण किया। यहां उसे सफलता हुई। नवम्बर, १९४१ में सेबस्टापूल के अतिरिक्त शेष सब क्रीमिया जर्मन अधिकार में चला गया। सेबस्टापूल के दुर्ग की रक्षा के लिये रशियन सेना देर तक लड़ती रही। पर १९४२ की ग्रीष्म ऋतु में यह दुर्ग भी जर्मनी के हाथ में चला गया।

जर्मनी के रूस पर आक्रमण करने पर ब्रिटेन और अमेरिका ने अनुभव किया, कि अब रूस पूरी तरह मित्रराज्यों में शामिल है। उनका हित इसी बात में है, कि रूस की पूरी तरह सहायता की जाय, और उसकी विजय में अपनी विजय समझी जाय। अब तक ब्रिटेन और अमेरिका के लोग कम्युनिज्म को मानव समाज के लिये घातक मानते थे। स्टालिन को एक क्रूर राक्षस समझा जाता था, और यह प्रचार किया जाता था, कि रूस के लोग ईसाई धर्म के विद्वेषी और घोर नास्तिक हैं। पर अब उनकी सम्मति बदल गई। यह प्रचार किया जाने लगा, कि रूस नाजियों के अत्याचारपूर्ण और अमानुषिक शासन के खिलाफ लड़ने के लिये उद्यत है। यदि वहां कम्युनिज्म है, तो यह उसका अपना मामला है। प्रत्येक देश को अधिकार है, कि वह लोकमत के अनुसार अपनी आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था का निर्माण कर सके। स्टालिन एक महापुरुष है, जो इतिहास में अद्वितीय स्थान रखता है। ईसाई गिरजों में रूस की रक्षा के लिये प्रार्थनायें होने लगीं, और पादरी लोग अपने व्याख्यानों में कम्युनिज्म की प्रशंसा करने लगे। मनुष्य के सब सिद्धान्त व विचार उसके स्वार्थ पर आश्रित होते हैं, यह उसका उत्तम उदाहरण है। ब्रिटेन और अमेरिका इस समय दो प्रकार से रूस की सहायता कर सकते थे। वे हथियार और अन्य युद्ध-सामग्री रूस को पहुँचा सकते थे, और साथ ही पश्चिम में युद्ध का नया मोरचा कायम करके जर्मन सेनाओं को उधर मुकाबला करने के लिये आने को विवश कर सकते थे। इससे रूस पर जर्मन आक्रमणों का जोर कम हो जाता। रूस यही चाहता था। जिस समय १९४१-४२ के शीतकाल में जर्मन सेनाएं लेनिनग्राड और मास्को के समीपवर्ती प्रदेशों में लड़ रही थीं, यदि पश्चिम में ब्रिटेन द्वारा जर्मनी से लड़ाई शुरू कर दी जाती, तो हिटलर की नाजी शक्ति का पराभव करना बहुत सुगम था। पर ब्रिटेन ने इसके लिये कोई कार्य नहीं किया। हवाई जहाजों द्वारा जर्मनी पर कुछ गोलाबारी अवश्य होती

रही, पर दूसरा मोरचा कायम नहीं किया गया। युद्ध-सामग्री भी काफी मात्रा में रूस नहीं भेजी जा सकी। अमेरिका हिन्द महासागर और ईरान की खाड़ी द्वारा ही अपने जहाज रूस के समीप भेज सकता था। यह रास्ता बहुत लम्बा पड़ता था। ब्रिटेन के लिये सबसे छोटा रास्ता यह था, कि वह नार्वे के समीप रूस को युद्ध-सामग्री भेजे। पर इस रास्ते पर जर्मन आक्रमण का बहुत भय था। इन परिस्थितियों के कारण रूस को बहुत कुछ अपनी शक्ति पर निर्भर रहकर ही जर्मनी का मुकाबला करना पड़ा। निःसन्देह, उसने जो वीरता, साहस और सहनशक्ति प्रदर्शित की, वह संसार के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। दिसम्बर, १९४१ से उसकी सेनाओं ने जर्मनी को पीछे ढकेलना शुरू कर दिया। मास्को पर आक्रमण करनेवाली जर्मन सेना पीछे हटकर स्मोलन्स्क के समीप तक पहुंच गई। युक्रेनिया बहुत कुछ जर्मनों से खाली हो गया। ७ मार्च, १९४२ को मास्को रेडियो द्वारा घोषणा की गई, कि अगले फरवरी मास में कम से कम चालीस हजार जर्मन सैनिक हवाई लड़ाई में काम आये हैं। पर घोर शीत के बावजूद भी जर्मन सेना की वह गति नहीं हुई, जो लगभग सवा सदी पहले रूस के इसी रण-क्षेत्र में नैपोलियन की सेना की हुई थी। जर्मन सेना का संगठन आदर्श था। विकट संकट के समय में भी वह अपने को सँभालकर रख सकती थी।

जर्मन लोगों ने रूस के जिन प्रदेशों पर कब्जा किया, वहां घोर अत्याचार किये गये। घरों को लूट लिया गया। बच्चों, स्त्रियों व वृद्धों के साथ अनेक ज्यादतियां की गईं। जिन्होंने जरा भी विरोध किया, उन्हें गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया गया। खुले मैदान में कैम्प खड़े करके नई विशाल जेलें बनाई गईं, जिन्हें चारों ओर से कांटेदार तारों से घेर लिया गया। यहां लाखों की संख्या में रशियन लोग बन्द कर दिये जाते थे, और उन्हें सब प्रकार से कष्ट दिया जाता था। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि यह केवल दो देशों की लड़ाई नहीं थी। इसमें दो सिद्धान्त, दो विचारधारायें, दो सामाजिक व्यवस्थायें आपस में संघर्ष कर रही थीं। जर्मन लोग अपने शत्रुओं को न केवल विदेशी अपितु विधर्मी भी समझते थे।

११. जापान और अमेरिका का युद्ध में प्रवेश

फ्रांस के पराजय और इण्डोचायना के नाजी प्रभाव में चले जाने से सुदूर पूर्व में ब्रिटेन की स्थिति सुरक्षित नहीं रही थी। जापान जर्मनी और इटली का साथी था, और बर्लिन-टोकियो-एक्सिस द्वारा वह विश्व-संग्राम में जर्मनी का साथ देने

के लिये वचनबद्ध था। जापान की आकांक्षा यह थी, कि पूर्वी एशिया के सब प्रदेश उसके प्रभाव में आ जायं। उसकी आबादी निरन्तर बढ़ रही थी। उसके तैयार माल के लिये सुरक्षित बाजार की आवश्यकता थी। जिस प्रकार जर्मनी यूरोप में और इटली अफ्रीका में अपने साम्राज्यों का विस्तार करना चाहते थे, वैसे ही जापान पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिये उत्सुक था। इसी दृष्टि से उसने चीन में लड़ाई प्रारम्भ की थी। पर इस प्रयत्न में उसे अमेरिका से भय था। फिलिप्पीन्स द्वीप-समूह अमेरिका के अधीन था, चीन के अनेक बन्दरगाह व प्रदेश अमेरिका के प्रभाव में थे, और प्रशान्त महासागर में किसी अन्य शक्ति का प्रमुख होना अमेरिका को सहन नहीं हो सकता था। जिस समय जर्मनी प्रायः सम्पूर्ण यूरोप को अपने कब्जे में कर चुका था और उसकी सेनाएं रूस में लेनिनग्राड और मास्को के समीप तक पहुँच चुकी थीं, जापान ने समझा, कि अपनी शक्ति को बढ़ाने और अमेरिका से लड़ाई छेड़ने का यह उपयुक्त अवसर है। इसी दृष्टि से ७ दिसम्बर, १९४१ को उसने पर्ल हार्बर पर हमला कर दिया। यह बन्दरगाह प्रशान्त महासागर में हवाई द्वीप-समूह में स्थित है, और अमेरिका की सामुद्रिक सेना का प्रधान केन्द्र है। अमेरिका को स्वप्न में भी यह आशंका नहीं थी, कि जापान इस प्रकार उस पर हमला कर देगा। जापान के साथ उसकी कोई लड़ाई नहीं थी, जापानी राजदूत वाशिंगटन में विद्यमान था और आपस के मतभेदों को दूर करने के लिये बातचीत अभी जारी थी। पर्ल हार्बर के इस हवाई हमले में अमेरिका के अनेक जंगी जहाज डूब गये, अनेक तहस-नहस हो गये। २११७ अमेरिकन अफसर और सैनिक मारे गये, ३७६ घायल हुए और ९६० लापता हो गये। इनके अतिरिक्त बहुत से नागरिकों को भारी नुकसान उठाना पड़ा। जापान के इस अकस्मात् हमले से अमेरिका की आधे के लगभग सामुद्रिक शक्ति नष्ट हो गई। जिस दिन पर्ल हार्बर पर यह हमला हुआ, उसी दिन शंघाई, मलाया और सिंगापुर पर भी बम्ब-वर्षा की गई। जापान अब खुले तौर पर लड़ाई के मैदान में उतर आया था। परिस्थिति ऐसी हो गई थी, कि अब अमेरिका के लिये भी लड़ाई से अलग रह सकना सम्भव नहीं था। वह भी अब खुले तौर पर लड़ाई में शामिल हो गया, और उसने जापान व उसके साथियों के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। अब युद्ध केवल यूरोप व अफ्रीका तक ही सीमित नहीं रहा था। वह एशिया, अमेरिका और प्रशान्त महासागर में भी व्याप्त हो गया था।

जापान केवल पर्ल हार्बर में विद्यमान अमेरिकन जंगी जहाजों को डुबाकर ही

सन्तुष्ट नहीं हुआ। १० दिसम्बर, १९४१ को उसके हवाई जहाजों ने मलाया के समुद्रतट पर स्थित ब्रिटिश जंगी जहाजों पर भी हमला किया। प्रिंस आफ वेल्स और रिपल्स नाम के दो बड़े जंगी जहाज डुबा दिये गये। इस समाचार से ब्रिटेन का लोकमत बहुत उद्विग्न हो उठा। पर जापान इतने से ही सन्तुष्ट हो जानेवाला नहीं था। उसने फिलिप्पीन्स द्वीप-समूह पर हमला करने की तैयारी की। बहुत से जहाज और नौकायें आदि एकत्र करके दो लाख से अधिक जापानी सैनिकों को फिलिप्पीन्स में उतार दिया गया। जनरल मैकआर्थर के नेतृत्व में अमेरिकन सेनाओं ने बड़ी वीरता से इनका मुकाबला किया। पर जापानी सेना के सामने वे टिक नहीं सकीं। १९४२ के शुरू के सप्ताहों में सारा फिलिप्पीन्स द्वीप-समूह जापान के हाथ में चला गया। इसी बीच में जापानी सेनाएं हांगकांग पर भी हमला कर रही थीं। चीन के समुद्रतट पर विद्यमान यह नगर ब्रिटिश शक्ति का प्रमुख केन्द्र था। जापान के सम्मुख हांगकांग देर तक नहीं टिक सका। १९४२ के शुरू में उस पर भी जापान का कब्जा हो गया। फिलिप्पीन्स और हांगकांग की विजय में जापान ने अद्भुत साहस और सैनिक क्षमता का परिचय दिया। जहाजों द्वारा समुद्र के रास्ते सेनाएं उतारकर शत्रु को कैसे परास्त किया जा सकता है, इसका उदाहरण जापान ने ही उपस्थित किया।

१२. पूर्वी एशिया पर जापान का प्रभुत्व

पर्ल हार्बर में अमेरिका की सामुद्रिक शक्ति को अस्त-व्यस्त करके और फिलिप्पीन्स द्वीपसमूह तथा हांगकांग पर कब्जा करके जापान के लिये पूर्वी एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का मार्ग बिलकुल साफ हो गया था। पूर्वी एशिया में ब्रिटिश शक्ति का प्रधान केन्द्र सिंगापुर था। यह बन्दरगाह मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में एक छोटे से द्वीप पर स्थित है। मलाया प्रायद्वीप के साथ एक बांध और पुल द्वारा इसका सम्बन्ध भी है। ब्रिटिश लोगों ने यहां जबर्दस्त किलाबन्दी की हुई थी। इसमें पचास करोड़ के लगभग रुपया खर्च किया गया था। ब्रिटिश लोगों को अभिमान था, कि कोई शत्रु सिंगापुर के इस अड्डे पर हमला नहीं कर सकता। यहां उनके जंगी जहाज बड़ी संख्या में रहते थे। विशाल ब्रिटिश साम्राज्य में पूर्व से पश्चिम या पश्चिम से पूर्व की ओर जानेवाले जहाज यह भरोसा रखते थे, कि उनकी स्थिति सर्वथा सुरक्षित है। सिंगापुर के किलानुमा बन्दरगाह में विद्यमान ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति उनकी रक्षा के लिये सदा उद्यत है। इसमें सन्देह नहीं, कि समुद्र के रास्ते हमला करके सिंगापुर को जीत सकना सम्भव नहीं था। पर मलाया से होकर स्थल-मार्ग द्वारा भी सिंगापुर पर

हमला किया जा सकता है, यह बात ब्रिटिश लोगों ने कभी सोची भी नहीं थी। उनका खयाल था, कि मलाया सघन जंगलों से परिपूर्ण है। ये जंगल मलेरिया व अन्य बुखारों से सदा आक्रान्त रहते हैं। इनमें से गुजर कर कोई शत्रु-सेना कभी सिंगापुर पर हमला करने का साहस नहीं कर सकती। पर जापानियों ने अपने आक्रमण के लिये इसी मार्ग का अवलम्बन किया। मलाया के जंगलों में से होती हुई जापानी सेना ३१ जनवरी, १९४२ को सिंगापुर पहुँच गई। १५ फरवरी को सिंगापुर की ब्रिटिश सेना ने जापानियों के सामने घुटने टेक दिये।

इसी समय जापान ने हालैण्ड के एशियाई साम्राज्य पर हमला किया। पूर्वी एशिया में ब्रिटिश शक्ति के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद डच लोगों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि अपने साम्राज्य की जापान से रक्षा कर सकते। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि जो विविध द्वीप हालैण्ड के अधिकार में थे, उन सब पर एक-एक करके हमला किया गया। प्रशान्त महासागर में इस समय जापान की सामुद्रिक शक्ति का मुकाबला कर सकने की सामर्थ्य किसी में नहीं थी। उसके वायुयान भी स्वच्छन्द रूप से पूर्वी एशिया के आकाश में उड़ते-फिरते थे। जल और वायु के मार्ग से जापानी सेना इन द्वीपों में प्रविष्ट हो गई, और मार्च १९४२ तक सम्पूर्ण डच साम्राज्य जापान के हाथ में चला गया।

पर जापान पूर्वी एशिया को ही अपने अधीन कर लेने से सन्तुष्ट नहीं हुआ। मलाया पर कब्जा करके उसकी सेनायें बर्मा की ओर अग्रसर हुई। यहां उसका मुकाबला कर सकने की शक्ति ब्रिटिश लोगों के पास नहीं थी। वे निरन्तर आगे बढ़ती गई, और ८ मार्च, १९४२ को रंगून पर जापानियों का कब्जा हो गया। सिंगापुर, बर्मा आदि से ब्रिटिश सैनिकों व नागरिकों को बचाकर लौटा लाने की समस्या भी सुगम नहीं थी। बहुत से लोगों को हवाई जहाजों द्वारा भारत लाया गया, अनेक साहसी मनुष्य जंगल के रास्ते भी बर्मा से आसाम आने में समर्थ हुए। मंचूरिया से बर्मा तक सम्पूर्ण पूर्वी एशिया अब जापान के कब्जे में आ गया था। जनरल मैकआर्थर १७ मार्च, १९४२ को फिलिप्पीन्स से बचकर आस्ट्रेलिया पहुँचने में समर्थ हुआ था। वहां उसने मित्रराज्यों की अस्त-व्यस्त होती हुई शक्ति को पुनः संगठित करने का प्रयत्न किया। पर जापानी लोग आस्ट्रेलिया पर आक्रमण करने की भी चिन्ता में थे। जनवरी, १९४२ में ही उन्होंने न्यूगायना पर कब्जा कर लिया था। यह द्वीप आस्ट्रेलिया से केवल ४०० मील की दूरी पर है। जापानी लोग चाहते थे, कि इसे आधार बनाकर आस्ट्रेलिया पर भी हमला किया जाय।

जापान जो इतनी सुगमता से पूर्वी एशिया से विदेशी साम्राज्यों का नाश कर

सका, उसका प्रमुख कारण यह है, कि वहां के निवासियों की सहानुभूति अपने शासकों के साथ नहीं थी। अमेरिका व यूरोप के श्वेतांग लोग यह समझते थे, कि एशिया के निवासी उनकी अपेक्षा हीन हैं, और उन पर शासन करने का उन्हें दैवी अधिकार प्राप्त है। उनकी सेनाएं इतनी तो थीं, कि अधीनस्थ लोगों के विद्रोहों का शमन कर सकें। पर जब जापान जैसा विज्ञान-कला-सम्पन्न शत्रु उनके खिलाफ उठ खड़ा हुआ, तो उसका पराजय वे तभी कर सकती थीं, जब कि वहां के निवासियों का भी उन्हें पूरा सहयोग प्राप्त हो। पर एशियाई लोगों का सहयोग और सद्-भावना प्राप्त करने का कोई भी उद्योग पश्चिम के श्वेतांग लोगों ने नहीं किया था। वर्तमान युग की लड़ाइयों में कोई पक्ष तभी सफल हो सकता है, जब जनता की सामूहिक सहायता उसे प्राप्त हो। ब्रिटिश और डच लोगों को वर्तमान युग की यह सबसे बड़ी शक्ति एशिया में प्राप्त नहीं थी।

बर्मा पर कब्जा करके जापान भारत की सीमा तक पहुँच गया। यदि वह उसी समय पश्चिम में और आगे बढ़कर भारत पर आक्रमण कर देता, तो ब्रिटिश लोगों के लिये उसे रोक सकना बहुत कठिन होता। ब्रिटेन की सैनिक शक्ति उस समय बहुत अस्त-व्यस्त दशा में थी। सिंगापुर, बर्मा, मलाया आदि से भागकर जो ब्रिटिश लोग भारत पहुँच रहे थे, उन्हें सँभाल सकना भी उसके लिये कठिन हो रहा था। भारत में स्वराज्य का आन्दोलन बड़ा उग्र रूप धारण कर रहा था। १९४२ के अगस्त मास में भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस ने विदेशी सरकार का प्रतिरोध करने के लिये अधिक उग्र उपायों का अनुसरण करने का निश्चय कर लिया था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनता में तीव्र भावना उत्पन्न हो चुकी थी, और स्वराज्य-प्राप्ति की यह उत्कण्ठा अनेक रूपों में प्रगट होने लगी थी। देशभक्त युवक ब्रिटिश सत्ता को छिन्न-भिन्न करने के लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार हो गये थे। सरकार के प्रतिरोध ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया था, कि रेल, तार और डाक तक में अनियमितता आ गई थी। कई स्थानों पर जनता खुले तौर पर विद्रोह के लिये उतारू हो गई थी। पर जापान ने भारत पर आक्रमण करने के इस सुवर्णीय अवसर का उपयोग नहीं किया। उसे पहले उस विशाल प्रदेश को सँभालना था, जहां उसकी सेनाओं ने पिछले कुछ महीनों में ही विद्युत्गति से अपना कब्जा किया था। बाद में जब भारत पर जापानी आक्रमण शुरू हुए, तो ब्रिटिश शक्ति बहुत कुछ सँभल गई थी।

१३. पश्चिम में विश्व-संग्राम की प्रगति

१९४२ की ग्रीष्म ऋतु में जर्मनी ने रूस पर अपने आक्रमण को फिर भयंकर

रूप से प्रारम्भ किया। इस बार उसकी सेनाएं फिर तीन दिशाओं में रूस में आगे बढ़ने लगीं। एक सेना वोल्गा नदी की ओर इस उद्देश्य से हमला कर रही थी, कि स्टालिनग्राड पर कब्जा करे। दूसरी सेना अस्त्रखान की ओर आगे बढ़ती हुई कैस्पियन समुद्र तक पहुँचने का यत्न कर रही थी। तीसरी जर्मन सेना ब्लैक सी (काला सागर) तक पहुँच जाना चाहती थी। काकेशस पर अधिकार करने में जर्मन सेना को अच्छी सफलता हुई। मैकोप के विस्तीर्ण तैलक्षेत्रों पर जर्मनी ने अधिकार कर लिया। अगस्त, १९४२ के अन्त तक जर्मन सेनाएं काला सागर तक पहुँच गईं और अनाया का प्रदेश उनके कब्जे में चला गया। सितम्बर शुरू होते-होते जर्मनी की सेनाएँ स्टालिनग्राड भी पहुँच गईं, और इस प्रसिद्ध आधुनिक नगरी के बाजारों में घमासान लड़ाई होने लगी। ३० सितम्बर, १९४२ को हिटलर ने बड़े अभिमान के साथ घोषणा की थी—"स्टालिनग्राड अवश्य ही जीत लिया जायगा, इसमें सन्देह की जरा भी गुंजाइश नहीं है।"

पर स्टालिनग्राड नहीं जीता जा सका। उसे बचाने के लिये रूस ने कोई भी कसर नहीं उठा रखी। वोल्गा नदी को पार करके रशियन सेनाएं निरन्तर स्टालिनग्राड पहुँचती रहीं। जर्मन सैनिकों के साथ उन्होंने पग-पग पर लड़ाई की। न केवल बाजारों और गलियों में, अपितु मकानों के अन्दर भी जोर के साथ लड़ाई हुई। इन लड़ाइयों में रशियन सैनिकों और नागरिकों ने अपूर्व वीरता का परिचय दिया। उनकी हिम्मत का ही यह परिणाम हुआ, कि स्टालिनग्राड जर्मनी के कब्जे में नहीं आ सका। पर इसमें सन्देह नहीं, कि १९४२ के आक्रमण में रूस को बहुत सख्त मुकाबला करने की आवश्यकता हुई। उसके धन और जन का बहुत बुरी तरह विनाश हुआ। इस समय रशियन लोग केवल यही चाहते थे, कि उनके मित्र ब्रिटेन और अमेरिका पश्चिम की तरफ नये मोरचे को कायम कर दें, ताकि जर्मनी के हमले का जोर कुछ हलका पड़ जाय। पर श्री चर्चिल का ख़याल था, कि यह अभी सम्भव नहीं है। ब्रिटेन के कुछ साहसी सिपाही टोलियां बनाकर इंगलिश चैनल को पार कर फ्रांस के समुद्रतट पर कुछ छोटे-छोटे हमले अवश्य करते रहे, पर इनका उद्देश्य केवल यह था, कि जर्मनी परेशान हो। ऐसे किसी आक्रमण का आयोजन करने में ब्रिटेन सफल नहीं हुआ, जिससे रूस पर दबाव कम हो सके। इस समय में ब्रिटिश व अमेरिकन हवाई जहाज समय-समय पर जर्मनी पर गोलाबारी करते रहते थे, और रूस को युद्ध-सामग्री पहुंचाने का भी उद्योग किया जा रहा था। पर रूस की दृष्टि में यह सर्वथा अपर्याप्त था।

इसी समय उत्तरी अफ्रीका में भी जर्मन लोग शानदार सफलताएं प्राप्त कर रहे थे। जनरल रोमल की सेनाएं सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका पर कब्जा कर चुकने के बाद मिस्र और स्वेज की नहर पर आक्रमण करने की योजना बना रही थीं। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। जनरल मान्टगोमरी के नेतृत्व में ब्रिटेन की सैनिक शक्ति ने एक बार फिर अपनी क्षमता प्रदर्शित की। मिस्र में रोमल को परास्त कर इन सेनाओं ने पश्चिम की ओर बढ़ना शुरू किया। १२ नवम्बर, १९४२ तक मिस्र से जर्मन सेनाओं को बाहर खदेड़ दिया गया। २० नवम्बर तक ब्रिटिश सेनाएं पश्चिम की ओर बंगाजी तक आगे बढ़ गई। रोमल के सम्मुख इस समय यही उपाय था, कि ट्रिपोली को अपना आधार बना कर ब्रिटेन का मुकाबला करने का प्रयत्न करे। यह प्रदेश सिसली के बहुत समीप था, और सिसली से समुद्र पार कर नई सेनाएं व युद्ध-सामग्री रोमल के पास भेजी जा सकती थीं, पर इसमें भी उसे सफलता नहीं हुई। जनरल मान्ट-गोमरी की सेनाएं निरन्तर आगे बढ़ती जाती थीं। उन्होंने ट्रिपोली में भी रोमल को टिकने नहीं दिया।

इसी बीच में अमेरिका और ब्रिटेन ने जर्मनी के खिलाफ दूसरा मोर्चा तैयार करने की योजना पूर्ण कर ली। इस समय यह सम्भव नहीं था, कि फ्रांस, बेल्जियम या जर्मनी में मित्रपक्ष की सेनाएं उतारी जा सकतीं। पर उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका में सेनाओं का उतार सकना सम्भव था। फ्रेंच उत्तरी अफ्रीका पर जर्मन प्रभाव बहुत जबर्दस्त नहीं था। ब्रिटिश लोग आशा कर सकते थे, कि वहां उनका कड़ा विरोध नहीं होगा। उनका यह भी खयाल था, कि अफ्रीका से जर्मनी को निकालकर इटली के ऊपर आक्रमण कर सकना सुगम होगा। इटली जर्मनी के समान शक्तिशाली नहीं था, युद्ध-नीति के अनुसार यह ठीक था, कि पहले कमजोर राज्य के ऊपर हमला किया जाय। इसी के अनुसार, ८ नवम्बर, १९४२ को जनरल आइजनहोवर के नेतृत्व में अमेरिकन और ब्रिटिश सेनाएं फ्रेंच उत्तरी अफ्रीका के अनेक स्थलों पर उतर गई। विशी सरकार के प्रतिनिधियों ने उनका विशेष मुकाबला नहीं किया। उधर मान्टगोमरी की सेनाएं रोमल को परास्त करते हुए निरन्तर आगे बढ़ रही थीं। मान्टगोमरी और अमेरिकन सेनापति आइजनहोवर के प्रयत्नों से अफ्रीका जर्मन कब्जे से मुक्त हो गया, और मित्रराज्यों के लिये यूरोप पर आक्रमण कर सकना सम्भव हो गया। उत्तरी अफ्रीका के फ्रेंच प्रदेशों को मित्रराज्यों के पक्ष में संगठित करने के लिये इस समय जनरल द गॉल ने विशेष तत्परता और कार्य-क्षमता

प्रदर्शित की। उसी के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि विशी सरकार के अनेक सेनापति इस समय मित्रराज्यों के पक्ष में आ गये।

१८. रूस में घमासान युद्ध

१९४२-४३ की ग्रीष्म ऋतु में रशियन सेनाओं ने फिर अपने आक्रमणों को शुरू किया। एक नवम्बर, १९४२ को स्टालिनग्राड से जर्मनों को पीछे धकेला जाना प्रारम्भ हुआ। १९ नवम्बर से २९ नवम्बर तक दस दिनों में ३६,००० जर्मन सैनिक रशियनों द्वारा कैद कर लिये गये, और जर्मन सेनाओं ने पीछे हटना शुरू किया। जनवरी, १९४३ तक यह दशा हो गई, कि स्टालिनग्राड से जर्मनों के पैर उखड़ गये। इस नगर की लड़ाई में एक लाख से ऊपर जर्मन सैनिक मारे गये और ९१,००० कैद हुए। इतने सैनिकों का विनाश करा चुकने पर जर्मन सेना स्टालिनग्राड को छोड़कर वापस हो गई। पीछे हटती हुई जर्मन सेना पर रशियनों के हमले जारी रहे, और उन्होंने जर्मनों को बहुत दूर तक पीछे धकेल दिया। स्टालिनग्राड की विजय से रूस में अपूर्व साहस और आशा का संचार हुआ। ब्रिटेन में भी इससे खुशी और सन्तोष की लहर फैल गई। राजा जार्ज छठे ने आज्ञा दी, कि एक रत्नजटित तलवार को विशेष रूप से तैयार किया जाय, जिसे विजयोपहार के रूप में रूस के भेंट किया जाय। दिसम्बर, १९४३ में श्री चर्चिल ने यह तलवार स्टालिन की सेवा में अर्पित की।

स्टालिनग्राड के रणक्षेत्र के समान काकेशस और कालासागर के प्रदेशों में भी रशियन सेनाओं ने आगे बढ़ना शुरू किया। मैकोप के विस्तीर्ण तैल-क्षेत्र पर फिर रूस का कब्जा हो गया। लेनिनग्राड पर जो जर्मन सेना घेरा डाले पड़ी थी, उस पर भी जबर्दस्त हमले किये गये, और वहां भी जर्मनों को पीछे हटना पड़ा। सर्दियों भर रूस की विजयों की यह प्रक्रिया जारी रही। पर जर्मनों की युद्ध-शक्ति अभी शिथिल नहीं हुई थी। गरमियां आने पर १९४३ में उसने फिर आगे बढ़ना शुरू किया। पर अब जर्मन हमले की तीव्रता पहले के मुकाबले में बहुत कम थी। गरमी के मौसम में जर्मन और रशियन सेनाओं में सर्वत्र घमासान लड़ाइयां होती रहीं। समझा यह जाता था, कि ग्रीष्म ऋतु में रूस के लिये आगे बढ़ सकना सम्भव नहीं होता। पर इस बार रूस ने गरमी के दिनों में भी अपनी सेनाओं का इतना बल प्रदर्शित किया, कि जर्मनी के लिये आगे बढ़ना कठिन हो गया। जब १९४३-४४ की शीत ऋतु शुरू हुई, तब तो जर्मनी के लिये रूस में टिक सकना सम्भव ही नहीं रह गया। २५ सितम्बर,

१९४३ को स्मोलन्स्क पर रूस का फिर से कब्जा हो गया। अक्टूबर में काकेशस के प्रदेश से जर्मनी को बाहर निकाल दिया गया। नवम्बर में क्रीमिया जर्मनों से खाली हो गया। नवम्बर में ही कीव पर भी रूस ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस समय रूस की सेनाएं भयंकर बाढ़ व आंधी के समान आगे बढ़ रही थीं। उनका उत्तरी अंश बाल्टिक सागर के तट पर एस्थोनिया तक पहुंच गया था। अब यह बिलकुल स्पष्ट हो गया था, कि जर्मनी की सैन्य-शक्ति रूस की बाढ़ के सम्मुख नहीं टिक सकेगी। १९४४ की ग्रीष्म ऋतु तक यह हालत हो गई थी, कि प्रायः सम्पूर्ण रशियन प्रदेशों से जर्मनों को खदेड़ कर बाहर कर दिया गया था। रूस की जनशक्ति और अपने देश व सिद्धान्तों के प्रति प्रेम का ही यह परिणाम था, कि जर्मनी उसे परास्त नहीं कर सका। शुरू में रशियन लोगों को अनेक पराजयों व हानि को सहन करना पड़ा। पर अन्त में उनकी विजय हुई। जर्मनी और रूस का यह घोर संग्राम संसार के इतिहास में अद्वितीय है। अनुमान किया गया है, कि इस संग्राम में जर्मनी के ७८,००,००० आदमी या तो मारे गये और या कैद किये गये। रूस के इसी प्रकार से काम आए आदमियों की संख्या ५३,००,००० है। दोनों देशों की युद्ध-सामग्री की क्षति का अनुमान निम्न तालिका से किया जा सकता है—

युद्ध-सामग्री	जर्मनी	रूस
टैंक	७०,०००	४९,०००
हवाई जहाज	६०,०००	३०,१२८
तोपें	९०,०००	४८,०००

युद्ध-सामग्री और सैनिकों के इस भयंकर विनाश के अतिरिक्त दोनों देशों की सम्पत्ति व नागरिकों को जो नुकसान हुआ, उसका तो अन्दाज कर सकना भी कठिन है।

१५. वारसा की दुर्घटना

रशियन सेना जर्मनी को परास्त करती हुई जिस प्रकार तेजी से आगे बढ़ रही थी, उससे पोलैण्ड के लोगों को यह आशंका होने लगी, कि वे शीघ्र ही वारसा तक पहुँच जायंगी, और पोलैण्ड पर रूस का कब्जा हो जायगा। पोल लोग जर्मनी की अधीनता से तो स्वतन्त्र होना चाहते थे, पर जर्मनी के कब्जे से छूटकर कहीं वे रूस के शिकंजे में न फंस जायं, इस बात का भी उन्हें भय था। आजाद पोलैण्ड की सरकार ब्रिटेन में विद्यमान थी,

और अनेक पोल देशभक्त पोलैण्ड में रहते हुए गुप्त रूप से अपने देश की स्वतन्त्रता के प्रयत्न में लगे हुए थे । १ अगस्त, १९४४ को लन्दन में स्थित पोल सरकार ने आज्ञा प्रकाशित की, कि सब पोल देशभक्त वारसा को स्वतन्त्र कराने के लिये सन्नद्ध हो जायं, और इससे पूर्व कि रूस उस पर कब्जा कर सके, स्वयं वहां अपना अधिकार स्थापित कर लें । इस आज्ञा का परिणाम यह हुआ, कि पोल लोगों ने वारसा में विद्रोह कर दिया । वे जर्मनी के खिलाफ हथियार लेकर उठ खड़े हुए । पर अभी इस प्रकार विद्रोह कर देने का उपयुक्त अवसर नहीं था । रशियन सेनाएं अभी वारसा नहीं पहुँची थीं, और जर्मनी की शक्ति का मुकाबला कर सकना पोल देशभक्तों के लिये असम्भव था । जर्मनी ने इस विद्रोह को बुरी तरह से कुचला । दो लाख पोल देशभक्त मौत के घाट उतार दिये गये । लन्डन में विद्यमान आजाद पोल सरकार ने इसके लिये रूस को दोष दिया । उसका कहना था, कि रूस ने जान-बूझकर वारसा पर हमला करना स्थगित कर दिया, जिससे कि पोल देशभक्तों को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी । पर रशियन सरकार इस आरोप का खण्डन करती थी । परिणाम यह हुआ, कि आजाद पोल सरकार के मुकाबले में रूस ने पोल देशभक्तों का नया संगठन स्थापित कर दिया । पोलैण्ड जब जर्मनी के कब्जे से स्वतन्त्र होगा, तो उसका शासन कौन संभालेगा, इस सम्बन्ध में अभी से झगड़ा शुरू हो गया । यद्यपि ब्रिटेन और रूस इस समय जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में एक थे, पर युद्ध के बाद उनमें तीव्र मतभेद उत्पन्न होगा और यूरोप के पुनःनिर्माण के सम्बन्ध में उनमें एकमत नहीं हो सकेगा, यह बात अभी से स्पष्ट होने लग गई ।

१६. इटली का पतन

ब्रिटिश और अमेरिकन सेनाओं ने उत्तरी अफ्रीका पर अपना कब्जा इसी उद्देश्य से स्थापित किया था, कि उसे आधार बनाकर यूरोप पर आक्रमण किया जायगा, और विविध राज्यों को नाजियों व फैसिस्टों के पंजे से मुक्त किया जायगा । जून, १९४३ तक अफ्रीका में उनकी स्थिति मजबूत हो गई थी । १० जुलाई, १९४३ को प्रातःकाल ३ बजे सिसली पर आक्रमण शुरू किया गया । जहाजों द्वारा बड़ी संख्या में सैनिकों को समुद्रतट पर उतार दिया गया । शत्रु उन पर हमला न कर सके, इसके लिये हवाई जहाजों की समुचित व्यवस्था की गई थी । सिसली में मुख्यतया इटालियन सेनाएं विद्यमान थीं, वे मित्रसेनाओं का

मुकाबला नहीं कर सकीं। एक महीने में सम्पूर्ण सिसली मित्रराज्यों के अधिकार में आ गया।

जिस समय ब्रिटिश और अमेरिकन सेनाएं भूमध्यसागर को पार कर सिसली पर कब्जा कर रही थीं, इटली में मुसोलिनी के खिलाफ तीव्र असन्तोष फैल रहा था। अब तक इटालियन सेनाओं को कहीं भी शानदार सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। ग्रीस और अफ्रीका—सर्वत्र उन्हें मुंह की खानी पड़ी थी। लोग समझते थे, मुसोलिनी इस सबके लिये जिम्मेवार है। यह सबको प्रत्यक्ष नजर आता था, कि सिसली के बाद इटली की बारी आयगी, और शीघ्र ही मित्रसेनाएं उस पर भी अपना कब्जा कर लेंगी। मुसोलिनी के लिये इस भय से अपने देश की रक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। वह हिटलर के पास मिलने के लिये गया, और उससे सहायता की प्रार्थना की। पर अब पासा पलटने लगा था। जर्मन सेनाएं रूस में बुरी तरह उलझी हुई थीं, और हिटलर के लिये यह सम्भव नहीं था, कि इटली की सहायता के लिये सेनाओं को भेज सके। मुसोलिनी निराश होकर अपने देश को वापस लौट आया। वहां उसके खिलाफ बगावत की पूरी तैयारी हो चुकी थी। फैसिस्ट ग्रांड कौंसिल के अधिवेशन में उसकी कड़ी नुकताचीनी की गई। मुसोलिनी ने भरपूर कोशिश की, कि लोगों को शान्त कर सके। पर उसे सफलता नहीं हुई। जब वह कौंसिल के सभा-भवन से बाहर निकला, तो उसे गिरफ्तार कर लिया गया, और एक सैनिक मोटर गाड़ी पर बिठाकर किसी अज्ञात स्थान पर ले जाकर नजरबन्द कर दिया गया। मार्शल बोदोग्लियो के नेतृत्व में नई सरकार कायम कर ली गई। मार्शल बोदोग्लियो ७३ वर्ष की आयु का वृद्ध सेनापति था। वह अबीसीनिया का वायसराय रह चुका था और इटली के सबसे योग्य सेनानायकों में उसकी गिनती की जाती थी। युद्ध के समय में उसने अच्छी योग्यता प्रदर्शित की थी। वह दिल से फैसिस्ट नहीं था। उसकी इच्छा यही थी, कि इटली में फिर से राजा की यथापूर्व सत्ता कायम हो जाय। वह युद्ध बन्द करके मित्रराज्यों से सुलह कर लेने के लिये उत्सुक था। इसीलिये उसने एक दूत द्वारा जनरल आइजनहोवर के पास सन्धि का सन्देश भेजा। पर यह सन्धि तभी सम्भव थी, जब कि मित्रसेना तुरन्त ही इटली में प्रवेश कर जाय। मुसोलिनी के पतन से हिटलर यूंही चिन्तित था। अपने मित्र की इस दुर्दशा से मुक्ति के लिये वह प्रयत्न भी कर रहा था। वह यह भी जानता था, कि बोदोग्लियो की सरकार लड़ाई बन्द करके सुलह की कोशिश करेगी। अतः उसने

अपनी सेनाएं इटली में भेजनी शुरू कर दी थीं। यदि मित्रसेनाएं मुसोलिनी के पतन के बाद तुरन्त ही इटली में प्रवेश कर जातीं, तो बिना किसी लड़ाई के उनका वहां कब्जा हो जाता। पर उन्होंने देरी कर दी। मुसोलिनी का पतन २५ जुलाई को हुआ था। मित्रसेनाएं २ सितम्बर को इटली में उतरनी शुरू हुईं। इस बीच में जर्मन सेनाएं वहां आ चुकी थीं, और बोदोग्लियो की सरकार के सन्धि के लिये उद्यत होने पर भी जर्मन सेनाएं मित्रसेनाओं का मुकाबला करने के लिये कटिबद्ध थीं। मित्रसेनाओं को इनके साथ घोर संघर्ष करना पड़ा। दक्षिणी इटली पर तो मित्रराज्यों का कब्जा सुगमता से हो गया, पर उत्तर में लड़ाई जारी रही। यह लड़ाई १९४८ तक चलती रही।

मुसोलिनी का पतन यूरोप के इतिहास में बड़ा महत्त्व रखता है। फैसिस्ट विचार-धारा का वही प्रवर्तक था। कुछ समय के लिये उसने इटली का भारी उत्कर्ष भी कर लिया था। अफ्रीका में अपने विशाल साम्राज्य को स्थापित कर उसने प्राचीन रोमन साम्राज्य का आंशिक रूप में पुनरुद्धार कर लिया था। यदि वह इतने से सन्तुष्ट होकर देश की उन्नति में अपनी शक्ति को लगाता, तो निःसन्देह उसका नाम इतिहास में सुवर्णीय अक्षरों में लिखा जाता। पर अत्यधिक महत्त्वाकांक्षाओं ने उसे हिटलर के हाथों की कठपुतली बना दिया। इसी कारण उसका इतनी दुर्दशा के साथ अन्त हुआ। बोदोग्लियो की सरकार ने उसे जिस स्थान पर नजरबन्द कर रखा था, हिटलर ने वहां से उसे छुड़ा लिया। हिटलर ने मुसोलिनी से सच्चे अर्थों में मित्रता का निर्वाह किया। ८ सितम्बर, १९४३ को कुछ जर्मन सैनिक हवाई छतरियों से वहां उतर गये और मुसोलिनी को छुड़ाकर जर्मनी ले गये। इसके बाद मुसोलिनी जर्मनी के कब्जे में रहा। हिटलर की सहायता से उसने एक बार फिर इटली को अपने प्रभाव में लाने की कोशिश की, पर इसमें उसे सफलता नहीं मिली।

१७. स्वातन्त्र्य-आन्दोलन

जर्मनी ने यूरोप के जिन राज्यों को जीत कर अपने अधीन किया था, प्रायः उन सबमें स्वातन्त्र्य के लिये आन्दोलन जारी थे। जब रूस, ब्रिटेन और अमेरिका की सेनाएं फिर जोर पकड़ने लगीं, तो ये आन्दोलन भी प्रबल हो गये। फ्रांस, बेल्जियम, होलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, डेनमार्क, नार्वे, पोलैण्ड, इटली, युगोस्लाविया व ग्रीस—सर्वत्र साहसी देशभक्त लोग गुप्त रूप से अपने दल बनाकर नाजी शासकों को परेशान करने में तत्पर थे। वे न केवल नाजियों

के युद्धसम्बन्धी प्रयत्नों में बाधा उपस्थित करते थे, अपितु अन्य अनेक उपयोगी कार्य करने में भी सचेष्ट रहते थे। नाजियों के अत्याचारों से पीड़ित लोगों को सहायता पहुँचाना, नाजियों द्वारा गिरफ्तार किये व्यक्तियों को कैद से छुड़ा कर अन्य देशों में पहुँचाना और जर्मनी के युद्ध-सम्बन्धी प्रयत्न के समाचार मित्रराज्यों के पास भेजना इन देशभक्तों के प्रमुख कार्य थे। साथ ही ये यह प्रयत्न भी कर रहे थे, कि जब उनका देश नाजियों के चंगुल से मुक्त हो, तो वहां लोकतन्त्र शासन स्थापित हो, किसी पार्टी या श्रेणिविशेष का शासन न हो जाय। अपने देश के स्वतन्त्र होने पर उसके शासन का स्वरूप क्या हो, इस सम्बन्ध में इनमें मतभेद भी शुरू हो गये थे। कुछ लोग साम्यवाद के पक्षपाती थे, तो दूसरे ब्रिटेन व अमेरिका के समान लोकतन्त्रवाद के अनुयायी थे। विश्व-सँग्राम की समाप्ति पर जब यूरोप का पुनःनिर्माण हुआ, तो इन विविध देशभक्त दलों के पारस्परिक मतभेद उग्र रूप में प्रगट होने लगे। कहीं-कहीं तो इन मतभेदों ने गृह-कलह का भी रूप धारण कर लिया था। एक दल ब्रिटेन और अमेरिका की सहानुभूति पर निर्भर रहता था, तो दूसरा रूस का।

१८. पूर्वी एशिया की लड़ाइयां

बर्मा को जीतने के लगभग दो साल बाद मार्च १९४४ में जापान ने भारत पर आक्रमण करना शुरू किया। यह आक्रमण आजाद-हिंद-सरकार के सहयोग से किया जा रहा था। भारत के प्रसिद्ध देशभक्त नेता श्रीसुभाषचन्द्र बोस ब्रिटिश सरकार की नजरबन्दी से छूटकर जर्मनी पहुँच गये थे। उनका ख़याल था, कि भारत को ब्रिटेन के चंगुल से छुड़ाने का यह सुवर्णीय अवसर है। यदि लड़ाई में ब्रिटेन की पराजय हो जाय, तो भारत के स्वतन्त्र होने में कोई बाधा नहीं रह जायगी। इसलिये उन्होंने यूरोप में विद्यमान भारतीयों का एक संगठन बनाया, और युद्ध के कार्य में जर्मनी को सहायता देनी प्रारम्भ की। जब जापान ने सुदूर पूर्व में श्वेतांग जातियों के प्रभुत्व का अन्त कर दिया, तो श्रीयुत बोस जापान चले आये। सिंगापुर, मलाया आदि में लाखों भारतीय बसते थे। ब्रिटेन की जो फौजें इन क्षेत्रों में जापानियों के हाथ पड़ गई थीं, उनमें भी भारतीय सैनिक हजारों की संख्या में थे। श्रीयुत बोस ने इन्हें देशभक्ति और राष्ट्रीयता का सन्देश दिया। ब्रिटेन की सेना में ये केवल वेतन व सांसारिक समृद्धि व गौरव की खातिर शामिल हुए थे। देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना का इनमें सर्वथा अभाव था। श्री बोस के तेजस्वी भाषणों से इनकी आंखें खुल गईं। ये

बड़ी संख्या में आजाद-हिंद-फौज में शामिल हुए। बाकायदा आजाद-हिंद-सरकार का संगठन किया गया। श्री बोस उसके 'नेताजी' बने, और इस नई सरकार ने भारत को ब्रिटेन के चंगुल से छुड़ाने का काम अपने हाथ में लिया। आसाम की पूर्वी सीमा पर मणिपुर की रियासत पर बाकायदा हमला किया गया। कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा, कि ब्रिटिश सेना इस क्षेत्र में नहीं टिक सकेगी। पर अन्त में उसकी विजय हुई। आजाद-हिंद-सेना और उसके जापानी सहायकों को पीछे हटना पड़ा, और भारत में ब्रिटेन की सत्ता सुरक्षित हो गई। १९४२ से ४४ तक दो साल जापान ने भारत पर हमला करने का जो कोई प्रयत्न नहीं किया, यह उसकी भारी भूल थी। इस अरसे में ब्रिटेन ने भारत के धन व जन की अपार शक्ति को भली भांति संगठित कर लिया था।

अगस्त, १९४४ तक जापान के भारत पर आक्रमण कर सकने का भय सर्वथा दूर हो गया था। इसके विपरीत ब्रिटिश सेना ने बर्मा की तरफ आगे बढ़ना शुरू कर दिया था। इम्फाल आसाम की सीमा का प्रमुख नगर है। यदि आजाद-हिंद-सेना और जापानी इसे जीत सकते, तो आसाम पर कब्जा करने का मार्ग उनके लिये खुल जाता। पर अब ब्रिटिश और अमेरिकन सेनाओं ने आगे बढ़ना शुरू कर दिया। जनवरी, १९४५ तक उत्तरी बर्मा मित्रराज्यों के अधिकार में चला गया। ३ मई को रंगून भी जापानियों के हाथ से निकल गया। यद्यपि जापानी सैनिकों की कुछ टोलियां विविध स्थानों पर लड़ती रहीं, पर अब बर्मा जापान की अधीनता से मुक्त हो गया था। बर्मा की विजय से मित्रराज्यों के लिये न केवल मलाया की तरफ आगे बढ़ना सम्भव हो गया, अपितु चीन की राष्ट्रीय सरकार को स्थल-मार्ग द्वारा सहायता पहुँचाना भी सम्भव हो गया।

जनवरी, १९४५ में अमेरिकन सेनाओं ने फिलिप्पीन्स पर हमले शुरू किये। एक लाख से अधिक अमेरिकन सैनिक जहाजों द्वारा लूजोन के टापू पर उतार दिये गये। शीघ्र ही मनीला पर कब्जा कर लिया गया; और धीरे-धीरे सम्पूर्ण फिलीप्पीन्स द्वीपसमूह जापान की अधीनता से मुक्त हो गया। चीन में भी चिआंग काई शेक की सरकार को बल मिला। प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों से जापानियों को बाहर निकालने के लिये ब्रिटिश और अमेरिकन जल व वायु-सेना अपूर्व कार्य-शक्ति प्रदर्शित करने लगी। जिस वायुवेग से जापान का उत्कर्ष हुआ था, उसका पतन भी उसी गति से हुआ। १९४५ के मध्य तक यह दशा आ गई थी, कि जापान को अपनी स्थिति बिलकुल डांवांडोल प्रतीत होने लगी थी।

उनसठवां अध्याय

विश्व-संग्राम का अन्त

१. फ्रांस की स्वाधीनता

मित्रराज्यों ने उत्तरी अफ्रीका पर कब्जा कर सिसली और इटली पर भी अपना अधिकार कर लिया था। मुसोलिनी और उसके फैसिस्ट शासन की इतिश्री कर दी गई थी। पर इससे रूस पर जर्मन आक्रमणों में ढील नहीं पड़ी थी। रूस के मोरचे पर अभी लाखों जर्मन सैनिक विद्यमान थे। जर्मन सेनाओं को आगे बढ़ने से रोकने के लिये रूस के धन और जन का बुरी तरह से विनाश हो गया था। इस दशा में ब्रिटेन और अमेरिका रूस को केवल एक ही प्रकार से मदद पहुँचा रहे थे। वे बहुत बड़ी संख्या में जर्मनी पर हवाई हमले कर रहे थे, और इन हमलों का जोर निरन्तर बढ़ता जाता था। एप्रिल, १९४४ में केवल एक महीने में ८१,००० टन बम्ब जर्मनी के विविध कारखानों, रेलवे स्टेशनों व अन्य महत्त्वपूर्ण स्थलों पर गिराये गये थे। इसमें सन्देह नहीं, कि इन हमलों से जर्मनी के युद्ध प्रयत्न में भारी बाधा उपस्थित हुई थी। उसके बहुत से कारखाने अस्तव्यस्त हो गये थे, और युद्ध-सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना बहुत मुश्किल हो गया था।

पर ब्रिटेन और अमेरिका ने जर्मनी के खिलाफ दूसरा मोरचा शुरू करने का इरादा छोड़ नहीं दिया था। वे इसके लिये तैयारी में लगे हुए थे। ५ जून, १९४४ को यह मोरचा शुरू हुआ। फ्रांस के उत्तर-पश्चिमी कोने में, समुद्रतट पर मित्रसेनाएं उतार दी गईं। पहले चौबीस घण्टों में ढाई लाख सैनिक फ्रांस पहुँच गये। सितम्बर, १९४४ तक तीस लाख से ऊपर सैनिक फ्रांस पहुँचा दिये गये। जिस स्थान पर ये सैनिक उतारे जा रहे थे, वहां कोई बाकायदा बन्दरगाह नहीं था। इसलिये समुद्रतट पर तैरते हुए विशाल प्लैटफार्म बनाये गये थे, और इन्हें किनारे के साथ फिट कर दिया गया था। इङ्गलैण्ड से फ्रांस के तट तक एक पाइप लाइन बनाई गई थी, जिससे पेट्रोल फ्रांस पहुँचाया जा सके। यह लाइन पानी के

नीचे-नीचे जाती थी। जर्मन लोग इस सबको कोई नुकसान न पहुँचा सकें, इसका इन्तजाम हवाई जहाजों के सुपुर्द किया गया था, जो निरन्तर इस क्षेत्र पर उड़ते रहते थे। फ्रांस के समुद्रतट पर जर्मनी ने जो सेनाएं स्थापित की थीं, व अन्य किलाबन्दी की थी, उस पर भारी बम्ब-वर्षा की जा रही थी। ५ जून की रात को ब्रिटिश हवाई जहाजों ने इस पर ५००० टन बम्ब गिराये। ६ जून को अमेरिकन हवाई जहाजों ने इस पर २०,००० टन बम्बों की वर्षा की। साथ ही, समुद्रतट को आनेवाली सब रेलवे लाइनों और सड़कों को जगह-जगह पर बम्बों द्वारा तोड़ दिया गया, ताकि जर्मनी नई सेनाएं व युद्ध-सामग्री उस ओर न भेज सके। ६ से ८ जून तक, तीन दिन में २७,००० हवाई जहाजों ने फ्रांस के समुद्र-तट पर उड़ान की। इस भारी योजना और तैयारी का यह परिणाम हुआ, कि मित्रसेनाएं सुरक्षित रूप से फ्रांस पहुँच गईं, और उन्होंने आगे बढ़ना शुरू कर दिया। जनरल द गॉल की आजाद फ्रेंच सेना भी इस समय तत्परता से अपना काम कर रही थी। फ्रांस में ऐसे देशभक्तों की कमी नहीं थी, जो जर्मनी की अधीनता से अपने देश को मुक्त कराने के लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार थे। वे सब इस समय क्रियाशील हो गये। इन सब शक्तियों के सम्मुख नाजी सेनाओं के लिये टिक सकना सम्भव नहीं रहा। १५ अगस्त, १९४४ को फ्रांस के पूर्वी समुद्रतट पर भी ब्रिटिश, अमेरिकन और आजाद फ्रेंच सेनाएं उतरनी शुरू हो गईं। २३ अगस्त को मार्सेय्य के प्रसिद्ध बन्दगाह पर मित्रसेनाओं का कब्जा हो गया। २५ अगस्त को जनरल द गॉल ने अपने साथियों के साथ पेरिस में प्रवेश किया। जनता ने बड़े उत्साह के साथ उनका स्वागत किया। लोग खुशी के मारे पागल हो गये। इस बात की परवाह किये विना कि जर्मन सेनाएं अभी पेरिस में विद्यमान हैं, वे उमंग में भरकर बाजारों और गलियों में निकल आये और जनरल द गॉल का धूमधाम के साथ जलूस निकालने के लिये तैयार हो गये। जर्मन सेना और पुलिस ने इन पर गोली चलाई। पर इन्हें इसकी जरा भी परवाह न थी। अब फ्रांस आजाद हो गया था और उसकी जनता का दबा हुआ देश-प्रेम और उत्साह उमड़ पड़ा था। जर्मन गोलियां इसे नहीं दबा सकीं। विशी सरकार अस्तव्यस्त हो गई। मार्शल पेतां को जर्मन लोग अपने साथ जर्मनी ले गये और श्री लवाल की रक्षा के लिये जर्मन सशस्त्र पुलिस तैनात कर दी गई। फ्रांस अब आजाद था और उसका शासन करने के लिये जनरल द गॉल ने एक सामयिक सरकार का संगठन कर लिया था।

फ्रांस को जर्मनी की अधीनता से मुक्त कर मित्रसेनाओं ने बेल्जियम की तरफ प्रस्थान किया । ३ सितम्बर, १९४४ को ब्रुसल्स जीत लिया गया । अगले दिन एण्टवर्प पर कब्जा किया गया, और कुछ ही दिनों में सम्पूर्ण बेल्जियम मित्रसेनाओं के अधिकार में आ गया। फ्रांस के इस युद्ध में ९ लाख जर्मन सैनिक काम आये । मित्रसेना के भी ढाई लाख के लगभग सैनिक इस लड़ाई में मारे गये या बुरी तरह से घायल हुए । युद्ध की परिस्थिति इस समय पूरी तरह से बदल गई थी । मित्रराज्यों में आशा और उत्साह का संचार हो गया था । ऐसा प्रतीत होता था, कि १९४४ के अन्त तक युद्ध की समाप्ति हो जायगी ।

२. जर्मनी का अन्तिम प्रयत्न

पर अभी युद्ध इतनी शीघ्र समाप्त नहीं होना था । जर्मनी के वैज्ञानिक लोग इस प्रकार के हथियारों के आविष्कार में लगे हुए थे, जिनसे मित्रपक्ष की सेना का बुरी तरह से संहार किया जा सकता था । जर्मनी ने एक ऐसे बम्ब का आविष्कार किया, जो ४०० मील प्रति घण्टा की गति से चलता था, और जिसे स्वयं उत्पन्न यान्त्रिक शक्ति द्वारा निश्चित लक्ष्य पर १५० मील की दूरी तक फेंका जा सकता था । इसके लिये किसी चालक की आवश्यकता नहीं होती थी । जर्मनी के किसी सुरक्षित स्थान पर बैठकर ये बम्ब लन्दन या उससे भी परे निश्चित लक्ष्य पर गिराये जा सकते थे । १९४४ में इन नये अस्त्रों का प्रयोग शुरू किया गया । तीन महीने के अरसे में ८०० से ऊपर ऐसे बम्ब ब्रिटेन पर गिराये गये । इनसे लन्दन व उसके समीपवर्ती प्रदेशों को बहुत क्षति पहुँची । ये बहुत ही तेज गति से आते थे और जिस प्रदेश पर गिरते थे, वहां भूकम्प सा आ जाता था । आसपास का सब स्थान बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो जाता था, और बड़ी से बड़ी इमारत क्षण भर में भूमिसात् हो जाती थी । कुछ ही दिनों बाद जर्मनों ने एक और भी अधिक घातक अस्त्र का आविष्कार किया । इसे रोकट बम्ब कहते थे और इसकी गति शब्द की अपेक्षा भी तेज थी । इसे आकाश में ९० मील की उंचाई तक फेंका जा सकता था । जब यह शब्द की अपेक्षा भी तेज चाल से आता हुआ किसी स्थान पर गिरता था, तो वहां तहलका मच जाता था । इसके आगमन की सूचना देने का कोई भी साधन नहीं था । यह अचानक ही किसी भी स्थान पर आ पड़ता था, और अपार नुकसान उत्पन्न कर देता था । जर्मन वैज्ञानिकों का खयाल था, कि रोकट बम्बों द्वारा न्यूयार्क तक को ध्वंस किया

जा सकता है । उस पर हमला करने के लिये न जहाजों की जरूरत है, और न हवाई जहाजों की । जर्मनी में बैठे हुए ही ये रोकट बम्ब इस जोर से फेंके जा सकते हैं, कि ठीक न्यूयार्क पर जाकर गिरें, और उसे तहस नहस कर दें । ब्रिटेन में इन नये हथियारों के कारण तहलका मच गया । लोग बिलकुल बेचैन हो उठे । हिटलर का खयाल था, कि जर्मनी के वैज्ञानिक इन अस्त्रों को १९४३ के समाप्त होने से पहले ही तैयार कर लेंगे । पर उन्हें देरी हो गई । जब तक इनके आक्रमण शुरू हुए, मित्रपक्ष की सेनाएं यूरोप में उतर गई थीं, और फ्रांस और बेल्जियम को उन्होंने जर्मनी के पंजे से मुक्त करा दिया था ।

जर्मनी के लोगों पर अपनी इन पराजयों का बहुत बुरा असर पड़ रहा था । जर्मन सेनापतियों को यह नजर आने लगा था, कि युद्ध में उनकी पराजय निश्चित है । वे समझते थे, कि अब लड़ाई को जारी रखना व्यर्थ है । नाजी पार्टी का असर भी अब कम होने लगा था । परिणाम यह हुआ, कि हिटलर के विरुद्ध एक षड्यन्त्र की रचना की गई । २० जुलाई, १९४४ को हिटलर के समीप एक बम्ब फूट गया, जिससे हिटलर को तो साधारण सी चोट ही आई, पर उसका एक साथी जान से मारा गया । परिणाम यह हुआ, कि अनेक षड्यन्त्रकारी गिरफ्तार किये गये, इनमें जर्मन सेना के कई प्रमुख सेनापति भी शामिल थे । हिटलर के विरोधियों को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई । इस समय ब्रिटिश लोग बुद्धिमत्ता से काम लेते, तो सम्भवतः नाजी पार्टी के खिलाफ सर्वसाधारण जनता विद्रोह कर देती । वह नाजी शासन से असन्तुष्ट थी । पर नाजी लोग कहते थे, यदि ब्रिटेन का जर्मनी पर कब्जा हो गया, तो जनता पर घोर अत्याचार किये जावेंगे । ब्रिटिश प्रचारक इन दिनों खुले तौर पर यह कह रहे थे, कि नाजी लोगों ने परास्त देशों के साथ जो बर्बरतापूर्ण बरताव किया है, उसका पूरी तरह से बदला लिया जायगा । यह प्रचार करना उसकी भारी गलती थी । इस प्रचार का ही यह परिणाम हुआ, कि जर्मन जनता नाजी शासकों के खिलाफ विद्रोह के लिये नहीं उठ खड़ी हुई ।

जर्मनी के वैज्ञानिक एटम बम्ब और रासायनिक अस्त्रों के आविष्कार में भी प्रयत्नशील थे । हिटलर को आशा थी, कि शीघ्र ही ये भयंकर अस्त्र बनकर तैयार हो जायेंगे, और शत्रुओं का सुगमता से संहार किया जा सकेगा । पर इन आविष्कारों में भी देर हो गई । जब तक ये तैयार हुए, मित्रपक्ष की सेनाएं जर्मनी पर भी कब्जा करने लग गई थीं । एटम बम्ब जर्मनी ने ही ईजाद

किया था, पर वह इसे अभी पूरी तरह तैयार नहीं कर सका था। भाग्य ने हिटलर का साथ नहीं दिया, और वह इन नये अस्त्रों का प्रयोग नहीं कर सका।

३. जर्मनी की पराजय

फ्रांस और बेल्जियम को जर्मनी के कब्जे से मुक्त कर मित्रपक्ष की सेनाएं हालैण्ड में प्रवेश कर गईं। अक्टूबर, १९४४ में दक्षिणी हालैण्ड जीत लिया गया। नवम्बर में मित्रराज्यों की सेना जर्मन सीमा को पार कर जर्मनी में भी प्रवेश कर गई। इस समय मित्रपक्ष की सेनाओं की एक बाढ़-सी जर्मनी में आगे बढ़ रही थी। यह बाढ़ ४०० मील के लगभग लम्बी थी। इसके उत्तर में ब्रिटिश, मध्य में अमेरिकन और दक्षिण में फ्रेंच सेनाएं थीं। इन युद्धों में फ्रेंच सेनाओं ने बड़ी वीरता और हिम्मत प्रदर्शित की। जर्मनी ने डटकर मुकाबला किया, पर २४ नवम्बर, १९४४ तक ये सेनाएं र्‌हाइन नदी को पार करने लग गई थीं, और जर्मन सैन्यशक्ति उनके सम्मुख असहाय थी। पर यह नहीं समझना चाहिये, कि जर्मनी को पराजित करना आसान काम था। उसके सेनापतियों ने इस समय अपूर्व रण-चातुरी प्रदर्शित की। उन्होंने कदम-कदम पर अपने शत्रुओं का मुकाबला किया। कई बार तो उन्होंने मित्रपक्ष की सेनाओं को करारी चोटें भी दीं, पर इस समय नाजी शक्ति का जोर ढीला पड़ गया था, और घटनाचक्र की भावी गति का रूप बहुत कुछ स्पष्ट हो गया था।

इस बीच में, पूर्वी रणक्षेत्र में भी जर्मनों को भारी मुसीबत का सामना करना पड़ रहा था। रशियन सेनाएं बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ रही थीं। दूसरा मोरचा कायम हो जाने से अब जर्मनी के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह रूस को पीछे धकेल सके। अपने सब प्रदेशों को रूस पहले ही स्वतन्त्र करा चुका था। अब उसने और आगे बढ़ना शुरू किया। इस समय रूस तीन तरफ से आगे बढ़ रहा था। उसकी एक सेना बाल्टिक तट के विविध राज्यों को जर्मनी के शिकंजे से मुक्त करा रही थी। दूसरी सेना ने जनवरी, १९४५ में वारसा पर कब्जा कर लिया था, और इसके प्रयत्न से सम्पूर्ण पोलैण्ड जर्मनी की अधीनता से मुक्त हो गया था। यही सेना वारसा को जीतकर बर्लिन की तरफ आगे बढ़ी, और इसकी एक शाखा चेकोस्लोवाकिया को स्वतन्त्र कराने के लिये दक्षिण की ओर चल पड़ी। रूस की तीसरी सेना स्टालिनग्राड की तरफ से आगे बढ़ी, और नीस्टर नदी को पार करती हुई फरवरी, १९४५ में रूमानिया पहुंच गई। रूमानिया को विजय कर यह आस्ट्रिया की तरफ

आगे बढ़ी और एप्रिल, १९४५ में इसने वीएना पर कब्जा कर लिया । जर्मन सेनाओं ने सब जगह रूस का डटकर मुकाबला किया, पर वे रशियन सेना की आगे बढ़ती हुई बाढ़ को रोक सकने में समर्थ नहीं हुईं ।

मित्रराज्यों ने आपस में मिलकर पहले ही यह फैसला कर लिया था, कि जर्मनी की राजधानी बर्लिन को विजय करने का श्रेय रूस को प्राप्त होगा । इसी के अनुसार दो शक्तिशाली रशियन सेनाओं ने बर्लिन पर आक्रमण करने के लिये प्रस्थान किया । उत्तर की ओर से मार्शल झुकोव ने और दक्षिण की ओर से मार्शल कोनीव ने बर्लिन पर हमला किया । कुछ दिनों में वे जर्मनी की राजधानी के समीपवर्ती प्रदेशों में पहुँच गये । हिटलर ने निश्चय किया, कि बर्लिन की रक्षा के लिये कोई भी कसर बाकी नहीं छोड़ी जायगी, और सम्पूर्ण नाजी शक्ति को एकत्र कर उसका बचाव किया जायगा । आत्म-समर्पण की बात भी नाजी लोग सोचने के लिये तैयार नहीं थे । परिणाम यह हुआ, कि बर्लिन में जो भयंकर लड़ाई हुई, उसका वर्णन कर सकना लेखनी की शक्ति से बाहर है। जर्मनी के पास जो कुछ भी युद्ध-सामग्री व सैन्यशक्ति शेष बची थी, वह सब बर्लिन में एकत्र कर दी गई, और कदम-कदम पर रशियन सेना का मुकाबला किया गया । पर अन्त में रूस की विजय हुई । मई, १९४५ में बर्लिन के राजभवन पर रशियन झण्डा फहराने लगा ।

पश्चिम और दक्षिण की तरफ से मित्रपक्ष की जो सेनाएं जर्मनी पर आक्रमण कर रही थीं, उन्हें भी अपने उद्देश्य में पूरी सफलता हुई । इनमें से एक सेना बेल्जियम से आगे बढ़कर मार्च, १९४५ में र्‌हाइन नदी पार कर गई और उसने हाम्बुर्ग पर कब्जा कर लिया । दूसरी सेना ने पेरिस से आगे बढ़कर बर्लिन और प्राग (चेकोस्लोवाकिया) की तरफ प्रस्थान किया । तीसरी सेना दक्षिण-पूर्व की तरफ से आगे बढ़ती हुई म्यूनिच पहुँच गई, और डेन्यूब नदी के तट पर रशियन सेना से जा मिली । अब सम्पूर्ण जर्मनी पर रशियन, ब्रिटिश, अमेरिकन व फ्रेंच सेनाओं का कब्जा हो गया था । उत्तरी इटली में जो जर्मन सेनाएं अड़ी हुई थीं, उन पर भी काबू कर लिया गया था । इटली और जर्मनी—दोनों अब पूर्णतया परास्त हो गये थे ।

हिटलर और उसके साथियों को इस समय बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मार्शल पेतां स्विट्जरलैण्ड होता हुआ फ्रांस चला आया। पेतां की आयु इस समय ९० साल की थी। फ्रेंच जनता के हृदय में उसके लिये श्रद्धा थी। १९१४-१८ के महायुद्ध में उसने अपूर्व रणचातुरी प्रदर्शित की थी। जर्मन सेना जो

पेरिस पर कब्जा नहीं कर सकी थी, यह उसी के सैन्य-संचालन का परिणाम था। विश्व-संग्राम में पेरिस और फ्रेंच जनता को जर्मनी द्वारा विध्वंस न होने देने के लिये ही उसने हिटलर से समझौता किया था। विशी में स्थापित फ्रेंच सरकार का वह नेता था। जनरल द गॉल के नेतृत्व में जो आजाद-फ्रेंच-सरकार कायम हुई थी, वह विशी सरकार को अपना शत्रु समझती थी। इस समय फ्रांस द गॉल के हाथ में था। अतः अनेक लोग समझते थे, कि पेतां के साथ शत्रु का सा बर्ताव करना चाहिये, और उस पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया जाना चाहिये। पेतां को गिरफ्तार करके नजरबन्द कर दिया गया। उस पर मुकदमा भी चलाया गया। पर फ्रेंच जनता के हृदय में इस वृद्ध सेनापति के प्रति जो आदर की भावना थी, उसके कारण उसे प्राणदण्ड नहीं दिया गया। बाद में वृद्धावस्था के कारण उसे जेल से भी मुक्त कर दिया गया। मुसोलिनी इटली के ही देशभक्तों द्वारा गिरफ्तार किया गया। उसने बचकर भाग जाने की कोशिश की, इस पर उसे गोली मार दी गई। उसकी पत्नी भी उसके साथ थी, वह भी देशभक्तों की गोली का शिकार बनी। दोनों की लाश को मिलान में लाकर चौक में लटका दिया गया। मिलान इटली का प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र है। वहां की मजदूर जनता मुसोलिनी से घृणा करती थी। लोगों ने अपनी नफरत को प्रगट करने के लिये उसकी लाश के ऊपर थूका। कुछ लोगों ने मुसोलिनी के मृत शरीर पर गोलियां भी चलाईं। इटली के इस साम्राज्यनिर्माता महान् नेता का इस प्रकार दुर्दशा के साथ अन्त हुआ। हिटलर के प्रमुख साथी सेनापतियों ने अब यह भलीभांति अनुभव कर लिया था, कि लड़ाई को जारी रखना व्यर्थ है। उनमें से कुछ ने स्वयं आत्म-समर्पण कर दिया, कुछ को गिरफ्तार कर लिया गया और कुछ ने आत्महत्या करके अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। गोबल्स और उसकी पत्नी की लाश बर्लिन के एक तहखाने में पाई गई। स्वयं हिटलर ने आत्महत्या द्वारा अपने शरीर का अन्त किया। उसकी प्रेयसी ईवा ब्रॉन ने उसके साथ ही अपने जीवन का अन्त कर दिया। कहते हैं, कि हिटलर ने मृत्यु से कुछ समय पहले ईवा ब्रॉन के साथ बाकायदा विवाह भी कर लिया था। नाजी पार्टी के जो नेता व सेना-पति मित्रपक्ष की सेनाओं के हाथ गिरफ्तार हुए, उनमें गोअरिंग, हिमलर और रिबनट्राप के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पर बाद में मुकदमा चलाया गया।

१ मई, १९४५ को बर्लिन की रेडियो ने घोषणा की, कि हिटलर की मृत्यु हो गई है, और जर्मन सरकार का नेतृत्व एडमिरल डोयनिट्स ने सँभाल लिया

है। नई सरकार ने निश्चय किया, कि अब लड़ाई को जारी रखना बिलकुल बेकार है, और बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर देने में ही जर्मनी का हित है। सोमवार ७ मई, १९४५ को जर्मन सरकार की तरफ से जनरल जोडल मित्रपक्ष की सेनाओं के प्रधान सेनापति जनरल आइजनहोवर की सेवा में उपस्थित हुआ। आइजनहोवर उस समय पेरिस के उत्तर में रैंस नगर में विद्यमान था। सुबह दो बजकर इकतालीस मिनट पर जनरल जोडल ने जर्मनी के आत्म-समर्पण-पत्र पर बाकायदा हस्ताक्षर कर दिये। जर्मनी की जल, स्थल और वायुसेना ने बिना किसी शर्त के जनरल आइजनहोवर के सम्मुख हथियार डाल दिये। अब यूरोप में विश्व-संग्राम की समाप्ति हो गई। ८ मई, १९४५ को सर्वत्र विजय-दिवस बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया।

४. जापान की पराजय

यूरोप में जर्मनी को परास्त कर मित्रराज्यों की सम्पूर्ण शक्ति सुदूर पूर्व में जापान को पराजित करने में लग गई। बर्मा, मलाया, सुमात्रा, जावा आदि में मित्रपक्ष की सेनाओं ने किस प्रकार जापान को पीछे हटा दिया था, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। फिलिप्पीन्स द्वीप-समूह पर फिर से अमेरिकन सेनाओं का कब्जा हो गया था, और सिंगापुर ब्रिटिश लोगों के हाथ में आ चुका था। सब तरफ जापानी सेनाएं पीछे हटनी शुरू हो गई थीं। अब खास जापान को परास्त करने का सवाल था। जुलाई, १९४५ में जापान पर घोर बम्बवर्षा शुरू की गई। हवाई जहाजों द्वारा न केवल जापान के कल-कारखानों, रेलवे लाइनों और युद्ध-सामग्री के भण्डारों पर बम्ब बरसाये जाने लगे, अपितु जापानी जहाजों का भी डुबाया जाना शुरू किया गया। जुलाई के दो सप्ताहों में जापान के ४१६ जहाज समुद्र-तल में पहुँचा दिये गये, और ५५६ हवाई जहाज नष्ट कर दिये गये। २७ और २८ जुलाई को जापानी जल-सेना पर जबर्दस्त हमला किया गया और ५०० के लगभग जहाज डुबा दिये गये। चीन और जापान के बीच समुद्र में बड़ी संख्या में बारूदी सुरंगें बिछा दी गईं, और जापानी बन्दरगाहों पर हवाई हमलों का जोर बहुत बढ़ गया। चीन में श्री चियांग काई शेक की सेनाओं ने आगे बढ़ना शुरू किया, और जिन स्थानों पर जापान ने कब्जा कर लिया था, वहां से उन्हें पीछे हटाया जाने लगा। २६ जुलाई, १९४५ को श्री ट्रूमैन, (राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु हो चुकी थी, और उनके स्थान पर श्री ट्रूमैन अमेरिका के राष्ट्रपति बन गये थे)

श्री चर्चिल और श्री च्यांग काई शेक की ओर से एक घोषणा जापानी जनता के नाम प्रकाशित की गई, जिसमें यह कहा गया था, कि जापान को साम्राज्य-विस्तार का इरादा छोड़ देना चाहिये। जापान के अपने प्रदेशों पर मित्रसेनाएं कब्जा नहीं करना चाहतीं। जापान की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखी जायगी, और वहां सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जायगी। पर जापान के नेताओं ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उनका खयाल था, कि अब भी वे मित्रपक्ष को परास्त करने में समर्थ हो सकते हैं।

८ अगस्त, १९४५ को रूस ने भी जापान के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। मंचूरिया (मन्चूकाओ का राज्य) पर रशियन सेनाओं ने अधिकार कर लिया, और उत्तरी चीन का यह सम्पूर्ण प्रदेश कम्युनिस्टों के प्रभाव में आ गया। इन सब विषम परिस्थितियों में भी जापान लड़ाई को जारी रखने के लिये तैयार था, पर इस समय अमेरिका ने एक नये अस्त्र का प्रयोग किया, जिसके कारण जापान में आतंक छा गया। यह अस्त्र एटम बम्ब था। बहुत समय हुआ, वैज्ञानिक लोग यह पता लगा चुके थे, कि सब पदार्थ परमाणुओं से बने होते हैं। परमाणु उस सूक्ष्म तत्त्व का नाम है, जिसके टुकड़े नहीं हो सकते। ये अत्यन्त छोटे परमाणु एक ताकत से आपस में जुड़े रहते हैं। यदि इनको एक दूसरे से अलग किया जा सके, तो जो शक्ति प्रादुर्भूत होगी, वह इतनी जबर्दस्त होगी, कि संसार की कोई भी ज्ञात शक्ति उसका मुकाबला नहीं कर सकेगी। अग्नि, वायु, जल, विद्युत्—ये सब प्राकृतिक शक्तियां हैं, पर परमाणु शक्ति इनकी अपेक्षा बहुत अधिक बलवती है। इस शक्ति का प्रयोग मनुष्य कैसे कर सके, इसकी खोज में वैज्ञानिक लोग जी-जान से जुटे हुए थे। जर्मन वैज्ञानिक इस खोज में तत्पर थे, और हिटलर को आशा थी, कि वे एटम बम्ब का आविष्कार करने में समर्थ हो जावेंगे। अमेरिकन वैज्ञानिक भी इसी कोशिश में लगे थे। जर्मनी को इसमें देर हो गई, और मित्रपक्ष की सेनाओं ने पहले ही उसे परास्त कर दिया। कुछ समय बाद अमेरिकन वैज्ञानिक अपने प्रयत्न में सफल हो गये और उन्होंने एटम बम्ब तैयार कर लिया। अमेरिका ने इसका प्रयोग जापान को परास्त करने के लिये किया। ५ अगस्त, १९४५ को पहला एटम बम्ब हिरोशीमा नामक नगर पर गिराया गया। इससे चार वर्गमील का प्रदेश बिलकुल नष्ट हो गया। हिरोशीमा नगर का नाम व निशान भी शेष न बचा। एटम बम्ब का असर इस चार वर्गमील के प्रदेश के चारों ओर भी दूर-दूर तक पड़ा। इसके प्रभाव से लाखों आदमी बीमार पड़ गये, उनके शरीर पर फुन्सियां निकल

आईं, और कई तरह की बीमारियां सर्वत्र फैल गईं। पर जापान के सैनिक नेताओं ने अब भी आत्मसमर्पण नहीं किया। मित्रराज्यों की ओर से तीस लाख पर्चे हवाई जहाजों द्वारा जापान पर गिराये गये, जिनमें एटम बम्ब की भयंकरता का वर्णन करके यह कहा गया था, कि अब लड़ाई को जारी रखना बिलकुल व्यर्थ है; अब जापान का हित इसी में है, कि वह आत्मसमर्पण कर दे। पर जापान पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। रूस ने भी इसी बीच में उसके खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी थी। ९ अगस्त, १९४५ को दूसरा एटम बम्ब नागासाकी पर गिराया गया। इसके कारण वह प्रसिद्ध नगर तहस-नहस हो गया। अब जापान के सम्राट् ने अनुभव किया, कि लड़ाई को जारी रखने से देश बिलकुल नष्ट हो जायगा। उचित यही है, कि आत्मसमर्पण करके लड़ाई का अन्त कर दिया जाय। १५ अगस्त, १९४५ को जापान की भी पराजय हो गई, और मित्र-राज्यों ने इस विजय-दिवस को बड़े धूमधाम के साथ मनाया।

५. अमानुषिक युद्ध

विश्व-संग्राम में दोनों पक्षों की युद्ध-नीति ने बहुत ही कटु और अमानुषिक रूप धारण कर लिया था। पहले समय में जो युद्ध होते थे, उनमें सैनिक लोग आपस में लड़ते थे। सर्वसाधारण जनता का उनसे विशेष सम्बन्ध नहीं होता था। उन पर लड़ाई का असर जरूर पड़ता था, पर युद्ध के कारण होनेवाले धन-सम्पत्ति के विनाश, हत्या और नाश से उन्हें विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। पर विज्ञान की उन्नति के कारण अब यह सम्भव नहीं रहा है, कि सर्वसाधारण जनता युद्ध से उत्पन्न सर्वनाश से बची रह सके। विश्व-संग्राम में हवाई जहाजों द्वारा जो भयंकर गोलाबारी हुई, बारूदी सुरंगों से जो जहाज डुबाये गए और धन-सम्पत्ति का जो विनाश हुआ, उसका असर साधारण जनता पर बहुत बुरा पड़ा। इस समय में कोई भी मनुष्य अपने घर में रहता हुआ भी अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकता था। जमीन के नीचे अनेक आश्रय-स्थान बनाये गये थे, जहां हवाई हमला होने की दशा में लोग अपनी जान बचा सकते थे।

एटम बम्ब के प्रयोग से यह संग्राम बिलकुल अमानुषिक हो गया था। जापान के जिन दो नगरों का इन बम्बों द्वारा विनाश किया गया, उनमें लाखों स्त्री-पुरुष व बच्चे निवास करते थे। उनका युद्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। उनका दोष केवल यह था, कि वे जापानी थे और जापान का अन्य राज्यों से युद्ध चल रहा

था। निर्दोष बच्चों, स्त्रियों व मनुष्यों की किसी प्रकार की पूर्व सूचना के बिना हत्या सब नैतिक सिद्धान्तों व अन्तर्राष्ट्रीय कानून के खिलाफ थी। मित्रराज्यों ने इस अस्त्र का उपयोग करके उचित नहीं किया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार जहरीली गैसों, रासायनिक द्रव्यों व विषैले कृमियों का लड़ाई में उपयोग करना अनुचित ठहराया गया है। जर्मनी के पास वैज्ञानिकों की कमी नहीं थी। जहरीली गैसों के उपयोग को वे भली भांति जानते थे। इस विषय में हिटलर की प्रशंसा करनी पड़ेगी, कि उसने अपने शत्रुओं का विनाश करने के लिये इन भयंकर उपकरणों का प्रयोग नहीं किया। यह ठीक है, कि जर्मनी स्वयं एटम बम्ब तैयार कर रहा था। पर उसके प्रयोग से पहले जनता को उचित चेतावनी देना बहुत आवश्यक था। अमेरिका ने जब इन बम्बों का प्रयोग किया, तो हिरोशीमा व नागासाकी के निवासियों को किसी भी प्रकार की चेतावनी नहीं दी गई। कुछ दिनों में जापान भी परास्त हो जाता। मित्रपक्ष की सम्मिलित शक्ति का मुकाबला कर सकना उसके लिये सम्भव नहीं था। यदि अमेरिका एटम बम्ब का प्रयोग न कर कुछ दिन सबर से काम लेता, तो उसके माथे पर यह कलंक का टीका न लग पाता। अभी संसार से युद्धों की समाप्ति नहीं हो गई है। भविष्य में भी युद्ध होंगे। पर अमेरिका के इस उदाहरण को सम्मुख रखकर भविष्य में लोग इसी प्रकार के या इससे भी भयंकर अस्त्रों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करेंगे। मानव-समाज के लिये यह बात बहुत भयावह है।

जर्मनी ने इस संग्राम के समय में अपने विरोधियों के साथ बहुत कटु बरताव किया। लड़ाई में शत्रुपक्ष के जो लोग कैदी के रूप में उसके हाथ पड़ गये या विजित देशों में जिन लोगों ने नाजी शासन के खिलाफ किसी प्रकार की कोई कार्रवाई की, जर्मनी ने उन पर घोर अत्याचार किये। यह बात भी युद्ध-नीति के सर्वथा प्रतिकूल थी। मित्रपक्ष की सेनाएं जर्मनी का विजय करती हुई जब आगे बढ़ रही थीं, तब उन्हें कैदियों के इन केन्द्रों को देखने का अवसर मिला। इन केन्द्रों व कैम्पों की हालत बहुत ही खराब थी। जिस कुटी में चालीस आदमियों की जगह थी, वहां दो सौ आदमी रखे गये थे। इन कैदियों को खाने को बहुत कम दिया जाता था। भोजन के अभाव के कारण उनके शरीर अस्थि और चर्म-मात्र रह गये थे। लड़ाई के पिछले दिनों में जर्मनी के पास भोजन-सामग्री का बिलकुल अभाव हो गया था। जर्मन सेनाओं के लिये भी पर्याप्त मात्रा में भोजन मिलना कठिन हो गया था। इस दशा में कैदियों को भोजन पहुँचाने की फिकर किसे हो सकती थी? भूख के

मारे इन कैम्पों में रहनेवाले कैदी कंकालमात्र रह गये थे। साथ ही, अपने विरोधियों को सब प्रकार से कुचल डालने के लिये नाजी लोगों की विद्वेष भावना ने बड़ा उग्र रूप धारण कर रखा था। वे कैदियों को बुरी तरह पीटते थे। पिटते-पिटते जब कोई कैदी अधमरा हो जाता था, तो उसे खुद अपनी मौत मरने के लिये छोड़ दिया जाता था। ऐसे भी उदाहरण हैं, कि इस तरह के मृतप्राय लोगों को मुर्दों की तरह जमीन में गाड़ दिया गया, या अन्य लाशों के साथ रखकर अग्नि में फूंक दिया गया। निःसन्देह, यह बड़ी बीभत्स बात थी। जर्मन वैज्ञानिकों व चिकित्सकों ने कैदियों के ऊपर सब प्रकार के परीक्षण करने में भी संकोच नहीं किया। यह कैसे आश्चर्य की बात है, कि मनुष्य विद्वेष की भावना से हिंस्र पशुओं से भी अधिक क्रूर हो जाता है।

६. नाजी शक्ति की पराजय के कारण

विश्व-संग्राम में नाजी और फैसिस्ट शक्ति की पराजय के अनेक कारण हैं। इनमें सबसे प्रमुख और आधारभूत कारण यह है, कि ये शक्तियां मानव-समाज की प्रगति के मार्ग में बाधायें थीं। इतिहास में हम देखते हैं, कि मनुष्य जाति निरन्तर उन्नति कर रही है। यह उन्नति न केवल विज्ञान और कला के क्षेत्र में है, अपितु समाज के संगठन, मानव के महत्त्व और सामूहिक जीवन के स्वरूप में भी मनुष्य निरन्तर आगे की तरफ बढ़ रहा है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा यूरोप में लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ था। ये सिद्धान्त मानव-समाज को उन्नति के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ा ले गये थे। पर मनुष्य स्वभाव से अपरिवर्तनवादी है, वह किसी नई बात को सुगमता से स्वीकार नहीं कर लेता। पुराने संस्कार, पुरानी संस्थाएं और पुरानी रूढ़ियां मनुष्य के मार्ग में भारी रुकावट का काम करती हैं। उन्नीसवीं सदी में यूरोप में नई और पुरानी प्रवृत्तियों में घोर संघर्ष चलता रहा। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद नई प्रवृत्तियां पूर्ण रूप से सफल हो गईं। सब जगह एकतन्त्र व श्रेणितन्त्र शासनों का अन्त होकर लोकतन्त्र सरकारों की स्थापना हुई, और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार राज्यों का पुनःसंगठन हुआ। पर महायुद्ध के बाद यूरोप में जो परिवर्तन हुए, वे इतने भारी और इतने क्रान्तिकारी थे, कि उनके खिलाफ गहरी प्रतिक्रिया का होना बिलकुल स्वाभाविक था। यह प्रतिक्रिया नाजीज्म और फैसिज्म के रूप में प्रगट हुई। पर यह ध्यान रखना चाहिये, कि नाजीज्म व फैसिज्म मानव-समाज को उन्नति के मार्ग पर

आगे बढ़ानेवाले कदम नहीं थे। वे एक प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति को सूचित करते थे। यह बिलकुल स्वाभाविक व उचित था, कि मनुष्य उन्हें नष्ट करके आगे बढ़े। विश्व-संग्राम द्वारा इन प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों का विनाश हुआ, और यह होना अवश्यम्भावी था।

जर्मनी की पराजय का दूसरा कारण वह जनशक्ति थी, जो परास्त देशों में धीरे-धीरे प्रगट होने लगी थी। फ्रांस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, ग्रीस, युगोस्लाविया आदि सब देशों में सर्वसाधारण जनता यह अनुभव करती थी, कि जर्मनी का शासन उनके राष्ट्रीय गौरव की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। उनमें ऐसे देशभक्तों की कमी नहीं थी, जो अपना सर्वस्व कुर्बान करके भी विजेता के खिलाफ संघर्ष को जारी रखने के लिये उद्यत हों। जर्मनी के लिये यह तो सम्भव था, कि वह लड़ाई के मैदान में शत्रु-सेना को परास्त कर सके। पर यह बात सुगम नहीं थी, कि सर्वसाधारण जनता की स्वतन्त्र भावना का पूरी तरह दमन किया जा सके। इसमें सन्देह नहीं, कि जर्मनी ने अपने अधिकृत और विजित देशों में नाजी सिद्धान्तों को माननेवाले वहीं के लोगों का शासन स्थापित किया। जापान ने भी यही कहा, कि उसका उद्देश्य एशिया को पाश्चात्य श्वेतांग लोगों की अधीनता से मुक्त कराके ऐसी व्यवस्था स्थापित करना है, जिसमें सब लोग परस्पर-सहयोग द्वारा मिलकर उन्नति कर सकें। पर वचन और कर्म में एकता कठिनता से होती है। बर्मा, मलाया, सुमात्रा आदि जिन देशों को जापान ने श्वेतांगों की अधीनता से मुक्त किया, वे जापान की अधीनता में रहने को तैयार नहीं हुए। उनमें स्वाधीनता की भावना पहले भी विद्यमान थी। अब जापान के प्रयत्न से यह भावना और भी बलवती हो गई। इस स्वातन्त्र्य-भावना का ही यह परिणाम था, कि जापान व जर्मनी विजित देशों पर अपना कब्जा देरतक स्थापित नहीं रख सके।

युद्ध के संचालन में जर्मनी और जापान—दोनों ने ही भयंकर भूलें कीं। डनकर्क की दुर्घटना के बाद जर्मनी ब्रिटेन को सुगमता से परास्त कर सकता था, बर्मा को जीतने के बाद भारत का मार्ग जापान के लिये खुला पड़ा था। इन अवसरों का उपयोग न करके जर्मनी और जापान ने अपने भविष्य को खतरे में डाल दिया। रूस के साथ लड़ाई में उलझ पड़ना जर्मनी की दूसरी भयंकर भूल थी। जर्मनी और रूस में १९३९ में यह सन्धि हो चुकी थी, कि वे एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे। हिटलर के हृदय में कम्युनिज्म के प्रति घोर विद्वेष था। यदि वह इस विद्वेष को दबाकर यह

अनुभव करता, कि रूस के साथ लड़ाई न छेड़ने में ही जर्मनी का हित है, तो शायद नाजीज्म का यह दुर्दशा-पूर्ण अन्त न होता। ब्रिटेन और रूस के साथ इकट्ठा लड़ सकना जर्मनी की ताकत के बाहर था। १९१४-१८ के महायुद्ध के समान इस विश्व-संग्राम में भी जर्मनी और उसके साथियों के खिलाफ संसार के बहुत से देश (इनकी कुल संख्या ४४ थी) मिलकर युद्ध कर रहे थे। विश्व की इस सम्मिलित शक्ति का मुकाबला कर सकना जर्मनी व उसके फैसिस्ट साथियों के लिये सम्भव नहीं था।

७. विश्व-संग्राम के परिणाम और यूरोप की नई राजनीति

दो प्रमुख विचार-धारायें—विश्व-संग्राम के बाद यूरोप के इतिहास में अनेक नई प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद लोकतन्त्र शासन और राष्ट्रीयता की जिन नई प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था, वे १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद प्रायः सफल हो गई थीं। इस विश्व-संग्राम के बाद वे प्रवृत्तियाँ पुरानी पड़ गईं, और मानव-समाज उनसे बहुत कुछ आगे बढ़ गया। राष्ट्रीयता की भावना अब कुछ क्षीण होने लगी है। उसका स्थान अब वे नई विचार-धारायें लेने लगी हैं, जो समाज को एक नये रूप में संगठित करना चाहती हैं। व्यावसायिक क्रान्ति और वैज्ञानिक उन्नति के कारण जनसाधारण में जो एक नई जागृति, नई चेतना उत्पन्न हो गई है, उसने समाज के आर्थिक संगठन के प्रश्न को बहुत महत्त्वपूर्ण बना दिया है। समाज का नया आर्थिक संगठन कैसा हो, इस विषय में अनेक नई विचारधारायें उत्पन्न हो गई हैं, जिनमें प्रमुख दो हैं—(१) समाजवाद या कम्युनिज्म, (२) लोकतन्त्रवाद या डेमोक्रेसी। समाजवादी चाहते हैं, कि आर्थिक उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तियों का स्वामित्व न रहे और वे समाज की सम्पत्ति हो जायं। कोई व्यक्ति श्रम किये बिना आमदनी न प्राप्त कर सके। किसी को यह मौका न हो, कि वह वह स्वयं श्रम किये बिना अपनी पूंजी के जोर पर दूसरों की मेहनत का फल पा सके। समाज में ऊंच-नीच का भेद मिट जाय, विविध श्रेणियों व वर्गों का अन्त हो जाय और सब व्यवसाय राज्य के अधिकार में आ जाय। लोकतन्त्र-वादी भी यह स्वीकार करते हैं, कि समाज में छोटे-बड़े व गरीब-अमीर का भेद दूर होना चाहिये। पर उनका ख्याल यह है, कि सम्पत्ति की उत्पत्ति, विनिमय और वितरण पर राज्य कानूनों द्वारा इस प्रकार का नियन्त्रण कायम कर सकता है, जिससे पूंजीपति और मजदूर, जमींदार व किसान—सबमें समन्वय बना

रहें, और सबको सम्पत्ति का यथोचित भाग मिलता रहे। समाज के लिये पूंजी, जमीन व श्रम तीनों की उपयोगिता है। जनसाधारण की उन्नति व कल्याण के लिये यह आवश्यक नहीं, कि विविध वर्गों में परस्पर संघर्ष हो। वे एक दूसरे के साथ सहयोग करके सबकी उन्नति सम्मिलित रूप से कर सकते हैं। इन दो विभिन्न विचारधाराओं ने एक देश व एक राष्ट्र की जनता को दो पृथक् भागों में बांट दिया है। फ्रांस के कम्युनिस्ट अपने विचारों के कारण रूस के कम्युनिस्टों के अधिक समीप हैं, अपेक्षया फ्रांस के ही उन लोगों के, जो कम्युनिस्ट नहीं हैं। विश्व-संग्राम के समय, इङ्गलैण्ड और फ्रांस जैसे उन्नत देशों में, बहुत से लोगों ने अपनी राष्ट्रीय सरकारों के विरुद्ध शत्रु-राज्यों की सहायता करने में संकोच नहीं किया, कारण यह कि उनकी विचारधारा वही थी, जिसके विरुद्ध उनकी राष्ट्रीय सरकारें युद्ध कर रही थीं। राष्ट्रभक्ति, देश-प्रेम और अपनी मातृ-भूमि के लिये मर मिटने की भावना का स्थान अब विचारधारा (आइडिओलोजी) के प्रति भक्ति लेने लगी है। यूरोप के हजारों लोग आज कम्युनिज्म या इसी प्रकार की अन्य किसी विचारधारा के लिये अपना सर्वस्व कुर्बान करने के लिये व सब प्रकार का कष्ट उठाने के लिये उद्यत हैं। अपनी राष्ट्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने, देशद्रोही कहाने व अपने देश को नुकसान पहुंचाने में भी उन्हें संकोच नहीं। वे राष्ट्रीय भावना की अपेक्षा अब समाज को नये रूप में संगठित करने को अधिक महत्त्व देते हैं।

राष्ट्रीय भावना की निर्बलता—राष्ट्रीय भावना के निर्बल होने का एक अन्य कारण यह है, कि इस समय वैज्ञानिक उन्नति द्वारा मनुष्य ने देश और काल पर अद्भुत विजय प्राप्त कर ली है। भाषा, धर्म, नसल व संस्कृति आदि के कारण मानव समाज में जो भेद हैं, उनका महत्त्व अब इस विजय के कारण कम होता जा रहा है। किसी समय विविध कबीले, फिरके व गण एक दूसरे से अलग होते थे। बाद में उनके भेद शिथिल पड़ते गये, और विविध कबीले व बिरादरियां एक सूत्र में संगठित होकर राष्ट्र के रूप में एक बड़ा संगठन बनाने में सफल हुईं। जो स्थान कभी कबीलों व गणों का था, वही अब छोटे-छोटे राष्ट्रों का होने लगा है, और वे सब अधिक बड़े संगठन में संगठित होने की आवश्यकता अनुभव करने लग गये हैं। यही कारण है, कि विश्व-संग्राम के बाद यूरोप में यह प्रवृत्ति हुई, कि कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुयायी पूर्वी यूरोप के राज्य रूस की संरक्षा में अपना संगठन बना लें। इसी प्रकार लोकतन्त्र के अनुयायी

पश्चिमी यूरोप के राज्यों ने आवश्यकता समझी, कि वे कम्युनिस्ट लहर से अपना बचाव करने के लिये परस्पर मिलकर एक हो जायं ।

एकाधिकार की प्रवृत्ति—लोकतन्त्र शासन का स्थान अब एकाधिकार (टोटलिटेरियनिज्म) लेने लगा है । विविध विचारधाराओं के कारण राष्ट्रीय सरकारों की स्थिति अब कहीं भी सुरक्षित नहीं रही है । क्योंकि प्रायः प्रत्येक देश में ऐसी पार्टियां स्थापित हो गई हैं, जो राष्ट्र की सुरक्षा की अपेक्षा किसी विचारधारा को अधिक महत्त्व देती हैं, अतः राष्ट्रीय सरकारों के लिये आवश्यक हो जाता है, कि वे इन पार्टियों पर अनेक प्रकार की पाबन्दियां लगावें और अपने हाथ में इतने अधिकार ले लें, जिससे इन राष्ट्र-विरोधी शक्तियों का भली भांति दमन कर सकें । यही कारण है, कि ब्रिटेन जैसे स्वतन्त्रता-प्रिय देश को भी कम्युनिस्ट पार्टी के विरुद्ध अनेक कार्रवाइयां करने की आवश्यकता हुई है । जहां कम्युनिस्ट सरकारें हैं, वहां तो अन्य विचारधाराओं व राजनीतिक दलों का पनपना और भी कठिन है । अठारहवीं सदी के अन्त में जिस लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिये यूरोप में संघर्ष का प्रारम्भ हुआ था, उसका एक आधारभूत सिद्धान्त यह था, कि सबको विचारने, भाषण देने, लिखने व अपनी सम्मति का प्रचार करने की पूरी स्वतन्त्रता हो । पर विविध विचारधाराओं के संघर्ष के इस युग में विचार-स्वातन्त्र्य अब सम्भव नहीं रह गया है । आज की राष्ट्रीय सरकारें विरोधी विचारधारा को पनपने नहीं देना चाहतीं । भिन्न विचारधारा को लेकर बनी हुई राजनीतिक पार्टी की उन्नति से न केवल सरकार की स्थिति सुरक्षित नहीं रहती, अपितु राष्ट्र की सुरक्षा भी खतरे में पड़ जाती है । यही कारण है, कि विरोधी विचारधारा का दमन करने के लिये अनेक प्रकार के कानून बनाये जाते हैं । इसलिये अब विचार-स्वातन्त्र्य और सच्चे लोकशासन का लोप होने लगा है ।

मध्यकालीन परिस्थितियों का प्रादुर्भाव—ऐसा प्रतीत होता है, कि यूरोप में एक बार फिर मध्यकालीन परिस्थितियां प्रगट हो रही हैं । नये आधुनिक युग के सूत्रपात से पहले मध्यकालीन यूरोप की निम्नलिखित विशेषतायें थीं—(क) चर्च का प्रभुत्व, (ख) स्वेच्छाचारी राज्य और (ग) सामन्तपद्धति । ऐसा प्रतीत होता है, कि मध्यकाल की ये तीनों विशेषतायें नये रूप में एक वार फिर जन्म ले रही हैं । चर्च का स्थान अब राजनीतिक दलों ने ले लिया है । मध्यकालीन यूरोप में रोमन कैथोलिक चर्च न केवल जनता के धार्मिक व सामाजिक जीवन का नियन्त्रण करता था, अपितु राज्य व सरकारें भी उसका सिक्का मानती

थीं । शक्तिशाली राजाओं को भी यह साहस नहीं होता था, कि वे चर्च के आदेश का उल्लंघन कर सकें । रोमन कैथोलिक चर्च का केन्द्र रोम था । फ्रांस, जर्मनी और स्पेन के शक्तिशाली सम्राट् रोम के पोप की आज्ञाओं को सिर झुकाकर स्वीकार करते थे । अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी की आज वही स्थिति है, जो मध्यकाल में रोमन कैथोलिक चर्च की थी । जो देश रूस के सोवियट संघ में सम्मिलित नहीं है, उनमें भी इस अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी की शाखायें हैं । ये शाखायें पार्टी के केन्द्रीय संगठन से आज्ञाएं व प्रेरणा प्राप्त करती हैं और अपने देश की सरकार को कम्युनिस्ट प्रभाव में रखने का प्रयत्न करती हैं । मध्यकाल की सामन्तपद्धति में छोटे-छोटे राजा अपनी रक्षा के लिये किसी शक्तिशाली राजा की अधीनता स्वीकार कर लिया करते थे । वे उसे अपना अधिपति व स्वामी मानकर धन व सेना से उसके साथ सहयोग करने को उद्यत रहते थे; पर साथ ही पुनःस्वतन्त्र व प्रबल हो जाने की अपनी महत्त्वाकांक्षा का भी परित्याग नहीं कर देते थे । इसी का परिणाम था, कि बड़े-बड़े शक्तिशाली सम्राटों के होते हुए भी शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं रहती थी । विज्ञान की असाधारण उन्नति और विशेषतया एटम बम्ब के आविष्कार से आज यूरोप के विविध देशों के लिये यह आवश्यक हो गया है, कि वे आत्मरक्षा के लिये किसी शक्तिशाली राष्ट्र की शरण लें । बेल्जियम, हालैण्ड व लुक्समबुर्ग जैसे छोटे राष्ट्रों की तो बात ही क्या; फ्रांस, इटली व स्पेन जैसे बड़े राज्य भी अब अलग और अकेले रहकर अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकते; इसलिये अब वे विवश होकर रूस व अमेरिका जैसे शक्तिशाली राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने व उनकी शरण में जाने के लिये तत्पर हो रहे हैं । यूरोप के विविध राज्यों की स्थिति अब मध्यकालीन सामन्तों की सी होने लगी है, जो अपनी पृथक् स्वतन्त्र भावना को कायम रखते हुए इन शक्तिशाली राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उद्यत हैं ।

साम्राज्यवाद का नया स्वरूप—पुराना साम्राज्यवाद अब समाप्त हो रहा है । किसी समय सम्राट् लोग विश्व-विजय करना गौरव की बात समझते थे । उनकी यही आकांक्षा रहती थी, कि सब राज्यों का विजय कर पृथिवी भर पर अपना चक्रवर्ती राज्य स्थापित करें । पर अब आक्रमण या विजय के लिये सेना रखना अनुचित समझा जाता है । सेना की सत्ता अब आत्म-रक्षा के लिये है । पर अब साम्राज्यवाद का स्थान विचारधाराओं पर आश्रित प्रभाव-क्षेत्रों ने ले लिया है । रूस और अमेरिका इस नये प्रकार

के साम्राज्यवाद के प्रधान नेता हैं। रूस कम्युनिस्ट विचारधारा का केन्द्र है, और अमेरिका लोकतन्त्रवाद का। जिन-जिन देशों में कम्युनिस्ट दल प्रबल होता जाता है, वे रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आते जाते हैं। सारा पूर्वी यूरोप रूस के प्रभाव में आ गया है। पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों में भी कम्युनिस्ट दलों की शक्ति अगण्य नहीं है। चीन, दक्षिण-पूर्वी एशिया, बर्मा—सब जगह कम्युनिस्ट दल अपना प्रभाव बढ़ा रहा है। रूस के इस बढ़ते हुए 'साम्राज्यवाद' से अपनी रक्षा करने के लिये उत्सुक देशों के सम्मुख केवल एक ही उपाय है, कि वे अमेरिका के 'सामन्त' बन जायं। पृथक् रहकर उनके लिये आत्मरक्षा कर सकना सम्भव नहीं है। आर्थिक परिस्थिति भी इस नये साम्राज्यवाद में सहायक है। विश्व-संग्राम के कारण यूरोप के विविध देशों का जो भयंकर आर्थिक ह्रास हुआ है, उसकी क्षति-पूर्ति वे किसी सम्पन्न व समृद्धिशाली देश की सहायता के बिना नहीं कर सकते। अमेरिका इस स्थिति में है, कि वह युद्ध के कारण क्षत देशों को आर्थिक सहायता देकर उन्हें फिर से अपने पैरों पर खड़ा होने लायक बना सके। यूरोप के अनेक देश अमेरिका से आर्थिक सहायता लेना स्वीकार कर उसके प्रभाव-क्षेत्र में आ गये हैं।

इस समय संसार का नेतृत्व प्रधानतया रूस और अमेरिका के हाथ में है। ब्रिटेन की राजनीतिक स्थिति पहले की अपेक्षा निर्बल हो गई है। संसार का नेतृत्व अब उसके हाथ में नहीं है। पर ब्रिटेन के पास अपने उपनिवेशों की अपार शक्ति है। कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि विशाल उपनिवेशों का आर्थिक विकास अभी भली भांति नहीं हुआ है। राष्ट्रीय लोकतन्त्र शासन भी वहां सुचारु रूप से सुरक्षित हैं। इन उपनिवेशों का भली भांति विकास कर ब्रिटेन अपनी शक्ति को अक्षुण्ण रख सकता है। साथ ही, एशिया के अनेक देशों की सद्भावना भी ब्रिटेन को प्राप्त है। अपने साम्राज्य का स्वेच्छापूर्वक अन्त करके ब्रिटेन ने भारत, पाकिस्तान, लंका, अरब आदि विविध देशों की सद्भावना प्राप्त कर ली है। आज भारत ब्रिटेन के लिये एक विकट समस्या न रह कर उसका सहयोगी व मित्र बन गया है। अपनी समझदारी की वजह से आज ब्रिटेन फिर इस स्थिति में है, कि रूस व अमेरिका के समान अपना एक पृथक् प्रभाव-क्षेत्र बना सके। यह प्रभाव-क्षेत्र रूस व अमेरिका के बीच में एक प्रकार का समतुलन कायम कर सकता है, और इस प्रकार ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने महत्त्व को अक्षुण्ण रख सकता है।

विश्व-संग्राम के परिणामस्वरूप एशिया से श्वेतांग लोगों का प्रभुत्व नष्ट हो

गया है। गत महायुद्ध में यूरोप की विविध जातियां आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य से मुक्त हुई थीं। इस बार भारत, बर्मा, मलाया, लंका आदि विविध देश ब्रिटेन के साम्राज्य से मुक्ति पा गये हैं। फ्रांस और हालैण्ड के सुविस्तृत साम्राज्य भी अपने अन्तिम सांस ले रहे हैं, और उनके शिकंजे से विविध एशियाई जातियां मुक्त हो रही हैं। एशिया अब संसार की राजनीति में अपना समुचित स्थान पाने लगा है।

विश्व-संग्राम में धन और जन का कितने भयंकर रूप से संहार हुआ, इसका सही-सही अन्दाज अब तक नहीं लग सका है। पर यह निश्चित है, कि इस संग्राम में १,५०,००,००० से अधिक सैनिक मौत के घाट उतरे। जो सैनिक बुरी तरह से घायल होकर पूरी तरह अपाहिज हो गये, उनकी संख्या ५५,००,००० से उपर है। सैनिकों के अतिरिक्त जो सर्वसाधारण नागरिक बम्बवर्षा, जहाजों के डूबने आदि द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुए व बुरी तरह से घायल हुए, उनकी संख्या भी एक करोड़ के लगभग पहुँचती है। जिन लोगों को संग्राम के कारण अपने घर-बार छोड़कर स्थानभ्रष्ट होना पड़ा, उनकी संख्या भी करोड़ों में है। विश्व-संग्राम में विविध राज्यों को जो खर्च करना पड़ा, उसकी मात्रा एक लाख करोड़ अन्दाज की गई है। युद्ध के कारण सम्पत्ति का जो विनाश हुआ, उसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि अकेले ब्रिटेन में लड़ाई के कारण जो सम्पत्ति-सम्बन्धी नुकसान हुआ, उसकी क्षतिपूर्ति करने के लिये १८०० करोड़ रुपया अपेक्षित होगा। ब्रिटेन इस संग्राम में युद्ध का क्षेत्र नहीं बना, फिर भी उसकी इमारतों, कारखानों, रेलवे आदि को इतना भारी नुकसान पहुंचा। रूस, फ्रांस, पोलैण्ड आदि जिन देशों में वस्तुतः लड़ाई लड़ी गई, उनकी सम्पत्ति का विनाश तो इससे भी बहुत अधिक हुआ। अनुमान किया गया है, कि विश्व-संग्राम के कारण रूस की कुल राष्ट्रीय सम्पत्ति का चौथाई भाग नष्ट हो गया है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में युद्ध किसी भी देश के लिये कितना भयंकर व विनाशक हो सकता है, यह इस विश्व-संग्राम ने भली भांति स्पष्ट कर दिया है।

साठवां अध्याय

शान्ति की स्थापना और यूरोप की नई व्यवस्था

१. समस्याएं

विश्व-संग्राम की समाप्ति पर संसार के राजनीतिज्ञों के सम्मुख अनेक जटिल समस्याएं थीं। इनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(१) जिन राज्यों पर जर्मनी ने अधिकार कर लिया था, और जिन्हें अब उसकी अधीनता से मुक्त करा दिया गया था, वे युद्ध के कारण बिलकुल अस्त-व्यस्त दशा में थे। उनकी हजारों-लाखों इमारतें नष्ट हो गई थीं, कारखाने प्रायः बन्द थे, व्यवसाय और व्यापार के मार्ग में अनेक बाधायें उपस्थित थीं और निरन्तर लड़ाई व बम्ब-वर्षा के कारण खेती भी बिलकुल बन्द सी थी। अनाज व अन्य खाद्य-सामग्री की बहुत कमी थी। जनता को किस प्रकार भोजन व वस्त्र दिये जावें और किस प्रकार उन्हें भूख व ठण्ड से बचाया जाय, इस प्रश्न को हल करना सुगम बात न थी। फिर, लाखों आदमी अपने घर-बार को छोड़कर स्थानभ्रष्ट हो सब जगह विद्यमान थे, जिन्हें फिर से अपने देश व अपने घर में बसाना परम आवश्यक था।

(२) जर्मनी की अधीनता से मुक्त हुए देशों में शासन का क्या प्रबन्ध हो, यह समस्या भी बहुत जटिल थी। प्रायः सभी देशों में ऐसे देशभक्त लोग विद्यमान थे, जिन्होंने जर्मनी के खिलाफ संघर्ष को जारी रखा था। इन्होंने अपनी आजाद सरकारें भी बनाई हुई थीं। पर कठिनता यह थी, कि इन देशभक्तों में एकमत नहीं था। ये विभिन्न विचारों के थे और किसी किसी देश में तो दो-दो व अधिक परस्पर-विरोधी दल अपनी-अपनी पृथक् 'आजाद सरकार' बनाकर जर्मनी के खिलाफ संघर्ष में लगे थे। कुछ दलों की सहानुभूति कम्युनिज्म के साथ में थी, कुछ की लोकतन्त्रवाद के साथ। अब प्रश्न यह था, कि देश का शासन किसके सुपुर्द किया जाय?

(३) विश्व-संग्राम ने जो प्रलयकारी रूप धारण किया था और लड़ाई के

बीच में जिस प्रकार के घातक व भयंकर अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार हो गया था, उसके कारण सब लोग यह अनुभव करने लगे थे, कि अब कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे युद्धों का अन्त हो जाय, अन्तर्राष्ट्रीय मात्स्यन्याय की समाप्ति हो और विविध राज्य एक ऐसा संगठन बना लें, जो उनके आपस के झगड़ों का शान्तिमय उपायों से निर्णय कर दिया करे। भविष्य में किसी राज्य के लिये यह सम्भव न रहे, कि वह अन्य देशों पर आक्रमण करके युद्ध की अग्नि को भड़का सके। गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद राष्ट्रसंघ का निर्माण इसी उद्देश्य से हुआ था, पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी थी। अब आवश्यकता इस बात की थी, कि नया अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इस प्रकार से बनाया जाय, जिससे उसे राष्ट्रसंघ के समान असफल न होना पड़े।

(४) जर्मनी, इटली और जापान में किस प्रकार से शासन की व्यवस्था की जाय, यह प्रश्न सबसे जटिल था। मित्रराष्ट्रों का विचार था, कि युद्ध की सब जिम्मेदारी फैसिस्ट और नाजी नेताओं के ऊपर है। इन देशों में ऐसी व्यवस्था कायम की जानी चाहिये, जिससे नाजीज्म व फैसिज्म फिर सिर न उठा सकें। उग्र राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति और सैन्यशक्ति का इन देशों से सदा के लिये अन्त हो जाय और ये लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर चलकर शान्ति के साथ संसार में रहें। जर्मनी ने युद्ध की तैयारी के लिये जिन कारखानों का निर्माण किया था और जिनमें बहुत बड़ी मात्रा में अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री तैयार होती थी, उन्हें जड़ से उखाड़ दिया जाय।

(५) फैसिस्ट व नाजी नेताओं पर मुकदमे चलाये जावें, ताकि भविष्य में जनता के सम्मुख यह उदाहरण उपस्थित हो, कि युद्ध के समय किये गये अत्याचारों, नृशंस कार्यों व अन्य अपराधों को भी उसी दृष्टि से देखा जायगा, जिससे कि साधारण डाकुओं व बदमाशों के कारनामों को देखा जाता है।

(६) जापान की विजयों के कारण मलाया, बरमा, जावा, सुमात्रा, इण्डो-चायना आदि से श्वेतांग लोगों का शासन कुछ समय के लिये नष्ट हो गया था। इन देशों के निवासी यह अनुभव करने लगे थे, कि यूरोप के साम्राज्यवादी लोगों को कोई ऐसा दैवी अधिकार प्राप्त नहीं है, जिससे वे एशिया की विविध जातियों पर सदा के लिये शासन करते रहें। जापान ने इन सब देशों में वहाँ के निवासियों की सरकारें कायम की थीं। वह इन्हें अपने प्रभाव-क्षेत्र में रखता हुआ भी इनमें स्वतन्त्र शासन स्थापित करना चाहता था। अब जब कि मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने सुदूर-पूर्व के इन देशों पर फिर से अपना अधिकार स्थापित कर लिया, तो विविध देशभक्त

नेताओं में बहुत असन्तोष हुआ। जनता यह नहीं चाहती थी, कि वे फिर से श्वेतांग लोगों की अधीनता में चले जावें। इनमें विद्रोह शुरू हुए, और मित्रराष्ट्रों के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई, कि इन देशों के सम्बन्ध में ऐसी कौन सी व्यवस्था की जाय, जिससे इनका असन्तोष दूर हो।

(७) विश्व-संग्राम के कारण यूरोप का आर्थिक जीवन इतना अस्त-व्यस्त हो गया था, कि उसे फिर से सँभालने के लिये आर्थिक सहायता की भारी मात्रा में आवश्यकता थी। यूरोप के विविध देशों के पास इतनी सम्पत्ति, पूंजी व धन नहीं था, कि वे स्वयं अपना उद्धार कर सकें। मित्रराष्ट्रों में केवल अमेरिका इस स्थिति में था, कि वह इन देशों की सहायता कर सकता था। पर पिछले अनुभव से अमेरिका यह भली भांति जानता था, कि कर्ज की रकम को देना तो सुगम है, पर उसे वसूल करना आसान नहीं है। पर अमेरिका की सहायता के बिना यूरोप का पुनःनिर्माण असम्भव था। अमेरिका किन शर्तों पर यह सहायता दे, यह समस्या भी बड़ी विकट थी।

इन सब समस्याओं का हल करके किस प्रकार यूरोप में शान्ति-स्थापना की गई, इस प्रश्न पर हम इस अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

२. सहायक संस्था

जब विश्व-संग्राम में जर्मनी की घटती कला शुरू हुई, और अनेक प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त किये जाने शुरू हुए, तो इन स्वाधीन किये गये प्रदेशों में जनता को आर्थिक पुनःनिर्माण में सहायता करने, स्थानभ्रष्ट लोगों को फिर से बसाने, पीड़ितों को मदद करने और युद्ध से उत्पन्न कष्टों व संकटों को दूर करने के लिये मित्रराष्ट्रों की ओर से एक सहायक संस्था (यूनाइटेड नेशन्स रिलीफ एण्ड रिहैबेलिटेशन एड्मिनिस्ट्रेशन) का निर्माण किया गया। यह संस्था नवम्बर, १९४३ में वाशिंगटन में स्थापित की गई। १९४६ के अन्त तक यह संस्था बड़े उत्साह के साथ अपना काम करती रही। इस संस्था की ओर से साठ लाख के लगभग स्त्री, पुरुष व बच्चे अपने-अपने देशों में फिर से बसाये गये। नाजी पार्टी के अत्याचारों से पीड़ित होकर ये सब अपनी मातृभूमि को छोड़ने के लिये विवश हुए थे, और अपनी जान की रक्षा के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर बे-घर-बार हुए फिर रहे थे। इस सहायक संस्था का कार्यक्षेत्र ३९ देशों में विस्तृत था, और इसने ३८०० करोड़ मन भोज्य सामग्री व अन्य जरूरी सामान पीड़ित जनता की सहायता के लिये इन देशों म पहुँचाया था। इस कार्य के लिये इसे कुल मिलाकर १११० करोड़ के

लगभग रुपया विविध देशों से सहायता के रूप में प्राप्त हुआ था, जो प्रायः सबका सब दो साल के अरसे में खर्च कर दिया गया था। इतनी भारी रकम खर्च करके भी पीड़ित देशों की सहायता का काम समाप्त नहीं हो सका था। जुलाई, १९४६ में सहायक संस्था के अधिकारियों ने यह अनुमान किया था, कि अभी ३५० करोड़ के लगभग रुपया और चाहिए। इससे जो भोजन-सामग्री खरीदी जावेगी, वह लोगों को भूख से मरने से बचाने के लिये कठिनता से पर्याप्त होगी। पर यह रुपया कहां से आता? यूरोप के विविध देशों को न केवल अनाज की आवश्यकता थी, जिससे लोग अपने को जीवित रख सकते, पर साथ ही उन्हें बीजों की भी आवश्यकता थी, जिससे वे नई फसलें बो सकते। उन्हें अपने कारखानों को फिर से चालू करने के लिये मशीनरी व अन्य उपकरण भी चाहिएँ थे। ये सब कीमत से ही प्राप्त किये जा सकते थे, और इनकी कीमत अदा कर सकने की ताकत यूरोप के देशों में नहीं थी। अमेरिका बिना कीमत के केवल कर्ज के रूप में यह सब सामान नहीं दे सकता था। पूर्वी यूरोप के देशों में इस सहायक संस्था के खिलाफ आन्दोलन भी शुरू हो गया था। कम्युनिस्ट लोग कहते थे, कि अमेरिका इस सहायक संस्था द्वारा अपना प्रभाव इन देशों में बढ़ा रहा है, और इसी कारण इनमें समाजवाद की स्थापना नहीं हो रही है। परिणाम यह हुआ, कि १९४७ के शुरू में अमेरिका ने इस सहायक संस्था को रुपया व अन्य सामग्री देनी बन्द कर दी। यूरोप के युद्ध-पीड़ित देशों में सर्वसाधारण जनता को सहायता पहुँचाने का जो महत्त्वपूर्ण व उपयोगी काम जारी था, उसे विवश होकर बन्द करना पड़ा। १९४७ के प्रारम्भ तक इस सहायक संस्था की इतिश्री हो गई थी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि १९४५ और १९४६ के सालों में यूरोप को भुखमरी से बचाने में इस संस्था ने बड़ा काम किया। इसकी सहायता के बिना यूरोप के लोगों को अनन्त कष्टों का सामना करना पड़ता। इस संस्था के टूट जाने के समय तक विविध यूरोपियन राज्य इस स्थिति में आ गये थे, कि वे अपने पैरों पर खड़े हो सकें।

३. नई व्यवस्था के आदर्श

अटलांटिक चार्टर—विश्व-संग्राम की भयंकरता को दृष्टि में रखते हुए मित्रराष्ट्रों के नेताओं ने इस बात पर विचार करना शुरू कर दिया था, कि युद्ध की समाप्ति पर संसार का जब पुनःनिर्माण किया जायगा, तो उसके लिये कौन से सिद्धान्त व आदर्श सम्मुख रखने होंगे। १९४१ में जब जर्मनी की सर्वत्र विजय हो रही थी, और ऐसा प्रतीत होता था, कि शीघ्र ही सम्पूर्ण यूरोप पर हिटलर का

कब्जा हो जायगा, अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रूजवेल्ट और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री चर्चिल की ओर से एक घोषणा प्रकाशित की गई, जो 'अटलाण्टिक चार्टर' के नाम से प्रसिद्ध है। इस चार्टर द्वारा निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था---(१) हम किसी भी प्रकार अपने राज्यों का विस्तार नहीं करना चाहते। न हम किसी नये प्रदेश पर कब्जा करना चाहते हैं, और न ही कहीं अपना प्रभाव-क्षेत्र कायम करना चाहते हैं। (२) विविध राज्यों की सीमाओं में हम कोई ऐसा परिवर्तन नहीं करना चाहते, जो वहां की जनता की इच्छा के अनुकूल न हो। (३) सब लोगों को यह अधिकार है, कि वे स्वयं इस बात का फैसला करें, कि उनके राज्यों की सरकार व शासन का स्वरूप किस प्रकार का हो। (४) सब राज्यों को यह अवसर हो, कि वे स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय व व्यापार का संचालन कर सकें। विविध देशों की आर्थिक समृद्धि के लिये जिस कच्चे माल की उपलब्धि आवश्यक है, वह उन्हें किसी कृत्रिम बाधा के बिना प्राप्त होना चाहिये। (५) सब राज्यों को आर्थिक क्षेत्र में परस्पर सहयोग से काम करना चाहिये। (६) जब नाजी शक्ति का पूर्णतया विनाश हो जायगा, तो सब देशों के लोगों को यह भरोसा होना चाहिये, कि अब वे निर्भय रूप से अपने देशों में रह सकते हैं, उनकी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता अक्षुण्ण रहेगी, किसी अन्य राज्य से आक्रमण का उन्हें भय न होगा और न विविध पदार्थ प्राप्त करने में उन्हें कोई रुकावट होगी। (७) समुद्र का मार्ग सब देशों के लिये खुला रहना चाहिये। (८) अस्त्र-शस्त्रों व युद्ध-सामग्री की मात्रा में कमी होनी चाहिये, और यह प्रयत्न किया जाना चाहिये कि विविध राज्य शक्ति का प्रयोग करके अपने झगड़ों को निपटाने का प्रयत्न न करें।

जिस समय अटलाण्टिक चार्टर के ये सिद्धान्त प्रकाशित किये गये, ब्रिटेन को संसार के लोकमत को अपने पक्ष में करने की बहुत आवश्यकता थी। जर्मनी की निरन्तर विजयों के कारण ब्रिटेन को आत्मरक्षा का यही उपाय सम्भव प्रतीत होता था, कि विविध तटस्थ राज्य उसके आदर्शों को सहानुभूति की दृष्टि से देखें।

रूजवेल्ट द्वारा प्रतिपादित चार स्वाधीनताएं---सन् १९४१ में ही राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जो चार स्वाधीनताओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये स्वाधीनताएँ निम्नलिखित हैं---(१) संसार में सर्वत्र सब मनुष्यों को भाषण व अन्य प्रकार से अपने विचारों को प्रकट कर सकने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। (२) संसार में सर्वत्र प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिये,

कि वह अपने तरीके से ईश्वर की पूजा व उपासना कर सके। (३) संसार में सर्वत्र सब राष्ट्रों को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिये, कि वे शान्ति के साथ अमन-चैन से अपना आर्थिक जीवन बिता सकें। (४) संसार में सर्वत्र अस्त्र-शस्त्र व युद्ध-सामग्री की मात्रा में इस हद तक कमी कर देनी चाहिये, कि किसी राज्य को दूसरे राज्य से आक्रमण का भय न रहे। निःसन्देह, ये सब सिद्धान्त अत्यन्त उत्तम व उत्कृष्ट हैं। यदि संसार में नई व्यवस्था इनके अनुसार कायम की जा सके, तो वह मानव-समाज के लिये अत्यन्त हितकर होगी।

याल्टा कान्फरेन्स के निर्णय—फरवरी, १९४५ में मित्रराष्ट्रों की एक कान्फरेन्स क्रीमिया के याल्टा नामक नगर में हुई। इसमें श्री रूजवेल्ट, श्री चर्चिल और श्री स्टालिन सम्मिलित हुए। इस समय तक विश्व-संग्राम में जर्मनी का पराजय प्रारम्भ हो चुका था और मित्रराष्ट्रों को अपनी विजय का दिन दृष्टिगोचर होने लगा था। याल्टा की इस कान्फरेन्स में मित्रपक्ष के इन तीन महान् नेताओं ने मिलकर यह निर्णय किया, कि (१) जर्मनी की सारी सेना तोड़ दी जायगी। जर्मनी की सैन्यशक्ति का आधार वे सैनिक अधिकारी हैं, जो उस देश में निरन्तर सैन्य-संगठन करते रहते हैं। इन सैनिक अधिकारियों का अन्त कर दिया जायगा। (२) जर्मनी के पास जो भी अस्त्र-शस्त्र व युद्ध-सामग्री है, वह सब उससे छीन ली जायगी या नष्ट कर दी जायगी। (३) जर्मनी के उन सब व्यवसायों व कल-कारखानों पर मित्रराष्ट्रों का नियन्त्रण कायम कर लिया जायगा, जिनका उपयोग युद्ध के लिये किया जा सकता है। (४) युद्ध के लिये जो लोग जिम्मेवार हैं, या जिन्होंने लड़ाई के समय अपराध किये हैं, उन सब पर मुकदमा चलाया जायगा और उन्हें सख्त सजाएँ दी जायंगी। (५) जर्मनी ने अन्य देशों का जिस प्रकार विनाश किया है, उसकी क्षति-पूर्ति के लिये उससे हरजाना वसूल किया जायगा। यह हरजाना रुपये के रूप में न होकर सामग्री के रूप में होगा।

इसमें सन्देह नहीं, कि विजय के समय में मित्रराष्ट्रों के विचारों व आदर्शों में अन्तर आ गया था। संसार में स्थायी शान्ति की स्थापना तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि सभी राज्य अस्त्र-शस्त्रों व सेनाओं में कमी न करें। केवल जर्मनी, जापान व इटली की युद्ध-शक्ति का विनाश करने से संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। यदि याल्टा-कान्फरेन्स में भी मित्रराष्ट्रों के नेता अपने उन्हीं आदर्शों पर स्थिर रहते, जिनका प्रतिपादन उन्होंने अटलाण्टिक चार्टर द्वारा किया था, तो वे शान्ति के मार्ग पर आगे बढ़ सकते। पर याल्टा में किये गये निर्णयों में जर्मनी से बदला लेने की भावना प्रबल थी, और इसी का यह परिणाम हुआ, कि विश्व-

संग्राम की समाप्ति के बाद भी यूरोप में शान्ति का वातावरण उत्पन्न नहीं किया जा सका। शीघ्र ही, फिर से लड़ाई की तैयारी प्रारम्भ हो गई।

४. संयुक्त राज्यसंघ की स्थापना

विश्व-संग्राम की समाप्ति पर संसार में चिर शान्ति स्थापित करने और विविध राज्यों को एक सूत्र में संगठित करने के उद्देश्य से संयुक्त राज्यसंघ (यूनाइटेड नेशन्स आर्गनिजेशन) का निर्माण किया गया। इसके लिये पहली कान्फरेन्स अक्टूबर, १९४४ में अमेरिका के अन्यतम नगर डम्बार्टन ओक्स में हुई, जिसमें ब्रिटेन, रूस, अमेरिका और चीन के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इस कान्फरेन्स में नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की रूप-रेखा तैयार की गई। याल्टा की कान्फरेन्स में इस पर विचार किया गया और यह निश्चय हुआ, कि नये राज्यसंघ के संगठन व अन्य नियमों पर अन्तिम निर्णय करने के लिये सान फ्रांसिस्को (अमेरिका) में एक कान्फरेन्स बुलाई जाय, जिसमें सब मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि एकत्र हों। यह कान्फरेन्स एप्रिल, १९४५ में हुई। इसमें संयुक्त राज्यसंघ का स्वरूप अन्तिम रूप से स्वीकृत किया गया और एक नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना हुई। जर्मनी और उसके साथियों को परास्त करने में जो राज्य ब्रिटेन और अमेरिका के साथ थे, वे सब इस संघ में शामिल हुए। शुरू में इन राज्यों की संख्या ५१ थी। बाद में, अनेक अन्य राज्य इस संघ में सम्मिलित हुए, और इसके सदस्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। १९४९ के शुरू तक संघ के कुल सदस्यों की संख्या ५७ थी।

जनरल एसेम्बली—संयुक्त राज्यसंघ की प्रधान संस्था जनरल एसेम्बली है। संघ के सब सदस्य-राज्यों को यह अधिकार है, कि वे अपने पांच प्रतिनिधि एसेम्बली के लिये नियुक्त करें। राज्य चाहे छोटा हो या बड़ा, सबके पांच-पांच प्रतिनिधि एसेम्बली में आते हैं। प्रत्येक राज्य का एक वोट माना जाता है। इस दृष्टि से अमेरिका और रूस जैसे शक्तिशाली राज्यों और लक्समबर्ग व बेल्जियम जैसे छोटे राज्यों की स्थिति संघ की एसेम्बली में एक समान है। प्रति वर्ष, दो सितम्बर के बाद जो पहला मंगलवार पड़े, उस दिन एसेम्बली का वार्षिक अधिवेशन प्रारम्भ होता है; पर यदि सदस्य राज्य चाहें, तो किसी अन्य समय भी एसेम्बली का विशेष अधिवेशन किया जा सकता है। यदि कोई राज्य समझता हो, कि संसार में कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना हो रही है, जिसका परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था के लिये खतरनाक हो सकता है, तो उसे अधिकार है, कि वह संघ के प्रधान

मन्त्री की सेवा में एक आवेदन-पत्र भेजे, जिसमें विशेष अधिवेशन बुलाने की प्रार्थना की गई हो। ऐसा आवेदन-पत्र प्राप्त होने पर संघ का प्रधानमन्त्री उसे सब सदस्य-राज्यों के पास भेज देगा। यदि उनकी बहुसंख्या इस बात से सहमत हो, कि एसेम्बली का विशेष अधिवेशन होना चाहिये, तो संघ के प्रधानमन्त्री का कर्तव्य होगा, कि वह विशेष अधिवेशन की योजना करे। एसेम्बली के अधिवेशनों में विविध अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार होता है, सुरक्षा-परिषद् व अन्य उपसमितियों के लिये सदस्य निर्वाचित किये जाते हैं, और संसार में शान्ति व समृद्धि कायम रखने के लिये विविध योजनाओं का निर्णय किया जाता है।

सुरक्षा-परिषद्—संयुक्त राज्यसंघ की सबसे शक्तिशाली संस्था सुरक्षा-परिषद् (सिक्योरिटी कौंसिल) है। इसके कुल ग्यारह सदस्य होते हैं। ब्रिटेन अमेरिका, फ्रांस, रूस और चीन—ये पांच राज्य इसके स्थिर सदस्य हैं। उनका एक-एक प्रतिनिधि स्थिर रूप से परिषद् में रहता है। संघ के शेष सब सदस्य-राज्य मिलकर अपने में से ६ प्रतिनिधि परिषद् के लिये निर्वाचित करते हैं। पांचों प्रमुख राज्यों को वीटो का अधिकार है। यदि परिषद् के किसी निर्णय से पांचों प्रमुख राज्यों में से एक भी असहमत हो, तो वह अपने वीटो के अधिकार का उपयोग कर उस निर्णय को रद्द कर सकता है। इस अधिकार के कारण संयुक्त राज्यसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निबटाने की शक्ति बहुत ही सीमित हो गई है। छोटे राज्यों के आपस के झगड़ों का फैसला करने में संघ अवश्य सफल हो सकता है। पर जब बड़े शक्तिशाली राज्यों में कोई झगड़ा हो, या छोटे राज्यों के झगड़े में किसी बड़े राज्य की विशेष दिलचस्पी हो, तो चाहे किसी अकेले बड़े राज्य के रुख को बाकी सब राज्य सर्वथा अयुक्ति-युक्त समझते हों, तो भी वह अकेला राज्य सारे संघ को सर्वथा पंगु कर सकता है। इस दृष्टि से संयुक्त राज्यसंघ पुराने राष्ट्रसंघ के मुकाबले में कम शक्ति रखता है। वस्तुतः, राजनीतिक विवाद व समस्याओं के सम्बन्ध में राज्यसंघ की स्थिति एक विचार-परिषद् के सदृश है। विवाद, विचार व प्रेरणा द्वारा जो लाभ हो सके, वह ठीक है। पर संघ के पास यह शक्ति नहीं, कि वह बहुमत द्वारा किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर कोई निर्णय कर सके, और फिर उसके अनुसार कार्य करने के लिये सब राज्यों को विवश कर सके। पर अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में अभी यह बात भी कम नहीं है, कि विश्व के विविध राज्य आपस में मिलकर एक साथ बैठें; अपने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर खुले तौर पर विचार व बहस करें और लोक-मत की शक्ति का उपयोग करके मतभेद रखनेवाले राज्यों को औरों की

बात मानने के लिये प्रेरित कर सकें। राज्य की शक्ति का वास्तविक आधार जनता है। लोकमत ही ऐसी शक्ति है, जिससे बल पाकर कानून, पुलिस, सेना व सरकार अपना काम करती है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी विश्व का लोकमत ही एक ऐसी शक्ति हो सकता है, जिससे विविध राज्यों की उच्छृंखलता पर अंकुश रखा जा सके। इसमें सन्देह नहीं, कि संयुक्त राज्यसंघ का वर्तमान संगठन इस विश्व-लोकमत के निर्माण में सहायता पहुँचाता है, और जब कभी संसार के विविध राज्यों के 'मात्स्यन्याय' का अन्त होकर एक वास्तविक विश्व-संगठन बनेगा, तो वह इसी विश्व-लोकमत पर आश्रित होगा। पर यह नहीं भूलना चाहिये, कि वीटो के अधिकार के कारण सुरक्षा-परिषद् बहुत शक्तिहीन हो गई है। सितम्बर, १९४८ तक दो साल के लगभग समय में रूस ने २१ बार वीटो के अधिकार का प्रयोग किया और संयुक्त राज्यसंघ के निर्णयों में बहुत ही रुकावटें उपस्थित कीं। १९४९ के एप्रिल मास में अनेक राज्यों ने संघ की जनरल एसेम्बली में यह प्रस्ताव उपस्थित किया, कि वीटो के अधिकार का प्रयोग बहुत असाधारण दशा में ही किया जाना चाहिये। एसेम्बली में यह प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत भी हो गया है, पर जब तक संघ के विधान में परिवर्तन नहीं होगा, वीटो के अधिकार को हटाया नहीं जा सकेगा।

सुरक्षा-परिषद् संयुक्त राज्यसंघ की स्थिर संस्था है, और उसके अधिवेशन सदा होते रहते हैं। परिषद् के सदस्य-राज्यों का एक प्रतिनिधि स्थिर रूप से संघ के केन्द्रीय कार्यालय में रहता है। इस कारण जब कभी कोई महत्त्वपूर्ण मामला उपस्थित हो, परिषद् का अधिवेशन सुगमता के साथ किया जा सकता है। सुरक्षा-परिषद् की स्थिति संयुक्त राज्यसंघ की कार्यकारिणी समिति के सदृश है।

सुरक्षा-परिषद् के अतिरिक्त अनेक अन्य संस्थाएं संयुक्त राज्यसंघ के अधीन कार्य करती हैं। इनमें से कतिपय के सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेख करना उपयोगी है—

(१) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय**—यह न्यायालय हेग में स्थापित है, और इसमें कुल मिलकर १५ न्यायाधीश हैं। यह व्यवस्था की गई है, कि किसी राज्य का एक से अधिक न्यायाधीश न हो। हेग के इस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में उन व्यक्तियों को न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जाता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ हों और जिनकी निष्पक्षता सर्वमान्य हो। इस न्यायालय के सम्मुख तीन प्रकार के मामले पेश किये जाते हैं—(क) विविध राज्यों को यह हक है, कि वे दूसरे किसी राज्य के साथ के अपने झगड़े को इसके सम्मुख निर्णय के लिये पेश

कर सकें। (ख) अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, समझौतों व परम्पराओं के सम्बन्ध में यदि कोई विवाद हो, तो वह निर्णय के लिये इस न्यायालय के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। (ग) यदि कोई राज्य यह स्वीकार कर ले, कि वह सदा के लिये व कुछ समय के लिये अपने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का फैसला इस न्यायालय से करायेगा, तो ऐसे राज्यों के मामले स्वयमेव इसके सम्मुख पेश हो जाते हैं।

(२) **आर्थिक व सामाजिक परिषद्**—इसके कुल १८ सदस्य हैं। इस परिषद् के साल में तीन अधिवेशन नियमपूर्वक होते हैं। विशेष अधिवेशन किसी भी समय किया जा सकता है। इस परिषद् का उद्देश्य यह है, कि विविध देशों की जनता का रहन-सहन अधिक ऊँचा उठे, बेकारी दूर हो, सबकी आर्थिक व सामाजिक उन्नति हो, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राज्यों की आर्थिक,सामाजिक,सांस्कृतिक व शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का समाधान किया जाय और नसल, लिंग, भाषा व धर्म का भेदभाव किये बिना मनुष्यमात्र के आधारभूत अधिकारों की सम्मानपूर्वक रक्षा की जाय। इन्हीं उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर विविध राज्यों के प्रतिनिधि समय-समय पर एक स्थान पर एकत्र होते हैं, और आपस में विचार द्वारा आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में उन्नति के उपायों को सोचते हैं।

(३) **प्रधान कार्यालय**—इसका प्रधान अधिकारी सेक्रेटरी-जनरल या प्रधानमन्त्री कहाता है। सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश के अनुसार इसकी नियुक्ति जनरल एसेम्बली द्वारा पांच साल के लिये की जाती है। प्रधानमन्त्री को ५००० रुपया मासिक वेतन मिलता है। इस आमदनी पर कोई आय-कर नहीं लगता। साथ ही, उसे निवास के लिये मकान भी बिना किराये के दिया जाता है। प्रधान कार्यालय में आठ मुख्य विभाग हैं, जिनका एक-एक पृथक् अधिकारी होता है, जिसे सहायक प्रधानमन्त्री कहते हैं। ये आठ विभाग निम्नलिखित हैं—(क) सुरक्षा-परिषद् विभाग, (ख) आर्थिक विभाग, (ग) सामाजिक विभाग, (घ) जिन प्रदेशों का प्रबन्ध व शासन सीधा संयुक्त राज्यसंघ के अधीन है, उनकी व्यवस्था करनेवाला विभाग, (ङ) कानून विभाग, (च) वह विभाग जो जनरल एसेम्बली व संघ के अन्तर्गत विविध परिषदों के अधिवेशनों की व्यवस्था करता है, (छ) सार्वजनिक सूचना-विभाग, और (ज) वह विभाग जो संघ का सालाना बजट तैयार करता है, और संघ की नौकरी में विद्यमान विविध व्यक्तियों के वेतन आदि की व्यवस्था करता है।

(४) **संयुक्त राज्य शिक्षा-विज्ञान व सांस्कृतिक परिषद्**—संयुक्त राज्यसंघ की यह विशेषता है,कि उसमें राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त आर्थिक और सामाजिक

जनरल जीरो, राष्ट्रपति रूजवेल्ट, जनरल द गॉल और श्री चर्चिल

क्षेत्रों में भी विविध राज्यों के पारस्परिक सहयोग पर बहुत जोर दिया जाता है। यह उचित भी है, क्योंकि आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में सहयोग स्थापित हो जाने पर राजनीतिक क्षेत्र में सहयोग का हो सकना बहुत सुगम हो जायगा। राज्य-संघ के अधीन अनेक ऐसी परिषदें, कमीशन व एजेन्सियां हैं, जो इस ओर विशेष ध्यान देती हैं। इनमें 'युनेस्को' या संयुक्त राज्य शिक्षा, विज्ञान व सांस्कृतिक परिषद् प्रमुख है। शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्रों में विविध राज्यों में सहयोग स्थापित करने व उनकी आपस की विभिन्नताओं तथा विरोध के कारणों को मिटाने के लिये यह बहुत उपयोगी है। इससे एक विश्व-संस्कृति का विकास होता है। राष्ट्रों के भेद का मुख्य आधार संस्कृति की विभिन्नता ही है। यदि विविध राज्यों के विचारक, साहित्यिक, कवि, वैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्री समय-समय पर आपस में मिलते रहें, अपनी समस्याओं को परस्पर विचार द्वारा सुलझाते रहें, तो एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने, एक दूसरे की संस्कृति की अच्छी बातों को ग्रहण करने व एक दूसरे के समीप आने का अपूर्व अवसर मिलता है। युद्धों का प्रारम्भ मन में ही होता है। विविध लोगों के मनों में जब दूसरे लोगों के प्रति विद्वेष की भावना भर दी जाती है, तभी वे युद्ध के लिये तत्पर होते हैं। अतः युद्ध के खिलाफ प्रयत्नों का प्रारम्भ मनुष्यों की मानसिक भावना को बदलकर ही करना चाहिये। इस परिषद् का यही उद्देश्य है। इसके लिये इसकी ओर से विविध देशों में राष्ट्रीय कमीशनों का निर्माण किया गया है। ये कमीशन अपने-अपने देश में शिक्षा के विस्तार व विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय का प्रयत्न करते हैं।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-परिषद्—इसका निर्माण गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद राष्ट्रसंघ द्वारा ही कर दिया गया था। पहले यह राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत थी, पर बाद में एक पृथक् संस्था बन गई, और राज्यसंघ की समाप्ति के बाद भी कायम रही। अब १९४५ में इसका पुनःसंगठन संयुक्त राज्यसंघ के तत्वावधान में किया गया है। संसार भर के मजदूरों के हितों की रक्षा करना, उनके लिये हितकारी कानूनों का निर्माण कराना और श्रम-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करना इस परिषद् के प्रधान कार्य हैं। संसार की जनता का बहुत बड़ा भाग श्रमिकों का है। यदि विविध राज्यों के मजदूर लोग अपनी समस्याओं को साथ मिलकर हल करें और केवल अपने हितों को ही नहीं, अपितु अन्य देशों के मजदूरों के हितों को भी दृष्टि में रखें, तो सर्वसाधरण जनता में एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास होने में अवश्य सहायता मिलती है।

इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का संगठन संयुक्त

राज्यसंघ के तत्वावधान में किया गया है, जिनमें निम्नलिखित विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं—(१) विश्व-स्वास्थ्य-परिषद्, (२) भोजन तथा कृषि-परिषद् (३) परमाणु शक्ति-परिषद्, (४) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रानिधि, (५) यूरोपीय केन्द्रीय आन्तरिक ट्रांसपोर्ट परिषद्, (६) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-परिषद् (७) अन्तर्राष्ट्रीय पुनःनिर्माण बैंक। यह सम्भव नहीं है, कि इन विभिन्न परिषदों के कार्यों पर यहां प्रकाश डाला जा सके। पर इन तथा इसी प्रकार की अन्य परिषदों का क्षेत्र इतना विस्तृत है, कि इन विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर सहयोग द्वारा संसार के विविध राज्यों में एकानुभूति की भावना सहज में ही उत्पन्न की जा सकती है। वस्तुतः, वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा देश और काल पर जो अद्भुत विजय पिछले दिनों में स्थापित हुई है, उसके कारण संसार के विविध देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं, और उनमें पारस्परिक सहयोग इतना आवश्यक हो गया है, कि उन्नीसवीं सदी के ढंग के उग्र राष्ट्रीयता के आधार पर आश्रित राज्यों के वर्तमान भेद अब बहुत कुछ अस्वाभाविक से प्रतीत होने लगे हैं। राज्यों का भेद उनकी भौतिक परिस्थितियों का परिणाम था। *अब विज्ञान की उन्नति के कारण वे भौतिक परिस्थितियां ही* इस प्रकार परिवर्तित हो रही हैं, कि विविध राज्यों की एक दूसरे से सर्वथा पृथक् सत्ता व स्वाधीनता अब सम्भव नहीं रह गई है। इन भेदों का मिटना अवश्यम्भावी है। स्वाधीनता का स्थान अब अन्योन्याश्रयिता को लेना है, और संसार को विवश होकर अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर आगे बढ़ना है। संयुक्त राज्यसंघ की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई है, कि इस प्रवृत्ति को बल मिले, और राज्यों के आपसी झगड़ों का निर्णय परस्पर विचार-विनिमय द्वारा किया जा सकना सम्भव हो जाय। अपने इस उद्देश्य में संयुक्त राज्यसंघ को जो सफलता मिली है, उस पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे।

५. परास्त देशों से सन्धियां

परास्त देशों के शासन पर नियन्त्रण—जर्मनी तथा उसके साथियों को परास्त करने के बाद उनके साथ कैसा बरताव किया जाय, व उनके साथ किस प्रकार से सन्धियां की जायँ, इस पर अमेरिका, ब्रिटेन व रूस के नेता युद्ध के दौरान में ही समय-समय पर विचार करते रहे थे। किसी शत्रु देश को जीत लेने पर मित्रराष्ट्रों की उसके सम्बन्ध में एक ही नीति थी, वह यह कि उसे बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण के लिये विवश किया जाय। वहां पर शासन करने के लिये जो सामयिक सरकार बने, वह मित्रराष्ट्रों के नियन्त्रण में रहे और सैनिक दृष्टि से

मित्रराष्ट्र वहां अपना कब्जा कायम कर लें। इसी के अनुसार जब मुसोलिनी के पतन के बाद मार्शल बोदोग्लियो ने इटली में सामयिक सरकार की स्थापना की, तो उस पर नियन्त्रण रखने के लिये दो संस्थाओं की रचना की गई—(१) सैनिक सरकार (अलाइड मिलिटरी गवर्नमेण्ट)—यह जहां इटली से जर्मन सेनाओं को निकालने व सैनिक दृष्टि से इटली का संगठन व व्यवस्था करने का काम करती थी, वहां साथ ही उन प्रदेशों का शासन भी करती थी, जहां अभी लड़ाई जारी थी व जहां पूरी तरह शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं हुई थी। (२) अलाइड कन्ट्रोल कमीशन—इसका कार्य मार्शल बोदोग्लियो की सरकार पर देख-रेख रखना तथा उसे भली भांति नियन्त्रित करना था। इस कमीशन में चार राज्यों के प्रतिनिधि थे—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और रूस। पर कमीशन के किसी निर्णय के बारे में वोट देने का अधिकार फ्रांस और रूस को नहीं था। इटली को परास्त करने का श्रेय प्रधानतया अमेरिका और ब्रिटेन को था। अतः इस कमीशन में वोट देने का अधिकार इन दो राज्यों के प्रतिनिधियों को ही था। अलाइड कन्ट्रोल कमीशन को बनाते हुए यह विचार काम कर रहा था, कि जो राज्य जिस प्रदेश को जर्मनी के प्रभाव से मुक्त करावे, उसका शासन उन्हीं के हाथ में रहे। इसीलिये मार्शल बोदोग्लियो की सरकार को अमेरिका और ब्रिटेन के नियन्त्रण में रखा गया था। यद्यपि जर्मनी के पराजय में रूस का कर्तृत्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण था, पर इटली के शासन में उसे कोई अधिकार नहीं दिये गये थे।

२३ अगस्त, १९४४ को रूमानिया परास्त हुआ और उसके साथ भी सामयिक सन्धि की गई। ९ सितम्बर, १९४४ को बल्गेरिया ने, १९ सितम्बर, १९४४ को फिनलैण्ड ने और २० जनवरी, १९४५ को हंगरी ने आत्मसमर्पण किया। इन सब देशों के साथ की गई सामयिक सन्धियों में प्रमुख शर्त यही थी, कि परास्त राज्य बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दे। इन सब देशों को परास्त करने का मुख्य श्रेय रूस को था। उसी की सेनाओं ने इन्हें पराजित किया था और जर्मनी के प्रभाव को उन पर से नष्ट किया था। इटली के उदाहरण को सम्मुख रखकर इन देशों में भी कन्ट्रोल कमीशनों का निर्माण किया गया और इटली के उदाहरण के अनुसार ही इन देशों के कन्ट्रोल-कमीशनों में रूस का प्रभुत्व रहा। जिस प्रकार इटली के नियन्त्रण व शासन में रूस की कोई आवाज नहीं थी, वैसेही अब रूमानिया, बल्गेरिया, फिनलैण्ड और हंगरी के शासन में ब्रिटेन व अमेरिका की कोई आवाज नहीं रखी गई। आगे चलकर ये देश जो पूरी तरह रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आ गये,

उसका बड़ा कारण ब्रिटेन और अमेरिका की वह नीति थी, जिसके अनुसार इटली के शासन व नियन्त्रण में उन्होंने रूस को समुचित स्थान नहीं दिया था।

परास्त देशों के प्रति नीति का निर्धारण—१७ जुलाई, १९४५ को मित्रराष्ट्रों के प्रधान नेता जर्मनी के अन्यतम नगर पोट्सडम में एकत्र हुए। पोट्सडम की इस कान्फरेन्स में अमेरिका की ओर से राष्ट्रपति ट्रूमैन, ब्रिटेन की ओर से श्री एटली, रूस की ओर से श्री स्टालिन और चीन की ओर से श्री चियांग काई शेक सम्मिलित हुए थे। मित्रराष्ट्रों के इन नेताओं ने मिलकर यह तय किया, कि जर्मनी व उसके साथियों के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था करनी है। इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, फिनलैण्ड और हंगरी के साथ किस प्रकार सन्धि की जाय, इसका निर्णय करने के लिये पोट्सडम कान्फरेन्स द्वारा एक कौंसिल की रचना कर दी गई; जिसमें ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के परराष्ट्रसचिवों को सदस्य के रूप में सम्मिलित किया गया। इस कौंसिल के अधिवेशन लण्डन (सितम्बर, १९४५), मास्को (दिसम्बर, १९४५) और पेरिस (जुलाई, १९४६) में हुए। इन अधिवेशनों में इस समस्या पर विस्तार के साथ विचार किया गया, कि इटली आदि परास्त देशों के साथ की जाने वाली सन्धियों का क्या स्वरूप हो। पेरिस के अधिवेशन में सन्धियों के मसविदे तैयार कर लिये गये और मित्रराष्ट्रों की सहमति प्राप्त करने के लिये एक ऐसी कान्फरेन्स की योजना की गई, जिसमें सब मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि एकत्र हों। यह कान्फरेन्स पेरिस में हुई और इसमें २१ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। पेरिस कान्फरेन्स के अधिवेशन २९ जुलाई से १५ अक्टूबर १९४६ तक होते रहे। अब विश्व-संग्राम को समाप्त हुए एक साल से अधिक व्यतीत हो चुका था। युद्ध के समय मित्रराष्ट्रों के अन्तर्गत विविध राज्यों ने अपने मतभेदों को बहुत कुछ भुला दिया था। पर अब ये मतभेद प्रगट होने शुरू हो गये थे। विशेषतया, ब्रिटेन और अमेरिका का रूस के साथ अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर गहरा मतभेद था। पेरिस कान्फरेन्स में ये मतभेद अनेक बार इतने उग्र हो गये, कि ऐसा प्रतीत होने लगा, कि मित्रराष्ट्र आपस में मिलकर कोई फैसला नहीं कर सकेंगे। पर बहुत से वाद-विवाद के बाद अन्त में पेरिस कान्फरेन्स एकमत होने में सफल हुई, और इटली आदि पांच राज्यों के साथ की जानेवाली सन्धियों के मसविदे स्थूलरूप से स्वीकृत कर लिये गये। सन्धियों के अन्तिम रूप को तैयार करने व जाब्ते के साथ सन्धियों पर हस्ताक्षर कराने का कार्य फिर परराष्ट्रसचिवों की कौंसिल के सुपुर्द कर दिया गया।

परराष्ट्रसचिवों की कौंसिल के अगले अधिवेशन न्यूयार्क में (नवम्बर-दिसम्बर,

१९४६) हुए। इनमें सन्धियों का अन्तिम रूप तैयार किया गया। जब सब तैयारी हो गई, तो पेरिस में इक्कीसों मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि फिर एकत्र हुए, और १० फरवरी, १९४७ को पांचों सन्धिपत्रों पर सब मित्रराष्ट्रों के सब प्रतिनिधियों व इटली, बलगेरिया, रूमानिया, फिनलैण्ड व हंगरी के हस्ताक्षर करा लिये गये। सन्धियों को इंगलिश, फ्रेंच और रशियन भाषाओं में तैयार किया गया था। अब तक अन्तर्राष्ट्रीय पत्र अँगरेजी और फ्रेंच में ही तैयार किये जाते थे। पर विश्व-संग्राम के समय से रूस का महत्त्व इतना बढ़ गया था, कि कोई अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाई ऐसी नहीं हो सकती थी, जिसमें रूस व उसकी भाषा की उपेक्षा की गई हो। पेरिस में जिन सन्धिपत्रों पर हस्ताक्षर किये गये, उनसे परास्त देशों के लोग सन्तुष्ट नहीं थे। कुछ प्रश्नों पर मित्रराष्ट्रों में भी मतभेद शेष था। इसी का परिणाम यह हुआ, कि फरवरी, १९४७ से ही इन सन्धियों में संशोधन के लिये आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि पेरिस की इन सन्धियों में जर्मनी व आस्ट्रिया के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं की गई थी।

इटली के साथ सन्धि—इटली के साथ जो सन्धि हुई, इसके अनुसार अनेक प्रदेश इटली से ले लिये गये। उसका सब साम्राज्य उसके हाथ से निकल गया। अबीसीनिया का राज्य विश्व-संग्राम के दौरान में ही इटली की अधीनता से मुक्त हो गया था, और वहां के पदच्युत सम्राट् हैल सलासी ने अपनी खोई हुई राजगद्दी को फिर से प्राप्त कर लिया था। मई, १९४१ में हैल सलासी फिर से अबीसीनिया का स्वतन्त्र सम्राट् बन गया था। अक्टूबर, १९४४ में अल्बेनिया भी जर्मनी और इटली के कब्जे से मुक्त हुआ। उसी समय कर्नल होड्जा के नेतृत्व में वहां सामयिक सरकार की स्थापना कर ली गई। जनवरी, १९४६ में अल्बेनिया म विधान-परिषद् का निर्माण किया गया, और इस परिषद् ने निश्चय किया, कि अल्बेनियाको एक स्वतन्त्र रिपब्लिक के रूप में परिणत किया जाय। नई रिपब्लिक का नेतृत्व कर्नल होड्जा के हाथ में रहा। इटली की संरक्षा व प्रभाव में वहां जो पुराना राजवंश शासन करता था, अब उसे फिर अल्बेनिया वापस नहीं आने दिया गया।

लीबिया, एरिट्रिया और इटालियन सोमालीलैण्ड—ये उपनिवेश पहले इटली के अधीन थे। अब इन्हें उससे ले लिया गया। इनके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस और रूस की सरकारें परस्पर मिलकर यह फैसला करें, कि भविष्य में इन प्रदेशों का शासन किस प्रकार हो। अक्टूबर, १९४७ में ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस और रूस की तरफ से एक कमीशन की नियुक्ति

की गई, जो इटली के इन भूतपूर्व उपनिवेशों के सम्बन्ध में नई व्यवस्था की योजना को तैयार करे। इस कमीशन को आदेश दिया गया, कि अपनी योजना को तैयार करते हुए वह यह भी दृष्टि में रखे, कि इन उपनिवेशों के निवासियों के क्या विचार हैं, और वहां की आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियां क्या हैं ? यूरोप में भी इटली की पुरानी सीमाओं में परिवर्तन किया गया। इटली के जो प्रदेश फ्रांस की सीमा पर स्थित थे, उनमें से कतिपय इटली से अलग करके फ्रांस को दे दिये गये। तीन हजार वर्गमील के लगभग का प्रदेश युगोस्लाविया ने इटली से प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त एड्रियाटिक सागर में स्थित कुछ द्वीप भी इटली से लेकर युगोस्लाविया को प्रदान किये गये। युगोस्लाविया तो त्रिएस्त को भी अपने कब्जे में करना चाहता था। पर इसे एक स्वतन्त्र प्रदेश के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और इसके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि संयुक्त राज्यसंघ की सुरक्षा-परिषद् द्वारा नियुक्त गवर्नर इसका शासन करे। ग्रीस ने भी अपनी सीमा के समीप स्थित अनेक इटालियन द्वीप प्राप्त किये। इस प्रकार इटली ने न केवल अपने सब उपनिवेशों व साम्राज्य से हाथ धोया, पर यूरोप में स्थित उसके अनेक प्रदेश भी अब उससे ले लिये गये।

इटली ने हरजाने की भी एक भारी मात्रा मित्रराष्ट्रों को प्रदान करना स्वीकार किया। यह मात्रा ११० करोड़ रुपया नियत की गई। इटली ने इसे सात सालों में प्रदान करना है, और यह हरजाना नकद सिक्के में न होकर पदार्थों के रूप में दिया जाना है। इटली से प्राप्त हरजाने को युगोस्लाविया, ग्रीस, रूस, अबीसीनिया और अल्बेनिया में विभक्त किया जायगा, क्योंकि इटली द्वारा इन्हीं देशों को विशेष रूप से नुकसान पहुँचा था।

सन्धि द्वारा यह भी व्यवस्था की गई है, कि इटली की स्थल-सेना में २,५०,००० से अधिक सैनिक व २०० से अधिक भारी टैंक न हो सकें। उसकी जल-सेना में २५,००० से अधिक सैनिक व १० से अधिक जंगी जहाज न रहें। शेष सब जंगी जहाज मित्रराष्ट्रों के सुपुर्द कर दिये जावें। इटली की वायु-सेना में २५,००० से अधिक सैनिक व ३५० से अधिक हवाई जहाज न रहें। फैसिस्ट-युग में इटली ने फ्रांस और युगोस्लाविया की सीमाओं पर जो किलाबन्दियां की थीं, उन सबको नष्ट कर दिया जाय। इसी प्रकार सिसली और सार्डिनिया के समुद्रतट पर व विविध द्वीपों में जो दुर्ग इटली ने बनाये थे, उन सबको तोड़ दिया जाय। मुसोलिनी के पतन के बाद इटली मित्रराष्ट्रों के साथ हो गया था और उसने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा भी कर दी थी। पर फिर भी सन्धि द्वारा उसकी सैनिक व राजनीतिक

शक्ति को कुचल देने का पूरा प्रयत्न किया गया और यह इन्तजाम किया गया, कि इटली फिर कभी एक शक्तिशाली राज्य न बन सके। ब्रिटेन यह भली भांति अनुभव करता था, कि भूमध्यसागर में इटली की सत्ता उसके अपने साम्राज्य के लिये भारी खतरे की बात है। इसीलिये वह इटली को निर्बल करने के लिये तुला हुआ था।

रूमानिया से सन्धि—पेरिस कान्फरेन्स द्वारा रूमानिया के साथ जो सन्धि की गई, उसके अनुसार बस्सेरेबिया और उत्तरी बुकोविना के प्रदेश रूमानिया से लेकर रूस को दिये गये। इन प्रदेशों पर युद्ध के दौरान में ही रूस ने अपना कब्जा कर लिया था। अब अन्य मित्रराष्ट्रों ने भी इस कब्जे को स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार दक्षिणी दोब्रुजा का प्रदेश रूमानिया से लेकर बल्गेरिया को प्रदान किया गया। इन प्रदेशों के निकल जाने से रूमानिया का क्षेत्रफल बहुत कम रह गया। अकेले रूस ने जो प्रदेश रूमानिया से प्राप्त किये थे, उनका क्षेत्रफल २१,००० वर्गमील था, और उनमें चालीस लाख आदमी निवास करते थे। जहां रूमानिया ने अनेक प्रदेश रूस और बल्गेरिया को दिये, वहां ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश उसने अब वापस भी प्राप्त किया। यह प्रदेश पहले रूमानिया के अन्तर्गत था, पर १९४० में जर्मनी के आदेशानुसार रूमानिया ने इसे हंगरी को दे दिया था। इस प्रदेश का क्षेत्रफल १६००० वर्गमील था और इसमें २५ लाख की आबादी थी। जर्मनी ने यह प्रदेश हंगरी को इसलिये दिलवाया था, कि यूरोप के वे सब राज्य, जो इस समय उसके प्रभाव व संरक्षा में थे, आपस में मिलकर रहें और उनकी सम्मिलित शक्ति का उपयोग मित्रराष्ट्रों के पराभव के लिये किया जा सके। अब रूमानिया ने ट्रांसिलवेनिया के इस प्रदेश को पुनः प्राप्त किया। इस प्रकार पेरिस की सन्धि के अनुसार रूमानिया की सीमाओं में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये।

रूमानिया की सेना के विषय में यह निर्णय किया गया, कि उसकी स्थल-सेना में १,२०,०००, जल-सेना में ५,००० और वायु-सेना में ८,००० से अधिक सैनिक न हो सकें। जंगी जहाजों और हवाई जहाजों की संख्या भी नियत कर दी गई। रूमानिया को यह भी स्वीकार करना पड़ा, कि वह १०० करोड़ रुपये का सामान आठ सालों के अन्दर हरजाने के रूप में प्रदान करेगा। हरजाने की यह सब रकम रूस प्राप्त करेगा, यह व्यवस्था की गई; क्योंकि रूमानिया के युद्ध में शामिल होने से सबसे अधिक नुकसान रूस को ही उठाना पड़ा था।

बल्गेरिया से सन्धि—सन्धि द्वारा बल्गेरिया से कोई प्रदेश किसी अन्य राज्य को नहीं दिया गया। इसके विपरीत, दक्षिणी दोब्रुजा का प्रदेश उसने रूमानिया

से प्राप्त किया। पर इटली और रूमानिया के समान उसे भी हरजाने की भारी रकम मित्रराष्ट्रों को प्रदान करना स्वीकार करना पड़ा। उसके लिये हरजाने की मात्रा २५ करोड़ रुपया नियत की गई, जिसे कि ग्रीस और युगोस्लाविया ने प्राप्त करना था। इस रकम को अदा करने का समय भी आठ साल नियत किया गया। सैन्यशक्ति के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि बल्गेरिया की स्थल-सेना में ५५,०००, जलसेना में ३,५०० और वायुसेना में ५,२०० से अधिक सैनिक न हो सकें। यह भी निर्णय किया गया, कि ग्रीस की सीमा पर बल्गेरिया कोई किलाबन्दी न रख सके।

हंगरी से सन्धि—हंगरी को अपने अनेक प्रदेश अन्य राज्यों को देने पड़े। ट्रांसिलवेनिया का सुविस्तृत प्रदेश (क्षेत्रफल १६,००० वर्गमील) हंगरी से लेकर रूमानिया को दिया गया। स्लोवेकिया का जो प्रदेश १९३८ में हंगरी ने चेकोस्लोवाकिया से प्राप्त किया था, वह अब उससे लेकर फिर चेकोस्लोवाकिया को दे दिया गया। इसका क्षेत्रफल ४,५०० वर्गमील के लगभग था, और इसकी आबादी दस लाख थी। जिन दिनों हिटलर जर्मनी का उत्कर्ष करने की अभिलाषा से चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग करने के लिये कटिबद्ध था, तभी २ नवम्बर, १९३८ को किये गये फैसले के अनुसार ये प्रदेश हंगरी को प्राप्त हुए थे। ये प्रदेश जर्मनी और इटली द्वारा ही हंगरी को मिले थे। अब फिर इन्हें चेकोस्लोवाकिया को दे दिया गया। हंगरी को इस बात के लिये भी विवश किया गया, कि वह हरजाने की भारी मात्रा मित्रराष्ट्रों को प्रदान करे। यह रकम १०० करोड़ रुपया नियत की गई थी; जिसमें से ६६ करोड़ रुपया रूस को, १० करोड़ रुपया चेकोस्लोवाकिया को और २४ करोड़ रुपया युगोस्लाविया को प्राप्त करना था। यह भी व्यवस्था की गई थी, कि हंगरी की स्थलसेना में ६५,००० और वायुसेना में ५,२०० से अधिक सैनिक न हो सकें। उसके जंगी हवाई जहाजों की संख्या ७० से अधिक न बढ़ने पावे, यह बात भी पेरिस की सन्धि द्वारा तय कर दी गई थी।

फिनलैण्ड से सन्धि—फिनलैण्ड के साथ की गई सन्धि में मुख्यतया उन्हीं शर्तों की पुनरावृत्ति की गई, जो १९४० में मास्को की सन्धि द्वारा रूस ने उसके साथ तय की थी। फिनलैण्ड ने रूस के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी थी, पर वह देर तक रूस जैसे शक्तिशाली राज्य का मुकाबला नहीं कर सका था। उसे परास्त होकर सन्धि करने के लिये विवश होना पड़ा था। १९४० में रूस ने फिनलैण्ड के साथ जो सन्धि की थी, उसके अनुसार फिनलैण्ड के वे अनेक प्रदेश रूस ने प्राप्त कर लिये थे, जो उसकी अपनी सीमा के साथ लगते थे। विशेषतया,

लडोगा की झील के उत्तरी व पश्चिमी प्रदेश, वीपुरी नगरी (जो फिनलैण्ड का बहुत बड़ा व समृद्ध नगर है) और फिनलैण्ड की खाड़ी के विविध द्वीप इस सन्धि द्वारा रूस को प्राप्त हुए थे। अब सब मित्रराष्ट्रों ने इन प्रदेशों पर रूस के अधिकार को स्वीकार किया। फिनलैण्ड के लिये हरजाने की मात्रा १०० करोड़ रुपया निश्चित की गई। इस रकम की कीमत का माल आठ साल के अरसे में फिनलैण्ड ने रूस को प्रदान करना था। फिनलैण्ड की सैन्यशक्ति के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि उसकी स्थलसेना में ३४,०००, जलसेना में ४,५०० और वायुसेना में ३,००० से अधिक सैनिक न हो सकें।

इसमें सन्देह नहीं, कि पेरिस में हुई इन पांच सन्धियों द्वारा रूस को हरजाने की बहुत बड़ी रकम प्रदान करने की व्यवस्था की गई। इटली, रूमानिया, हंगरी, बल्गेरिया और फिनलैण्ड से जो हरजाने की कुल रकम प्राप्त होनी थी, उसका ७० फीसदी रूस को मिलना था। रूस को प्राप्त होनेवाली यह हरजाने की रकम ३०० करोड़ रुपये के लगभग है। इन देशों से उसे अनेक नये प्रदेश भी प्राप्त हुए हैं। पेरिस की इन सन्धियों से रूस का क्षेत्रफल पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया है, और हरजाने के रूप में प्राप्त होनेवाली रकम द्वारा उसे यह अवसर भी मिल गया है, कि विश्व-संग्राम में उसे जो भारी नुकसान उठाना पड़ा था, उसकी वह आंशिक रूप से क्षति-पूर्ति कर सके।

६. जर्मनी की नई व्यवस्था

विश्व-संग्राम में जब जर्मनी परास्त हो गया, तो मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने उस पर अपना कब्जा कायम कर लिया। हिटलर की मृत्यु के बाद डोयनिट्स के नेतृत्व में जिस सामयिक सरकार की स्थापना हुई थी, उसने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर देने में ही जर्मनी का हित समझा। पर मित्रराष्ट्रों ने एडमिरल डोयनिट्स की सरकार को जर्मनी का शासक मानना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने यही निर्णय किया, कि जर्मनी का शासन-सूत्र मित्रराष्ट्र स्वयं अपने हाथों में ले लें। शासन की दृष्टि से जर्मनी को चार भागों में बांटा गया। ये चारों भाग क्रमशः अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के सुपुर्द किये गये। पूर्वी जर्मनी पर रूस का अधिकार स्थापित किया गया। इस रशियन क्षेत्र का कुल क्षेत्रफल ४५,००० वर्गमील था, और इसकी आबादी १,८०,००,००० थी। स्विट्जरलैण्ड व आस्ट्रिया से लगते हुए दक्षिण-पूर्वी जर्मनी के जो प्रदेश हैं, वे अमेरिका के अधीन रखे गये।

इस अमेरिकन क्षेत्र का कुल क्षेत्रफल ४२,५०० वर्गमील था, और इसकी आबादी १,६५,००,००० थी। जर्मनी का जो हिस्सा फ्रांस की सीमा के साथ लगता था, और जिसमें प्रधानतया र्‌हाइनलैण्ड और सार के प्रदेश अन्तर्गत थे, उसे फ्रांस के सुपुर्द किया गया। इसका कुल क्षेत्रफल १६,५०० वर्गमील था और इसकी आबादी ६०,००,००० थी। बेल्जियम और हालैण्ड की सीमा के साथ लगे हुए पश्चिमी जर्मनी के प्रदेश ब्रिटेन को दिये गये। इस ब्रिटिश क्षेत्र का कुल क्षेत्रफल ३६,००० वर्गमील था, और इसकी आबादी २,३०,००,००० थी। बर्लिन के चारों ओर का प्रदेश रूस के हाथ में आया। पर खास बर्लिन को चार हिस्सों में विभक्त कर उन पर रूस, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस का अलग-अलग शासन कायम किया गया। साथ ही, पूर्वी जर्मनी का बहुत सा भाग, जिसमें प्रशिया और साइलीसिया के अनेक प्रदेश अन्तर्गत थे, पोलैण्ड को दे दिया गया, और प्रशिया का वह उत्तर-पूर्वी कोना, जिसमें क्युनिग्सबर्ग का प्रसिद्ध नगर स्थित है, रूस के अन्तर्गत कर दिया गया। जर्मनी का यह अंग-भंग १७ जुलाई, १९४५ को पोट्सडम की कान्फरेन्स द्वारा किया गया था। इस कान्फरेन्स में यह भी फैसला किया गया था, कि जर्मनी के शासन के सम्बन्ध में विविध राज्य किस नीति व सिद्धान्तों का अनुसरण करें। पोट्सडम कान्फरेन्स के ये निर्णय बड़े महत्त्व के थे। अतः इनका संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है—

(१) शासन के लिये जर्मनी व बर्लिन को चार-चार खण्डों में विभक्त किया जाय। एक-एक खण्ड पर अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस व रूस का अधिकार रहे। सम्पूर्ण जर्मनी के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों के लिये चारों राज्यों की एक सम्मिलित कन्ट्रोल कौंसिल बनाई जाय।

(२) जहां तक सम्भव हो सके, जर्मनी की सम्पूर्ण जनता के साथ एक सा व्यवहार किया जाय।

(३) जर्मनी को पूर्णतया अस्त्र-शस्त्र से विहीन कर दिया जाय। जिन व्यवसायों व कल-कारखानों का उपयोग युद्ध-सामग्री को तैयार करने के लिये किया जा सकता हो, उन सबको या तो सर्वथा नष्ट कर दिया जाय और या उन पर मित्रराष्ट्रों का नियन्त्रण रहे।

(४) नाजी पार्टी और उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाओं को जड़ से उखाड़ दिया जाय। जर्मनी के राजनीतिक जीवन का लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर पुनःनिर्माण किया जाय। ऐसी व्यवस्था की जाय, कि जर्मनी में नाजीज्म फिर से सिर न उठा सके।

(५) नाजी पार्टी द्वारा जारी किये गये कानूनों को रद्द कर दिया जाय ।

(६) नाजी पार्टी के नेताओं व अन्य ऐसे लोगों पर, जिन्होंने लड़ाई के समय में विविध प्रकार के अपराध किये थे, मुकदमे चलाये जायं और अपराधी लोगों को कड़े से कड़े दण्ड दिये जायं ।

(७) जर्मनी की शिक्षा-पद्धति पर इस प्रकार से नियन्त्रण रखा जाय, ताकि वहां के विद्यार्थी नाजी विचारों के प्रभाव में न आ सकें ।

(८) जर्मनी में कोई शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापित न हो सके । जर्मनी में ऐसी व्यवस्था की जाय, कि विविध प्रान्तों व प्रदेशों में पृथक्-पृथक् सरकारें कायम हों, ताकि एक शक्तिशाली विशाल जर्मनी का विकास सम्भव न रहे । नये जर्मनी में उन राजनीतिक दलों को अपना विकास करने का पूरा मौका दिया जाय, जो लोकतन्त्रवाद में विश्वास रखते हों ।

(९) जर्मनी में न कोई युद्ध-सामग्री तैयार हो सके, न हवाई जहाज बनें और न समुद्र में चलनेवाले जहाजों का निर्माण हो । लोहा, धातु, रासायनिक द्रव्य व मशीनरी तैयार करने के जो कारखाने जर्मनी में हैं, उन सब पर मित्र-राष्ट्रों का कड़ा निरीक्षण व नियन्त्रण रहे । उनमें केवल उतना माल तैयार हो, जो जर्मनी की अपनी आवश्यकताओं के लिये अनिवार्य है ।

(१०) युद्ध की सब जिम्मेदारी जर्मनी के सिर पर है, अतः उससे हरजाने के रूप में भारी रकम वसूल की जानी चाहिये । यह हरजाना किस रूप में लिया जाय, इस सम्बन्ध में नई व्यवस्था की गई । रुपये की शकल में या माल के रूप में हरजाना वसूल करने से वे सब समस्याएं उठ खड़ी होतीं, जो गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद पैदा हो गई थीं । रुपये के रूप में हरजाना तभी प्राप्त हो सकता था, जब जर्मनी के निर्यात आयात की अपेक्षा अधिक हों । अन्यथा, उसकी मुद्रा-पद्धति छिन्न-भिन्न हो जाती और वहां के सिक्कों की कीमत न के बराबर रह जाती । माल की शकल में हरजाना वसूल करने का परिणाम यह होता, कि जर्मनी की व्यावसायिक पैदावार खूब बढ़ती, उसके कल-कारखाने निरन्तर उन्नति करते और सस्ते जर्मन माल से दुनिया के बाजार परिपूर्ण हो जाते । इसलिये अब यह व्यवस्था की गई, कि जर्मनी में केवल उतनी मशीनरी रहने दी जाय, जो उसकी अपनी आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त हो । शेष सब मशीनरी, कल-कारखानों का सामान, समुद्र व वायु में चलनेवाले जहाज, युद्ध-सामग्री, अस्त्र-शस्त्र, व अन्य सामान को जर्मनी से निकालकर उसे मित्रराष्ट्रों में बांट दिया जाय । यह सब सामान रूस, फ्रांस, पोलैण्ड, बेल्जियम आदि उन राज्यों को दे दिया जाय,

जिन्हें विश्व-संग्राम में जर्मनी के आक्रमणों के कारण विशेष क्षति उठानी पड़ी थी। पिछले अनुभव से लाभ उठाकर मित्रराष्ट्रों ने अब यह निश्चय किया, कि हरजाने के रूप में जो कुछ भी शुरू से ही जर्मनी से वसूल कर लिया जाय, वही ठीक है।

यद्यपि शासन की दृष्टि से जर्मनी को चार भागों में बांटा गया था, और प्रत्येक भाग की सरकार पूर्णतया स्वतन्त्र थी, पर सम्पूर्ण जर्मनी की समस्याओं के सम्बन्ध में परस्पर सहयोग को कायम करने के लिये एक केन्द्रीय नियन्त्रण-समिति (अलाइड कन्ट्रोल कौंसिल) की भी रचना की गई थी। इसमें अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और फ्रांस के वे चार सेनापति सदस्य रूप में रहते थे, जो कि जर्मनी के चारों क्षेत्रों के शासन के लिये नियुक्त थे। चारों मित्रराष्ट्रों ने अपने-अपने जर्मन क्षेत्र में जो सरकारें कायम की थीं, वे सैनिक सरकारें थीं, उनका संचालन सेनापतियों द्वारा ही होता था। अलाइड-कन्ट्रोल कौंसिल के ये प्रमुख सेनापति ही सदस्य थे। ये सम्पूर्ण जर्मनी के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों पर मिलकर विचार करते थे; और इनका कोई भी निर्णय तभी हो सकता था, जब कि चारों सदस्य उससे सहमत हों। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि यदि किसी एक राज्य का प्रतिनिधि सेनापति किसी बात से असहमत हो, तो वह स्वीकृत नहीं समझी जाती थी। रूस के अन्य मित्रराष्ट्रों के साथ जो मतभेद विश्व-संग्राम के बाद प्रकट हुए, उनके कारण इस अलाइड कन्ट्रोल कौंसिल को अपने कार्य में विशेष सफलता नहीं हो सकी। जर्मनी के विविध क्षेत्रों में मित्रराष्ट्रों का शासन प्रायः पृथक् रूप से ही कायम रहा, और वे मिलकर किसी एक नीति का अनुसरण नहीं कर सके।

अलाइड कन्ट्रोल कौंसिल के अतिरिक्त एक अन्य समिति का निर्माण भी इस उद्देश्य से किया गया, कि जर्मनी के चारों क्षेत्रों में परस्पर सहयोग स्थापित हो सके। 'इसे अलाइड को-आर्डिनेटिंग कमेटी' कहते थे। इस सहयोग-समिति में चारों जर्मन क्षेत्रों के सहायक सैनिक गवर्नर सदस्य रूप में शामिल होते थे, और उन मामलों पर मिलकर विचार करते थे, जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण जर्मनी से था। आवागमन के साधन, मुद्रा, राष्ट्रीय आय-व्यय आदि मामलों पर यही समिति विचार करती थी, और परस्पर सहयोग द्वारा किसी एक निर्णय पर पहुँचने का यत्न करती थी।

७. आस्ट्रिया की व्यवस्था

जर्मनी के पराजय से लगभग एक मास पूर्व एप्रिल, १९४५ में रशियन सेनाएँ आस्ट्रिया में प्रवेश कर गई थीं। हिटलर के नेतृत्व में नाजी शक्ति का जो सुदृढ़

संगठन उस देश में बना था, वह अब खण्ड-खण्ड होने लगा था। ऐसे समय में यह स्वाभाविक था, कि वे लोग देश को संभालने के लिये मैदान में आवें, जो नाजी विचारधारा के विरोधी थे। इन लोगों में डा० कार्ल रेनर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १९१९ में जब प्राचीन हाप्सबुर्ग राजवंश के शासन का अन्त होकर आस्ट्रिया में रिपब्लिक की स्थापना हुई थी, तो डा० रेनर उसके चांसलर (प्रधानमन्त्री) पद पर नियत हुए थे। ये आस्ट्रिया के लोकसत्तावादी दल के प्रधान नेता थे। रशियन सेनाओं ने इन्हें वीएना जाने की अनुमति प्रदान कर दी, ताकि ये वहां जाकर आस्ट्रिया के लोकसत्तावादियों और नाजी-विरोधी विचारों के लोगों को संगठित कर सकें। वीएना पहुंचकर डा० रेनर को ज्ञात हुआ, कि वहां अन्य अनेक नेता विद्यमान हैं, जो नाजियों के शासन-काल में भी गुप्त रूप से मित्र-राष्ट्रों का साथ देते रहे हैं, और जिन्होंने अपने देश को हिटलर के प्रभाव से मुक्त कराने के लिये निरन्तर प्रयत्न जारी रखा है। इन नेताओं के राजनीतिक दल तीन थे—कम्युनिस्ट दल, आस्ट्रियन जनता दल और लोकसत्तावादी (सोशल डेमोक्रेटिक) दल। इस समय इन सब दलों के नेताओं और डा० रेनर ने यह विचार किया, कि देश को नाजी प्रभाव से मुक्त कराने के लिये यह आवश्यक है, कि एक स्वतन्त्र आस्ट्रियन सरकार का संगठन कर लिया जाय। २९ एप्रिल, १९४५ को इस सरकार का संगठन कर लिया गया, और डा० रेनर फिर चांसलर के पद पर नियत हुए। इस सामयिक सरकार में सब नाजी-विरोधी दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। रूस ने डा० रेनर की इस सरकार को तुरन्त स्वीकृत कर लिया। अन्य मित्रराष्ट्र इस बात से बहुत नाराज हुए। उनकी इच्छा यह थी, कि आस्ट्रिया पर किसी एक मित्रराष्ट्र का प्रभाव न होने पावे। जिस प्रकार आगे चलकर जर्मनी को चार प्रभाव-क्षेत्रों में बांटा गया, उसी प्रकार वे आस्ट्रिया को भी चार भागों में बांटकर उन्हें अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन और रूस के प्रभाव में रखना चाहते थे। सैनिक दृष्टि से इस बारे में पहले विचार-विनिमय भी हो चुका था। इसीलिये डा० रेनर की सरकार को स्वीकृत करने के लिये ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस उद्यत नहीं हुए।

पर आस्ट्रिया की सामयिक सरकार अपना कार्य कर रही थी। १ मई, १९४५ को आस्ट्रिया के पुराने लोकसत्तात्मक शासन-विधान का पुनरुद्धार किया गया। नाजी शासन में जो अनेक नये कानून जारी किये गये थे, उन्हें रद्द किया गया। बहुत से नाजी नेता गिरफ्तार किये गये। युद्ध के समय में जिन सैनिक अफसरों ने अमानुषिक कृत्य व अत्याचार किये थे, उन पर मुकदमे चलाये गये।

देश में शान्ति और व्यवस्था कायम कर लेने के लिये अनेक उपयोगी कानून प्रचलित किये गये। इसमें सन्देह नहीं, कि डा० रेनर की सरकार ने आस्ट्रिया में एक सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने में अच्छी सफलता प्राप्त कर ली थी। नवम्बर, १९४५ में आस्ट्रिया की पार्लियामेण्ट का भी चुनाव किया गया। नाजी पार्टी के भूतपूर्व सदस्यों को इस चुनाव में वोट देने के अधिकार से वंचित किया गया था। ऐसे लोगों की संख्या ५,४०,००० के लगभग थी। पार्लियामेण्ट के कुल सदस्यों की संख्या १६५ थी। इनमें से ८५ जनता दल के, ७६ सोशलिस्ट पार्टी के और ४ कम्युनिस्ट पार्टी के थे। एक सदस्य ऐसा था, जो किसी दल के साथ सम्बन्ध नहीं रखता था। दिसम्बर, १९४५ में आस्ट्रिया के नये मन्त्रिमण्डल का संगठन हुआ। इसमें ९ मन्त्री जनता दल के, ६ मन्त्री सोशलिस्ट पार्टी के और एक मन्त्री कम्युनिस्ट पार्टी का था। जनता दल के नेता श्री लियोपोल्ड फीगल को प्रधान मन्त्री नियत किया गया। डा० रेनर द्वितीय आस्ट्रियन रिपब्लिक के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। राष्ट्रपति का कार्य-काल छः साल रखा गया था।

जुलाई, १९४५ में पोट्सडम कान्फरेन्स द्वारा जब जर्मनी की नई व्यवस्था तैयार की जा रही थी, तभी आस्ट्रिया के प्रश्न पर भी विचार किया गया। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस इस बात से बहुत नाखुश थे, कि रूस ने सारे आस्ट्रिया को अपनी संरक्षा में ले लिया है। उन्होंने रूस को इसके लिये विवश किया, कि जर्मनी के समान आस्ट्रिया को भी चार प्रभाव-क्षेत्रों में विभक्त किया जाय। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई, कि बर्लिन के समान वीएना पर भी चारों मित्रराष्ट्रों का कब्जा रहे। उत्तर-पूर्वी आस्ट्रिया को रूस के क्षेत्र में शामिल किया गया। इटली और युगोस्लाविया की सीमा पर आस्ट्रिया का जो दक्षिण-पूर्वी भाग स्थित है, उसे ब्रिटेन का प्रभाव-क्षेत्र नियत किया गया। दक्षिण-पश्चिमी आस्ट्रिया के जो प्रदेश स्विट्जरलैण्ड की सीमा के साथ लगते हैं, वे फ्रांस के प्रभाव-क्षेत्र में शामिल किये गये, और उत्तर-पश्चिमी आस्ट्रिया को अमेरिका के प्रभाव-क्षेत्र में दिया गया। आस्ट्रिया का कुल क्षेत्रफल ३२,००० वर्गमील है, और उसकी कुल आबादी ६९,००,००० है। इस छोटे से देश को भी इस समय मित्रराष्ट्रों ने चार प्रभाव-क्षेत्रों में विभक्त कर दिया।

चारों प्रभाव-क्षेत्रों में सैनिक शासन करने तथा आस्ट्रिया की सरकार पर नियन्त्रण रखने के लिये एक-एक गवर्नर की नियुक्ति की गई। सारे आस्ट्रिया पर मित्रराष्ट्रों का नियन्त्रण स्थापित करने के उद्देश्य से एक 'अलाइड कमीशन'

बनाया गया। इस कमीशन के तीन अंग थे---अलाइड कौंसिल, कार्यकारिणी समिति और विशेषज्ञों की सभा। अलाइड कौंसिल में चारों प्रभावक्षेत्रों के गवर्नर सदस्य रूप में सम्मिलित होते थे। इसके निर्णय भी सर्वसम्मति से किये जाते थे। इस प्रकार यद्यपि आस्ट्रिया पर मित्रराष्ट्रों ने अपना नियन्त्रण भली भांति कायम कर लिया था, तथापि पहले डा० रेनर और बाद में श्री लियोपोल्ड फीगल के नेतृत्व में जो स्वतन्त्र आस्ट्रियन सरकारें वहां कायम हुईं, वे देश के शासन में ठोस अधिकार रखती थीं। धीरे-धीरे आस्ट्रिया में कम्युनिस्ट दल का प्रभाव बढ़ता गया। बाद में वहां का शासन भी कम्युनिस्टों के हाथ में चला गया, और आस्ट्रिया पूर्वी यूरोप के अन्य देशों के समान रशियन ब्लाक में शामिल हो गया।

८. जापान की व्यवस्था

विश्व-संग्राम में जापान के परास्त होने से पहले ही मित्रराष्ट्रों ने यह तय कर लिया था, कि पराजित जापान के सम्बन्ध में किस नीति का अनुसरण किया जायगा। इस नीति को अनेक उद्घोषणाओं द्वारा प्रकट कर देने का प्रयत्न भी मित्रराष्ट्रों ने किया था। फरवरी, १९४५ में याल्टा में यह घोषणा की गई थी, कि कोरिया को जापानी अधीनता से मुक्त कराके स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित किया जायगा, और सखालिन तथा उसके समीपवर्ती टापू रूस को दे दिये जायंगे। मंचूरिया पर रूस का प्रभाव स्वीकृत किया जायगा, और युद्ध के दौरान में जापान ने जिन विविध प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया है, उन सबको उससे छीनकर उसकी सत्ता केवल उन द्वीपों तक सीमित कर दी जायगी, जो वस्तुतः जापान के अपने अंग हैं। जुलाई, १९४५ में पोट्सडम कान्फरेन्स द्वारा यह भी घोषित किया गया, कि जापान की सैनिक शक्ति को सदा के लिये नष्ट कर दिया जायगा और यह प्रयत्न किया जायगा, कि सभ्य संसार के अन्य देशों के समान जापान में भी लोकसत्तात्मक शासन स्थापित हो, और वहां भी भाषण व विचार की स्वतन्त्रता का विकास हो। साथ ही, यह भी प्रयत्न किया जायगा, कि भविष्य में फिर कभी जापान साम्राज्यवाद के विस्तार के लिये प्रयत्न न कर सके।

अगस्त, १९४५ में जब जापान ने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया, तो वहां व्यवस्था स्थापित करने का प्रश्न उत्पन्न हुआ। पर यह प्रश्न अधिक जटिल नहीं था। कारण यह, कि वहां सम्राट् का व्यवस्थित शासन विद्यमान था, मित्र-राष्ट्रों ने जापान के विविध द्वीपों पर अभी सैनिक दृष्टि से कब्जा नहीं किया

था, और न ही उस देश में कोई ऐसे राजनीतिक दल थे, जो सम्राट् के विरुद्ध षड्-यन्त्रों में लगे हों। मित्रराष्ट्रों ने जापानी सम्राट् के शासन को कायम रखा, पर उस पर नियन्त्रण रखने व सैनिक दृष्टि से जापान की सैन्यशक्ति पर अपना कब्जा कायम करने की सारी जिम्मेवारी जनरल मैकआर्थर के हाथ में दे दी। जनरल मैकआर्थर प्रशान्त महासागर व पूर्वी एशिया के क्षेत्र में मित्रराष्ट्रों के सबसे बड़े प्रधान सेनापति थे, और सब शक्ति उन्हीं के पास केन्द्रित थी। अब जापान के शासन को नियन्त्रित करने का काम भी उनके सुपुर्द कर दिया गया। जनरल मैकआर्थर को अपने कार्य में परामर्श देने के लिये मित्रराष्ट्रों की एक कौंसिल नियत की गई, जिसे अलाइड कौंसिल आफ जापान कहते हैं। इस कौंसिल में निम्नलिखित देशों के प्रतिनिधि सदस्य रूप से नियुक्त किये गये---१. अमेरिका, इसका प्रतिनिधि कौंसिल के प्रधान का भी काम करता था। २. चीन, और ३. ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और भारत का सम्मिलित रूप से एक प्रति-निधि। इस कौंसिल का प्रधान कार्यालय जापान की राजधानी टोकियो में स्थापित किया गया था। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस कौंसिल का कार्य केवल परामर्श देना था। सब बातों का अन्तिम निर्णय जनरल मैकआर्थर के ही हाथ में था। अलाइड कौंसिल आफ जापान का पहला अधिवेशन ५ एप्रिल, १९४६ को टोकियो में हुआ।

इस कौंसिल के अतिरिक्त एक अन्य समिति थी, जिसका निर्माण जापान सम्बन्धी विषयों पर विचार करने व नीति के निर्धारण के उद्देश्य से किया गया था। इसे 'सुदूर पूर्व समिति' कहते थे, और इसका प्रधान कार्यालय अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन में था। इसके सदस्य निम्नलिखित राज्यों के प्रतिनिधि होते थे---(१) अमेरिका, इसका प्रतिनिधि समिति का प्रधान भी होता था। (२) आस्ट्रेलिया (३) कनाडा (४) चीन (५) फ्रांस (६) भारत (७) हालैण्ड (८) न्यूजीलैण्ड (९) फिलिप्पीन्स (१०) रूस और (११) ब्रिटेन। इस समिति का मुख्य कार्य यह था, कि इस बात का फैसला करे, कि जापान की अधी-नता से मुक्त हुए विविध प्रदेशों के शासन के लिये क्या व्यवस्था की जाय और जापान में जो नई सरकार कायम हो, उसका क्या स्वरूप हो, और वह किस नीति का अनुसरण करे। 'सुदूर पूर्व समिति' के निर्णय बहुमत द्वारा किये जाते थे, पर कोई निर्णय तब तक मान्य नहीं होता था, जब तक कि अमेरिका, चीन, रूस और ब्रिटेन उसके साथ सहमत न हों। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इन चार राज्यों में से प्रत्येक को समिति के निर्णयों को वीटो कर देने का अधिकार प्राप्त

था। क्योंकि जापान का शासन और व्यवस्था पूरी तरह जनरल मैकआर्थर के एकाधिकार में दे दी गई थी, अतः यह समिति अपने निर्णयों को पहले अमेरिकन सरकार के पास भेजती थी, और अमेरिकन सरकार उन्हें जनरल मैकआर्थर के पास पहुंचाती थी। समिति के निर्णयों के सम्बन्ध में भी अन्तिम अधिकार जनरल मैकआर्थर के हाथों में ही था। यद्यपि जापान में सम्राट् और उसकी सरकार विद्यमान थीं, पर वे पूरी तरह मैकआर्थर के नियन्त्रण में थीं और मित्रराष्ट्रों के इस प्रधान सेनापति ने यह भलीभांति स्पष्ट कर दिया था, कि अपनी किसी भी आज्ञा को मनवाने के लिये सैन्यशक्ति के प्रयोग में वह जरा भी संकोच नहीं करेगा।

जनरल मैकआर्थर का जापान में मुख्य कार्य यह था, कि वह उसकी सैन्य-शक्ति को बिलकुल पंगु बना दे। अतः जापान के युद्ध व सैन्य-विभागों को अब यह काम सुपुर्द किया गया, कि वे अपनी सम्पूर्ण सैन्यशक्ति को नष्ट भ्रष्ट कर दें। इसीलिये बाधित सैनिक सेवा व बाधित सैनिक शिक्षा की पद्धतियों को नष्ट किया गया। जो लाखों सैनिक जापान की सेना में थे, उन्हें बर्खास्त कर दिया गया। जापान के लाखों सैनिक प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों व सुदूर पूर्व के विविध प्रदेशों में फैले हुए थे, उन सबको जापान वापस बुलाया गया और वहां उन्हें सैनिक सेवा से पृथक् किया गया। जंगी जहाज, हवाई जहाज व युद्ध के अन्य सब भारी सामान को या तो मित्रराष्ट्रों को दे दिया गया, और या नष्ट कर दिया गया। यह भी व्यवस्था की गई, कि जिन अफसरों ने जापान की सेना को इतना उन्नत और शक्तिशाली बनाने का कार्य किया था, उन्हें किसी भी राष्ट्रीय पद पर न रहने दिया जाय। जापानी लोग समझते थे, उनका सम्राट् दैवी अधिकार द्वारा देश पर शासन करता है, वह साक्षात् भगवान् का प्रतिनिधि है। जापानी लोग अन्य जातियों की अपेक्षा ऊँचे व उत्कृष्ट हैं, उन्हें सारे संसार पर शासन करना है। इन विचारों के खिलाफ जबर्दस्त प्रचार किया गया। स्वयं सम्राट् द्वारा एक उद्घोषणा प्रकाशित की गई, जिसमें कहा गया था, कि सम्राट् को दैवी मानना या देवता के रूप में उसकी पूजा करना सर्वथा अनुचित है। यह बात भी गलत है, कि जापानी लोग अन्य लोगों की अपेक्षा ऊँचे व उत्कृष्ट हैं, और उन्हें संसार पर शासन करना है। शिक्षणालयों में जो अध्यापक उग्र राष्ट्रीय विचार रखते थे, उन्हें अपने पदों से पृथक् किया गया। ऐसी पाठ्य पुस्तकों को कोर्स से हटाया गया, जो उग्र राष्ट्रभक्ति का प्रतिपादन करती थीं। उन सब सभा-समितियों को गैर-कानूनी घोषित किया गया, जिनका उद्देश्य जापान की राष्ट्रीय शक्ति को उन्नत

करना था। इन सब बातों का उद्देश्य यही था, कि जापान सैनिक दृष्टि से शक्ति-हीन हो जाय, और वहां के लोग फिर कभी पूर्वी एशिया व प्रशान्त महासागर को अपने आधिपत्य में लाने का प्रयत्न न करें। जापान में कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें उनके उदार राजनीतिक विचारों के कारण पिछली सरकार ने कैद किया था। इन सबको अब छोड़ दिया गया, और इन्होंने जापान में लोकसत्तावादी विचारों को फैलाने में बड़ी सहायता की।

९. पूर्वी यूरोप

विश्व-संग्राम के दौरान में पूर्वी यूरोप के विविध देश जर्मन सेनाओं के कब्जे में थे। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि अनेक देश हिटलर की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के शिकार हो गये थे और इन सबमें नाजी विचारधारा के अनुसार शासनों की स्थापना कर दी गई थी। जब जर्मनी की घटती कला शुरू हुई, तो रशियन सेनाओं ने धीरे-धीरे इन्हें जर्मनी की अधीनता से मुक्त कराना प्रारम्भ किया। जर्मनी की घटती कला के समय में इन देशों में ऐसे देशभक्त लोग भी अपना सिर उठाने लगे थे, जो नाजी सिद्धान्तों के खिलाफ थे और जो अपने देश को जर्मन अधीनता से मुक्त कराके वहां स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारों को स्थापित करने का स्वप्न देखते थे। कम्युनिस्ट लोग इनमें सर्वप्रधान थे। कम्युनिस्ट व अन्य दलों के नाजी-विरोधी देशभक्त लोग गुप्त समितियों तथा स्वयंसेवक सेनाओं के गुप्त संगठनों द्वारा जर्मनी के खिलाफ संघर्ष में लगे थे। जब रशियन सेनाओं द्वारा इन प्रदेशों को स्वतन्त्र किया गया, तो इन देशों में सामयिक स्वतन्त्र सरकारों का संगठन हुआ। यह स्वाभाविक था, कि ये सरकारें रूस के प्रभाव में रहें, और उसी की विचारधारा का अनुसरण करें।

पूर्वी यूरोप के इन विविध देशों में विश्व-संग्राम की समाप्ति के बाद किस प्रकार नई सरकारें कायम हुईं, इस विषय पर हम इस प्रकरण में प्रकाश डालेंगे।

(१) **चेकोस्लोवाकिया**—जर्मनी की अधीनता से चेकोस्लोवाकिया को १९४४ में छुटकारा मिला था। जो चेक देशभक्त युद्ध के समय में अपने देश से भागकर बाहर चले गये थे, उन्होंने आजाद चेकोस्लोवाकियन सरकार का संगठन किया हुआ था। इसके नेता डा० बेनस थे। अपने देश के स्वाधीन हो जाने पर १० मई, १९४५ को वे प्राग लौट आये और उन्होंने चेकोस्लोवाकिया के शासन को अपने हाथों में ले लिया। २६ मई, १९४६ को नया शासन-विधान तैयार करने के

लिये संविधान-परिषद् का निर्वाचन किया गया। इसमें कम्युनिस्ट लोग बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। यद्यपि अन्य दलों की सम्मिलित शक्ति के मुकाबले में उनकी संख्या कम थी, पर अन्य कोई पार्टी अकेले उनका मुकाबला नहीं कर सकती थी। धीरे-धीरे कम्युनिस्ट अपनी शक्ति बढ़ाते गये और २५ फरवरी, १९४८ को वे अपनी सरकार बनाने में समर्थ हुए। कम्युनिस्ट नेता श्री क्लीमैण्ट गाटवाल्ड ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया। नये शासन-विधान के अनुसार पार्लियामेण्ट का जो निर्वाचन हुआ, उसमें १४४ कम्युनिस्ट चुनाव में सफल हुए। पार्लियामेण्ट के कुल सदस्यों की संख्या ३०० थी। कुछ अन्य साम्यवादियों (सोशलिस्टों) की सहायता से कम्युनिस्ट लोग अब सुगमता के साथ अपना काम चला सकते थे।

चेकोस्लोवाकिया का शासन जो इस प्रकार कम्युनिस्टों के हाथ में चला गया, उससे ब्रिटेन, अमेरिका आदि लोकतन्त्रवादी देशों में बहुत असन्तोष फैला। अब यह स्पष्ट था, कि चेकोस्लोवाकिया रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आये बिना नहीं रहेगा। धीरे-धीरे कम्युनिस्टों ने न केवल सरकार पर अपना कब्जा कर लिया, अपितु देश के सामाजिक व आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर भी अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। चेकोस्लोवाकिया के मन्त्रिमण्डल में विदेश-मन्त्री के पद पर डा० मैसरिक विद्यमान थे। ये स्वतन्त्र चेकोस्लोवाकियन रिपब्लिक के संस्थापक श्री मैसरिक के पुत्र थे। देश के शासन में कम्युनिस्ट लोगों का अत्यधिक प्रभाव हो जाने से ब्रिटेन, अमेरिका आदि में जो बेचैनी उत्पन्न हुई, उसके कारण चेकोस्लोवाकिया की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के सम्बन्ध में अनेक उलझनें पैदा हो गईं। उन्हें सुलझा सकना श्री मैसरिक के लिये कठिन था। परेशान होकर १० मार्च, १९४८ को उन्होंने आत्महत्या कर ली। डा० मैसरिक स्वयं कम्युनिस्ट नहीं थे, पर देशहित को दृष्टि में रखकर जो अनेक चेक लोग शासन में कम्युनिस्टों के साथ सहयोग कर रहे थे, वे भी उनमें से एक थे। पर रूस और अमेरिका के विरोध के कारण जो पेचीदी स्थिति पैदा हो गई थी, उससे वे अत्यधिक परेशान हो गये, और अपनी मानसिक विकलता की दशा में ही उन्होंने आत्मघात करके अपनी परेशानियों का अन्त कर लिया। डा० मैसरिक की मृत्यु के बाद चेकोस्लोवाकिया पूर्णतया रूस के ब्लाक में शामिल हो गया। यद्यपि राष्ट्रपति डा० बेनस देश की नई राजनीतिक स्थिति से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थे, पर उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र नहीं दिया। उनका कहना था, कि जब देश का लोकमत कम्युनिस्ट पार्टी के साथ है, तो उनकी सरकार का बनना ही उचित है। इसी समय चेको-

स्लोवाकिया ने मार्शल-योजना के अनुसार अमेरिका से सहायता लेना भी बन्द कर दिया, क्योंकि रूस के प्रभावक्षेत्र में आ चुकने के बाद अमेरिका से किसी भी प्रकार की सहायता प्राप्त करना सर्वथा असंगत था।

३० मई, १९४८ को चेकोस्लोवाकिया में नया चुनाव हुआ। इसमें ८२ फीसदी के लगभग मतदाताओं ने कम्युनिस्टों का साथ दिया। ७ जून, १९४८ को डा० बेनस ने राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र दे दिया। उनकी जगह पर कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्री गाटवाल्ड राष्ट्रपति नियुक्त हुए। श्री जैपोटोकी ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया। इस समय से चेकोस्लोवाकिया पूर्णतया कम्युनिस्ट प्रभाव में आ गया।

(२) युगोस्लाविया—जर्मनी के कब्जे से मुक्त होने के बाद २९ नवम्बर, १९४५ को युगोस्लाविया में रिपब्लिक की स्थापना की गई। विश्व-संग्राम के समय में अनेक स्लाव देशभक्त जर्मनी के खिलाफ संघर्ष में लगे थे। मार्शल टीटो उनके नेता थे। वे स्वयं कम्युनिस्ट विचारों के थे। नई युगोस्लाव रिपब्लिक के प्रधान मन्त्री मार्शल टीटो बने। युगोस्लाविया भी रूस के कम्युनिस्ट ब्लाक में शामिल हो गया। पर कुछ समय बाद रूस के कम्युनिस्ट नेताओं और मार्शल टीटो में मतभेद हो गया और यह मतभेद अब भी जारी है।

(३) रूमानिया—मार्च, १९४४ तक रूस की सेनाओं ने रूमानिया के बड़े भाग पर कब्जा कर लिया था। २३ अगस्त, १९४४ को रूमानिया की सरकार ने रूस के साथ सन्धि करके युद्ध की समाप्ति कर दी। जर्मनी की अधीनता के समय में रूमानिया की सरकार का प्रधान जनरल एन्टोनिस्कू था। रूस से पराजित हो जाने के बाद उसके शासन का अन्त हो गया, और वहां एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की गई। नई सरकार जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में मित्र-राज्यों के साथ शामिल हो गई। विश्व-संग्राम में जर्मनी के परास्त होने के बाद नवम्बर, १९४६ में रूमानिया की पार्लियामेण्ट का नया चुनाव हुआ। इसमें कम्युनिस्ट लोग बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। कम्युनिस्टों के बहुसंख्या में रहते हुए यह सम्भव नहीं था, कि रूमानिया में किसी राजवंश या राजा की सत्ता कायम रह सकती। ३० दिसम्बर, १९४७ को राजा माइकेल ने अपनी राजगद्दी का स्वयमेव परित्याग कर दिया। उसी दिन रूमानिया की पार्लियामेण्ट ने सर्वसम्मति से यह घोषणा की, कि देश में राजसत्ता का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना की जाय। एप्रिल, १९४८ में रूमानिया के लिये नया शासन-विधान बनकर तैयार हुआ। यह विधान कम्युनिज्म के सिद्धान्तों पर आश्रित है। ११ जून, १९४८

की नई पार्लियामेण्ट ने सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया, कि सब व्यवसायों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया जाय। अब रूमानिया में पूर्णतया कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम हो गई है। आर्थिक उत्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो गया है, और रूमानिया रशियन ब्लाक में शामिल हो गया है।

(४) **हंगरी**—फरवरी, १९४५ में रशियन सेनाओं ने हंगरी में प्रवेश करके वहां से जर्मन शासन का अन्त किया। हंगरी के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि १ जनवरी, १९३८ को उसकी जो सीमाएं थीं, उन्हें फिर से कायम किया जाय। फरवरी, १९४६ में हंगरी के निवासियों की एक संविधान-परिषद् ने यह फैसला किया, कि देश में रिपब्लिकन शासन स्थापित किया जाय। ३१ अगस्त, १९४७ को नये विधान के अनुसार चुनाव हुए। इनमें कम्युनिस्ट व अन्य साम्यवादी दलों को बहुमत प्राप्त हुआ। हंगरी के मन्त्रिमण्डल में कम्युनिस्ट दल की प्रधानता है, और यूरोप की राजनीति में वह रशियन ब्लाक के साथ है।

(५) **अल्बेनिया**—अक्टूबर, १९४४ में अल्बेनिया जर्मनी के कब्जे से मुक्त हुआ। उसी समय कर्नल होड्जा के नेतृत्व में सामयिक सरकार की स्थापना की गई। जनवरी, १९४६ में विधान-परिषद् का निर्माण किया गया और इस परिषद् ने निश्चय किया, कि अल्बेनिया में रिपब्लिकन शासन की स्थापना की जाय। पुराने राजवंश को राजगद्दी पर अधिकार नहीं करने दिया गया और जो नई लोकतन्त्र सरकार वहां कायम की गई, उसका नेतृत्व श्री होड्जा के ही हाथ में रहा। अल्बेनिया के नये मन्त्रिमण्डल में कम्युनिस्टों का प्रधान हाथ था। यद्यपि अभी वहां पूर्णतया कम्युनिस्ट शासन कायम नहीं हुआ है, पर इस साम्यवादी दल का जोर वहां निरन्तर बढ़ रहा है।

(६) **आस्ट्रिया**—विश्व-संग्राम की समाप्ति पर आस्ट्रिया जर्मनी की अधीनता से मुक्त हुआ। वहां का शासन-सूत्र संभालने के लिये मित्रराष्ट्रों ने उसे एक कमीशन के सुपुर्द कर दिया, जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और फ्रांस के प्रतिनिधि विद्यमान थे। इस कमीशन ने आस्ट्रिया के छोटे से राज्य को चार हिस्सों में विभक्त कर दिया और एक-एक हिस्से का शासन क्रमशः अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और फ्रांस ने अपने हाथों में ले लिया। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई कि वीएना पर चारों राज्यों की सेनाओं का कब्जा रहे। मई, १९४५ में आस्ट्रिया का शासन करने के लिये वहीं के लोगों की एक सामयिक सरकार संगठित हुई थी, जिसका नेता कार्ल रेनर था। इस सरकार का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। आस्ट्रिया में भी कम्युनिस्ट दल जोर पर है, और उसके शासन में इस दल

की प्रधानता है। पूर्वी यूरोप के अन्य देशों के समान आस्ट्रिया को भी रशियन ब्लाक में सम्मिलित माना जाता है।

(७) **बल्गेरिया**—विश्व-संग्राम में बल्गेरिया जर्मनी के पक्ष में था। पर लड़ाई के समय में ही वहां कम्युनिस्टों की शक्ति निरन्तर बढ़ती रही थी, और जब रशियन सेना ने उस पर आक्रमण किया, तो बल्गेरियन कम्युनिस्टों ने उसका साथ दिया। अक्टूबर, १९४४ तक बल्गेरिया रूस के हाथ में आ चुका था और वहां जो नई सरकार कायम की गई थी, उसमें कम्युनिस्टों की प्रधानता थी। इस सरकार ने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा भी कर दी थी। विश्व-संग्राम की समाप्ति पर लोकमत द्वारा यह निर्णय किया गया, कि बल्गेरिया से राजसत्ता को सदा के लिये समाप्त कर दिया जाय, और वहां रिपब्लिक की स्थापना की जाय। २७ अक्टूबर, १९४६ को नये विधान के अनुसार निर्वाचन हुए। पार्लियामेण्ट के ४६५ सदस्यों में से ३६४ ऐसे थे, जो साम्यवाद के अनुयायी थे। इनमें से २७७ तो कम्युनिस्ट ही थे। नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण कम्युनिस्ट नेता श्री ज्यार्ज डिमिट्रोव ने किया। धीरे-धीरे बल्गेरिया में कम्युनिस्ट लोगों की सत्ता पूरी तरह कायम हो गई और विरोधी दलों को कुचल दिया गया। बल्गेरिया में अब पूर्णतया कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम हो गई है। १४ दिसम्बर, १९४७ को एक कानून के अनुसार सब व्यवसाय व कल-कारखाने राज्य के स्वामित्व में ले आये गये हैं।

(८) **ग्रीस**—जर्मनी की अधीनता से मुक्त होने के बाद दिसम्बर, १९४४ में ग्रीस के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि एथन्स के आर्क बिशप को सामयिक रूप से शासन के सब अधिकार दे दिये जावें। ग्रीस का पुराना राजा इस समय लन्दन में था। लड़ाई के समय में जब ग्रीस पर जर्मनी ने कब्जा किया, तो वह भागकर ब्रिटेन चला आया था। अब प्रश्न यह था, कि क्या ग्रीस में फिर से राजसत्ता कायम की जाय या वहां के शासन का स्वरूप रिपब्लिकन हो। इस बात का फैसला लोकमत द्वारा ही किया जा सकता था। १ सितम्बर, १९४६ को इस प्रश्न पर लोकमत लिया गया। बहुमत से यह निर्णय हुआ, कि ग्रीस में राजसत्ता कायम रहनी चाहिये। २३ सितम्बर, १९४६ को ग्रीस का लन्दन-स्थित राजा अपने देश को वापस लौट आया। पर दुर्भाग्यवश कुछ महीने बाद १ एप्रिल, १९४७ को उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद राजा पॉल प्रथम ग्रीस के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। ३१ मार्च, १९४६ को ग्रीक पार्लियामेण्ट का चुनाव हुआ। इसमें कम्युनिस्ट-विरोधी दलों

के लोग बहुसंख्या में निर्वाचित हुए। पर कम्युनिस्ट लोगों की संख्या भी ग्रीस में कम नहीं है। विश्व-संग्राम के समय में जर्मनी के शासन के खिलाफ कम्युनिस्टों ने संघर्ष को जारी रखा था। उन्होंने एक आजाद ग्रीक सरकार भी कायम कर ली थी और इसकी आजाद ग्रीक सेना जर्मनी के विरुद्ध निरन्तर लड़ती रही थी। अब विश्व-संग्राम की समाप्ति पर जब ग्रीस में फिर से राजसत्ता कायम हुई,तो यह आजाद कम्युनिस्ट ग्रीक सरकार बहुत असन्तुष्ट हुई। इसने ग्रीस के राजा और मन्त्रिमण्डल के खिलाफ विद्रोह कर दिया। २४ सितम्बर, १९४९ को आजाद ग्रीक नेता जनरल मार्कस ने एक पृथक् ग्रीक सरकार कायम कर ली। जनरल मार्कस व उसके साथी ग्रीस के राजा व उसकी सरकार को नहीं चाहते। वे अपने देश में साम्यवादी सिद्धान्तों के अनुसार रिपब्लिकन शासन कायम करना चाहते हैं। ग्रीस में अभी संघर्ष जारी है। ब्रिटेन और अमेरिका इस बात के लिये उत्सुक और कटिबद्ध हैं, कि ग्रीस को कम्युनिस्ट प्रभाव में न आने दिया जाय। पर कम्युनिज्म की हवा प्रायः सम्पूर्ण पूर्वी व दक्षिणी यूरोप में फैल चुकी है। ग्रीस देर तक इस हवा से बचा रह सकेगा, यह बात बहुत सन्दिग्ध है।

(९) पोलैण्ड—मार्च, १९४५ तक सम्पूर्ण पोलैण्ड रशियन सेनाओं के कब्जे में आ चुका था। युद्ध के समय में पोलैण्ड की तीन सरकारें विविध स्थानों पर कायम थीं। जर्मनी के प्रभाव में एक पोल सरकार देश का शासन करती थी। दूसरी पोल सरकार लन्दन में कायम थी। इसमें वे लोग शामिल थे, जिन्हें परास्त कर जर्मनी ने पोलैण्ड पर अपना कब्जा किया था। तीसरी पोल सरकार रूस की प्रेरणा और सहायता से कायम हुई थी। इसमें कम्युनिस्ट विचारों के लोग शामिल थे। पोलैण्ड से जर्मन कब्जे का अन्त रशियन सेनाओं द्वारा किया गया था। अतः स्वाभाविक रूप से विश्व-संग्राम की समाप्ति के बाद तीसरी (कम्युनिस्ट) पोल सरकार ने वहां के शासनसूत्र को हाथ में लिया। जुलाई, १९४४ में ही रूस ने यह घोषणा कर दी थी, कि पोलैण्ड की न्याय्य और असली सरकार यह तीसरी सरकार है, जो इतिहास में लुबलिन सरकार के नाम से प्रसिद्ध है। १८ जनवरी, १९४५ को इसने वारसा में प्रवेश किया और देश के शासन को सँभाल लिया। जनवरी, १९४७ में पोलैण्ड की नई पार्लियामेण्ट का निर्वाचन हुआ। इसमें कम्युनिस्ट लोग भारी संख्या में चुने गये। श्री बोलस्लो बैरूत को पोल रिपब्लिक का राष्ट्रपति और श्री साइरैन्किविज को प्रधान मन्त्री नियत किया गया। पोलैण्ड में कम्युनिस्ट दल की प्रधानता है, और यह देश भी रूस के ब्लाक में शामिल है।

विश्व-संग्राम का प्रारम्भ पोलैण्ड की समस्या पर ही हुआ था। जर्मनी के आक्रमणों से पोलैण्ड को भारी नुकसान उठाना पड़ा था। लड़ाई की समाप्ति पर पोलैण्ड के कलेवर में बहुत वृद्धि कर दी गई है। पूर्वी जर्मनी का बहुत बड़ा भाग, जिसमें प्रशिया और साइलीसिया के बड़े हिस्से अन्तर्गत हैं, पोलैण्ड को दे दिया गया है। इस जर्मन प्रदेश से पचास लाख के लगभग जर्मनों को इस बात के लिये विवश किया गया है, कि वे अपने घरों और मातृभूमि का परित्याग कर चले जावें, ताकि पोल लोगों को अपने विस्तार के लिये पर्याप्त स्थान मिल सके। ये जर्मन लोग पश्चिम की तरफ जर्मनी में जाकर आबाद हुए हैं, और पोलैण्ड ने प्रशिया और साइलीसिया के अनेक प्रदेशों पर अपना कब्जा कर लिया है। अब पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने के लिये किसी गलियारे की आवश्यकता नहीं रही है। उसकी सीमाएं समुद्रतट तक पहुँच गई हैं।

(१०) **डेनमार्क**---जर्मनी के पराजय के बाद मई, १९४५ में डेनमार्क फिर से स्वतन्त्र हुआ। ३० अक्टूबर, १९४५ को वहां नया निर्वाचन हुआ और श्री क्रिस्टन्सन के नेतृत्व में नई सरकार का निर्माण किया गया। डेनमार्क में कम्युनिस्टों का जोर नहीं है। वहां अभी लोकतन्त्रवादी दलों की प्रधानता है। ४ नवम्बर, १९४७ को श्री क्रिस्टन्सन के मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया, और श्री हेदटोफ्ट ने नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया।

(११) **नार्वे**---सन् १९४४ के अन्त से पूर्व ही नार्वे जर्मनी के कब्जे से मुक्त करा दिया गया था। विश्व-संग्राम के समय में नार्वे के राजा हाकन और उसकी सरकार भागकर ब्रिटेन चले गये थे। अब वे लौटकर अपने देश में आ गये। १९४५ में वहां नया निर्वाचन हुआ, जिसमें मजदूर दल बड़ी संख्या में निर्वाचित हुआ। नार्वे में अभी कम्युनिस्ट दल का जोर बहुत नहीं बढ़ा है। वहां लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार शासन कायम है।

(१२) **फिनलैण्ड**---जर्मनी के पतन के बाद मार्च, १९४५ में फिनलैण्ड में नया निर्वाचन हुआ। बाल्टिक सागर के तटवर्ती अन्य देश लिथुएनिया, लैटविया और एस्थोनिया अब तक रूस के कब्जे में आ चुके थे। उन्हें रशियन यूनियन के अन्तर्गत कर दिया गया था। फिनलैण्ड के कम्युनिस्ट भी यह चाहते थे, कि उनका देश रूस के साथ सम्मिलित हो जाय। पर नये निर्वाचन में ऐसे लोगों का बहुमत रहा, जो फिनलैण्ड की पृथक् सत्ता के पक्षपाती थे। इस कारण फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता और पृथक् सत्ता कायम रही। पर वहां कम्युनिस्टों का जोर निरन्तर बढ़ रहा है, और धीरे-धीरे फिनलैण्ड रूस के प्रभाव में आता जा रहा है।

(१३) यूरोप के अन्य देश—जर्मनी के पतन के बाद बेल्जियम और हालैण्ड फिर से स्वतन्त्र हुए। दोनों देशों में अपनी-अपनी पार्लियामेण्टों का नये सिरे से चुनाव हुआ, और एक बार फिर उनमें लोकतन्त्र सरकारों की स्थापना हुई। विश्व-संग्राम में स्पेन तटस्थ रहा था। यद्यपि जनरल फ्रांको की सहानुभूति फैसिस्ट और नाजी पार्टियों के साथ थी, पर अपने देश के हित की दृष्टि से उसने यही उचित समझा था, कि लड़ाई में उदासीन नीति का अनुसरण करे। इसीलिये वहां फ्रांको का शासन कायम रहा। फ्रांस और ब्रिटेन पर हम आगे विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

१०. रूस

विश्व-संग्राम के बाद अनेक नये प्रदेश रूस के सोवियट यूनियन में सम्मिलित हुए हैं। ये प्रदेश निम्नलिखित हैं—(१) लैटविया (२) लिथुएनिया (३) एस्थोनिया (४) फिनलैण्ड का दक्षिण-पूर्वी प्रदेश और (५) पोलैण्ड और रूमानिया के समीपवर्ती कुछ प्रदेश। इन सबको पृथक् रिपब्लिकों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और उन्हें सोवियट यूनियन में शामिल कर लिया गया। इससे रूस की आबादी में दो करोड़ के लगभग वृद्धि हो गई और उसके क्षेत्रफल में दस लाख वर्गमील के लगभग के नये प्रदेश शामिल हो गये। जहां इन सब नये प्रदेशों पर रूस का कम्युनिस्ट शासन स्थापित हुआ, वहां पूर्वी यूरोप के अनेक राज्य भी उसके प्रभावक्षेत्र में आ गये। ये राज्य निम्नलिखित हैं—पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रूमानिया, बल्गेरिया, युगोस्लाविया, फिनलैण्ड और जर्मनी व आस्ट्रिया के अनेक प्रदेश। इन सबमें कम्युनिस्ट शासन स्थापित हैं, और रूस के साथ इनका घनिष्ट सम्बन्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ये सब रूस का साथ देते हैं। यद्यपि युगोस्लाविया में मार्शल टीटो और उसके अनुयायियों का रूस की कम्युनिस्ट पार्टी से अनेक बातों में मतभेद है, पर इन सब देशों में कम्युनिज्म का प्रसार हो जाने से ये सब रूस के ब्लाक में शामिल हैं। इससे सोवियट यूनियन की शक्ति बहुत बढ़ गई है।

युद्ध की समाप्ति पर १२ फरवरी, १९४६ को रूस में नया निर्वाचन हुआ। वोटरों की कुल संख्या १०,१७,१७,६८६ थी। इनमें से १०,१४,५०,९३६ ने निर्वाचन में भाग लिया। ९९.१८ प्रतिशत वोट कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवारों के पक्ष में आये। जिन लोगों ने कम्युनिस्टों के विरोध में वोट दिया, उनकी कुल संख्या ८,१८,९५५ थी। रशियन सोवियट यूनियन के नये राष्ट्रपति श्री श्वेरनिक

नियत हुए। पुराने राष्ट्रपति श्री कालिनिन के त्यागपत्र दे देने के बाद १९ मार्च, १९४६ को उनकी नियुक्ति हुई थी। प्रधान मन्त्री के पद पर श्री स्टालिन ही कायम रहे। उनकी शक्ति अभी तक भी रूस में सर्वोपरि है।

कामिनफार्म—२५ अक्टूबर, १९४७ को कामिनफार्म नाम की संस्था रूस के नेतृत्व में कायम की गई। संसार के विविध राज्यों में जो कम्युनिस्ट पार्टियां हैं, उनमें परस्पर सहयोग स्थापित करना, उन्हें अपने प्रयत्नों में सहायता देना और अपने आदर्शों व विचारों का प्रचार करना इस संस्था का उद्देश्य है। शुरू में नौ राज्यों की कम्युनिस्ट पार्टियां कामिनफार्म में शामिल हुईं। उनके नाम निम्नलिखित हैं—रूस, पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी, बल्गेरिया, युगोस्लाविया, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया और इटली। बाद में फिनलैण्ड इसमें शामिल हो गया और युगोस्लाविया इससे पृथक् हो गया। युगोस्लाविया का शासन अब भी कम्युनिस्ट है, पर उसके प्रधान नेता मार्शल टीटो का रूस से अनेक बातों में मतभेद है। इसीलिये वहां की कम्युनिस्ट पार्टी कामिनफार्म से पृथक् हो गई है। पूर्वी यूरोप के प्रायः सभी राज्य कामिनफार्म में शामिल हैं, अतः रूस का एक शक्तिशाली ब्लाक यूरोप में बन गया है, जिसमें धीरे-धीरे एशिया के अनेक देश भी शामिल होते जाते हैं।

कामिनफार्म के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी पुनरुज्जीवित हो गई है। स्टालिन और ट्राटस्की का मुख्य मतभेद इसी बात पर था, कि क्या कम्युनिज्म को एक देश की सीमाओं तक सीमित रखा जा सकता है। ट्राटस्की अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट क्रान्ति के पक्षपाती थे। स्टालिन का विचार था, कि पहले अपने सिद्धान्तों को रूस में ही सफल बनाना चाहिये, और अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति कम्युनिज्म की सफलता के लिये अनिवार्य नहीं है। पर विश्व-संग्राम के बाद संसार के विविध देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं। छोटे राज्यों का महत्त्व घट गया है, और संसार का नेतृत्व अमेरिका और रूस के हाथों में आ गया है। इन दो शक्तिशाली राज्यों में विचारभेद के कारण परस्पर संघर्ष होना अनिवार्य सा प्रतीत होता है। अतः दोनों देश अपने-अपने प्रभावक्षेत्र के विस्तार को आवश्यक समझते हैं। मार्शल-योजना के कारण पश्चिमी यूरोप के विविध राज्य अमेरिका के प्रभाव में आ गये हैं। कामिनफार्म द्वारा रूस ने अपना अलग प्रभावक्षेत्र कायम कर लिया है, और क्योंकि कम्युनिज्म के विचार सर्वत्र विद्यमान हैं, और कम्युनिस्ट पार्टियां भी सब देशों में कायम होती जाती हैं, अतः कामिनफार्म का कार्यक्षेत्र और प्रभाव भी निरन्तर विस्तृत होता जाता है।

११. अन्तर्राष्ट्रीय मुकदमे

विश्व-संग्राम के लिये मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को उत्तरदायी ठहराया था। इसलिये उन्होंने पोट्सडम की कान्फरेन्स में यह फैसला किया था, कि नाजी नेताओं पर मुकदमे चलाये जावें। इसके लिये न्यूरमवर्ग में एक अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय की स्थापना की गई थी, जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और फ्रांस के प्रतिनिधि न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किये गये थे। विविध नाजी नेताओं पर जो अभियोग लगाये गये, उन्हें चार भागों में बांटा जा सकता है—(क) युद्ध के लिये साजिश करना, (ख) युद्ध के समय में ऐसे अपराध करना, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के खिलाफ हों, (ग) शान्ति और व्यवस्था के खिलाफ अपराध करना और (घ) मानव-समाज और मनुष्यता के विरुद्ध अपराध करना। जिन लोगों के खिलाफ इन अभियोगों के आधार पर मुकदमे चलाये गये, उनमें गोअरिंग, रिबनट्राप, काइटल, फिक जैसे सर्वोच्च नाजी नेता शामिल थे। अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय ने उनमें से बहुसंख्यक लोगों को मौत की सजा दी। कुछ को आजन्म कारावास का दण्ड दिया गया। कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें निरपराध मानकर छोड़ दिया गया। जर्मनी के अभियुक्तों के खिलाफ ये मुकदमे १ अक्टूबर, १९४६ को समाप्त हुए थे।

इसी प्रकार के मुकदमे इटली और जापान के नेताओं के खिलाफ भी चलाये गये थे। जापान के जिन नेताओं को इस न्यायालय के सम्मुख अभियुक्त के रूप में पेश किया गया था, उनमें जनरल तोजो, जनरल कीमुरा और श्री हीरोता जैसे प्रमुख व्यक्ति भी शामिल थे। अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय ने इनको प्राण-दण्ड दिया। जापान के जो प्रमुख नेता इस प्रकार फांसी के तख्ते पर लटकाये गये, उनकी संख्या सात थी। अन्य बहुत-से बड़े जापानी सेनापतियों व राजनीतिज्ञों को आजन्म कारावास की सजा दी गई। जापान के अभियुक्तों पर मुकदमा चलाने के लिये जिस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई थी, उसका एक न्यायाधीश भारतीय भी था। इन सज्जन का नाम है, श्री राधाविनोद पाल। इन्होंने अपने निर्णय में यह बात भली भांति स्पष्ट की थी, कि युद्ध के लिये केवल जापानी अभियुक्तों को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने जो कुछ भी किया, वह अपने देश के हित को दृष्टि में रखकर किया। उनका प्रधान अपराध यही है, कि वे परास्त देश के नेता हैं। श्री पाल ने अन्य न्यायाधीशों के निर्णय से अपनी असहमति को भली भांति स्पष्ट कर दिया था।

इसमें सन्देह नहीं, कि परास्त देशों के नेताओं पर मुकदमा चलाना संसार के इतिहास में एक नई बात है। इससे एक नई परम्परा का प्रारम्भ होता है। पराजित राज्य से बदला लेने की बात इससे प्रगट होती है, और इसका अभिप्राय यही समझा जा सकता है, कि अपने शत्रु का सर्वनाश करने का प्रयत्न किया जाय। यदि विश्व-संग्राम में ब्रिटेन और अमेरिका परास्त होते, तो श्री चर्चिल या राष्ट्रपति रूजवेल्ट पर भी इसी प्रकार के मुकदमे चलाये जा सकते थे। इस समय संसार में असहिष्णुता बहुत बढ़ गई है। विविध राज्यों में अपने से विरोध रखने वाली राजनीतिक पार्टी की सत्ता को लोग सहन नहीं करना चाहते। उन पर देश का विरोधी होने का मुकदमा चलाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। फ्रांस की सरकार ने मार्शल पेतां पर इसीलिये मुकदमा चलाया। पेतां ने जो कुछ भी किया था, उसकी सम्मति में समय को देखते हुए वह ठीक ही था। पर बाद में उसे देश-द्रोही माना गया। यही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में है। तोजो, गोअरिंग आदि पर चलाये गये मुकदमे इसी असहिष्णुता के परिणाम हैं। पर संसार के लिये इस प्रवृत्ति को हितकर नहीं कहा जा सकता।

१२. मार्शल-योजना

विश्व-संग्राम के कारण यूरोप के विविध राज्यों की आर्थिक दशा बहुत ही खराब हो गई थी। उनके पास अपने आर्थिक साधन इतने नहीं थे, कि वे स्वयं अपनी दुर्दशा को ठीक कर सकें। इसके लिये उन्हें किसी देश से सहायता की आवश्यकता थी। केवल अमेरिका इस दशा में था, कि इस संकट के समय में यूरोप के राज्यों की सहायता कर सकता। इस समय में अमेरिकन सरकार के अन्यतम मन्त्री श्री मार्शल ने यह घोषणा की, कि यदि यूरोप के विविध देश अपनी आर्थिक अवस्था को सँभालने के लिये परस्पर मिलकर कोई योजना तैयार करें, तो अमेरिका उन्हें सहायता देने के लिये उद्यत है। इसके अनुसार ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के प्रतिनिधि पेरिस में एकत्र हुए, और उन्होंने परस्पर मिलकर एक योजना तैयार करने का प्रयत्न किया। पर वे आपस में सहमत नहीं हो सके। कारण यह हुआ, कि अमेरिका से सहायता किन शर्तों पर प्राप्त की जाय, इस प्रश्न पर रूस का ब्रिटेन और फ्रांस से भारी मतभेद था। रूस समझता था, कि अमेरिका यूरोप के विविध राज्यों को अपने प्रभाव में रखना चाहता है। उन्हें सहायता देने का प्रयोजन यही है, कि वे कम्युनिज्म के असर से बचे रहें और रूस की शक्ति न बढ़ने पावे। इसलिये रूस इस बात के लिये उत्सुक था, कि यूरोपियन राज्य अपनी

योजना इस प्रकार से तैयार करें, कि अमेरिका उन पर किसी भी प्रकार से अपना राजनीतिक प्रभाव न कायम कर सके। अपने साथियों से सहमत न हो सकने के कारण रूस उनसे अलग हो गया और ब्रिटेन व फ्रांस ने यूरोप के विविध देशों की एक कान्फरेन्स बुलाने की योजना की। इस कान्फरेन्स में निम्नलिखित राज्य शामिल हुए—ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, बेल्जियम, डेनमार्क, आयरलैण्ड, ग्रीस, आइसलैण्ड, इटली, लुक्समबर्ग, हालैण्ड, नार्वे, पोर्तुगाल, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड और टर्की। जो राज्य इस कान्फरेन्स में शामिल नहीं हुए, उनमें से निम्न-लिखित के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं—अल्बेनिया, चेकोस्लोवाकिया, बल्गेरिया, फिनलैण्ड, हंगरी, पोलैण्ड, रूमानिया और युगोस्लाविया। ये सब राज्य रूस के ब्लाक में शामिल थे और इनमें कम्युनिस्ट सरकारें कायम थीं। पेरिस की इस कान्फरेन्स में रूस के शामिल होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था।

१२ जुलाई, १९४७ को यह कान्फरेन्स शुरू हुई। इसमें जो निश्चय किये गये, वे निम्नलिखित हैं—(१) सब राज्यों के प्रतिनिधियों की एक सहकारी समिति बनाई जाय, जो यह तय करे, कि यूरोप के विविध देशों में क्या-क्या चीज प्राप्तव्य हैं, और कौन-कौन सी चीजें ऐसी हैं, जो उन्हें अमेरिका से प्राप्त करनी हैं। साथ ही, यह समिति यह भी ठीक-ठीक बतावे, कि किस-किस देश को किस-किस वस्तु की कितनी-कितनी मात्रा अमेरिका से प्राप्त करनी होगी। (२) भोजन-सम्बन्धी वस्तुओं और कृषि-सम्बन्धी उपकरणों के बारे में कितनी सहायता किस देश को चाहिये, इसका निश्चय करने के लिये एक विशेष उपसमिति का निर्माण किया जाय। १५ जुलाई, १९४७ को पेरिस कान्फरेन्स का अधिवेशन समाप्त हो गया। उसने जिन समितियों का निर्माण किया था, वे अपनी रिपोर्टें तैयार करने में लग गईं। ये रिपोर्टें सितम्बर, १९४७ तक तैयार हो गईं। इनमें यह योजना पेश की गई, कि यूरोप को अपने आर्थिक पुनःनिर्माण के लिये कम से कम ८००० करोड़ रुपये के माल की आवश्यकता होगी, और यह रकम चार साल के अन्दर खर्च करनी होगी।

इस रिपोर्ट पर विचार करने के लिये अमेरिका के राष्ट्रपति श्री ट्रूमैन ने एक उपसमिति नियुक्त की। इसके अध्यक्ष श्री हैरीमैन बनाये गये। श्री हैरीमैन अमेरिका की सरकार में व्यापार-सचिव थे। हैरीमैन उपसमिति की रिपोर्ट ८ नवम्बर, १९४७ को प्रकाशित हुई। मार्शल-योजना का आधार यही रिपोर्ट है। मार्शल-योजना का पूरा नाम है—यूरोप के पुनःनिर्माण की योजना या 'यूरोपियन

रिकोवरी प्लान'। इसी से संक्षेप में इसे ई० आर० पी० भी कहा जाता है। इसके अनुसार एप्रिल, १९४८ में यूरोप की सहायता का कार्य शुरू किया गया। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकन कांग्रेस के सम्मुख यह प्रस्ताव उपस्थित किया, कि चार साल के लगभग समय में ६,४०० करोड़ रुपया खर्च किया जाय, जिसमें से २,००० करोड़ रुपया पहले १५ महीनों में खर्च हों। जून, १९४८ में यह योजना अमेरिकन कांग्रेस द्वारा स्वीकार हो गई। इस योजना के अनुसार पहले साल में ब्रिटेन को ६० करोड़ रुपये का सामान प्राप्त होना है। फ्रांस, इटली आदि अन्य देशों को कितनी सहायता दी जायगी, यह सब भी इसमें विस्तार के साथ निश्चित कर दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि मार्शल-योजना के अनुसार यूरोप के राज्यों को अपनी आर्थिक व्यवस्था संभालने में बहुत सहायता मिलेगी और वे शीघ्र ही आर्थिक क्षेत्र में अपने पैरों पर खड़े हो सकेंगे।

१३. अर्थ-संकट का प्रारम्भ

१९१४-१८ के महायुद्ध के समान विश्व-संग्राम के बाद भी यूरोप में अर्थ-संकट के चिन्ह प्रगट होने लगे हैं। युद्ध के समय में लड़ाई में सम्मिलित राज्यों के खर्च बहुत बढ़ गये थे। जो राज्य लड़ाई में शामिल नहीं हुए थे, उन्हें भी सम्भावित आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिये सेना व युद्ध-सामग्री पर बहुत अधिक खर्च करना पड़ा था। विविध राज्यों के सरकारी खर्च में विश्व-संग्राम के समय किस प्रकार वृद्धि हुई, यह बात निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगी—

देश का नाम	१९३८-३९ में सरकारी खर्च	१९४४-४५ में सरकारी खर्च
ग्रेट ब्रिटेन (पौंड)	११४.७ करोड़	६१९.० करोड़
अमेरिका (डालर)	८७६.५ करोड़	९८९१.२ करोड़
रूस (रूबल)	१२४००.४ करोड़	३०५३०.० करोड़
जर्मनी (रीशमार्क)	२८५५.० करोड़	१२४००.० करोड़
फ्रांस (फ्रांक)	६३४९.० करोड़	४०६००.० करोड़
जापान (येन)	७८१.९ करोड़	५३२४.४ करोड़
कनाडा (डालर)	५३.३ करोड़	५१५.२ करोड़
भारत (रुपया)	१३०.८ करोड़	५७२.१ करोड़

इस तालिका से स्पष्ट है, कि युद्ध में सम्मिलित राज्यों के सरकारी व्यय में २५० फीसदी से १००० फीसदी तक वृद्धि हुई थी। यह इतना अधिक बढ़ा

हुआ सरकारी खर्च राज्य किस प्रकार पूरा करें। उनके पास केवल तीन ही मार्ग थे—(१) राजकीय करों में वृद्धि करें, (२) कर्ज लें, और (३) मुद्रा का विस्तार करें। विविध देशों की सरकारों ने इन तीनों उपायों का अवलम्बन किया। सर्वत्र टैक्सों में वृद्धि की गई। नये-नये कर लगाये गये। पर अकेले टैक्सों से युद्ध के खर्च को पूरा कर सकना सम्भव नहीं था। अतः राष्ट्रीय ऋणों की व्यवस्था की गई। सब देशों के राष्ट्रीय ऋण कई गुना बढ़ गये। १९३९ में ब्रिटेन के राष्ट्रीय ऋण की कुल मात्रा ८,१६,३०,००,००० पौंड थी। १९४६ में वह बढ़कर २३,७७,८०,००,००० पौंड हो गई। यही दशा फ्रांस आदि अन्य देशों की हुई। जनता से देश-भक्ति और राष्ट्रीयता के नाम पर अपील करके व अमेरिका जैसे धनी देशों से युद्ध-सामग्री को उस समय कीमत के बिना प्राप्त करके सब राज्यों ने अपने राष्ट्रीय ऋण को बहुत अधिक बढ़ा लिया। पर युद्ध के खर्च ऋण द्वारा भी पूरे नहीं किये जा सके। विवश होकर अनेक सरकारों ने देनदारी का भुगतान करने के लिये कागज के सिक्के भारी मात्रा में प्रचारित करने शुरू किये। कागज पर नोट छापकर मुद्रा में वृद्धि कर देना एक ऐसा उपाय है, जो सुगम होने के साथ अत्यन्त भयंकर भी है। पर विवशता की दशा में बहुधा सरकारें इसका आश्रय लेती हैं। विश्व-संग्राम के समय में अनेक राज्यों ने इस मार्ग का अवलम्बन किया। विविध देशों की कागजी मुद्रा में युद्ध के समय में किस प्रकार वृद्धि हुई, यह इस तालिका से स्पष्ट हो जायगा—

देश का नाम	१९३९ में कागजी मुद्रा	१९४७ में कागजी मुद्रा
ग्रेट ब्रिटेन (पौंड)	५०.० करोड़	१३३.० करोड़
अमेरिका (डालर)	६४०.० करोड़	२६५०.० करोड़
फ्रांस (फ्रांक)	१५१००.० करोड़	९२१००.० करोड़
जापान (येन)	३७०.० करोड़	२१९१०.० करोड़
भारत (रुपया)	३४०.० करोड़	१३३७.० करोड़
कनाडा (डालर)	२८.१ करोड़	१११.२ करोड़

कागजी मुद्रा के अधिक मात्रा में प्रचारित होने के कारण विविध देशों में मुद्रा की मात्रा बहुत बढ़ गई। मुद्रा की वृद्धि के साथ-साथ यदि आर्थिक उत्पत्ति भी [illegible], तब तो कीमतें नहीं बढ़ पातीं। पर यदि मुद्रा की मात्रा [illegible] हो जावे और आर्थिक पैदावार में केवल दुगनी वृद्धि हो, तो परिणाम यह होगा, कि कीमतें पहले की अपेक्षा कई गुना (लगभग पांच गुना) बढ़ जावेंगी। उदाहरण के लिये भारतवर्ष में कागजी मुद्रा में चार

गुना के लगभग वृद्धि हुई। रुपये के नोटों की मात्रा ३४० करोड़ से बढ़कर १३३७ करोड़ तक पहुँच गई। यदि इसी हिसाब से आर्थिक पैदावार में भी वृद्धि हो जाती, तो कीमतें वही रहतीं, जो १९३९ में थीं। पर १९३९ के मुकाबले में उत्पत्ति में बहुत कम वृद्धि हुई। इसी कारण अब भारत में कीमतें लगभग चार गुना हैं। १९३९ में कीमतों के मान को यदि १०० समझा जावे, तो अब वह ३८३ है। यदि सरकार अनेक वस्तुओं के मूल्य को नियन्त्रित न करती, तो वर्तमान कीमत का मान (प्राइस-इन्डैक्स) ३८३ से भी अधिक होता। भारत के समान अन्य देशों में भी कीमतों के मान में इसी प्रकार वृद्धि हुई है—

देश का नाम	१९४७ में कीमत का मान
आस्ट्रिया	३१६
बेल्जियम	३३९
चेकोस्लोवाकिया	३२६
फ्रांस	१,२१०
इटली	४,९३०
जापान	४,३९०
ग्रेट ब्रिटेन	१७८
संयुक्त राज्य अमेरिका	१५५
पोलैण्ड	१५,१००

इस तालिका से यह स्पष्ट है, कि ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका में कीमतों की वृद्धि बहुत कम हुई है। यद्यपि इन देशों में कागजी मुद्रा में २॥ गुना से ४ गुना तक वृद्धि हुई है, पर कीमतों में पौने दो गुना से अधिक वृद्धि नहीं हो पाई। कारण यह है, कि युद्ध के समय में इन देशों की आर्थिक उत्पत्ति भी पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गई। इसके विपरीत फ्रांस, इटली, पोलैण्ड आदि यूरोपियन देशों में कागजी मुद्रा में तो कई गुना की वृद्धि हुई, और आर्थिक उत्पत्ति बढ़ने के स्थान पर घट गई। युद्ध के कारण उनके कारखाने बहुत कुछ नष्ट हो गये और उनकी आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त दशा को पहुँच गई। इसी कारण इन देशों में कीमतें मुद्रा के विस्तार की अपेक्षा भी अधिक अनुपात में ऊँची चली गईं।

सरकारी टैक्सों में वृद्धि और कीमतों का ऊँचा उठना युद्ध के काल में बहुत कष्टदायी प्रतीत नहीं होता। कारण यह कि उस समय सब प्रकार की वस्तुओं की मांग बहुत अधिक मात्रा में होती है। सरकार को लड़ाई के लिये आदमी चाहियें। उनके लिये अनाज और कपड़ा चाहिये, सब प्रकार की युद्ध-सामग्री

चाहिये। वर्तमान युग में केवल गोला-बारूद ही युद्ध-सामग्री नहीं है, अनाज, कपड़ा, मकान और कागज तक भी युद्ध-सामग्री के अन्तर्गत हैं। युद्ध के समय में इन सब की मांग अत्यधिक मात्रा में बढ़ जाती है। कारखाने रात-दिन काम करने लगते हैं, मजदूरों की मांग बढ़ जाती है। सरकार को सेना के लिये आदमी चाहियें, व्यवसायपतियों और व्यापारियों को आर्थिक उत्पत्ति के लिये मजदूर चाहियें। इससे बेकारी घट जाती है। पुरुष क्या, स्त्रियां और बच्चे तक भी कमाने लगते हैं। मजदूरी की दर बढ़ जाती है। इस स्थिति में, यदि कीमतें ऊँची भी उठने लगें, तो सर्वसाधारण जनता में असन्तोष नहीं होता। व्यवसायी और व्यापारी तो इसका स्वागत करते हैं, क्योंकि बढ़ती हुई कीमतों में उन्हें अधिक कमाई का अवसर मिलता है। मध्यश्रेणी के शिक्षित लोग भी युद्ध की इस दशा में उन्नति का मौका प्राप्त करते हैं। सरकार के दफ्तरों में काम बढ़ जाता है; उनके लिये नये आदमियों की आवश्यकता होती है। पूंजीपति, किसान, मजदूर व मध्यमवर्ग के शिक्षित लोग—युद्ध के अवसर पर सबको आर्थिक दृष्टि से अधिक आमदनी प्राप्त करने का अवसर मिलता है, इसलिये बढ़ती हुई कीमतें उन्हें बहुत दुःखदायी प्रतीत नहीं होतीं।

पर युद्ध की समाप्ति पर? तब सरकार को सैनिकों व कर्मचारियों की पहले की सी आवश्यकता नहीं रहती; सेनाएं बर्खास्त होनी शुरू होती हैं; दफ्तरों के कर्मचारियों को जबाब मिलना शुरू हो जाता है। कारखानों की पैदावार को पहले सरकार लड़ाई के लिये भारी मात्रा में खरीदती थी, अब वह खरीद एकदम बन्द हो जाती है। कारखानों की पैदावार की मांग एकदम घट जाती है। बहुत से मजदूर बेकार होने लगते हैं। लोगों की आमदनियां तो कम हो जाती हैं, पर कीमतें कम नहीं होतीं। कीमतों का आधार तो मुद्रा की मात्रा है। युद्ध-काल में प्रचारित कागजी मुद्रा को बाजार से हटा सकना सुगम काम नहीं होता। युद्ध-काल के मुकाबले में आर्थिक उत्पत्ति में कमी आ जाने के कारण और मुद्रा की मात्रा लगभग पहले के सदृश ही रहने से अब कीमतों में और अधिक वृद्धि होती है। यह दशा सर्वसाधारण जनता के लिये बहुत ही असह्य और कष्टकर हो जाती है, कारण यह कि अब उनकी आमदनी कम हो रही होती है। आमदनी की कमी की दशा में ऊँची कीमतों पर माल खरीदकर गुजर कर सकना बहुत कठिन हो जाता है। यही कारण है, कि युद्ध की समाप्ति पर सर्वसाधारण लोगों में एक प्रकार का भारी असन्तोष दृष्टिगोचर होता है। जनता की आमदनी में कमी होने से लोगों के पास आय की कमी हो जाती है; देश में क्रयशक्ति घट जाती है।

क्रयशक्ति के घट जाने से माल की मांग कम हो जाती है। कारखाने माल तैयार करते हैं, पर वह बिकता नहीं। माल न बिकने से कारखाने बन्द होने लगते हैं, बेकारी बढ़ती है, तब जनता के पास क्रयशक्ति में और कमी हो जाती है। माल की तादाद घटने लगती है, पर मुद्रा की मात्रा पहले के समान ही बनी रहती है। परिणाम यह होता है, कि कीमतें और ऊँची उठती हैं। सम्पूर्ण जनता अनुभव करने लगती है कि एक अर्थ-संकट उपस्थित हो गया है। आमदनी तो है नहीं, कीमतें ऊँची हैं। जनता के लिये निर्वाह करना कठिन हो जाता है। व्यापारी और व्यवसायपति यदि नीची कीमत पर, नुकसान उठाकर भी माल बेचना चाहें, तो उन्हें सफलता नहीं मिलती। कारण यह कि जनता के पास क्रयशक्ति का अभाव होता है। नीची कीमतों पर माल खरीदने की भी उनमें क्षमता नहीं होती।

युद्ध की समाप्ति पर यह प्रक्रिया प्राय: सभी देशों में होती है। पर जिन देशों में युद्ध के कारण इमारतों, कल-कारखानों और उत्पत्ति के अन्य साधनों का भारी संख्या में विनाश हो जाता है, उनमें आर्थिक संकट और भी उग्ररूप धारण करता है। उत्पत्ति में कमी और मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के कारण वहां कीमतें बहुत ऊँची रहती हैं। ऊंची कीमतों के कारण इन देशों में जहां जनता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, वहां आर्थिक पुन:निर्माण और व्यवसाय की पुन:स्थापना की समस्या भी बहुत विकट हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इन देशों की मुद्रा की कीमत बहुत गिर जाती है। अत: अपने आर्थिक जीवन का पुन:निर्माण करने के लिये इन देशों के लिये यह भी सुगम नहीं रहता, कि वे मशीनों व अन्य आवश्यक सामान को दूसरे देशों से खरीद सकें। पर अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से यह उपयोगी होता है कि इन देशों के पुनरुद्धार की व्यवस्था की जाय। विश्व-संग्राम के परिणामस्वरूप यूरोप के विविध देशों को भारी क्षति पहुँची थी। इटली, फ्रांस, बेल्जियम, पोलैण्ड आदि में न केवल कल-कारखानों का भारी संख्या में विनाश हुआ था, अपितु उनके शहरों व इमारतों की दशा भी बिलकुल अस्त-व्यस्त हो गई थी। इन देशों के आर्थिक जीवन को संभाल सकना तभी सम्भव था, जब कि अमेरिका जैसा समृद्ध देश उनकी सहायता के लिये आगे बढ़े। मार्शल-योजना इसी दृष्टि से तैयार की गई है। पर आर्थिक सहायता की बात को राजनीतिक समस्याओं से अलग नहीं रखा जा सकता। संसार के विविध देश इस समय दो गुटों में, दो प्रभावक्षेत्रों में, बटे हुए हैं। इस विभाग का आधार विचार-धाराओं की, सामाजिक और आर्थिक आदर्शों की भिन्नता है। रूस नहीं चाहता,

कि उसके प्रभावक्षेत्र के विविध देश, पूर्वी यूरोप के विविध राज्य, अमेरिका से किसी प्रकार की सहायता लें। पश्चिमी यूरोप के फ्रांस, बेल्जियम, इटली आदि देश अभी तक रूस के प्रभावक्षेत्र में नहीं आये हैं, पर उनमें भी कम्युनिस्ट विचार-धारा विद्यमान है। इसलिये अमेरिका इस बात के लिये उत्सुक है, कि इन देशों का एक संघ बनाकर इन्हें एक ऐसी शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, जो न केवल कम्युनिस्ट प्रभाव से बची रहे, पर साथ ही बढ़ती हुई कम्युनिस्ट विचारधारा के मार्ग में एक मजबूत दीवार का काम करे। पश्चिमी यूरोप को मजबूत बनाना अमेरिका के लिये अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। इन देशों के आर्थिक पुनरुद्धार के लिये जो सहायता आवश्यक है, उसे प्रदान करने के उद्देश्य से जहां मार्शल-योजना बनाई गई है, वहां साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि की भी व्यवस्था की गई है। युद्ध के कारण अनेक देशों की मुद्रा की कीमत के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बहुत गिर जाने की वजह से ही इस निधि की आवश्यकता हुई। इस मुद्रानिधि में सम्मिलित देशों के लिये पृथक्-पृथक् कोटा नियत किया गया है। प्रत्येक देश को निश्चित मात्रा में अपना धन इस मुद्रानिधि में जमा करना होता है। इस धन का एक हिस्सा (१० से २५ फीसदी तक) सोने या अमेरिकन डालर के रूप में होना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिये मुद्रानिधि के सदस्य विविध देश उक्त निधि से कर्ज ले सकते हैं। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई है, कि आर्थिक पुनःनिर्माण में विविध देशों को सहायता करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की जाय। इसका उद्देश्य भी यह है, कि विविध देश इस बैंक की सहायता से अपने आर्थिक जीवन के पुनरुद्धार के लिये आवश्यक पूंजी व सामान प्राप्त कर सकें। वस्तुतः, इस समय संसार के आर्थिक जीवन की कुन्जी अमेरिका के हाथ में है। वही एक देश ऐसा है, जो अन्य देशों को मशीनरी व अन्य सामान भारी मात्रा में दे सकता है। पर समस्या यह है, कि इस प्रदान का स्वरूप क्या हो? गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद यूरोप के अनेक देश अमेरिका के कर्जदार थे। अमेरिका के लिये समस्या यह थी, कि इस कर्ज को कैसे वापस लिया जाय? अपने कर्जदारों की कर्ज अदा करने की क्षमता को कायम रखने के लिये उसे कई बार उन्हें नये कर्ज देने पड़े थे। ये कर्ज अदा भी नहीं हुए, कि दूसरा विश्व-युद्ध शुरू हो गया। आज अमेरिका को यह भी देखना है, कि जो सहायता वह अन्य देशों को पहुँचा रहा है, उसका प्रतिफल भी उसे कभी प्राप्त होगा। साथ ही, माल की गति सदा एकतरफा नहीं रह सकती। यदि अमेरिका अन्य देशों को माल देता है, तो उसे भी बदले में किसी प्रकार का माल उनसे प्राप्त करना चाहिये।

अमेरिका जो भी माल कर्ज के भुगतान में या दिये हुए माल की कीमत की अदायगी में प्राप्त करता है, उसका असर यह होता है, कि अमेरिका में कीमतें गिरने लगती हैं। यह बात वहां के व्यवसायपति पसन्द नहीं करते। अन्य देशों के पास अपनी देनदारी को भुगताने के लिये इतना सोना या चांदी नहीं है, कि उससे वे अमेरिका के ऋण से मुक्त हो सकें। इस दशा का यही परिणाम हो सकता है, कि या तो अमेरिका के माल की मांग कम हो, या वह अपने माल के बदले में दूसरे देशों से भी माल लेने को तैयार हो। दोनों अवस्थाएं ऐसी हैं, जो अमेरिका के आर्थिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। गत महायुद्ध के बाद यही दशा हुई थी। विश्व-संग्राम की समाप्ति पर अब फिर यही दशा होने लगी है। यूरोप और एशिया के देशों में माल की कमी और कागजी मुद्रा की अधिकता के कारण अर्थ-संकट उपस्थित हो रहा है, तो अमेरिका में माल की अधिकता और अन्य देशों की क्रयशक्ति की कमी के कारण अर्थ-संकट के चिन्ह प्रगट होने लगे हैं।

इस समय संसार के बहुसंख्यक देशों में आर्थिक जीवन का आधार वैयक्तिक सम्पत्ति और स्वतन्त्र व्यवसाय है। इसी को पूंजीवाद कहते हैं। १९३० में शुरू हुए आर्थिक संकट द्वारा इस आर्थिक व्यवस्था को भारी धक्का लगा था। अब एक बार फिर जो अर्थ-संकट शुरू हो रहा है, क्या पूंजीवाद उसमें सफलता के साथ अपनी सत्ता को कायम रख सकने में समर्थ होगा? यह भावी इतिहास ही स्पष्ट कर सकेगा।

इकसठवां अध्याय

पाश्चात्य साम्राज्यवाद का ह्रास

१. ब्रिटिश साम्राज्य

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में ब्रिटेन, फ्रांस और हालैण्ड सदृश पाश्चात्य देशों ने किस प्रकार अपने विशाल साम्राज्यों का विकास किया था, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। विश्व-संग्राम (१९३९-४५) के परिणामस्वरूप इस पाश्चात्य साम्राज्यवाद का ह्रास हुआ; और एशिया व अफ्रीका के अनेक प्रदेशों ने स्वराज्य प्राप्त किया। साम्राज्यवाद का अन्त इस महायुद्ध का महत्त्वपूर्ण परिणाम था।

विश्व-संग्राम में ब्रिटेन अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ रहा था। यद्यपि इस महायुद्ध में ब्रिटेन स्वयं शत्रु के कब्जे से बचा रहा था, पर उसके साम्राज्य के अनेक प्रदेश जापान के हाथ में चले गये थे। प्रशान्त महासागर के विविध द्वीप, चीन के तटवर्ती अनेक नगर व प्रदेश, मलाया, अन्डेमान द्वीपसमूह, बरमा आदि कितने ही प्रदेश विश्व-संग्राम के समय में ब्रिटेन के हाथ से निकलकर जापान के प्रभाव व प्रभुत्व में आ गये थे। ये सब प्रदेश बाद में मित्रराज्यों ने जापान से जीत लिये। पर एक बार ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त हो जाने के बाद इन प्रदेशों में अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना इतनी प्रबल हो गई थी, कि ब्रिटेन के लिये उन्हें अपने अधीन रख सकना सम्भव नहीं रह गया। इन सब देशों में राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की भावनाएं बहुत उग्र रूप धारण कर चुकी थीं। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों ने अब भली भांति अनुभव कर लिया था, कि पुराने किस्म के साम्राज्यवाद को कायम रख सकना अब मुमकिन नहीं हो सकता। अतः उन्होंने अपने साम्राज्य के अन्तर्गत विविध देशों के सम्बन्ध में एक नई नीति का अनुसरण किया, जिसके कारण ये देश प्रायः पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गये।

ब्रिटेन, हालैण्ड और फ्रांस के साम्राज्यों का ह्रास और उनके अधीनस्थ

देशों की स्वतन्त्रता संसार के आधुनिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। अतः उस पर हम विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में हम अधिक विस्तार से नहीं लिखेंगे, क्योंकि इस इतिहास के पाठक उससे भली भांति परिचित हैं।

मलाया---दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान मलाया में भी राष्ट्रीय स्वाधीनता की आकांक्षा विद्यमान थी और मलाया के अनेक नेता अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थे। जब जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त किया, तो मलाया में भी राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। मलाया से ब्रिटिश शासन का अन्त कर जब जापान ने वहां अपना सैनिक शासन स्थापित किया, तो राष्ट्रभक्त मलाया लोग उसका विरोध करने के लिये समानरूप से तत्पर हो गये। मलाया में नौ राज्य थे, जिनमें वहां के पुराने वंशक्रमानुगत सुलतानों का शासन था। इन सुलतानों की ब्रिटेन की अधीनता में वही स्थिति थी, जो भारत में देशी रियासतों के राजाओं की थी। इन नौ राज्यों के अतिरिक्त स्ट्रेट सैटलमेन्ट का राज्य सीधा ब्रिटेन के शासन में था। ब्रिटिश आधिपत्य के युग में इन दस राज्यों के निवासियों में अपने एक होने की अनुभूति भली भांति विकसित नहीं हुई थी। पर जब जापान ने इन सब राज्यों को ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त कराके अपने सैनिक शासन के अधीन किया, तो मलाया के लोगों में राष्ट्रीय एकता की अनुभूति उत्पन्न हुई और उन्होंने एक साथ मिलकर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान मलाया में भी जापानी लोगों ने बाद में स्वराज्य की स्थापना की और इस देश के शासन का कार्य वहां के लोगों के ही सुपुर्द कर दिया।

अगस्त, १९४५ में जापान के आत्मसमर्पण कर देने के बाद सितम्बर, १९४५ में जब ब्रिटिश सेनाओं ने मलाया में प्रवेश किया, तो उन्होंने देखा कि इस देश में एक ऐसी सरकार स्थापित है, जिस पर राष्ट्रवादी देशभक्तों का प्रभुत्व है। इस स्थिति में ब्रिटिश लोगों के लिये यह बहुत सुगम नहीं था, कि वे मलाया पर पहले के समान अपना आधिपत्य स्थापित कर सकें। मलाया के देशभक्तों के लिये यह तो सम्भव नहीं था, कि वे शक्तिशाली ब्रिटिश सेनाओं का सम्मुख युद्ध में मुकाबला कर सकते। पर वे गुरीला युद्ध-नीति का आश्रय लेकर अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये अवश्य प्रयत्न कर सकते थे। इस दशा में ब्रिटिश सरकार के लिये यह अनिवार्य हो गया, कि वह मलाया के सम्बन्ध में

एक ऐसी नीति का अनुसरण करे, जिसे मलाया के राष्ट्रीय नेता स्वीकृत करने के लिये तैयार हों। अक्टूबर, १९४५ में ब्रिटिश सरकार की ओर से मलाया के सम्बन्ध में यह योजना प्रकाशित की गई, कि (१) मलाया के विविध राज्यों को मिलाकर एक यूनियन का निर्माण किया जाय, जिसमें मलाया के नौ पुराने राज्य (जिन पर सुलतानों का शासन था) और स्ट्रेट सेटलमेन्ट अन्तर्गत हों। (२) सिंगापुर को इस यूनियन से बाहर रखा जाय, और वहां पर पहले के सदृश ब्रिटेन का शासन जारी रहे। (३) मलाया यूनियन का एक गवर्नर हो, जिसकी नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा की जाय। यूनियन के शासन पर नियन्त्रण रखना इस गवर्नर का कार्य हो। (४) मलाया यूनियन में व्यवस्थापिका सभा का निर्माण किया जाय और इस सभा को देश के लिये कानून आदि बनाने के उपयुक्त अधिकार प्राप्त हों।

पर मलाया के राष्ट्रीय नेता ब्रिटिश सरकार की इस योजना को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थे। इन नेताओं ने ब्रिटिश योजना का विरोध करने के लिये एक संगठन का निर्माण किया, जो 'यूनाइटेड मलाया नेशनल आर्गनिजेशन' के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रिटिश सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह मलाया के राष्ट्रीय नेताओं के विरोध की उपेक्षा कर सके। अतः उसकी तरफ से मलाया के सम्बन्ध में एक अन्य योजना बनाई गई, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) मलाया के दस राज्यों की पृथक् रूप से सत्ता कायम रहे, उनकी पृथक् सरकारें और पृथक् व्यवस्थापिका सभाएं हों और उन्हें मिलाकर एक मलाया फिडरेशन (संवर्ग) का निर्माण किया जाय। फिडरेशन की पृथक् सरकार और पृथक् संघ सभा (फिडरल कौंसिल) बनाई जाय। (२) मलाया के शासन पर देखभाल रखने के लिये ब्रिटिश सरकार की ओर से एक हाई कमिश्नर की नियुक्ति की जाय। इस हाई कमिश्नर का कार्य राज्यकार्य में परामर्श देना हो, सरकार पर इसका सीधा नियन्त्रण न हो। शासन-कार्य में मलाया के विविध राज्यों की सरकारों और संघ-सरकार को अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रता व पूर्ण अधिकार प्राप्त हों।

यूनाइटेड मलाया नेशनल आर्गनिजेशन के नेताओं को ब्रिटिश सरकार की यह नई योजना पसन्द थी, पर मलाया में ऐसे उग्र राष्ट्रवादी लोगों की कमी नहीं थी, जो अपने देश की पूर्ण स्वाधीनता के लिये उत्सुक थे और जो किसी भी रूप में ब्रिटिश आधिपत्य को सहने के लिये तैयार नहीं थे। इन लोगों ने मलाया नेशनलिस्ट पार्टी नाम से एक नये दल का संगठन किया और ब्रिटिश योजना का

विरोध करना प्रारम्भ किया। मलाया नेशनलिस्ट पार्टी की मुख्य मांगें निम्न-लिखित थीं——(१) मलाया के संघराज्य में सिंगापुर को भी सम्मिलित किया जाय, (२) सम्पूर्ण मलाया के लिये जिस केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का निर्माण हो, उसके सब सदस्य निर्वाचित हों। संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों की विधान-सभाओं के सदस्य भी निर्वाचन द्वारा नियुक्त हों, और (३) मलाया के सब स्थिर निवासियों को नागरिकता के अधिकार समान रूप से प्रदान किये जावें। मलाया की यह नेशनलिस्ट पार्टी न केवल ब्रिटिश आधिपत्य की विरोधी थी, अपितु साथ ही मलाया से सुलतानों के शासन का अन्त कर लोकतन्त्र शासन भी स्थापित करना चाहती थी। युनाइटेड मलाया नेशनल आर्गनिजेशन के नेता नरम दल के थे, वे ब्रिटेन के आधिपत्य को भी स्वीकृत करने के लिये उद्यत थे और प्राचीन वंशक्रमानुगत सुलतानों की सत्ता को भी कायम रखना चाहते थे।

ब्रिटिश सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह उग्र राष्ट्रवादी नेताओं (मलाया नेशनलिस्ट पार्टी) की मांगों को स्वीकृत कर सके। परिणाम यह हुआ, कि उसने १९४७ की योजना (जिसे युनाइटेड मलाया नेशनल आर्गनिजेशन ने स्वीकृत कर लिया था) के अनुसार मलाया के शासन का पुनःसंगठन कर दिया। पर इससे मलाया की राजनीतिक समस्याओं का अन्त नहीं हो गया। १९४७ की योजना को क्रिया में परिणत करने के बाद मलाया की नई सरकार को जिन मुख्य समस्याओं का सामना करना पड़ा, वे निम्नलिखित थीं——

(१) मलाया के उग्र राष्ट्रवादी नेता अपने देश पर ब्रिटिश आधिपत्य को किसी भी रूप में सहन करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। (२) मलाया की जनता में चीनी और भारतीय लोगों की संख्या बहुत अधिक है। मलाया जाति के लोगों में जो राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो रही थी, उसके कारण उन्हें चीनी व भारतीय लोगों का अपने देश में बड़ी संख्या में निवास करना पसन्द नहीं था। मलाया देश मलाया के अपने लोगों के लिये है, यह भाव उनमें निरन्तर प्रबल होता जाता था, (३) जब चीन में समाजवादी व्यवस्था कायम हो गई और कम्युनिस्ट लोगों का चीन पर आधिपत्य स्थापित हो गया, तो मलाया में भी कम्युनिस्ट दल प्रबल होने लगा। विशेषतया मलाया में निवास करने-वाले चीनी लोगों में कम्युनिज्म का प्रचार बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगा और मलाया का कम्युनिस्ट दल अपने देश में समाजवादी शासन कायम करने के लिये प्रयत्नशील हो गया। मलाया के इस कम्युनिस्ट दल के साथ वहां के राष्ट्रवादी

देशभक्तों की भी सहानुभुति थी, क्योंकि ब्रिटिश आधिपत्य का अन्त करने के लिये वे भी कम्युनिस्टों के समान ही प्रयत्नशील थे। परिणाम यह हुआ, कि उग्र राष्ट्रवादी नेताओं और कम्युनिस्टों के सम्मिलित प्रयत्न के कारण मलाया की सरकार के लिये अपने देश में शान्ति स्थापित रख सकना बहुत कठिन हो गया।

बरमा—बरमा में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध प्रबल भावना महायुद्ध से पूर्व ही विद्यमान थी, और अनेक उग्र राष्ट्रीय दल ब्रिटिश शासन का अन्त कर अपने देश की स्वाधीनता के लिये प्रयत्नशील थे। यही कारण है, कि जब जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करते हुए बरमा पर आक्रमण किया, तो अनेक बरमी देशभक्त दलों ने प्रसन्नता और सन्तोष का अनुभव किया। उन्होंने समझा, कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने का यह सुवर्णीय अवसर है, और इसीलिये ब्रिटेन के आधिपत्य का अन्त करने में उन्होंने जापान के साथ सहयोग करने में भी संकोच नहीं किया। फरवरी, १९४२ तक जापान ने बरमा के बड़े भाग को ब्रिटेन की अधीनता से स्वतन्त्र करा दिया था और प्रारम्भ में देश में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने के लिये सैनिक शासन का संगठन किया था। पर जापानी लोग बरमा को अपनी अधीनता में रखने के स्थान पर वहां एक ऐसी बरमी सरकार कायम करना चाहते थे, जो पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करने में जापान के साथ सहयोग करने को तैयार हो। इसीलिये उन्होंने १ अगस्त, १९४२ को बरमा में एक स्वतन्त्र बरमी सरकार का संगठन किया, जिसका अधिपति डा० बा मो को बनाया गया। डा० बा मो ब्रिटिश आधिपत्य के युग में बरमा के प्रधान मन्त्री रह चुके थे और राष्ट्रीय दल के प्रधान नेता थे। यही कारण है, कि ब्रिटिश सरकार के साथ कार्य कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं रहा था और इसीलिये ब्रिटिश शासकों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया था। डा० बा मो का यह विचार था, कि जापान के साथ सहयोग करके बरमा न केवल अपने देश की स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है, अपितु साथ ही एशिया से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करने में भी सहायक हो सकता है।

पर बरमा में इस प्रकार के नेताओं की भी कमी नहीं थी, जो बरमा में जापान के बढ़ते हुए प्रभाव व प्रभुत्व को पसन्द नहीं करते थे। इसमें सन्देह नहीं, कि जापान ने बरमा को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त कराया था। पर डा० बा मो की स्वतन्त्र बरमी सरकार जापान के प्रभाव व प्रभुत्व से मुक्त नहीं थी। महायुद्ध के अवसर पर संसार के प्रायः सभी देशों में इस प्रकार के आन्दोलन

चल रहे थे, जिनका उद्देश्य फैसिज्म की प्रवृत्ति का विरोध करना था। इटली और जर्मनी के समान जापान भी फैसिस्ट विचारधारा का अनुयायी था और उसने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में जिन 'स्वतन्त्र सरकारों' की स्थापना की थी, वे फैसिस्ट विचारों से प्रभावित थीं। रूस के नेतृत्व में इस समय सर्वत्र एण्टि-फैसिस्ट प्रवृत्तियां प्रबल हो रही थीं, और इन फैसिस्ट-विरोधी लोगों की सहानुभूति कम्युनिस्टों के साथ थी। बरमा में जो लोग जापान के प्रभाव का अन्त कर विशुद्ध बरमी सरकार की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे, उनके प्रधान नेता जनरल आंग सान थे। उन्होंने 'एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग' (फैसिस्ट-विरोधी जन-स्वातन्त्र्य-सभा) नाम से एक नई संस्था का संगठन किया था, जिसका उद्देश्य बरमा से जापान के प्रभुत्व व प्रभाव का अन्त कर स्वतन्त्र बरमी रिपब्लिक को स्थापित करना था।

जनवरी, १९४५ में मित्रराज्यों की सेनाओं ने बरमा पर आक्रमण किया, और कुछ ही समय में इस देश पर फिर से अपना अधिकार स्थापित कर लिया। पर ब्रिटेन के लिये अब यह सुगम नहीं था, कि वह बरमा पर पहले के समान अपना शासन स्थापित कर सके। बरमा के लोगों में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना बहुत प्रबल हो गई थी, और वे किसी भी प्रकार ब्रिटिश लोगों के शासन को सहने के लिये तैयार नहीं थे। विशेषतया एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग के नेता अपने देश की स्वाधीनता के लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार थे और वे किसी भी रूप में ब्रिटिश आधिपत्य को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं हो सकते थे।

पर ब्रिटिश लोग बरमा को फिर से अपनी अधीनता में लाने के लिये कटिबद्ध थे। जापानी आक्रमण के कारण बरमा की ब्रिटिश सरकार भारत चली आई थी और शिमला में रहकर उस दिन की प्रतीक्षा कर रही थी, जब कि उसे फिर से बरमा पर शासन करने का अवसर मिलेगा। रंगून की विजय के बाद मई, १९४५ में इस ब्रिटिश 'बरमी सरकार' की ओर से एक योजना प्रकाशित की गई, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) बरमा की वही स्थिति रहेगी, जो कि जापान के आक्रमण से पूर्व १९४१ में थी। (२) शुरू में बरमा पर ब्रिटिश गवर्नर का सीधा शासन कायम किया जायगा, और सम्पूर्ण राजशक्ति उसी के हाथों में होगी। (३) १९३५ में बरमा के शासन के लिये जो विधान ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत किया गया था, उसे फिर से लागू किया जायगा और जब बरमा में पूर्णरूप से शान्ति व व्यवस्था कायम हो जायगी, तब इस विधान के अनुसार

व्यवस्थापिका सभा का नया निर्वाचन होगा और फिर से मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जायगा। पर इस स्थिति को लाने में तीन वर्ष के लगभग समय लग जायगा। (४) बरमा के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की यह नीति है, कि अन्ततोगत्वा वहां औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना की जाय। यदि बरमा के विविध राजनीतिक दल औपनिवेशिक स्वराज्य के सम्बन्ध में परस्पर सहमत होकर किसी नये शासन-विधान का निर्माण कर सकने में समर्थ हो जावें, तो ब्रिटिश सरकार उसे स्वीकृत कर लेगी।

मई, १९४५ की इस ब्रिटिश योजना से बरमा के देशभक्त सन्तुष्ट नहीं थे। जापान की विजयों के कारण बरमा एक बार स्वाधीनता का आस्वाद ले चुका था। वहां के उग्र राष्ट्रवादी नेता जापान द्वारा स्थापित बरमी सरकार से भी सन्तुष्ट नहीं थे। इस दशा में यह कैसे सम्भव था, कि ये लोग अब ब्रिटिश आधिपत्य व शासन को सह सकें। परिणाम यह हुआ, कि आंग सान और उसके अनुयायियों ने ब्रिटिश शासन का विरोध करना शुरू किया और ब्रिटिश लोगों के लिये बरमा पर पहले के समान अपना शासन स्थापित कर सकना असम्भव हो गया। इस दशा में अगस्त, १९४६ में बरमा के नये ब्रिटिश गवर्नर सर हुबर्ट रान्स ने यह आवश्यक समझा, कि बरमा के राष्ट्रवादी नेताओं के साथ समझौता कर लिया जाय। उसने बरमा के शासन के लिये एक 'शासन-सभा' (एक्जीक्यूटिव कौंसिल) का संगठन किया, जिसमें ग्यारह सदस्य रखे गये। इनमें से छः एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग के थे, और पांच अन्य राजनीतिक दलों के। इस कौंसिल के निर्माण से बरमा के नेताओं ने सन्तोष अनुभव किया। पर यह व्यवस्था सामयिक रूप से की गई थी, और यह निश्चय किया गया था, कि बरमा के शासन के सम्बन्ध में स्थिर रूप से व्यवस्था करने के लिये लण्डन में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया जाय, जिसमें बरमा के नेता अपने देश की भावी व्यवस्था के विषय में निर्णय करने के लिये स्वतन्त्र हों। २० दिसम्बर, १९४६ को ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री द्वारा यह घोषणा की गई, कि बरमा को यह निर्णय करने की पूरी स्वतन्त्रता होगी, कि वह ब्रिटिश कामनवेल्थ का अंग बनकर रहना चाहता है, या उसके साथ कोई भी सम्बन्ध न रखकर पूर्ण स्वाधीनता चाहता है। वस्तुतः, इस समय ब्रिटेन के चतुर राजनीतिज्ञों ने यह भली भांति अनुभव कर लिया था, कि बरमा पर अपना आधिपत्य कायम रख सकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। बरमा में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना इतनी प्रबल हो चुकी थी, कि सैन्यशक्ति का उपयोग कर इस देश को अपने अधीन रख सकना असम्भव था।

लण्डन-कान्फरेन्स में बरमा की ओर से जो प्रतिनिधिमण्डल सम्मिलित हुआ, उसके प्रधान नेता श्री आंग सान थे। इस कान्फरेन्स ने जनवरी, १९४७ में जो निर्णय किया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) बरमा का शासन-विधान तैयार करने के लिये एक संविधान-परिषद् का निर्वाचन किया जावे। इस परिषद को यह अधिकार हो, कि वह अपने देश के लिये शासन-विधान का निर्माण कर सके। (२) जब तक बरमा की संविधान-परिषद् अपना कार्य समाप्त न कर ले, तब तक के काल के लिये एक सामयिक सरकार का संगठन किया जावे। (३) इस काल के लिये बरमा में एक व्यवस्थापिका सभा हो, जिसके सदस्यों की संख्या १८० हो। संविधान-परिषद् के जो सदस्य निर्वाचित हों, उन्हीं में से १८० को सरकार इस सामयिक व्यवस्थापिका सभा के सदस्य रूप से मनोनीत कर ले। (४) इस काल में बरमा को यह अधिकार हो, कि वह लण्डन में अपनी तरफ से एक हाई कमिश्नर को नियत कर सके, जो बरमा के हितों का ध्यान रखे। (५) संयुक्त राज्यसंघ में बरमा भी एक सदस्य के रूप में सम्मिलित हो, और ब्रिटिश सरकार इस बात का प्रयत्न करे, कि बरमा को संयुक्त राज्यसंघ का सदस्य बना लिया जाय। (६) बरमा को यह अधिकार हो, कि वह अन्य देशों के साथ अपना सीधा राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर सके।

बरमा के सब राजनीतिक नेता लण्डन-कान्फरेन्स के इन निर्णयों से सन्तुष्ट नहीं थे। वे चाहते थे, कि बरमा में तुरन्त पूर्ण स्वराज्य स्थापित हो, और सामयिक रूप से भी बरमा का ब्रिटेन के साथ कोई सम्बन्ध न रहे। पर आंग सान और उसके अनुयायी लण्डन-कान्फरेन्स के इन निर्णयों से सन्तुष्ट थे और उनका खयाल था, कि बरमा को अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का यह सुवर्णीय अवसर है। इसके अनुसार एप्रिल, १९४७ में बरमा की संविधान-परिषद् का निर्वाचन किया गया, जिसमें एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग के उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। २४ सितम्बर, १९४७ को बरमा का नया शासन-विधान बनकर तैयार हो गया और १७ अक्टूबर, १९४७ को बरमा और ब्रिटेन में परस्पर सन्धि हो गई, जिसमें ब्रिटेन ने बरमा की संविधान-परिषद् द्वारा तैयार किये गये शासन-विधान को स्वीकृत कर लिया। बरमा की संविधान-परिषद् ने यह निर्णय किया, कि बरमा का ब्रिटिश कामनवेल्थ के साथ कोई सम्बन्ध न रहे और वह पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो। जनवरी, १९४८ से यह नया शासन-विधान बरमा में लागू हो गया और तब से बरमा की स्थिति ब्रिटिश कामनवेल्थ से बाहर एक स्वतन्त्र राज्य के सदृश है।

बरमा के नये शासन-विधान की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं---(१) राष्ट्रपति का निर्वाचन पांच साल के लिये किया जाय। पार्लियामेण्ट की दोनों सभाओं के सदस्य एक स्थान पर एकत्र होकर बैलट द्वारा राष्ट्रपति का निर्वाचन करें। (२) पार्लियामेण्ट में दो सभाएं हों, प्रतिनिधि-सभा और राष्ट्र-सभा। प्रतिनिधि-सभा के सब सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित किये जावें। राष्ट्रसभा में बरमा की अल्पसंख्यक जातियों को प्रतिनिधित्व देने की विशेष रूप से व्यवस्था की जाय। इस सभा के सस्दयों की संख्या १२५ हो, जिनमें से ७२ अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधि हों। (३) मन्त्रिमण्डल प्रतिनिधि-सभा के प्रति उत्तरदायी हो।

संविधान-परिषद् ने अपना कार्य अभी समाप्त नहीं किया था, कि १९ जुलाई, १९४७ को आंग सान और उसके साथी छः मन्त्रियों (जो कि सामयिक रूप से स्थापित शासन-सभा के सदस्य थे) की हत्या कर दी गई। इस हत्या के नेता श्री यू सो थे, जो कि आंग सान के दल के मुख्य विरोधी थे। पर इन हत्याओं से एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग की शक्ति कम नहीं हुई। आंग सान के बाद श्री थाकिन नू ने बरमा के प्रधान मन्त्री का कार्य संभाला और संविधान-परिषद् के कार्य को जारी रखा।

जनवरी, १९४८ से बरमा पूर्णरूप से स्वतन्त्र राज्य है। पर उसे अनेक विकट समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है---(१) दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान बरमा में भी कम्युनिस्ट दल विद्यमान है, जो बरमा के नये शासन-विधान से सन्तुष्ट नहीं है। यह दल बरमा में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है। (२) बरमा में अनेक इस प्रकार की अल्पसंख्यक जातियां विद्यमान हैं, जो बरमा से पृथक् होकर अपना पृथक् स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहती हैं। इनमें करन लोग मुख्य हैं। इन अल्पसंख्यक जातियों के लोग अपना पृथक् राज्य स्थापित करने के लिये बरमी सरकार के साथ संघर्ष में तत्पर हैं।

लंका---लंका (सीलान) में स्वतन्त्रता का आन्दोलन देर से चल रहा था। नवम्बर, १९४७ में लंका को भी स्वाधीनता प्राप्त हो गई। यद्यपि वह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत है, पर राजनीतिक दृष्टि से उसकी स्थिति कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि उपनिवेशों के सदृश है।

विविध द्वीप---विशाल ब्रिटिश साम्राज्य के जो बहुत-से छोटे-बड़े द्वीप जापान ने अपने कब्जे में कर लिये थे, वे सब अब फिर से ब्रिटेन के अधीन हो गये हैं। उनमें अनेक शासन-सुधार हुए हैं, और यह प्रयत्न किया गया है, कि जनता

का शासन में सहयोग स्थापित हो। पर इन विविध द्वीपों पर ब्रिटेन की सत्ता अभी पूरी तरह से कायम है।

भारत—भारत अब ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त होकर स्वराज्य प्राप्त कर चुका है। भारत के स्वराज्य-आन्दोलन का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। सन् १९४२ में इस आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा। न केवल श्री सुभाषचन्द्र बोस की आजाद-हिन्द-सरकार ने विदेशों में विद्यमान भारतीयों और भारतीय सेना में स्वाधीनता की अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित कर दी, अपितु भारत की जनता पर भी उसका बहुत प्रभाव पड़ा। भारत में महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय महासभा ने 'भारत छोड़ो' का आन्दोलन शुरू किया। लोग खुले तौर पर विद्रोह के लिये तैयार हो गये। ब्रिटिश शक्ति की जरा भी परवाह न कर उन्होंने स्वतन्त्रता का झण्डा खड़ा कर दिया। गांधीजी का यह आन्दोलन सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर आश्रित था। ब्रिटिश शासकों के सब प्रकार से पाशविक शक्ति का उपयोग करने पर भी भारतीय लोग शान्त रहे और लाखों देशभक्तों ने ऊंचे से ऊंचा त्याग और बलिदान करके ब्रिटिश शासन का प्रतिरोध किया। विश्व-संग्राम की समाप्ति तक भारत के स्वराज्य-आन्दोलन ने इतना तीव्र रूप धारण कर लिया था, कि ब्रिटिश लोगों ने यह भली भांति अनुभव कर लिया, कि अब भारत में अपना शासन कायम रख सकना असम्भव है। इस समय भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड माउण्टबेटन थे। सब परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर उन्होंने यही निश्चय किया, कि भारत को स्वतन्त्र कर देने में ही ब्रिटेन का हित है।

पर दुर्भाग्यवश, भारत में जागृति और राजनीतिक चेतना के उत्पन्न होने के साथ-साथ जातिगत और साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना भी बढ़ती गई थी। मुसलिम लीग के नेता श्री जिन्ना मुसलमानों में यह प्रचार करने में लगे थे, कि हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् जातियां हैं, अतः उनके दो पृथक् राष्ट्र बनने चाहियें। ब्रिटिश शासक इस विचार को प्रोत्साहन देते थे। अपना पृथक् राज्य होने का विचार सर्वसाधारण मुसलिम जनता ने बहुत पसन्द किया। कांग्रेस के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि मुसलमानों को अपने साथ रख सके। अनेक समझदार राष्ट्रीय मुसलिम नेताओं के होते हुए भी मुसलमान जनता श्री जिन्ना और उनकी मुसलिम लीग के साथ में थी। अतः यह निर्णय किया गया, कि भारत को दो भागों में बांट दिया जाय। जिन प्रान्तों व प्रदेशों में मुसलमानों की बहु-संख्या है, उनका एक पृथक् राज्य बनाया जाय, जिसका नाम पाकिस्तान रखा जाय। शेष देश को भारत (इण्डिया) कहा जाय। दोनों राज्यों को स्वराज्य

दे दिया जाय और उनकी विधान-परिषदें यह निर्णय करें, कि उनके शासन का स्वरूप क्या हो। इसी के अनुसार १५ अगस्त, १९४७ को भारत और पाकिस्तान के पृथक् स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये गये। पर देश के विभाजन के समय साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना बहुत उग्र रूप धारण कर गई। जगह-जगह पर हिन्दू-मुसलिम दंगे हुए। पश्चिमी पाकिस्तान से लाखों की संख्या में हिन्दुओं और सिक्खों को अपने घरबार छोड़कर भारत आना पड़ा। पूर्वी पंजाब और दिल्ली से लाखों मुसलमान भी पाकिस्तान जाने के लिये विवश हुए। इतनी बड़ी संख्या में लोगों का अपने घर-बार को छोड़कर स्थानभ्रष्ट हो जाना संसार के इतिहास में अद्वितीय बात है। देश के विभाजन से एक करोड़ से भी अधिक आदमी स्थानभ्रष्ट हुए। इस समय जो लोग साम्प्रदायिक दंगों में जान से मारे गये, उनकी संख्या भी लाखों में है। सम्पत्ति का जो नुकसान हुआ, उसका तो अन्दाज करना भी कठिन है। साम्प्रदायिक विद्वेष ने इस समय इतना उग्र रूप धारण किया, कि महात्मा गांधी जैसे विश्वमान्य महापुरुष भी एक साम्प्रदायिक हिन्दू की गोली के शिकार हुए।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि अब भारत और पाकिस्तान स्वतन्त्र हैं। ब्रिटेन की सत्ता का वहां से अन्त हो चुका है। दोनों देशों को अब यह अधिकार है, कि वे चाहें तो ब्रिटिश साम्राज्य से कोई भी सम्बन्ध न रखें और बरमा की तरह से पूर्ण स्वतन्त्र हो जावें।

साम्राज्य के अन्य प्रदेश—कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड आदि ब्रिटिश उपनिवेश अभी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत हैं। पर ब्रिटिश राजा की अधीनता स्वीकार करते हुए भी क्रियात्मक दृष्टि से वे स्वतन्त्र हैं। ब्रिटिश लोगों की यह विशेषता है, कि वे समय के साथ-साथ अपने को भी परिवर्तित कर लेते हैं। अपने साम्राज्य का स्वेच्छापूर्वक अन्त करके ब्रिटेन ने भारत, पाकिस्तान, लंका आदि विविध देशों की सद्भावना प्राप्त कर ली है। आज भारत ब्रिटेन के लिये एक विकट समस्या न होकर उसका सहयोगी व मित्र बन गया है। अपनी समझदारी की वजह से अब भी ब्रिटेन इस स्थिति में है, कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस और अमेरिका के समान अपना पृथक् प्रभावक्षेत्र बना सके। ब्रिटेन का यह प्रभावक्षेत्र रूस व अमेरिका के बीच में एक प्रकार का समतुलन कायम कर सकता है, और इससे ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने महत्त्व को अक्षुण्ण रख सकता है।

ईजिप्ट अब तक ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में था, सूडान पर तो उसका सीधा शासन था। ईजिप्ट के लोग चाहते हैं, कि सूडान ब्रिटेन के हाथ से निकलकर

उनके साथ में मिल जाय। उनकी यह भी इच्छा है, कि ब्रिटेन की कोई भी सेना स्वेज कैनाल के क्षेत्र में न रहने पावे। धीरे-धीरे ब्रिटिश लोग इस समस्या के हल करने का भी प्रयत्न कर रहे हैं। ईराक, पैलेस्टाइन आदि से ब्रिटिश लोग अपनी सत्ता को प्रायः हटा चुके हैं। आयर्लैण्ड ने अब ब्रिटिश साम्राज्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है। विशाल ब्रिटिश साम्राज्य परिस्थितियों के अनुसार अब बहुत कुछ बदल चुका है।

२. हालैण्ड का साम्राज्य

महायुद्ध (१९३९-४५) के प्रारम्भ तक इन्डोनीसिया के विविध द्वीप हालैण्ड के अधीन थे, पर उनकी जनता में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये उत्कट अभिलाषा विकसित हो रही थी। मई, १९४० में यूरोप के रणक्षेत्र में हालैण्ड जर्मनी द्वारा परास्त कर दिया गया था और वहां की रानी विल्हल्मिना अपनी सरकार के साथ हालैण्ड छोड़कर ब्रिटेन चली आई थी। इस समय तक जापान महायुद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था, फिर भी हालैण्ड की पराजय का उसके साम्राज्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। इन्डोनीसिया में स्वाधीनता का आन्दोलन अब अधिक प्रबल हो गया था। इस समय चाहिये तो यह था, कि हालैण्ड इन्डोनीसिया के राष्ट्रवादी देशभक्तों के साथ सहानुभूति प्रगट करता और उसकी स्वाधीनता की आकांक्षा को पूर्ण कर उसकी सहायता मित्रराज्यों के लिये प्राप्त करता। पर हालैण्ड की साम्राज्यवादी सरकार (इन्डोनीसियन डच सरकार) ने स्वाधीनता के आन्दोलन को कुचलने के लिये उग्र उपायों का अवलम्बन किया। पुलीस की शक्ति बढ़ा दी गई, अनेक देशभक्त नेताओं को गिरफ्तार किया गया और अनेक ऐसे कानून जारी किये गये, जिनका उद्देश्य जनता को भाषण करने व अन्य प्रकार से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने से रोकना था। पर यह सम्भव नहीं था, कि इन्डोनीसिया की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचला जा सकता। अन्ततोगत्वा, डच सरकार ने यह आवश्यक समझा, कि इन्डोनीसिया की जनता को सन्तुष्ट रखने के लिये शासन में सुधार किये जावें। इस उद्देश्य से एक कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसके अध्यक्ष श्री विस्मान थे। विस्मान कमीशन ने जनता के प्रतिनिधियों की गवाही लेकर इस बात पर विचार करना प्रारम्भ किया, कि इन्डोनीसिया के शासन में कौन से ऐसे सुधार किये जा सकते हैं, जिनसे जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सन्तुष्ट किया जा सके।

पर इन्डोनीसिया में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये आन्दोलन इतना प्रबल हो

चुका था, कि विस्मान कमीशन की नियुक्ति द्वारा उसे सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता था। इस बीच में यूरोप के रणक्षेत्र में जर्मनी और इटली निरन्तर विजयी हो रहे थे। फ्रांस, बेल्जियम आदि देशों पर जर्मनी का कब्जा हो गया था, और ब्रिटेन पर हवाई आक्रमण बहुत उग्र रूप धारण कर रहे थे। इस स्थिति में इन्डोनीसिया के देशभक्त यह अनुभव करते थे, कि अपने देश से डच साम्राज्यवाद का अन्त करने का यह सुवर्णीय अवसर है, और उन्हें इसका पूरी तरह से उपयोग करना चाहिये। दिसम्बर, १९४१ में जापान भी मित्रराज्यों के खिलाफ युद्ध में शामिल हो गया। जापान का दावा था, कि महायुद्ध में वह इस उद्देश्य से शामिल हुआ है, ताकि पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया से पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का अन्त कर इस क्षेत्र के सब देशों में स्वाधीन सरकारों की स्थापना की जाय। इन्डोनीसिया के राष्ट्रवादी देशभक्तों को जापान से बहुत आशा थी। वे अनुभव करते थे, कि डच आधिपत्य के अन्त करने का क्रियात्मक उपाय यही है, कि जापान की सेनाएं इन्डोनीसिया पर आक्रमण करें और डच सेनाओं को परास्त कर उनके देश को स्वतन्त्र करें। यही कारण है, कि जब जापानी सेनाओं ने फिलिप्पीन आदि देशों को विजय किया, तो इन्डोनीसियन लोगों ने अत्यधिक उल्लास का अनुभव किया।

जापानी सेनाएं विद्युत्गति से दक्षिण-पूर्वी एशिया में आगे बढ़ रही थीं। इस समय प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जापान का मुकाबला कर सकने की शक्ति किसी देश में नहीं थी। डच लोगों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे जापानी आक्रमण से अपने साम्राज्य की रक्षा कर सकते। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि जो विविध द्वीप हालैण्ड के अधीन थे, उन पर एक-एक करके हमला किया गया। जल और वायु के मार्गों से जापानी सेनाएं इन द्वीपों में प्रविष्ट हो गईं, और मार्च, १९४२ तक सम्पूर्ण इन्डोनीसिया डच आधिपत्य से मुक्त होकर जापानी सेनाओं के कब्जे में आ गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान इन्डोनीसिया में भी शुरू में जापान ने अपना सैनिक शासन स्थापित किया, ताकि देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रह सके।

पर जापान स्थिर रूप से इन्डोनीसिया को अपनी अधीनता में नहीं रखना चाहता था। इस देश के सर्वप्रधान नेता डा० सुकर्ण थे। शीघ्र ही उनके नेतृत्व में इन्डोनीसिया की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की गई। जिस समय अगस्त, १९४५ में महायुद्ध में परास्त होकर जापान ने मित्रराज्यों के सम्मुख आत्मसमर्पण किया, तब डा० सुकर्ण के नेतृत्व में इन्डोनीसिया में एक स्वतन्त्र रिपब्लिकन राज्य की स्थापना हो चुकी थी।

महायुद्ध में परास्त होकर भी हालैण्ड के राजनीतिक नेताओं को यह सुबुद्धि नहीं आई थी, कि अब इन्डोनीसिया को अपनी अधीनता में रख सकना सम्भव नहीं है। ६ दिसम्बर, १९४२ को (जब कि इन्डोनीसिया हालैण्ड की अधीनता से मुक्त हो चुका था, और वहां स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की जा रही थी) ब्रिटेन में स्थित डच सरकार की ओर से एक उद्घोषणा प्रकाशित की गई, जिसमें उस नीति का प्रतिपादन किया गया, जिसका अनुसरण हालैण्ड महायुद्ध की समाप्ति पर इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में करेगा। इस उद्घोषणा में यह कहा गया था, कि महायुद्ध की समाप्ति पर डच साम्राज्य की नई व्यवस्था करने के लिये एक कान्फरेन्स का आयोजन किया जायगा। इस कान्फरेन्स में इस बात पर विचार होगा, कि हालैण्ड और उसके साम्राज्य के देशों के शासन का क्या रूप हो। डच सरकार का विचार यह था, कि डच साम्राज्य को एक कामनवेल्थ के रूप में परिवर्तित कर दिया जावे, जिसके अन्तर्गत सब राज्य अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र हों। डच कामनवेल्थ की इस कल्पना के अनुसार इन्डोनीसिया को अपने आन्तरिक शासन में तो स्वतन्त्रता मिल जाती थी, पर अब इन्डोनीसियन देशभक्त पूर्ण स्वराज्य के बिना किसी भी प्रकार सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे। १९४३ के अन्त से पूर्व ही इन्डोनीसिया में स्वतन्त्र रिपब्लिक की सुचारु रूप से स्थापना हो चुकी थी, उसके शासन-विधान का निर्माण हो गया था और नई रिपब्लिकन सरकार ने देश के शासन-कार्य को भली भांति संभाल लिया था।

महायुद्ध में जापान की पराजय होने के बाद इन्डोनीसिया पर कब्जा करने का कार्य ब्रिटिश सेनाओं के सुपुर्द किया गया। मित्रराज्यों की ओर से दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के खिलाफ लड़ाई लड़ने के लिये 'दक्षिण-पूर्वी एशिया कमाण्ड' का संगठन हुआ था, और इसी कमाण्ड की ओर से ब्रिटिश सेनाओं को यह कार्य सुपुर्द किया गया था, कि वे इन्डोनीसिया से जापानी सेनाओं को परास्त कर इस देश पर अपना सैनिक आधिपत्य स्थापित करें। साथ ही, यह व्यवस्था भी की गई थी, कि इन्डोनीसिया के जो द्वीप मित्रसेनाओं के कब्जे में आते जावें, उन्हें पुनः डच सरकार के शासन में दे दिया जाय। इसके लिये हालैण्ड की ओर से 'नीदरलैण्ड्स इन्डीज सिविल एड्मिनिस्ट्रेशन' नामक संगठन का निर्माण किया गया था। इन्डोनीसिया के जो-जो द्वीप मित्रराज्यों के आधिपत्य में आते जाते थे, उस पर इस डच संस्था का शासन स्थापित कर दिया जाता था। पर जावा, मदुरा और सुमात्रा द्वीपों पर इन्डोनीसियन रिपब्लिक का शासन सुव्यवस्थित रूप से कायम था। यह ध्यान में रखना चाहिए, कि इन्डोनीसिया के कुल निवासियों का

दो तिहाई के लगभग भाग जावा और मदुरा के द्वीपों में निवास करता है। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि जनसंख्या की दृष्टि से ६६ प्रतिशत से भी अधिक इन्डोनीसियन लोग डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के शासन में थे। मित्रराज्यों की तरफ से इन्डोनीसिया पर सैनिक आधिपत्य स्थापित करने का कार्य ब्रिटिश सेनाओं के सुपुर्द था। जावा, मदुरा और सुमात्रा में जो ब्रिटिश सेनाएं आईं, उन्होंने जापानी अधिकारियों, सैनिकों और नागरिकों को तो अपने कब्जे में ले लिया, पर उन्होंने यह उचित नहीं समझा, कि इन द्वीपों में स्थापित इन्डोनीसियन रिपब्लिकन सरकार का प्रतिरोध करें। ब्रिटिश सेनाओं की यह नीति वस्तुतः बुद्धिमत्तापूर्ण थी। इन्डोनीसियन लोगों में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना इतने प्रबल रूप में विकसित हो चुकी थी, कि वे किसी भी दशा में अपनी स्वतन्त्रता को छोड़ने के लिये उद्यत नहीं थे। यदि ब्रिटिश सेना डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार का प्रतिरोध करने का प्रयत्न करती, तो उसे न केवल इन्डोनीसियन सेना का अपितु उस देश की जनता का भी कड़ा मुकाबला करना पड़ता। इस प्रकार १९४६ के मध्य में इन्डोनीसिया की राजनीतिक स्थिति यह थी, कि जावा, मदुरा और सुमात्रा द्वीपों में स्वतन्त्र रिपब्लिक की सत्ता थी, जो किसी भी प्रकार डच लोगों के आधिपत्य को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं थी। अन्य द्वीपों पर नीदरलैण्ड इन्डीज सिविल एडमिनिस्ट्रेशन का शासन था, और इस संस्था ने अपने अधिकृत प्रदेशों पर १९४२ से पूर्व जिस ढंग का डच शासन विद्यमान था, उसी प्रकार का शासन फिर से स्थापित कर दिया था।

सम्पूर्ण इन्डोनीसिया पर हालैण्ड का शासन दो ही प्रकार से स्थापित हो सकता था। डच सेनाएं युद्ध में इन्डोनीसियन रिपब्लिक को परास्त करके उस द्वारा अधिकृत प्रदेशों को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न कर सकती थीं या डा० सुकर्ण आदि रिपब्लिकन नेताओं से समझौता करके डच सरकार एक ऐसा मार्ग निकाल सकती थी, जिससे इन्डोनीसिया की स्वतन्त्रता भी कायम रहे और इस देश पर हालैण्ड का आधिपत्य भी बना रहे। डच नेताओं ने इन दोनों उपायों का उपयोग किया। डच सेनाएं बहुत बड़ी संख्या में इन्डोनीसिया भेज दी गईं। वहां जाकर उन्होंने रिपब्लिकन सेनाओं के साथ युद्ध प्रारम्भ किया। पर [illegible] समय निर्बल नहीं थीं। उनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता [illegible] थी और जापान जो बहुत सी युद्ध-सामग्री इन द्वीपों में छोड़ गया था, उसका उपयोग कर इन्डोनीसियन सेनाओं ने अपने को बहुत शक्तिशाली भी बना लिया था। उन्होंने डटकर डच सेनाओं का मुकाबला

किया। पर युद्ध के साथ-साथ हालैण्ड की सरकार ने इन्डोनीसिया के रिपब्लिकन नेताओं के साथ समझौते की बातचीत को भी जारी रखा।

डच सरकार को डा० सुकर्ण और उनके साथियों से बहुत विद्वेष था। उसका खयाल था, कि इन नेताओं ने महायुद्ध के समय जापान के साथ सहयोग किया था, अतः उनसे किसी भी प्रकार का समझौता करना उचित नहीं है। पर इन्डोनीसिया में डा० सुकर्ण का प्रभाव इतना अधिक था, कि डच सरकार उनकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। अतः उसने समझौते की बातचीत का यह मार्ग निकाला, कि राष्ट्रपति सुकर्ण (डा० सुकर्ण इन्डोनीसियन रिपब्लिक के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित थे) से बातचीत न कर प्रधान मन्त्री सहरीर के साथ समझौते का प्रयत्न किया जाय। पर ऐसा करना डच सरकार का दुराग्रह मात्र था, क्योंकि श्री सहरीर डा० सुकर्ण के ही अनुयायी थे। अन्त में डच सरकार को अपना हठ छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा। उसने यह स्वीकार किया, कि इन्डोनीसियन रिपब्लिक एक सुव्यवस्थित राज्य है, और उसके विविध राजपदाधिकारी एक सरकार के ही विविध अंग हैं। उनमें भेद कर सकना क्रियात्मक दृष्टि से सम्भव नहीं है। नवम्बर, १९४६ में डच सरकार और इन्डोनीसियन रिपब्लिकन सरकार में सामयिक रूप से सन्धि हो गई। उन्होंने युद्ध को स्थगित कर दिया और इस बात का प्रयत्न किया, कि परस्पर बातचीत द्वारा इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में एक ऐसी व्यवस्था का निर्धारण करें, जो दोनों पक्षों को मान्य हो।

अब दोनों सरकारों में समझौते की बातचीत शुरू हुई। २५ मार्च, १९४७ को वे एक समझौते पर पहुँचने में समर्थ हुईं। यह लिंगजाति समझौते के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। इसके अनुसार यह निश्चय किया गया, कि (१) इन्डोनीसिया के जिन प्रदेशों पर डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार का कब्जा है, उन्हें स्वतन्त्र इन्डोनीसियन रिपब्लिक के रूप में स्वीकार किया जाय। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, ये प्रदेश जावा, मदुरा और सुमात्रा के द्वीप थे। (२) दक्षिण-पूर्वी एशिया में डच सरकार की अधीनता में जो अन्य प्रदेश हैं, उनको और स्वतन्त्र इन्डोनीसियन रिपब्लिक को साथ मिलाकर 'इन्डोनीसिया का स्वतन्त्र राज्यसंघ,' बनाया जाय। इस संघराज्य के अन्तर्गत इन विविध राज्यों को अपने आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वाधीनता रहे। पर केन्द्रीय शासन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों पर संघ सरकार का नियन्त्रण रहे। (३) इन्डोनीसियन संयुक्त राज्य-संघ और हालैण्ड को मिलाकर एक 'यूनियन' कायम किया जाय। विदेशी राजनीति, सेना आदि विषय इस यूनियन के अधीन रहें। डा० सुकर्ण के नेतृत्व

में विद्यमान रिपब्लिकन सरकार का शासन जावा, सुमात्रा और मदुरा पर कायम था। इन तीन द्वीपों के अतिरिक्त बोर्नियो का द्वीप ऐसा था, जिसे इस लिंगजाति समझौते के अनुसार एक पृथक् रिपब्लिक के रूप में परिणत करने का निश्चय किया गया था। जावा, मदुरा, सुमात्रा और बोर्नियो के अतिरिक्त जो अन्य बहुत से छोटे-बड़े द्वीप इन्डोनीसिया के अन्तर्गत थे, उन्हें मिलाकर एक तीसरी रिपब्लिक का निर्माण करने की व्यवस्था की गई थी, जिसे 'विशाल पूर्व' (ग्रेट ईस्ट) का नाम दिया गया था। इस प्रकार इन्डोनीसियन राज्यसंघ के अन्तर्गत तीन रिपब्लिकें शामिल की गई थीं।

यह स्पष्ट है, कि लिंगजाति समझौते के अनुसार इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गई थी, उससे इस देश के राष्ट्रीय नेताओं को पूर्ण सन्तोष नहीं हो सकता था। इससे सम्पूर्ण इन्डोनीसिया डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के अधीन नहीं होता था। बोर्नियो और ग्रेट ईस्ट में जो नई रिपब्लिकें कायम की गई थीं, उन पर डच लोगों का प्रभाव व प्रभुत्व बहुत दृढ़ रहता था। इसके अतिरिक्त इन्डोनीसियन राज्यसंघ की परराष्ट्र-नीति और सेना आदि पर हालैण्ड का प्रभाव पूर्ववत् कायम रहता था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि अनेक राष्ट्रवादी देशभक्त लिंगजाति समझौते से असन्तोष अनुभव करें। परिणाम यह हुआ, कि मार्च, १९४७ में हालैण्ड और इन्डोनीसियन रिपब्लिक में पुनः संघर्ष प्रारम्भ हो गया। डच सेनाओं ने अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा डा० सुकर्ण की सरकार को परास्त कर जावा, मदुरा और सुमात्रा पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का उद्योग प्रारम्भ कर दिया। भारत ने इसी समय संयुक्त राज्यसंघ (यूनाइटेड नेशन्स आर्गनिजेशन) के सम्मुख इन्डोनीसिया का मामला पेश किया। उसका कथन था, कि जावा, मदुरा और सुमात्रा पर डच सेनाओं का आक्रमण सर्वथा अनुचित है, और डच सरकार इन्डोनीसियन लोगों पर घोर अत्याचार कर रही है। पर डच सरकार का कहना था, कि इन्डोनीसिया का मामला हालैण्ड के साम्राज्य की आन्तरिक समस्या है। वह जिस नीति का वहां अनुसरण कर रही है, उसका उद्देश्य अपने साम्राज्य के अन्यतम देश में शान्ति और व्यवस्था कायम करना ही है। संयुक्त राज्यसंघ की सुरक्षा-परिषद् (सिक्योरिटी कौंसिल) ने सारे प्रश्न पर विचार करके यह आदेश जारी किया, कि दोनों तरफ से लड़ाई को तुरन्त बन्द कर दिया जाय। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई, कि इन्डोनीसिया की समस्या पर विचार करने के लिये एक कमेटी बनाई जाय, जिसके तीन सदस्य हों। इस कमेटी के एक सदस्य को हालैण्ड मनोनीत करे, दूसरे को

इण्डोनीसियन रिपब्लिक मनोनीत करे और वे दोनों सदस्य मिलकर एक तीसरे सदस्य को नियुक्त करें। इसके अनुसार हालैण्ड ने बेल्जियम को, इन्डोनीसियन रिपब्लिक ने आस्ट्रेलिया को और उन दोनों देशों ने मिलकर अमेरिका को कमेटी का सदस्य चुना। इस कमेटी ने सबसे पहले लड़ाई को बन्द कराया और फिर यह व्यवस्था की, कि दोनों पक्ष युद्ध को बन्द कर शान्ति स्थापित रखें। शान्ति स्थापित करके जनवरी, १९४८ में इस कमेटी ने इन्डोनीसिया की समस्या को स्थिर रूप से सुलझाने का उद्योग शुरू किया। बेल्जियम, आस्ट्रेलिया और अमेरिका के प्रतिनिधियों ने हालैण्ड और इन्डोनीसियन रिपब्लिक में जो समझौता कराया, उसका आधार निम्नलिखित बातें थीं—(१) इन्डोनीसिया में एक राज्य-संघ कायम किया जाय। जावा, सुमात्रा और मदुरा (डा० सुकर्ण की सरकार द्वारा अधिकृत द्वीप) पृथक् रूप से या संयुक्त रूप से इस राज्यसंघ में सम्मिलित हों। (२) इन्डोनीसियन राज्यसंघ और हालैण्ड को मिलाकर एक यूनियन बनाया जाय, जो विदेशी राजनीति, सेना आदि पर नियन्त्रण रखे।

पर यह समझौता भी देर तक कायम नहीं रह सका। डच सरकार का प्रयत्न यह था, कि इन्डोनीसिया की विविध जातियों व प्रदेशों को डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के खिलाफ उभाड़ दे। वह इन्डोनीसियन लोगों में फूट डालकर उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचल डालने के लिये प्रयत्नशील थी। इसी उद्देश्य से डच सरकार ने इन्डोनीसिया के अनेक प्रदेशों में ऐसी सरकारें कायम करने का उद्योग किया, जो हालैण्ड के पक्ष में और डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के विरोध में थीं। इससे इन्डोनीसिया की समस्या और भी अधिक जटिल हो गई। वहां न केवल डच सरकार के साथ युद्ध जारी रहा, अपितु विविध प्रदेशों में भी गृह-कलह प्रारम्भ हो गया। इस स्थिति से लाभ उठाकर दिसम्बर, १९४८ में डच सेनाओं ने बाकायदा इन्डोनीसिया पर चढ़ाई कर दी। जोग जाकर्ता (इन्डोनीसिया की राजधानी) पर उन्होंने कब्जा कर लिया। रिपब्लिकन सरकार के अनेक नेता गिरफ्तार कर लिये गये। पर इससे भी इन्डोनीसिया के राष्ट्रवादी देशभक्तों ने अपने संघर्ष को बन्द नहीं किया। संसार के लोकमत की सहानुभूति इस समय इन्डोनीसिया के साथ थी। संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख यह मामला फिर उपस्थित हुआ। सुरक्षा-परिषद् ने हालैण्ड को आदेश दिया, कि इन्डोनीसियन रिपब्लिक के नेताओं को रिहा कर दिया जाय और डच सरकार जो सैनिक कार्रवाई इन्डोनीसिया में कर रही है, उसे बन्द कर दे। पर हालैण्ड ने सुरक्षा-परिषद् के इस आदेश की कोई परवाह नहीं की। इस पर संयुक्त

राज्यसंघ ने एक बार फिर इन्डोनीसिया की समस्या को हल करने के लिये एक समझौता-कमीशन की नियुक्ति की। हालैण्ड चाहता था, कि इस कमीशन की कोई परवाह न करे, और इन्डोनीसिया को अपनी अधीनता में लाने के लिये युद्ध को जारी रखे। पर उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि संसार के लोकमत की पूर्ण रूप से अवहेलना कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के कारण अन्ततोगत्वा हालैण्ड इस बात के लिये विवश हुआ, कि गिरफ्तार हुए इन्डोनीसियन नेताओं को रिहा कर दे और इस देश की समस्या का हल युद्ध द्वारा न कर समझौते द्वारा करने का उद्योग करे। ३ अगस्त, १९४९ को डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार और हालैण्ड में सामयिक रूप से समझौता हो गया, जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि (१) दोनों पक्ष पारस्परिक युद्ध को स्थगित कर दें, (२) इन्डोनीसियन नेताओं को रिहा कर दिया जाय, और (३) इन्डोनीसिया की समस्या को स्थिर रूप से हल करने के लिये हालैण्ड की राजधानी हेग में एक गोलमेज परिषद् का आयोजन किया जाय।

इसी बीच में जनवरी, १९४९ में भारतीय सरकार ने दिल्ली में एक एशियन कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिसमें एशिया के १७ देशों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इन्डोनीसिया की समस्या पर इसमें विस्तार के साथ विचार किया गया। इस कान्फरेन्स ने जो सुधार पेश किये, संयुक्त राज्यसंघ ने उन्हें क्रियात्मक व उचित माना। इन्डोनीसिया की समस्या के हल होने में इस कान्फरेन्स से बहुत सहायता मिली।

इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में जो गोलमेज-परिषद् हेग में हुई, उसने २ नवम्बर, १९४९ को अपना कार्य समाप्त कर लिया। गोलमेज-परिषद् में जो निर्णय किये गये, उनके अनुसार इन्डोनीसिया को एक राज्यसंघ के रूप में परिवर्तित किया गया, जिसमें सबसे प्रधान स्थान डा० सुकर्ण के नेतृत्व में स्थापित रिपब्लिक को दिया गया। इस रिपब्लिक की अधीनता में पूर्वी सुमात्रा और ग्रेट ईस्ट के द्वीपों के अतिरिक्त अन्य सब इन्डोनीसियन प्रदेशों को दे दिया गया। इस सुविस्तृत इन्डोनीसियन रिपब्लिक को यह अधिकार दिया गया, कि वह अपने शासन-विधान का स्वयं निर्माण कर सके और इसके लिये एक संविधान-परिषद् का निर्वाचन करा सके। पर हेग-कान्फरेन्स में जिस प्रश्न पर विशेष रूप से निर्णय किया जाना था, [illegible] हालैण्ड के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में था। इस [illegible] जो निर्णय हेग-कान्फरेन्स द्वारा किये गये, वे निम्न- [illegible] और इन्डोनीसिया, दोनों राज्यों की स्थिति सम्पूर्ण-

प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के सदृश हो। (२) ये दोनों सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य स्वेच्छापूर्वक एक यूनियन का निर्माण करें, जिनमें दोनों राज्यों की स्थिति समान मानी जाय। (३) यह यूनियन परराष्ट्र-नीति और आर्थिक मामलों के सम्बन्ध में उपयुक्त अधिकार रखे और यूनियन में सम्मिलित दोनों राज्य विदेशी राजनीति और आर्थिक उन्नति के लिये परस्पर सहयोग से कार्य करें। (४) हालैण्ड और इन्डोनीसिया दोनों राज्यों का शासन-विधान लोकतन्त्रवाद पर आश्रित हो। (५) इन्डोनीसिया का जो राष्ट्रीय ऋण है, उसे अदा करने की जिम्मेदारी इन्डोनीसियन सरकार पर रहे। (६) दोनों राज्यों में जिस प्रश्न पर विवाद हो, उसका निर्णय पञ्चनिर्णय पद्धति द्वारा किया जाय। (७) यूनियन का अध्यक्ष साम्राज्ञी जूलियाना व उसके वंशज रहें।

हेग-गोलमेज-कान्फरेन्स के इन निर्णयों को दोनों पक्षों ने स्वीकार किया। उनके अनुसार जहां इन्डोनीसिया का हालैण्ड के साथ सम्बन्ध कायम रहा, वहां राष्ट्रीय स्वाधीनता की उसकी आकांक्षा भी पूर्ण हो गई। पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान इन्डोनीसिया में भी अभी अनेक समस्याएं विद्यमान हैं, जिनमें सबसे प्रमुख कम्युनिस्टों की है। इन्डोनीसिया में भी कम्युनिस्ट दल निरन्तर जोर पकड़ रहा है।

३. फ्रांस का साम्राज्य

महायुद्ध से पूर्व पूर्वी एशिया में फ्रांस का विस्तृत साम्राज्य विद्यमान था, जिसे इन्डोचायना कहते हैं। इन्डोचायना फ्रांस के उसी प्रकार अधीन था, जैसे कि भारत और बरमा ब्रिटेन के। जून, १९४० में फ्रांस जर्मनी द्वारा परास्त कर दिया गया था और पेरिस नाजी सेनाओं के कब्जे में आ गया था। फ्रांस में कतिपय ऐसे राजनीतिक नेता विद्यमान थे, जो दिल से नाजी विचारधारा के साथ सहानुभूति रखते थे। मार्शल पेतां और श्री लवाल इन लोगों के प्रधान नेता थे। इन्होंने फ्रांस में एक नई सरकार का संगठन किया और विशी को अपनी राजधानी बनाया। फ्रांस की इस नई सरकार ने २१ जून, १९४० को हिटलर के प्रतिनिधियों से सन्धि कर ली। फ्रांस जर्मनी के अधिकार में आ गया था, पर उसका विशाल साम्राज्य अभी जर्मनी की पहुंच से बहुत दूर था। जो फ्रेंच लोग मार्शल पेतां की नीति से असन्तुष्ट थे, उनका नेता जनरल द गॉल था। ये लोग ब्रिटेन में एकत्र हुए और वहां इन्होंने आजाद फ्रेंच सरकार का संगठन किया। द गॉल ने यत्न किया, कि फ्रांस के विशाल साम्राज्य के विविध प्रदेश आजाद

फ्रेंच सरकार का साथ दें। पर मार्शल पेतां की सरकार यह नहीं चाहती थी। उसका विचार था, कि अब फ्रेंच लोगों को महायुद्ध में पूर्णतया तटस्थ रहना चाहिये और जर्मनी के साथ जो सन्धि हुई है, उसका अविकल रूप से पालन करना चाहिये। इन्डोचायना के गवर्नर-जनरल श्री कार्तू ने जनरल द गॉल का साथ देने का फैसला किया। इस पर विशी सरकार ने उसे पदच्युत कर दिया और श्री देकू को इन्डोचायना का नया गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया।

राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास—महायुद्ध (१९३९-४५) के प्रारम्भ से पूर्व भी इन्डोचायना में राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन विद्यमान था। यद्यपि इन्डोचायना के सब निवासी जाति, नसल, भाषा, संस्कृति आदि की दृष्टि से एक नहीं थे, पर उन सबमें फ्रांस के विदेशी शासन का विरोध कर राष्ट्रीय स्वाधीनता की स्थापना की आकांक्षा समान रूप से विद्यमान थी। इन्डोचायना में जो अनेक दल स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थे, उन्हें हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) फाम-क्विन्ह दल—यह इन्डोचायना का नरम दल था, जो फ्रांस के साथ सम्बन्ध बनाये रखकर शासन-सुधार से सन्तुष्ट था। इस दल के लोग चाहते थे, कि इन्डोचायना फ्रांस के साम्राज्य के अन्तर्गत रहे, पर धीरे-धीरे देश के शासन में इस प्रकार के सुधार कर दिये जावें, जिनसे इन्डोचायनीज लोगों को शासन में हाथ बटाने का अवसर प्राप्त हो। (२) क्रान्तिकारी दल—इसमें अनाम के नवयुवक देशभक्त सम्मिलित थे। ये अपने देश को फ्रांस की अधीनता से मुक्त करके पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के पक्षपाती थे। १९२८ तक इस दल में कम्युनिस्ट लोग भी शामिल थे। पर बाद में कम्युनिस्टों का राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दल से मतभेद हो गया और उन्होंने अपना पृथक् दल बना लिया। (३) आतंकवादी दल—इस दल के लोग फ्रेञ्च शासन का अन्त करने के लिये आतंकवादी उपायों का अवलम्बन करने के पक्षपाती थे और इन्डोचायना से बाहर कैन्टन को अपना आश्रय-स्थान बनाकर अपने कार्य में तत्पर थे।

महायुद्ध के समय ये सब दल अपने-अपने ढंग से इन्डोचायना की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील रहे। क्रान्तिकारी दल के लोग और विशेषतया कम्युनिस्ट लोग महायुद्ध को अपने देश की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये एक सुवर्णीय अवसर समझते थे और [illegible] श्री देकू की सरकार का प्रतिरोध करना प्रारम्भ कर दिया [illegible] गुप्त समितियां कायम कर ली थीं, जो फ्रेञ्च शासन और जापान के सैनिक प्रभुत्व का समान रूप से प्रतिरोध कर रही थीं। इन देशभक्त लोगों ने गुरीला युद्ध-नीति का अनुसरण कर फ्रांस और

जापान के अधिकारियों पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे और विदेशी सरकार के कार्य को कठिन बना दिया था। महायुद्ध के समय में इन लोगों के लिये यह तो सम्भव नहीं था, कि ये खुले मैदान में आकर स्पष्टरूप से फ्रांस या जापान की शक्ति का मुकाबला कर सकें, पर ये गुरीला पद्धति का अनुसरण कर अपने देश को स्वतन्त्र कराने में तत्पर थे।

वियत मिन्ह सरकार की स्थापना—मार्च, १९४५ में महायुद्ध की परिस्थिति ऐसी हो गई थी, कि जापान के लिये अपने विशाल साम्राज्य व प्रभावक्षेत्र को संभाल सकना सम्भव नहीं रहा था। जर्मनी देर तक मित्रराज्यों का मुकाबला करता रह सकेगा, इसकी कोई आशा नहीं रह गई थी। अगस्त, १९४४ में फ्रांस जर्मनी के आधिपत्य से स्वतन्त्र हो गया था, और जनरल द गॉल के नेतृत्व में फ्रांस की सरकार का पुनःसंगठन कर लिया गया था। मार्शल पेतां की विशी सरकार का पतन हो गया था और इन्डोचायना में श्री देकू की स्थिति बहुत डावांडोल हो गई थी। इस दशा में जब १९४५ में जापान ने अपनी सेनाओं को धीरे-धीरे दक्षिण-पूर्वी एशिया से हटाना शुरू किया, तो मार्च मास में इन्डोचायना से भी उसने अपनी सेनाएं वापस बुला लीं। जापान की सेनाओं के वापस चले जाने पर श्री देकू के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह इन्डोचायना में फ्रांस के प्रभुत्व को कायम रख सके। इस दशा में राष्ट्रवादी देशभक्तों ने इन्डोचायना की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, और वियत मिन्ह नाम से अपनी स्वतन्त्र सरकार का संगठन कर लिया। इस सरकार का नेता हो ची मिन्ह था, जो कट्टर राष्ट्रवादी होने के साथ-साथ कम्युनिज्म का माननेवाला था। हो ची मिन्ह के क्रान्तिकारी अनुयायी देर से इन्डोचायना की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थे और महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर गुरीला युद्ध-पद्धति का अनुसरण कर फ्रेञ्च आधिपत्य का प्रतिरोध करने में तत्पर थे। अगस्त, १९४५ में जब जापान ने आत्म-समर्पण कर दिया, तो हो ची मिन्ह और उसके क्रान्तिकारी अनुयायियों को अपनी मनोकामना की पूर्ति का सुअवसर मिला। उन्होंने अनाम के राजा या सम्राट् बाओ दाई की सत्ता की सर्वथा उपेक्षा कर इन्डोचायना में 'वियत नाम' नाम से रिपब्लिकन राज्य की घोषणा कर दी और अपने को फ्रेञ्च आधिपत्य से पूर्णरूप से मुक्त कर लिया। यहां यह ध्यान में रखना चाहिए, कि इन्डोचायना अनेक राज्यों व प्रदेशों में विभक्त था। इनमें से कम्बोडिया और अनाम में प्राचीन राजवंशों का शासन था। फ्रेञ्च आधिपत्य में कम्बोडिया और अनाम के राजाओं की वही स्थिति थी, जो भारत के ब्रिटिश शासकों की अधीनता में ग्वालियर, रामपुर

आदि रियासतों के राजाओं की थी। अनाम के राजा को 'सम्राट्' कहा जाता था, यद्यपि वह इन्डोचायना के फ्रेञ्च गवर्नर-जनरल के हाथों में कठपुतली मात्र था। इस समय अनाम का सम्राट् बाओ दाई था। पर जब हो ची मिन्ह के नेतृत्व में वियत नाम रिपब्लिक की स्थापना हो गई, तो सम्राट् बाओ दाई के लिये अपने पद को कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा। २५ अगस्त, १९४५ को बाओ दाई ने सम्राट् पद का परित्याग कर दिया और २ सितम्बर, १९४५ को वियत नाम रिपब्लिक का शासन सम्पूर्ण अनाम पर नियमित व व्यवस्थित रूप में कायम हो गया।

इन्डोचायना के सम्बन्ध में फ्रांस की नीति—पर फ्रांस के लिये यह सम्भव नहीं था, कि इन्डोचायना के अपने साम्राज्य को इस ढंग से अपनी अधीनता से मुक्त हो लेने दे। यद्यपि महायुद्ध के समय मित्रराज्य डंके की चोट के साथ यह उद्घोषित करते थे, कि वे मानव-स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के लिये नाजी व फैसिस्ट प्रवृत्तियों के साथ संघर्ष कर रहे हैं, पर महायुद्ध में विजयी होने के बाद उन्होंने अपने सिद्धान्तों और आदर्शों को ताक में रख दिया था। ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड और अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने खोये हुए साम्राज्य की पुनःस्थापना के लिये तत्पर थे। फ्रांस ने इन्डोचायना के सम्बन्ध में जिस नीति का निर्धारण किया था, उसके मुख्य तत्त्व निम्नलिखित थे—(१) फ्रांस के विशाल साम्राज्य को एक यूनियन के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, जिसमें फ्रांस के अतिरिक्त उसके अधीनस्थ देश भी अन्तर्गत हों। (२) इन्डोचायना इस फ्रेञ्च यूनियन का एक अंग हो। (३) इन्डोचायना के चार संरक्षित राज्यों और कोचीन चायना को मिलाकर एक संघ (फिडरेशन) बनाया जाय और इस फिडरेशन में राजकीय पदों को प्राप्त करने का इन्डोचायना के सब नागरिकों को समान रूप से अवसर प्रदान किया जाय। (४) इन्डोचायनीज फिडरेशन की परराष्ट्र-नीति और सेना का सञ्चालन फ्रेञ्च सरकार के हाथों में रहे। राज्य के आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में इन्डोचायनीज फिडरेशन को स्वतन्त्रता प्राप्त रहे। (५) फ्रेंच यूनियन में सर्वत्र सरकारी नौकरी प्राप्त करने का यूनियन के सब नागरिकों को समान रूप से अवसर हो।

फ्रेञ्च यूनियन की यह योजना ब्रिटिश कामनवेल्थ की योजना से अनेक अंशों में मिलती है। महायुद्ध के बाद फ्रांस के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह इन्डोचायना आदि साम्राज्यान्तर्गत देशों पर पहले के समान अपना आधिपत्य स्थापित रख सके। अतः उसने फ्रेञ्च यूनियन की योजना तैयार की थी, जिसके द्वारा

इण्डोचायना आदि देशोंको अपने आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती थी। पर विदेशी मामलों और सेना पर उनका नियन्त्रण नहीं होता था। यह सम्भव नहीं था, कि इन्डोचायना के राष्ट्रवादी नेता फ्रेञ्च यूनियन की योजना को स्वीकृत कर सकते। वे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। उनमें राष्ट्रीय स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद की भावना इस हद तक उत्पन्न हो चुकी थी, कि वे फ्रांस के आधिपत्य को आंशिक रूप में भी स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थे।

फ्रांस के आधिपत्य की पुनःस्थापना—मार्च, १९४५ में जापानी सेनाएँ इन्डोचायना को छोड़कर चली गई थीं। यदि इसके बाद फ्रेञ्च सेनाएँ अच्छी बड़ी संख्या में तुरन्त इन्डोचायना पहुंच जातीं, तब फ्रांस के लिये यह सम्भव होता, कि वह एक बार फिर इस देश पर पहले के समान अपने आधिपत्य को स्थापित कर सकता। पर अभी महायुद्ध की परिस्थितियां ऐसी नहीं थीं, कि फ्रेञ्च सेनाएँ अच्छी बड़ी संख्या में सुदूर पूर्व में पहुंच सकतीं। अगस्त, १९४५ में जापान के आत्मसमर्पण कर देने पर इन्डोचायना पर अधिकार स्थापित करने का कार्य मित्रराज्यों की ओर से ब्रिटेन और चीन के सुपुर्द किया गया। यह व्यवस्था की गई, कि ब्रिटिश सेनाएँ दक्षिणी इन्डोचायना पर और चीनी सेनाएँ उत्तरी इन्डोचायना पर कब्जा करें, ताकि सर्वत्र व्यवस्था स्थापित की जा सके। पर मार्च और अगस्त के बीच के महीनों में इन्डोचायना में कोई भी ऐसी राजशक्ति नहीं थी, जो हो ची मिन्ह की विएत नाम सरकार का मुकाबला कर सकती। परिणाम यह हुआ, कि इस काल में हो ची मिन्ह के दल ने अनाम में अपनी स्थिति को बहुत मजबूत कर लिया। अगस्त, १९४५ तक न केवल अनाम अपितु तोन्किन और कोचीन चायना भी हो ची मिन्ह की अधीनता में आ गये थे।

ब्रिटिश सेनाओं ने सबसे पूर्व सैगोन पर अपना कब्जा कायम किया। इससे पूर्व सैगोन विएत नाम सरकार के अधीन था। ब्रिटिश सेनाओं ने सैगोन पर तो अपना अधिकार कायम कर लिया था, पर उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे इण्डोचायना में और अधिक आगे बढ़ सकें, क्योंकि विएत नाम सरकार की सेनाएँ उनका मुकाबला करने के लिये तत्पर थीं। ब्रिटिश सेनाओं ने इसके लिये विशेष प्रयत्न भी नहीं किया। सैगोन को अपने कब्जे में करके उन्होंने उसे फ्रांस के सुपुर्द कर दिया और अब सम्पूर्ण इन्डोचायना पर अपने प्रभुत्व की पुनःस्थापना का कार्य फ्रांस की सेनाओं के हाथों में आ गया। १९४६ के शुरू तक फ्रेञ्च सेनाएं अच्छी बड़ी संख्या में सैगोन पहुंच गई थीं और फ्रेञ्च सरकार स्वाभाविक रूप से इस प्रयत्न में लगी थी, कि इन्डोचायना पर फिर से अपने आधिपत्य को स्था-

पित कर ले। फ्रेञ्च लोगों ने यत्न किया, कि विएत नाम सरकार के नेताओं को फ्रेञ्च यूनियन की योजना को स्वीकृत कर लेने के लिये तैयार कर लें। पर अपने इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं हुई। अब फ्रांस के सम्मुख केवल यही मार्ग अवशिष्ट था, कि वह विएत नाम सरकार को युद्ध द्वारा परास्त करे।

विएत नाम और फ्रांस—उत्तरी इन्डोचायना में जापान के प्रभाव का अन्त कर व्यवस्था स्थापित करने का कार्य चीनी सरकार के सुपुर्द किया गया था। चीनी लोगों ने यह यत्न नहीं किया, कि विएत नाम सरकार के खिलाफ संघर्ष करें या उसके शासन-कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करें। अतः उत्तरी इन्डोचायना में विएत नाम सरकार की सत्ता अक्षुण्ण रूप से कायम रही। पर फ्रांस इस बात के लिये उत्सुक था, कि जिस प्रकार सैगोन में उसकी सेनाएँ प्रविष्ट हुई हैं, वैसे ही उत्तरी इन्डोचायना में भी वे प्रविष्ट हो जावें और चीनी सेनाओं का स्थान फ्रेञ्च सेनाएँ ले लें। पर यह बात तभी सम्भव थी, जब कि या तो फ्रांस विएत नाम सरकार के साथ युद्ध करे और या किसी प्रकार समझौते द्वारा विएत नाम सरकार को इसके लिये राजी कर ले। ६ मार्च, १९४६ को फ्रांस ने विएत नाम सरकार के साथ एक समझौता किया, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) फ्रांस यह स्वीकार करता है, कि विएत नाम रिपब्लिक की स्थिति एक स्वतन्त्र राज्य की है, और उसे यह अधिकार है, कि वह अपनी पृथक् सरकार, पृथक् पार्लियामेन्ट और पृथक् सेना रख सके। (२) विएत नाम रिपब्लिक इन्डोचायनीज फिडरेशन के अन्तर्गत रहेगी और इन्डोचायनीज -फिडरेशन फ्रेञ्च यूनियन का अंग बनकर रहेगा। (३) विएत नाम रिपब्लिक का शासन किन-किन प्रदेशों में हो, यह बात लोकमत (रिफरेन्डम) द्वारा निश्चित की जायगी। (४) फ्रेञ्च सेनाएँ तोन्किन में प्रवेश कर सकेंगी। (५) इस समझौते के बाद जब फ्रांस और विएत नाम रिपब्लिक के पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हो जावें, तो परस्पर बातचीत द्वारा यह बात तय की जाय, कि विएत नाम का अन्य विदेशी राज्यों के साथ क्या और किस प्रकार का सम्बन्ध रहे।

६ मार्च, १९४६ का यह समझौता हनोई समझौते के नाम से प्रसिद्ध है, और इन्डोचायना के आधुनिक इतिहास में इसका बहुत अधिक महत्त्व है। यद्यपि विएत नाम सरकार के नेता पूर्ण स्वाधीनता चाहते थे और अपने देश पर किसी भी प्रकार के फ्रेंच प्रभुत्व को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थे, पर समय की परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर उन्होंने यही उचित समझा, कि वे फ्रांस के साथ समझौता कर लें, और फ्रेञ्च यूनियन के अन्तर्गत रहते हुए अपने देश की उन्नति के लिये

प्रयत्नशील हों। हनोई समझौते के परिणामस्वरूप फ्रेञ्च सेनाएं तोन्किन में प्रविष्ट हो गईं और हनोई नगर में उन्होंने अपनी छावनी डाल दी। अब दक्षिण में सैगोन में और उत्तर में हनोई में फ्रेञ्च सेनाओं ने अपना कब्जा कर लिया था, पर इनके बीच का सब प्रदेश वियत नाम सरकार के शासन में था।

पर ६ मार्च, १९४६ का यह समझौता देर तक कायम नहीं रह सका। जिन प्रश्नों पर फ्रेञ्च और वियत नाम सरकारों में परस्पर मतभेद उत्पन्न हुआ, वे निम्नलिखित थे——(१) सैगोन में फ्रेंच सेनाओं की सत्ता के कारण फ्रांस ने कोचीन चायना में एक पृथक् सरकार की स्थापना कर दी थी, जो वियत नाम रिपब्लिक की अधीनता में नहीं थी। कोचीन चायना वियत नाम रिपब्लिक के अन्तर्गत हो या नहीं, इस प्रश्न का निर्णय रिफरेन्डम द्वारा किया जाना चाहिये था। पर फ्रांस ने अपनी सैन्यशक्ति के जोर पर इस प्रदेश में पृथक् सरकार का निर्माण कर लिया था, जिसको वियत नाम सरकार स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थी। (२) फ्रेञ्च लोग समझते थे, कि इन्डोचायना में जिस फिडरेशन का निर्माण किया जाना है, उसका अध्यक्ष फ्रांस द्वारा नियुक्त हाई कमिश्नर होगा, जो कि फिडरेशन के अन्तर्गत सब राज्यों पर अपना नियन्त्रण रखेगा। इसके विपरीत वियत नाम रिपब्लिक के नेताओं का यह विचार था, कि इन्डोचायनीज फिडरेशन के अन्तर्गत सब राज्यों की स्थिति स्वतन्त्र राज्यों के सदृश होगी और वे केवल आर्थिक क्षेत्र में सहयोग करने के उद्देश्य से ही फिडरेशन में सम्मिलित होंगे।

इन मतभेदों को दूर करने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये। १९४६ में कई बार फ्रांस और वियत नाम रिपब्लिक के प्रतिनिधियों की सम्मिलित कान्फरेन्सें हुईं। पर ये मतभेद दूर नहीं हो सके। परिणाम यह हुआ, कि हनोई समझौता भंग हो गया और फ्रांस और वियत नाम रिपब्लिक में युद्ध प्रारम्भ हो गया। वियत नाम सरकार के नेताओं की सैन्यशक्ति इतनी नहीं थी, कि वे फ्रेञ्च सेनाओं का सम्मुख-युद्ध में मुकाबला कर सकते। १९४६ में बहुत सी फ्रेंच सेनाएं सैगोन और हनोई में पहुंच गई थीं। इन सेनाओं को परास्त कर सम्पूर्ण तोन्किन, अनाम और कोचीन चायना में अपने प्रभुत्व की स्थापना कर सकना वियत नाम सरकार के लिये सुगम नहीं था। पर वियत नाम में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना इतनी अधिक प्रबल थी, कि फ्रांस के लिये भी उसको दबा सकना सम्भव नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि हो ची मिन्ह और उसके साथियों ने गुरीला युद्ध-नीति का आश्रय लिया और फ्रेंच सेनाओं के कार्य को बहुत अधिक कठिन बना दिया। फ्रांस और वियत नाम रिपब्लिक का यह युद्ध दिसम्बर, १९४६ में शुरू हो गया था।

बाओ दाई की सरकार—हो ची मिन्ह के साथ युद्ध शुरू हो जाने पर फ्रेन्च सरकार ने यह आवश्यक समझा, कि इन्डोचायना में एक ऐसी सरकार कायम की जाय, जो उसके हाथ की कठपुतली हो। महायुद्ध के बाद संसार में सर्वत्र राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियां जिस ढंग से प्रबल हो गई थीं, उसके कारण फ्रांस के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह इन्डोचायना पर पहले के समान अपना शासन स्थापित कर सके। अतः उसने यह निश्चय किया, कि इन्डोचायना में एक ऐसी सरकार कायम कर दी जाय, जो कम्युनिज्म की विरोधी हो और जो फ्रांस के आदेशों का अनुसरण करती हुई हो ची मिन्ह के विरुद्ध युद्ध जारी करने का कार्य कर सके। हम इसी प्रकरण में ऊपर लिख चुके हैं, कि २५ अगस्त, १९४५ को अनाम के सम्राट् बाओ दाई ने अपने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया था, क्योंकि विएत नाम रिपब्लिक की स्थापना हो जाने के कारण उसके लिये अपने पद पर रह सकना सम्भव नहीं रहा था। इन्डोचायना छोड़कर यह बाओ दाई यूरोप चला गया था, और लण्डन में अपना समय बिता रहा था। दिसम्बर, १९४७ में ब्रिटेन में स्थित फ्रेन्च राजदूत की बाओ दाई के साथ मुलाकात हुई। वहां उसके सम्मुख यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया, कि वह अपने देश को वापस जाकर उसके शासन को फिर से संभाल ले। इन्डोचायना में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो हो ची मिन्ह की समाजवादी प्रवृत्तियों के विरोधी थे। फ्रांस को आशा थी, कि ये सब कम्युनिस्ट-विरोधी लोग बाओ दाई का समर्थन करेंगे और उनकी सहायता से बाओ दाई एक ऐसी सरकार का निर्माण कर सकने में समर्थ हो सकेगा, जो विएत मिन्ह दल की विरोधी होगी। फ्रेन्च सेनाओं की सहायता से बाओ दाई की सरकार विएत नाम रिपब्लिक को परास्त कर सकेगी और इन्डोचायना में एक ऐसा शासन स्थापित हो जायगा, जो न केवल कम्युनिज्म का विरोधी होगा, अपितु साथ ही फ्रांस का वशवर्ती भी होगा।

मार्च, १९४९ में फ्रांस के राष्ट्रपति श्री आरयोल और बाओ दाई में इन्डो-चायना के सम्बन्ध में बाकायदा सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार इन्डो-चायना का शासन-अधिकार फ्रांस ने बाओ दाई के सुपुर्द कर दिया। यद्यपि बाओ दाई फ्रांस की तरफ से इन्डोचायना का शासक बना दिया गया था, पर इस देश के बड़े भाग पर हो ची मिन्ह की सरकार का कब्जा था। बाओ दाई इन्डोचायना पर अपना प्रभुत्व तभी स्थापित कर सकता था, जब कि वह विएत नाम रिपब्लिक की सेनाओं को युद्ध में परास्त करे। पर इस कार्य में फ्रांस उसकी सहायता करने के लिये उद्यत था। एक लाख से भी अधिक फ्रेन्च सैनिक बाओ दाई की सहायता के

लिये इन्डोचायना भेज दिये गये। ये सैनिक सब प्रकार के आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे और हो ची मिन्ह की सरकार के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह उनका सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकती। परिणाम यह हुआ, कि हो ची मिन्ह और बाओ दाई की सेनाओं में बाकायदा युद्ध प्रारम्भ हो गया। रूस, कम्युनिस्ट चीन आदि अनेक देशों ने हो ची मिन्ह की सरकार को इन्डोचायना की वैध सरकार के रूप में स्वीकृत किया और अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन आदि ने बाओ दाई की सरकार को। शुरू में हो ची मिन्ह की विएत नाम सरकार पूर्णरूप से कम्युनिस्ट नहीं थी। उसका उद्देश्य इन्डोचायना में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना करना था। पर फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका आदि के विरोध के कारण और बाओ दाई के नेतृत्व में एक विरोधी सरकार की स्थापना हो जाने से इन्डोचायना में जो लोग कम्युनिज्म के पक्षपाती थे, वे हो ची मिन्ह की सरकार का समर्थन करने लगे और कम्युनिज्म के विरोधी इन्डोचाइनीज लोग बाओ दाई की सरकार के पक्ष में हो गये। इस प्रकार इन्डोचायना में कम्युनिज्म और पूंजीवादी प्रवृत्तियों में परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हुआ, जो इस समय संसार के बहुत से देशों में जारी है।

बासठवां अध्याय

वर्तमान यूरोप

१. फ्रांस में चतुर्थ रिपब्लिक का शासन

आजाद फ्रेञ्च सरकार—विश्व-संग्राम के समय में जब फ्रांस पर जर्मनी का कब्जा था, तो जनरल द गॉल व उनके साथी आजाद फ्रेंच सरकार का निर्माण कर शत्रु के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थे। पेरिस पर जर्मनों का कब्जा हो जाने के बाद मार्शल पेतां और श्री लवाल ने नाजियों के साथ समझौता कर लिया था, और विशी में जर्मन संरक्षा में फ्रेंच सरकार की स्थापना की थी। पर जनरल द गॉल और उनके साथी इस सरकार को स्वीकृत नहीं करते थे। उन्होंने फ्रांस के स्वातन्त्र्य-युद्ध को जारी रखने के लिये 'राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-समिति' का निर्माण किया। जून, १९४४ में इस समिति ने अपने को 'आजाद फ्रेंच रिपब्लिक की सामयिक सरकार' के रूप में परिवर्तित कर लिया। इस सरकार का प्रधान केन्द्र पहले उत्तरी अफ्रीका में रहा, पर जब सितम्बर, १९४४ में पेरिस जर्मनों के कब्जे से मुक्त हुआ, तो यह सरकार अफ्रीका से पेरिस को चली गई। इस सरकार का प्रमुख जनरल द गॉल था। उसे परामर्श देने के लिये एक 'सामयिक परामर्श-सभा' का भी संगठन किया गया था। इसके अधिवेशन बाकायदा होते थे। द गॉल के पेरिस चले जाने पर यह परामर्श-सभा भी पेरिस चली गई। अगस्त, १९४५ तक इसके अधिवेशन नियम-पूर्वक होते रहे।

संविधान-परिषद्—जर्मनी की अधीनता से मुक्त हुए स्वतन्त्र फ्रांस के नये शासन-विधान का क्या स्वरूप हो, इस पर विचार करने के लिये एक संविधान परिषद् की व्यवस्था की गई। अक्टूबर, १९४५ में संविधान-परिषद् का चुनाव हुआ। इसके लिये सब बालिग स्त्री-पुरुषों को वोट का अधिकार दिया गया था। यह पहला अवसर था, जब फ्रांस में स्त्रियों को भी वोट देने का अवसर मिला था। संविधान-परिषद् के कुल ५८६ सदस्य थे। इनमें से ५२२ फ्रांस से और ६४ फ्रेंच साम्राज्य के विविध देशों से निर्वाचित हुए थे। संविधान-परिषद् के सदस्यों

में वामपक्ष के प्रतिनिधियों की बहुसंख्या थी। विश्व-संग्राम के समय में फ्रांस में कम्युनिस्टों व सोशलिस्टों का जोर बहुत बढ़ गया था। इसीलिये १९४५ में निर्वाचित संविधान-परिषद् में इन दलों के सदस्य बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए थे। प्रमुख दलों के सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी---कम्युनिस्ट १५१, लोकप्रिय रिपब्लिकन दल १५०, सोशलिस्ट १३९। लोकप्रिय रिपब्लिकन दल का फ्रेंच नाम 'मूवमां रिपब्लिकें पोपुलेअर' है, इसीलिये इसे संक्षेप से एम० आर० पी० भी कहते हैं। यह दल वामपक्षी है, और लोकतन्त्रवाद को कायम रखते हुए सर्वसाधारण जनता की आर्थिक उन्नति और विषमता को दूर करने का समर्थक है।

अक्टूबर, १९४५ में निर्वाचित हुई संविधान-परिषद् को ये कार्य सुपुर्द किये गये थे--राष्ट्रपति को निर्वाचित करना, उसके द्वारा नियुक्त मन्त्रिमण्डल को स्वीकृत करना, देश के लिये नये शासन-विधान को तैयार करना और शासन के लिये जिन नये कानूनों का निर्माण आवश्यक हो, उन्हें बनाना। यह भी निश्चित कर दिया गया था, कि शासन-विधान को बनाने में सात मास से अधिक समय न लगाया जाय। नवम्बर, १९४५ में संविधानपरिषद् का अधिवेशन शुरू हुआ। जनरल द गॉल सामयिक सरकार के प्रधान नियुक्त किये गये। जनवरी, १९४६ में द गॉल ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया, तब उसकी जगह पर संविधान-परिषद् ने श्री फैलिक्स गुआं को निर्वाचित किया। संविधान-परिषद् का द गॉल से मुख्य मतभेद इस बात पर था, कि नये शासन-विधान में राष्ट्रपति की क्या स्थिति हो। द गॉल का विचार था, कि फ्रांस का राष्ट्रपति अमेरिकन राष्ट्रपति के समान शासन का वास्तविक संचालक होना चाहिये। १९४४ से १९४५ तक द गॉल स्वयं इसी प्रकार के राष्ट्रपति थे। शासन के सब अधिकार उन्हीं के हाथों में केन्द्रित थे। पर फ्रेंच जनता और विशेषतया वामपक्षी दलों के नेता यह पसन्द नहीं करते थे। उन्हें यह स्मरण था, कि फ्रांस की दूसरी रिपब्लिक के समय में लुई नैपोलियन पहले राष्ट्रपति पद पर ही निर्वाचित हुआ था, पर राष्ट्रपति के रूप में अत्यधिक शक्ति रखने के कारण बाद में वह सम्राट् पद पर पहुंच गया था। १७८९ की पहली फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद नैपोलियन बोनापार्ट ने भी इसी प्रकार से सब शक्ति अपने हाथों में कर ली थी। इसी कारण १८७१ में जब तृतीय फ्रेंच रिपब्लिक की स्थापना हुई, तो देश के नये शासन-विधान में राष्ट्रपति को ब्रिटेन के राजा के समान वास्तविक शासन-शक्ति से वंचित रखा गया था, और शासन-सूत्र का असली संचालक प्रधान मन्त्री को बनाया गया था, जो अपने सब कार्यों के लिये पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी रहता है। १९४६ में फ्रेंच संविधान-परिषद् के सदस्य इसी प्रकार

की शासन-प्रणाली के पक्षपाती थे, वे पार्लियामेण्ट्री शासन-प्रणाली या 'गूवर्नमां दासाम्ब्ले' को फ्रांस में स्थापित करना चाहते थे। इसीलिये जनरल द गॉल की उनसे नहीं बनी, और स्वातन्त्र्य-संग्राम का यह वीर सेनापति देश को स्वतन्त्र कराने के बाद उसके शासन-सूत्र का स्वयं संचालन नहीं कर सका। इस समय उसका प्रयत्न यही था, कि संविधान-परिषद् जो नया शासन-विधान तैयार कर रही है, उसके विरुद्ध आन्दोलन करे और सर्वसाधारण जनता के समक्ष जब वह लोकमत के लिये उपस्थित किया जाय, तो वे उसे स्वीकृत न करें।

संविधान-परिषद् द्वारा तैयार किये गये शासन-विधान को मई, १९४६ में लोकमत के लिये जनता के सम्मुख पेश किया गया। पर लोकमत द्वारा वह स्वीकृत नहीं हो सका। कारण यह, कि जनरल द गॉल इसका घोर विरोध कर रहा था, और जनता में इस वीर के लिये अभी अपार श्रद्धा थी। साथ ही, यह शासन-विधान बहुत कुछ कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुकूल बनाया गया था। इसमें फ्रेञ्च पार्लियामेण्ट में केवल एक सभा रखी गई थी, और मन्त्रिमण्डल को इस सभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया था। द गॉल तो इसका विरोधी था ही, फ्रांस के अन्य लोकसत्तावादी दल भी इसके पक्षपाती नहीं थे, क्योंकि वे इसमें और तृतीय रिपब्लिक के शासन-विधान में भेद अनुभव करते थे। इस समय फ्रांस का लोकमत ऐसे शासन-विधान को चाहता था, जो तृतीय रिपब्लिक (१८७१ से १९४१ तक) के अधिकतम समीप हो। जर्मनी द्वारा फ्रांस के जिस लोकसत्तात्मक शासन को सामयिक रूप से कुचल दिया गया था, जनता के हृदय में उसके प्रति बहुत आदर का भाव था।

अब जून, १९४६ में दूसरी संविधान-परिषद् का चुनाव हुआ। इसमें एम० आर० पी० दल के १६३, कम्युनिस्ट दल के १५० और सोशलिस्ट दल के १२८ सदस्य निर्वाचित हुए। इसने जो नया शासन-विधान तैयार किया, उसे अक्टूबर, १९४६ में लोकमत के लिये पेश किया गया। जनरल द गॉल ने इस बार भी शासन-विधान का विरोध किया। पर द्वितीय संविधान-परिषद् द्वारा तैयार किया गया यह शासन-विधान तृतीय फ्रेंच रिपब्लिक के शासन-विधान से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। ५३॥ फीसदी वोटों से जनता ने इसे स्वीकृत कर दिया।

नया शासन-विधान—फ्रांस की चतुर्थ रिपब्लिक में शासन की शक्ति पार्लियामेण्ट में निहित है। पार्लियामेण्ट में दो सभाएं हैं—नेशनल एसेम्बली और कौंसिल। नेशनल एसेम्बली के लिये प्रतिनिधि चुनने का अधिकार सब बालिग पुरुषों व स्त्रियों को दिया गया है। देश को अनेक निर्वाचक-मण्डलों में विभक्त कर उनसे

नेशनल एसेम्बली के लिये प्रतिनिधि निर्वाचित किये जाते हैं। कौंसिल के सदस्यों का चुनाव जनता सीधा नहीं करती। इसका चुनाव विविध नगरों व प्रदेशों की स्थानीय कौंसिलों द्वारा होता है। जब नेशनल एसेम्बली और कौंसिल के सदस्य मिलकर एक सभा में एकत्र होते हैं, तो उसे पार्लियामेण्ट कहते हैं। यह पार्लियामेण्ट ही बहुमत से फ्रेंच राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। राष्ट्रपति का चुनाव सात साल के लिये होता है। राष्ट्रपति को ही यह अधिकार दिया गया है, कि वह मन्त्रि-परिषद् के अध्यक्ष को मनोनीत करे। फ्रांस में मन्त्रिपरिषद् के अध्यक्ष की वही स्थिति है, जो ब्रिटेन या भारत में प्रधान मन्त्री की है। यह अध्यक्ष अपने सहकारी मन्त्रियों को नियत करता है। पर अध्यक्ष व मन्त्री तब तक अपने पदों पर अधिष्ठित नहीं हो सकते, जब तक कि नेशनल एसेम्बली में वे अपने पक्ष में विश्वास का प्रस्ताव बहुमत द्वारा स्वीकार न करा लें। इसलिये फ्रांस में यह व्यवस्था की गई है, कि जब राष्ट्रपति किसी व्यक्ति को मन्त्रिपरिषद् का अध्यक्ष पद ग्रहण करने के लिये आमन्त्रित करता है, तो वह व्यक्ति नेशनल एसेम्बली के सम्मुख जाकर यह बताता है, कि अध्यक्ष बन जाने पर वह किस नीति व कार्यक्रम का अनुसरण करेगा और उसकी मन्त्रिपरिषद् में अन्य मन्त्री कौन होंगे। यदि नेशनल एसेम्बली के बहु-संख्यक सदस्य इस व्यक्ति के प्रति विश्वास का प्रस्ताव स्वीकार कर लें, तो वह मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष नियुक्त हो जाता है। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि अध्यक्ष बनने के लिये नेशनल एसेम्बली के अधिवेशन में उपस्थित सदस्यों की बहु-संख्या का अनुकूल होना ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिये यह भी आवश्यक है, कि नेशनल एसेम्बली के कुल मिलाकर जितने सदस्य हों, उनकी बहुसंख्या विश्वास के प्रस्ताव के पक्ष में अपना वोट दें। वर्तमान समय में तब तक कोई व्यक्ति फ्रांस में अपनी मन्त्रिपरिषद् नहीं बना सकता, जब तक कि नेशनल एसेम्बली के कम से कम ३०३ वोट वह अपने पक्ष में प्राप्त न कर ले।

मन्त्रिपरिषद् तीन प्रकार से अपने पद से पृथक् हो सकती है—(१) त्याग-पत्र देकर, (२) विश्वास के प्रस्ताव के अस्वीकृत होने पर, और (३) अविश्वास के प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने पर। मन्त्रिपरिषद् का अध्यक्ष स्वयं त्याग-पत्र दे सकता है। उसके त्याग पत्र दे देने पर अन्य मन्त्रियों का भी त्याग-पत्र साथ ही समझ लिया जाता है। विश्वास का प्रस्ताव पेश करने का अधिकार केवल 'अध्यक्ष' को है। अविश्वास का प्रस्ताव कोई भी सदस्य पेश कर सकता है। पर इन प्रस्तावों के स्वीकृत होने के लिये एसेम्बली के कुल सदस्यों की (केवल उपस्थित सदस्यों की ही नहीं) बहुसंख्या का पक्ष में होना अनिवार्य है।

नये शासन-विधान में यह भी व्यवस्था की गई है, कि पार्लियामेण्ट के चुनाव के बाद उसे तभी बर्खास्त किया जा सकता है, जब कि चुनाव को हुए अठारह महीने बीत चुके हों, और इस बीच में कम से कम दो बार मन्त्रिपरिषद् का पुनःसंगठन इस कारण से हुआ हो, कि उसके खिलाफ अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था, या विश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हो सका था। यह व्यवस्था इसलिये की गई है, कि बार-बार चुनाव की आवश्यकता न हो और पार्लियामेण्ट में स्थिरता रहे। नेशनल एसेम्बली का पहला चुनाव १९४६ में हुआ था।

फ्रांस में मन्त्रिपरिषद पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी होती है। वह अपने पद पर तभी तक रह सकती है, जब तक कि एसेम्बली की बहुसंख्या उसके अनुकूल रहे।

फ्रांस के प्रमुख राजनीतिक दल—चतुर्थ रिपब्लिक के नये शासन-विधान के पक्ष में जब जनता से लोकमत लिया गया था, तो उसके पक्ष में केवल ५४ फी सदी मत आये थे। १९४६ में फ्रांस में मतदाताओं की कुल संख्या २,४५,६९,०३६ थी। इनमें से १,६७,९३,१४३ मतदाताओं ने अपने मत के अधिकार को प्रयुक्त किया था। नये शासन-विधान के पक्ष में कुल ९,००२,२८७ मत आये थे। शेष ७७,९०,८५६ मतदाताओं ने शासन-विधान के खिलाफ अपना मत दिया था। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है, कि फ्रांस की जनता का अच्छा बड़ा भाग नये शासन-विधान के पक्ष में नहीं है। जो लोग नये शासन-विधान के पक्ष में नहीं थे, उन्हें स्थूल रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है—

(१) जनरल द गॉल के अनुयायी—फ्रांस की जनता द गॉल को बहुत आदर की दृष्टि से देखती है। जर्मन सेनाओं को परास्त कर फ्रांस को फिर से स्वतन्त्र कराने का मुख्य श्रेय जनरल द गॉल को ही प्राप्त है। पर राजनीतिक विचारों की दृष्टि से फ्रेंच जनता द गॉल की अनुयायी नहीं है। कारण यह कि द गॉल फ्रांस में शासन की उस पद्धति को प्रचलित करना चाहते थे, जिसे अंग्रेजी में 'प्रेजिडेन्शल सिस्टम' कहते हैं, जिसके अनुसार शासन-विभाग का असली संचालक राष्ट्रपति (प्रेजिडेन्ट) होता है, और उसकी सत्ता पार्लियामेण्ट के बहुमत के अनुकूल होने पर निर्भर नहीं रहती। जनल द गॉल की यह इच्छा थी, कि अमेरिका के समान फ्रांस में भी सर्वसाधारण मतदाता सीधे राष्ट्रपति का निर्वाचन करें, यह राष्ट्रपति शासन-सूत्र का संचालन करे, स्वयं अपने सचिवों को नियुक्त करे और पार्लियामेण्ट का इसके कार्यों पर विशेष नियन्त्रण न रहे। पर फ्रेंच लोग इस प्रणाली का कटु फल अनेक बार चख चुके थे। पहली और दूसरी फ्रेंच रिपब्लिक में नैपो-

लियन बोनापार्ट और लुई नैपोलियन इसी प्रणाली के कारण रिपब्लिक का अन्त करके सम्राट् बनने में समर्थ हुए थे। अनेक फ्रेंच लोगों को यह भय था, कि जनरल द गॉल जैसा लोकप्रिय वीर नेता सीधा जनता द्वारा राष्ट्रपति निर्वाचित होकर और सम्पूर्ण शासन-शक्ति को अपने हाथ में लेकर फ्रेंच लोकतन्त्रवाद के लिये हानिकारक सिद्ध हो सकता है। इसीलिये उन्होंने नये शासन-विधान में प्रेजिडेन्शल सिस्टम को स्वीकार न करके 'गूवर्नमां दासाम्ब्ले' या 'पार्लियामेण्टरी सिस्टम' का अनुसरण किया था। जनरल द गॉल व उनके अनुयायी इस बात से असन्तुष्ट थे, और इसीलिये उनके मत नये शासन-विधान के पक्ष में प्राप्त नहीं हुए।

(२) कम्युनिस्ट लोग भी विधान-परिषद् द्वारा तैयार किये गये नये शासन-विधान को पसन्द नहीं करते थे। उनका विचार यह था, कि फ्रांस में सोवियत रूस के समान सोवियत प्रणाली पर आश्रित शासन की स्थापना होनी चाहिये। विश्व-संग्राम के दिनों में फ्रेंच कम्युनिस्टों की शक्ति व प्रभाव बहुत बढ़ गये थे। युद्ध में रूस जर्मनी के खिलाफ लड़ रहा था। अतः फ्रेंच कम्युनिस्ट भी जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में विशेष तत्परता प्रदर्शित कर रहे थे। मार्शल पेतां और प्यी लवाल की नीति से उन्हें बहुत विरोध था। इसीलिये उन्होंने जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस के स्वतन्त्रता-संग्राम में पूरा हाथ बटाया और इसके कारण उनके प्रभाव व राजनीतिक शक्ति में बहुत कुछ वृद्धि हो गई। फ्रांस के स्वतन्त्र हो जाने पर अब कम्युनिस्टों की यह स्वाभाविक इच्छा थी, कि अपने देश में भी समाजवादी विचारों के अनुसार समाज व सरकार का संगठन हो। इसलिये लोकतन्त्रवाद के पुराने विचारों के अनुसार बनाया गया चतुर्थ रिपब्लिक का नया शासन-विधान उन्हें बहुत पसन्द न था।

फ्रांस में इस समय जो विविध राजनीतिक दल विद्यमान हैं, उनमें कम्युनिस्ट और गॉलिस्ट (द गॉल के अनुयायी) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १९४६ के चुनाव में नेशनल एसेम्बली में कम्युनिस्ट लोग अपने सबसे अधिक प्रतिनिधि भेजने में समर्थ रहे। इनकी संख्या १८२ थी। अन्य किसी दल के भी इतने प्रतिनिधि एसेम्बली में नहीं थे। १९४६ के निर्वाचन में गॉलिस्ट दल को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसका प्रधान कारण यह था, कि जनरल द गॉल को पार्लियामेण्टरी सिस्टम में विश्वास नहीं था, और इसीलिये उन्होंने चुनाव में विशेष तत्परता से भाग नहीं लिया था। पर बाद में उन्होंने अपने दल को भली भांति संगठित किया। यही कारण है, कि १९४७-४८ में जब फ्रांस की म्युनिसिपैलिटियों व प्रादेशिक कौंसिलों का चुनाव हुआ, तो गॉलिस्ट दल को

बहुत सफलता मिली। उनके उम्मीदवार भारी संख्या में निर्वाचित होने में समर्थ हुए। गॉलिस्ट लोग यह आशा रखते हैं, कि नेशनल एसेम्बली के अगले चुनाव में वे अपनी शक्ति को अच्छी तरह बढ़ाने में अवश्य समर्थ हो सकेंगे।

कम्युनिस्ट और गॉलिस्ट दलों के अतिरिक्त फ्रांस में अन्य अनेक दल हैं, जो गूवर्नमां दासाम्ब्ले (पार्लियामेण्टरी सिस्टम) में विश्वास रखते हैं, और चतुर्थ रिपब्लिक के शासन-विधान को सफल बनाने के लिये उत्सुक हैं। ये दल निम्नलिखित हैं---

(१) रैडिकल सोशलिस्ट---यह दल कम्युनिस्टों के बाद १९४६ में निर्वाचित एसेम्बली में सबसे अधिक संख्या में था। इसके सदस्य पेरिस के अतिरिक्त प्रायः अन्य फ्रेंच नगरों व प्रदेशों से निर्वाचित हुए थे। इनका झुकाव साम्यवाद की तरफ अधिक नहीं है। ये व्यवसाय और व्यापार में व्यक्तियों के स्वामित्व और स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के अनुयायी हैं।

(२) एम० आर० पी० दल (मूवमां रिपब्लिकैं पोपूलेअर) या रिपब्लिक का पक्षपाती जन-आन्दोलन दल---इस दल के अनुयायी रिपब्लिक शासन में अगाध श्रद्धा रखते हैं, और साम्यवाद की तरफ अधिक झुकाव नहीं रखते। इसमें मजदूर श्रेणी के वे लोग अधिक हैं, जो कम्युनिस्टों के प्रभाव में नहीं हैं।

(३) सोशलिस्ट दल---ये पुराने ढंग के साम्यवादी हैं, जो अब कम्युनिस्टों की दृष्टि में साम्यवाद के आदर्श से हटकर शिक्षित मध्य श्रेणी या बूर्जुआजी के हित-सम्पादन में लग गये हैं।

इन तीन दलों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक छोटे-छोटे दल व ग्रुप फ्रांस की नेशनल एसेम्बली में विद्यमान हैं, जो चतुर्थ रिपब्लिक की सत्ता व शासन-विधान की स्थिरता में विश्वास करते हैं। पर इङ्गलैण्ड की लेबर व कन्जर्वेटिव पार्टियों के समान फ्रांस में कोई दल ऐसा नहीं है, जो नेशनल एसेम्बली में बहुसंख्या रखता हो या भविष्य में बहुसंख्या प्राप्त कर लेने की आशा रखता हो। वस्तुतः, फ्रांस दो राजनीतिक दलों के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखता। इङ्गलैण्ड के मतदाताओं के सम्मुख दो ही विकल्प रहते हैं, वे या लेबर दल के उम्मीदवार को वोट दें या कन्जर्वेटिव दल के उम्मीदवार को। यही दशा अमेरिका में है। वहां डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन पार्टियों के रूप में दो ऐसे सुसंगठित दल विद्यमान हैं, कि किसी अन्य विचारधारा व व्यक्ति के लिये स्वतन्त्र रूप से उत्कर्ष कर सकना सम्भव नहीं है। फ्रेंच लोग इस दशा को अस्वाभाविक व अनुचित समझते हैं। उनकी

दृष्टि में यह सर्वथा स्वाभाविक और उचित है, कि सामूहिक हित के साथ सम्बन्ध रखनेवाले विषयों के बारे में बहुत से दृष्टिकोण हों, बहुत से मत हों। इन अनेकविध दृष्टिकोणों और मतभेदों के कारण बहुसंख्यक दलों का होना सर्वथा उचित है।

इसी कारण फ्रांस में बार-बार राजनीतिक दलों में समझौते, समतुलन और समन्वय होते रहते हैं। कोई एक दल तो इस स्थिति में होता नहीं, कि वह अकेला मन्त्रिपरिषद् बनाकर एसेम्बली का विश्वास प्राप्त कर सके। इसलिये विविध दल मिलकर समझौता करते हैं, और एक संयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं। किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न या समस्या के उत्पन्न होने पर इन दलों में मतभेद प्रकट होने लगता है, उनका समझौता टूट जाता है, मन्त्रिपरिषद् भंग हो जाती है, और नई परिषद् बनाने का सवाल पैदा होता है। विभिन्न दलों व गुटों में फिर समझौता किया जाता है, और आपस के विचार-समतुलन द्वारा नई परिषद् का निर्माण होता है। फ्रेंच राजनीतिज्ञों की दृष्टि में यह व्यवस्था लोकतन्त्रवाद के अधिक अनुकूल है। इससे राज्य के शासन में कोई हानि नहीं पहुँचती। मन्त्रिपरिषद् का कार्य नीति का संचालन है, शासन करना नहीं है। शासक तो स्थिर रहते हैं, मन्त्रिपरिषद् में परिवर्तन नीति-निर्धारण की दृष्टि से आवश्यक व उपयोगी होता है।

इसीलिये 'तृतीय रिपब्लिक' की सत्ता के सत्तर सालों में फ्रांस में १०० से अधिक मन्त्रिमण्डलों ने शासन किया। चतुर्थ रिपब्लिक को स्थापित हुए १९४९ तक चार साल ही हुए थे, पर इस बीच में वहां एक दर्जन मन्त्रिमण्डल बन चुके थे।

नवम्बर, १९४६ में फ्रांस की चतुर्थ रिपब्लिक की राष्ट्रीय सभा का चुनाव हुआ। अगले मास रिपब्लिक की कौंसिल निर्वाचित हुई। पार्लियामेण्ट की इन दोनों सभाओं में कम्युनिस्ट लोग अन्य दलों की अपेक्षा अधिक संख्या में निर्वाचित हुए। राष्ट्रीय सभा में कम्युनिस्ट १६८, एम० आर० पी० १६०, सोशलिस्ट १०५ और रैडिकल सोशलिस्ट ४५ की संख्या में निर्वाचित होकर आये। शेष दलों के सदस्यों की संख्या इनसे भी कम थी। कोई दल ऐसी स्थिति में नहीं था, कि स्वयं अपनी मन्त्रिपरिषद् बना सके। राष्ट्रीय सभा के बहुसंख्यक सदस्यों का समर्थन प्राप्त करने के लिये ३०३ सदस्यों का पक्ष में होना आवश्यक है। राष्ट्रीय सभा में सबसे अधिक संख्या कम्युनिस्टों की थी, अतः उनके नेता श्री थोरे को मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सुपुर्द किया गया। पर वे राष्ट्रीय सभा द्वारा विश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं करा सके। यही दशा एम० आर० पी० दल

के नेता श्री बीदोल की भी हुई। कम्युनिस्टों और एम० आर० पी० के असफल होने पर मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सोशलिस्ट दल के नेता श्री ब्लम ने अपने हाथ में लिया। उन्हें राष्ट्रीय सभा की बहुसंख्या की सहमति प्राप्त हो गई। कम्युनिस्ट और एम० आर० पी० दोनों ने ही उनके पक्ष में वोट दिया। कम्युनिस्ट कहते थे, कि श्री ब्लम श्री बीदोल से तो अच्छे रहेंगे। इसी प्रकार एम० आर० पी० दल के लोग कहते थे, कि श्री थोरे की अपेक्षा तो श्री ब्लम का प्रधानमन्त्री होना ठीक रहेगा। १६ दिसम्बर, १९४६ को सोशलिस्ट नेता श्री ब्लम ने अपनी मन्त्रिपरिषद् का निर्माण कर लिया। इसी तरह फरवरी, १९४७ में सोशलिस्ट दल के उम्मीदवार श्री विन्सेन्ट ओरियल फ्रांस के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित कर लिये गये। श्री ब्लम की मन्त्रिपरिषद् में केवल सोशलिस्ट दल के ही मन्त्री थे। यद्यपि उनके अपने दल के सदस्यों की संख्या केवल १०५ थी, पर अन्य दल उनका समर्थन कर रहे थे। वे अपने पद पर पांच सप्ताह के लगभग रहे, और इस बीच में उन्होंने देश की दशा को सुधारने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण काम किये। पर श्री ब्लम देर तक प्रधानमन्त्री नहीं रह सके। कम्युनिस्टों के विरोध के कारण उन्हें शीघ्र ही अपने पद से पृथक् हो जाना पड़ा।

श्री ब्लम के बाद श्री रमादिए ने मन्त्रिपरिषद् की रचना की। ये भी सोशलिस्ट दल के सदस्य थे। उनकी मन्त्रिपरिषद् में ९ सोशलिस्ट, ५ कम्युनिस्ट और ५ एम० आर० पी० दल के मन्त्री थे। यह परिषद् २२ जनवरी, १९४७ में बनी और मई, १९४७ में त्याग-पत्र देने को विवश हुई। इसकी असफलता का प्रधान कारण कम्युनिस्टों का विरोध था। यद्यपि वे मन्त्रिपरिषद् में शामिल थे, पर शासन-कार्य में उनका अन्य मन्त्रियों से प्रायः विरोध रहता था। मई, १९४७ में ही श्री रमादिए ने अपना दूसरा मन्त्रिमण्डल बनाया। इसमें १२ सोशलिस्ट, ६ एम० आर० पी० दल के, ५ रैडिकल सोशलिस्ट दल के और २ अन्य दलों के मन्त्री थे। श्री रमादिए की यह मन्त्रिपरिषद् नवम्बर, १९४७ तक कायम रही। बाद में एम० आर० पी० के नेता श्री शूमान ने मन्त्रिपरिषद् की रचना की, जिसमें कम्युनिस्टों के अतिरिक्त वामपक्ष के विविध दल तथा केन्द्रवर्ती कुछ दल सम्मिलित हुए। यह प्रक्रिया बाद में भी जारी रही। कोई भी मन्त्रि-मण्डल, कुछ सप्ताहों से अधिक अपने पद पर स्थिर नहीं रह सका। विश्व-संग्राम के समाप्त होने के बाद से सितम्बर, १९४८ तक फ्रांस में ग्यारह मन्त्रिमण्डल बने और बिगड़े। फ्रांस की राजनीति की यह विशेषता है, कि वहां ब्रिटेन के समान दो या तीन सुसंगठित राजनीतिक दल नहीं है। राजनीतिक विचारों के अनुसार

वहां बहुत से छोटे-छोटे दल हैं, जो आपस में मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाते हैं। यह स्वाभाविक है, कि किसी भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर इनमें मतभेद हो जाय। इस दशा में मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र दे देता है, और प्रायः उन्हीं राजनीतिक दलों में किसी एक-दो दल को कम करके या किसी नये दल को शामिल करके या पहले दलों के मन्त्रियों में ही थोड़ा-बहुत हेर-फेर करके नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हो जाता है। सितम्बर, १९४८ में श्री क्वैय्य ने मन्त्रिमण्डल की रचना की। वे स्वयं रैडिकल सोशलिस्ट दल के हैं। उनका मन्त्रिमण्डल एक साल से अधिक समय तक अक्टूबर, १९४९ के प्रारम्भ तक कायम रहा। तेरह मास के सुदीर्घ समय तक एक मन्त्रिमण्डल जो स्थिर रह सका, इसका कारण यह था, कि इस समय फ्रांस की राजनीति में यह भावना बहुत प्रबल हो गई थी, कि चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक की रक्षा के लिये यह परम आवश्यक है, कि एक तरफ काम्युनिस्ट और दूसरी तरफ द गॉल के अनुयायियों से उनको बचाया जाय। फ्रेंच पार्लियामेण्ट में कम्युनिस्ट सबसे अधिक संख्या में थे, और वे पुराने ढंग के लोकतन्त्र शासन को नष्ट कर कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। दूसरी तरफ, जनरल द गॉल यह चाहते थे, कि फ्रांस को राजनीतिक दलबन्दी की दलदल से निकालकर एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाया जाय। इसके लिये एक जबर्दस्त सरकार और जबर्दस्त नेता का होना अनिवार्य था। द गॉल के प्रति फ्रेंच लोगों में आदर का भाव है। यही वीर सेनापति फ्रांस को जर्मन नाजियों के कब्जे से स्वतन्त्र कराने में समर्थ हुआ था। फ्रेंच लोग अपने देश में लोकतन्त्रवाद को कायम रखने के लिये अत्यधिक उत्सुक थे, इसीलिये विधान-परिषद और राष्ट्रीय सभा के चुनाव में उन्होंने उन पुराने नेताओं का साथ दिया, जो लोकतन्त्रवाद व साम्यवाद के अनुयायी थे। पर विश्व-संग्राम के बाद फ्रांस में जो अनेक जटिल समस्याएं उत्पन्न हुईं, और कम्युनिस्टों ने जिस प्रकार अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू की, उसके कारण बहुत से लोग फिर द गॉल के प्रति आकृष्ट हुए। एप्रिल, १९४७ में द गॉल के नेतृत्व में एक नये राष्ट्रीय दल (असम्ब्लमां दु पेप्ल फ्रांसे) का संगठन हुआ, जिसमें दक्षिणपक्ष के अनेक राजनीतिक नेता शामिल हुए। मई, १९४७ में इस दल ने एक विशाल महासभा की योजना की, और अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ, कि १९४७ के अन्त में जब फ्रांस में म्युनिसिपल चुनाव हुआ, तो इस दल (आर० पी० एफ०) को अच्छी सफलता हुई।

पेरिस की म्युनिसिपल कौंसिल में कुल ९० सदस्य निर्वाचित होने थे, इनमें से ५२ स्थान द गॉल के राष्ट्रीय दल ने प्राप्त कर लिये। अन्य भी अनेक बड़े शहरों में इस दल को इसी प्रकार से सफलता मिली। द गॉल व उनके अनुयायी यह विश्वास रखते हैं, कि फ्रेंच पार्लियामेण्ट के नये चुनाव में उन्हें इसी प्रकार की सफलता मिलेगी।

कम्युनिस्टों और द गॉल के अनुयायियों से चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक की रक्षा करने के लिये एम० आर० पी०, सोशलिस्ट और रैडिकल सोशलिस्ट दलों ने परस्पर मिलकर एक समझौता सा कर लिया है। इस सम्मिलित शक्ति को फ्रांस में 'तृतीय शक्ति' के नाम से कहा जाता है। इन दलों के नेता यह विश्वास रखते हैं, कि फ्रांस का कल्याण वहां लोकतन्त्रवाद की सफलता में ही है, और लोकतन्त्रवाद का वही रूप ठीक है, जो तृतीय फ्रेंच रिपब्लिक के रूप में १८७१ में कायम हुआ था, और जिसका पुनरुद्धार १९४६ में चतुर्थ फ्रेंच रिपब्लिक के रूप में किया गया था। जनरल द गॉल जिस प्रकार शासन-शक्ति को राष्ट्रपति में केन्द्रित कर देना चाहते हैं, फ्रेंच लोग उसे लोकतन्त्रवाद के लिये विघातक मानते हैं। श्री क्वैय्य के नेतृत्व में जो मन्त्रिमण्डल एक साल से अधिक समय तक कायम रहा, उसने इसी प्रकार के लोकतन्त्रवाद की सफलता के लिये प्रयत्न किया। श्री क्वैय्य के मन्त्रिमण्डल की समाप्ति के बाद अक्तूबर, १९४९ में श्री बिदोल के नेतृत्व में जिस नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ, उसका प्रयत्न भी यही था। श्री क्वैय्य इस मन्त्रिमण्डल में भी उपप्रधानमन्त्री के पद पर विद्यमान थे। 'तृतीय शक्ति' का उद्देश्य यह है, कि फ्रांस में लोकतन्त्रवाद की रक्षा के लिये दोनों मोरचों पर डटकर लड़ाई की जाय। एक मोरचा उन कम्युनिस्टों के खिलाफ है, जो एक पार्टी की डिक्टेटरशिप कायम करना चाहते हैं। दूसरा मोरचा एक व्यक्ति (जनरल द गॉल) की डिक्टेटरशिप के खिलाफ संघर्ष के लिये है। उसे वाम और दक्षिण—दोनों पक्षों का मुकाबला करना है। इसीलिये फ्रांस की राजनीति में उसे 'मध्यमार्ग' के नाम से भी कहा जाता है। यदि फ्रांस के 'मध्यमार्ग' के अनुयायी विविध दल मिलकर साथ काम करते रहें, तो वे अवश्य ही अपने देश में लोकतन्त्रवाद की रक्षा करने में सफल हो सकते हैं। पर उनकी सफलता तभी सम्भव है, जब वे उन जटिल समस्याओं को ठीक तरह से हल कर सकें, जो विश्व-संग्राम के बाद फ्रांस में उत्पन्न हो गई हैं।

विश्व-संग्राम के दौरान में चार साल के लगभग फांस पर जर्मनी का कब्जा

रहा। इस बीच में फ्रांस को भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। लाखों फ्रेंच नागरिक नाजी विरोधी होने के अपराध में कैद किये गये। लाखों को इस प्रयोजन से जबर्दस्ती जर्मनी ले जाया गया, कि वे वहां कारखानों में काम करें। फ्रांस के अपने कल-कारखाने या तो युद्ध के कारण नष्ट हो गये थे, और या उनमें सब कार्य जर्मनी को आवश्यक युद्ध-सामग्री प्रदान करने के उद्देश्य से किया जाता था। फ्रांस का आर्थिक व व्यावसायिक जीवन बहुत कुछ अस्त-व्यस्त हो गया था। विश्व-संग्राम की समाप्ति पर फ्रांस जो कुछ भी आर्थिक सहायता अमेरिका से प्राप्त कर सका, वह सब फ्रेंच नागरिकों को आवश्यक भोजन, वस्त्र व ईंधन मुहय्या करने के लिये भी पर्याप्त नहीं थी। अपनी आर्थिक उत्पत्ति का पुनः-संगठन करने का तो प्रश्न ही अभी उत्पन्न नहीं होता था। इसके अतिरिक्त, फ्रांस में वस्तुओं की कीमतें निरन्तर बढ़ रही थीं। जर्मनी ने फ्रांस पर कब्जा करके शासन करने के लिये जो भी धनराशि खर्च की, वह सब फ्रांस से ही वसूल की। युद्ध के समय में लाखों जर्मन सैनिक फ्रांस के धन से पलते रहे। इसके लिये पत्र-मुद्रा जारी करने में भी संकोच नहीं किया गया। फ्रांस में पत्र-मुद्रा की मात्रा बहुत बढ़ गई, और कीमतें निरन्तर बढ़ने लगीं। स्वतन्त्र फ्रेंच सरकार ने कीमतों को नियन्त्रित करने के लिये बहुत यत्न किये, पर कृत्रिम उपायों से कीमतों को नीचा रख सकना सम्भव नहीं था। चोर-बाजार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, और जनता के लिये अपना निर्वाह करना कठिन हो गया। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि सर्वसाधारण मजदूर जनता में बेचैनी उत्पन्न हो। उन्होंने वेतन-वृद्धि के लिये आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया, और कम्यूनिस्ट लोग मजदूरों की मांगों को स्वीकार कराने के लिये आम हड़ताल की तैयारी करने लगे। नवम्बर, १९४७ में हड़तालों की प्रक्रिया शुरू हुई। फ्रांस में श्रमियों के संघ पर कम्युनिस्ट लोगों का प्रभाव था। वस्तुतः, उसका संचालन उन्हीं के हाथों में था। श्रमीसंघ (कन्फिदरासियों जनराल दु त्रावाय्य) द्वारा हड़ताल का एलान कर दिया गया। कुछ देर के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा, कि फ्रांस का आर्थिक व व्यावसायिक जीवन पूरी तरह अस्तव्यस्त हो जायगा। पर कम्युनिस्टों द्वारा शुरू की गई यह आम हड़ताल सफल नहीं हो सकी। देशभक्त फ्रेंच जनता भलीभांति अनुभव करती थी, कि देश की वर्तमान दशा में हड़ताल करना राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक है। बहुत से मजदूरों का भी यही खयाल था। परिणाम यह हुआ, कि कम्युनिस्ट लोग अपने प्रयत्न में सफल

नहीं हो सके। यही समय था, जब जनरल द गॉल के राष्ट्रीय दल ने विशेष रूप से जोर पकड़ा। लोग समझते थे, कि कम्युनिस्टों से देश को बचाने का उपाय द गॉल द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करना ही है।

नवम्बर, १९४८ में कम्युनिस्टों ने एक बार फिर आम हड़ताल की कोशिश की। पर श्री क्वेंय्य की सरकार ने उन्हें काबू में रखने में असाधारण सफलता प्राप्त की। देश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये एक स्पेशल पुलिस का संगठन किया गया, जो सब प्रकार के नवीन हथियारों व अन्य साधनों से सुसज्जित थी। साथ ही, यह भी प्रयत्न किया गया, कि जो मजदूर कम्युनिस्ट विचारों के नहीं हैं, उनका पृथक् रूप से संठगन किया जाय। श्रमियों के इस नये संघ के सदस्यों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी, और कम्युनिस्ट श्रमीसंघ की शक्ति लगातार कम होती गई।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि फ्रांस में श्रमियों में असन्तोष व बैचेनी को तभी पूरी तरह दूर किया जा सकता है, जब कि वहां की आर्थिक दशा सुव्यवस्थित हो जाय। फ्रांस की मध्यमार्ग का अनुसरण करनेवाली सरकारें इस दशा में श्लाघनीय प्रयत्न कर रही हैं। मार्शल-योजना द्वारा जो आर्थिक सहायता फ्रांस को प्राप्त हुई है, उसका भली भांति उपयोग करके फ्रांस अपनी आर्थिक उत्पत्ति को निरन्तर बढ़ा रहा है। १९४७ के मुकाबले में १९४८ में फ्रांस की पैदावार में इस प्रकार वृद्धि हुई है। गेहूँ—५० फीसदी, आलू—८० फीसदी, चुकन्दर—५० फीसदी, तिलहन—८५ फीसदी। खेती के क्षेत्र में इस वृद्धि का परिणाम यह हुआ है, कि फ्रांस अब अनाज व खाद्य पदार्थों की दृष्टि से बहुत कुछ आत्मनिर्भर हो गया है। व्यावसायिक क्षेत्र में भी अब फ्रांस काफी उन्नति कर रहा है। विश्व-संग्राम के कारण उसके जो कल-कारखाने नष्ट व अस्त-व्यस्त हो गये थे, वे अब फिर आर्थिक उत्पत्ति करने लगे हैं। पर फ्रांस की आर्थिक व्यवस्था को सही दशा में आने में अभी पर्याप्त समय लगेगा। अमेरिका के मुकाबले में अपने माल को अन्य देशों में सस्ता बेच सकने व अपने माल के लिये अमेरिका में ही बाजार पैदा करने के उद्देश्य से जब १९४९ के मध्य में डालर के मुकाबले में फ्रांक की कीमत को कुछ और गिराया गया, तो मजदूरों में एक बार फिर अशान्ति की अग्नि भड़क उठी। फ्रांक की कीमत गिराने का यह स्वाभाविक परिणाम होना था, कि फ्रांस के अन्दर वस्तुओं की कीमतें ऊंची उठें। इसलिये मजदूरों ने वेतन की दर में वृद्धि के लिये आन्दोलन शुरू कर दिया।

इसी समस्या को लेकर श्री क्वैय्य के मध्यमार्गी मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित विविध दलों में मतभेद हो गया, और अक्टूबर, १९४९ में इस मन्त्रिमण्डल को अपने पद से पृथक् होना पड़ा। फ्रांस की 'तृतीय शक्ति' का भविष्य इसी बात पर निर्भर है, कि वह देश को आर्थिक समस्या को किस हद तक सन्तोषजनक रीति से हल कर सकेगा।

२. ग्रेट ब्रिटेन की प्रगति

यूरोप में विश्व-संग्राम के समाप्त होने के कुछ सप्ताह बाद ही जुलाई, १९४५ में ग्रेट ब्रिटेन की पार्लियामेण्ट का नया निर्वाचन हुआ। युद्ध में विजय का मुख्य श्रेय श्री चर्चिल के कर्तृत्व को था, ब्रिटेन की जनता इस वीर नेता को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखती थी। पर युद्ध के बाद ब्रिटेन की प्रधान समस्या देश की आन्तरिक व्यवस्था की थी। इसके लिये कन्जर्वेटिव पार्टी के पास न कोई अच्छा कार्यक्रम था, और न कोई नीति। इसके विपरीत मजदूर दल के पास निश्चित कार्यक्रम था। युद्ध के समय में सर्वसाधारण मजदूरों व सैनिकों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। ब्रिटेन के ये मजदूर श्रमीसंघों में संगठित थे। १९३६ में इन श्रमीसंघों के सदस्यों की कुल संख्या, ५२,९५,००० थी। १९४८ में वह बढ़कर ८०,२४,००० पहुँच गई थी। युद्ध के समय में इन श्रमियों ने जर्मनी के पराजय के लिये जी-जान से कोशिश की थी। ब्रिटेन के मजदूर नेता यह अधिकार के साथ कह सकते थे, कि युद्ध में विजय का प्रधान श्रेय मजदूरों को मिलना चाहिये, और अब देश की व्यवस्था करते हुए उनके हितों को प्रमुख स्थान मिलना चाहिये। परिणाम यह हुआ, कि १९४५ के चुनाव में मजदूर दल की विजय हुई, और उसके नेता श्री एटली प्रधानमन्त्री के पद पर नियत हुए। ब्रिटेन के हाउस आफ कामन्स के कुल सदस्यों की संख्या ६४० थी। इसमें से ४०० स्थान मजदूर दल ने प्राप्त किये। इतनी बड़ी संख्या में मजदूर दल पहले कभी अपने सदस्यों को पार्लियामेण्ट में निर्वाचित कराने में सफल नहीं हुआ था। अब उसकी इतनी अधिक बहुसंख्या थी, कि वह किसी अन्य पार्टी की सहायता पर निर्भर न रहता हुआ सरकार का संचालन कर सकता था। विश्व-संग्राम के बाद यूरोप के सभी देशों में वामपक्षी राजनीतिक दल प्रबल हो गये थे। ब्रिटेन में भी वामपक्षी लोग ही विजयी हुए। कम्युनिस्ट दल को वहां सफलता नहीं मिली, उनके केवल दो सदस्य ही पार्लियामेण्ट में निर्वाचित हो सके।

ब्रिटेन का मजदूर दल फ्रांस की 'तृतीय शक्ति' के समान वामपक्षी होता हुआ भी मध्यमार्ग का अनुयायी है। जुलाई, १९४५ में मजदूर दल की जो सरकार श्री एटली के नेतृत्व में कायम हुई, वह अब तक (नवम्बर, १९४९) भी कायम है। फ्रांस के समान ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डलों में जल्दी-जल्दी परिवर्तन नहीं होते, क्योंकि वहां अनेक राजनीतिक दल न होकर केवल दो या तीन ही राजनीतिक दल रहते हैं। वहां का पार्टी सिस्टम फ्रांस से बिलकुल भिन्न है।

श्री एटली की सरकार को अनेक जटिल समस्याओं का मुकाबला करना था। जर्मनी द्वारा हवाई आक्रमणों से जो भारी नुकसान लण्डन व अन्य व्यावसायिक केन्द्रों को पहुंचाया गया था, उसे शीघ्र ही ठीक करने की आवश्यकता थी। लण्डन व अन्य बड़े नगरों की बहुसंख्यक इमारतें या तो सर्वथा नष्ट हो गई थीं, या बहुत कुछ टूट-फूट गई थीं। निवास के योग्य मकानों की कमी हो गई थी। लड़ाई के समय में ब्रिटेन के सब कल-कारखाने युद्ध-सामग्री को तैयार करने में लगे थे। विदेशी व्यापार बहुत कम रह गया था। अब जरूरत इस बात की थी, कि इन कल-कारखानों में उन पदार्थों को तैयार किया जाय, जिनकी सर्वसाधारण जनता को जरूरत होती है, और जिन्हें दुनिया के बाजारों में बेचकर ब्रिटेन समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। युद्ध के कारण ब्रिटेन का आर्थिक जीवन बिलकुल अस्त-व्यस्त हो गया था। उसे व्यवस्थित करना नई मजदूर सरकार का सर्वप्रधान कार्य था। मार्च, १९४७ में ब्रिटेन में भयंकर तूफान आये। इस साल वहां सर्दी बहुत अधिक पड़ी थी। उस पर घोर बरसात और तूफान ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी, कि सत्तर लाख एकड़ के लगभग कृषि-योग्य भूमि बाढ़ के पानी के नीचे आ गई, चालीस लाख के करीब भेड़-बकरियां व पचास हजार के करीब गाय-बैल बाढ़ में नष्ट हो गये। युद्ध के कारण ब्रिटेन का आर्थिक जीवन पहले ही अव्यवस्थित दशा में था। इस प्राकृतिक विपत्ति ने स्थिति की गम्भीरता को और भी अधिक बढ़ा दिया।

श्री एटली की सरकार ने ब्रिटेन के आर्थिक जीवन को संभालने के लिये जिन उपायों का अवलम्बन किया, उन पर संक्षेप से प्रकाश डालना बहुत उपयोगी है—

(१) व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण की नीति का अवलम्बन किया गया। यह व्यवस्था की गई, कि जो व्यवसाय देश के आर्थिक जीवन के लिये व सार्वजनिक हित की दृष्टि से परम उपयोगी हैं, उन पर राज्य का स्वामित्व व नियन्त्रण स्थापित कर दिया जाय। सबसे पहले बैंक आफ इंगलैण्ड को राज्य

की सम्पत्ति बना दिया गया । यह बैंक ब्रिटेन के आर्थिक जीवन का आधार है। फरवरी, १९४६ में यह राज्य की सम्पत्ति हो गया । बैंक के हिस्सेदारों को उनके हिस्से के बदले में सरकारी कागज (गवर्नमेण्ट सिक्युरिटी) दे दिये गये । यह व्यवस्था की गई, कि इन कागजों पर निश्चित सूद मिलता रहे । पिछले बीस सालों में बैंक आफ इंगलैण्ड के हिस्सेदारों को अपने हिस्सों पर जो मुनाफा मिलता रहा था, उसकी सालाना औसत निकालकर इस सूद की दर नियत की गई । बैंक के कर्मचारियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। पर डाइरेक्टरों की नियुक्ति सरकार की ओर से की जाने लगी। बैंक आफ इंगलैण्ड का स्वामित्व प्राप्त करके सरकार ने देश के सारे आर्थिक जीवन को अपने नियन्त्रण में कर लिया। १९४६ में ही कोयले के व्यवसाय को राज्य के स्वामित्व में लाने के लिये एक कानून स्वीकृत किया गया। इस कानून द्वारा न केवल पत्थर के कोयले की खानें अपितु उनकी सब मशीनरी व अन्य सामग्री भी राज्य की सम्पत्ति बना दी गई । खानों के मालिकों को जो रकम मुआवजे के तौर पर दी गई, उसकी मात्रा २०० करोड़ रुपये से भी ऊपर थी । यह रकम भी सरकारी कागजों (गवर्नमेण्ट सिक्युरिटी) द्वारा अदा की गई। एक जनवरी, १९४७ को कोयले की सब खानों पर राज्य का अधिकार स्थापित कर लिया गया। जो सम्पत्ति इस समय ब्रिटिश सरकार के हाथ में आई, उसमें दस लाख एकड़ के लगभग ऐसी भूमि थी, जिसमें कोयले की खानें थीं । साथ ही, बहुत सी इमारतें, हजारों रेलवे वैगन व अन्य सामान कोयले की खानों के साथ राज्य को प्राप्त हुआ । इन सबका प्रबन्ध करने के लिये एक नेशनल कोल बोर्ड की स्थापना की गई, जिसके अधीन सात लाख के लगभग मजदूर व बीस हजार के लगभग अन्य कर्मचारी काम करते थे। कोल बोर्ड ने मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये अनेक उपाय किये। मजदूर चाहते थे, कि वे खानों में प्रति सप्ताह पांच दिन से अधिक काम न करें, पर उन्हें वेतन छः दिन का दिया जाय। उनकी यह मांग भी स्वीकार कर ली गई ।

१९४६ में ही हवाई जहाज, टेली-कम्युनिकेशन, रेडियो, मोटर बस सर्विस व बिजली के व्यवसायों को राज्यों के स्वामित्व में लाया गया। प्रत्येक व्यवसाय के प्रबन्ध व संचालन के लिये पृथक्-पृथक बोर्ड की रचना कर दी गई। व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया इस समय ब्रिटेन में इस सीमा तक आगे बढ़ चुकी है, कि देश में कुल मिलाकर जितने स्त्री-पुरुष इस समय नौकरी व मजदूरी से गुजर करते हैं, उनका एक चौथाई भाग राज्य की नौकरी में है।

ब्रिटेन की मजदूर सरकार की नीति यही है, कि धीरे-धीरे बड़े पैमाने के सब व्यवसायों को राज्य के स्वामित्व में ले आया जाय।

(२) १९४६ में नेशनल इन्शुरेन्स एक्ट स्वीकृत किया गया। इसका उद्देश्य यह था, कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त प्रत्येक व्यक्ति को जिन खतरों का मुकाबला करना पड़ता है, उनका बीमा कर दिया जाय। इस कानून के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का बीमा करना आवश्यक कर दिया गया है। बीमे के लिये आवश्यक किस्तों का एक तिहाई भाग व्यक्ति स्वयं देता है, एक तिहाई भाग उसको नौकरी में रखनेवाले (चाहे वह राज्य स्वयं क्यों न हो) देते हैं, और एक तिहाई भाग राज्य की तरफ से प्रदान किया जाता है। जिन खतरों के लिये बीमा कराया जाता है, वे ये हैं—(१) नौकरी व मजदूरी करनेवाले के लिये बेकार हो जाना, (२) बीमारी, (३) जब स्त्री को बच्चा होना हो, तो उन दिनों का वेतन व खर्च, (४) स्त्री का विधवा हो जाना, (५) किसी बच्चे के लिये अनाथ हो जाना, (६) बुढ़ापा और (७) मौत। इसमें सन्देह नहीं, कि इन सात प्रकार के खतरों का बीमा करा लेने से प्रत्येक व्यक्ति व उसका परिवार अनेक संकटों से बच जाता है। राज्य की तरफ से ब्रिटेन में अब यह आवश्यक कर दिया गया है, कि कोई व्यक्ति बीमा कराये बिना न रहे, ताकि विविध विपत्तियों के समय धन के अभाव से जो कष्ट होते हैं, लोग उनसे बचे रहें। जो लोग कल-कारखानों में काम करते हैं, यदि उन्हें चोट लग जाये, और उसके कारण वे कुछ समय के लिये या सदा के लिये काम करने में असमर्थ हो जावें, तो उन्हें खर्च के लिये रुपया मिलता रहे। इस बीमे के लिये कुछ अतिरिक्त किस्त वसूल की जाने की व्यवस्था 'नेशनल इन्शुरेन्स एक्ट' द्वारा ही की गई है।

१९४६ में ही एक अन्य कानून पास किया गया, जिसे 'नेशनल हेल्थ सर्विस एक्ट' कहते हैं। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई है, कि प्रत्येक व्यक्ति को मुफ्त में चिकित्सा व औषधि प्राप्त करने का अवसर हो। सब लोगों के लिये यह जरूरी हो, कि वे चिकित्सा के निमित्त साप्ताहिक किस्त राज्य को प्रदान करें। इन किस्तों से जो धन प्राप्त हो, उसका उपयोग सरकार जनता को मुफ्त डाक्टरी सहायता व औषधि प्रदान करने में करे। यह इन्तजाम किया गया है, कि चिकित्सकों को कुछ निश्चित वेतन दिया जाय, और वे जितने बीमारों का इलाज करें, उनके लिये पृथक् भत्ता प्राप्त करें। यह वेतन और भत्ता सरकार की तरफ से दिया जाय, जनता का दायित्व केवल वह साप्ताहिक किस्त हो,

जो अपनी आमदनी के अनुसार उन्हें सरकार को प्रदान करनी है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार हो, कि वह अपना डाक्टर स्वयं चुन सके।

(३) ब्रिटेन में बाधित शिक्षा की प्रथा पहले ही विद्यमान थी। ५ से १४ वर्ष की आयु के प्रत्येक बालक व बालिका के लिये स्कूल में दाखिल होकर शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था। पर एप्रिल, १९४७ से बाधित शिक्षा की आयु को ५ से १५ वर्ष तक कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ, कि १५ वें वर्ष को पूर्ण करने से पहले किसी बालक के लिये स्कूल छोड़कर मजदूरी आदि कर सकना सम्भव नहीं रहा। साथ ही, यह भी निश्चय किया गया, कि एप्रिल १९५० तक ब्रिटेन की प्रत्येक काउन्टी (ताल्लुका) में कालिजों की स्थापना कर दी जाय, और १५ से १८ वर्ष की आयु के प्रत्येक बालक व बालिका के लिये यह आवश्यक हो, कि वे इन काउन्टी कालिजों में शिक्षा प्राप्त करें। चाहे वे कुछ घण्टों के लिये ही इन कालिजों में पढ़ें, पूरा समय शिक्षा में न लगा कर कमाई में भी समय लगावें, पर कोई व्यक्ति ऐसा न रहे, जो १८ वर्ष की आयु तक अपना कुछ समय शिक्षा के ग्रहण करने में न लगाता हो।

मजदूर दल की सरकार ने यह भी व्यवस्था की, कि जिन किन्हीं प्रदेशों में मातृमन्दिरों (नर्सरी स्कूलों) की मांग हो, वहां शिक्षा-विभाग द्वारा उन्हें स्थापित किया जाय, ताकि पांच साल से कम आयु के बच्चे भी उनमें दाखिल होकर उपयोगी बातें सीख सकें।

(४) फैमिली एलाउन्स ऐक्ट (१९४५) द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि जिस परिवार में एक से अधिक ऐसे बच्चे हों, जिनकी आयु सोलह साल से कम हो, उसे अतिरिक्त बच्चों के लिए ५ शिलिंग (१॥शिलिंग=एक रुपया) प्रति बच्चा प्रति सप्ताह के हिसाब से सरकार की ओर से भत्ता दिया जाय। इस कानून के कारण गरीब परिवारों पर बच्चों के पालन का बोझ बहुत कुछ कम हो गया और उनके लिये यह सम्भव हो गया, कि वे उन्हें शिक्षा के लिये स्कूलों में दाखिल करा सकें।

(५) एक अन्य कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि ब्रिटेन के जो प्रदेश व्यावसायिक दृष्टि से पिछड़े हुए है, उनमें कल-कारखानों का विकास किया जाय, ताकि वहां के निवासी भी आर्थिक दृष्टि से समृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ सकें।

(६) १९४७ में एक अन्य कानून पास किया गया, जिसके अनुसार सरकार ने यह अधिकार प्राप्त किया, कि वह कल-कारखानों में काम करनेवाले श्रमियों व विशेषज्ञों पर नियन्त्रण रख सके। इस कानून के अनुसार १८ से ५०

वर्ष की आयु का कोई भी पुरुष मजदूर व १८ से ४० वर्ष की आयु का कोई भी स्त्री मजदूर किसी कारखाने की नौकरी को तब तक नहीं छोड़ सकता, जब तक कि वह सरकार के श्रम-विभाग से अनुमति न प्राप्त कर ले। इस कानून का प्रयोजन यही है, कि कल-कारखानों में काम करने योग्य श्रमी लोग खाली न बैठें, और वे एक नौकरी छोड़कर दूसरी जगह काम तलाश करने में अपने समय को नष्ट न करें। देश की आर्थिक समृद्धि व व्यावसायिक उन्नति के मूल श्रमी लोग ही हैं। वे काम में लगे रहें, इसी पर देश की उन्नति निर्भर है।

(७) १९४७ में ब्रिटेन में बाधित सैनिक शिक्षा का कानून भी पास किया गया। अब प्रत्येक ब्रिटिश युवक के लिये यह आवश्यक है, कि वह पूरे बारह मास तक सैनिक शिक्षा प्राप्त करे। विश्व-संग्राम से पहले ऐसे कानून केवल यूरोप के विविध देशों में ही प्रचलित थे। ब्रिटेन के निवासी बाधित सैनिक शिक्षा व सेवा से मुक्त थे। पर अब युद्धों की सम्भावना इतनी अधिक हो गई थी, कि ब्रिटेन को भी अपनी पुरानी परम्परा का परित्याग कर फ्रांस, जर्मनी आदि का अनुसरण करना पड़ा।

(८) सन् १९२७ में ब्रिटेन में एक कानून पास हुआ था, जिसके अनुसार श्रमीसंघों को यह अधिकार नहीं था, कि वे आम हड़ताल कर सकें या कारखानों पर धरना दे सकें। विश्व-संग्राम के बाद ब्रिटेन में श्रमीसंघ बहुत शक्तिशाली हो गये थे। वे इस कानून के बहुत खिलाफ थे। अब १९४६ में श्री एटली की मजदूर सरकार ने १९२७ के इस कानून को रद्द कर दिया।

मजदूर सरकार ने सर्वसाधारण जनता के हित व कल्याण के लिये अन्य भी अनेक कानून बनाये। श्री एटली की सरकार का प्रयत्न यही था, कि साम्यवादी नीति व सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए ब्रिटेन में एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी जाय, जिसमें कि सर्वसाधारण लोग सुख, चैन और सम्मान के साथ जीवन व्यतीत कर सकें। इसके लिये वे कम्युनिज्म की विचारधारा का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं समझते।

विश्व-संग्राम के कारण जो भारी नुकसान लण्डन व अन्य नगरों की इमारतों को पहुंचा था, उसे ठीक करने के लिए भी श्री एटली की सरकार ने प्रयत्न किया। नई इमारतों को तैयार करने के कार्य को विशेष महत्त्व दिया गया। लोगों के निवास के लिये जहां सामयिक रूप से कच्चे मकान बनाये गये, वहां स्थिर इमारतों को तैयार करने में भी तत्परता प्रदर्शित की गई। सन् १९४७ में बारह हजार नई पक्की इमारतें बनाकर पूरी की गईं। १९४८ में यह संख्या और भी बढ़ गई। यद्यपि

ब्रिटेन में निवास योग्य मकानों की समस्या अभी पूरी तरह से हल नहीं हुई है, पर मकानों की कमी का कष्ट अब बहुत कुछ दूर हो गया है। अनाज, दूध, अन्य खाद्य पदार्थ और वस्त्रों की कमी के कारण ब्रिटेन में राशन की पद्धति का प्रारम्भ किया गया और बहुत सी वस्तुओं की कीमतें नियन्त्रित की गईं।

जो व्यवसाय अभी सरकार ने अपने हाथों में नहीं कर लिये थे, उनके भी नियन्त्रण व समुचित रूप से संचालन के लिये १९४७ में अनेक बोर्डों व सभा-समितियों का संगठन किया गया। इनमें कल-कारखानों के मालिकों, श्रमियों व जनता के प्रतिनिधि सदस्य रूप से नियत किये गये। ये बोर्ड विविध व्यवसायों की समस्याओं पर विचार करते थे, तथा उनकी उन्नति के लिये अनेकविध योजनाएँ बनाकर क्रियात्मक परामर्श देते थे। इन सब उपायों से मजदूर सरकार ने अपने देश की आर्थिक समस्या को हल करने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की।

पर मजदूरों को लाभ पहुंचाने के लिये जो कुछ भी प्रयत्न श्री एटली के मन्त्रि-मण्डल ने किये, उनके कारण सरकारी खर्च बहुत अधिक बढ़ गया। श्रमियों के बीमे तथा चिकित्सा के लिये जो व्यवस्था सरकार ने की थी, उसके कारण राज्य को बहुत बड़ी रकम अपनी ओर से खर्च करनी पड़ती थी। यह रकम कहां से प्राप्त होती? ब्रिटेन की आर्थिक दशा पहले ही विश्व-संग्राम के कारण बहुत अस्त-व्यस्त थी। अब सरकार पर खर्च का असाधारण रूप से बोझ बढ़ जाने से इस समस्या ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया। फ्रांस व अन्य यूरोपियन राज्यों के समान ब्रिटेन में भी आर्थिक संकट विकसित होना शुरू हुआ। इस संकट के कारणों व स्वरूप पर यहां संक्षेप से प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है।

(१) युद्ध के कारण नष्ट हुई इमारतों व कल-कारखानों को ठीक करने व फिर से बनवाने के लिये बहुत अधिक धन की आवश्यकता थी।

(२) मजदूरों की भलाई के लिये जो व्यवस्थाएँ की गई थीं, उनके लिये भी प्रतिवर्ष एक भारी रकम खर्च करना अनिवार्य था।

(३) विश्व-संग्राम के समय में ब्रिटेन को न केवल अपने देश की रक्षा के लिये युद्ध करने की आवश्यकता हुई थी, अपितु अपने सुविशाल साम्राज्य की जापान से रक्षा करने के लिये उसे भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा था। सिंगापुर, मलाया, बरमा आदि अनेक प्रदेश ब्रिटेन के हाथ से निकल गये थे। भारत पर जापानी आक्रमण का भय बना हुआ था। इस दशा में ब्रिटेन ने अपनी सेनाएँ इन देशों में युद्ध के लिये भेजीं। पर वहां इन सेनाओं के लिये भोजन, वस्त्र व अन्य सामग्री प्राप्त करने के लिए भी खर्च की आवश्यकता थी। यह सब सामग्री उन देशों से ही प्राप्त कर ली

गई। इस सामग्री की कीमत ब्रिटेन ने स्टर्लिंग (पौण्ड) के नोटों में अदा की। भारत में ब्रिटेन ने सैकड़ों करोड़ पौण्ड का माल खरीदा। भारत-सरकार रुपये के नोट जारी करके यह माल ब्रिटेन के खाते में खरीदती गई। भारतीय सरकार के इन नोटों के पीछे कोई सोना, चांदी व अन्य बहुमूल्य वस्तु नहीं थी। इनका आधार केवल ब्रिटेन की देनदारी, ब्रिटेन के सरकारी कागज (स्टर्लिंग सिक्युरिटी) थे। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटेन करोड़ों पौण्डों के लिये भारत का देनदार हो गया। इसी प्रकार की देनदारी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों के प्रति भी हो गई। विश्व-संग्राम के अन्त में ब्रिटेन सैकड़ों करोड़ पौण्डों के लिये अन्य देशों का कर्जदार हो गया। इस कर्ज को अदा करना भारी समस्या थी।

(४) विश्व-संग्राम के दौरान में ब्रिटेन ने बहुत सी युद्ध-सामग्री अमेरिका से प्राप्त की थी। युद्ध की समाप्ति के बाद भी अपने नष्टप्राय कल-कारखानों के पुनः-निर्माण के लिये ब्रिटेन ने बहुत सा माल अमेरिका से प्राप्त किया। इस प्रकार का माल और भी अधिक मात्रा में अभी ब्रिटेन को अमेरिका से प्राप्त करना है। ब्रिटेन अपने व्यवसायों को तभी उन्नत कर सकता है, जब वह नई मशीनों व अन्य सामग्री को पर्याप्त मात्रा में अमेरिका से प्राप्त कर सके। पर यह सब सामान मुफ्त नहीं लिया जा सकता। इसकी कीमत अमेरिका के सिक्के में अदा की जानी आवश्यक है। डालर को प्राप्त करने के दो ही उपाय हैं, या तो सोना बदले में दिया जाय और या अमेरिकन माल के बदले में ब्रिटेन कोई माल अमेरिका को या ऐसे अन्य देशों को बेच सके, जहां का सिक्का डालर पर आश्रित है। पर ब्रिटेन के कारखानों में जो माल तैयार होता है, उसका उत्पत्ति-व्यय बहुत अधिक होता है। वहां मजदूरों को जो विविध सुविधाएं श्री एटली की सरकार ने प्रदान की हैं, उनके कारण कारखानों का खर्च बहुत बढ़ गया है। संसार के बाजारों में अमेरिकन माल के मुकाबले में ब्रिटेन का माल सुगमता से नहीं बिक सकता। इस दशा में यह आसान नहीं है, कि अपना कोई माल बेचकर ब्रिटेन उस सब सामग्री को प्राप्त कर सके, जिसकी उसे अपनी व्यावसायिक उन्नति के लिये आवश्यकता है। अपनी देनदारियों को अदा करने का सवाल तो बाद में ही पैदा होता है।

(५) भारत, पाकिस्तान आदि साम्राज्यान्तर्गत देशों के प्रति ब्रिटेन की जो भारी देनदारी थी, उसे आंशिक रूप में इस प्रकार अदा किया गया, कि इन देशों में विद्यमान बहुत से अँगरेजी कल-कारखाने व अन्य कारोबार बेच दिये गये, ब्रिटिश कम्पनियों द्वारा संचालित रेलवे भी इन देशों की सरकारों ने खरीद लीं, और अँगरेज अफसरों को पेंशन आदि के रूप में जो रकमें इन देशों की सरकारों

को प्रदान करनी थीं, उन सबके बदले में एकमुश्त रकम ब्रिटेन को दे दी गई। दूसरे शब्दों में यूं कहा जा सकता है, कि उस रकम के बराबर ब्रिटेन की इन देशों के प्रति देनदारी कम कर दी गई। पर इन सब उपायों से भी ब्रिटेन की देनदारी अभी बहुत बड़ी मात्रा में विद्यमान है। साम्राज्यान्तर्गत देशों के सिक्के ब्रिटेन के पौण्ड पर ही आश्रित हैं, अतः जब इन देशों को कोई माल अमेरिका से खरीदना हो, तो उसके लिये वे बहुत कुछ ब्रिटेन पर ही निर्भर रहते हैं। ब्रिटेन इस समय स्वयं आर्थिक संकट में है, अतः इन देशों के लिये अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण कर सकना और भी कठिन हो जाता है।

इस दशा में सुधार करने के उपायों पर विचार करने के लिये जुलाई, १९४९ में ब्रिटिश कामनवेल्थ के अर्थमन्त्रियों की एक कान्फरेन्स लण्डन में हुई थी। इसमें यह निश्चय किया गया था, कि कामनवेल्थ के विविध देश अपने ऐसे आयात को कम करने का प्रयत्न करें, जो वे अमेरिका व डालर-क्षेत्र के अन्य देशों से प्राप्त करते हैं। कामनवेल्थ के विविध देश यदि अपनी आवश्यकताओं को एक दूसरे से ही प्राप्त करते रहें, तो उन्हें डालरों की विशेष जरूरत नहीं रहेगी, और इस प्रकार वे उस अर्थ-संकट को आंशिक रूप से दूर कर सकेंगे, जो उनके सम्मुख है। पर डालरों को प्राप्त किये बिना व अमेरिका से विविध प्रकार का माल प्राप्त किये बिना ब्रिटिश कामनवेल्थ के देशों का गुजर चल सकना सम्भव नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि सितम्बर, १९४९ में अमेरिका, ब्रिटेन और कनाडा के अर्थमन्त्री वाशिंगटन में एकत्र हुए। इस कान्फरेन्स का उद्देश्य भी यही था, कि ब्रिटेन के अर्थ-संकट को दूर करने के उपायों पर विचार किया जाय। वाशिंगटन कान्फरेन्स में इस समस्या पर खूब अच्छी तरह से विचार हुआ। इसी समय यह सुझाव ब्रिटेन के सम्मुख आया, कि अगर डालर और पौण्ड की आपसी कीमत में फर्क करके पौंड की कीमत को गिरा दिया जाय, तो ब्रिटेन के लिय अपने माल को अन्य देशों में बेच सकना सुगम हो जायगा। इस समय एक पौण्ड ४.०३ डालर के बराबर था। अगर पौंड की कीमत गिरा दी जाय, तो ब्रिटिश माल को खरीदने के लिये अमेरिका व डालर-क्षेत्र के अन्य देशों को कम डालर देने होंगे। इस कारण ब्रिटिश माल बाजार में सस्ता पड़ेगा। इसी प्रकार अमेरिकन यात्री भारी संख्या में ब्रिटेन में यात्रा के लिये आने को प्रोत्साहित होंगे। बहुत कम डालर खर्च करके वे ब्रिटेन की यात्रा कर सकेंगें। इससे ब्रिटेन की आमदनी बहुत बढ़ जायगी, और उसके लिये डालर प्राप्त कर सकना सुगम हो जायगा। ब्रिटेन के अर्थ-मन्त्री श्री क्रिप्स इस विचार के समर्थक थे। उन्होंने १९ सितम्बर, १९४९ को पौण्ड की कीमत

घटाये जाने का एलान कर दिया। पौंड का मूल्य ४.०३ डालर से घटाकर २.८० डालर नियत कर दिया गया। ब्रिटेन के पौण्ड का मूल्य घटा देने का परिणाम यह हुआ, कि अन्य अनेक देशों ने, जिनके सिक्कों की कीमतें पौण्ड के साथ सम्बद्ध थीं, ब्रिटेन का अनुसरण कर अपने सिक्कों की कीमत को गिरा दिया। भारत का रुपया पहले ३०.२२५ अमेरिकन सेन्ट (एक डालर=१०० सेन्ट) के बराबर था। अब उसका मूल्य घटाकर २१ सेन्ट के बराबर कर दिया गया। सीलोन, बरमा, आस्ट्रेलिया आदि अन्य अनेक देशों ने भी यही किया। पर पाकिस्तान ने अपने रुपये की कीमत नहीं गिराई। अमेरिकन सिक्के में उसकी कीमत ३०.२२५ सेन्ट ही रही। परिणाम यह हुआ, कि पाकिस्तानी रुपया अब ब्रिटिश सिक्के में २५ पेन्स के बराबर हो गया, पहले भारतीय रुपये के समान पाकिस्तानी रुपया भी १८ पेन्स के बराबर था।

पौण्ड का मूल्य गिराने से ब्रिटेन को बहुत लाभ हुआ है। यदि वह अपने सिक्के की कीमत को न गिराता, तो ब्रिटेन में मजदूरों को जो विविध सहूलियतें व सुविधाएँ दी गई थीं, उन्हें कम करना होता। इससे सर्वसाधारण जनता में असन्तोष बहुत बढ़ जाता। अब पौण्ड स्टर्लिंग-क्षेत्र के विविध देशों में अमेरिकन माल के मुकाबले में ब्रिटेन का माल बहुत सस्ता बिक सकता है। भारत, बरमा आदि देशों को जो मशीनरी, इंजन, मोटर आदि विदेशों से मँगानी पड़ती हैं, वे अब अमेरिका के मुकाबले में ब्रिटेन से सस्ती मँगाई जा सकेंगी। इससे ब्रिटेन के निर्यात माल को प्रोत्साहन मिलेगा, और उसके कल-कारखानों से उत्पन्न माल बाजार में सुविधा-पूर्वक बिक सकेगा। अमेरिका के बाजारों में भी ब्रिटेन का अनेक प्रकार का माल सुगमता से बिक सकना सम्भव हो जायगा और इससे उसे डालर कमाने का अवसर मिलेगा।

इसमें सन्देह नहीं, कि श्री एटली के मन्त्रिमण्डल ने ब्रिटेन को उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिये बहुत प्रयत्न किया। बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार अपनी साम्राज्य-सम्बन्धी नीति को भी परिवर्तित कर उसने ब्रिटेन का एक नया प्रभावक्षेत्र कायम कर लिया, जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आन्तरिक राजनीति में इस मन्त्रिमण्डल को कम्युनिज्म के प्रभाव से देश को बचाने में अच्छी सफलता प्राप्त हुई। मध्यमार्गी साम्यवाद का एक क्रियात्मक रूप इसने संसार के सम्मुख उपस्थित किया।

३. रूस

विश्व-संग्राम की समाप्ति पर रूस में कोई राजनीतिक परिवर्तन नहीं हुआ।

कम्युनिस्ट पार्टी ने युद्ध के समय में असाधारण कार्यक्षमता और योग्यता प्रदर्शित की थी। जर्मनी द्वारा देश के अच्छे बड़े भाग पर कब्जा कर लेने के बावजूद भी रूस में कोई ऐसा राजनीतिक दल उत्पन्न नहीं हुआ था, जो कम्युनिज्म का विरोधी हो या जर्मनी के राष्ट्रीय साम्यवाद का समर्थक हो। रूस के जिन प्रदेशों पर जर्मनी ने कब्जा कर लिया था, उनमें भी उसे कोई ऐसे रशियन लोग नहीं मिले थे, जो उसके साथ सहयोग कर देशद्रोह के लिये उद्यत हों। निस्सन्देह, यह कम्युनिस्ट दल की बड़ी भारी सफलता थी। इसीलिये युद्ध की समाप्ति पर रशियन लोगों ने यह दावा करना प्रारम्भ कर दिया था, कि कम्युनिज्म अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं की अपेक्षा बहुत उत्कृष्ट है। युद्ध के समय में रशियन लोगों ने जिस प्रकार मिलकर शत्रु का मुकाबला किया था, उसे दृष्टि में रखते हुए उन्हें यह दावा करने का अधिकार भी था।

१९४४ में सोवियट रूस के शासन-विधान में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये थे। इनके अनुसार रूस के सोवियट संघ में सम्मिलित विविध राज्यों को यह अधिकार दिया गया, कि वे अन्य देशों के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित कर सकें और अपनी सेनाएँ भी पृथक् व स्वतन्त्र रूप से रख सकें। अब सोवियट संघ में सम्मिलित राज्य अन्य देशों में अपने राजदूत भेज सकते थे, और उनसे पृथक् रूप से सन्धियां व समझौते भी कर सकते थे। विदेशी राजनीति में उन्हें स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त हो गई थी। इसी से लाभ उठाकर युक्रेन और ह्वाइट रूस ने संयुक्त राज्य-संघ का स्वतन्त्र रूप से सदस्य होने के लिये आवेदन-पत्र भेजा, जो स्वीकृत हो गया। ये दोनों राज्य तब से संयुक्त राज्यसंघ के सदस्य हैं, और वहां रूस का समर्थन करते हैं। शासन-विधान में जो परिवर्तन किये गये, उनके अनुसार रशियन मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ा दी गई। १९४८ में इस परिषद् के सदस्यों की संख्या ७५ थी। श्री स्टालिन अब भी प्रधान मन्त्री के पद पर विद्यमान हैं। राष्ट्रपति के पद पर सन १९४६ में श्री निकोलेई मिखैलोविच श्वेर्निक निर्वाचित हुए थे।

विश्व-संग्राम के कारण रूस को धन और जन का बड़ा भारी नुकसान उठाना पड़ा था। उसके कल-कारखाने बहुत कुछ नष्ट हो गये थे। जर्मन-आक्रमणों से विवश होकर रशियन लोग जिन प्रदेशों को खाली करते थे, उन्हें पूरी तरह उजाड़ देते थे। इस नीति के कारण रूस की सम्पत्ति का बहुत बुरी तरह विनाश हुआ था। अब श्री स्टालिन की सरकार के सम्मुख प्रधान कार्य यही था, कि रूस में किस प्रकार ऐसी व्यवस्था कायम की जाय, जिससे देश फिर आर्थिक समृद्धि

के मार्ग पर आगे बढ़ सके। इसके लिये उन्होंने जिन उपायों का अवलम्बन किया, उन पर संक्षेप से प्रकाश डालना आवश्यक है—

(१) देश के व्यावसायिक व आर्थिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिये एक नई पञ्चवार्षिक योजना (१९४६-५०) तैयार की गई। इसमें निम्नलिखित बातों पर विशेष स्थान दिया गया था (क) स्थानभ्रष्ट लोगों को फिर से बसाना। (ख) आर्थिक उत्पत्ति को इस हद तक बढ़ाना, कि विश्व-संग्राम से पहले प्रतिवर्ष जितनी अधिकतम उत्पत्ति होती थी, अब उससे भी अधिक होने लग जाय। (ग) लोगों के जीवन को अधिक समृद्ध तथा सुखी बनाना। पहली पञ्चवार्षिक योजनाओं के समान इस बार भी रूस की सारी शक्ति को एक लक्ष्य को दृष्टि में रखकर प्रयुक्त किया गया।

(२) विश्व-संग्राम में बहुत से रशियन नागरिक मारे गये थे। रूस का कुल क्षेत्रफल ८५ लाख वर्गमील है, १९४७ में उसकी आबादी केवल २० करोड़ थी। एक वर्गमील में २४ के लगभग आदमी निवास करते थे। यह जनसंख्या बहुत कम थी। कम्युनिस्ट सरकार का यह खयाल था, कि रूस की उन्नति के लिये उसकी आबादी में वृद्धि होनी चाहिये। इसलिये यह व्यवस्था की गई, कि जिन परिवारों में बच्चों की संख्या अधिक हो, उन्हें बोनस दिया जाय और जो लोग अविवाहित या सन्तानहीन रहें, उन पर टैक्स की मात्रा बढ़ा दी जाय, और जिस दम्पति के केवल दो या एक सन्तान हो, उस पर भी अधिक टैक्स लगाया जाय।

(३) विश्व-संग्राम से पूर्व कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य सुगमता से नहीं बनाये जाते थे। १९३९ में उसके सदस्यों की संख्या केवल २५ लाख थी। युद्ध के समय में यह अनुभव किया गया, कि जनता में कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति अधिक भक्ति होना उपयोगी है। अतः इस दल का सदस्य होना सुगम कर दिया गया। सितम्बर, १९४७ में रूस की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों की संख्या ६३ लाख के लगभग थी। कम्युनिस्ट दल के कलेवर के बढ़ जाने से रशियन सरकार के लिये अपना कार्य कर सकना अधिक सुगम हो गया।

जनता की सहानुभूति व सहयोग को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही विश्व-संग्राम के बाद धर्म के प्रति अधिक उदार नीति का अनुसरण किया गया। विश्व-संग्राम से पूर्व ही धार्मिक संस्थाओं व चर्च को अपना कार्य करने की अनुमति प्राप्त हो गई थी। पर अब चर्च को अपने कार्य के लिये और अधिक सुविधाएँ दी गईं। बोलशेविक क्रान्ति के समय से रूस में चर्च का कोई एक सर्वप्रधान महन्त (पेट्रि-आर्क) नहीं रहा था। पर अब रशियन चर्च ने अपना भली भांति संगठन कर

पेट्रिआर्क की फिर से नियुक्ति की। इस नियुक्ति के समय बड़ी धूमधाम के साथ उत्सव मनाया गया, और देश के सब हिस्सों के धर्म-प्रेमी लोग एकत्र हुए। इसका परिणाम यह हुआ, कि जो लोग कम्युनिस्टों को धर्म व चर्च का विरोधी समझकर उनसे विद्वेष रखते थे, वे भी सन्तुष्ट हो गये। कम्युनिस्ट लोग स्वयं अब भी चर्च व धर्म के विरोधी हैं। उनके विरुद्ध प्रचार करना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। पर जो रशियन लोग ईसाइयत व किसी अन्य धर्म के अनुयायी हों, उनके मार्ग में अब कोई विशेष बाधा नहीं रह गई है।

रूस की बोल्शेविक सरकार जहां देश की आन्तरिक व्यवस्था व आर्थिक उन्नति में लगी है, वहां विदेशी राजनीति में अपना प्रभाव व शक्ति बढ़ाने में वह विशेष रूप से तत्पर है। रूस की आन्तरिक राजनीति में भी कोई ऐसी समस्या नहीं है, जिससे वहां की सरकार को परेशान होने की आवश्यकता हो। अतः वह अपने विशाल देश की सब शक्ति को विदेशों में अपने प्रभाव का विस्तार करने में लगा सकती है। इसीलिये पूर्वी यूरोप के विविध देशों को उसने अपने प्रभाव में कर लिया है। एशिया में अपने प्रभाव का विस्तार करने में भी उसे असाधारण सफलता हुई है। चीन के बहुत बड़े भाग पर कम्युनिस्ट दल का कब्जा हो गया है। बरमा, भारत आदि अन्य एशियाई देशों में भी कम्युनिस्ट पार्टियां विद्यमान हैं। कामिन्फार्म के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के पुनः संगठित हो जाने के कारण रूस को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना असर बढ़ाने का अपूर्व अवसर हाथ लग गया है।

अमेरिका द्वारा प्रस्तुत की गई मार्शल-योजना की सर्वथा उपेक्षा कर रूस ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि उसे व उसकी विचारधारा का अनुसरण करनेवाले देशों को अपनी आर्थिक उन्नति के लिये किसी विदेश का मुंह देखने की आवश्यकता नहीं। सम्पत्ति के उत्पादन के दो ही मुख्य साधन हैं, प्रकृति और श्रम। ये दोनों किसी विदेश से प्राप्त नहीं किये जा सकते। जिसे सिक्का कहते हैं, वह सम्पत्ति को मापने का साधन मात्र है। अतः कोई देश अपने साधनों का ठीक प्रकार से उपयोग करके अपनी आर्थिक उन्नति कर सकता है। पूंजीवादी देशों को सिक्के व रुपये के कारण और सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वत्व होने के कारण जिन समस्याओं का मुकाबला करना पड़ता है, कम्युनिस्ट व्यवस्था में वे उत्पन्न नहीं होतीं। इसी कारण रूस व उसके साथी अपने आर्थिक व व्यावसायिक विकास के लिये अमेरिका से कर्ज लेने व सहायता प्राप्त करने की विशेष अपेक्षा नहीं रखते।

रूस ने भी एटम बम्ब का आविष्कार कर लिया है। अमेरिका के अति-

रिक्त रूस ही एक ऐसा देश है, जिसने परमाणु-शक्ति का उपयोग भली भांति जान लिया है। इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी शक्ति व स्थिति और भी अधिक बढ़ गई है।

४. रूस का प्रभाव-क्षेत्र

यूरोप में निम्नलिखित देश रूस के प्रभाव-क्षेत्र में हैं—पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रूमानिया, युगोस्लाविया, अल्बेनिया, बल्गेरिया, फिनलैण्ड और जर्मनी व आस्ट्रिया के रशियन क्षेत्र के प्रदेश। इन सब देशों का शासन व आर्थिक व्यवस्था कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुसार की जा रही है। इनके सम्बन्ध में केवल वे समाचार ही हमें ज्ञात हैं, जो सरकारी तरीके से बाहर की दुनिया के पास जा सकते हैं। इसीलिये अनेक राजनीतिज्ञ यह कहते हैं, कि इन सब देशों पर लोहे का एक भारी परदा पड़ा हुआ है। इस 'आयर्न कर्टेन' के पीछे क्या कुछ हो रहा है, यह सर्वसाधारण के लिये जान सकना सुगम नहीं है। ये देश किस प्रकार रूस के प्रभाव में आ गये और वहां किस प्रकार कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हुई, इस सम्बन्ध में हम पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। यहां हम इन देशों के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का स्थूल रूप से उल्लेख करेंगे।

(१) **बल्गेरिया**—इस देश की कम्युनिस्ट सरकार का मुख्य प्रयत्न इस बात के लिये रहा है, कि खेती और व्यवसायों को सरकार के अधीन कर वहां रूस के ढंग की आर्थिक व्यवस्था कायम की जाय। बल्गेरिया कृषि-प्रधान देश है, वहां की ८० फी सदी जनता अपने निर्वाह के लिये कृषि पर आश्रित थी। पर अधिकांश भमि जमींदारों की सम्पत्ति थी, और वे उसका उपयोग अपने हितों को दृष्टि में रखकर करते थे। मार्च, १९४६ में बल्गेरिया में जमींदारी प्रथा को उड़ा दिया गया और खेती के लिये जमीन को किसानों में बांट दिया गया। एक किसान के पास अधिक से अधिक कितनी जमीन खेती के लिये रह सकती है, यह भी तय कर दिया गया। किसानों की सब पुरानी देनदारियां खत्म कर दी गई। यह यत्न किया गया, कि विविध किसान मिलकर अपनी सहकारी समितियां बना लें, और बड़े पैमाने पर खेती करें। सन् १९४४ में ऐसे बड़े खेत, जिनमें यान्त्रिक शक्ति की सहायता से खेती हो सकती थी, केवल ४४ थे। १९४८ में ऐसे खेतों की संख्या बढ़कर १००० के लगभग पहुंच गई थी। बल्गेरिया की सरकार यान्त्रिक शक्ति से खेती करने व खेतों की पैदावार को बढ़ाने की बात को बहुत महत्त्व देती है। इसीलिये हजारों ट्रैक्टर व अन्य यान्त्रिक उपकरण वहां खरीदे गये हैं। परिणाम यह हुआ

है, कि बल्गेरिया में खेती की पैदावार बहुत बढ़ गई है, और खाद्य पदार्थों की कीमतें काफी नीचे गिर गई हैं।

जनवरी, १९४७ में कल-कारखानों और बड़े व्यवसायों को भी बल्गेरिया में राज्य की सम्पत्ति बना दिया गया। अब ८० प्रतिशत के लगभग उद्योग-धन्धों पर बल्गेरिया में राज्य का स्वामित्व स्थापित हो गया है। इससे वहां व्यावसायिक उन्नति में बहुत सहायता मिली है। १९४८ के अन्त तक यह स्थिति हो गई थी, कि ३० फी सदी बल्गेरियन जनता अपने निर्वाह के लिये व्यवसायों पर आश्रित हो गई थी। दो सालों के छोटे से अरसे में ही १० फी सदी के लगभग नये बल्गेरियन नागरिक कृषि पर आश्रित रहने के स्थान पर विभिन्न व्यवसायों में आ गये थे। १९४८ में बल्गेरिया ने भी एक पंचवार्षिक योजना तैयार की। इसका उद्देश्य यह है, कि देश में खेती व व्यवसायों में और अधिक उन्नति हो। बल्गेरियन सरकार चाहती है, कि कृषि पर निर्भर रहनेवाले लोगों की संख्या ५५ फी सदी से अधिक न रहे। शेष सब लोग व्यवसायों में लगें, और इस प्रकार जनता के रहन-सहन को ऊंचा उठाने में मदद मिले।

कम्युनिस्ट लोग अपनी नीति व कार्यक्रम को बिना विरोध के आगे बढ़ाने में सफल नहीं हुए। उन्हें अन्य राजनीतिक दलों के विरोध का सामना करना पड़ा। कम्युनिस्टों के अतिरिक्त वहां तीन अन्य राजनीतिक दल थे—देहाती दल, सोशलिस्ट दल और रिपब्लिकन लोकतन्त्रवादी दल। पहले कम्युनिस्टों ने यह कोशिश की, कि इन पार्टियों के साथ मिली-जुली सरकार बनाकर काम करें। पर अन्य दलों के लोग कम्युनिस्ट आर्थिक व्यवस्था से सहमत नहीं थे। परिणाम यह हुआ, कि कम्युनिस्ट नेता श्री डिमिट्रोव ने अन्य दलों का उग्र रूप से विरोध करना शुरू किया। देहाती दल के नेता श्री पेठकोव को गिरफ्तार किया गया। उन पर मुकद्दमा चलाकर उन्हें प्राणदण्ड दिया गया। यही बर्ताव विरोधी दलों के अन्य नेताओं के साथ किया गया। १९४७ के मध्य तक बल्गेरिया में यह स्थिति आ गई थी, कि कम्युनिस्ट दल का अबाधित शासन (डिक्टेटरशिप) वहां कायम हो गया था।

(२) युगोस्लाविया—विश्व-संग्राम में जर्मनी की घटती कला के शुरू होने पर रशियन सहायता से किस प्रकार युगोस्लाविया स्वतन्त्र हुआ, और मार्शल टीटो के नेतृत्व में वहां कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना हुई, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पर कम्युनिस्टों के अतिरिक्त अन्य भी ऐसे दल थे, जिन्होंने युगोस्लाविया की स्वाधीनता के लिये संघर्ष किया था। इनमें सर्वप्रधान वे देशभक्त थे, जिन्होंने श्री मिहैलोविच के नेतृत्व में जर्मनी के खिलाफ विद्रोह का झण्डा

खड़ा किया था। इन्होंने अपनी सेना का बाकायदा संगठन किया था और शुरू में मित्रराष्ट्रों की सहानुभूति व सहायता भी इन्हें प्राप्त थी। पर जब रूस की सहायता से मार्शल टीटो ने युगोस्लाविया में अपनी सरकार की स्थापना का यत्न शुरू किया, तो मिहैलोविच के अनुयायियों के साथ उसका विरोध होना स्वाभाविक था। टीटो ने इन पर यह आक्षेप किया, कि मिहैलोविच के अनुयायी फैसिस्ट हैं, और इन्होंने यह भी यत्न किया था, कि जर्मनी की सहायता से कम्युनिस्टों का विरोध करें। जून, १९४६ में मिहैलोविच और उसके २३ प्रमुख साथियों को गिरफ्तार कर लिया गया। इन पर मुकदमे चलाये गये और सबको प्राणदण्ड दिया गया। यही बर्ताव कम्युनिस्ट विरोधी अन्य दलों के साथ किया गया, और शीघ्र ही मार्शल टीटो युगोस्लाविया का एकमात्र नेता रह गया।

मार्शल टीटो ने अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित की। देश के शासन-विधान का निर्माण करते हुए उसने रूस का अनुकरण किया। युगोस्लाविया के निवासी जातिगत दृष्टि से अनेक भागों में विभक्त हैं। इन विभागों को नजर में रखकर उसे छः स्वतन्त्र सोवियट रिपब्लिकों में बांटा गया। इन रिपब्लिकों के नाम ये हैं—(१) बोस्निया-हरजोगोविना, (२) क्रोटिया, (३) मैसिडोनिया, (४) मान्टिनिग्रो, (५) सर्बिया और (६) स्लावोनिया। इन छः स्वतन्त्र रिपब्लिकन राज्यों के अतिरिक्त दो अन्य ऐसे प्रदेशों में पृथक् राज्य कायम किये गये, जिनकी आबादी मिली-जुली है। वायवोडिना में स्लाव और हंगेरियन लोग साथ-साथ बसते हैं। इसी प्रकार कोसोवो-मेतोहिजा के प्रदेश में सर्ब और अल्बेनियन लोगों का एक साथ निवास है। इन दोनों प्रदेशों को अन्य रिपब्लिकों से पृथक् रखकर इनमें पृथक् स्वतन्त्र सरकारों की स्थापना की गई। कम्युनिस्टों की इस व्यवस्था से विभिन्न जातियों में परस्पर संघर्ष व ईर्ष्या नहीं रहने पाती, और सबको एक आर्थिक व्यवस्था का अनुसरण करते हुए अपने पृथक् व स्वतन्त्र विकास का मौका मिलता है। सब रिपब्लिकों व प्रदेशों की पृथक् सरकारों के ऊपर केन्द्रीय सोवियट सरकार की रचना की गई, जिसका अधिपति मार्शल टीटो स्वयं बना। युगोस्लाविया की केन्द्रीय पार्लियामेण्ट में दो सभाएँ हैं—(१) राष्ट्रीय सभा—इसमें सारे देश को एक राष्ट्र मानकर प्रतिनिधियों का चुनाव होता है। (२) जातियों की सभा—इसमें देश में निवास करनेवाली विविध जातियों व लोगों के प्रतिनिधि पृथक् रूप से चुनकर आते हैं। वास्तविक शासन-शक्ति कम्युनिस्ट दल के हाथ में है। अन्य पार्टियों को पूरी तरह से दबा दिया गया है। यही कारण है, कि जब ११ नवम्बर, १९४५ को युगोस्लाविया की पार्लियामेण्ट का निर्वाचन हुआ, तो मार्शल

टीटो की तरफ से उम्मीदवारों की एक सूची तैयार कर ली गई। इस सूची के अन्तर्गत किसी उम्मीदवार का विरोध करने का साहस किसी दल में नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि इस सूची के सब उम्मीदवार निर्वाचित हो गये। इसमें सन्देह नहीं, कि मार्शल टीटो द्वारा प्रस्तुत इस सूची में कुछ ऐसे लोग भी थे, जो कम्युनिस्ट नहीं थे। उनकी योग्यता व देश-सेवा को दृष्टि में रखकर कम्युनिस्टों ने उन्हें भी सूची में शामिल कर लिया था। पर ये लोग पार्लियामेण्ट में बैठकर टीटो व उसकी नीति का विरोध करें, यह कम्युनिस्टों को सह्य नहीं था। इसीलिये जुलाई, १९४६ में श्री जोवानोविक (देहाती दल के नेता) ने जब कम्युनिस्ट सरकार की नीति की आलोचना की, तो उन्हें पार्लियामेण्ट की सदस्यता से पृथक हो जाने के लिये विवश किया गया। उन्हें गिरफ्तार किया गया और मुकदमा चलाकर उन्हें ९ साल जेल की सजा दी गई। उन पर यह अभियोग लगाया गया था, कि वे अन्य देशों के एजेन्ट हैं, और युगोस्लाविया का अहित करने के लिये उद्यत रहे हैं। श्री जोवानोविक मार्शल टीटो द्वारा तैयार की गई उम्मीदवारों की सूची में थे, इसीलिये वे पार्लियामेण्ट में निर्वाचित हो सके थे। पर उनके विचार कम्युनिस्टों से नहीं मिलते थे और उनका राजनीतिक दल 'देहाती दल' के नाम से प्रसिद्ध था। इसी प्रकार का व्यवहार अन्य अनेक नेताओं के साथ भी किया गया। मार्शल टीटो अपने देश में कम्युनिस्ट पार्टी की 'डिक्टेटरशिप' को भली भांति स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे, और यह इसी नीति से सम्भव हो सकता था।

कम्युनिस्ट पार्टी के शासन को पूरी तरह स्थापित करके मार्शल टीटो ने अपनी शक्ति को युगोस्लाविया में रूस के ढंग की व्यवस्था कायम करने में लगा दिया। इसके लिये जो उपाय उन्होंने किये, वे निम्नलिखित हैं—

(१) ५ दिसम्बर, १९४६ को सब कल-कारखानों, व्यवसायों और कृषि पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया गया। इससे आर्थिक उत्पत्ति की वृद्धि में बहुत मदद मिली। रूस के समान युगोस्लाविया में भी पंचवार्षिक योजना तैयार की गई।

(२) ईसाई चर्च कम्युनिज्म का विरोधी था। अनेक लोग धर्म का आश्रय लेकर कम्युनिस्ट व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार करते थे। इनको बुरी तरह कुचला गया। युगोस्लाविया के प्रधान महन्त (आर्क बिशप) श्री स्टेपिनक को गिरफ्तार कर लिया गया। उन पर यह अभियोग लगाया गया, कि उन्होंने जर्मनी के साथ सहयोग किया था। न्यायालय ने उन्हें दोषी पाया, और सोलह साल कैद की सजा दी।

(२) विविध देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों में सहयोग स्थापित करने के लिये जिस कामिन्फार्म की रचना की गई थी, उसका प्रधान केन्द्र युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में रखा गया। मार्शल टीटो की यह महत्त्वाकांक्षा थी, कि यूरोप में कम्युनिज्म के प्रसार में युगोस्लाविया को विशेष तत्परता प्रदर्शित करनी चाहिये।

पर मार्शल टीटो और मार्शल स्टालिन में देर तक मैत्री व सौहार्द्र कायम नहीं रह सका। विश्व-संग्राम के बाद बालकन प्रायद्वीप के विविध राज्यों में युगोस्लाविया सबसे अधिक शक्तिशाली था। वहां के लोग अपने इस राष्ट्रीय उत्कर्ष से बहुत सन्तुष्ट थे। कम्युनिज्म के प्रचार के बावजूद भी बालकन राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना बहुत प्रबल थी। शक्तिशाली युगोस्लाविया का वीर नेता मार्शल टीटो यह नहीं सह सकता था, कि वह किसी अन्य राज्य की अधीनता व प्रभाव में रहे। कामिन्फार्म का प्रधान केन्द्र बेशक बेलग्रेड में था, पर इस अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संस्था में रूस का बोलबाला था। श्री स्टालिन व उसके साथी अन्य रशियन नेताओं को यह पसन्द नहीं था, कि अन्य देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के नेता रशियन नेताओं के साथ में समता का भाव रखें। वे उन्हें पूरी तरह अपने असर में रखना चाहते थे। टीटो का रुख उन्हें पसन्द नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि जुलाई, १९४८ में कामिन्फार्म ने यह फैसला किया, कि टीटो की कम्युनिस्ट पार्टी कार्ल मार्क्स के सत्य सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं कर रही है, उसकी प्रवृत्ति अत्यधिक राष्ट्रीय है, और वह अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के प्रति द्रोह कर रही है। इस निर्णय से टीटो और स्टालिन में विरोध-भावना बहुत अधिक बढ़ गई। टीटो ने यह प्रयत्न भी किया, कि बालकन प्रायद्वीप के विविध राज्यों की कम्युनिस्ट सरकारों को संगठित कर एक स्वतन्त्र कम्युनिस्ट ब्लाक का निर्माण किया जाय। टीटो और स्टालिन का यह संघर्ष अभी जारी है, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी इसके चिन्ह अनेक बार प्रगट हो जाते हैं। अमेरिका, ब्रिटेन आदि लोकतन्त्रवादी देश इस संघर्ष से प्रसन्न हैं। उनका खयाल है, कि इस संघर्ष का यह परिणाम अवश्यम्भावी है, कि कम्युनिस्ट विचारधारा व शक्ति कमजोर पड़ जाय। इसीलिये १९४९ में जब संयुक्त राज्यसंघ के नये सदस्यों का चुनाव हुआ, तो रूस के विरोध करने पर भी युगोस्लाविया को संघ का सदस्य निर्वाचित कर लिया गया।

(३) रूमानिया—बल्गेरिया और युगोस्लाविया के समान रूमानिया में भी कम्युनिस्ट व्यवस्था भली भांति स्थापित की जा चुकी है। अगस्त, १९४४ में रूमानिया जर्मनी के कब्जे से स्वतन्त्र हुआ था। वहां पुराने राजवंश का फिर से

उद्धार हुआ, और राजा माइकेल ने शासन-सूत्र को अपने हाथों में सँभाल लिया। उसकी पहली सरकार प्रधानतया सैनिक थी, पर प्रमुख राजनीतिक दलों का भी एक-एक प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल में ले लिया गया था। ये दल निम्नलिखित थे—लिबरल, देहाती दल, सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट। विश्व-संग्राम की समाप्ति पर सैनिक सरकार का अन्त किया गया, और रूमानिया में वैध राजसत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। शासन के लिये जो मन्त्रिमण्डल बना, उसमें सब प्रमुख राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि अन्तर्गत किये गये थे। विश्व-संग्राम से पूर्व रूमानिया में देहाती दल का बहुत जोर था, अतः अब जो मन्त्रिमण्डल बना, उसमें भी इस दल की मुख्यता थी। पर कम्युनिस्ट लोग इससे सन्तुष्ट नहीं थे। उनका यत्न यह था, कि रूमानिया में पूर्णतया कम्युनिस्ट व्यवस्था को कायम किया जाय। रूस इस प्रयत्न में उनका सहायक था। उन्होंने उग्र रूप से आन्दोलन शुरू किया। नवम्बर, १९४६ में रूमानिया की पार्लियामेण्ट का निर्वाचन हुआ। इस अवसर पर कम्युनिस्ट पार्टी ने जबर्दस्ती और हिंसा के उपायों का अवलम्बन किया। कम्युनिस्टों के आतंक के कारण आम जनता स्वेच्छापूर्वक वोट नहीं दे सकी। पार्लियामेण्ट में कम्युनिस्ट उम्मीदवार बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। सरकार में उनका जोर बढ़ गया। अभी रूमानिया में अन्य राजनीतिक दल भी विद्यमान थे। मन्त्रिमण्डल में भी उनको प्रतिनिधित्व प्राप्त था। पर कम्युनिस्ट लोग उन पर अनेक प्रकार के आक्षेप कर रहे थे, और उन पर देशद्रोह का अभियोग चलाना चाहते थे। अनेक राजनीतिक नेताओं को गिरफ्तार किया गया। जब अन्य पार्टियों के लोगों ने अमेरिका, ब्रिटेन आदि से हस्तक्षेप करने की अपील की, तो उन्हें गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। देहाती दल और लिबरल दल इस नीति के शिकार बने। देहाती दल के नेता डा० मनीउ को गिरफ्तार कर उन पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया गया। रूमानिया के कानून के अनुसार प्राणदण्ड निषिद्ध था। अतः डा० मनीउ को आजन्म कारावास की सजा प्रदान की गई। धीरे-धीरे रूमानिया का अमेरिका और ब्रिटेन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। वह पूर्णतया रूस के प्रभाव में चला गया और वहां की सरकार पूरी तरह कम्युनिस्टों के कब्जे में आ गई।

पर राजा माइकेल अब तक भी रूमानिया के राजसिंहासन पर विद्यमान था। ७ नवम्बर, १९४७ को अन्ना पाउकर नाम की एक महिला को विदेश-सचिव के पद पर नियत किया गया। यह महिला कम्युनिस्ट दल की अत्यन्त उग्र पोषिका थी। यह सर्वसाधारण गरीब जनता में से थी, और रूमानिया के 'गौरवशाली' राजवंश के राजा के लिये ऐसे मन्त्रियों के साथ शासन कर सकना सम्भव नहीं था।

कुछ सप्ताह बाद राजा माइकेल ने स्वयमेव राजसिंहासन का परित्याग कर दिया, और रूमानिया में भी सोवियट प्रणाली के अनुसार रिपब्लिक की स्थापना कर दी गई। १९४८ के प्रारम्भ में नया शासन-विधान वहां प्रचलित हो गया।

रूमानिया में भी कम्युनिस्ट सरकार ने रूस के सदृश व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया। मुख्य मुख्य व्यवसायों को राज्य के अधीन कर दिया गया। दिसम्बर, १९४८ में रूमानियन नेशनल बैंक पर भी राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया गया। कृषि भी राज्य के अधिकार व नियन्त्रण में ले आई गई।

पर रूमानिया की आर्थिक समस्या बहुत गम्भीर थी। विश्व-संग्राम की अनेक बड़ी लड़ाइयां वहां लड़ी गई थीं। जर्मनी और रूस दोनों की सेनाओं का वह देर तक युद्ध-क्षेत्र रहा था। इससे उसका आर्थिक व व्यावसायिक जीवन बिलकुल अस्त-व्यस्त हो गया था। उसके अनेक प्रदेश रूस और बल्गेरिया को प्रदान कर दिये गये थे। उस पर हरजाने की भी भारी मात्रा लादी गई थी, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि उसके सिक्के की कीमत बहुत गिर गई। १९४६ में एक रुपये के बदले में ३०,००० के लगभग रूमानियन सिक्के खरीदे जा सकते थे। पर रूमानिया की कम्युनिस्ट सरकार ने इस आर्थिक संकट का वीरता के साथ मुकाबला किया, और समाजवादी सिद्धान्तों का अनुसरण कर स्थिति को बहुत कुछ सँभाल लिया।

अन्य राज्य—पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, अल्बेनिया आदि पूर्वी यूरोप के अन्य देशों में किस प्रकार कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम हुई, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है। इन सब देशों का राजनीतिक जीवन अभी अनिश्चित दशा में है। इनमें एक तरफ जहां कम्युनिस्ट लोग अन्य सब राजनीतिक दलों को दबाने व कुचलने में लगे हैं, वहां साथ ही कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुसार देश की आर्थिक व व्यावसायिक उन्नति के लिये वे विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं। उनकी शक्ति और प्रभाव का प्रधान आधार यही है, कि वे सर्वसाधारण जनता की आर्थिक व सामाजिक उन्नति करने में समर्थ हुए हैं। देश में विद्यमान सब साधनों—प्रकृति और श्रम—को सार्वजनिक हित की दृष्टि से प्रयुक्त करने का परिणाम यह होता है, कि आर्थिक उत्पत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, और विविध व्यक्तियों व श्रेणियों में नफा कमाने के लिये जो एक प्रकार की स्पर्धा व 'मात्स्यन्याय' पूंजीवादी देशों में रहता है, वह कम्युनिस्ट व्यवस्था में प्रगट नहीं होता। यही कारण है, कि कम्युनिस्ट विचारधारा निरन्तर बल पकड़ती जाती है।

५. चीन में कम्युनिस्ट प्रभाव

विश्व-संग्राम के समय में जापान ने यह प्रयत्न किया था, कि चीन को जीत कर अपने अधिकार में कर ले । उत्तर और पूर्व की तरफ चीन के अनेक प्रदेशों में जापान ने अपना कब्जा भी स्थापित कर लिया था । इसी कारण चीनी सरकार ने अपनी राजधानी नानकिंग से हटाकर चुनकिंग में बना ली थी । चीनी सरकार के अधिपति श्री चियांग केई शेक थे, जो वहां के राष्ट्रीय दल कुओ मिन तांग के नेता थे । यह दल कम्युनिस्टों का विरोधी था, और दक्षिण पक्ष के साथ सम्बन्ध रखता था । पर कुओ मिन तांग के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दल भी चीन में विद्यमान थे । ये दल कम्युनिस्ट और लिबरल थे । वामपक्षी कम्युनिस्टों के नेता श्री माओत्से तुंग थे । ये चियांग केई शेक के राष्ट्रीय दल की सरकार को पदच्युत करके उसके स्थान पर कम्युनिस्ट शासन स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये इन्होंने केवल वैध उपायों का ही अवलम्बन नहीं किया था, अपितु अपनी सेना का संगठन कर सरकार से बाकायदा संघर्ष भी प्रारम्भ कर दिया था । विश्व-संग्राम के प्रारम्भ होने से कई साल पूर्व १९३६ में उत्तर-पश्चिमी चीन के कुछ प्रदेशों पर इनका कब्जा भी हो गया था । इन प्रदेशों के निवासियों की संख्या ९५ लाख के लगभग थी । चीन और जापान की लड़ाई शुरू होने पर कम्युनिस्टों को अपनी शक्ति के विस्तार का अच्छा अवसर हाथ लग गया । यद्यपि जापान के साथ लड़ाई में कम्युनिस्ट लोग भी राष्ट्रीय सरकार का साथ दे रहे थे, पर अपनी सेनाओं द्वारा वे जहां जापान का मुकाबला करते थे, वहां चीन के विभिन्न प्रदेशों पर भी अपना कब्जा जमाते जाते थे । इसी का परिणाम था, कि १९४६ में उत्तरी और पूर्वी चीन के अनेक प्रदेश उनके अधिकार में आ गये थे, और इन प्रदेशों की कुल आबादी १३ करोड़ के लगभग थी । चीन के लिबरल दल में प्रायः शिक्षित मध्य श्रेणी के लोग सम्मिलित थे । इस दल का प्रयत्न यह था, कि चीन में लोक-सत्तावाद के सिद्धान्तों के अनुसार सरकार की स्थापना की जाय । चियांग केई शेक की राष्ट्रीय सरकार से इन्हें यह शिकायत थी, कि उसमें एक पार्टी व एक नेता को आवश्यकता से अधिक अधिकार प्राप्त हैं, और सर्वसाधारण जनता की सम्मति को समुचित महत्त्व नहीं दिया जाता ।

चीन और जापान के युद्ध के समय अमेरिका ने चीन की जी खोलकर सहायता की । अमेरिका का विचार था, कि जापान को परास्त करने के लिये चीन को आधार के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है । साथ ही चीन की विशाल आबादी और

प्राकृतिक साधनों का उपयोग जापान की पराजय के लिये किया जाना सम्भव है। अमेरिकन सरकार यह भी समझती थी, कि एशिया में यदि रूस अपने प्रभावक्षेत्र को बढ़ाना चाहे, तो चीन की शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकार उसके मार्ग में दीवार का काम दे सकती है। इसीलिये उसने चियांग केई शेक को भरपूर सहायता दी। १९४२ में इस सहायता की मात्रा २० करोड़ रुपया प्रति वर्ष के लगभग थी। १९४७ में आर्थिक सहायता की यह रकम बढ़कर १०० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष तक पहुंच गई। साथ ही अमेरिका ने यह भी प्रयत्न किया, कि चीन की सेनाओं को शिक्षित व साधन-सम्पन्न करने के लिये विशेषज्ञों को वहां भेजे। अमेरिका की यह भी कोशिश थी, कि चीन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त हो। इसीलिये अमेरिका और ब्रिटेन ने चीन के साथ ऐसी सन्धियां कीं जिनके द्वारा इन देशों ने उन अनेक विशेष अधिकारों का स्वयमेव परित्याग कर दिया, जो उन्नीसवीं सदी में उन्होंने चीन में प्राप्त किये थे। चीन को संसार के सर्वप्रधान चार या पांच (फ्रांस को गिनकर) राज्यों में गिना जाने लगा। जब संयुक्त राज्यसंघ का संगठन किया गया, तो उसकी सुरक्षा-परिषद् में चीन को स्थिर रूप से सदस्यता प्रदान की गई, और उसे भी यह अधिकार दिया गया, कि वह संयुक्त राज्यसंघ के किसी भी निर्णय को वीटो कर सके।

अमेरिका ने यह यत्न भी किया, कि चीन की राष्ट्रीय सरकार को वहां के लिबरल दल का सहयोग प्राप्त हो, और चियांग केई शेक की सरकार लोकसत्तावाद के सिद्धान्तों पर आश्रित रहे। इसीलिये नवम्बर, १९४६ में वहां एक विधान-परिषद् का संगठन किया गया, जिसे देश के नये शासन-विधान को तैयार करने का कार्य सुपुर्द किया गया। विधान-परिषद् ने शीघ्र ही अपना कार्य सम्पन्न कर लिया। १९४७ के शुरू तक चीन का नया शासन-विधान बनकर तैयार हो गया। इसमें जनता के आधारभूत अधिकारों को प्रमुख स्थान दिया गया। पार्लियामेण्ट के सदस्यों की संख्या ३००० नियत की गई। यह व्यवस्था की गई, कि चीन को विविध निर्वाचक-मण्डलों में विभक्त करके प्रतिनिधियों का निर्वाचन छः साल के लिये किया जाय। पार्लियामेण्ट को ही यह कार्य भी सुपुर्द किया गया, कि वह चीन के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति का चुनाव करे। नये शासन-विधान को क्रिया में परिणत कर दिया गया, और एप्रिल, १९४८ में चीन की नई पार्लियामेण्ट ने बहु-सम्मति से चियांग केई शेक को राष्ट्रपति निर्वाचित किया।

अमेरिका ने सब प्रकार से यह प्रयत्न किया, कि चीन में एक मजबूत और शक्तिशाली सरकार की स्थापना हो, और चीन एशिया का सर्वप्रधान राज्य बन

जाय। उसमें लोकतन्त्र आसन रहे और वह रूस से शुरू हुई कम्युनिज्म की बाढ़ को एशिया में आगे बढ़ने से रोक सके। पर उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हुई। जापान के साथ युद्ध और कम्युनिस्टों के साथ गृह-कलह ने चीन के आर्थिक जीवन को बिलकुल अस्त-व्यस्त कर दिया था। रूस की सहायता प्राप्त करके कम्युनिस्ट लोग निरन्तर प्रबल होते जाते थे। चियांग केई शेक की सरकार की सारी शक्ति कम्युनिस्टों के साथ युद्ध में ही लगी हुई थी। देश की आर्थिक व व्यावसायिक उन्नति पर वह समुचित ध्यान नहीं दे सकती थी। युद्धों और आन्तरिक अव्यवस्थाओं के कारण आर्थिक दृष्टि से चीन की कितनी दुर्दशा हो गई थी, इसका अनुमान उसकी मुद्रा की दयनीय दशा द्वारा किया जा सकता है। अगस्त, १९४७ में एक अमेरिकन डालर के बदले में ५९,००० चीनी डालर खरीदे जा सकते थे। चीन के सिक्के की इस हद तक दुर्दशा हो गई थी। पर इसके बाद भी चीनी डालर की कीमत गिरती गई। आगे चलकर वह और भी गिरा, और उसकी कीमत इस प्रकार घट गई—

जनवरी, १९४८ एक अमेरिकन डालर=१५०,००० चीनी डालर
मार्च, १९४८ एक अमेरिकन डालर=४६०,००० चीनी डालर
जुलाई, १९४८ एक अमेरिकन डालर=६००,००० चीनी डालर

अनुमान किया गया है, कि मई, १९४८ में चीन में पत्र-मुद्रा की मात्रा सौ लाख करोड़ डालर से भी अधिक थी। मुद्रा-पद्धति की इस दुर्दशा से चीन का आर्थिक जीवन सर्वथा अस्त-व्यस्त हो गया था। जनता को इसके कारण जिन कष्टों का मुकाबला करना पड़ रहा था, उनकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है।

इस बीच में कम्युनिस्ट सेनाएं निरन्तर आगे बढ़ती जाती थीं। उत्तरी और मध्य चीन पहले ही उनके कब्जे में था। अब उन्होंने और आगे बढ़ना शुरू किया। अब अमेरिकन सरकार ने भी भली भांति अनुभव कर लिया, कि चीन की राष्ट्रीय सरकार को और अधिक सहायता देना व्यर्थ है। धीरे-धीरे उसने चीन से हाथ खेंचना शुरू कर दिया। इससे कम्युनिस्टों की हिम्मत और भी अधिक बढ़ गई। वे मुकदन को जीतकर नानकिंग तक पहुंच गये। जनवरी, १९४९ में चियांग केई शेक ने राष्ट्रपति के पद से विराम ले लिया। फरवरी, १९४९ में कम्युनिस्टों और राष्ट्रीय सरकार में सन्धि की बातचीत चलाई गई। एप्रिल तक यह सन्धि-चर्चा जारी रही, पर सफल नहीं हो सकी। २३ एप्रिल, १९४९ को चीन की राजधानी नानकिंग पर कम्युनिस्टों का कब्जा हो गया और उसके एक मास के भीतर ही

शंघाई भी उनके अधिकार में चला गया । इसके बाद कम्युनिस्ट लोग चीन में निरन्तर आगे बढ़ते गये । इन्होंने अपनी सरकार का भी बाकायदा संगठन कर लिया और अब संसार के विविध राज्यों के सम्मुख यह प्रश्न विद्यमान है, कि वे चीन की कम्युनिस्ट सरकार को ही देश की वास्तविक सरकार के रूप में स्वीकृत करें, और संयुक्त राज्यसंघ में भी कम्युनिस्ट चीनी सरकार का ही प्रतिनिधि रहे । यदि यह हो गया, तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कम्युनिस्टों का प्रभाव बहुत बढ़ जायगा । चीन में कम्युनिस्टों की सफलता के कारण एशिया में रूस का प्रभाव-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है ।

६. इटली की प्रथम रिपब्लिक

विश्व-संग्राम की समाप्ति पर इटली में राजसत्ता का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई, यह बात यूरोप के आधुनिक इतिहास में अत्यन्त महत्त्व की है । जुलाई, १९४३ में मित्रपक्ष की सेनाएं इटली में प्रवेश कर गईं, और मुसोलिनी का पतन हो गया । मई, १९४५ तक सम्पूर्ण इटली पर मित्रपक्ष की सेनाओं का कब्जा हो गया था । देश का शासन करने के लिये एक सामयिक सरकार की स्थापना की गई, जिसका नेता मार्शल बोदोग्लियो था । इस सामयिक इटालियन सरकार पर नियन्त्रण रखने के लिये दो संस्थाओं की रचना की गई—(१) सैनिक सरकार (अलाइड मिलिट्री गवर्नमेण्ट)—यह संस्था जहां इटली से जर्मन सेनाओं को निकालने व सैनिक दृष्टि से इटली को संगठित व व्यवस्थित करने का काम करती थी, वहां साथ ही उन प्रदेशों का शासन भी करती थी, जहां अभी लड़ाई जारी थी या जहां पूरी तरह से शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं हुई थी । (२) अलाइड कन्ट्रोल कमीशन—इसका कार्य मार्शल बोदोग्लियो की सरकार पर देख-रेख रखना था । इस कमीशन में ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और रूस इन चार राज्यों के प्रतिनिधि थे ।

साम्राज्य का अन्त—युद्ध की समाप्ति पर इटली के साथ जो सन्धि की गई, उसके परिणामस्वरूप उसका सम्पूर्ण अफ्रीकन साम्राज्य उसके हाथ से निकल गया । अबीसीनिया का राज्य विश्व-संग्राम के दौरान में ही इटली की अधीनता से मुक्त हो गया था, और वहां के पदच्युत सम्राट् हैल सिलासी ने अपनी खोई हुई राजगद्दी को फिर से (मई, १९४१) प्राप्त कर लिया था । लीबिया, एरिट्रिया और इटालियन सोमालीलैण्ड ये अन्य उपनिवेश थे, जो अफ्रीका में इटली के अधीन थे । अब इन्हें इटली से ले लिया गया । इस प्रकार इटली के अफ्रीकन साम्राज्य का

अन्त हुआ। यूरोप में भी इटली की सीमाओं में परिवर्तन किया गया। इटली के जो प्रदेश फ्रांस की सीमा पर स्थित थे, उनमें से कतिपय इटली से पृथक् करके फ्रांस को दे दिये गये। तीन हजार वर्गमील के लगभग का प्रदेश युगोस्लाविया ने इटली से प्राप्त किया। साथ ही, एड्रियाटिक सागर में स्थित कतिपय द्वीप भी युगोस्लाविया ने इटली से प्राप्त किये। युगोस्लाविया तो ट्रीएस्त के प्रदेश को भी अपने अधिकार में करना चाहता था। पर इसे एक स्वतन्त्र प्रदेश के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और इसके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि संयुक्त राज्यसंघ की सुरक्षा-परिषद् द्वारा नियुक्त गवर्नर इसका शासन करे। इस प्रकार विश्व-संग्राम के परिणामस्वरूप इटली ने न केवल अपने सब उपनिवेशों व साम्राज्य से हाथ धोया, पर यूरोप में स्थित उसके अपने अनेक प्रदेश भी उससे ले लिये गये। इटली ने हरजाने की भी एक भारी मात्रा मित्रराज्यों को प्रदान करना स्वीकार किया। यह मात्रा ११० करोड़ रुपया नियत की गई। सन्धि की शर्तों में यह भी व्यवस्था की गई, कि इटली की स्थल-सेना में २,५०,००० से अधिक सैनिक न व २०० से अधिक भारी टैंक न हो सकें। मित्रराज्य इस बात के लिये उत्सुक थे, कि इटली फिर से अपनी सैन्यशक्ति न बढ़ा सके।

विश्व-संग्राम में इटली को भारी क्षति हुई थी। उसके तीन लाख सैनिक युद्ध में काम आये थे, और दो लाख के लगभग बुरी तरह से घायल हुए थे। जब जर्मनी का पक्ष निर्बल होना शुरू हुआ, तो मित्रराज्यों ने इटली द्वारा ही यूरोप में प्रवेश किया था। इस कारण इटली की भूमि पर अत्यन्त भयंकर युद्ध लड़े गये थे, और उनसे वहां के कारखानों, नगरों, खेतों व इमारतों को भारी नुकसान पहुंचा था। युद्ध की समाप्ति के बाद इटली के नेताओं के सम्मुख यह महत्त्वपूर्ण समस्या थी, कि वे अपने देश के आर्थिक व व्यावसायिक जीवन को किस प्रकार संभालें। इटालियन मुद्रा-पद्धति बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गई थी, युद्ध से पहले इटली के सिक्के लीरा की कीमत एक पौण्ड के बदले में ९० थी। पर लड़ाई के बाद लीरा की कीमत गिरते-गिरते १,४०० (पौण्ड=१,४०० लीरा) तक पहुंच गई थी। इस दशा में इटली की सरकार के सम्मुख जो विकट आर्थिक समस्या उपस्थित थी, उसकी कल्पना सहज में की जा सकती है।

विविध दल—पर सबसे पहले इटालियन लोगों को अपनी सरकार के सम्बन्ध में निर्णय करना था। मार्शल बोदोग्लियो के नेतृत्व में जो सरकार स्थापित हुई थी, वह सामयिक थी। अब प्रश्न यह था, कि देश की स्थिर शासन-व्यवस्था क्या हो। इस सम्बन्ध में इटली में मुख्य राजनीतिक दल निम्नलिखित थे—

(१) राजसत्ता के पक्षपाती---ये लोग इटली के पुराने राजवंश के शासन का पुनरुद्धार करना चाहते थे। मुसोलिनी के समय का इटली का पुराना राजा विक्टर एमेनुएल तृतीय था। वह सर्वथा अयोग्य और निर्बल व्यक्ति था। मुसोलिनी के समय में वह फैसिस्ट दल के हाथों में कठपुतली मात्र था, और जनता को यह आशा नहीं थी, कि वह इस संकट के समय में योग्य शासक सिद्ध हो सकेगा। राजसत्ता के पक्षपातियों ने उसे प्रेरित किया, कि वह अपने पुत्र प्रिंस अम्बर्तो के पक्ष में राजगद्दी का परित्याग कर दे। प्रिंस अम्बर्तो योग्य व्यक्ति था, और राजसत्ता के पक्षपातियों को भरोसा था, कि जनता उसे उत्साह के साथ अपना राजा स्वीकृत करेगी। (२) रिपब्लिक के पक्षपाती---पर इटली में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो राजसत्ता का सर्वथा अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना के पक्ष में थे। ये लोग लोकतन्त्रवाद पर आश्रित रिपब्लिक की स्थापना के लिये उत्सुक थे। (३) कम्युनिस्ट दल---यह दल जहां राजसत्ता का विरोधी था, वहां साथ ही रूस के ढंग पर समाजवादी व्यवस्था को अपना कर एक ऐसी रिपब्लिक को स्थापित करना चाहता था, जो समाजवाद के सिद्धान्तों पर आश्रित हो। (४) फैसिस्ट दल---यद्यपि मुसोलिनी का पतन हो चुका था, फिर भी इटली में ऐसे लोग अभी विद्यमान थे, जो फिर से फैसिस्ट व्यवस्था को कायम करने के पक्षपाती थे। मुसोलिनी ने अपने गौरवपूर्ण कृत्यों द्वारा इटली का जो विशाल साम्राज्य कायम किया था, उसकी स्मृति जनता में विद्यमान थी, और मित्रपक्ष द्वारा जिस सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिये इटली को विवश किया गया था, उससे जनता में जो निराशा उत्पन्न हो गई थी, उसे दूर करने की धुनके लोगों को यही उपाय समझ में आता था, कि फैसिज्म का पुनरुद्धार किया जाय।

रिपब्लिक की स्थापना---इटली की नई शासन-व्यवस्था क्या हो, इसका निर्णय करने के लिये जून, १९४६ में लोकमत लिया गया। राजसत्ता और रिपब्लिक इन दो में से एक को चुनने के लिये जनता को अवसर दिया गया था, और साथ ही मतदाताओं से यह भी कहा गया था, कि वे संविधान-परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन करें। संविधान-परिषद् को इटली के लिये नये संविधान को निर्मित करने का कार्य सुपुर्द किया गया था। राजसत्ता के पक्ष में १,०७,००,००० वोट आये, और रिपब्लिक के पक्ष में १,२७,००,००० वोट। बहुमत से यह निर्णय हुआ, कि इटली में भी राजसत्ता का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना की जाय। अठारहवीं सदी के अन्त में फ्रांस की राज्यक्रान्ति के साथ लोकतन्त्र रिपब्लिक की जिस नई लहर का प्रारम्भ हुआ था, वह अब डेढ़ सदी

बाद १९४६ में इटली में भी सफल हुई। दक्षिणी इटली के लोगों ने मुख्यतया राजसत्ता के पक्ष में वोट दिया था, उनमें राजा के लिये प्रबल अनुभूति विद्यमान थी। परिणाम यह हुआ, कि नेपल्स में राजा अम्बर्तो का पक्ष लेकर विद्रोह हो गया। सिसली और दक्षिणी इटली के अन्य अनेक नगरों में भी नेपल्स के अनुसरण में विद्रोह हुए। इस स्थिति में रिपब्लिक के पक्षपातियों ने एक अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य किया। उन्होंने एन्रिको द निकोला को इटली का प्रथम राष्ट्रपति नियत किया। निकोला दक्षिणी इटली का अत्यन्त लोकप्रिय नेता था। उसे राष्ट्रपति के पद पर चुनकर उन्होंने दक्षिणी इटली के राजसत्तावादियों को बहुत अंश में सन्तुष्ट कर दिया था। प्रिंस अम्बर्तो अब इटली छोड़कर पोर्तुगाल चला गया, और राजसत्ता का पक्ष बिलकुल निर्बल हो गया।

१९४६ के चुनाव में जिन राजनीतिक दलों को मुख्यरूप से सफलता हुई, वे निम्नलिखित थे—(१) क्रिश्चियन डेमोक्रेट—ये रिपब्लिक के पक्षपाती थे, और इनका प्रधान नेता द गस्परी था। संविधान-परिषद् के चुनाव में इन्हें ३५ फीसदी वोट मिले थे। (२) सोशलिस्ट—इन्हें कुल वोटों के २० प्रतिशत प्राप्त हुए थे। इस दल में दो भाग थे। बहुसंख्यक ग्रुप का नेता पीत्रो नेनी था, जो उग्र सोशलिस्ट था और कम्युनिस्ट दल के साथ सहयोग करके काम करने का पक्षपाती था। अल्पसंख्यक ग्रुप का नेतृत्व सरागात के हाथ में था। यह ग्रुप कम्युनिस्ट दल के साथ सहयोग का विरोधी था, और सोशलिस्टों की पृथक् सत्ता में विश्वास रखता था। (३) कम्युनिस्ट—इस दल को १८ फी सदी वोट मिले थे। इसका प्रधान नेता पाल्मीरो तोल्लियात्ती था। (४) जनता पार्टी—इसे ५॥ फी सदी वोट मिले थे, और इस दल की सहानुभूति फैसिस्ट विचारों के साथ थी। संविधान-परिषद् में इन चार दलों को ही विशेषरूप से सफलता मिली थी। इस परिषद् को जहां लोकतन्त्रवादी रिपब्लिक का शासन-विधान तैयार करना था, वहां साथ ही देश का शासन भी इसी के अधीन था। अतः एन्रिको द निकोला को राष्ट्रपति चुनने के अतिरिक्त संविधान-परिषद् ने सरकार का भी निर्माण किया। संविधान-परिषद् में सबसे अधिक सदस्य क्रिश्चियन डेमोक्रेट पार्टी के थे, अतः उसके नेता द गस्पेरी को मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सुपुर्द किया गया। द गस्पेरी ने एक संयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया, जिसमें आठ मन्त्री क्रिश्चियन डेमोक्रेट पार्टी के, चार मन्त्री सोशलिस्ट पार्टी के और चार मन्त्री कम्युनिस्ट पार्टी के थे। यद्यपि इन तीनों दलों के राजनीतिक सिद्धान्तों और नीति में मतभेद था, पर देश की विकट परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए इटालियन नेताओं ने

परस्पर सहयोग द्वारा कार्य करने में ही देश का हित व कल्याण अनुभव किया था।

इटली के सम्बन्ध में नई नीति—विश्व-संग्राम की समाप्ति पर अमेरिका और रूस में जो विरोध शुरू हुआ, इटली ने उससे लाभ उठाया। लोकतन्त्रवाद और समाजवाद के आधार पर संसार के प्रमुख राज्य जो दो ग्रुपों में विभक्त हो गये, उस पर यहां प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। पूर्वी यूरोप के अनेक राज्य, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, बल्गेरिया, हंगरी आदि इस समय समाजवाद के अनुयायी हो गये और उनकी सरकारें रूस के प्रभाव में आ गईं। रूस की इस बढ़ती हुई शक्ति से पश्चिमी यूरोप, ब्रिटेन और अमेरिका के लोकतन्त्रवादी राज्य बहुत भयभीत हो गये, और उन्होंने रूस से अपनी रक्षा करने के उपायों पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। इटली समाजवादी ग्रुप के बिलकुल पड़ोस में था। अमेरिका व अन्य लोकतन्त्र राज्यों ने अनुभव किया, कि निर्बल इटली समाजवादी लहर का सुगमता से मुकाबला नहीं कर सकता। परास्त देशों से की गई सन्धियों को अन्तिम रूप देने के लिये पेरिस में जो शान्ति-परिषद् हुई, उसमें द गस्पेरी ने इस स्थिति से लाभ उठाया। उसने इस बात पर जोर दिया, कि इटली को अपनी आर्थिक दशा को संभालने के लिये भरपूर सहायता दी जानी चाहिये और उसे सैनिक दृष्टि से भी शक्तिशाली बनने का अवसर दिया जाना चाहिये। ब्रिटेन और अमेरिका द गस्पेरी की इस मांग से सहानुभूति रखते थे। स्वभावतः रूस इसका विरोधी था और फ्रांस भी इटली की बढ़ती हुई शक्ति को चिन्ता की दृष्टि से देखता था। हिटलर और मुसोलिनी की सैन्य-शक्ति से सबसे अधिक नुकसान फ्रांस को ही पहुंचा था। अतः फ्रेंच राजनीतिज्ञ इटली को निर्बल रखने में ही अपना हित समझते थे। यही कारण है, कि पेरिस की शान्ति-परिषद् में इटली को अपने उद्देश्य में विशेष सफलता नहीं हुई। पर कुछ समय बाद ही स्थिति में परिवर्तन आया। १९४८ के शुरू में पश्चिमी यूरोप के अनेक राज्यों ने अमेरिका के साथ मिलकर अटलाण्टिक पैक्ट का निर्माण किया। इस पैक्ट का उद्देश्य रूस की बढ़ती हुई शक्ति का मिलकर मुकाबला करना था। इटली इस पैक्ट में शामिल हुआ और पश्चिमी यूरोप के राज्यों ने अनुभव किया, कि इटली को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाने में ही उनका हित है। पहले यह व्यवस्था की गई थी, कि इटली अपनी पूर्वी सीमा पर एक डिवीजन से अधिक सेना न रख सके, अब उसे वहां अपनी सेना बढ़ाने और पांच डिवीजन तक सेना रखने की अनुमति दी गई। इटली के कुशल परराष्ट्र-मन्त्री काउण्ट स्फोर्जा ने समय की परिस्थिति

से पूरा-पूरा लाभ उठाया, और अब वह समय आ गया है, जब कि परराष्ट्र-सम्बन्धी नीति में इटली को सबल बनाना पश्चिमी यूरोप के विविध राज्यों ने स्वीकार कर लिया है। वे अनुभव करते हैं, कि समाजवाद की बाढ़ का मुकाबला करने के लिये शक्तिशाली इटली की सत्ता अत्यन्त उपयोगी है।

इटली की प्रगति—पर देश के आन्तरिक मामलों में इटली की विविध राजनीतिक पार्टियों के लिये साथ मिलकर कार्य कर सकना सम्भव नहीं रहा। द गस्पेरी व उसके क्रिश्चियन डेमोक्रेट अनुयायी आर्थिक मामलों में मध्यमार्ग के अनुयायी हैं। सरागात के अनुयायी सोशलिस्ट लोग भी इसी मध्यमार्ग के पक्षपाती हैं। इन दलों की तुलना ब्रिटेन की लेबर पार्टी व फ्रांस की मध्यमार्गी पार्टियों के साथ की जा सकती है। जिस प्रकार फ्रांस में सोशलिस्ट, रैडिकल और मूवमां पोपुलेअर फ्रांसेज ये तीन प्रमुख मध्यमार्गी दल परस्पर सहयोग द्वारा फ्रेंच सरकार पर अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए हैं, वैसे ही इटली में क्रिश्चियन डेमोक्रेट और सोशलिस्ट (सरागात का ग्रुप) परस्पर सहयोग द्वारा मध्यमार्गी नीति का अनुसरण करने का प्रयत्न कर रहे हैं। पर इटली में अन्य दलों की शक्ति भी कम नहीं है। विशेषतया, कम्युनिस्ट दल वहाँ अच्छी शक्ति रखता है। उसका मत है, कि इटली की आर्थिक दशा को संभालने का केवल यह उपाय है, कि सब प्रधान व्यवसाय राज्य की अधीनता में ले आये जायं और समाजवादी व्यवस्था इटली मे कायम की जाये। लीरा की गिरती कीमत ने उन्हें अपने आन्दोलन में बहुत सहायता पहुंचाई है। कारखानों में काम करनेवाले मजदूर और निश्चित वेतन प्राप्त करनेवाले सरकारी व अन्य कर्मचारी मुद्रा-पद्धति की गिरती कीमत के समय अत्यन्त कष्ट अनुभव करते हैं। कम्युनिस्ट दल ने इस स्थिति से लाभ उठाया। १९४७ में इटली में भोज्य-पदार्थों की कीमतें १९३८ के मुकाबले में पचासगुना अधिक थीं। इस स्थिति में निश्चित वेतन प्राप्त करनेवाले लोगों के लिये निर्वाह कर सकना कठिन था। कम्युनिस्टों ने वेतन बढ़ाने के लिये आन्दोलन करना शुरू किया, जगह-जगह पर हड़तालें हुईं, और इटली को घोर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। इस दशा में कम्युनिस्टों और उग्र सोशलिस्टों (नैनी के अनुयायियों) के लिये द गस्पेरी की सरकार के साथ सहयोग कर सकना सम्भव नहीं रहा। वे मन्त्रिमण्डल से (१९४७ के प्रारम्भ में) पृथक् हो गये और उन्होंने स्वच्छन्द रूप से अपने विचारों का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। मई, १९४७ में द गस्पेरी ने नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। इसमें कम्युनिस्टों और सोशलिस्टों का सर्वथा अभाव था। अब कम्युनिस्टों ने सरकार के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी।

सितम्बर, १९४७ में आम हड़ताल शुरू की गई। उत्तरी इटली के विशाल कारखानों के मजदूर बहुत बड़ी संख्या में काम छोड़कर हड़ताल में शामिल हो गये। कम्युनिस्टों ने आल्प्स की पार्वत्य घाटियों में एक सेना का भी संगठन किया। दोनों पक्षों में खुली लड़ाई शुरू हो गई। मिलान और अन्य अनेक नगरों में कम्युनिस्ट सेनाओं ने सरकारी इमारतों पर कब्जा कर लिया। इस स्थिति में, अमेरिका इटली को समाजवाद के प्रभाव में आ जाने से केवल एक ढंग से बचा सकता था। वह ढंग यह था, कि द गस्पेरी की सरकार की हाथ खोलकर सहायता की जाय। अमेरिका ने इसी उपाय का आश्रय लिया। उधर रूस भी इटालियन कम्युनिस्टों की सहायता के लिये तत्पर था। पर इन दोनों पक्षों का संघर्ष अधिक उग्ररूप धारण नहीं कर सका, क्योंकि अमेरिका और रूस दोनों ही खुले तौर पर संघर्ष में आने के विरोधी थे। इटली में कम्युनिस्टों ने जिस विद्रोह का प्रारम्भ किया था, वह पर्याप्त उग्र होते हुए भी समाजवादी क्रान्ति का रूप नहीं ले सका।

इस बीच में संविधान-परिषद् अपना कार्य समाप्त कर चुकी थी, इटली का नया संविधान बन गया था, जो लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार बनाया गया था। यह निश्चय किया गया, कि एप्रिल, १९४८ में नए संविधान के अनुसार निर्वाचन किये जावें। अब कम्युनिस्टों ने भी इसी बात में अपना हित समझा, कि विद्रोह और युद्ध के स्थान पर चुनाव में अपनी शक्ति को आजमाया जाय। कम्युनिस्टों को आशा थी, कि वे चुनाव में सफल होंगे और इस प्रकार सरकार पर अपना कब्जा कायम कर सकेंगे। पर उन्हें निराशा हुई। पोप ने खुले तौर पर उनका विरोध किया। इटली की जनता रोमन कैथोलिक चर्च की अनुयायी है, और पोप को अत्यधिक आदर की दृष्टि से देखती है। पोप के हस्तक्षेप के कारण चुनाव में कम्युनिस्टों को यथेष्ट सफलता नहीं हो सकी। एप्रिल १९४८ के चुनाव में ४८.७ फीसदी वोट क्रिश्चियन डेमोक्रेट पार्टी को प्राप्त हुए। कम्युनिस्टों को केवल ३०.७ वोट मिले। सरागात के अनुयायी सोशलिस्टों को ७.१ फीसदी वोट मिले। इस समय तक नेन्नी के अनुयायी उग्र सोशलिस्ट कम्युनिस्टों के साथ मिलकर एक हो चुके थे, और उन्होंने दल के साथ सहयोग करके ही चुनाव लड़ा था। अब द गस्पेरी की पार्लियामेण्ट में बहुमत था, और उसने अपना जो नया मन्त्रिमण्डल बनाया, उसमें उसके अपने दल (क्रिश्चियन डेमोक्रेट) की बहुसंख्या थी। मन्त्रिमण्डल में सरागात के अनुयायी सोशलिस्टों व कतिपय अन्य लोगों को भी सम्मिलित किया गया, और कम्युनिस्ट पक्ष बहुत निर्बल पड़ गया।

१९४८ के मध्य में एक बार फिर कम्युनिस्टों ने अपनी शक्ति को आजमाया।

कम्युनिस्ट दल का नेता तोल्लिआत्ती जब पार्लियामेण्ट से बाहर आ रहा था, तो उस पर गोली चलाई गई और वह बुरी तरह से घायल हो गया। कम्युनिस्ट लोग इससे भड़क गये, और इटली में अनेक स्थानों पर हड़ताल हो गई। कई जगहों पर तो उन्होंने विद्रोह भी कर दिया। पर सरकार ने इन विद्रोहों को दबाने में कोई कसर नहीं उठा रखी। उसे अपने प्रयत्न में सफलता हुई, और कम्युनिस्ट विद्रोह व हड़ताल को बुरी तरह दबा दिया गया। पर इससे कम्युनिस्ट आन्दोलन नष्ट नहीं हुआ। पिछले तीन वर्षों में कम्युनिस्ट दल इटली में निरन्तर शक्ति प्राप्त कर रहा है। फ्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी के समान इटालियन कम्युनिस्ट भी वैधानिक उपायों का अनुसरण कर अपनी शक्ति की वृद्धि में तत्पर है। मजदूरों पर उनका प्रभाव निर्विवाद है। फ्रांस के समान इटली में भी मध्यमार्गी क्रिश्चियन डेमोक्रेट पार्टी की सरकार का भविष्य इस बात पर निर्भर है, कि वह अपने देश की आर्थिक समस्या को हल करने में कहां तक सफल हो सकेगी। अमेरिका की सहायता उसे प्राप्त है, अटलान्टिक पैक्ट के कारण इटली को भी अपनी सैन्य-शक्ति को बढ़ाने का निरन्तर अवसर मिल रहा है। इस कारण, इटालियन जनता अपनी मध्यमार्गी सरकार से असन्तुष्ट नहीं है। पर इटली की यह : साल आयु की रिपब्लिक कब तक स्थिर रह सकेगी, यह समय ही बता सकेगा।

७. नई गुटबन्दियाँ

यह पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, कि इस समय संसार की राजनीति में रूस और अमेरिका सर्वप्रधान हैं। ये दो शक्तिशाली राज्य दो विभिन्न विचार-धाराओं के प्रतिनिधि हैं, और इनके नेतृत्व में संसार के बहुसंख्यक राज्य दो गुटों में विभक्त हैं। पूर्वी यूरोप के विविध देशों में कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम हो गई है और वे रूस के गुट में शामिल हैं। यह बात पश्चिमी यूरोप के लिये बहुत अधिक खतरे की हैं। फ्रांस, इटली आदि पश्चिमी यूरोप के देशों में कम्युनिस्ट पार्टियां विद्यमान हैं। इस दशा में यह आशंका सर्वथा स्वाभाविक थी, कि रूस पश्चिमी यूरोप में भी अपने प्रभाव को विस्तीर्ण करने का प्रयत्न करेगा। कम्युनिस्टों के खतरे से आत्मरक्षा करने के लिये पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों में यह विचार उत्पन्न हुआ, कि उन्हें परस्पर मिलकर एक गुट का निर्माण करना चाहिये। इस विचार का प्रतिपादन करते हुए २२ जनवरी, १९४८ को ब्रिटेन के परराष्ट्रसचिव श्री बेविन ने ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में कहा था—"अब वह समय आ गया है, कि

पश्चिमी यूरोप में ठोस एकता की स्थापना करने के लिये सब राज्य प्रतिज्ञा-बद्ध हो जावें, ताकि सब राज्य एक दूसरे की सहायता का भरोसा रख सकें। पहले हम पड़ोसी राज्यों को अपने साथ मिलावें, और फिर इस योजना के क्षेत्र में अन्य राज्यों को भी शामिल कर लिया जाय।'

१७ मार्च, १९४८ को फ्रांस, बेल्जियम, ब्रिटेन, हालैण्ड, और लुक्समबुर्ग के प्रतिनिधि बेल्जियम की राजधानी ब्रुसल्स में एकत्र हुए। वहां उन्होंने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार पश्चिमी यूरोप के इन पांच राज्यों का एक यूनियन कायम किया गया। इसी को यूरोप का 'पश्चिमी गुट' कहते हैं। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने इस गुट को आशीर्वाद देते हुए घोषणा की, कि अब अमेरिका यूरोप की सहायता के लिये पूरी तरह से उद्यत है। यूरोप के देशों को आर्थिक सहायता देते हुए अमेरिका स्वाभाविक रूप से यह चाहता था कि वहां के लोग कम्युनिस्ट प्रभाव से बचे रहने का पूरा-पूरा इन्तजाम कर लें। 'पश्चिमी गुट' के निर्माण से अमेरिका को यह आशा हो गई थी, कि अब पश्चिमी यूरोप के देश रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आने से बचे रहेंगे।

पश्चिमी गुट के इन देशों ने आपस में मिलकर एक परामर्श परिषद् की स्थापना की, जिसके अधिवेशन १९ जुलाई, १९४८ को हेग में शुरू हुए। इनका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर विचार करना, ब्रुसल्स के समझौते को व्याव-हारिक रूप देना, परस्पर सहयोग को बढ़ाना और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये उपायों को सोचना था। इन्हीं परामर्शों का परिणाम हुआ, कि सितम्बर, १९४८ के अन्त में पश्चिमी गुट के राज्यों के प्रतिनिधि पेरिस में एकत्र हुए। उन्होंने निश्चय किया, कि पश्चिमी गुट की ओर से एक स्थायी सैनिक समिति स्थापित की जाय। ब्रिटेन के मार्शल मान्टगोमरी को इस समिति का प्रधान बनाया गया, और अन्य विविध पदाधिकारियों व सेनापतियों की नियुक्ति भी कर दी गई। ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड और लुक्समबुर्ग अब एक दूसरे के बहुत समीप आ गये, और उन्होंने आत्मरक्षा के लिये अपने को एक सुदृढ़ गुट में संगठित कर लिया। इसी समय यह विचार भी उत्पन्न हुआ, कि पश्चिमी गुट के दायरे को अधिक विस्तृत करना चाहिये, और उत्तरी अटलान्टिक महासागर के तटवर्ती विविध देशों को परस्पर मिलकर एक ऐसा समझौता करना चाहिये, जिससे वे एक दूसरे की सुरक्षा की गारन्टी दे सकें।

इन्हीं विचारों का यह परिणाम हुआ, कि पश्चिमी यूरोप और अमेरिका के अटलान्टिक तटवर्ती बारह राज्यों ने मिलकर एक दूसरे की सहायता के लिये एक समझौता तैयार किया, जिसे अटलान्टिक पैक्ट कहते हैं। यह पैक्ट ४ एप्रिल, १९४९ को वाशिंगटन में किया गया था। इसमें निम्नलिखित बारह राज्य शामिल हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, हालैण्ड, डेनमार्क, पोर्तुगाल, बेल्जियम, लक्सामबुर्ग, नार्वे, और आइसलैण्ड। यह पैक्ट इस उद्देश्य से बनाया गया है, कि अटलान्टिक सागर के पूर्वी और पश्चिमी समुद्रतट पर विद्यमान विविध देश अपने खिलाफ शत्रु द्वारा किये गये आक्रमण का परस्पर मिलकर मुकाबला करें। अटलान्टिक पैक्ट का प्रयोजन यही है, कि यदि रूस अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाता हुआ पश्चिमी यूरोप के राज्यों पर आक्रमण करे या उसके किसी कार्य व नीति से पश्चिमी यूरोप में लड़ाई छिड़ जाय, तो इस पैक्ट में शामिल सब राज्य परस्पर मिलकर कार्य करें, और कम्युनिस्ट शक्ति का एक साथ मिलकर मुकाबला करें।

५ मई, १९४९ को पश्चिमी यूरोप के विविध देशों ने यह फैसला भी कर लिया, कि उन्हें मिलकर एक 'कौंसिल आफ यूरोप' की स्थापना करनी चाहिये। इस कौंसिल के दो भाग रहें—मन्त्रियों की कमेटी और परामर्श-सभा। इस सबका प्रयोजन भी यह है, कि रूस के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर के विविध राज्य एक दूसरे के अधिक-अधिक समीप आते जावें, ताकि कम्युनिस्टों के खिलाफ वे अपना सुदृढ़ गुट व संगठन बना सकें।

पश्चिमी गुट, अटलान्टिक पैक्ट और कौंसिल आफ यूरोप द्वारा दो बातें बिलकुल स्पष्ट हो गई हैं—(१) संसार के विविध राज्य अब प्रगट रूप से दो गुटों में संगठित हो गये हैं, अटलान्टिक राज्य, जिनका नेता अमेरिका है, और कम्युनिस्ट राज्य, जिनका नेता रूस है। (२) संयुक्त राज्यसंघ को अब संसार में शान्ति व व्यवस्था स्थापित रखने के कार्य में समर्थ नहीं समझा जाता। राष्ट्रसंघ को निर्बल व असहाय पाकर गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद यूरोप के विविध राज्य आपस में गुटबन्दियां बनाने और सैनिक-सन्धियां करने में तत्पर हो गये थे। यही दशा अब फिर आ गई है। संसार के विविध राज्य अनुभव करते हैं, कि अकेला संयुक्त राज्यसंघ युद्ध से उनकी रक्षा करने में असमर्थ व असहाय है। अतः वे आवश्यक समझते हैं, कि आपस में गुटबन्दी व सैनिक-सन्धि करके आत्मरक्षा का प्रयत्न करें।

८. वर्तमान जर्मनी

विश्व-संग्राम की समाप्ति पर मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी व बर्लिन को किस प्रकार चार प्रभाव-क्षेत्रों में विभक्त कर दिया था, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। रूस, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस—इन चार देशों के प्रभाव-क्षेत्रों में विद्यमान जर्मनी के चारों खण्डों का शासन पृथक्-पृथक् था। रूस की राजनीति अन्य देशों की नीति से किस प्रकार भिन्न होती जाती थी, इसका भी उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह स्वाभाविक था, कि उसका प्रभाव जर्मनी के शासन पर भी पड़े। इसी कारण रूस के क्षेत्र में विद्यमान जर्मनी शेष जर्मनी से सर्वथा पृथक् हो गया। उसकी शासन-पद्धति, मुद्रा-पद्धति व आर्थिक व्यवस्था पश्चिमी जर्मनी से भिन्न होती गई। वह कम्युनिज्म के प्रभाव में आता गया, और फ्रांस अमेरिका व ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्रों में विद्यमान जर्मनी में यह कोशिश की गई, कि वहां लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार शासन व आर्थिक व्यवस्था का विकास किया जाय। 'रशियन' जर्मनी में कम्युनिस्ट दल का जोर बढ़ गया और शेष जर्मनी में ऐसे दलों का विकास हुआ, जो लोकसत्तावादी सोशलिस्ट हैं।

जर्मनी के सम्बन्ध में स्थिर रूप से क्या व्यवस्था की जाय, इस विषय में भी रूस का अन्य देशों के साथ मतभेद है। एप्रिल, १९४८ में लण्डन में एक कान्फरेन्स शुरू हुई, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, बेल्जियम और लुक्समबुर्ग के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इस कान्फरेन्स में जर्मनी के सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया, कि फ्रांस, ब्रिटेन, और अमेरिका के क्षेत्र में जर्मनी के जो भाग हैं, उन्हें मिलाकर एक सुदृढ़ संगठन कायम किया जाय। इस संघराज्य का शासन-विधान तैयार करने के लिये विधान-परिषद् का संगठन हो। लण्डन-कान्फरेन्स के इस निर्णय से रूस व पूर्वी यूरोप के उसके साथी राज्य बहुत चिन्तित हुए। २३ जून, १९४८ को उनके प्रतिनिधियों की एक कान्फरेन्स वारसा में हुई। इसमें रूस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी और अल्बेनिया के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। वारसा-कान्फरेन्स ने लण्डन के निर्णय का विरोध करते हुए यह घोषणा की, कि अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस जर्मनी को स्थिर रूप से दो भागों में विभक्त करना चाहते हैं। यह बात पोट्सडम कान्फरेन्स के निर्णयों के सर्वथा विरुद्ध है। वारसा-कान्फरेंस

इन्हीं विचारों का यह परिणाम हुआ, कि पश्चिमी यूरोप और अमेरिका के अटलान्टिक तटवर्ती बारह राज्यों ने मिलकर एक दूसरे की सहायता के लिये एक समझौता तैयार किया, जिसे अटलान्टिक पैक्ट कहते हैं। यह पैक्ट ४ एप्रिल, १९४९ को वाशिंगटन में किया गया था। इसमें निम्नलिखित बारह राज्य शामिल हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, हालैण्ड, डेनमार्क, पोर्तुगाल, बेल्जियम, लुक्समबुर्ग, नार्वे, और आइसलैण्ड। यह पैक्ट इस उद्देश्य से बनाया गया है, कि अटलान्टिक सागर के पूर्वी और पश्चिमी समुद्रतट पर विद्यमान विविध देश अपने खिलाफ शत्रु द्वारा किये गये आक्रमण का परस्पर मिलकर मुकाबला करें। अटलान्टिक पैक्ट का प्रयोजन यही है, कि यदि रूस अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाता हुआ पश्चिमी यूरोप के राज्यों पर आक्रमण करे या उसके किसी कार्य व नीति से पश्चिमी यूरोप में लड़ाई छिड़ जाय, तो इस पैक्ट में शामिल सब राज्य परस्पर मिलकर कार्य करें, और कम्युनिस्ट शक्ति का एक साथ मिलकर मुकाबला करें।

५ मई, १९४९ को पश्चिमी यूरोप के विविध देशों ने यह फैसला भी कर लिया, कि उन्हें मिलकर एक 'कौंसिल आफ यूरोप' की स्थापना करनी चाहिये। इस कौंसिल के दो भाग रहें—मन्त्रियों की कमेटी और परामर्श-सभा। इस सबका प्रयोजन भी यह है, कि रूस के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर के विविध राज्य एक दूसरे के अधिक-अधिक समीप आते जावें, ताकि कम्युनिस्टों के खिलाफ वे अपना सुदृढ़ गुट व संगठन बना सकें।

पश्चिमी गुट, अटलान्टिक पैक्ट और कौंसिल आफ यूरोप द्वारा दो बातें बिलकुल स्पष्ट हो गई हैं—(१) संसार के विविध राज्य अब प्रगट रूप से दो गुटों में संगठित हो गये हैं, अटलान्टिक राज्य, जिनका नेता अमेरिका है, और कम्युनिस्ट राज्य, जिनका नेता रूस है। (२) संयुक्त राज्यसंघ को अब संसार में शान्ति व व्यवस्था स्थापित रखने के कार्य में समर्थ नहीं समझा जाता। राष्ट्रसंघ को निर्बल व असहाय पाकर गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद यूरोप के विविध राज्य आपस में गुटबन्दियां बनाने और सैनिक-सन्धियां करने में तत्पर हो गये थे। यही दशा अब फिर आ गई है। संसार के विविध राज्य अनुभव करते हैं, कि अकेला संयुक्त राज्यसंघ युद्ध से उनकी रक्षा करने में असमर्थ व असहाय है। अतः वे आवश्यक समझते हैं, कि आपस में गुटबन्दी व सैनिक-सन्धि करके आत्मरक्षा का प्रयत्न करें।

८. वर्तमान जर्मनी

विश्व-संग्राम की समाप्ति पर मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी व बर्लिन को किस प्रकार चार प्रभाव-क्षेत्रों में विभक्त कर दिया था, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। रूस, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस—इन चार देशों के प्रभाव-क्षेत्रों में विद्यमान जर्मनी के चारों खण्डों का शासन पृथक्-पृथक् था। रूस की राजनीति अन्य देशों की नीति से किस प्रकार भिन्न होती जाती थी, इसका भी उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह स्वाभाविक था, कि उसका प्रभाव जर्मनी के शासन पर भी पड़े। इसी कारण रूस के क्षेत्र में विद्यमान जर्मनी शेष जर्मनी से सर्वथा पृथक् हो गया। उसकी शासन-पद्धति, मुद्रा-पद्धति व आर्थिक व्यवस्था पश्चिमी जर्मनी से भिन्न होती गई। वह कम्युनिज्म के प्रभाव में आता गया, और फ्रांस अमेरिका व ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्रों में विद्यमान जर्मनी में यह कोशिश की गई, कि वहां लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार शासन व आर्थिक व्यवस्था का विकास किया जाय। 'रशियन' जर्मनी में कम्युनिस्ट दल का जोर बढ़ गया और शेष जर्मनी में ऐसे दलों का विकास हुआ, जो लोकसत्तावादी सोशलिस्ट हैं।

जर्मनी के सम्बन्ध में स्थिर रूप से क्या व्यवस्था की जाय, इस विषय में भी रूस का अन्य देशों के साथ मतभेद है। एप्रिल, १९४८ में लण्डन में एक कान्फरेन्स शुरू हुई, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, बेल्जियम और लुक्समबुर्ग के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इस कान्फरेन्स में जर्मनी के सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया, कि फ्रांस, ब्रिटेन, और अमेरिका के क्षेत्र में जर्मनी के जो भाग हैं, उन्हें मिलाकर एक सुदृढ़ संगठन कायम किया जाय। इस संघराज्य का शासन-विधान तैयार करने के लिये विधान-परिषद् का संगठन हो। लण्डन-कान्फरेन्स के इस निर्णय से रूस व पूर्वी यूरोप के उसके साथी राज्य बहुत चिन्तित हुए। २३ जून, १९४८ को उनके प्रतिनिधियों की एक कान्फरेन्स वारसा में हुई। इसमें रूस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी और अल्बेनिया के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। वारसा-कान्फरेन्स ने लण्डन के निर्णय का विरोध करते हुए यह घोषणा की, कि अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस जर्मनी को स्थिर रूप से दो भागों में विभक्त करना चाहते हैं। यह बात पोट्सडम कान्फरेन्स के निर्णयों के सर्वथा विरुद्ध है। वारसा-कान्फरेंस

ने जर्मनी के सम्बन्ध में एक नई योजना तैयार की, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया, कि सम्पूर्ण जर्मनी को एक सुदृढ़ राज्य के रूप में परिणत करना चाहिये। उसको दो भागों में विभक्त करना समुचित नहीं है।

जर्मनी के सम्बन्ध में रूस व अन्य मित्रराज्यों का नीति-विरोध इस हद तक बढ़ता जाता था, कि जुलाई, १९४८ के प्रारम्भ में बर्लिन के अमेरिकन कमाण्डर के व्यवहार पर असन्तोष प्रगट करने के लिये रशियन कमाण्डर ने बर्लिन की सम्मिलित कौंसिल के अधिवेशन में आना बन्द कर दिया। बर्लिन पर चारों प्रमुख मित्रराज्यों का सम्मिलित शासन था, पर बर्लिन के चारों ओर का प्रदेश रूस के क्षेत्र के अन्तर्गत था। अतः बर्लिन पहुँचने के लिये रशियन क्षेत्र से होकर गुजरना अनिवार्य था। बर्लिन में रूस का अन्य मित्रराज्यों के साथ विरोध इस हद तक बढ़ गया था, कि उसने पश्चिम की तरफ से बर्लिन आनेवाले सब मार्गों को बन्द कर दिया। अब अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वे बर्लिन नगरी के अपने अपने क्षेत्र में कोई भी माल बाहर से ला सकें। इन क्षेत्रों के निवासियों के सम्मुख एक विकट समस्या उपस्थित हो गई, और उनके शासकों के लिये आवश्यक सामग्री को प्राप्त कर सकना कठिन हो गया। पर वे इससे घबराये नहीं। बर्लिन पर जो घेरा रूस ने डाल दिया था, उसे तोड़ने के लिये अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने आकाश-मार्ग का आश्रय लिया और यह यत्न किया, कि हवाई जहाजों द्वारा ढोकर सब सामग्री बर्लिन पहुँचाई जाय। जुलाई, १९४८ से मई, १९४९ तक मित्रराज्यों ने हवाई जहाजों से सब मिलाकर १५,१०,४६६ टन सामान ढोया। आकाश-मार्ग से माल ढुलाई का काम कितने बड़े पैमाने पर किया जा सकता है, यह इसका उत्तम उदाहरण है। बर्लिन के घेरे के मामले को संयुक्त राज्यसंघ की सुरक्षा-परिषद् के सम्मुख भी उपस्थित किया गया, पर रूस ने वहां उस पर विचार करने से इनकार कर दिया।

२६ एप्रिल, १९४९ को रूस ने सूचना दी, कि वह बर्लिन का घेरा उठा लेने को तैयार है। ४ मई को न्यूयार्क में रूस, अमेरिका, फ्रांस, और ब्रिटेन में बातचीत प्रारम्भ हुई। वहां सब बातों पर फैसला हो गया और यह निश्चय हुआ, कि १२ मई को घेरा उठा लिया जाय। बर्लिन का घेरा तो

उठा लिया गया है, पर जर्मनी के सम्बन्ध में रूस व अन्य मित्रराज्यों में अभी तक कोई फैसला नहीं हो सका है ।

अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन इस कोशिश में लगे हैं, कि अपने प्रभावक्षेत्रों को सम्मिलित कर पश्चिमी जर्मनी को एक पृथक् राज्य बना दिया जाय । यह राज्य कम्युनिज्म के प्रभाव से पृथक् रहे और वहां लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार सरकार की स्थापना की जाय । धीरे-धीरे पश्चिमी जर्मनी के इस राज्य को पश्चिमी यूरोप के गुट में और अटलान्टिक समझौते के दायरे में भी ले लिया जाय और रूस का इस राज्य से कोई सम्बन्ध न रहे । इस राज्य का शासन-विधान तैयार करने के लिये जो विधान-परिषद् बनाई गई थी, उसने बान को अपना केन्द्र बनाकर कार्य शुरू कर दिया । नया शासन-विधान तैयार कर लिया गया है और इसे जर्मन जनता ने स्वीकृत भी कर लिया है । पश्चिमी जर्मनी की राजधानी बान को बनाया गया है । ब्रिटेन और अमेरिका की नीति यह है, कि पश्चिमी जर्मनी को एक ऐसे शक्तिशाली राज्य के रूप में परिवर्तित किया जाय, जो रशियन कम्युनिज्म की बाढ़ के खिलाफ चट्टान का काम दे । जर्मन लोग वीर हैं, वैज्ञानिक हैं, और राष्ट्रीयता की भावना भी उनमें बहुत प्रबल है । शक्तिशाली जर्मनी को रूस के खिलाफ प्रयुक्त किया जा सकता है, ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस बात में विश्वास रखते हैं । पर फ्रांस इस नीति से सहमत नहीं है । चिर काल से फ्रांस की यह नीति रही है, कि जर्मनी को शक्तिशाली न होने दिया जाय । यूरोप में उसे अपना सबसे प्रबल शत्रु जर्मनी ही नजर आता है । १८७०-७१, १९१४-१८ और १९३९-४५ के युद्धों में फ्रांस को जर्मनी से जो भारी नुकसान उठाना पड़ता रहा है, उहे फ्रांस कभी भूल नहीं सकता ।

दूसरी तरफ रूस ने भी अपने जर्मन क्षेत्र में नई सरकार का संगठन कर लिया है । पीपल्स कांग्रेस द्वारा नया विधान तैयार कराके वहां नये चुनाव भी करा दिये गये हैं । नई सरकार में कम्युनिस्ट लोगों की प्रधानता है, और पूर्वी जर्मनी की यह कम्युनिस्ट सरकार अपने क्षेत्र में कम्युनिस्ट व्यवस्था को कायम करने में लगी हुई है ।

इस स्थिति में यह सुगम नहीं है, कि जर्मनी के सम्बन्ध में कोई ऐसी सन्तोष-जनक व्यवस्था विकसित की जा सके, जिससे रूस, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस चारों की सहमति हो । फिर भी इसके लिये प्रयत्न जारी हैं । मई, १९४९ में चारों देशों के प्रतिनिधि पेरिस में एकत्र हुए थे । वहां उन्होंने इस बात का यत्न किया, कि जर्मनी के सम्बन्ध में कोई समझौता कर सकें । पर वे इस उद्देश्य में

सफल नहीं हुए। मित्रराज्यों ने जर्मनी की समस्या को अभी हल करना है। पर यह तभी सम्भव है, जब उन दोनों गुटों में कोई स्थिर समझौता हो जाय, जो रूस और अमेरिका के नेतृत्व में संसार के प्रमुख राज्यों को दो भागों में विभक्त करते जा रहे हैं।

९. अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का नया क्षेत्र

पृथिवी के दक्षिणी ध्रुव के चारों ओर के क्षेत्र में एक विशाल महाद्वीप विद्यमान है, यह बात सोलहवीं सदी में ही ज्ञात हो गई थी। पर यह महाद्वीप बरफ की मोटी सतह से ढका हुआ है, और इसमें किसी भी मनुष्य का निवास नहीं था। इसलिये इसे बसाने या इसके साथ व्यापार आदि द्वारा सम्बन्ध स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। पर उन्नीसवीं सदी में फ्रांस, ब्रिटेन आदि देशों के साहसी व्यक्तियों ने इस भूखण्ड में आना-जाना शुरू किया। यद्यपि इसमें किसी आबादी को बसा सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता था, पर फिर भी शक्तिशाली राज्य इस बात के लिये उत्सुक थे, कि इसके विविध क्षेत्रों को अपनी अधीनता व कब्जे में ले आवें। बीसवीं सदी में यह प्रवृत्ति और भी प्रबल हो गई। पिछले सालों में विज्ञान ने जो असाधारण उन्नति की है, उसके कारण अनेक ऐसी धातुओं व अन्य वस्तुओं की कीमत बहुत बढ़ गई है, जिन्हें मनुष्य पहले किसी भी काम का नहीं समझता था। ये पदार्थ पृथिवी के विविध दुर्गम प्रदेशों में मिलते हैं। दक्षिणी ध्रुव के विशाल महाद्वीप की भूमि में क्या कुछ उपलब्ध हो सकता है, इसकी खोज जारी है। इस भूखण्ड का नवीन वैज्ञानिक युग में बहुत कुछ उपयोग है, इस बात से सब देश सहमत हैं। इसी कारण इसके विविध प्रदेशों पर कब्जा करने के लिये उनमें संघर्ष भी शुरू हो गया है। फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका के समान रूस भी इस मैदान में आ गया है, और दक्षिणी ध्रुव का मामला भी कई बार संयुक्त राज्य-संघ में पेश हुआ है।

१०. संयुक्त राज्यसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं

विविध राज्यों में परस्पर सहयोग स्थापित करने और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं व झगड़ों को बातचीत से सुलझाने के उद्देश्य से जिस संयुक्त राज्यसंघ की स्थापना की गई थी, उसके संगठन पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। विविध अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिये जो अनेक प्रयत्न अब तक संघ ने किये हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख करना उपयोगी है—

(१) ईरान—संयुक्त राज्य-संघ के जनवरी, १९४६ के अधिवेशन में ईरान (पर्शिया) के प्रतिनिधि ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया, कि उत्तरी ईरान में रूस की जो सेनाएं हैं, उन्हें वापस लौटा लिया जाय। इन सेनाओं के ईरान में रहने से देश की स्वतन्त्रता और सर्वोपरि सत्ता में बाधा पड़ती है। ब्रिटेन और अमेरिका इस प्रस्ताव के पक्ष में थे। रूस के प्रतिनिधि ने प्रस्ताव का विरोध करते हुए यह कहा, कि विश्व-संग्राम के अवसर पर सैनिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए ये सेनाएं ईरान में स्थापित की गई थीं, और उपयुक्त अवसर आते ही इन्हें वापस लौटा लिया जायगा। मई, १९४६ तक ये रशियन सेनाएं ईरान से वापस बुला ली गईं। संयुक्त राज्य-संघ को इस विषय में कोई कदम उठाने की आवश्यकता नहीं हुई।

(२) सीरिया—फरवरी, १९४६ में सीरिया और लेबनान के प्रतिनिधियों ने राज्यसंघ के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा, कि उनके देशों में ब्रिटिश और फ्रेंच सेनाओं की सत्ता उचित नहीं है। ये दोनों राज्य अब स्वतन्त्र रिपब्लिक हैं, और उन पर किसी भी विदेशी राज्य का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण सहन नहीं किया जा सकता। मई, १९४६ तक ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी सेनाएं इन देशों से वापस बुला लीं, और यह समस्या भी सुगमता से हल हो गई।

(३) स्पेन—एप्रिल, १९४६ में पोलैण्ड के प्रतिनिधि ने यह प्रस्ताव किया, कि स्पेन में श्री फ्रांको का शासन फैसिस्ट विचारधारा के अनुकूल है। इस प्रकार के शासन की सत्ता यूरोप व संसार की शान्ति के लिये अत्यन्त खतरनाक है। अतः संयुक्त राज्यसंघ के प्रत्येक सदस्य-राज्य से यह अनुरोध किया जाता है, कि वे स्पेन से किसी भी प्रकार का राजनीतिक सम्बन्ध न रखें। इस समस्या पर विचार करने के लिये एक उपसमिति नियुक्त कर दी गई। इसने यह रिपोर्ट दी, कि यद्यपि श्री फ्रांको का शासन फैसिस्ट है, पर उसकी सरकार किसी उग्र नीति का अनुसरण नहीं कर रही है, और यूरोप व संसार की शान्ति के लिये अभी उससे खतरा नहीं है। पर फिर भी इस मामले को संघ की जनरल एसेम्बली के सम्मुख पेश किया जाय, ताकि वह इस बात पर विचार कर सके, कि स्पेन में नागरिकों की स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिये किन उपायों का अवलम्बन उपयोगी है, और यदि श्री फ्रांको की सरकार कभी शान्ति के लिये खतरे के कारण बनने लगे, तो उसे ऐसा करने से रोका जा सके।

१९४६ के अन्त में संघ की जनरल एसेम्बली में स्पेन के प्रश्न पर

विचार हुआ, और यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया, कि संयुक्त राज्यसंघ की ओर से जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन व अन्य सभाएं हों, उनमें फ्रांको की सरकार को हिस्सा न लेने दिया जाय, संघ के सब सदस्य-राज्य अपने राजदूतों को मेड्रिड (स्पेन की राजधानी) से वापस बुला लें, और संघ की सुरक्षा परिषद् उन उपायों पर विचार करे, जिनसे कि स्पेन में लोकसत्तावाद के सिद्धान्तों के अनुकूल शासन स्थापित करने का उद्योग किया जा सकता है। इस प्रस्ताव के अनुसार धीरे-धीरे संघ के प्रायः सभी सदस्य-राज्यों ने अपने राजदूत स्पेन से वापस बुला लिये और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से फ्रांको की सरकार अकेली पड़ गई। पर फ्रांको ने संघ की इस कार्रवाई पर कोई ध्यान नहीं दिया। १९४७ में स्पेन में एक नया कानून पास किया गया, जिसके अनुसार फ्रांको को जन्म भर के लिये अपने पद पर नियुक्त कर दिया गया। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई, कि फ्रांको को यह अधिकार हो, कि वह एक ऐसी कौंसिल को मनोनीत करे, जो उसके अपाहिज हो जाने व मर जाने की दशा में किसी ऐसे व्यक्ति को स्पेन की राजगद्दी पर बिठा सके, जो फ्रांको की पसन्द का हो। इस कानून को जुलाई १९४७ में नागरिकों के सम्मुख लोकमत के लिये भी पेश किया गया, और उन्होंने उसे बहुत बड़े बहुमत से स्वीकृत कर दिया। इस प्रकार, स्पेन में श्री फ्रांको का फैसिस्ट शासन और भी अधिक दृढ़ हो गया और संयुक्त राज्यसंघ उसे किसी भी प्रकार से क्षति नहीं पहुँचा सका।

(४) **ग्रीस**—१९४५ में ग्रीस जर्मन सेनाओं के कब्जे से मुक्त हुआ था। उसकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये जो ग्रीक देशभक्त संघर्ष कर रहे थे, वे दो प्रकार के थे—साम्यवादी और राजसत्ता के पक्षपाती। विश्व-संग्राम के दौरान में जब जर्मनी ने ग्रीस पर कब्जा किया, तो वहां का राजा ज्यार्ज लण्डन चला आया था। उसके बहुत से दरबारी, मन्त्री व अन्य अफसर भी उसके साथ ही ब्रिटेन आ गये थे। वे इसी प्रतीक्षा में थे, कि जर्मनी की पराजय के बाद वे अपने देश को लौट जावेंगे। अतः जर्मन सेनाओं के खिलाफ संघर्ष जारी रखने का कार्य प्रधानतया उन देशभक्तों ने किया, जो साम्यवादी व कम्युनिस्ट विचारों के थे। पर ऐसे देशभक्त भी ग्रीस में विद्यमान थे, जो राजा के शासन का पुनरुद्धार करने के पक्षपाती थे। ग्रीस में जर्मन सेनाओं के परास्त करने का कार्य प्रधानतया ब्रिटिश सेनाओं ने किया। इसीलिये वहां राजसत्ता के पक्षपातियों ने स्वतन्त्र ग्रीक सरकार की स्थापना कर ली। इस सरकार का प्रधान आर्क-

बिशप डमास्किनस था, और उसके अनुयायी 'पोपुलिस्ट' कहाते थे। डमास्किनस की सरकार ने वामपक्षी नेताओं की मांगों पर कोई भी ध्यान नहीं दिया, सरकार से उन्हें पृथक् रखा गया और उन्हें दबाने के लिये सब प्रकार के उपायों को प्रयोग में लाया गया। ग्रीस के ये वामपक्षी लोग ई० ए० एम० के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने पोपुलिस्ट सरकार के खिलाफ उसी प्रकार संघर्ष शुरू कर दिया, जैसे कि वे पहले जर्मन सेनाओं के खिलाफ कर रहे थे।

३१ मार्च, १९४६ को ग्रीस की पार्लियामेण्ट का चुनाव हुआ। ई० ए० एम० ग्रुप में सम्मिलित दलों ने इस चुनाव का बहिष्कार किया। चुनाव में पोपुलिस्ट दल की विजय हुई। श्री कान्स्टेन्टाइन साल्दरिस प्रधान मन्त्री पद पर नियुक्त हुए। सितम्बर, १९४६ में ग्रीस के नागरिकों का लोकमत इस प्रश्न पर लिया गया, कि वे अपने देश में पुराने राजवंश का शासन फिर से स्थापित करना चाहते हैं या नहीं। ई० ए० एम० दलों ने फिर इसका बहिष्कार किया। बहुमत द्वारा यह निर्णय हो गया, कि राजसत्ता का पुनरुद्धार किया जाय। ग्रीस के भूतपूर्व राजा ज्यार्ज अपने देश को वापस लौट आये, और ग्रीस में वैध राजसत्ता की स्थापना हो गई।

पर ई० ए० एम० ग्रुप के वामपक्षी दल इस बीच में शान्त नहीं बैठे थे। वे निरन्तर संघर्ष कर रहे थे, और विद्रोह व हिंसात्मक उपायों का अनुसरण करते हुए ग्रीक सरकार को परेशान कर रहे थे। श्री साल्दरिस का मन्त्रिमण्डल जो इन वामपक्षी दलों से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो रहा था, उसका एकमात्र कारण ब्रिटिश सेनाओं की ग्रीस में विद्यमानता थी। ये ब्रिटिश सेनाएं सब प्रकार के वामपक्षी विद्रोह को कुचलने में ग्रीक सरकार की सहायता कर रही थीं।

अगस्त, १९४६ में युक्रेन के प्रतिनिधि ने संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख यह प्रस्ताव पेश किया, कि ग्रीस की स्थिति बालकन प्रायद्वीप में अशान्ति और युद्ध की अग्नि को भड़काने के लिये बिलकुल तैयार है। ग्रीक सरकार अन्य राजनीतिक दलों को दबाने के लिये सिरतोड़ कोशिश कर रही है। ब्रिटिश सेनाओं का ग्रीस में रहना किसी भी प्रकार समुचित नहीं है। रूस ने युक्रेन के इस प्रस्ताव का समर्थन किया। ग्रीक सरकार ने प्रस्ताव का घोर विरोध किया, और रूस तथा उसके प्रभाव-क्षेत्र के अन्य देशों पर यह आक्षेप किया, कि ग्रीस की अशान्ति और अव्यवस्था की जिम्मेदारी इन्हीं देशों पर है। ग्रीस

के सवाल पर संयुक्त राज्यसंघ में बहुत बहस हुई, पर कोई निश्चित परिणाम नहीं निकला। । इस बीच में पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों ने ग्रीस के ई० ए० एम० दलों को सहायता देना प्रारम्भ कर दिया था, और इसी कारण ग्रीस की उत्तरी सीमा पर परिस्थिति अधिक विकट हो गई थी। दिसम्बर, १९४६ में ग्रीक सरकार ने संयुक्त राज्यसंघ के समक्ष यह शिकायत पेश की, कि अल्बेनिया, युगोस्लाविया और बल्गेरिया ने उसकी सीमा पर भारी उत्पात मचा रखा है, और इस विषय में संघ को हस्तक्षेप करना चाहिये । बहुत वाद-विवाद के बाद संघ ने ग्रीस की समस्या पर विचार करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति कर दी । जनवरी, १९४७ में इस कमीशन ने एथन्स (ग्रीस की राजधानी) में अपना कार्य प्रारम्भ किया। जून, १९४७ में कमीशन ने अपना कार्य समाप्त कर लिया और ७६७ पृष्ठों की एक भारी रिपोर्ट संघ के सम्मुख पेश की । कमीशन के बहुसंख्यक सदस्यों (आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, ब्राजील, चीन, कोलम्बिया, सीरिया, ब्रिटेन और अमेरिका) की रिपोर्ट से रूस और पोलैण्ड के सदस्य असहमत थे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट पृथक् रूप से पेश की । कमीशन के बहुसंख्यक सदस्यों ने अपनी जांच का यह परिणाम निकाला, कि युगोस्लाविया, बल्गेरिया और अल्बेनिया ने गुरीला युद्ध में ग्रीक सरकार के विरोधियों को सहायता प्रदान की है। उन्होंने न केवल विद्रोहियों को अस्त्र-शस्त्र व अन्य युद्ध-सामग्री प्रदान की है, अपितु उनके सैनिकों को बाकायदा सैनिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था की है । ग्रीस के कम्युनिस्टों के लिये उचित तो यह था, कि वे चुनाव में भाग लेकर जनता के वोट प्राप्त करने का प्रयत्न करते, और इस प्रकार वैध उपायों से सरकार पर अपना असर कायम करते । इसके विपरीत, उन्होंने हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन कर गुरीला युद्ध शुरू किया, जो सर्वथा अनुचित है । रूस और पोलैण्ड के प्रतिनिधियों की रिपोर्ट इससे सर्वथा भिन्न थी । उन्होंने ग्रीस की सब अव्यवस्था और गृह-कलह के लिये वहां की पोपुलिस्ट सरकार को उत्तरदायी ठहराया । उनकी सम्मति में श्री साल्दरिस की सरकार ने जान-बूझकर कम्युनिस्टों का बहिष्कार किया हुआ था। ग्रीस में ब्रिटिश सेनाओं की सत्ता के कारण पोपुलिस्टों की हिम्मत बहुत बढ़ी हुई थी और वे मनमानी पर उतरे हुए थे ।

संयुक्त राज्यसंघ के ग्रीक कमीशन ने यह भी सिफारिश की, कि ग्रीस की सीमा का निर्णय करने के लिये एक बोर्ड की स्थापना कर देनी चाहिये, जो

निम्नलिखित कार्य करे—(१) यदि ग्रीस की सीमा का कोई पड़ोसी राज्य उल्लंघन करे, तो उसका फैसला करे। (२) जो नये झगड़े खड़े हों, उनको निबटावे। (३) अल्पसंख्यक जातियों की समस्याओं को हल करे, और (४) ग्रीस के मामले में सुरक्षा-परिषद् के सम्मुख सुझाव पेश करता रहे।

रूस इस बोर्ड की स्थापना के खिलाफ था। सुरक्षा-परिषद् के सम्मुख ग्रीस की समस्या को हल करने के लिये जो भी प्रस्ताव पेश किये गये, रूस ने उन सबको वीटो कर दिया। सुरक्षा-परिषद् में कोई भी फैसला सर्वसम्मति के बिना नहीं किया जा सकता। रूस ने अपनी असहमति के कारण सुरक्षा-परिषद् को कोई भी निर्णय नहीं करने दिया। परिणाम यह हुआ, कि ग्रीस का मामला संयुक्त राज्यसंघ की जनरल एसेम्बली के सम्मुख पेश हुआ। वहां एक मास तक उस पर बहस होती रही। अन्त में एसेम्बली ने यह फैसला किया, कि ग्रीस व उसके पड़ोसी राज्यों के सारे मामले पर विचार करने के लिए एक स्पेशल बाल्कन कमेटी की नियुक्ति की जाय। आस्ट्रेलिया, ब्राजील, चीन, फ्रांस, मैक्सिको, हालैण्ड, पाकिस्तान, ब्रिटेन और अमेरिका के प्रतिनिधि इस कमेटी में रहें। पोलैण्ड और रूस भी जब चाहें, इसमें अपने प्रतिनिधि भेज सकें। इस प्रस्ताव के पक्ष में ४० और विरोध में ६ वोट आये। ११ सदस्य तटस्थ रहे। स्पेशल बाल्कन कमेटी ने दिसम्बर, १९४७ में अपना काम शुरू कर दिया। पर अल्बेनिया, युगोस्लाविया और बल्गेरिया के सहयोग के बिना यह कमेटी कोई काम नहीं कर सकती थी। ये देश कमेटी के साथ असहयोग कर रहे थे।

इसी बीच में अल्बेनिया के समुद्र-तट पर सामुद्रिक सुरंगों के कारण दो ब्रिटिश जंगी जहाजों को नुकसान पहुंच गया। इससे ब्रिटेन में बहुत बेचैनी फैली। यह मामला भी संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख पेश हुआ। इसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सुपुर्द कर दिया गया। अल्बेनिया ने सोच-विचारकर यही उचित समझा, कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को स्वीकार कर लिया जाय। विश्व-संग्राम के बाद जो नया अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कायम हुआ था, उसके सम्मुख पेश होनेवाला यह पहला मुकदमा था।

ग्रीस की समस्या अभी तक भली भांति हल नहीं हुई है। वहां जो संघर्ष चल रहा है, उसकी जड़ में दो विचार-धाराओं का पारस्परिक विरोध है। रूस चाहता है, कि पूर्वी व दक्षिणी यूरोप के अन्य विविध देशों के समान ग्रीस में भी कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम हो जाय और यह देश भी उसके प्रभावक्षेत्र के अन्तर्गत हो जाय।

ब्रिटिश लोग यह नहीं चाहते, कि भूमध्य सागर में स्थित यह देश रूस के प्रभाव में आये। इसी कारण वे वहां वैध राजसत्ता को कायम रखने के लिये कटिबद्ध हैं।

(५) टर्की––रूस जिस प्रकार भूमध्य सागर के तट पर स्थित ग्रीस को अपने प्रभाव में लाना चाहता था, वैसे ही टर्की को भी अपने प्रभाव में लाने की उसकी इच्छा थी। टर्की के सम्बन्ध में उसकी मांगें निम्नलिखित थीं––(१) डार्डनल्स के जलडमरूमध्य में रूस को अपने सैनिक अड्डे कायम करने की अनुमति दी जाय। (२) यदि पहली बात सम्भव न समझी जाय, तो डार्डनल्स पर टर्की और रूस का सम्मिलित नियन्त्रण काम किया जाय। रूस की इस मांग से टर्की सहमत नहीं था। उसका कहना था, कि डार्डनल्स के जलडमरूमध्य पर टर्की के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश का नियन्त्रण स्वीकृत नहीं किया जा सकता। गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद मोन्त्रो में इस सम्बन्ध में सब बातों का भली भांति फैसला हो चुका है, और पोट्सडम कान्फरेन्स में स्वयं रूस इस बात को स्वीकार कर चुका है, कि यदि मोन्त्रो के फैसले में कोई भी संशोधन करना हो, तो सब मित्रराष्ट्रों से इस बारे में सलाह ली जाय। इस समय अमेरिका टर्की को भारी मात्रा में आर्थिक सहायता प्रदान कर रहा था। अमेरिका के विशेषज्ञ न केवल वहां के कल-कारखानों के विकास व उन्नति के लिये परामर्श दे रहे थे, अपितु सैनिक उन्नति के सम्बन्ध में भी अमेरिकन सहायता टर्की को प्राप्त थी। अमेरिकन लोग यह समझते थे, कि यदि टर्की रूस के प्रभाव से बचा रहे, तो भूमध्य सागर में उनकी स्थिति सुरक्षित रहेगी।

ईरान से रशियन सेनाएँ हटा लेने का मामला जब संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख उपस्थित हुआ, तो टर्की के मामले पर भी कई बार वहां विचार हुआ। डार्डनल्स के जलडमरूमध्य और काला सगर के दक्षिणी प्रदेशों पर रूस का प्रभाव कायम न हो सके, इस उद्देश्य से अनेक प्रयत्न संघ के अधिवेशनों में भी किये गये।

(६) **पैलेस्टाइन**––गत महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद पैलेस्टाइन का प्रदेश ब्रिटिश सरकार के शासन में दिया गया था। यहां यहूदी बड़ी संख्या में बसाये गये थे। ब्रिटिश सरकार की यह नीति थी, कि यहूदियों के लिये यह प्रदेश 'मातृ-भूमि' व 'स्वदेश' बन जाय। विश्व-संग्राम के समय में यहूदियों ने बहुत बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन आना शुरू किया। पर अरब लोग यह बात बिलकुल भी पसन्द नहीं करते थे। उनका खयाल था, कि पैलेस्टाइन अरब का एक हिस्सा है। उसमें यहूदियों के बहुसंख्या में बस जाने का परिणाम यह होगा, कि यह प्रदेश अरबों के हाथ से निकल जायगा। पैलेस्टाइन के ब्रिटिश शासक अरबों की इस बात को सहानुभति की दृष्टि से देखते थे। उस प्रदेश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने

का उन्हें यही उपाय समझ आता था, कि यहूदियों को वहां बड़ी संख्या में बसने दिया जाय। संसार के प्रायः सभी देशों में यहूदी लोगों का निवास है। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि उन्नत देशों में बहुत से सम्पन्न यहूदी-परिवार सदियों से बसे हुए हैं। सुदीर्घ काल से इन देशों में रहते हुए भी ये इस बात को नहीं भूले हैं, कि हम यहूदी हैं, और दुनिया भर के यहूदी हमारे बन्धु हैं। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की नीति का विरोध शुरू कर दिया। पैलेस्टाइन में यहूदियों को किस हद तक बसने दिया जाय, इस सवाल को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक तूफान सा आ गया। अरबों के विविध राज्यों ने परस्पर मिलकर यह आन्दोलन शुरू किया, कि पैलेस्टाइन में यहूदियों के प्रवेश पर रोक लगाई जाय। दूसरी तरफ संसार भर के यहूदी संगठित होकर यह कोशिश करने लगे, कि यूरोप के स्थानभ्रष्ट यहूदियों को पैलेस्टाइन में बसाकर एक समृद्ध व शक्तिशाली यहूदी राज्य की नींव डाली जाय।

१९४६ के शुरू में ब्रिटेन और अमेरिका ने एक उपसमिति नियुक्त की, जिसे यहूदियों की इस समस्या पर विचार करने का कार्य सुपुर्द किया गया। २९ मार्च, १९४६ को इस उपसमिति ने अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली। इसने यह सिफारिश की, कि (१) नाजी अत्याचारों के शिकार होने के कारण जो यहूदी स्थान-भ्रष्ट हैं, उनमें से एक लाख को तुरन्त पैलेस्टाइन में बसाया जाय। (२) ब्रिटेन का पैलेस्टाइन पर अधिकार अभी जारी रहे। (३) अभी वह समय नहीं आया है, जबकि पैलेस्टाइन में स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना की जा सके। ऐंग्लो-अमेरिकन उपसमिति की इस रिपोर्ट से अरब और यहूदी दोनों पूरी तरह से असन्तुष्ट थे। यहूदियों को यह शिकायत थी, कि इसमें उनके स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का विरोध किया गया है। अरब लोग यह मानने को कभी तैयार नहीं थे, कि एक लाख नये यहूदी उनके देश में लाकर बसा दिये जायँ। ईजिप्ट के राजा फारूक के नेतृत्व में कैरो में एक अखिल अरब कांग्रेस का आयोजन किया गया। इसमें विविध अरब राज्यों के शासक एकत्र हुए। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया, कि यदि ऐंग्लो-अमेरिकन उपसमिति की सिफारिशों को क्रिया-रूप में परिणत करने का उद्योग किया गया, तो वे डटकर उसका मुकाबला करेंगे। दूसरी तरफ, यहूदी लोगों ने घोषणा की, कि स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना के बिना वे कभी सन्तुष्ट नहीं होंगे। दोनों पक्षों में लड़ाई शुरू हो गई। अरब और यहूदी दोनों आतंक के मार्ग का अनुसरण करने लगे। २२ जुलाई, १९४६ को जेरूसलम के किंग डेविड होटल को यहूदियों ने बारूद से उड़ा दिया। इस होटल में ब्रिटिश सरकार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यालय स्थित थे। ९१ ब्रिटिश नागरिक मारे गये और ४५

बुरी तरह घायल हुए। यहूदी आतंकवादियों ने हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन कर ब्रिटिश शासकों व नागरिकों पर हमले शुरू कर दिये। उन्हें ब्रिटिश सरकार से यही शिकायत थी, कि उनकी सत्ता यहूदियों के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना में बाधक है। अरब लोग भी यहूदियों पर हमला करने और सब प्रकार के आतंकमय उपायों से उन्हें नुकसान पहुँचाने में तत्पर थे। इसी समय यहूदियों ने बड़ी संख्या में जबर्दस्ती पैलेस्टाइन पहुँचने का यत्न शुरू किया। अँगरेजी सरकार इन नये आनेवाले यहूदियों को साइप्रस टापू में भेजने लगी। अरबों के विरोध के कारण इन्हें पैलेस्टाइन में बसने देना उचित नहीं समझा गया। यहूदी इससे और भी असन्तुष्ट हुए।

१ जुलाई, १९४६ को ब्रिटिश सरकार ने पैलेस्टाइन की समस्या को हल करने के लिये यह योजना पेश की, कि (१) पैलेस्टाइन को दो हिस्सों में विभक्त किया जाय—यहूदियों का राज्य और अरबों का राज्य। (२) ये दोनों राज्य अपने आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र रहें। (३) इन दोनों राज्यों का नियन्त्रण ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त हाई कमिश्नर के हाथ में रहे, जो विदेशी राजनीति, सेना, आयात-कर, निर्यात-कर आदि विषयों को भी अपने अधिकार में रखे। (४) जेरूसलम के प्रदेश में आबाद होने के लिये एक लाख यहूदियों को तुरन्त ही अनुमति प्रदान की जाय। इस योजना से भी यहूदी और अरब दोनों असन्तुष्ट थे। दोनों ने इसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया। परिणाम यह हुआ, कि पैलेस्टाइन की समस्या पर फिर नये सिरे से विचार शुरू किया गया। कई महीनों तक लण्डन में यहूदी और अरब प्रतिनिधियों के साथ बातचीत होती रही। अब ब्रिटिश सरकार ने एक नई योजना तैयार की, जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि (१) पैलेस्टाइन को दो भागों में विभक्त कर उनमें पृथक्-पृथक् यहूदी और अरब राज्यों की स्थापना की जाय। (२) ये राज्य अपने आपमें स्वतन्त्र हों, पर दोनों पर ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण कायम रहे। (३) प्रति दो साल बाद एक लाख यहूदियों को जेरूसलम के यहूदी राज्य में बसने की अनुमति दी जाय। (४) पांच वर्ष तक इस योजना को सफल बनाने का प्रयत्न किया जाय। यदि इस अरसे में यह योजना सफल न हो, तो पैल्लेस्टाइन की सारी समस्या को संयुक्त राज्यसंघ के सुपुर्द कर दिया जाय। पर इस नई योजना से भी समस्या का हल नहीं हुआ। अरब और यहूदी दोनों ही इसे सन्तोषजनक नहीं समझते थे।

परेशान होकर अन्त में ब्रिटेन ने यह निश्चय किया, कि पैलेस्टाइन की समस्या

को संयुक्त राज्यसंघ के सुपुर्द कर देने में ही लाभ है। १३ एप्रिल, १९४७ को संघ के प्रधान मन्त्री (सेक्रेटरी जनरल) ने पैलेस्टाइन पर विचार करने के लिये संयुक्त राज्यसंघ के सब सदस्यों को निमन्त्रित किया। जनरल एसेम्बली में इस समस्या पर खूब वाद-विवाद हुआ। अन्त में, एक स्पेशल कमेटी की नियुक्ति की गई, जिसे पैलेस्टाइन जाकर सारे सवाल की जांच कर अपनी सिफारिशें पेश करने का कार्य सुपुर्द किया गया। इस बीच में अरब और यहूदी आपस में लड़ने में लगे हुए थे। दोनों तरफ से आतंक के उपायों का आश्रय लिया जा रहा था। पर संयुक्त राज्यसंघ द्वारा नियुक्त स्पेशल कमेटी अपना कार्य करती रही, और ३१ अगस्त, १९४७ को उसने अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली। इसके अनुसार ये सिफारिशें की गईं, कि (१) पैलेस्टाइन पर ब्रिटेन का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण व अधिकार न रहे। (२) पैलेस्टाइन को दो स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त किया जाय, यहूदी राज्य और अरब राज्य। दोनों राज्य अपने-अपने क्षेत्र में पूर्णतया स्वतन्त्र रहें। २९ नवम्बर, १९४७ को संयुक्त राज्यसंघ की जनरल एसेम्बली ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। इसके अनुसार ब्रिटेन ने पैलेस्टाइन पर से अपने नियन्त्रण व अधिकार को हटा लिया। वहां जो ब्रिटिश सेनाएँ व शासक विद्यमान थे, उन सबको वापस बुला लिया गया।

संयुक्त राज्यसंघ के निर्णय से यहूदी लोग बहुत सन्तुष्ट थे। उन्हें अनुभव होता था, कि स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना का उनका स्वप्न इससे पूर्ण होता है। पर अरब लोग इस निर्णय से बहुत ही असन्तुष्ट थे। अपने एक राज्य का अंग-भंग और खास अरब में एक विदेशी व विधर्मी राज्य की स्थापना उन्हें जरा भी पसन्द नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि उन्होंने युद्ध प्रारम्भ कर दिया। यह युद्ध निरन्तर अधिक-अधिक भयंकर रूप धारण करता गया। पर ब्रिटेन ने इसकी जरा भी परवाह न कर मई, १९४८ तक अपनी सेनाएँ व अफसर पैलेस्टाइन से वापस बुला लिये। इस स्थिति से फायदा उठाकर यहूदियों ने तेल अबीब को केन्द्र बनाकर अपने पृथक् व स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली। नये यहूदी राज्य का नाम इजराईल रखा गया। अरब लीग (जिसमें विविध अरब राज्य संगठित थे) ने इस नये राज्य के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। दोनों पक्षों में बाकायदा लड़ाई शुरू हो गई।

इस स्थिति में संयुक्त राज्यसंघ ने फिर एक बार हस्तक्षेप किया। उसने दोनों पक्षों में समझौता कराने व लड़ाई को बन्द कराने के लिये काउण्ट बर्नडाट को मध्यस्थ के रूप में नियत किया। काउण्ट ने सब प्रश्नों पर विचार कर समझौते

के लिये यह योजना पेश की--(१) यहूदी और अरबों के पैलेस्टाइन में पृथक्-पृथक् राज्य बनाये जायं। (२) पर उनके सामान्य मामलों (सेना, विदेशी नीति आदि) का संचालन व नियन्त्रण करने के लिये एक यूनियन की स्थापना की जाय। इस यूनियन की एक सम्मिलित कौंसिल हो, जिसमें अरब और यहूदी दोनों राज्यों के प्रतिनिधि रहें। (३) अरब और यहूदी राज्यों की सीमा का निर्धारण करने के लिये बातचीत शुरू की जाय। (४) दोनों राज्यों में अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा के लिये समुचित व्यवस्था की जाय। काउण्ट बर्नेडाट के इस सुझाव से भी यहूदी और अरब दोनों ही असन्तुष्ट थे। यहूदियों को तो ऐसा अनुभव होता था, कि इससे उनके नये स्थापित हुए राज्य की पूर्ण स्वतन्त्रता कायम नहीं रहने पाती। उनका विरोध इस हद तक बढ़ा, कि ११ सितम्बर, १९४८ को एक यहूदी युवक ने काउण्ट बर्नेडाट को कतल कर दिया।

इस बीच में अनेक राज्यों ने इजराईल की सत्ता को स्वीकार कर लिया था। इजराईल की सेनाएँ अरबों के साथ बाकायदा युद्ध कर रही थीं। अनेक स्थानों पर अरब लोग उनसे बुरी तरह परास्त भी हुए थे। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे इजराईल की स्थिति बहुत मजबूत होती गई। अरब लोगों ने भी अनुभव कर लिया, कि वे नई यहूदी शक्ति को सुगमता के साथ परास्त नहीं कर सकते। संयुक्त राष्ट्र-संघ ने काउण्ट बर्नेडाट की हत्या के बाद भी शान्ति और समझौते के अपने प्रयत्न को जारी रखा। अन्त में, अरब लीग और इजराईल में अस्थायी रूप से शान्ति की स्थापना हो गई। अब संयुक्त राज्यसंघ इस कोशिश में है, कि इस अस्थायी शान्ति को चिरस्थायी कर दिया जाय।

(७) **एटम-शक्ति**---विश्व-संग्राम के अवसर पर अमेरिका ने एटम बम्ब का उपयोग किया था। एटम-शक्ति संसार के लिये अत्यन्त भयंकर और नाशक सिद्ध हो सकती है, अतः सभी राज्य इस बात के लिये उत्सुक थे, कि इस शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में रखा जाय। यह मामला संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख उपस्थित किया गया। एक कमीशन की भी नियुक्ति की गई, जो समस्या के सब पहलुओं पर विचार करके अपनी रिपोर्ट दे। पर एटम-शक्ति सम्बन्धी कमीशन किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सका। उसने यही सिफारिश की, कि अभी इस मामले को स्थगित रखा जाय। रूस ने इस बात का जबर्दस्त विरोध किया। जब संघ की सुरक्षा-परिषद् ने कमीशन की इस सिफारिश को स्वीकृत करना चाहा, तो रूस ने वीटो के अधिकार का उपयोग कर उसे रद्द कर दिया। अक्टूबर, १९४८ में संयुक्त राज्यसंघ की जनरल एसेम्बली के सम्मुख एटम-शक्ति का विषय पेश

हुआ। वहां यह सिद्धान्त तो तय हो गया, कि एटम-शक्ति का उपयोग विनाशक कार्यों के लिये न करके रचनात्मक और शान्तिमय कार्यों के लिये करना चाहिये। पर एटम बम्ब के रूप में जो घोर विनाशकारी शस्त्र मनुष्य जाति के हाथ में आ गया है, उसके उपयोग पर कैसे नियन्त्रण किया जाय, इस विषय में संघ किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सका।

(८) **निःशस्त्रीकरण की समस्या**—संसार में शान्ति स्थापित रखने के लिये संयुक्त राज्यसंघ इस बात को परम आवश्यक समझता था, कि विविध राज्य अपने अस्त्र-शस्त्रों व सेनाओं में कमी करें। इसीलिये उसने ये सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे—(१) सब राज्य निःशस्त्रीकरण योजना में शरीक हों। (२) जब कभी सुरक्षा-परिषद् को आवश्यकता हो, विविध राज्य अपनी सेनाएँ उसके सुपुर्द कर देने के लिये उद्यत हों। (३) केवल उतने अस्त्र-शस्त्र राज्यों के पास रहने पावें, जो उनकी रक्षा के लिये आवश्यक हैं। (४) किसी राज्य के आन्तरिक मामलों में अन्य राज्य हस्तक्षेप न करें। रूस के प्रतिनिधियों की इस योजना से सहमति नहीं थी। वे इस बात पर जोर देते थे, कि एटम बम्ब के जो भी संग्रह जिस किसी देश के पास हों, उन सबको नष्ट कर दिया जाय। रूस का खयाल था, कि निःशस्त्रीकरण की किसी भी योजना से पहले एटम-शक्ति की समस्या को हल कर लेना आवश्यक है। निःशस्त्रीकरण की समस्या अभी संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख विद्यमान है, पर उसके सम्बन्ध में कोई सन्तोषजनक हल अभी तक किया नहीं जा सका है।

(९) **काश्मीर**—भारत के विभाजन के बाद काश्मीर ने यह तय किया था, कि वह भारत के अन्तर्गत रहे। पर पाकिस्तान इस बात को नहीं सह सका। उसने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। काश्मीर के पश्चिमी प्रदेशों में 'आजाद काश्मीर सरकार' की स्थापना की गई, जो पाकिस्तान की सहायता पर आश्रित थी। पाकिस्तान की सहायता से 'आजाद काश्मीर सरकार की सेनाएँ' काश्मीर पर निरन्तर हमले कर रही थीं। भारत ने इस मामले को संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख पेश किया। संघ के हस्तक्षेप द्वारा काश्मीर की लड़ाई बन्द हो गई, और संघ द्वारा नियुक्त कमीशन ने इस बात का प्रयत्न किया, कि लोकमत द्वारा इस बात का फैसला किया जाय, कि काश्मीर किस देश के साथ रहे। अभी संयुक्त राज्यसंघ काश्मीर के मामले का निर्णय नहीं कर सका है, यद्यपि इसके लिये प्रयत्न जारी है।

संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख अन्य भी बहुत से मामले पेश हुए हैं। उन सबका उल्लेख कर सकना यहां सम्भव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि अनेक विवाद-

ग्रस्त विषयों का सन्तोषजनक रूप से फैसला करने में संघ को अच्छी सफलता मिली है। पर संसार के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो अधिक गम्भीर व जटिल समस्याएँ हैं, उनका समाधान कर सकने में संयुक्त राज्यसंघ समर्थ नहीं हो सका है। रूस और अमेरिका के विरोध और संघर्ष के कारण संसार जिन दो गुटों में विभक्त हो रहा है, भावी अशान्ति और युद्ध का वही मूल है। इस मूलभूत समस्या को हल कर सकने का कोई उपाय अभी संघ के पास नहीं है।

११. उपसंहार

हमने यूरोप के इस आधुनिक इतिहास का प्रारम्भ उस युग से किया था, जब यूरोप में सूत कातने के लिये तकुवे और चरखे काम में आते थे, कपड़ा करघों व खड्डियों पर बुना जाता था। घोड़े या बैल से चलनेवाली लकड़ी की गाड़ियां सवारी के काम आती थीं। समुद्र में जहाज चलते थे, पर बिजली या भाप से नहीं, अपितु पाल व चप्पुओं से। रेल, मोटर, तार, हवाई जहाज आदि का नाम तक भी उस समय कोई नहीं जानता था। कल-कारखानों का विकास उस समय नहीं हुआ था। सब देशों में एकतन्त्र, स्वेच्छाचारी, निरंकुश राजा राज्य करते थे। शासन का मुख्य सिद्धान्त था—"राजा पृथिवी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसकी इच्छा ही कानून है।" समाज में ऊँच-नीच का भेद विद्यमान था। जन्म के कारण कुछ लोग छोटे माने जाते थे, कुछ लोग बड़े। स्त्रियों को स्वाधीनता नहीं मिली थी। धर्म के मामले में लोग बड़े संकीर्ण और असहिष्णु थे।

पर अब क्या दशा है? रेल, तार, हवाई जहाज और रेडियो ने देश और काल पर अद्भुत विजय प्राप्त कर ली है। बड़े-बड़े कारखानों में विद्युत्शक्ति से काम होता है, उनमें हजारों मजदूर काम करते हैं। एटम (परमाणु) की शक्ति के ज्ञान से मनुष्य के हाथ में न केवल एक प्रलयकारी अस्त्र आ गया है, पर वह यह भी स्वप्न देखने लगा है, कि इस शक्ति के उपयोग से वह आर्थिक उत्पत्ति में सहस्रगुण वृद्धि कर सकता है। प्रायः सभी देशों में स्वेच्छाचारी राजाओं का अन्त होकर जनता का शासन स्थापित हो गया है। राजाओं के 'दैवी अधिकार' अब स्वप्न की बात हो गये हैं। मनुष्य अब केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता से ही सन्तुष्ट नहीं है, वह आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में भी स्वतन्त्रता व समानता चाहता है। समाज से ऊँच-नीच का भेद मिट गया है। स्त्रियों को स्वाधीनता मिल गई है। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों की बराबरी कर रही हैं। धर्म के मामले में सब लोग आजाद हैं, सबको अपने विश्वासों के अनुसार कार्य करने का हक है।

यह आश्चर्यजनक परिवर्तन केवल १६० वर्ष में आया है। हमने इस इति-

ह्रास का प्रारम्भ सन् १७८९ से किया था, अब १९४९ में यूरोप उन्नति के मार्ग पर इतना अधिक आगे बढ़ गया है। यह उन्नति मुख्यतया निम्नलिखित क्षेत्रों में हुई है---

(१) **विज्ञान**---पिछली डेढ़ सदी में मनुष्य ने विज्ञान के क्षेत्र में असाधारण उन्नति की है। प्रकृति की विविध शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य ने उनका उपयोग आर्थिक उत्पत्ति के लिये किया है। भाप, वायु, बिजली और परमाणु शक्ति---ये विविध प्राकृतिक शक्तियां संसार में सदा से विद्यमान थीं। पर इन्हें किस प्रकार अधीन किया जाय और किस प्रकार इनका उपयोग विविध प्रयोजनों के लिये किया जाय---यह मनुष्य को ज्ञात नहीं था। अब इन शक्तियों पर मनुष्य के दिमाग ने विजय पा ली है। इसी का यह परिणाम है, कि हम आज दिल्ली बैठकर लण्डन या पेरिस से बातचीत कर सकते हैं। क्षण भर में मनुष्य अपना सन्देश संसार के किसी भी कोने में पहुँचा सकता है। टेलीविजन के आविष्कार से यह भी सम्भव हो गया है, कि हम परोक्ष की वस्तु, घटना आदि को अपनी आंखों से देख सकें। हवाई जहाज द्वारा अब कुछ ही दिनों में सारे संसार का चक्कर लगाया जा सकता है। ऐसे यान बन गये हैं, जो शब्द से भी अधिक तेज गति से चलते हैं। मनुष्य यह भी प्रयत्न कर रहा है, कि वह पृथिवी से उड़कर चन्द्रमा व अन्य ग्रहों तक पहुँच सके। मनुष्य का दिमाग जब एक बार अन्धविश्वासों से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से खोज के लिये चल पड़ता है, तो उन्नति के मार्ग में कोई बाधा नहीं रह जाती। मध्यकाल में मनष्य अपने सब ज्ञान-विज्ञान के लिये प्राचीन शास्त्रों व धर्म-ग्रन्थों पर निर्भर रहता था। आधुनिक युग में उसने खोज, परीक्षण और आविष्कार द्वारा प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना शुरू किया। इसी का यह परिणाम है, कि विज्ञान के क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति करके उसने न केवल प्रकृति की शक्तियों पर, अपितु देश और काल पर भी अद्भुत विजय प्राप्त कर ली है। संसार के विविध देश व निवासी अब एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं। उनकी दूरी बहुत कुछ नष्ट हो गई है।

विज्ञान की यह उन्नति केवल भौतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र वनस्पति-विज्ञान, शरीररचना-शास्त्र आदि सभी क्षेत्रों में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। मनुष्य ने प्रकृति के विविध छिपे हुए तत्त्वों व रहस्यों को बहुत कुछ जान लिया है। विविध रोगों के इलाज के लिये उसने ऐसी औषधियों का आविष्कार किया है, जिनसे महामारियां और रोग बहुत कुछ काबू आ गये हैं।

(२) अस्त्र-शस्त्र---विज्ञान की उन्नति के कारण मनुष्य ने युद्ध के तरीकों व अस्त्र-शस्त्रों में भी बहुत उन्नति की है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय १७८९ में मनुष्य के पास बन्दूक व तोप से बढ़कर कोई हथियार नहीं था। पर अब उसके पास ऐसे प्रलयकारी हथियार विद्यमान हैं, जिनसे बड़े-बड़े शहरों को एक क्षण में नष्ट किया जा सकता है। इन हथियारों की घातक शक्ति से मनुष्य स्वयं भय खाने लगा है। वह अनुभव करता है, कि उसके हाथ में प्रकृति की इतनी घातक शक्ति आ गई है, कि वह अपनी सत्ता को अपने हाथों से ही नष्ट कर सकता है। अब युद्ध केवल सैनिक योद्धाओं तक ही सीमित नहीं रह सकता। वह सुवर्णीय युग अब समाप्त हो गया है, जबकि यूनानी यात्री मैगस्थनीज ने लिखा था, कि इधर सैनिक आपस में लड़ रहे होते हैं, और उधर पड़ोस में ही किसान लोग निश्चिन्त रूप से हल चलाते रहते हैं। अब तो युद्ध में सैनिकों की अपेक्षा सर्वसाधारण नागरिकों को अधिक भय रहता है। आज के अस्त्र-शस्त्र इतने भयंकर हैं, कि लड़ाई में किसी भी मनुष्य का जीवन सुरक्षित नहीं समझा जा सकता।

(३) समाज-शास्त्र---पिछली डेढ़ सदी में मनुष्य ने केवल भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में ही उन्नति नहीं की है, अपितु समाज-शास्त्रों में भी बहुत प्रगति हुई है। समाज क्या है, समाज में रहनेवाले मनुष्यों में परस्पर किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिये; आर्थिक, राजनीतिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में मनुष्य को एक दूसरे के साथ किस प्रकार बरतना चाहिये---इन सब समस्याओं पर मनुष्य ने अपने विचारों को अब बहुत कुछ परिष्कृत कर लिया है। मनुष्य का हित व कल्याण केवल भौतिक उन्नति पर ही निर्भर नहीं है। जब तक उनके आपस के सम्बन्ध समुचित नहीं होंगे, उनका कल्याण सम्भव नहीं है। अर्थ-शास्त्र, राज-शास्त्र, नीतिशास्त्र आदि विविध समाज-विज्ञान इसी बात का प्रयत्न कर रहे हैं, कि मनुष्यों के सामूहिक सम्बन्धों में उन्नति हो और वे सुखपूर्वक साथ मिलकर रह सकें।

(४) राजनीतिक स्वाधीनता---राजाओं के स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन का अन्त होकर अब जनता का शासन सर्वत्र स्थापित हो गया है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की जिन प्रवृत्तियों को जन्म दिया था, वे अब प्रायः सम्पूर्ण यूरोप में फलीभूत हो गई हैं।

(५) आर्थिक स्वाधीनता व समानता---जनता केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता से ही सन्तुष्ट नहीं है, वह यह यत्न भी कर रही है, कि आर्थिक दृष्टि से भी सब लोग स्वतन्त्र व समान हों। केवल वोट का अधिकार मिल जाने से मनुष्यों की समस्या

हल नहीं होती। जब तक सब लोगों को भर पेट भोजन, रहने को मकान और पहने को कपड़े सन्तोषजनक रीति से न मिलें, तब तक लोग सन्तुष्ट नहीं हो सकते। इसके लिये समाज की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता है। इसीलिये साम्यवाद के आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ है, जिससे यह प्रयत्न किया जा रहा है, कि कोई धनी व्यक्ति श्रमियों का शोषण न कर सके; श्रमी अपने श्रम की पूरी-पूरी कीमत प्राप्त करें। किसी को यह अवसर न हो, कि वह बिना कुछ किये खाली बैठकर आमदनी पा सके।

मनुष्य ने पिछले दिनों इन सब क्षेत्रों में बड़ी भारी उन्नति की है, पर अभी तक वह ऐसा कोई उपाय नहीं ढूंढ़ सका है, जिससे संसार के विविध मनुष्य व राष्ट्र परस्पर मिलकर शान्ति के साथ जीवन बिता सकें। सन्तुष्ट, शान्तिमय और सुखी जीवन के लिये मनुष्य की पहली आवश्यकता यह है, कि वह लड़ाई, युद्ध व झगड़े के भय से मुक्त हो। यूरोप की आधुनिक उन्नति के काल में यह भय घटने के बजाय बढ़ा ही है। १९१४ से १९४५ तक के काल में मानव-समाज ने दो भयंकर प्रलयकारी युद्धों का सामना किया है। तीस साल के छोटे से समय में इतने बड़े दो युद्ध संसार के इतिहास में शायद पहले कभी नहीं हुए। विश्व-संग्राम अभी समाप्त भी नहीं हुआ, कि तीसरे महायुद्ध की तैयारी शुरू हो गई है। देशों के राजनीतिज्ञ नेता अभी से लड़ाई की बात सोचने लगे हैं। वे इस बात के लिये तैयारी करने लगे हैं, कि अकस्मात् युद्ध के शुरू हो जाने पर कहीं वे अचेत न रह जायं। न केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, अपितु राज्यों के आन्तरिक क्षेत्र में भी अशान्ति, बेचैनी और संघर्ष सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जमींदार और किसान, पूंजीपति और मजदूर, शासक और जनता—सबमें संघर्ष और असन्तोष विद्यमान है। सब जगह मनुष्य बेचैन सा नजर आता है। राजनीतिक दलबन्दियों के कारण एक देश की जनता ही आपस में एक दूसरे के साथ झगड़े में फँसी है। धर्म का उद्देश्य अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति है। पर धर्म के प्रश्न को लेकर भी मनुष्य एक दूसरे के साथ झगड़े में लगा है। ऐसा प्रतीत होता है, कि संसार में एक बार फिर सर्वत्र 'मात्स्य न्याय' के चिह्न प्रकट होने लगे हैं।

इतना ही नहीं, पिछली डेढ़ सदी में मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की है, वह उसके हित और कल्याण में बहुत सहायक सिद्ध नहीं हुई। पहले बहुसंख्यक जनता अशिक्षित थी, न वह देश-विदेश की पुस्तकें पढ़ सकती थी, और न देश-देशान्तर के समाचारों को जान सकने का ही कोई साधन उसके पास था। अब यूरोप की प्रायः सभी जनता शिक्षित हो गई है। उसे प्रकृति के

रहस्यों का ज्ञान हो गया है, वह अपने अधिकारों और कर्तव्यों को समझने लगी है। पर क्या इससे मानव-समाज का हित हुआ है। किसी प्राचीन ऋषि ने विद्या का यह लक्षण किया था---'सा विद्या या विमुक्तये' विद्या वह है, जो मनुष्य की विमुक्ति का साधन हो। पर आज की विद्या या शिक्षा मनुष्य को बन्धनों से छुटकारा देनेवाली न होकर उसकी मानसिक दासता में सहायक हो रही है। जिन समाचार-पत्रों द्वारा मनुष्य देश-देशान्तर के समाचार जानता है, घटनाक्रम को समझता है, वे या तो राज्य के नियन्त्रण में हैं, या पूंजीपतियों के हाथ में हैं, और या सुसंगठित राजनीतिक दलों द्वारा संचालित हैं। वे जनता को ऐसा ज्ञान देते हैं, जो उन्हें स्वतन्त्र रूप से सोचने-विचारने लायक नहीं रहने देता। यही दशा रेडियो की है, और आंशिक रूप से यही दशा पुस्तकों की है। प्रेस, पुस्तक आदि सब पर राज्य का नियन्त्रण है, और राज्य के इस नियन्त्रण का अभिप्राय है, किसी दल-विशेष का नियन्त्रण। सर्वसाधारण जनता की शिक्षा, उसका मानसिक विकास व ज्ञान आज उन साधनों पर आश्रित हैं, जो कुछ व्यक्तियों व राजनीतिक दलों के कब्जे में हैं। यही कारण है, कि विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की विचारधाराएं पनप रही हैं। यदि रूस कम्युनिस्ट विचारधारणी का शिकार बन गया, तो जर्मनी और इटली ने फैसिस्ट विचारधारा के सम्मुख सिर झुका दिया। विश्व-संग्राम (१९३९-४५) के बाद आधा (पूर्वी) यूरोप कम्युनिस्ट हो गया। और आधा (पश्चिमी) पूंजीवाद पर आश्रित लोकतन्त्रवाद का पक्षपाती बन गया। क्या यह स्थिति जनता की स्वतन्त्र इच्छा व स्वतन्त्र विचार के कारण हुई? नहीं, इस दशा का कारण वह मानसिक दासता है, जिसे आधुनिक युग की शिक्षा ने उत्पन्न किया है, जो शिक्षा अब उन लोगों के हाथों में है, जिनके पास राजशक्ति है।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की भावना को उत्पन्न किया था। उसके कारण जो राजनीतिक चेतना यूरोप में उत्पन्न हुई, उसने वंशक्रमानुगत राजाओं और कुलीन वर्ग के स्वेच्छाचार को अवश्य नष्ट कर दिया, पर क्या उससे मानव-समाज में सचमुच समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व उत्पन्न हो सके? यूरोप की वर्तमान दशा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने लोकतन्त्रवाद की जिस लहर का प्रारम्भ किया था, वह अपना कार्य करके अब समाप्त हो गई है। स्वतन्त्रता और लोकसत्ता का स्थान अब एकाधिकार (टोटलिटेरेयनिज्म) ले रहा है। जिस ढंग के लोकतन्त्रवाद का प्रारम्भ अठारहवीं सदी के अन्त में फ्रांस में हुआ था, वह अब भूतकाल की बात बनता जा रहा है। रूस और पूर्वी यूरोप स्पष्ट रूप से उससे आगे बढ़ गये हैं,

और पश्चिमी यूरोप के जो राज्य अभी तक अपने को लोकतन्त्रवादी मानते हैं, वे भी इस प्रकार के शासनों को अपना रहे हैं, जो फैसिज्म से बहुत भिन्न नहीं है। वोट का अधिकार मनुष्य को वास्तविक स्वतन्त्रता दिला सकने में समर्थ नहीं हुआ है।

विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने भौतिक व आर्थिक उन्नति में वस्तुतः सफलता प्राप्त की है। इसमें सन्देह नहीं, कि विशाल कल-कारखानों की मदद से आज का मनुष्य पहले की अपेक्षा बहुत अधिक माल उत्पन्न करता है। पर पैदावार की वृद्धि से मानव-समाज की आर्थिक समस्या हल नहीं हो सकी। इस आर्थिक उत्पत्ति का वितरण किस ढंग से हो, यह समस्या अब अत्यन्त उग्ररूप से मनुष्य के सम्मुख उपस्थित हो गई है। सम्पत्ति का वितरण ठीक प्रकार न होने से अभी तक भी मानव-समाज में करोड़ों व्यक्ति इस प्रकार के हैं, जिन्हें न पेट भर भोजन मिलता है, और न अपने तन को ढकने के लिये कपड़ा। वैज्ञानिक और व्यावसायिक उन्नति मनुष्य की आर्थिक समस्या को हल कर सकने में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकी।

राष्ट्रीयता के सिद्धान्त ने यूरोप के राज्यों का नये सिरे से निर्माण करने में अवश्य सफलता प्राप्त की। पर इससे भी मानव-समाज के हित और कल्याण में बहुत मदद नहीं मिली। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की विजय विविध जातियों और राष्ट्रों के पारस्परिक विरोध, प्रतिस्पर्धा और विद्वेष की वृद्धि में बहुत सहायक हुई, और बीसवीं सदी के दो भयंकर युद्धों के बाद भी इस राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा का अभी अन्त नहीं हो सका है। राष्ट्रीयता की उग्र भावना से पिछली डेढ़ सदी में साम्राज्य-वाद को प्रोत्साहन मिला, और अब भी यह भावना मानव-समाज में विद्वेष और प्रतिस्पर्धा को निरन्तर बढ़ा रही है।

इस स्थिति का अन्त कैसे किया जाय? क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे विविध मनुष्य और विभिन्न राष्ट्र सुख-शान्ति से रहकर परस्पर सहयोग से अपनी उन्नति कर सकें? सम्भवतः, यूरोप के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। रूस के कम्युनिस्ट और अमेरिका के लोकतन्त्रवादी इस समस्या का हल कर सकने में असमर्थ हैं। राष्ट्रसंघ और संयुक्त राज्यसंघ की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई थी, कि संसार में शान्ति स्थापित हो और मनुष्य युद्ध के भय से मुक्त हों। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिल सकी। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का जो भी प्रयत्न संसार में अब तक हुआ है, वह असफल ही रहा है।

इसका कारण क्या है? पहली बात तो यह है, कि इतनी अधिक वैज्ञानिक, भौतिक व सामाजिक उन्नति करके भी मनुष्य ने अब तक 'मानव' के रूप में जरा

भी उन्नति नहीं की। मनुष्य रेडियो का इस्तेमाल करता है, हवाई जहाज पर यात्रा करता है, बिजली की शक्ति को अपने पास बांधकर रखता है, पर मनुष्य के रूप में वह अब भी वही है, जो उस समय था, जबकि उसके पास पत्थर के मोटे, भद्दे औजारों से बढ़कर कोई उपकरण नहीं थे। उसने दिमागी उन्नति बहुत कर ली, पर उसके हृदय और आत्मा ने जरा भी आगे कदम नहीं बढ़ाया। वे अभी तक वहीं हैं, जहां कि वे प्रस्तर युग (स्टोन एज) में थे। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य संसार का मानव आगे बढ़ने के स्थान पर शायद कुछ पीछे ही हटा है। यही कारण है, कि अभी उसकी समस्याओं का समाधान नहीं हुआ। मानव-समाज की अशान्ति और बेचैनी का दूसरा कारण यह है, कि मनुष्यों में अभी अमीर और गरीब का भेद विकट रूप से विद्यमान है। समाज से ऊँच-नीच का भेद अवश्य दूर हो गया है, किसी को जन्म के कारण छोटा या बड़ा अब नहीं माना जाता। पर अभी एक तरफ तो ऐसे धनी पूंजीपति विद्यमान हैं, जो अपनी सम्पत्ति का अपव्यय करते हैं, जिन्हें यह भी नहीं समझ पड़ता, कि वे अपने धन का कैसे उपयोग करें। दूसरी तरफ ऐसे लोग करोड़ों की संख्या में हैं, जिनके पास न खाने को काफी अनाज है, और न तन ढकने को कपड़े ही पर्याप्त मात्रा में हैं। पहले लोग अपनी इस दुर्दशा का कारण भगवान् की इच्छा या कर्मों का फल मानकर सन्तोष कर लेते थे। धर्म के प्रचारकों ने उन्हें एक प्रकार की सन्तोष की मदिरा सी पिलाई हुई थी। वे इस जन्म में सब प्रकार के कष्ट भोगते हुए भी यह आशा करते थे, कि अपने सन्तोष और धर्म-परायणता के कारण वे अगले जन्म में सुख भोगेंगे या जगत्पिता की गोद में पहुँचकर उसकी कृपा व अनुकम्पा से उनके सब कष्ट दूर हो जावेंगे। पर आधुनिक युग में मनुष्य की यह भावना दूर हो गई है। वह चाहता है, कि इसी जन्म में उसे सुख प्राप्त हो। अपनी गरीबी और दूसरे की समृद्धि उसे निरन्तर परेशान करती रहती है। जो दशा राज्य में विविध मनुष्यों की है, वही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राज्यों की है। कुछ राज्य अमीर हैं, उनके अपने साम्राज्य हैं, उनके तैयार माल की खरीद के लिये अनेक बाजार सुरक्षित हैं, उनके अपने आर्थिक साधन भी खूब उन्नत हैं। दूसरी तरफ, ऐसे भी राज्य हैं, जिनके पास समृद्धि का सर्वथा अभाव है, जो गरीब हैं। जब तक मानव-समाज में शोषण की प्रवृत्ति कायम रहेगी, गरीब और अमीर का भेदभाव दूर नहीं होगा, उसे शान्ति प्राप्त होना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

तो इस समस्या का हल क्या है? ऐसा प्रतीत होता है, कि यूरोप के पास इस समस्या का कोई हल नहीं है। वह तेजी के साथ युद्ध की ओर कदम बढ़ा रहा है।

उसके वैज्ञानिकों और विद्वानों ने अब तक जो कुछ उन्नति की है, वह इस बार के युद्ध में सुरक्षित नहीं रहने पावेगी। पाश्चात्य सभ्यता की सत्ता ही अब खतरे में पड़ती जा रही है। मनुष्य ने प्रकृति की जिन शक्तियों को अपने काबू में किया है, वे ही उसका नाश कर देंगी।

पर इस घोर अन्धकार में भी आशा की एक किरण है। यह किरण पूर्व दिशा की ओर से उदित हो रही है। ब्रिटिश साम्राज्य के शासन से मुक्त होकर भारत अब स्वतन्त्र हो गया है। वह अब अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना समुचित स्थान भी प्राप्त करने लगा है। भारत ने अपनी स्वतन्त्रता के लिये हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन नहीं किया, उसे स्वराज्य-प्राप्ति के लिये किसी सशस्त्र क्रान्ति की आवश्यकता नहीं हुई। महात्मा गांधी ने उसे सत्य और अहिंसा का मार्ग प्रदर्शित किया था। वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक भारत के ऋषि, महात्मा और सन्त इसी मार्ग का प्रतिपादन करते रहे। आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने कहा था—"अक्रोध से क्रोध पर विजय प्राप्त करो, साधुता से असाधु पर विजय प्राप्त करो।" महात्मा गांधी भी यही कहते थे—सत्य और अहिंसा ऐसे अस्त्र हैं, जिनसे संसार की बड़ी से बड़ी ताकत को परास्त किया जा सकता है। क्या इन सिद्धान्तों का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नहीं किया जा सकता? क्या संसार के विविध राज्य अपने झगड़ों का निर्णय सत्याग्रह और अहिंसा के उपायों से नहीं कर सकते?

समाज की नई व्यवस्था कायम करने के लिये भारत के ही एक ऋषि ने कुछ नये विचार उन्नीसवीं सदी में प्रतिपादित किये थे। कार्ल मार्क्स के साम्यवाद से कोई भी परिचय न रखते हुए दयानन्द ने समाज-संगठन का एक नया रूप अपने देशवासियों के सम्मुख प्रकट किया था, जिसके मुख्य सिद्धान्त ये हैं—(१) शासन और कानून निर्माण करने का कार्य उन लोगों के हाथ में होना चाहिये, जिन्होंने त्याग और गरीबी का व्रत लिया हो, जो धन-संचय और सम्पत्ति का अर्जन करना हीन बात समझते हों। (२) समाज में प्रतिष्ठा व शक्ति धनियों की न हो। प्रतिष्ठा और शक्ति उनके पास हो, जिन्होंने जान-बूझकर त्याग और गरीबी का व्रत लिया हुआ हो। (३) सम्पत्ति पर जिन लोगों का अधिकार हो, वे अपने को उस सम्पत्ति का स्वामी न समझें। यदि राज्य की दृष्टि में वे सम्पत्ति का उपयोग अपने स्वार्थ के लिये करते हों, व उसका सदुपयोग करने के योग्य न हों, तो उनसे सम्पत्ति छीनकर ऐसे लोगों को दे दी जाय, जो उसका उपयोग समाज के हित के लिये कर सकते हों। (४) यह राज्य-नियम हो, कि जब कोई लड़का या लड़की

सात साल की आयु की हो, तो वे शिक्षा प्राप्त करने के लिये शिक्षणालयों में चले जावें। वहां उन सबके साथ एक समान व्यवहार किया जाय। चाहे कोई राजा या धनी की सन्तान हो और चाहे कोई गरीब या रंक की सन्तान हो, शिक्षणालय में सबको एक समान भोजन, वस्त्र, शय्या व रहन-सहन मिले। सब विद्यार्थी गुरु के पास रहें। माता-पिता के साथ उनका कोई सम्बन्ध न रहे। शिक्षकों को ही वे अपने माता-पिता समझें। जब उनकी शिक्षा पूर्ण हो जाय, तो गुरुजन ही यह निर्णय करें, कि कौन व्यक्ति किस कार्य के लिये योग्य है। जो जिस कार्य के लिये योग्य हो, उसे वही कार्य दिया जाय। (५) सम्पत्ति या विरासत का अधिकार सामाजिक भलाई की दृष्टि से नियमित किया जाय। किसी धनी पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका अपना पुत्र तभी हो सके, जब गुरुजनों की दृष्टि में वह पुत्र इस योग्य हो, कि अपने पिता की सम्पत्ति का उपयोग वह सामूहिक हित को दृष्टि में रखकर कर सकेगा।

समाज का यह रूप दयानन्द ने संसार के सम्मुख लगभग उसी समय रखा था, जब कार्ल मार्क्स ने श्रेणीसंघर्ष पर आश्रित साम्यवाद का प्रतिपादन दिया था। क्या यह सम्भव नहीं है, कि भारत के इन आदर्शों के अनुसार रूस के कम्युनिज्म और पाश्चात्य जगत् के लोकतन्त्रवाद में एक प्रकार का समन्वय किया जा सके। संसार की सबसे बड़ी समस्या इस समय यह है, कि इन दो विचार-धाराओं में किस प्रकार सामंजस्य कायम किया जाय? मानव-समाज के लिये यह भी आवश्यक है, कि प्रत्येक मनुष्य अपने आप में स्वतन्त्र हो। उसकी स्थिति एक भारी मशीन में पुर्जे के सदृश ही न रहे। पर साथ ही, यह भी जरूरी है, कि कोई किसी का शोषण न कर सके। सबको उन्नति का समान रूप से अवसर हो और कोई व्यक्ति जीवन की आवश्यक वस्तुओं से वंचित न रहे। पूंजीवाद पर आश्रित लोकतन्त्रवाद मानव-समाज की समस्याओं को हल नहीं कर सकता, यह निश्चित है। पर साथ ही यह भी निश्चित है, कि भौतिकवाद पर आश्रित समाजवाद (कम्युनिज्म) भी मनुष्य को सच्चे अर्थों में 'मनुष्य' नहीं बना सकता, और इस कारण उससे मानव-समाज की समस्याएं पूर्णरूप से हल नहीं हो सकतीं। गांधी और दयानन्द जैसे भारतीय विचारकों ने सामाजिक संगठन के क्षेत्र में उन तत्वों का समावेश करने का प्रयत्न किया था, जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की सदा से विशेषता रहे हैं। ये तत्त्व त्याग और अध्यात्मवाद के हैं। क्या यह सम्भव नहीं है, कि समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इन आदर्शों को अपनाकर मनुष्य की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया जाय? इसका उत्तर संसार के वे राजनीतिज्ञ ही दे सकते

हैं, जिनके हाथ में आज मानव-समाज का भाग्य है। यदि वे त्याग, तपस्या और अहिंसा को अपना आदर्श मानें, जान-बूझकर स्वयं गरीबी और त्याग का व्रत लें, प्रतिष्ठा और शक्ति को धन-सम्पत्ति से पृथक् कर दें, तो मानव-समाज भावी प्रलयकारी महायुद्ध से बचकर शान्ति, व्यवस्था और समृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। अब से बहुत पहले, प्राचीन काल में भारत के विचारकों ने 'महायन्त्र प्रवर्तन' को निषिद्ध ठहराया था, क्योंकि उससे वे मानव-समाज का अहित समझते थे। उन्होंने त्यागी ब्राह्मणों को समाज में सर्वोपरि स्थान दिया था। अशोक जैसे सम्राटों ने शस्त्र-विजय के स्थान पर धर्म द्वारा संसार के विजय को अपना आदर्श बनाया था। क्या आज भी यह सम्भव नहीं है? अब भी यह सब कुछ सम्भव है, पर इसके लिये पहले संसार के नेताओं को अपने विचारों और आदर्शों को परिवर्तित करना पड़ेगा। भारत इस विषय में मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है। पूर्व से उदित होनेवाली यही आशा की किरण है, जो इस समय अन्तर्राष्ट्रीय अन्धकार को दूर करके सर्वत्र प्रकाश फैला सकती है।

शब्दानुक्रमणिका